ॐ



पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालय,

तथा

पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री साहित्याचार्य

द्वारा

सम्पादित

प्रकाशनस्थान–

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

महर्षिश्रीवेदव्यासप्रणीतं

ब्रह्मसूत्रम्

तच्च

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादविरचित-
शारीरकमीमांसाभाष्येण,
परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दभगवत्पादविरचितरत्नप्रभया

तथा

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचितेन भाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादेन च
समलङ्कृतम्



तृतीयाध्यायस्यान्त्यं पादद्वयं
चतुर्थोऽध्यायश्च

संवत्
१९९३

शाङ्करभाष्यरत्नप्रभाभाषानुवादसहित

ब्रह्मसूत्र

के तृतीयाध्यायके अन्तिम दो पादों एवं चतुर्थाध्यायकी

विषय-सूची—

विषय पृष्ठ पङ्क्ति



तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्र परापरब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्]

[१ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण सू० १–४]

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता ।
अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥ १ ॥
विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम् ।
*शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने** ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सब वेदान्तोंमें उपासना अनेक हैं अथवा एक है ?

पूर्वपक्ष—सब वेदान्तोंमें उपासना अनेक है, क्योंकि कौथुम आदि नाम और शिरोव्रत आदि धर्म भिन्न भिन्न है ।

सिद्धान्त—सब वेदान्तोंमें उपासना एक है, क्योंकि विधि, रूप और फल एक है, और नाम श्रुतिप्रतिपादित नहीं है, उसी प्रकार शिरोव्रतलक्षण धर्म स्वाध्यायका अङ्ग है, उपासनाका अङ्ग नहीं है, अतः उपासना अनेकविध नहीं है ।

---

* सारांश यह है कि छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें पञ्चाग्निकी उपासना सुनी जाती है, वह एक नहीं है, क्योंकि नामका भेद है—'कौथुम' यह छान्दोग्यगत उपासनाका नाम है और 'वाजसनेयक' बृहदारण्यकगत उपासनाका नाम है। इसी प्रकार अन्य उपासनाओंमें भी योजना करनी चाहिए। धर्मका भेद भी उपासनाभेदका द्योतक है, और यह 'शिरोव्रत' नामसे 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत' इत्यादि मुण्डकव्रतकी शाखामें सुना जाता है। शिरोव्रतका अर्थ है—वेदव्रतविशेष, जो कि अथर्वणशाखाध्यायियोंके प्रति विहित है दूसरोंके प्रति विहित नहीं है, इससे शाखाके भेदसे उपासनाका भेद है, यह अवश्य मानना होगा ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—शाखाका भेद होनेपर भी विधि आदिका भेद न होनेसे उपासना भिन्न नहीं होती है, क्योंकि 'यो ह वै ज्येष्ठं च' इत्यादि छान्दोग्यमें जैसी प्राणविधि कही गई है, वैसी ही बृहदारण्यकमें भी कही जाती है, उसी प्रकार द्यु, पर्जन्य आदि पञ्चाग्नि विद्याका जो स्वरूप है, वह दोनों शाखाओंमें समान है। 'ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च' इत्यादि जो प्राणोपासनाका फल है, वह दोनों शाखाओंमें समान है। कौथुम आदि भेदोंका जो उदाहरण दिया गया है, वह श्रुति द्वारा अभिहित नहीं है, किन्तु केवल पढ़नेवाले ही उस उस शाखाके प्रवर्तक मुनियोंके नामसे उनका व्यवहार करते हैं। शिरोव्रतलक्षण जो धर्मभेद कहा गया है वह भी अध्ययनविषयक ही है उपासनाविषयक नहीं है, क्योंकि 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' इत्यादिसे अध्ययनका धर्म माना गया है। इससे—ऐक्यहेतुके सद्भावसे और भेदहेतुके अभावसे शाखाभेदप्रयुक्त उपासनाका भेद नहीं है।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—सर्ववेदान्तप्रत्ययम्, चोदनाद्यविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—सर्ववेदान्तप्रत्ययम्—सर्ववेदान्तेभ्यः—प्रतीयमानं शाण्डिल्याद्युपासनजातम् [न भिद्यते, कुतः ?] चोदनाद्यविशेषात्—चोदनादीनां तुल्यत्वात् । [चोदनादीत्यत्रादिना संयोगरूपसमाख्या गृह्यन्ते, तत्र यथा सर्वासु शाखासु 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति चोदनाया अविशेषान्नित्याग्निहोत्रमेकमेव तथा 'यो ह वै ज्येष्ठञ्च' इत्यादिचोदनाया वाजसनेयिनां छन्दोगानाञ्च तुल्यत्वादेकैव प्राणविद्या सर्वेषां शाखिनामित्यर्थः] ।

भाषार्थ—सब वेदान्तोंसे प्रतीयमान शाण्डिल्यादि—उपासना भिन्न नहीं है, किससे ? चोदना आदिके अविशेषसे । 'चोदनादि' इसमें आदिशब्दसे संयोग, रूप और समाख्याका ग्रहण होता है । जैसे सभी शाखाओंमें 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस चोदनाके सामान्यसे अग्निहोत्र एक ही कर्म है वैसे, वाजसनेयी और छन्दोगोंके मतमें 'यो ह वै ज्येष्ठञ्च' इत्यादि चोदनाके अविशेषसे एक ही प्राणविद्या सभी शाखियोंके मतमें है, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम् । इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि

भाष्यका अनुवाद

विज्ञेय ब्रह्मके तत्त्वका व्याख्यान किया जा चुका है, अब प्रत्येक वेदान्तमें विज्ञान

रत्नप्रभा

ॐ विघ्नविनाशनाय नमः ॥

मार्तण्डं ध्वान्तनाशाय तिलकस्वामिनं मुदे ॥
विघ्नेशं विघ्नविध्वस्त्यै प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ब्रह्मस्वरूपं निर्धार्य तज्ज्ञानसाधनोपासनास्वरूपम् आह—'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषादिति । पादसङ्गतिम् आह—व्याख्यातमिति । पूर्वपादे तत्त्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अज्ञानान्धकारके नाशके लिए मार्तण्ड—सूर्यको, आनन्दके लिए श्रीस्कन्दस्वामीको और विघ्ननाशके लिए गजाननको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१॥

ब्रह्मस्वरूपका निर्धारण करके उसके ज्ञानका साधन जो उपासना है, उसका स्वरूप कहते हैं—"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्" इति । पादसङ्गति कहते हैं—"व्याख्यातम्"

भाष्य

भिद्यन्ते न वेति विचार्यते। ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः। नहि कर्मबहुत्ववद् ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम्, ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च। न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि सम्भवन्ति, नह्यन्यथाऽर्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति। यदि पुनरेक-

भाष्यका अनुवाद

भिन्न हैं अथवा नहीं? इसका विचार किया जाता है। परन्तु पूर्व, अपर आदि भेदसे रहित और सैन्धवघनके समान एकरस विज्ञेय ब्रह्मका अवधारण किया गया है, उसमें विज्ञानके भेद या अभेदके विचारका प्रसङ्ग कैसे हो सकता है? क्योंकि ब्रह्मके एक और एकरूप होनेसे कर्मबहुत्वके समान ब्रह्मके बहुत्वका प्रतिपादन वेदान्तोंमें अभीष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और एकरूप ब्रह्ममें अनेक विज्ञानोंका होना संभव भी नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकारका अर्थ और अन्य प्रकारका विज्ञान अभ्रान्त—यथार्थ नहीं होता है। यदि एक ब्रह्ममें अनेक

रत्नप्रभा

म्पदार्थविवेकः कृतः, इह तत्फलं वाक्यार्थज्ञानम् 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इति सूत्रेणापुनरुक्तापेक्षिततत्पदतद्वाच्यार्थोपसंहारेण निर्धार्यते इति फलफलिभावः सगतिः। सगुणवाक्यार्थविद्याचिन्ता तु तद्विधानां चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्गुणज्ञानसाधनत्वात् क्रियत इति मन्तव्यम्। सम्प्रति निर्गुणज्ञानभेदाभेदविचार-विषयत्वेनोक्तम् इति मन्वानः आक्षिपति—नन्विति। वेद्यभेदे विद्याभेदचिन्ता स्यात्, ब्रह्मणस्तु वेद्यस्यैक्यात् न चिन्तावसर इत्यर्थः। ब्रह्मैक्येऽपि धर्मभेदात् चिन्ता इत्यत आह—एकरूपत्वाच्चेति। निर्धर्मत्वाद् इत्यर्थः। एकरूपेऽपि ब्रह्मणि अनेकप्रकारसम्भ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। पूर्वपादमें 'तत्' और 'त्वम्' पदके अर्थका विचार किया गया है, इस पादमें उसके फल वाक्यार्थज्ञानका 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इस सूत्र द्वारा अपुनरुक्त—पूर्वमें अकथित और अपेक्षित 'तत्' पद और तत्पदवाच्य अर्थका उपसंहारसे निर्धारण किया जाता है, इससे फलफलिभाव संगति है। सगुण वाक्यार्थकी चिन्ता तो चित्तके ऐकाग्र्यविधान द्वारा निर्गुण ज्ञानका साधन है; इसलिए इस विद्याका विचार किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। निर्गुणज्ञान भेदाभेदविचारके विषयरूपसे कहा गया है, ऐसा माननेवाला अब आक्षेप करता है—"ननु" इत्यादिसे। वेद्यका भेद होनेपर विद्याके भेदका विचार होगा, परन्तु ब्रह्मरूपी वेद्य एक ही है, अतः विचारका अवसर नहीं है, ऐसा अर्थ है। ब्रह्मके एक होनेपर भी धर्मके भेदसे विचार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"एकरूपत्वाच्च" इत्यादिसे। निर्धर्म होनेसे,

भाष्य

त्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता संभवति—किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहो-

भाष्यका अनुवाद

उत्पत्तिद्वारा क्रममुक्तिरूप फलके लिए हैं। उनमें यह सन्देह होता है कि क्या

रत्नप्रभा

आमिक्षा, तत्र द्रवं जलरूपं वाजिनमिति भेदः, 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्यत्र वैश्वदेवे आमिक्षायागे वाजिनाख्यगुण-विधिः, वाजिभ्य इति विश्वेदेवानुवादात् इत्याशङ्क्य आमिक्षां प्रति उपसर्जनत्वेनोक्त-विश्वेदेवानां वाजिभ्य इत्यनुवादायोगादुत्पत्तिशिष्टामिक्षावरुद्धे कर्मणि वाजिनद्रव्य-स्याऽनाकाङ्क्षितस्य विध्ययोगाद्वाजिदेवताको वाजिनयागः कर्मान्तरम् इति द्रव्यदेवता-ख्यरूपभेदात् कर्मभेदः सिद्धान्तितः। आदिपदाद् 'ऐन्द्रं दधि' 'ऐन्द्रं पयः' इति द्रव्यभेदाद् यागभेदो ग्राह्यः। एवमिहापि पञ्चाग्निषडग्निरूपभेदाद् विद्याभेदो वाजिच्छन्दोगयोः, तथा रेतोन्यूना वागादयः छान्दोग्ये, तत्सहिता वाजिनामिति प्राणविद्याभेदः, कारीरिवाक्याध्ययने तैत्तिरीयकाणां भूमौ भोजनं धर्मविशेषः, नान्ये-षाम्, अग्न्यध्ययने केषाञ्चित् उपाध्यायार्थम् उदकाहरणं धर्मः, नान्येषाम्, अश्वमे-धाध्ययनेऽश्वघासानयनं केषाञ्चिदेव, नान्येषाम्, न च तान्येव कारीर्यादीनि कर्माणि

रत्नप्रभाका अनुवाद

'आध्वर्यवं हौत्रम्' इत्यादिमें संज्ञाके भेदसे कर्मका भेद है इसका ग्रहण करना चाहिए। दधिसे कठिन हुआ क्षीर-आमिक्षा है और उसमें जलरूप जो द्रव है वह वाजिन है, इस प्रकार भेद है। 'तप्ते पयसि दध्यानयति०' इत्यादि श्रुतिमें विश्वदेवदेवताक आमिक्षाद्रव्यक यागमें वाजिनाख्य गुणविधि है, क्योंकि 'वाजिभ्यः' इससे विश्वेदेवका अनुवाद—परामर्श है, इस प्रकार आशङ्का करके आमिक्षाके प्रति विश्वेदेवोंके उपसर्जन—अप्रधान होनेसे 'वाजिभ्यः' इससे उनका अनुवाद नहीं हो सकता है, अतः उत्पत्तिविधिसे बोधित आमिक्षासे अवरुद्ध—अन्वित याग-कर्ममें अनाकाङ्क्षित वाजिनरूप द्रव्यके विधानका असम्भव होनेसे वाजिनदेवताक वाजिनयाग कर्मान्तर है, इस प्रकार द्रव्यदेवताख्यरूपके भेदसे सिद्धान्त (पूर्वमीमांसामें) किया गया है। भाष्यमें आदिपदसे 'ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयः' इत्यादि द्रव्यभेदसे हुआ यागभेदका ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार यहाँ भी पञ्चाग्नि और षडग्निलक्षण रूपके भेदसे वाजसनेयी और छन्दोगोंके विद्याका भेद होगा। छान्दोग्यमें रेतसे रहित वाग् आदि पाँच अग्नियाँ हैं और रेतसहित वागादि वाजियोंके (मतमें) छः अग्नियाँ हैं, अतः विद्याका भेद है। कारीरि-वाक्योंके अध्ययनमें तैत्तिरीयक भूमिमें भोजन करते हैं, और यह उन्हींका धर्मविशेष है, दूसरोंका नहीं, इसी प्रकार अग्निके अध्ययनमें गुरुजीके लिए जलाहरण किन्हीं लोगोंका धर्म है, अन्योंका नहीं है और अश्वमेधके पठनमें अश्वके लिए घास लाना किन्हीं लोगोंका

भाष्य

स्विन्न, इति । तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते ।

भाष्यका अनुवाद

प्रत्येक वेदान्तमें विज्ञानभेद है या नहीं ? यहां पर प्रथम पूर्वपक्षके हेतुओंका उपन्यास किया जाता है ।

रत्नप्रभा

धर्मविशेषमपेक्षन्ते, नापेक्षन्ते चेति युक्तम्, अतो धर्मविशेषात् शाखान्तरे कर्मभेदः शङ्कितः, तथाऽत्रापि मुण्डकाध्ययने केषाञ्चिदेव शिरस्यङ्गारपात्रधारणरूपं व्रतम्, नान्येषाम् इति विद्याभेदः स्यात् । पुनरुक्तिः—अभ्यासः । यथा 'समिधो यजति तनूनपातं यजति' इति यजत्यभ्यासात् प्रयाजानां भेद उक्तः, तथा शाखान्तरे अभ्यासात् विद्याभेदः । आदिपदात् निन्दादिग्रहः । 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्' इत्यनुदितहोमस्य, 'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात् तथातिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति तादृगेव तद्' इत्युदितहोमस्य च निन्दाश्रुतेर्भेदः । एकस्यैवोदितेऽनुदिते चानुष्ठानायोगात्, तथोदितानुदितहोमातिक्रमकृतप्रायश्चित्तादप्यग्निहोत्रभेदः शङ्कितः । एते निन्दाप्रायश्चित्ते वेदान्तविद्यासु न विद्येते इति नोदाहियेते । यथा सर्वशाखाविहितस्य कर्मणो ज्ञातुं कर्तुं चाऽशक्तेर्भेदः, तथा सर्ववेदान्ताध्ययनज्ञानाद्यशक्तेस्तत्तद्वेदान्तविद्याभेदः स्यात्, तथा शाखानां सर्वासामेकरूपा समाप्तिर्नोच्यते, किन्तु कस्याश्चित् क्वचित् कर्मणि

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म है, अन्योंका नहीं है, वे कारीर्यादि कर्म धर्मविशेषकी अपेक्षा करते हैं और नहीं करते हैं, इस प्रकार नहीं हो सकता है, इसलिए शाखान्तरमें धर्मविशेषसे कर्मभेद जैसे शङ्कित है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी मुण्डकाध्ययनमें किन्हीं लोगोंका ही माथेपर अङ्गारधारण करना धर्म है, अन्योंका नहीं है, इससे विद्याका भेद होगा । पुनरुक्ति—अभ्यास । जैसे 'समिधो यजति तनूनपातं यजति' इस श्रुतिमें 'यजति' पदके दो बार उच्चारणसे प्रयाजोंका भेद कहा गया है, वैसे अन्य शाखामें अभ्याससे विद्याका भेद है । आदिपदसे निन्दा आदिका परिग्रह है । 'प्रातः प्रातरनृतम्' इससे अनुदित होमकी और 'यदुदिते सूर्ये' इससे उदित होमकी निन्दाके श्रवणसे दो होमों का भेद है, क्योंकि एक पुरुष उदित और अनुदित होमका अनुष्ठान नहीं कर सकता है । और उदित और अनुदित होमके अतिक्रमणसे किये गये प्रायश्चित्तसे भी अग्निहोत्रका भेद आशङ्कित है । ये—निन्दा और प्रायश्चित्त वेदान्तविद्यामें नहीं हैं, अतः उनका उदाहरण नहीं दिया गया है । जैसे सब शाखाओंमें विहित कर्मके ज्ञान और अनुष्ठानके लिए अशक्ति होनेसे भेद है, वैसे सब वेदान्तके अध्ययन और ज्ञानमें अशक्ति होनेसे तत्तद्वेदान्तविद्याका भेद है । और सब शाखाओं की एकरूप समाप्ति नहीं कही जाती है, परन्तु किसीकी समाप्ति किसी कर्ममें कही जाती है, अत समाप्तिवचनके

भाष्य

नाम्नस्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु । अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमकं शाट्यायनकमित्येवमादि । तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धः 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्येवमादिषु । अस्ति चात्र रूपभेदः, तद्यथा—केचिच्छाखिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमामनन्ति, अपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति । तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान् वागादीनामनन्ति केचिदधिकान् । तथा धर्मवि-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ज्योतिरादिमें नाम भेदविज्ञानका हेतु है, यह प्रसिद्ध है। और अन्यान्य वेदान्तोंमें कहे गये विज्ञानोंमें अन्यान्य नाम जैसे कि तैत्तिरीयक, वाजसनेयक, कौथुमक, कौषीतक और शाट्यायन आदि हैं और 'वैश्वदेव्यामिक्षा०' (विश्वदेवोंको आमिक्षा और वाजिदेवताओंको वाजिन) इत्यादिमें रूपभेद भी कर्मभेदका प्रतिपादक प्रसिद्ध है। और यहां वेदान्तवाक्योंमें रूपभेद है, वह रूपभेद इस प्रकार है—कई एक शाखावाले पंचाग्निविद्यामें अन्य छठवीं अग्नि भी मानते हैं और कुछ लोग पांच ही कहते हैं। उसी प्रकार प्राणके संवाद आदिमें कोई लोग न्यून वाक् आदिका प्रतिपादन करते हैं और कितने लोग अधिक वाक् आदिका

रत्नप्रभा

समाप्तिः, अतः समाप्तिवचनभेदात् प्रतिशाखं कर्मभेदः शङ्कितः । तथा कस्यचिद्वेदान्तस्योङ्कारसार्वात्म्ये समाप्तिः, कस्यचिदन्यत्रेति विद्याभेदः । अन्यार्थदर्शनमर्थवादः, तद्भेदात् कर्मभेदवद्विद्याभेद इति पूर्वपक्षसूत्रोक्ता हेतवो दर्शिताः, ते केचित् सिद्धान्ते पूर्वपक्षे चाऽत्रोपयुज्यन्त इति । तथा शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानि कर्मभेदकानि । तत्र नामधेयं गुणः रूपमभ्यासश्चेति त्रयं व्याख्यातम् । यजेत्, दद्यात्, जुहुयादिति प्रकृतिशब्दभेदेन धात्वर्थभेदात् तदवच्छिन्नभावना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेदसे भी प्रतिशाखामें कर्मभेद आशङ्कित है, वैसे किसी वेदान्तकी ओंकारकी सर्वात्मतामें समाप्ति है और किसीकी अन्यत्र समाप्ति है, इस प्रकार विद्याका भेद है। अन्य अर्थका प्रदर्शन अर्थवाद है, उसके भेदसे जैसे कर्मभेद है, वैसे (प्रकृतमें) विद्याका भेद होगा, इस प्रकार पूर्वपक्षसूत्रमें कथित हेतुओंका प्रदर्शन हुआ, उनमेंसे कोई हेतु सिद्धान्त और पूर्वपक्ष दोनोंमें यहां उपयुक्त होते हैं। वैसे शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया और नामधेय कर्मके भेदक हैं। उनमें नामधेय, गुण, रूप और अभ्यास इन तीनोंका व्याख्यान हुआ। 'यजेत्, दद्यात् और जुहुयात्' इस प्रकार प्रकृतिके भेदसे धात्वर्थका भेद होनेसे तदवच्छिन्न भावनाका भेद

भाष्य

शेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु । अस्ति चात्र धर्मविशेषः, यथाऽऽथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति । एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो यथासम्भवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः । तस्मात् प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन् वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । आदिग्रहणेन

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादन करते हैं । वैसे ही कारीरी आदिमें धर्मविशेष भी कर्मविशेषका प्रतिपादक है, ऐसी आशंका की गई है । और यहां (वेदान्तोंमें) धर्मविशेष भी है जैसे आथर्वणिकोंका शिरोव्रत । इसी प्रकार पुनरुक्ति आदि भेदके हेतुओंकी भी अन्य वेदान्तोंमें यथासंभव योजना करनी चाहिए। इससे प्रतिवेदान्तमें विज्ञानका भेद है।

सिद्धान्ती—इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सब वेदान्त जिनमें प्रमाणभूत हैं, ऐसे विज्ञान उस वेदान्तमें वे ही हो सकते हैं । किससे ?

रत्नप्रभा

स्यकर्मभेदः उक्तः, तथाऽत्र वेदोपास्तइत्यादिशब्दभेदाद् विद्याभेदः । 'तिस्र आहुतीर्जुहोति' इति संख्यया कर्मभेदवद्वायुप्राणौ 'द्वौ संवर्गौ' (छा० ४।३।४) इति द्वित्वसंख्यया संवर्गविद्याभेदः स्यात्, नित्याग्निहोत्रप्रकरणात्, प्रकरणान्तरे कुण्डपायिनामयने "मासमग्निहोत्रं जुह्वति" इति श्रुतमग्निहोत्रं प्रकरणान्तरस्थत्वात् कर्मान्तरमिति सिद्धान्तितम् । तथाऽत्र वेदान्तभेदे प्रकरणभेदादुपास्तिभेद इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तयति—एवमिति । सर्वैर्वेदान्तैः प्रतीयन्त इति सर्ववेदान्तप्रत्ययानि तैर्विहितानीत्यर्थः । उक्तनामादिभिः अग्निहोत्रादिकर्मणां प्रतिशाखं भेदे

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मका भेद कहा गया है, वैसे यहाँ भी 'वेद और उपास्ते' इत्यादि शब्दके भेदसे विद्याका भेद है । 'तिस्रः आहुतीः जुहोति' (तीन आहुतियोंका होम करे) इसमें जैसे संख्यासे कर्मभेद होता है, वैसे ही 'वायुप्राणौ' (वायु और प्राण संवर्ग हैं) इसमें द्वित्वसंख्यासे संवर्गविद्याका भेद होगा । नित्य अग्निहोत्रके प्रकरणसे अन्य प्रकरणमें—कुण्डपायियोंके अयनाख्य कर्ममें 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' (मासपर्यन्त अग्निहोत्र करे) इसमें श्रुत अग्निहोत्र अन्य प्रकरणमें स्थित होनेके कारण कर्मान्तर है, इस प्रकार सिद्धान्त किया गया है । वैसे यहाँ वेदान्तोंके भेदसे प्रकरणभेद होनेके कारण उपासनाका भेद है, ऐसा पूर्वपक्ष है । सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । सब वेदान्तोंसे जो ज्ञात होते हैं, वे सर्ववेदान्तप्रत्यय कहलाते हैं अर्थात् वेदान्तोंसे विहित, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाऽऽकृष्यन्ते, संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते जुहुयादिति। एवं 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६।१।१, छा० ५।१।१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना। प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' (बृ० ६।१।१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राणतत्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपमेवं विज्ञेयं रूपं विज्ञानस्य तेन हि तद्रूप्यते। समाख्याऽपि सैव प्राणविद्येति। तस्मात्

भाष्यका अनुवाद

चोदना आदिके अविशेष—सामान्यसे। आदिपदके ग्रहणसे शाखान्तराधिकरणमें सिद्धान्तभूत सूत्रमें कहे गये अभेदके हेतुओंका यहां आकर्षण किया जाता है। संयोग, रूप, चोदना और समाख्याका प्रत्येक शाखामें वैलक्षण्य न होनेसे, ऐसा अर्थ है। जैसे एक अग्निहोत्रमें शाखाभेद होनेपर भी वही पुरुषप्रयत्न विहित है। जैसे—'जुहुयात्' (होम करे)। वैसे ही 'यो ह वै ज्येष्ठं च०' (जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है) इस प्रकारकी वाजसनेयी और छन्दोगोंकी एक-सी चोदना है। प्रयोजनका संयोग भी समान ही है—'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च०' (वह अपनी जातिमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है)। दोनों स्थलोंपर विज्ञानका रूप भी वही है—जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ आदि विशेषणोंसे युक्त प्राणतत्त्व है। जैसे द्रव्य और देवता यागके रूप हैं, वैसे ही विज्ञानका विज्ञेय रूप है, क्योंकि उसका उससे निरूपण

रत्नप्रभा

प्राप्ते शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रम्—'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषाद्' (जै० सू० २।४।९) इति। तत्र चोदना विधायकः शब्दश्चोदितः प्रयत्नो वा, तस्याः अविशेषमाह—यथैकस्मिन्निति। एकधात्वर्थहोमावच्छिन्नप्रयत्नैक्यवदुपास्तिप्रयत्नैक्यमित्यर्थः। यथा ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणविद्या सर्वशाखासु एका, तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त नाम आदिसे प्रत्येक शाखामें अग्निहोत्र आदि कर्मोंका भेद प्राप्त होनेपर शाखान्तराधिकरणमें सिद्धान्तसूत्र है—'एकं वा०' इत्यादि। उसमें चोदनाका अर्थ है विधायकशब्द अथवा चोदित-प्रेरित प्रयत्न। उसका अविशेष कहते हैं—"यथैकस्मिन्" इत्यादिसे। एक धातुका अर्थभूत जो होम है, तदवच्छिन्न-तद्युक्त प्रयत्नके ऐक्यके तुल्य उपास्ति प्रयत्नका ऐक्य है, ऐसा अर्थ है। जैसे ज्येष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त प्राणविद्या सभी शाखाओंमें एक है, वैसे ही फलसंयोग

भाष्य

सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानाम्। एवं पञ्चाग्निविद्यावैश्वानरविद्याशाण्डिल्यविद्येत्येवमादिषु योजयितव्यम्। ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृताः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

किया जाता है। इसी प्रकार समाख्या भी वही प्राणविद्या है। इससे विज्ञानोंमें सर्ववेदान्तका प्रामाण्य है। इसी प्रकार पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, शाण्डिल्यविद्या आदिमें योजना करनी चाहिए। जो नाम, रूप आदि भेदके हेतु-से दिखाई पड़ते हैं, उनका प्रथम काण्डमें ही 'न नाम्ना०' (नामसे भेद नहीं है, क्योंकि चोदनाका अभिधान नहीं है) इस प्रकार आरम्भकर परिहार किया जा चुका है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

पञ्चाग्निविद्याऽपि एका, फलसंयोगाद्यविशेषात्, तथाऽन्याऽपि विद्याऽभिन्ना इत्याह—एवं पञ्चाग्नीति। पूर्वपक्षहेतून्निराचष्टे—ये त्विति। काठकमित्यादिनाम्ना कर्मभेदो न युक्तः, कुतः? अचोदनाभिधानत्वात्, काठकादिशब्दानां ग्रन्थनामतया कर्मवाचित्वाभावात्, अतो भिन्ननामकशाखाग्रन्थभेदेऽपि तद्विहितं कर्मैकमेव, अल्परूपभेदोऽपि न कर्मैक्यविरोधी, धर्मविशेषस्त्वध्ययनाङ्गम्, न कर्माङ्गम्, अतो न कर्मभेदकः। शाखाभेदे पुनरुक्तिरसिद्धा। निन्दान्यार्थदर्शनयोरपि न भेदकत्वम्, तत्तद्विधिस्तुतिमात्रत्वात्। बहुशाखाध्ययनाशक्तौ अपि स्वशाखानुक्तविशेषस्य अपेक्षितस्य अन्यतो ग्रहणसम्भवात् अशक्ति अभेदिका। एकस्मिन्नपि कर्मणि अङ्गलोपादिना प्रायश्चित्तं सम्भवति। एवं समाप्तिवचनभेदोऽपि अप्रयोजक इत्येवं कर्माभेदप्रमाणप्राबल्ये भेदहेतवः परिहृता इत्यर्थः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिके अविशेषसे पञ्चाग्नि विद्या भी एक है, उसी प्रकार अन्य विद्या भी अभिन्न ही है, ऐसा कहते हैं—"एवं पञ्चाग्नि" इत्यादिसे। पूर्वपक्षके हेतुओंका निराकरण करते हैं—"ये तु" इत्यादिसे। 'काठक' इत्यादि नामसे कर्मका भेद युक्त नहीं है, किससे? चोदनाका अभिधान न होनेसे। काठक आदि शब्द ग्रन्थके नाम हैं, कर्मवाचक नहीं हैं, अतः पृथक् नामवाली शाखाओंके ग्रन्थोंका भेद होनेपर भी उनसे विहित कर्म एक ही है। थोड़ासा भेद भी कर्मैक्यका विरोधी नहीं है। धर्मविशेष तो अध्ययनका अङ्ग है, कर्मका अङ्ग नहीं है, अतः वह कर्मका भेदक नहीं है। पृथक् शाखाओंमें पुनरुक्तिकी असिद्धि है। निन्दा और अन्यार्थका दर्शन भी भेदका साधक नहीं है, क्योंकि तत्-तत् विधिमें वे स्तुतिमात्र हैं। अशक्ति भी भेदसाधिका नहीं है, क्योंकि अनेक शाखाओंके अध्ययनमें अशक्ति होनेपर भी स्वशाखामें अनुक्त विशेषकी अपेक्षा होनेसे अन्य शाखासे उसका ग्रहण सम्भव है। एक भी कर्ममें अङ्गके लोप—वैगुण्य आदिसे प्रायश्चित हो सकता है। इसी प्रकार समाप्तिवचनका भेद भी भेदप्रयोजक नहीं है। इस रीतिसे कर्मके अभेदके साधक प्रमाणोंका प्राबल्य होनेसे भेदसाधक हेतु परिहृत हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १ ॥

भाष्य

इहापि कश्चिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

भाष्यका अनुवाद

यहांपर भी किसी विशेषकी आशङ्का करके परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

पदच्छेद—भेदात्, न, इति, चेत्, न, एकस्याम्, अपि ।

पदार्थोक्ति—भेदात्—आमिक्षावाजिनयागयोरिव शाखाद्वये रूपभेदेन पञ्चाग्निविद्याया भेदात्, न—ऐक्यं नास्ति, इति चेत् न—उक्तेन प्रकारेण नाशङ्कनीयम् । [यतः] एकस्यामपि—एकविधायामपि विद्यायाम् [रूपभेद उपपद्यते, यथैकस्मिन्नप्यतिरात्रे षोडशिग्रहणतदभावयोर्दर्शनान्न तस्य भेदस्तद्वत् पञ्चाग्नितदभावाभ्यां न भेदः इति भावः] ।

भावार्थ—रूपके भेदसे आमिक्षायाग और वाजिनयाग जैसे भिन्न है, वैसे ही दो शाखाओंमें रूपके भेदसे पञ्चाग्नि विद्याका भेद है, अतः ऐक्य नहीं है ? यदि कोई ऐसी आशङ्का करे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि एक विद्यामें भी रूपभेदकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिए जैसे अतिरात्र यागमें षोडशीका ग्रहण और अग्रहण होनेपर भी अतिरात्र यागका भेद नहीं है, वैसे शाखाभेदसे षष्ठाग्निकी सत्ता और अभावसे पञ्चाग्निविद्याका भेद नहीं है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

स्यादेतत्—सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते । तथा हि वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति—'तस्या-

भाष्यका अनुवाद

यहां शङ्का होती है—विज्ञानोंमें सर्ववेदान्तप्रमाणत्वकी गुणभेदसे उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वाजसनेयी पञ्चाग्निविद्याको प्रस्तुत करके 'तस्याग्नि-

रत्नप्रभा

तर्हि शाखान्तरन्यायेनैव कर्मैक्यवद् विद्यैक्यसिद्धेः पुनरुक्तिः इत्यत आह—इहापीति । रूपस्य उत्पत्तिशिष्टत्वं विशेषः । 'पञ्चाग्नीन् वेद' इत्याद्युपासनोत्पत्तिविधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो शाखान्तर न्यायसे ही कर्मके ऐक्यके समान विद्याके ऐक्यकी सिद्धि होनेसे पुनरुक्ति होगी ! इसपर कहते हैं—"इहापि" इत्यादिसे । उत्पत्तिशिष्टत्व रूपका विशेष है । 'पञ्चाग्नीन्

भाष्य

ग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६।२।१४) इत्यादिना, छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्चसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति 'अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन् वेद' (छा० ५।१०।१०) इति। येषां च स गुणोऽस्ति येषां च नास्ति कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत। न चात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुम्, पञ्चसंख्याविरोधात्। तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान् वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा

भाष्यका अनुवाद

रेवाग्निर्भवति' (उस मृत पुरुषके दाहके लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि होती है) इत्यादिसे दूसरी षष्ठ अग्निका कथन करते हैं, और छन्दोग तो उस षष्ठ अग्निका कथन नहीं करते हैं, क्योंकि पांच संख्यासे ही वे 'अथ ह य एतानेव०' (अब जो इन पांच अग्नियोंको इस प्रकार जानता है) इत्यादिसे उपसंहार करते हैं। जिनमें वह गुण है और जिनमें नहीं है उन दोनोंकी एक विद्या किस प्रकार उपपन्न होगी? और दूसरी बात यह भी है कि यहां गुणका उपसंहार समझना भी युक्त नहीं है, क्योंकि पञ्च संख्याका विरोध है। उसी प्रकार प्राणसंवादमें श्रेष्ठसे अन्य, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन इन चार प्राणोंका छन्दोग कथन करते हैं। और वाजसनेयी तो 'रेतो

रत्नप्रभा

स्थपञ्चाग्न्यादिरूपभेदात् उपासनाभेदः स्यात् आमिक्षावाजिनरूपभेदात् कर्मभेदवदित्यधिकाशङ्कानिरासार्थत्वात् न पौनरुक्त्यम् अस्याधिकरणस्य इति मत्वा शङ्कां व्याचष्टे—स्यादित्यादिना। अस्य पृथक्शास्त्रत्वात् कर्मन्यायानां मानसविद्यासु विना सूत्रं दुर्योजत्वाच्च पुनरुक्तिगन्धोऽपि नास्तीति मन्तव्यम्। ननु तस्य मृतस्य दाहार्थमग्निरन्त्येष्टिगतः षष्ठो यः प्रसिद्धवद् वाजिभिरुक्तः, स छान्दोग्ये उपसंहार्य इति न रूपभेदः, तत्राह—न चात्रेति। अस्तु प्रजननगुणवतो रेतसो वाजिनामावापः, छन्दो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेद' इत्यादि उपासनाकी उत्पत्तिविधिमें स्थित पञ्चाग्नि आदि रूपके भेदसे उपासनाका भेद होगा, जैसे कि आमिक्षा और वाजिनके रूपभेदसे कर्मका भेद होता है, इस प्रकारकी अधिक शङ्काके निरासके लिए यह अधिकरण है, इससे पुनरुक्ति नहीं है, ऐसा मानकर आशङ्काका व्याख्यान करते हैं—"स्याद्" इत्यादिसे। यह वेदान्तशास्त्र पूर्वमीमांसासे पृथक् शास्त्र है और सूत्रके बिना मानसविद्यामें कर्मन्यायका योग न होनेसे पुनरुक्तिका लेश भी नहीं है, ऐसा मानना चाहिए। परन्तु उस मृत पुरुषके दाहके लिए अन्त्येष्टिगत जो छठी अग्नि वाजसनेयियोंसे प्रसिद्धवत् कही गई है, वह छान्दोग्यमें उपसंहारके योग्य है, अतः रूपभेद नहीं है; उसपर कहते हैं—"न चात्र" इत्यादिसे। प्रजननगुणवान् जो रेत है, उसका वाजसनेयी आवाप करते हैं, और छन्दोग उद्वाप करते हैं। इससे क्या हुआ? उसपर कहते हैं—

भाष्य

आमनन्ति । वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति 'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६।१।६) इति । आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति । वेद्यभेदाच्च विद्याभेदो द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत्, नैष दोषः; यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते । यद्यपि षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न सम्भवति, तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति, नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते । पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एवं हरन्ति' (छा० ५।९।२) इति । वाजसनेयिनस्तु

भाष्यका अनुवाद

वै प्रजापतिः०' (वीर्य ही प्रजापति है, ऐसा जो जानता है वह प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है) इस प्रकार पंचमका भी कथन करते हैं । आवाप और उद्वापके भेदसे वेद्यका भेद होता है, जैसे द्रव्य और देवताके भेदसे यागका भेद होता है ? ऐसा यदि कहोगे, तो हम कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि एक विद्यामें भी इस प्रकारका गुणभेद सयुक्तिक होता है । यद्यपि छठे अग्निका उपसंहार नहीं हो सकता है, तो भी द्यु आदि पांच अग्नियोंका दोनों स्थलोंपर प्रत्यभिज्ञान होनेसे विद्याका भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि षोडशीके ग्रहण और अग्रहणसे अतिरात्र यागका भेद नहीं होता है । और छठे अग्निका छन्दोग पठन भी करते हैं—'तं प्रेतं दिष्टम्०' (मृतकको—लोकान्तरमें गये हुए को—ज्ञातिवाले अग्निके लिए ही ले जाते हैं) । वाजसनेयी तो सांपादिक—कल्पित पञ्चाग्नियोंमें

रत्नप्रभा

गानां च तस्योद्वापः, ततः किम् ? इत्यत आह—आवापेति । छान्दोग्ये षष्ठाग्न्यभावमङ्गीकृत्य अल्परूपभेदो न विद्यैक्यविरोधीति परिहरति—नैष इत्यादिना । अङ्गीकारं त्यजति—पठ्यतेऽपीति । इतः, अस्माल्लोकाद्—दिष्टम् लोकान्तरम्, प्रेतम्—गतं ज्ञातयः अग्नये हरन्तीत्यर्थः । ननु छान्दोग्येऽग्निमात्रं श्रुतम्, वाजिभिस्तु समिदादिविशेषः पठ्यते इति रूपभेदस्तदवस्थः तत्राह—वाजसनेयिनस्त्विति । षष्ठाग्नेस्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आवाप" इत्यादिसे । छान्दोग्यमें षष्ठाग्निके अभावका स्वीकार करके माना गया थोड़ा-सा भेद विद्याके ऐक्यका विरोधी नहीं है, ऐसा उसका परिहार करते हैं—"नैष" इत्यादिसे । अङ्गीकारका त्याग करते हैं—"पठ्यतेऽपि" इत्यादिसे । इस लोकसे लोकान्तरमें गये हुए को उसके ज्ञातिजन अग्निके लिए ले जाते हैं, ऐसा अर्थ है । परन्तु छान्दोग्यमें केवल अग्निका श्रवण है, और वाजसनेयी तो समिध् आदि विशेष पढ़ते हैं, इसलिए रूपका भेद ज्योंका त्यों है, उसपर कहते हैं—"वाजसनेयिनस्तु"

भाष्य

सांपादिकेषु पञ्चस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित् समित्' (बृ० ६।२।१४) इत्यादि समामनन्ति, स नित्यानुवादः। अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम्। न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्यः, सांपादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पञ्चसङ्ख्या नित्यानुवादभूता न विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राणसंवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। न चाऽऽवापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाऽऽशङ्क्यः, कस्यचित् वेद्यांश-

भाष्यका अनुवाद

अनुवृत्त समित्, धूम आदि कल्पनाकी निवृत्ति करनेके लिए 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' (इस मृत पुरुषके दाहके लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि होती है, प्रसिद्ध समिध् ही समिध् होता है इस प्रकार श्रवण कराते हैं, वह नित्य अनुवाद है। यदि यह वाद उपासनाके लिए हो, तो छन्दोग उस गुणका उपसंहार कर सकते हैं। पञ्च संख्याके विरोधकी आशङ्का यहां नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पञ्च संख्या कल्पित अग्निके अभिप्रायसे नित्य अनुवादभूत है, विधिसमवायिनी नहीं है, अतः दोषका लेश नहीं है। इसी प्रकार प्राणके संवाद आदिमें भी अधिक गुणका अन्यत्र उपसंहार विरोधावह नहीं है। और आवाप एवं उद्वापसे वेद्य-भेद और विद्याके भेदकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि किसी वेद्यांशके आवाप और उद्वापमें भी

रत्नप्रभा

द्विशेषस्य चाऽनुवादमात्रत्वेनाऽनुपास्यत्वात् पञ्चाग्नय एवोपास्याः उभयत्रेति न रूपभेद इत्यर्थः। सविशेषस्य षष्ठाग्नेरुपास्यत्वेऽपि न रूपभेद इत्याह—अथापीति। द्युलोकादीनां पञ्चानामग्नीनामग्नित्वसम्पत्तिविधिनैव अर्थात् पञ्चत्वं सम्पत्तिकल्पिताग्नीनां सिद्धमनूद्यते, न ध्येयत्वेन विधीयते इत्यर्थः। छन्दोगैर्वाजिशाखास्थं रेतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। षष्ठ अग्नि और उसके विशेषका अनुवादमात्र है, अतः वह उपास्य नहीं है, इसलिए उभयत्र—दोनों जगह पाँच अग्नियाँ ही उपास्य हैं, इससे रूपभेद नहीं है, ऐसा अर्थ है। विशेषयुक्त षष्ठ अग्नि यदि उपास्य हो तो भी रूपभेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। द्युलोक आदि जो पांच अनग्नि हैं, उनका अग्नित्व सम्पत्तिविधिसे ही अर्थतः सिद्ध सम्पत्तिकल्पित अग्नियोंका जो पञ्चत्व है उसका अनुवाद किया जाता है, ध्येयरूपसे उनका विधान नहीं किया जाता, ऐसा अर्थ है। छन्दोगोंको वाजिशाखामें

भाष्य

स्याऽऽथापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात् । तस्मादैकविद्यमेव ॥२॥

भाष्यका अनुवाद

महान् वेद्यराशिका अभेद प्रतीत होता है, इससे एक ही विद्या है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

उपसंहर्तव्यम् इत्युक्त्वाऽनुपसंहारेऽपि न विद्याभेद इत्याह—न चावापेति ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थित रेतोरूप प्राणका उपसंहार करना चाहिए, ऐसा कहकर अनुपसंहारमें भी विद्याभेद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चावाप" इत्यादिसे ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

पदच्छेद—स्वाध्यायस्य, तथात्वेन, हि, समाचारे, अधिकारात्, च, सववत्, च, तन्नियमः ।

पदार्थोक्ति—स्वाध्यायस्य—स्वकीयाध्ययनस्य, [एव शिरोव्रताख्यो धर्मोऽङ्गम्, न विद्यायाः, कुतः ?] तथात्वेन हि—यतः स्वाध्यायस्याऽङ्गत्वेन समाचारे—वेदव्रतोपदेशके ग्रन्थे [वेदव्रतत्वेन शिरोव्रतमपि समामनन्त्याथर्वणिकाः, इतोऽपि शिरोव्रतमध्ययनस्यैवाङ्गम्, कुतः ?] अधिकाराच्च—'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' इत्यत्रत्यादधिकृतविषयादेतच्छब्दात्, चकाराद् 'अधीते' इत्यध्ययनशब्दाच्च शिरोव्रतमध्ययनस्याङ्गम् । तत्र दृष्टान्तः—सववच्च—यथा सवाः सप्त होमाः सौर्यादयः शतौदनान्ताः शाखान्तरोक्तत्रेताग्न्यसम्बन्धादाथर्वणोक्तैकाग्निसम्बन्धाच्चैकाग्नीनामाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते, तद्वत्, तन्नियमः—तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययन एव नियमः, [तस्मात् सर्वत्रैकविधैव विद्येति निष्कृष्टोऽर्थः] ।

भाषार्थ—शिरोव्रतनामका धर्म स्वाध्यायका ही अङ्ग है, क्योंकि वेदव्रतोपदेशक ग्रन्थमें आथर्वणिकोंने शिरोव्रतका भी स्वाध्यायके अङ्गरूपसे स्वीकार किया है । और अधिकारसे भी शिरोव्रत अध्ययनका ही अङ्ग प्रतीत होता है, क्योंकि 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' यहांसे अधिकृतविषय 'एतत्' शब्द है 'इ्याधिकाराच्च' इसमें पठित चकारसे 'अधीते' इस प्रकार अध्ययनशब्दसे भी शिरोव्रत अध्ययनाङ्ग ज्ञात होता है । 'सववच्च' यह दृष्टान्त है—जैसे शतौदनपर्यन्त सौर्यादि सात होमोंका अन्यशाखोक्त त्रेताग्निके साथ सम्बन्ध नहीं होनेसे और आथर्वणिकोक्त एकाग्निके साथ सम्बन्ध होनेसे आथर्वणिकोंके ही नियमित होते हैं, वैसे शिरोव्रतका मुण्डकके अध्ययनमें ही नियम है, इससे यह स्पष्ट है कि सर्वत्र एकविध ही विद्या है ।

भाष्य

यदप्युक्तम्—आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद इति, तत् प्रत्युच्यते। स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः। कथमिदमवगम्यते? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन—समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते। ननु

भाष्यका अनुवाद

आथर्वणिकोंको विद्याके लिए शिरोव्रत आदिकी अपेक्षा है और अन्योंको इसकी अपेक्षा नहीं है, अतः विद्याका भेद है, ऐसा जो कहा गया है, उसका निराकरण किया जाता है—स्वाध्यायका यह धर्म है, विद्याका नहीं है। यह कैसे समझा जाता है? इससे समझा जाता है कि यह भी वेदके व्रतरूपसे अर्थात् स्वाध्यायके धर्मरूपसे वेदव्रतका उपदेश करनेवाले समाचार नामके ग्रन्थमें कथित है, ऐसा आथर्वणिक लोग कहते हैं। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' (जिसने शिरोव्रत नहीं किया है वह इस ग्रन्थका अध्ययन नहीं करता है)

रत्नप्रभा

एवं रूपभेदो न विद्याभेदक इत्युक्त्वा धर्मविशेषोऽपि न भेदक इत्याह—स्वाध्यायस्येति। गोदानवदध्ययनाङ्गत्वेन शिरोव्रतमाथर्वणिकानां सूत्रे विहितम्, न विद्याङ्गमित्यर्थः। 'अधिकाराच्च' इति व्याचष्टे—नैतदिति। एतत् प्रकृतं मुण्डकम् अननुष्ठितशिरोव्रतो नरो नाधीत इति श्रुतेर्मुण्डकाध्ययनाङ्गमेव शिरोव्रतमित्यर्थः। ननु विद्याङ्गत्वेनापि इदं व्रतं श्रुतमिति शङ्कते—नन्विति। सर्वशाखासु ब्रह्मविद्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त रीतिसे रूपभेद विद्याका भेदक नहीं है, यह कह कर धर्मविशेष भी विद्याका भेदक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"स्वाध्यायस्य" इत्यादिसे। शिरोव्रतका आथर्वणिकोंके सूत्रमें गोदानके समान अध्ययनके अङ्गरूपसे विधान है, विद्याके अङ्गरूपसे विधान नहीं है, ऐसा अर्थ है। 'अधिकाराच्च' इसका व्याख्यान करते हैं—"नैतत्" इत्यादिसे। जिस पुरुषने शिरोव्रतका अनुष्ठान नहीं किया है, वह प्रकृत मुण्डकका अध्ययन नहीं करता है, इस श्रुतिसे शिरोव्रत मुण्डकके अध्ययनका ही अङ्ग है, यह अर्थ है। परन्तु विद्याके अङ्गरूपसे भी यह व्रत श्रुत है? इस प्रकार शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। सब शाखाओंमें यदि ब्रह्मविद्या एक

भाष्य

च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत, शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मु० ३।२।१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्येतैष धर्मः। न, तत्राप्येतामिति प्रकृतपरामर्शात्। प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोग्येवैष धर्मः। सववच्च तन्नियम इति निदर्शननिर्देशः। यथा च सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसम्बन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसम्बन्धाच्चाथर्वणिकानामेव निय-

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार अधिकृतविषयक एतत्शब्दसे और अध्ययनशब्दसे भी यह अपने उपनिषद्के अध्ययनका ही धर्म है, ऐसा निश्चय किया जाता है। परन्तु 'तेषामेवैताम्' (जिन्होंने यथाविधि शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उनसे ही यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिए) इस प्रकार विद्याके संयोगका श्रवण होनेसे सर्वत्र एक ही ब्रह्मविद्या है, इसलिए इस धर्मका भी सर्वत्र सम्बन्ध होगा? नहीं, क्योंकि 'एताम्' इस शब्दसे प्रकृत ब्रह्मविद्याका ही परामर्श है, और ब्रह्मविद्यामें जो प्रकृतत्व है वह ग्रन्थविशेषकी अपेक्षासे है, अतः यह धर्म ग्रन्थविशेषका संयोगी होगा। सूत्रमें 'सववच्च तन्नियमः' यह दृष्टान्तका कथन है। जैसे शतौदनपर्यन्त सौर्यादि सात होमोंका अन्य वेदमें कहे गये त्रेताग्निके साथ सम्बन्धके न होनेसे और आथर्वणोदित एकाग्निके साथ सम्बंध होनेसे आथर्वणिकोंके ही

रत्नप्रभा

एकैव चेत् विद्यासंयुक्तव्रतमपि सर्वत्र सम्बध्येत, न च सम्बध्यते इति विद्याभेद इत्यर्थः। प्रकृतग्रन्थवाच्येतच्छब्दबलाद् ब्रह्मप्रकाशकग्रन्थपरो ब्रह्मविद्याशब्द इति परिहरति—नेति। तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययने नियम इत्यत्र 'सववद्' इति निदर्शननिर्देशः। सवाः—होमाः। आथर्वणैः स्वसूत्रे उदित एकोऽग्निरेकर्षि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, तो विद्यासंयुक्तव्रत भी सर्वत्र सम्बद्ध होगा, परन्तु सम्बद्ध नहीं होता है, अतः विद्याका भेद है, यह अर्थ है। प्रकृत ग्रन्थके वाची एतत् शब्दके बलसे ब्रह्मविद्याशब्द ब्रह्मका प्रकाशक ग्रन्थपर प्रतिपादक है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। मुण्डकके अध्ययनमें उसका अर्थात् शिरोव्रतका नियम है, उसमें 'सववत्' (सव—होमके समान) यह दृष्टान्तका कथन है। सव — होम। आथर्वणिकोंसे अपने सूत्रमें कही गई जो एक अग्नि है उसका नाम एकर्षि प्रसिद्ध है,

भाष्य

म्यन्ते तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसम्बन्धात् तत्रैव नियम्यते । तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

(वे होम हैं) इस प्रकार नियमन किया जाता है, वैसे ही यह धर्म भी स्वाध्याय-विशेषके सम्बन्धसे वहीं नियमित होता है, इससे विद्याका एकत्व अनवद्य है ॥३॥

रत्नप्रभा

संज्ञया प्रसिद्धः, तस्मिन् अग्नौ कार्या इति यथा नियम्यन्ते, तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उस अग्निमें वे होम करने चाहिएँ, इस प्रकार जिस तरह नियमित हैं उस तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—दर्शयति, च ।

पदार्थोक्ति—दर्शयति—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति वाक्यं वेद्यस्य निर्गुणस्य ब्रह्मणः सर्ववेदान्तेषु एकविधत्वेन तद्विद्याया अपि सर्वत्रैकत्वं दर्शयति । च—तथा [वाजसनेयके गुणविशिष्टस्य वैश्वानराख्यब्रह्मणः प्रादेशमात्रत्वेन सम्पादितस्य छान्दोग्ये सिद्धवद् उपादानम्—'यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रम्' इति, तदपि वैश्वानरोपासनायाः सर्वत्रैकत्वं दर्शयति, एवञ्च सगुणनिर्गुणब्रह्मणः एकत्वेन सर्वत्र श्रूयमाणत्वात् तत्तद्विद्याया एकत्वं तथा शस्त्रविशेषरूपोक्थादीनामेकत्वेन सर्वत्र श्रूयमाणत्वात् तदुपासनानामपि ऐक्यमिति तत्समभिव्याहारादितरेषामप्युपासनानामभेद इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—'सर्वे वेदा यत्पदम्' इत्यादि वाक्य वेद्य निर्गुण ब्रह्मके सब वेदान्तोंमें एक होनेसे उसकी विद्याका एकत्व दिखलाता है । वैसे वाजसनेयकमें प्रादेश-मात्ररूपसे सम्पादित गुणविशिष्ट वैश्वानर ब्रह्मका 'यस्त्वेतमेवम्' इत्यादि छान्दोग्यमें उपादान है, वह भी वैश्वानरोपासनाको सर्वत्र एक दिखलाता है । अतः जैसे सगुण और निर्गुण ब्रह्म एक है, इस प्रकार सर्वत्र श्रुत होनेसे उसकी विद्याका एकत्व है, वैसे शस्त्रविशेषरूप उक्थ आदिके एक होनेसे उनकी उपासना भी एक है इसलिए उसके समभिव्याहारसे इतर उपासनाओंका परस्पर अभेद है ।

भाष्य

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० २।१५) इति, तथा 'एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क ६।२) इति काठके उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दार्थे परामर्शो दृश्यते 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति, तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २।७।१) इति। तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादि-

भाष्यका अनुवाद

वेद भी विद्या एक है, ऐसा दिखलाता है, क्योंकि सब वेदान्तोंमें 'वेद्य एक है' यह उपदेश है—'सर्वे वेदा यत्पदमानन्ति' (सब वेद जिस प्राप्तव्यका प्रतिपादन करते हैं) और 'एतमेव बह्वृ०' (इसीका बह्वृच—ऋग्वेदी महान् उक्थमें विचार करते हैं, अध्वर्यु इसका अग्निमें और छन्दोग इसका महाव्रतमें विचार करते हैं)। और 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (यह ब्रह्म महद् भयरूप है, उद्यत वज्र है) इस प्रकार काठकमें कहे गये भयहेतुत्वरूप गुणका तैत्तिरीयकमें भेद-दर्शनकी निन्दाके लिए परामर्श देखा जता है—'यदा ह्येवैष०' (जब अविद्या-अवस्थामें यह अविद्यावान् इस आत्मामें अल्प भी भेददर्शन करता है, तब उसको संसारभय होता है क्योंकि। भेददर्शी विद्वान्‌के लिए ब्रह्मही भयजनक है)। और वाजसनेयकमें प्रादेशमात्रसे

रत्नप्रभा

किञ्च, वेद्यैक्येन निर्गुणब्रह्मविद्यैक्यं तावत् श्रुतिः दर्शयति, तत्सन्निधिपाठात् सगुणविद्यानामपि सर्वशाखासु ऐक्यसिद्धिः इत्याह सूत्रकारः—दर्शयति चेति। सगुणमपि एकं वेदत्रयवेद्यं दर्शयति इत्याह—तथेति। किञ्च, शाखान्तरोक्तपदार्थस्य शाखान्तरे सिद्धवत्परामर्शो विद्यैक्यं दर्शयति इत्याह—तथा महद्भयमित्यादिना। एष नर एतस्मिन् अद्वये अल्पमपि अन्तरम्—भेदं यदा पश्यति, अथ तदा तस्य संसारभयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

और भी वेद्यके एक होनेसे ब्रह्मविद्या भी एक है, यह भगवती श्रुति दिखलाती है, उसकी सन्निधिमें पाठ होनेसे भी सब शाखाओंमें सगुणब्रह्मविद्या एक है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—"दर्शयति च" इत्यादिसे। तीनों वेदोंमें एक सगुण वेद्य दिखलाते हैं, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। और अन्य शाखामें उक्त पदार्थका अन्य शाखामें सिद्धके समान परामर्श विद्याकी एकता दिखलाता है, ऐसा कहते हैं—"तथा महद्भयम्" इत्यादिसे। यह मनुष्य सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध इस

भाष्य

तस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम्—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति। तथा सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेनाऽन्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानात् प्रायदर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

सम्पादित वैश्वानरका छान्दोग्यमें सिद्धके समान उपादान है—'यस्त्वेतमेवम्०' (जो प्रादेशमात्र अभिविमान वैश्वानरकी [यह मैं हूँ] इस प्रकार से उपासना करता है, वह)। और सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वरूपसे विहित उक्थ आदिका अन्यत्र उपासनाके विधानके लिए ग्रहण होनेसे प्रायदर्शनन्यायसे उपासनाओंमें भी सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वकी सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

भवत्येव यस्माद् विदुषः नरस्य भेददर्शिनः तदेव ब्रह्म भयङ्करं भवति। ब्रह्मैवाहमित्यमन्वानस्येत्यर्थः। 'प्रादेशमात्रम् उपास्ते' इति सिद्धवदुपादानं वैश्वानरविद्यैक्यं दर्शयतीत्याह—तथेति। किञ्च, सर्वेषु वेदान्तेषु उक्थादीनां प्रतीयमानत्वेन हेतुनैतदवगम्यते—अन्यत्रोक्तानां तेषामन्यत्रोपास्त्यर्थमुपादानमिति। ततस्तदुपास्तीनामपि सर्ववेदान्तप्रमाणकत्वेन ऐक्यं बाहुल्येन सिध्यतीत्याह—तथेति। ब्रह्मविद्यैक्यवदुक्थादिविद्यैक्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अद्वयमें जब स्वल्प भी भेद देखता है, तब इसको संसारजन्य भय होता ही है, क्योंकि मुझसे ईश्वर भिन्न है, इस प्रकार भेददर्शी विद्वान् नरके लिए वही ब्रह्म भयङ्कर होता है, जो नर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं विचार करता है, उसके लिए ऐसा अर्थ है। 'प्रादेशमात्रमुपास्ते' (प्रादेशमात्रकी उपासना करता है) इस प्रकार सिद्धवदुपादान वैश्वानर विद्याकी एकता दिखलाता है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। और सभी वेदान्तोंमें उक्थ आदिके प्रतीयमानत्वहेतुसे यह ज्ञात होता है कि अन्यत्र उक्त उक्थ आदिका अन्यत्र उपादान उपासनाके लिए है। अतः उनकी उपासनाओंका भी सब वेदान्तोंमें प्रमाण होनेसे प्रायः ऐक्य सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। ब्रह्मविद्याके ऐक्यके समान उक्थ आदि विद्याएँ एक हैं, ऐसा अर्थ है ॥ ४ ॥



[२ उपसंहाराधिकरण सू० ५]

एकोपास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ ।
अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतैर्गुणैः ॥ १ ॥
श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत् ।
विशिष्टविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—एक उपासनामें श्रुत गुणोंका अन्यत्र उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका श्रुतिमें कथन नहीं है, और श्रुत गुणोंसे ही विद्याका उपकार होगा ।

सिद्धान्त—अन्य शाखाओंमें गुणोंका श्रवण होनेसे अग्निहोत्रके समान उन गुणोंका एक उपासनामें उपसंहार करना चाहिए । विशिष्ट विद्याका उपकार स्वशाखोक्त गुणोंके समान है, अतः उपसंहार करना युक्त है ।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

पदच्छेद—उपसंहारः, अर्थाभेदात्, विधिशेषवत्, समाने, च ।

पदार्थोक्ति—विधिशेषवत्—यथाऽग्निहोत्रस्य सर्वत्रैक्यात् तच्छेषाणामुपसंहार-स्तद्वत्, समाने—उपासने, उपसंहारः—गुणोपसंहारः [योग्यः, कुतः ?] अर्थाभेदात्—उपास्यगुणैर्निर्वर्त्यस्योपासनरूपार्थस्य सर्वशाखासु अभिन्नत्वात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—जैसे सर्वत्र अग्निहोत्र एक है, अतः उसके शेष गुणोंका उपसंहार होता है, वैसे ही उपासनामें भी गुणोपसंहार करना चाहिए क्योंकि उपास्यके गुणोंसे प्राप्य उपासनारूप अर्थका सब शाखाओंमें अभेद है, ऐसा अर्थ है ।

---

* भाव यह है कि वाजसनेयकमें प्राणविद्यामें 'रेतो होचक्राम' इत्यादिसे रेत नामका अधिक गुण श्रुत है, उसका छान्दोग्यकी प्राणविद्यामें उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहाँ वह नहीं कहा गया है, विद्योपकार तो यहाँ श्रुत प्राण, वाग् आदि गुणोंसे होगा ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि इस शाखामें अश्रुत है, तथापि अन्य शाखामें श्रुत होनेसे उसका उपसंहार करना ही चाहिए, क्योंकि अग्निहोत्र आदि अनुष्ठानमें उपसंहार देखा जाता है। अपनी शाखाओंमें उक्त गुणोंसे ही विद्याका उपकार सिद्ध है तो पुनः गुणोपसंहार निरर्थक है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए 'कर्मके आधिक्यसे फलका आधिक्य होता है' इस न्यायसे अपनी शाखामें उक्त गुणके समान अन्य शाखामें उक्त गुण भी उपकारक होता है। इससे गुणका उपसंहार करना चाहिए।

भाष्य

इदं प्रयोजनसूत्रम्। स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति, अर्थाभेदात्। य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टविज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि। उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानम्, तस्मादुपसंहारः। विधिशेषवत्

भाष्यका अनुवाद

यह प्रयोजन सूत्र है। 'सम्पूर्ण विज्ञान सर्ववेदान्तगम्य हैं' ऐसा निर्णय होनेपर अन्यत्र कथित विज्ञानगुणोंका तुल्य अन्य विज्ञानमें उपसंहार होता है, क्योंकि अर्थका भेद नहीं है। उन गुणोंका एक स्थलमें जो अर्थ विशिष्टविज्ञानका उपकारक है, वही अन्यत्र भी है। कारण कि दोनों स्थलोंमें वही एक विज्ञान है, इससे उपसंहार है। 'विधिशेषवत्' (विधिशेषके समान) जिस प्रकार विध्यङ्ग

रत्नप्रभा

सर्वशाखासु विद्यैक्यचिन्तायाः फलमाह—उपसंहार इति। शाखाभेदे समानविद्यायां श्रुता गुणाः, यथाश्रुति व्यवस्थिताः, उत एकत्राश्रुताः इतरशाखातः उपसंहर्तव्या इति सन्देहे विद्यैक्येऽपि तत्र तत्रोक्तैरेव गुणैर्विद्योपकारसिद्धेः शाखाभेदेन गुणाः व्यवस्थिता इति पूर्वपक्षः। तत्र प्रकृतविद्यैक्यचिन्तानैष्फल्यमिति फलम्। सिद्धान्तत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—स्थिते चेत्यादिना। गुणानां गुण्यविनाभावादेतच्छाखास्था विद्या शाखान्तरोक्ततद्विद्यागुणवती तदभिन्नत्वात् तद्विद्यावदित्यनुमानाद् विद्यैक्ये गुणोपसंहारसिद्धिरित्यर्थः। प्रधानैक्ये तत्तदुपकारकाणामङ्गानामुपसंहारे दृष्टान्तमाह—विधिशेषवदिति। उक्तमेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—यदि

रत्नप्रभाका अनुवाद

सब शाखाओंमें एक विद्याके विचारका फल कहते हैं—"उपसंहार" इत्यादिसे। शाखाओंका भेद होनेपर भी समान विद्यामें श्रुत गुण श्रुतिके अनुसार व्यवस्थित हैं या एक शाखामें अश्रुत गुणोंका इतर शाखासे उपसंहार है, इस प्रकार सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष यह होता है कि विद्याके एक होनेपर भी उन उन स्थानोंमें उक्त गुणोंसे ही उपकारकी सिद्धि होनेसे शाखाके भेदसे गुण व्यवस्थित हैं। उस पूर्वपक्षमें प्रकृत एक विद्याका विचार निष्प्रयोजन है। सिद्धान्तरूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—"स्थिते च" इत्यादिसे। गुणोंका गुणाश्रयके साथ अविनाभाव होनेसे एक शाखामें स्थित विद्या अन्य शाखास्थ विद्याके गुणका आश्रय करनेवाली है, उससे अभिन्न होनेसे उस विद्याके समान, इस अनुमानसे विद्यामें ऐक्य सिद्ध होनेपर गुणोंके उपसंहारकी सिद्धि होती है, ऐसा अर्थ है। प्रधानके एक होनेपर तत्तद् उपकारक अंगोंके उपसंहारमें दृष्टान्त कहते हैं—"विधिशेषवत्" इत्यादिसे। जो कहा गया है उसका व्यतिरेक दृष्टान्तसे कथन करते

भाष्य

यथा हि विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहरणम्, एवमिहापि। यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिबद्धत्वाद् गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च न स्यादुपसंहारः। विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति, अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

अग्निहोत्रादि धर्मोंका वही एक अग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्र है, इस प्रकार अर्थका भेद न होनेसे यहां भी उपसंहार है। यदि विज्ञानका भेद हो, तो गुणोंके अन्य विज्ञान में निबद्ध होनेसे और उनमें प्रकृतिविकृतिभावके न रहनेसे उपसंहार नहीं होगा। विज्ञानके एक होनेपर तो ऐसा नहीं होगा। इसी प्रयोजनसूत्रका विस्तार 'सर्वाभेदात्' इत्यादि सूत्रके आरम्भसे होगा ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा

हीति। ननु आग्नेययागावरुद्धानां गुणानां ततो भिन्ने सौर्ये प्राप्तिवद् विद्यान्तरस्थगुणानां विद्यान्तरे प्राप्तिः किं न स्यादित्यत आह—प्रकृतीति। प्रकृतिगुणानां विकारे प्राप्तिर्युक्ता, विद्यानां तु प्रकृतिविकृतिभावासिद्धेः न तत्प्राप्तिरित्यर्थः। नैवमिति। गुणानुपसंहारो नेत्यर्थः। उत्तरसूत्राणामनेन सूत्रेण पौनरुक्त्यं वारयति—अस्यैवेति ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"यदि हि" इत्यादिसे। आग्नेय यागमें अवरुद्ध—अन्वित गुणोंकी उससे भिन्न सौर्य यागमें जैसे प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य विद्यास्थ गुणोंका अन्य विद्यामें उपसंहार क्यों नहीं होता है? इसपर कहते हैं—"प्रकृति" इत्यादिसे। प्रकृतिके गुणोंकी विकारमें प्राप्ति सयुक्तिक है, परन्तु विद्याओंमें तो प्रकृतिविकृतिभाव ही असिद्ध है, अतः उसकी प्राप्ति नहीं है, ऐसा अर्थ है "नैवम्" इत्यादि इसका—गुणोंका अनुपसंहार नहीं है, ऐसा अर्थ है। उत्तर सूत्रोंका इस सूत्रके साथ पौनरुक्त्य वारण करते हैं—"अस्यैव" इत्यादिसे ॥ ५ ॥



[३ अन्यथात्वाधिकरण सू० ६–८]

एका भिन्नाऽथवोद्गीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः ।

एका स्यान्नामसामान्यात् संग्रामादिसमत्वतः ॥१॥

उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा ।

वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राऽप्रयोजकम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें कथित उद्गीथविद्या एक है अथवा भिन्न है?

पूर्वपक्ष—एक है, क्योंकि समान नाम है और संग्राम आदि भी समान हैं।

सिद्धान्त—उद्गीथविद्या भिन्न है, क्योंकि उद्गीथावयव ॐकार और उद्गाता, इन दोनों वेद्योंका भेद है और वेद्यके भेद होनेपर संग्राम आदि अर्थवादकी समानता विद्याके एकत्वमें प्रयोजक नहीं है।

---

* भाव यह है कि 'उद्गीथविद्या' इस प्रकारका नाम छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें एक होनेसे दोनोंमें उद्गीथविद्या एक ही है, यद्यपि नाम श्रौत नहीं है, तथापि संग्राम आदि जो श्रौत हैं वे दोनों—छान्दोग्य और बृहदारण्यकमें समान हैं। क्योंकि छान्दोग्यमें सात्त्विक इन्द्रियवृत्ति और तामस इन्द्रियवृत्तियोंमें क्रमशः देवासुरभावका अङ्गीकार करके उनके संग्रामका निरूपण करके वाग् आदि देव असुरोंसे तिरस्कृत हुए, यह कहकर प्राण विजयी कहा गया है। यह सब बृहदारण्यकमें भी समानरूपसे कहा गया है। इससे उभयत्र विद्या एक है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—सिद्धान्ती कहते हैं कि उद्गीथविद्या भिन्न है, क्योंकि वेद्यका स्वरूप भिन्न भिन्न है—छान्दोग्यमें सामभागविशेष उद्गीथावयव ॐकारकी प्राणदृष्टिसे उपासना विहित है और काण्ववेदमें तो सम्पूर्ण उद्गीथभक्तिका जो उद्गाता वागादिका प्रेरक प्राण है उसकी उद्गातृदृष्टिसे उपासना विहित है, अतः वेद्यकी भिन्नता होनेसे विद्याकी भी भिन्नता है। संग्राम आदिकी समता विद्याके एकत्वकी साधिका है, यह जो पूर्वमें कहा गया है, वह अर्थवादमात्र होनेसे एक उद्गीथविद्याका साधक नहीं है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उद्गीथविद्या भिन्न ही है।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—अन्यथात्वम्, शब्दात्, इति, चेत्, न, अविशेषात्।

पदार्थोक्ति—शब्दात्—'त्वं न उद्गाय' 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' इति उद्गीथकर्तृत्वेनोद्गीथत्वेन च प्राणस्योपास्यत्वप्रतिपादकात् शब्दात्, अन्यथात्वम्—भिन्नशाखागतानां सजातीयोपासनानां भिन्नत्वम् [एवाङ्गीकार्यम्] इति चेत् न—तेन प्रकारेण यदि कश्चनाशङ्केत तर्हि तन्न योग्यम्, [कुतः ?] अविशेषात्—देवासुरसङ्ग्रामोपक्रमासुरात्ययाभिप्रायप्रभृतीनामुभयत्र तुल्यत्वात् [अतो न विद्याया भेदः, अपि तु तस्या ऐक्यमेवेति भावः]।

भावार्थ—'त्वं न उद्गाय' 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' इत्यादिमें उद्गीथके कर्तारूपसे और उद्गीथरूपसे प्राणकी उपासनाका प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंसे भिन्न शाखामें पठित सजातीय उपासनाओंका भेद ही है, यदि इस प्रकार कोई आशङ्का करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि देवता और असुरोंके सङ्ग्रामका उपक्रम एवं असुरोंका पराजय आदि दोनोंमें समान है, अतः विद्याका भेद नहीं है, किन्तु एक ही विद्या है, ऐसा भाव है।

भाष्य

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति'

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयकमें 'ते ह देवा ऊचु०' (उन देवताओंने कहा कि इस यज्ञमें असुरोंको जीतकर देवत्व प्राप्त करें), और 'ते ह वाचमूचुः०' (उन्होंने—प्राणोंने

रत्नप्रभा

पूर्वं चोदनाद्यविशेषादुत्सर्गतो विद्यैक्यमुक्तम्, तस्याऽपवादं वक्तुमाह—**अन्यथात्वमिति**। अत्र वाजिनामुद्गीथब्राह्मणम्, छन्दोगानामुद्गीथाध्यायं च विषयमाह—**वाजेत्यादिना**। 'ते ह देवाः—सात्त्विकवृत्तयः प्राणा अन्योन्यमूचुः हन्त इदानीम् अस्मिन् यज्ञे उद्गीथेन औद्गात्रेण कर्मणा रजस्तमोवृत्तिरूपान् असुरान् अतीत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रेरणा आदिके अविशेषसे—समानतासे 'विद्या एक है' ऐसा जो पूर्वमें कहा जा चुका है, उसका निषेध करनेके लिए कहते हैं—"अन्यथात्वम्" इत्यादिसे। यहां वाजसनेयकोंका उद्गीथ ब्राह्मण और छन्दोगोंका उद्गीथाध्याय विषय है, उसे कहते हैं—"वाज" इत्यादिसे। 'ते ह देवा' अर्थात् सात्त्विकवृत्तिवाले प्राण परस्पर कहने लगे कि हर्ष है, अब इस यज्ञमें उद्गीथसे—

भाष्य

(बृ० १।३।१) 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथा' (बृ० १।३।२) इति प्रक्रम्य वागादीन् प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्' (बृ० १।३।७) इति। तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्ध देवा उद्गीथमाजहुरनेनैनानभिभविष्यामः' (छा० १।२।१) इति प्रक्रम्येतरान् प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।७) इति। उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते। तत्र

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार निश्चय करके वाणीसे कहा कि तू हमारा उद्गातृसम्बन्धी कर्म कर) इस प्रकार उपक्रम करके वाक् आदि प्राण असुर-पापोंसे आक्रान्त हैं, ऐसी उनकी निन्दा करके मुख्य प्राणका परिग्रह कहते हैं—'अथ हेममासन्यम्०' (अनन्तर मुखवर्ती प्राणसे कहा कि तुम हमारा औद्गात्र कर्म करो, हां, कहकर उस प्राणने उनका औद्गात्र कर्म किया)। वैसे ही छान्दोग्यमें भी 'तद्ध देवाः० (उस देवासुर संग्राममें इस कर्मसे असुरोंका पराभव करेंगे, इस प्रकारके अभिप्रायवाले देवताओंने औद्गात्र कर्मसे उपलक्षित सोमयाग किया) इस प्रकार उपक्रम करके अन्य प्राणोंके असुरोंके पापसे आक्रान्त होनेसे उनकी निन्दा करके उसी रीतिसे मुख्य प्राणका परिग्रह किया है—'अथ ह य०' (अनन्तर मुखवर्ती जो यह प्रसिद्ध प्राण है, उसकी उद्गीथरूपसे उपासना की) इस रीतिसे वाजसनेयक

रत्नप्रभा

देवत्वं गच्छाम.' इति। ते चैवं निर्दोषमुद्गीथकर्तारमुपास्यं निर्धारयितुं कृतसंवादाः प्रथमं वाचं परीक्षितवन्तः—त्वमौद्गात्रं नः अस्माकं कुर्विति। तया अनृतं कृतम्। तथा प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांस्यपि कामेनाऽसुरपाप्मना ग्रस्तानीति निन्दित्वा आसन्यम् आस्ये भवं मुखमध्यस्थं प्राणम् उपास्यं निर्धारितवन्तः। तत् तत्र अन्योन्याभिभवात्मके युद्धे प्रवृत्ते देवाः पूर्ववदुद्गीथमाहृतवन्तः। अनेनोद्गी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

औद्गात्र कर्मसे राजस और तामस वृत्तिवाले असुरोंका पराजय करके देवभावको प्राप्त करें। इससे उपास्य निर्दोष उद्गीथके कर्ताका निर्धारण करनेके लिए परस्पर परामर्श करके देवताओंने प्रथम वाणीकी परीक्षा की—'तू हमारा औद्गात्र कर्म कर। वाणीने अनृत किया, वैसे ही घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मनको भी कामरूप असुरपापसे ग्रस्त हुए देखकर उनकी निन्दा करके उन्होंने आसन्य—मुखमें रहनेवाला प्राण उपास्य है, इस प्रकार निश्चय किया, ऐसा अर्थ है। परस्पर तिरस्कार

भाष्य

संशयः—किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति । किं तावत् प्राप्तं? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति । ननु न युक्तं विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदात्, अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति, छन्दोगास्तूद्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।७) इति, तत् कथं

भाष्यका अनुवाद

और छान्दोग्य दोनों स्थलोंमें प्राणकी प्रशंसा होनेसे प्राणविद्याकी विधिका निश्चय होता है । यहांपर संशय होता है कि यहां विद्याका भेद है या एक विद्या है ? तब क्या प्राप्त हुआ ?

पूर्वपक्षी—पूर्व न्याय से एक विद्या है—यह प्राप्त होता है । परन्तु विद्याका एकत्व युक्त नहीं है, क्योंकि वाजसनेयी अन्य प्रकारसे उपक्रम करते हैं । और छन्दोग अन्य रीतिसे उपक्रम करते हैं, इसलिए उपक्रमका भेद है । 'त्वं न उद्गाय०' (तू हमारा औद्‌गात्र कर्म कर) ऐसा वाजनेयी प्राणका उद्‌गीथके कर्ता-

---

रत्नप्रभा

थेनैनानसुरान् जयेमेत्यर्थः । भेदाभेदमानाभ्यां संशयमाह—तत्रेति । अत्र पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनोद्गीथविद्येति संज्ञैक्येन विद्यैक्यमिति पूर्वपक्षे मिथोगुणोपसंहारः फलम्, सिद्धान्ते संज्ञैक्येऽपि विद्यैक्यापवादादनुपसंहार इति । एवं यत्र पूर्वन्यायेन पूर्वपक्षः, तत्रापवादिकी सङ्गतिरिति मन्तव्यम् । सूत्रस्थसिद्धान्तिशङ्काभागं व्याचष्टे—ननु न युक्तमिति । संपूर्णोद्‌गीथकर्मकर्ता प्राणो वाजिनामुपास्यः, उद्‌गायेति कर्तृशब्दात् । छन्दोगानां तूद्‌गीथावयव ओङ्कारः प्राणदृष्ट्या उपास्यः । 'ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथम्' (छा० १।१।१) इत्युपक्रम्य प्राण-

रत्नप्रभाका-अनुवाद

रूप युद्धका आरम्भ होनेपर देवताओंने पूर्वकी भाँति उद्‌गीथसे उपलक्षित कर्म किया यह सोचकर कि इस उद्‌गीथ कर्मसे असुरोंपर विजय पावें, ऐसा अर्थ है । भेदप्रमाण और अभेदप्रमाणसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । यहाँ पूर्वाधिकरण सिद्धान्तके न्यायसे 'उद्गीथविद्या' इस प्रकार एक संज्ञा होनेसे एक विद्या है, अतः पूर्वपक्षमें परस्पर गुणोपसंहार फल है, सिद्धान्तमें संज्ञाके एक होनेपर भी विद्याके एकत्वका अपवाद होनेसे अनुपसंहार है । इसलिए जहाँ पूर्वन्यायसे पूर्वपक्ष हो, वहाँ आपवादिकी सङ्गति होती है, ऐसा जानना चाहिए । सूत्रमें स्थित सिद्धान्तीके शङ्काभागका व्याख्यान करते हैं—"ननु न युक्तम्" इत्यादिसे । सम्पूर्ण उद्गीथ कर्मका कर्ता प्राण वाजसनेयियोंसे उपास्य है, क्योंकि 'उद्गाय' यह कर्तृवाचक

भाष्य

विद्यैकत्वं स्यादिति चेत्, नैष दोषः; नह्येतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति, अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात्। तथा हि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्वीर्याच्चासुरविध्वंसनमश्मलोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राऽप्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते। वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथसामाना-

भाष्यका अनुवाद

रूपसे श्रवण कराते हैं। और छन्दोग तो 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे०' (उसकी उद्गीथरूपसे उपासना की) इससे विद्याका एकत्व किस प्रकार समुचित होगा, यदि ऐसा कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि ऐसे साधारण विशेषसे विद्याके एकत्वका निरास नहीं हो सकता है, कारण कि विशेषशून्य बहुतर भाग भी प्रतीत होता है, जैसे कि देवासुरसंग्रामका उपक्रम, असुरोंके पराभवके लिए संवाद, उद्गीथका उपन्यास, वाक् आदिका संकीर्तन, उनकी निन्दासे प्राणका आश्रय और अन्य—पाषाणलोष्टके दृष्टान्तसे उसके—प्राणके वीर्य द्वारा असुरोंका विध्वंस, इस प्रकार अनेक अर्थ उभय स्थलोंमें समान हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

रत्नप्रभा

मुद्गीथमिति कर्मरूपत्वशब्दात्। तथा च कर्तृकर्मणोरुपास्ययोर्भेदाद् विद्ययोरन्यथात्वम्—भेद इति शङ्कार्थः। उद्गीथत्वेनेति। ॐकारत्वेनेत्यर्थः॥ अल्परूपभेदो न विद्यैक्यविरोधीत्युक्तन्यायेन पूर्वपक्षी परिहरति—नैष इति। असुरात्ययाभिप्रायः—असुरजयार्थं संवादः। यथा अश्मानं प्राप्य लोष्टो विध्वंसते, तथा प्राणं हन्तुमागताः असुराः तस्य वीर्येण स्वयमेव ध्वस्ता इति श्रुतमुभयत्रेत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्द है, और छन्दोगोंका तो उद्गीथका अवयव जो ॐकार है वह प्राणदृष्टिसे उपास्य है, क्योंकि 'ॐ मित्येतदक्षरम्' (ॐ इस अक्षररूप उद्गीथकी उपासना करे) ऐसा उपक्रम करके 'प्राणमुद्गीथम्' (उसने मुख्य प्राणकी उद्गीथरूपसे उपासना की) इस प्रकार कर्मरूप शब्द है। इसलिए कर्ता और कर्मरूप उपास्यके भेदसे विद्याका अन्यथात्व—भेद है, ऐसा शङ्काका अर्थ है। "उद्गीथत्वेन" इत्यादि। उद्गीथत्वेन इसका ॐकारत्वेन, ऐसा अर्थ है। थोड़ासा भेद विद्याके एकत्वका विरोधी नहीं है, इस पूर्वोक्त न्यायसे पूर्वपक्षी परिहार करता है—"नैष दोषः" इत्यादिसे। असुरात्ययाभिप्रायः—असुरोंके जयके लिए संवाद। जैसे पत्थरको पाकर मृत्तिकाका ढेला चूर-चूर हो जाता है, ठीक वैसे ही प्राणका नाश करनेके लिए आये हुए असुर उस प्राणकी सामर्थ्यसे आप ही नष्ट हो गये, ऐसा दोनों श्रुतियोंमें श्रुत है, ऐसा अर्थ है। थोड़ेसे रूपके भेदका अङ्गीकार करके

भाष्य

धिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—'एष उ वा उद्गीथः' (बृ० १।३।२३) इति। तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम्। तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

एवं वाजसनेयकमें भी प्राण और उद्‌गीथका सामानाधिकरण्य है—'एष वा उद्गीथः' (यह निश्चय उद्‌गीथ है)। इससे छान्दोग्यमें भी कर्तृत्व समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि विद्या एक है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

अल्परूपभेदमङ्गीकृत्यापि विद्यैक्यमुक्तम्, सोऽपि नास्तीत्याह—वाजेति। उद्‌गीथकर्तृत्वेन प्राणस्योभयत्र श्रुतत्वादेकत्र श्रुतं कर्तृत्वमप्युभयत्र द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विद्याका एकत्व कहा, अब वह—स्वल्प रूपभेद भी नहीं है, ऐसा कहते हैं—"वाज" इत्यादिसे। उद्गीथकर्तृरूपसे प्राणका उभयत्र श्रवण होनेसे एकत्र श्रुत भी कर्तृत्व दोनों स्थलोंपर समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—न, वा, प्रकरणभेदात्, परोवरीयस्त्वादिवत्।

पदार्थोक्ति—न वा—नैव [विद्यैक्यम्, कुतः ?] प्रकरणभेदात्—'ओमित्येतदक्षरम्' इत्युद्गीथावयव ओङ्कारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते अन्यत्र तु 'त्वं न उद्गाय' इति सकलैव सामभक्तिः प्राणत्वेनावेद्यते, इत्युपक्रमभेदात् [तत्र दृष्टान्त उच्यते] परोवरीयस्त्वादिवत्—परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'एष परोवरीयानुद्गीथः' इति परोवरीयस्त्वादिविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टोद्गीथोपासनात् भिन्नम्, तद्वत्, इत्यर्थः।

भावार्थ—विद्या एक नहीं है, क्योंकि 'ओमित्येतदक्षरम्' इससे उद्‌गीथावयव ओकारमें प्राणदृष्टि उपदिष्ट है और अन्यत्र 'त्वं न उद्गाय' इत्यादिसे सम्पूर्ण सामभक्ति प्राणरूपसे उक्त है अतः उपक्रमका भेद है जैसे 'एष परोवरीयानुद्‌गीथः' इस श्रुतिसे विहित परोवरीयस्त्वादिविशिष्ट उद्‌गीथकी उपासना चक्षु, आदित्य आदिगत हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्ट उद्‌गीथ उपासनासे भिन्न है, वैसे प्रकृतमें विद्या भिन्न ही है, ऐसा समझना चाहिए।

भाष्य

न वा निद्यैकत्वमत्र न्याय्यम्, विद्याभेद एवात्र न्याय्यः। कस्मात्? प्रकरणभेदादिति। प्रक्रमभेदादित्यर्थः। तथा हि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते छान्दोग्ये तावत् 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयवस्योङ्कारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानं च तत्र कृत्वा 'अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति, पुनरपि तमेवोद्गीथावयवमोङ्कारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण 'तं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।२) इत्याह। तत्र यद्युद्गीथ-

भाष्यका अनुवाद

यहां विद्याका एकत्व उचित नहीं है, विद्याका भेद ही उचित है। किससे प्रकरणके भेदसे अर्थात् उपक्रमके भेदसे, ऐसा अर्थ है। क्योंकि यहां प्रक्रमभंग दीखता है—छान्दोग्यमें 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ('ओम्' इस वर्णात्मक उद्गीथकी उपासना करे) इस प्रकार उद्गीथके अवयव ओंकारमें उपास्यत्वका प्रस्ताव करके रसतम आदि गुणोंका वहां उपव्याख्यान करके अनन्तर 'खल्वेतस्यैवा०' (इसी प्रकृत उद्गीथाख्य अक्षरका उपव्याख्यान होता है) ऐसे फिर भी उसी उद्गीथावयव ओंकारकी अनुवृत्ति करके देवासुरकी आख्यायिका

रत्नप्रभा

बहुविरुद्धरूपभेदाद् न विद्यैक्यमिति सिद्धान्तयति—न वेति। अक्षरं विशिनष्टि—उद्गीथमिति। तदवयवमित्यर्थः। 'पृथिव्यादिरसानां रसतम ओङ्कारः, आप्ति समृद्धि, इति गुणानुक्त्वा गुणवत्योङ्कारे प्राणदृष्टिविधानायाख्यायिका प्रस्तुतेत्याह—रसतमेति। ननु वाजिवाक्यैकवाक्यत्वार्थं छान्दोग्योपक्रमस्थमुद्गीथपदं संपूर्णसामभक्तिपरमस्तु, 'प्राणमुद्गीथम्' इत्यत्राप्युद्गीथकर्ता प्राण उपास्य इति व्याख्यायतामित्यत आह—तत्र यद्युद्गीथेति। ओङ्कारोपास्त्युपक्रमभङ्गः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अत्यन्त विरुद्ध रूपके भेदसे विद्या एक नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"न वा" इत्यादिसे। अक्षरका व्याख्यान करते हैं—"उद्गीथम्" इत्यादिसे। उसका अवयव, ऐसा अर्थ है। पृथ्वी आदि रसोंका रसतम ॐकार है, आप्ति, समृद्धि, ऐसे गुणोंका कथन करके गुणवान् ॐकारमें प्राणदृष्टिका विधान करनेके लिए आख्यायिका प्रस्तुत हुई है, ऐसा कहते हैं—"रसतम" इत्यादिसे। कोई शङ्का करे कि वाजिवाक्यके साथ एकवाक्यता करनेके लिए छान्दोग्यके उपक्रममें स्थित उद्गीथपद सम्पूर्ण सामभक्तिका बोधक हो 'प्राणमुद्गीथम्' इसमें भी उद्गीथकर्ता प्राण उपास्य है, ऐसा व्याख्यान करो? इसपर कहते हैं—"तत्र

भाष्य

शब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयेत तस्याश्च कर्तोद्गातर्त्विक्तत उपक्रमश्चोपरुध्येत, लक्षणा च प्रसज्येत । उपक्रमानुरोधेन चैकस्मिन् वाक्ये उपसंहारेण भवितव्यम् । तस्मादत्र तावदुद्गीथावयवे ॐकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते । वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात् सकलैव भक्तिरावेद्यते, 'त्वं

भाष्यका अनुवाद

द्वारा उसको 'प्राणमुद्गीथ०' (उन देवोंने नासिकामें स्थित प्राणकी उद्गीथभक्तिसे उपासना की अर्थात् नासिक्यप्राणदृष्टिसे उद्गीथावयव ओंकारकी उपासना की) इस रीतिसे श्रुति कहती है । उसमें यदि उद्गीथशब्दसे सम्पूर्ण भक्ति अभिप्रेत हो और उसका कर्ता उद्गाता ऋत्विक् हो, तो उपक्रमका बाध होगा और लक्षणा प्रसक्त होगी । एक वाक्यमें उपक्रमके अनुसार उपसंहार होना चाहिए । इससे यहां तो उद्गीथावयव ओंकारमें प्राणदृष्टिका उपदेश है और वाजसनेयकमें तो

रत्नप्रभा

उद्गीथपदे कर्तृलक्षणा चेति दोषद्वयं स्यादित्यर्थः । ननु सिद्धान्तेऽपि तत्पदेऽवयवलक्षणा स्वीकार्या ततो वरं कर्तृलक्षणा, श्रुत्यन्तरानुग्रहात्, तथा चोपसंहारे कर्तृप्राणोपास्तिनिश्चयादुपक्रमेऽपि तन्निश्चय इत्यत आह—उपक्रमेति । सन्दिग्धोपक्रमो हि वाक्यशेषात् निश्चीयते । यथा 'अक्ताः शर्कराः' इत्यत्राञ्जनद्रव्यसन्देहे 'तेजो घृतम्' इति शेषान्निश्चयः । इह तु उपक्रमेऽक्षरस्योपास्यत्वं निश्चितम्, तत्समानाधिकरणोद्गीथपदस्यावयवलक्षणा विनिश्चितेति "प्राणमुद्गीथम्" इत्युपसंहारस्तदेकार्थतया नेय इत्यर्थः ॥ एवं छान्दोग्ये ओंकार उपास्य उक्तः, इतरत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

यमुद्गीथ" इत्यादिसे । ॐकारकी उपासनाके उपक्रमका भङ्ग और उद्गीथपदमें कर्तृलक्षणा ये दो दोष प्राप्त होंगे, ऐसा अर्थ है । 'कोई शङ्का' करे कि सिद्धान्तमें भी उद्गीथपद की उद्गीथावयवमें लक्षणा करनी पड़ती है, उसकी अपेक्षा अन्य श्रुतिके अनुग्रहसे कर्तृलक्षणा अधिक श्रेष्ठ है, इसी प्रकार उपसंहारमें उद्गीथकर्ता प्राणकी उपास्तिका निश्चय होनेसे उपक्रममें भी उसका निश्चय है, इसपर कहते हैं—"उपक्रम" इत्यादिसे । सन्देहास्पद उपक्रमका वाक्यशेषसे निश्चय होता है, जैसे 'अक्ताः शर्करा' (लिप्त हुई शर्करा) यहाँपर अञ्जन द्रव्यका सन्देह होनेपर 'तेजो घृतम्' इस वाक्यशेषसे अञ्जन द्रव्यका निश्चय होता है । यहाँ उपक्रममें तो अक्षर उपास्य है, यह निश्चित है । उस अक्षरका समानाधिकरण जो उद्गीथ पद है, उसकी अवयवमें लक्षणा भी निश्चित है अतः 'प्राणम् उद्गीथम्' इस उपसंहारका उपक्रमके साथ एकार्थतासे अर्थ करना उचित है, ऐसा अर्थ है । इसी प्रकार छान्दोग्यमें

भाष्य

न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इत्यपि तस्याः कर्तोद्गातर्त्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम् । यदपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न विद्यैकत्वमावहति, सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथशब्द इति वैषम्यम् । न च प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्यते, उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थत्वेनोपदिश्यमानत्वात् । प्राणवीर्येणैव चोद्गातौद्गात्रं कर्म करो ीति

भाष्यका अनुवाद

उद्गीथशब्दसे अवयवका ग्रहण करनेमें कारण न होनेसे सकल भक्ति ही कथित है 'त्वं न उद्गाय' (तू हमारा औद्गात्र कर्म कर) इसमें भी उसका कर्ता उद्गाता ऋत्विक् प्राणरूपसे निरूपण किया जाता है, इससे यह अन्य प्रस्थान है। उसमें प्राणका उद्गीथके साथ जो सामानाधिकरण्य है वह भी उद्गातृत्वरूपसे दिखलानेके लिए इष्ट प्राणके सर्वात्मत्वके प्रतिपादनके लिए है विद्याके एकत्वका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है । और वहां सकल भक्तिमें ही उद्गीथ शब्द है, अतः वैषम्य है। उसी प्रकार प्राणके उद्गातृत्वका असम्भव होनेसे परित्याग करना उचित नहीं है, क्योंकि उद्गीथभावके समान उद्गातृभाव भी उपासना के लिए उपदिश्यमान है और उद्गाता प्राणकी सामर्थ्यसे ही औद्गात्र कर्मको

रत्नप्रभा

तु प्राण इति उपास्यभेदाद् विद्याभेद इत्याह—वाजेति । यदुक्तं वाजिश्रुतावपि प्राणस्य उद्गीथरूपत्वश्रुतेरुपास्यैक्यमिति, तद् दूषयति—यदपीत्यादिना । तत्रोद्गीथ उपास्यतया नोक्तः, किन्तु प्राणस्योपास्यस्य गुणतयेत्यर्थः । किञ्च, उद्गीथः ओंकारः छान्दोग्ये, अत्र तु भक्तिरित्युपास्यभेद इत्याह—सकलेति । प्राणस्य जडत्वान्नोद्गातृत्वम्, किन्तूद्गीथत्वमेव वाजिभिरपि ग्राह्यमित्यैक्यमाशङ्क्याह—न चेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ॐकार उपास्य कहा गया है, अन्यत्र प्राण उपास्य कहा गया है, अतः उपास्यके भेदसे विद्याका भेद है, ऐसा कहते हैं—"वाज" इत्यादिसे । यह जो कहा गया है कि वाजिश्रुतिमें भी प्राणके उद्गीथरूपत्वके श्रवणसे उपास्य एक है, उसको दूषित करते हैं—"यदपि" इत्यादिसे । वहाँ उपास्यतया उद्गीथ नहीं कहा गया है, किन्तु उपास्य प्राणके गुणरूपसे कहा गया है, ऐसा अर्थ है । छान्दोग्यमें उद्गीथका अर्थ ॐकार है और वाजसनेयकमें भक्ति है, अतः उपास्य-भेद है, ऐसा कहते हैं—"सकल" इत्यादिसे । जड होनेके कारण प्राण उद्गाता नहीं हो सकता, किन्तु उद्गीथत्वका ही वाजसनेयियों द्वारा ग्रहण करना चाहिए इस प्रकार एकताकी आशङ्का करके कहते हैं—"न च" इत्यादिसे । उस उद्गाताने वाग्विशिष्ट प्राणसे औद्गात्र कर्म किया, अतः श्रुतिका

भाष्य

नास्त्यसंभवः । तथा च तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' (बृ० १।३।२४) इति । न च विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्, तथा ह्यभ्युदयवाक्ये

भाष्यका अनुवाद

करता है, अतः असम्भव नहीं है। उसी प्रकार वहां श्रवण कराया गया है कि 'वाचा च ह्येव०' (प्राण प्रधान वाणीसे और आत्मभूत प्राणसे उस उद्‍गाताने उद्‍गान किया)। और विवक्षित अर्थके भेदका अवगम होनेपर वाक्यच्छायाके सादृश्यमात्रसे समानार्थत्वका निश्चय करना युक्त नहीं है, क्योंकि अभ्युदय

रत्नप्रभा

सः उद्गाता वाग्विशिष्टप्राणेनौद्गात्रं कृतवानिति श्रुतेरसम्भवोऽपि नेत्यर्थः। यदुक्तं बहुतरार्थाविशेषाद्धि विद्यैक्यमिति, तत्राह—न चेति। एकत्रोद्गाता प्राणः उपास्यः, अन्यत्रोङ्कार इत्यन्तरङ्गोपास्यरूपभेदे स्पष्टे सति बहिरङ्गार्थवादसाम्यमात्रेण नोपासनैक्यं युक्तमित्यर्थः। वाक्यसाम्यमात्रेण अर्थैक्यं नास्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—तथा हीति। "वि वा एतं प्रजया पशुभिरर्द्धयति वर्द्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्याद्ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्" इत्यभ्युदयवाक्यम्। अस्यार्थः—यस्य यजमानस्य चतुर्दश्यामेव अमावास्याभ्रान्त्या दर्शकर्मार्थं प्रवृत्तस्य पुरस्तात्—पूर्वं, हविः—तण्डुलदधिपयोरूपम्, निरुप्तम्—दर्शदेवताभ्योऽग्न्यादिभ्यः सङ्कल्पितम् चन्द्रमाश्च पश्चादभ्युदेति, तम् एतं यजमानं कालव्यत्ययापराधात् तदेव निरुप्तं हविः

रत्नप्रभाका अनुवाद

असम्भव भी नहीं है, ऐसा अर्थ है। और यह जो कहा गया है कि बहुतर अर्थके सादृश्यसे विद्या एक है, उसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। एक स्थलमें उद्‍गाता प्राण उपास्य है और अन्यत्र ओंकार उपास्य है, इस प्रकार अन्तरङ्ग उपास्यरूप भेदके स्पष्ट होनेपर बहिरङ्ग अर्थवादकी समतामात्रसे उपासनाका एकत्व युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। वाक्यकी समतामात्रसे एक अर्थ नहीं होता है, उसमें दृष्टान्त कहते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे। 'वि वा एतं प्रजया' इत्यादि अभ्युदय वाक्य है। इसका अर्थ यह है—चतुर्दशीमें ही अमावास्याकी भ्रान्तिसे दर्शयागके लिए प्रवृत्त जिस यजमानका दर्शके देवता अग्नि आदिके लिए तण्डुल, दधि और दुग्धरूप हवि पूर्वमें ही सङ्कल्पित हुआ है और अनन्तर चन्द्रमा उदित होता है उस यजमानको कालके व्यत्ययजन्य अपराधसे वही सङ्कल्पित हवि प्रजा आदिसे रहित करता

भाष्य

पशुकामवाक्ये च—'त्रेधा तण्डुलान् विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्' इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः, तथेहाप्युपक्रमभेदा-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यमें और पशुकाम वाक्यमें 'त्रेधा तण्डुलान्०' (तण्डुलके तीन विभाग करे और जो मध्यम हों उनका दाता अग्निके लिए अष्टकपाल पुरोडाश करे) इत्यादि निर्देशसाम्य होनेपर भी उपक्रमका भेद होनेसे अभ्यदयवाक्यमें (हविका) पूर्व देवतासे अपनय (वियोग) है, ऐसा निश्चय किया गया है, और पशुकामवाक्यमें तो यागकी विधि है, ऐसा निश्चय किया गया है, वैसे यहां भी

रत्नप्रभा

प्रजादिना अर्द्धयति वियोजयति, शत्रुं चाऽस्य वर्द्धयति, यस्मात् कालभ्रान्तिमान् यजमानः, ये मध्यमादिभावेन त्रेधा भूतास्तण्डुलाः दध्यादिसहिताः निरुप्ताः, तान् विभजेद् अग्न्यादिभ्यो वियोजयेद् वियोज्य च दातृत्वादिगुणकाग्न्यादिभ्यो दर्श-देवभिन्नेभ्यो निर्वपेदिति दधन् दधनि स्थविष्ठतण्डुलचरुं शृते दुग्धेऽणिष्ठचरु-मित्यर्थः। अत्र कालापराधे देवान्तरयुक्तं प्रायश्चित्तरूपं दर्शाद् भिन्नं कर्म विधीयते इति प्राप्ते तण्डुलत्रेधात्वाद्यनुवादेन विभजेदिति हविषः प्रकृतदेववियोगेन तस्मिन्नेव दर्शकर्मणि देवतान्तरसम्बन्धमात्रविधानम्, न कर्मान्तरमिति सिद्धान्तितम्। एवम-भ्युदयवाक्ये कालापराधेन उपक्रमाद्दर्शकर्मण्येव हविषः पूर्वदेवताभ्योऽपनयो वियोगोऽ-ध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यद्यपि "ये स्थविष्ठास्तानग्नये प्रणयतेऽष्टाकपालं

रत्नप्रभाका अनुवाद

है और उसके शत्रुओंकी वृद्धि करता है। इसलिए कालकी भ्रान्तिवाला यजमान, जो मध्यमादि भावसे तीन प्रकारके दधिसहित तण्डुल सङ्कल्पित हैं, उनका विभाग करे अर्थात् अग्नि आदिसे वियोग करे और वियुक्त करके दातृत्व आदि (प्रदातृत्व और शिपिविष्टत्व) गुणोंसे युक्त अग्नि आदि (इन्द्र और विष्णु) जो दर्शदेवसे भिन्न हैं, उनको दे अर्थात् होम करे। दधन्—दधिमें स्थविष्ठ तण्डुल चरुको और गरम दूधमें छोटे तण्डुलके चरुको, ऐसा अर्थ है। यहाँ कालका अपराध होनेपर अन्य देवसे युक्त दर्शभिन्न प्रायश्चित्तरूप कर्मका विधान होता है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त इस प्रकार है—कर्मान्तरका विधान नहीं है, क्योंकि त्रिविध तण्डुलका अनुवाद करके 'विभजेत्' (विभाग करे) इससे प्रकृत देवोंका हविसे विभाग करके उसी दर्शकर्ममें अन्य देवताके सम्बन्धमात्रका विधान है। इस प्रकार अभ्युदय वाक्यमें कालके अपराधसे उपक्रम है, अतः दर्शकर्ममें ही पूर्वदेवताओंसे हविका अपनय—वियोग निश्चित है। पशुकाम वाक्यमें तो यद्यपि 'ये स्थविष्ठास्तानग्नये०' इत्यादि निर्देश अभ्युदयवाक्यके साथ

भाष्य

द्विद्याभेदः, परोवरीयस्त्वादिवत् । यथा परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १।९।१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।२।९) इति परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशि-

भाष्यका अनुवाद

उपक्रमके भेदसे विद्याका भेद है, परोवरीयस्त्व आदिके समान । जैसे परमात्मदृष्टिके अध्यासके समान होनेपर भी 'आकाशो०' (क्योंकि आकाश ही सब भूतोंसे महत्तर है, अतः आकाश सब भूतोंका परम स्थान है) 'स एष०' (यह परसे पर और वरसे वर उद्गीथ है, वह अनन्त है) इस प्रकार परोवरीयस्त्व गुणसे विशिष्ट उद्गीथकी उपासना अक्षि, आदित्य आदिगत हिरण्यश्मश्रुत्व

रत्नप्रभा

निर्वपेद्ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुं ये क्षोदिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्" इति निर्देशोऽभ्युदयवाक्यसमोऽस्ति, तथापि यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यादिति नित्यं दर्शकर्म समाप्य पुनर्दोहार्थं वत्सापाकरणविध्युपक्रमात् पशुकामस्य यागान्तरविधिरेव, नाभ्युदयवाक्येन अर्थैक्यमिति, तथा प्रकृतेऽपि निर्देशसाम्यं न विद्यैक्यप्रयोजकमित्यर्थः । वत्सानपाकुर्याद् मातृदेशाद् देशान्तरं नयेदित्यर्थः । सूत्रोक्तं दृष्टान्तं व्याचष्टे—परोवरीयस्त्वादिवदिति । पर इति सकारान्तं परस्मात् परश्चासौ वराच्च वरतर इति परोवरीयानित्येकं पदम् । अनन्तश्च आकाशाख्यः परमात्मा तद्दृष्ट्यालम्बनत्वाद् उद्गीथ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान है, तो भी 'यः पशुकामः०' (पशुकी इच्छा करनेवाला अमावास्यामें याग करके बछड़ेको अलग करे) इस प्रकार नित्य दर्शकर्मकी समाप्ति करके पुनः दोहनके लिए वत्सापाकरणविधिके उपक्रमसे पशुकामके लिए अन्य यागकी विधि ही है अभ्युदयवाक्यके साथ अर्थैक्य नहीं है, वैसे प्रकृतमें समान निर्देश एक विधिका प्रयोजक नहीं है, ऐसा अर्थ है बछड़ोंका अपाकरण करे, माताके देशसे अन्य देशमें ले जाय, ऐसा अर्थ है । सूत्रोक्त दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"परोवरीयस्त्वादिवत्" इत्यादिसे । परस् ऐसा सकारान्त (शब्द) है । परसे पर और श्रेष्ठसे श्रेष्ठतर इस अर्थमें परोवरीयान्, ऐसा एक पद है । अनन्त—आकाशाख्य परमात्मा ।

भाष्य

द्योद्गीथोपासनाद्भिन्नम्, न चेतरेतरगुणोपसंहार एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवंजातीयकेषूपासनेष्विति ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

आदि गुणसे विशिष्ट उद्गीथकी उपासनासे भिन्न है और जैसे एक शाखामें भी अन्योन्य गुणका उपसंहार नहीं है, वैसे अन्य शाखामें स्थित भी तत्सजातीय उपासनाओंमें जानना चाहिए ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

स्तथोक्त इत्यर्थः । आकाशात्मना हिरण्यश्मश्रुपुरुषात्मना चोद्गीथोपास्तिसाम्येऽपि विद्याभेदवदिहापि भेद इत्यर्थः ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमात्मदृष्टिके आलम्बनसे उद्गीथ ऐसा कहा गया है, यह अर्थ है । आकाशात्मासे और हिरण्यश्मश्रुपुरुषात्मासे उद्गीथोपासनाका साम्य होनेपर भी जैसे विद्याका भेद है, वैसे प्रकृतमें भी भेद है, ऐसा अर्थ है ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

पदच्छेद—संज्ञातः, चेत्, तत्, उक्तम्, अस्ति, तु, तद्, अपि ।

पदार्थोक्ति—संज्ञातः—उभयत्र 'उद्गीथविद्या' इति संज्ञाया एकत्वात् [विद्याया ऐक्यमेवेति] चेत् ? तदुक्तम्—विद्यात ऐक्यमनैक्यं चेति 'न वा प्रकरणभेदात्' इत्यत्र प्रतिपादितम् । अस्ति तु तत् अपि,—संज्ञैक्यन्तु वर्तते प्रसिद्धभेदानामपि अग्निहोत्रप्रभृतीनां काठकैकग्रन्थपठितानां काठकेति ।

भाषार्थ—दोनों स्थलोंमें 'उद्गीथविद्या' इस प्रकारकी एक संज्ञा होनेसे विद्याका भी भेद नहीं है ? ऐसी यदि शङ्का की जाय, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि विद्या एक है या अनेक है, इस विषयमें 'न वा प्रकरणभेदात्' इस सूत्रमें सिद्धान्त किया जा चुका है, और जो भिन्नरूपसे अग्निहोत्र प्रभृति प्रसिद्ध हैं वे भी एक काठक ग्रन्थमें पठित हैं, इससे उनकी 'काठक' ऐसी एक प्रकारकी संज्ञा है ।

भाष्य

अथोच्येत संज्ञैकत्वाद् विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीथविद्येति ह्युभयत्राप्येका संज्ञेति । तदपि नोपपद्यते । उक्तं ह्येतत्—'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' (ब्र० सू० ३।३।७) इति । तदेव चात्र न्याय्यतरं श्रुत्यक्षरानुगतं हि तत् संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौकिकैर्व्यवहर्तृभिरुपचर्यते । अस्ति चैतत्संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गीथविद्येति । तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरिपठितानां काठकसंज्ञैकत्वं दृश्यते तथेहापि भविष्यति । यत्र तु

भाष्यका अनुवाद

यदि ऐसा कहा जाय कि संज्ञाके एकत्वसे विद्याका एकत्व यहां योग्य है, क्योंकि उभयत्र 'उद्गीथविद्या' इस प्रकार संज्ञा एक है, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि इसका 'न वा प्रकरणभेदात्' इत्यादि सूत्रमें निर्णय किया गया है। वही प्रकृतमें अत्यन्त उचित है, क्योंकि उसमें श्रुतिके अक्षरोंकी अनुमति है। और संज्ञाका एकत्व तो श्रुत्यक्षरसे बाह्य है और उद्गीथ शब्दमात्रके प्रयोगसे व्यवहार करनेवाले लौकिक उसका उपचार करते हैं। और प्रसिद्ध भेदवाली परोवरीयस्त्व आदि गुणोंसे युक्त उपासनाओंमें उद्गीथविद्या, ऐसा संज्ञाका एकत्व है, जैसे एक ही काठक ग्रन्थमें पढ़े हुए अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास आदि जिनमें भेद प्रसिद्ध है उनकी एक ही काठकसंज्ञा देखी जाती है, वैसे यहां

रत्नप्रभा

संज्ञैक्यं पूर्वपक्षबीजमुद्भाव्य दूषयति—संज्ञात इति । उपास्यरूपभेदाद् विद्यानानात्वं यदुक्तम्, तत् श्रुत्यक्षरानुगतं बलवत् । संज्ञा तु पौरुषेयी दुर्बलेत्यर्थः । संज्ञैक्यं कर्मैक्यव्यभिचारि चेत्याह—अस्ति चेति । किं संज्ञैक्यं सर्वत्राप्रमाणमेव, नेत्याह—यत्र त्विति । असति बाधके संज्ञैक्यमपि मानम्, यथा संवर्गविद्येति

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षके बीजरूप संज्ञाके ऐक्यका उद्भावन करके उसे दूषित करते हैं—"संज्ञातः" इत्यादिसे। उपास्यरूप भेदसे विद्या भिन्न है, ऐसा जो कहा गया है वह श्रुत्यक्षरमें अनुगत होनेसे बलवान् है। संज्ञा तो पौरुषेयी पुरुषप्रयुक्त है, अतः वह दुर्बल है, ऐसा अर्थ है। संज्ञाका एकत्व कर्मके एकत्वसे व्यभिचारी है, ऐसा कहते हैं—"अस्ति च" इत्यादिसे। क्या संज्ञाका एकत्व सर्वत्र प्रमाणहीन ही है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—"यत्र तु" इत्यादिसे। यदि बाधक न हो, तो संज्ञाका ऐक्य भी प्रमाण है, जैसे संवर्गविद्या, इस प्रकारकी एक संज्ञा

भाष्य

नास्ति कश्चिदेवंजातीयको भेदहेतुस्तत्र भवतु संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वं यथा संवर्गविद्यादिषु ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

भी होना चाहिए, परन्तु जहां उस प्रकार कोई भेदका हेतु न हो वहां संज्ञाके एकत्वसे विद्याका एकत्व होगा, जैसे संवर्गविद्या आदिमें होता है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

संज्ञैक्यात् सर्वशाखासु तद्विद्यैक्यम्, तथा पञ्चाग्न्यादिविद्यैक्यमिति आद्यसूत्रे दर्शितमित्यर्थः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे सब शाखाओंमें उस विद्याका ऐक्य है, उसी प्रकार पंचाग्नि आदि विद्याका ऐक्य है, ऐसा प्रथम सूत्रमें दिखलाया गया है, ऐसा अर्थ है ॥८॥

[४ व्याप्त्यधिकरण सू० ९]

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाथ विशेष्यता ।
अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावतः ॥ १ ॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्गीथेन विशिष्यते ।
अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिकृष्टांशलक्षणा ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस श्रुतिमें अक्षरका और उद्गीथका सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, वह क्या अध्यास है या बाध है, या ऐक्य है अथवा विशेषण है ?

पूर्वपक्ष—किसी पक्षका निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि नियामक हेतु नहीं है ।

सिद्धान्त—उक्त सामानाधिकरण्य विशेषणविशेष्यभावसे निर्दिष्ट है, क्योंकि ऋगादिमें ओंकार-अक्षर व्याप्त है, अध्यास आदिमें फलकी कल्पना और सन्निकृष्टांशमें लक्षणा भी प्रसक्त होगी ।

* भाव यह है कि 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इसमें अक्षर और उद्गीथका सामानाधिकरण्य सुना जाता है । यहाँपर चार प्रकार से संशय हो सकता है—'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इसमें नाममें

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—व्याप्तेः, च, समञ्जसम् ।

पदार्थोक्ति—[ओंकारस्य त्रिपु ऋग्यजुःसामसु] व्याप्तेः—व्याप्तत्वात् [क ॐकार उपास्यः इति विचारणायामुद्गीथावयवत्वेनोंकारो विशिष्यते 'ओमित्येतदक्षरमुपासीत' इत्यत्र, एवञ्च उद्गीथेति ओंकारस्य विशेषणमित्येव पक्षः श्रेयान्] समञ्जसम्—निर्दुष्टम्; सौत्रश्चशब्दस्तुशब्दापरपर्यायी, तेनाध्यासापवादैक्यपक्षाणां निरासः ।

भावार्थ—ऋक्, यजु और साममें ओंकार व्याप्त है, अतः किस ओंकारकी उपासना करनी चाहिए? ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'उद्‌गीथावयव ओंकारकी' इस प्रकार ओंकार उद्‌गीथरूपसे विशेषित होता है, इसलिए उद्‌गीथ ओंकारका विशेषण ही है, यह पक्ष दोषयुक्त नहीं है, सूत्रमें चशब्द तुशब्दके अर्थमें है अतः अध्यास, अपवाद और ऐक्य पक्षका निरास होता है।

ब्रह्मदृष्टिके अभ्यासके लिए सामानाधिकरण्य श्रुत है, 'यश्चौरः स स्थाणुः' यहां चौरत्वका बाध है, 'यो जीवस्तद् ब्रह्म' यह एकत्व है, 'यन्नील तदुत्पलम्' यह विशेषणविशेष्यभाव है, इनमेंसे प्रकृतमें किस पक्षका परिग्रह करना चाहिए इसका निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—अक्षर और उद्गीथका परस्पर विशेष्यविशेषणभाव है, ऐसा नियम कर सकते हैं। क्योंकि ओंकार ऋक्, यजु और साम, इन तीनों वेदोंमें पठित है, उसमें कौन उपास्य है? इस प्रकार अपेक्षा होनेपर 'उद्गीथभागमें स्थित ओंकारकी अपेक्षा है, इतरकी नहीं' इस प्रकार सामवेदगतका विशेषण कर सकते हैं। अभ्यासादिपक्षमें फलकी कल्पना करनी होगी—क्योंकि स्वतन्त्र उपासना होनेसे फलकी आकाङ्क्षा होगी विशेषणपक्षमें तो वक्ष्यमाण रसतमत्वादि गुणोंकी उपासनाके लिए प्रतीकरूपसे ओंकार उद्गीथसे विशेषित होता है स्वतन्त्र उपासना नहीं है। अतः पृथक् फलकी कल्पना अपेक्षित नहीं है। परन्तु उद्गीथशब्द सम्पूर्णभक्तिका वाचक है और ओंकार उसका अवयव है, इसलिए उद्गीथशब्दके साथ ओंकारका सम्बन्ध करनेके लिए तदंशमें लक्षणा अवश्य स्वीकरणीय है? सत्य है। तथापि अध्यासपक्षकी अपेक्षा विशेषणपक्ष ही युक्ततर है अध्यासपक्षमें तो जिस तरह विष्णुशब्द सब स्वार्थको छोड़कर अन्य अर्थ—शिलाकी प्रतिमाका लक्षणासे बोधन करता है, उसी तरह उद्गीथशब्दमें भी होगा, अतः विप्रकृष्टलक्षणा प्रसक्त होगी। अत्रलक्षणामें स्वार्थके एक देशका परित्याग होनेसे विप्रकर्ष नहीं है प्रत्युत सन्निकर्ष है। इससे अन्य वेदगत ओंकारकी व्यावृत्तिके लिए उद्गीथावयवत्वेन यह अक्षर विशेषित होता है।

भाष्य

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात् कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः। तत्राऽध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि। यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्तते एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते। यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः। एवमिहाप्यक्षरे उद्गीथबुद्धिरध्यस्यते उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति। अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद् वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां

भाष्यका अनुवाद

'ओमित्येतदक्षरम्०' (ॐ इस उद्गीथावयव अक्षरकी उपासना करे) यहां अक्षर और उद्गीथ इन शब्दोंके सामानाधिकरण्यकी अवगति होनेपर अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण इन पक्षोंका प्रतिभास होनेसे इनमें कौनसा पक्ष न्याय्य है, यह विचार होता है। उनमेंसे अध्यास यह है—दो वस्तुओं में एक वस्तुकी बुद्धि के निवृत्त हुए बिना ही दूसरी वस्तुकी बुद्धि अध्यस्त हो। जिसमें अन्य बुद्धिका अध्यास होता है उसमें अन्य बुद्धिके अध्यस्त होनेपर भी उस वस्तुकी बुद्धि अनुवृत्त होती ही है, जैसे नाममें ब्रह्मबुद्धिका अध्यास करनेपर भी नामबुद्धि अनुवृत्त होती ही है, ब्रह्मबुद्धिसे वह निवृत्त नहीं होती, अथवा जैसे प्रतिमा आदिमें विष्णु आदि बुद्धिका अध्यास होता है, विष्णुबुद्धिसे वह निवृत्त नहीं होती, वैसे प्रकृतमें भी अक्षरमें उद्गीथ बुद्धिका अध्यास होता है या उद्गीथमें अक्षरबुद्धिका अध्यास होता है। किसी वस्तुमें पूर्व विशिष्ट

रत्नप्रभा

व्याप्तेश्च समञ्जसम्। सामानाधिकरण्यं विषयीकृत्य संशयमाह—ओमित्येतदिति। अध्यासादिपदार्थान् व्याचष्टे—तत्राध्यास इत्यादिना। बुद्धिपूर्वकाभेदारोपः अध्यासः, बाधः—अपवादः, एकत्वम्—वास्तवाभेदः, विशेषणम् व्यावर्तक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"व्याप्तेश्च समञ्जसम्"। ओम् और उद्गीथ शब्दोंके सामानाधिकरण्यको इस अधिकरणका विषय बनाकर संशय कहते हैं—"ओमित्येतत्" इत्यादिसे। अध्यास आदि पदार्थोंका व्याख्यान करते हैं—"तत्राध्यास" इत्यादिसे। बुद्धिपूर्वक अभेदारोप ही अध्यास है। बाध—अपवाद। एकत्व—वास्तविक अभेद। विशेषण—व्यावर्तक, ऐसा विवेक है। पूर्व अधिकरणमें

भाष्य

मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति, यथा देहेन्द्रियसंघात आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्ध्या पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्त्यते, यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते, एवमिहाप्यक्षरबुद्ध्योद्गीथबुद्धिर्निवर्त्यते उद्गीथबुद्ध्या वाऽक्षरबुद्धिरिति। एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम्, यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति। विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्गे औद्गात्रविशेषस्य समर्पणम्, यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति। एवमिहाप्युद्गीथो य ओङ्कारस्तमुपासीतेति। एवमेतस्मिन् सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमाने एते पक्षाः प्रतिभान्ति। तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धारण-

भाष्यका अनुवाद

मिथ्या बुद्धिका निश्चय होनेपर अनन्तर उत्पन्न हुई यथार्थ बुद्धि पूर्वविशिष्ट मिथ्या बुद्धिका निरास करनेवाली होती है, वह अपवाद है। जैसे देह और इन्द्रियके समूहमें आत्मबुद्धि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यसे अनन्तर उत्पन्न होनेवाली आत्मविषयक यथार्थ आत्मबुद्धिसे निवृत्त होती है, अथवा जैसे दिशाकी भ्रमात्मक बुद्धि दिशाकी यथार्थ बुद्धिसे निवृत्त होती है, इस प्रकार यहां भी अक्षर बुद्धिसे उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है या उद्गीथबुद्धिसे अक्षरबुद्धि निवृत्त होती है। और एकत्व—अक्षर और उद्गीथका भिन्न अर्थ न होना, जैसे 'द्विजोत्तम' 'ब्राह्मण' और 'भूमिदेव'। उद्गीथ यह विशेषण सर्ववेदव्यापी 'ॐ' इस अक्षरके ग्रहणप्रसंगमें उद्गाताके कर्मविशेष 'ॐ' का बोध कराता है। जैसे 'नील उत्पल—कमलको लाओ 'इस प्रकार यहां भी' उद्गीथ ओंकारकी उपासना करो'। इस प्रकार इस सामानाधिकरण्यका विचार करते समय ये पक्ष दृष्टिमें आते हैं।

रत्नप्रभा

मिति विवेकः। पूर्वमुद्गातृकर्मात्मकोद्गीथावयवत्वमोङ्कारस्य ध्येयस्य विशेषणं सिद्धवत्कृत्य ध्येयभेदाद् विद्याभेदः सिद्धान्तितः, स न युक्त इत्याक्षेपसङ्गत्या पूर्वपक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उद्गातृकर्मात्मक उद्गीथका अवयव ओंकार है, इस प्रकार उद्गीथको ध्येय ओंकारके विशेषणरूपसे सिद्धवत् मानकर ध्येयके भेदसे विद्याभेद है, ऐसा सिद्धान्त किया गया है,

भाष्य

प्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति । चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षाः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते । विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते । तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत । श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै कामनां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति

भाष्यका अनुवाद

उनमें एकके भी निर्धारण करनेमें किसी कारणके न रहनेसे अनिर्धारण ही प्राप्त होता है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती इसप्रकार कहते हैं—'*व्याप्तेश्च समञ्जसम्*' । चशब्द तुशब्दके स्थानमें है और तीनों पक्षोंकी व्यावृत्ति करना इसका प्रयोजन है । अतः यहां तीनों पक्षोंके दूषित होनेसे उनका पर्युदास है। केवल एक विशेषणपक्ष ही निर्दुष्ट है, अतः उसका उपादान किया है । प्रथम अध्यासमें जो बुद्धि अन्यत्र अध्यस्त होती है, उस शब्दकी लक्षणावृत्ति प्रसक्त होगी और उसके फलकी कल्पना करनी पड़ेगी । परन्तु 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (वह यजमानकी कामनाओंको प्राप्त करानेवाला होता है) इत्यादि श्रुतिसे फल सुना जाता है ? ऐसा यदि कहोगे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह

रत्नप्रभा

यति—तत्रेति । अत्र पूर्वपक्षे पूर्वोक्तसिद्धान्तासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—चशब्द इत्यादिना । पक्षत्रयस्य दुष्टत्वं प्रतिज्ञाय अध्यासपक्षे दोषमाह—तत्राध्यास इति । यस्योद्गीथस्य बुद्धिरोङ्कारेऽध्यस्यते, तद्वाचकोद्गीथशब्दस्योङ्कारे लक्षणा स्यात्, तद्बुद्धिविषयत्वगुणपरत्वात् । तथा सम्बन्धोऽप्यसिद्धः कल्पनीयः, प्रतीकोपास्तेः फलञ्च कल्प्यम् इति गौरवं स्यात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु वह सिद्धान्त ठीक नहीं है, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । इस पूर्वपक्षमें पूर्व अधिकरणके सिद्धान्तकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उस सिद्धान्तकी सिद्धि फल है, ऐसा मानकर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"चशब्दः" इत्यादिसे । तीन पक्ष दोषयुक्त हैं; ऐसी प्रतिज्ञा करके अध्यासपक्षमें दोष कहते हैं—"तत्राध्यासे" इत्यादिसे । जिस उद्गीथ बुद्धिका ओंकारमें आरोप किया जायगा, उस उद्गीथ अर्थका वाचक जो उद्गीथशब्द है, उसकी ओंकारमें लक्षणा होगी अर्थात् उस उद्गीथशब्दका लक्षणावृत्तिसे ओंकाररूप लक्ष्यार्थ करना पड़ेगा, क्योंकि उद्गीथबुद्धिविषयत्वगुणका प्रतिपादन

भाष्य

चेत्; न; तस्यान्यफलत्वात्। आप्त्यादिदृष्टिफलं हि तन्नोद्गीथाध्यासफलम्। अपवादेऽपि समानः फलाभावः। मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत्। न। पुरुषार्थोपयोगानवगमात्। नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धिर्निवर्तते उद्गीथाद्वोद्गीथबुद्धिः। न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्, उपा-

भाष्यका अनुवाद

इतरका फल कहलाता है अर्थात् वह—आप्ति आदि आप्ति आदिरूपसे ओंकारकी दृष्टिका फल है उद्गीथके अध्यासका फल नहीं है। अपवादमें भी फलका अभाव समान है। मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति उसका फल है? यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका पुरुषार्थरूप उपयोग—फल नहीं ज्ञात होता है, और कभी भी ओंकारसे ओंकारकी बुद्धि निवृत्त नहीं होती है तथा उद्गीथसे उद्गीथबुद्धि निवृत्त नहीं होती है। और इस वाक्यका तात्पर्य वस्तुतत्त्वके प्रतिपादनमें है, यह भी नहीं कह सकते

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। फलं न कल्प्यमिति शङ्कते—श्रूयत इति। आप्त्यादीति। ओङ्कारः आप्तिः समृद्धिरिति य उपास्ते स कामानाप्नोति इति श्रुतं फलम् नाध्यासस्येत्यर्थः। उद्गीथोङ्कारयोरन्यतरबुद्ध्याऽन्यतरबुद्ध्यपवादमङ्गीकृत्य अन्यतरमिथ्याबुद्धिनिवृत्तिवैफल्यमुक्तम्, सम्प्रत्यन्यतरबुद्धेरभ्रान्तित्वान्नापवाद इत्याह—न च कदाचिदपीति। भ्रान्तिश्चेत् निवर्तेत, न तु निवर्तत इत्यभ्रान्तिरित्यर्थः। किञ्च, तत्त्वबोधकाद् वाक्याद् भ्रान्त्यपवादो भवति, नेह वाक्यं तत्त्वपरमित्याह—न चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

करता है। उसी प्रकार सम्बन्ध भी असिद्ध होनेसे कल्पनीय होगा तथा प्रतीकोपासनाका फल भी कल्पनीय होगा, अतः गौरव होगा, ऐसा अर्थ है। फलकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"श्रूयते" इत्यादिसे। "आप्त्यादि" इत्यादि। ओंकार आप्ति है समृद्धि है, इस प्रकार जो उपासना करता है, वह कामोंको—अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त करता है, ऐसा जो श्रुतिमें फल कहा गया है वह अध्यासका नहीं है, यह अर्थ है। ओंकारबुद्धिसे उद्गीथबुद्धिका या उद्गीथबुद्धिसे ओंकारबुद्धिका ध्वंस होनेपर कोई पुरुषार्थ नहीं दीखता, अत अन्यतरबुद्धिके अपवादका स्वीकार करके ओंकार और उद्गीथबुद्धियोंमें किसी एककी मिथ्याबुद्धिकी निवृत्ति विफल है, ऐसा कहा गया है, अब अन्यतरबुद्धिकी भ्रान्ति न होनेसे अपवाद नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि भ्रान्ति होती, तो उसकी निवृत्ति हो जाती, किन्तु निवृत्ति नहीं होती, अतः भ्रान्ति नहीं है। किंच, तत्त्वबोधक वाक्यसे भ्रान्तिका अपवाद होता है, परन्तु यह वाक्य तत्त्वपरक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। घट और कुम्भशब्दोंके समान ओंकार और उद्गीथ-

भाष्य

सनविधिपरत्वात्। नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात्, एकनैव विवक्षितार्थसमर्पणात्। न च हौत्रविषये आध्वर्यवविषये चाऽक्षरे ओङ्कारशब्दवाच्ये उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति। नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्तार्थता स्यात्। परिशेषाद् विशेषणपक्षः परिगृह्यते, व्याप्तेः सर्ववेदसाधार-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि उपासना विधिपरक है। एकत्व पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उस पक्षमें दो बार शब्दका उच्चारण निरर्थक होगा, एक ही बार उच्चारण करने से विवक्षित अर्थकी परिपूर्ति होगी। हौत्रविषयक और आध्वर्यवविषयक जो ओंकारशब्दवाच्य अक्षर है, उसमें उद्गीथ शब्दकी प्रसिद्धि भी नहीं है। उसी प्रकार सामकी सकल द्वितीय भक्तिमें—भागमें जो उद्गीथशब्दवाच्य है उसमें ओंकारशब्द प्रसिद्ध नहीं है, जिससे अभिन्न अर्थ हो। अतः परिशेषसे विशेषणपक्ष ही परिगृहीत होता है, क्योंकि ओंकारकी व्याप्ति सर्ववेदसाधारण है। सर्व-

---

रत्नप्रभा

घटकुम्भशब्दयोरिव ओङ्कारोद्गीथशब्दयोः पर्यायत्वपक्षं दूषयति—नापीति। पर्यायत्वमपि नास्तीत्याह—न चेति। परिशिष्टविशेषणपक्षे सूत्रं योजयति—व्याप्तेरिति। ओमित्यक्षरमुपासीत इत्युक्ते सर्ववेदव्याप्योङ्कारः इह उपास्तौ प्रसज्येत, तन्निरासार्थमुद्गीथावयवत्वं विशेषणं समञ्जसमित्यर्थः। अध्यासपक्षे तद्बुद्धिविषयत्वगुणयोगरूपः सम्बन्धः कल्प्य इति विप्रकृष्टा लक्षणा, अवयवलक्षणा तु सन्निकृष्टा, अवयवावयविसम्बन्धस्य क्लृप्तत्वात्, पटावयवे दग्धे पटो

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्द पर्याय हों, इस पर्यायपक्षको—एकत्वपक्षको दूषित करते हैं—"नापि" इत्यादिसे। इन शब्दोंमें पर्यायत्व भी नहीं है [अर्थात् ये दोनों एक दूसरेके वाचक भी नहीं है] ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। परिशिष्ट विशेषणपक्षमें सूत्रकी योजना करते हैं—"व्याप्तेः' इत्यादिसे। 'ओमित्यक्षरमुपासीत' ('ओम्' इस एक अक्षरकी उपासना करे) ऐसा कहनेसे सर्ववेदव्यापी ओंकार यहां—उपास्तिमें प्रसक्त होगा, उसके निराकरणके लिए 'उद्गीथावयव' यह विशेषण युक्त है, यह अभिप्राय है। अध्यास पक्षमें एक पदार्थमें अन्य पदार्थकी बुद्धिका विषयत्वरूप जो गुण है उस गुणके योगरूप एक सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ेगी, इससे लक्षणा विप्रकृष्ट है, परन्तु अवयवमें लक्षणा सन्निकृष्ट ही है, क्योंकि अवयवावयविभावरूप सम्बन्ध क्लृप्त-स्वीकृत है, और पटके अवयवके भस्म हो जानेपर 'पटो दग्धः' (पट जल गया है)

भाष्य

प्यात्। सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते। कथं नामोद्गीथावयवभूत ओङ्कारो गृह्येतेति। नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा, उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु संनिकर्षविप्रकर्षौ भवत एव, अध्यासपक्षे ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा, विशेषणपक्षे त्ववयविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा लक्षणा। समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु। अतश्च व्याप्तेर्हेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतन्निरवद्यमित्यर्थः॥ ९॥

भाष्यका अनुवाद

व्यापी अक्षर यहां प्रसक्त न हो, अतः उद्गीथ शब्द यहां अक्षरका विशेषण है। किस प्रकार उद्गीथके अवयवभूत ओंकारका प्रकृतमें ग्रहण हो इसके लिए इस पक्षमें भी लक्षणाका प्रसङ्ग समान है, कारण कि उद्गीथ शब्दका उद्गीथका अवयव अर्थ है। यह सत्य है, तथापि लक्षणामें भी सन्निकर्ष और विप्रकर्ष होता ही है। अध्यास पक्षमें अर्थान्तरकी बुद्धि अन्य अर्थमें प्रक्षिप्त होती है, अतः (उसमें) लक्षणा विप्रकृष्ट हैं और विशेषण पक्षमें तो अवयविवाचक शब्दसे अवयवका ज्ञान होता है, इससे (इसमें) लक्षणा सन्निकृष्ट है। समुदायमें प्रवृत्त शब्द अवयवोंमें भी प्रवर्तमान देखे जाते हैं—पट, ग्राम इत्यादिमें। इस कारणसे—व्याप्ति हेतुसे 'ॐ इस अक्षर' का 'उद्गीथ' यह विशेषण है, यह समञ्जस—निर्दुष्ट है, ऐसा अर्थ है॥ ९॥

रत्नप्रभा

दग्ध इति लोके प्रयोगाच्च। नामादौ ब्रह्मशब्दस्य तु अगत्या ब्रह्मबुद्धिमाह्यत्वगुण-लक्षणाऽऽश्रिता, तत्र प्रतीकोपास्तेर्विवक्षितत्वात्, इह तु प्रतीकोपास्तिविधिकल्पने आप्त्यादिगुणकोङ्कारे प्राणदृष्टिविधाने च वाक्यभेदः स्यात्। अत सर्ववेदव्याप्योङ्कारनिरासेन ओङ्कारे प्राणदृष्टिविधानार्थं विशेषणमेव समञ्जसम्, कल्पनालाघवादिति सिद्धम्॥ ९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा लोकमें प्रयोग भी होता है। नाम आदिमें तो ब्रह्मशब्दकी अगत्या ब्रह्मबुद्धिमाह्यत्वरूप गुणमें लक्षणाका आश्रयण किया है, क्योंकि वहांपर प्रतीककी उपासना विवक्षित है, यहांपर तो प्रतीककी उपासना विधिकी कल्पनामें आप्ति, समृद्धि आदि गुणवाले ओंकारमें प्राणदृष्टिका विधान होनेपर वाक्यभेद होगा। इस प्रकार सर्ववेदव्यापी ओंकारका निरसन करके ओंकारमें प्राणदृष्टिके विधानके लिए विशेषण ही युक्त है, क्योंकि कल्पनालाघव है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ ९॥

[५ सर्वाभेदाधिकरण सू० १०]

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः।
उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः ॥ १ ॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि नेतरत् ।
एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वसिष्ठत्व आदिका उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

पूर्वपक्ष—'एवम्' शब्दसे उक्तका ही परामर्श होनेसे और वसिष्ठत्व आदिके उक्त न होनेसे परामर्श नहीं होता है।

सिद्धान्त—वसिष्ठत्व आदि प्राण द्वारा बुद्धिस्थ हैं अन्य नहीं, अतः वे वसिष्ठत्वादि 'एवम्' शब्दसे परामर्शके योग्य हैं, इसलिए उनका उपसंहार करना चाहिए।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

पदच्छेद—सर्वाभेदात्, अन्यत्र, इमे।

पदार्थोक्ति—अन्यत्र—वसिष्ठत्वादिगुणानामश्रवणस्थले, इमे—वसिष्ठत्वादयो गुणाः [उपसंहर्तव्याः, कुतः ?] सर्वाभेदात्—सर्वासु शाखासु प्राणसंवादस्थायाः प्राणविद्याया अभिन्नत्वात्, [अत एव प्रकृतगुणानामिव अप्रकृतगुणानामपि बुद्धिस्थतयैवंशब्दग्राह्यत्वात् सर्वे सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति सिद्धम्]।

भाषार्थ—वाजसनेयी और छान्दोग्य इन दो शाखाओंके उपनिषदोंमें प्राणविद्यामें वाग् आदि प्राण वसिष्ठत्वादि गुणयुक्त सुने गये हैं। कौषीतकी आदि शाखाओंमें उस प्रकार श्रुत नहीं हैं तथापि जहांपर वसिष्ठत्वादि गुणोंका श्रवण नहीं है वहां भी वसिष्ठत्वादि गुणोंका उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि सब शाखाओंमें प्राणसंवादमें स्थित प्राणविद्याकी एकता हैं, अतएव प्रकृत गुणोंकी भांति अप्रकृत गुण भी बुद्धिस्थ होनेसे एवंशब्दसे ग्राह्य हैं। अतः सब गुणोंका सब जगह उपसंहार करना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

---

* भाव यह है कि प्राणविद्यामें छान्दोग्य और काण्व, वसिष्ठत्व, प्रतिष्ठा आदि गुणोंका उपन्यास करते हैं और ऐतरेयक एवं कौषीतकी आदि नहीं करते हैं ऐसी परिस्थितिमें वसिष्ठत्व आदिका ऐतरेयादिकी प्राणविद्यामें उपसंहार करना चाहिए या नहीं ? इस प्रकारका सन्देह होनेपर पूर्वपक्षी कहता है—उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'य एवं वेद' इसमें पठित 'एवम्'शब्दसे उस शाखामें कथित गुणोंका ही परामर्श होता है।

भाष्य

वाजसनेयिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्योपास्यत्वमुक्तम्, वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः, ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसि-

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयी और छन्दोगोंके प्राणसंवादमें श्रेष्ठत्वगुणसे युक्त प्राणकी उपासना कही गई है और उसमें वाग् आदि भी वसिष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त कहे गये हैं और वे गुण फिर प्राणमें भी दिखलाये गये हैं—'यद्वा अहं वसिष्ठास्मि०' (जो मैं अतिशय धनवती हूँ उसीसे तू धनवान् है)। और अन्य कौषीतकी आदि शाखावालोंके 'अथातो निःश्रेयसादानम्' (अब श्रेष्ठताका

रत्नप्रभा

सर्वाभेदादन्यत्रेमे। विषयं वक्तुं सम्मतमर्थमाह—वाजसनेयिनामिति। वाचो वसिष्ठत्वं गुणः, वाग्मिनः सुखवासदर्शनात्, चक्षुषः प्रतिष्ठा गुणः, चक्षुष्मतः पादप्रतिष्ठादर्शनात्। श्रोत्रं सम्पद्गुणकम्, श्रवणात् सर्वार्थसम्पत्तेः मन आयतनत्वगुणम्, तस्य वृत्तिद्वारा सर्वभोग्याश्रयत्वात्। ते च गुणाः प्राणस्य श्रैष्ठ्यं निश्चित्य वागादिभिस्तस्मिन्नर्पिता इति शाखाद्वयसम्मतोऽर्थः। विषयमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह अभिप्राय है। "सर्वभेदादन्यत्रेमे"। विषय कहनेके लिए सम्मत अर्थ कहते हैं—"वाजसनेयिनाम्" इत्यादिसे। दोनों शाखाओंमें अन्य सम्मत अर्थ कहते हैं—वाणी वसिष्ठत्वगुणवाली है, क्योंकि वाग्मीके लोकमें सुखपूर्वक निवासका दर्शन है। आँखें प्रतिष्ठा गुणवाली हैं, क्योंकि नयनवालोंकी पादप्रतिष्ठा देखनेमें आती है। श्रोत्र सम्पद्गुणवाला है, क्योंकि श्रोत्रयुक्तको ही श्रवण करनेसे सब अर्थोंकी सम्पत्ति होती है। मन आयतनगुणवाला है, क्योंकि यह वृत्तिद्वारा सब भोग्य पदार्थोंका आश्रय है [वृत्तिद्वारा भोग्यपदार्थोंका विधान मनमें ही होता है]। वे गुण प्राणकी श्रेष्ठताका निश्चय करके वाग आदिसे प्राणमें ही

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त गुणोंके समान अनुक्तगुणोंका भी 'एवम्' शब्दसे परामर्श होता है, क्योंकि गुणीभूत प्राणके एक होनेसे प्राणद्वारा गुण बुद्धिस्थ होते हैं। जैसे मथुरामें पढ़ाता हुआ देखा गया देवदत्त कदाचित् पाटलीपुत्रमें पढ़ाता हुआ नहीं देखा जाय तो भी अध्यापकरूपसे उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, जैसे छान्दोग्य आदिमें वसिष्ठत्वादि गुणोंसे युक्तया उपलब्ध प्राण ऐतरेय आदिमें केवल उपलब्ध होनेपर भी वसिष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त ही बुद्धिस्थ होते हैं। इससे 'एवम्' शब्दसे परामर्श करने योग्य है, अतः वसिष्ठत्व आदि गुणोंका उपसंहार प्राणविद्यामें करना चाहिए।

भाष्य

ष्ठोऽसि' (बृ० ।६।१।१४) इत्यादिना । अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (कौ० २।१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तं न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः । तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति ।

तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति । कुतः ? एवंशब्दसंयोगात् । 'अथो य एवं विद्वान् प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' इति तत्र तत्रैवंशब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते । एवंशब्दश्च संनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपरिपठितमेवंजातीयकं गुणजातं

भाष्यका अनुवाद

निर्धारण होता है 'ये देवता अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करने लगे) इत्यादि प्राणसंवादमें प्राणका श्रेष्ठत्व कहा गया है, परन्तु ये वसिष्ठत्व आदि गुण नहीं कहे गये हैं । यहांपर संशय होता है कि वसिष्ठत्व आदि गुण जो कहीं उक्त हैं, वे अन्यत्र लिए जाते हैं या नहीं ?

पूर्वपक्षी—नहीं लिए जाते, ऐसा प्राप्त होता है । किससे ? 'एवम्' शब्दके संयोगसे । 'अथो य एवं विद्वान्' (जो ऐसा जानता है वह प्राणमें श्रेष्ठत्वका ध्यानकर) इत्यादि तत्-तत् स्थलोंमें एवंशब्दसे वेद्य वस्तु कही जाती है । और सन्निहितावलम्बी एवंशब्द अन्य शाखामें पठित इस प्रकारके गुणसमूहका

रत्नप्रभा

अन्येषामित्यादिना । निःश्रेयसस्य श्रैष्ठ्यस्य आदानम्—निर्धारणम् प्रस्तूयते इत्यर्थः । देवताः—वागादयः, अहंश्रेयसे—स्वश्रैष्ठ्यायेत्यर्थः । एवंशब्दात् श्रैष्ठ्यगुणकप्राणप्रत्यभिज्ञानाच्च संशयमाह—तत्रेति । गुणानामनुपसंहारोपसंहारावेव पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् । उद्गीथत्वविशेषणादोङ्कारस्य सर्ववेदव्याप्तिव्यावृत्तिवत् प्रकृतगुणमात्रग्राहकैवं-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्पित किये गये हैं, ऐसा दोनों शाखाओंमें सम्मत अर्थ है । अधिकरणका विषय कहते हैं—"अन्येषाम्" इत्यादिसे । निःश्रेयसरूप श्रेष्ठताके आदानका—निर्धारणका प्रस्ताव करते हैं, ऐसा अर्थ है । देवता—वाग् आदिकी अभिमानिनी देवता, अहंश्रेयसे—अपनी श्रेष्ठताके लिए ऐसा अर्थ है । 'एवम्' शब्दसे श्रेष्ठत्वगुणवाले प्राणका प्रत्यभिज्ञान होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । गुणोंका अनुपसंहार पूर्वपक्षका और उपसंहार उत्तरपक्षका फल है । जैसे उद्गीथत्वविशेषणसे ओंकारकी सर्ववेदव्याप्तिकी व्यावृत्ति हुई है, वैसे ही प्रकृत गुणमात्रका ग्रहण करनेवाले 'एवम्' शब्दसे

भाष्य

शक्नोति निवेदयितुम्, तस्मात् स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकाङ्क्षत्वमिति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्निमे गुणाः क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि। कुतः? सर्वाभेदात्। सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते, प्राणसंवादादिसारूप्यात्। अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन्। नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय समर्पयतीत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यद्यपि कौषीतकिब्राह्मण-

भाष्यका अनुवाद

निवेदन नहीं कर सकता है। इससे अपने प्रकरणमें स्थित गुणोंसे ही निराकाङ्क्षता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—कहींपर कहे गये वसिष्ठत्व आदि गुण *अन्यत्र भी गृहीत होते हैं।* किससे? *सर्वत्र अभेद होनेसे।* क्योंकि सभी जगह उसी एक अभिन्न प्राणविज्ञानका प्रत्यभिज्ञान होता है; कारण कि प्राणसंवाद आदि समान हैं। विज्ञानका अभेद होनेपर कहीं कहे गये गुण अन्यत्र क्यों नहीं गृहीत होंगे। परन्तु एवंशब्द उस-उस स्थलपर उस प्रकारके गुणसमुदायका भेदरूपसे वेद्यत्वके लिए समर्पण करता है, ऐसा कहा गया है। उसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

शब्दात् शाखान्तरगुणव्यावृत्तिरिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—*तत्र प्राप्तमिति।* यथा वागादिभ्यः प्राणश्रैष्ठ्यं सिद्धम् अथो—*तथा य एवं श्रेष्ठ्यगुणं विद्वानुपास्ते स प्राणे श्रैष्ठ्यं विदित्वा*—ध्यात्वा श्रेष्ठो भवतीति श्रुत्यर्थः। एवञ्जातीयकविद्यैक्यात् प्राप्तमार्थिकम् वसिष्ठत्वादिगुणजातमेवंशब्दो न गृह्णाति, श्रुतावलम्बित्वादिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—*अस्येरन्निति।* वाजसनेयिब्राह्मणे तावदेवंशब्देन वसिष्ठत्वादिगुणजातस्य *प्राणविद्यासम्बन्धः सिद्धः, सैव विद्या*

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य शाखामें कथित गुणोंकी व्यावृत्ति होती है, ऐसी दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र प्राप्तम्" इत्यादिसे। जैसे वाग् आदिसे प्राणकी श्रेष्ठता सिद्ध है, वैसे ही श्रेष्ठत्वगुणवाले प्राणका ज्ञाता जो कोई अधिकारी अर्थात् विद्वान् उसकी (प्राणके श्रेष्ठतारूपगुणकी) उपासना करता है वह प्राणमें श्रेष्ठत्व जानकर उपास्य प्राणात्मकत्वकी प्राप्तिसे श्रेष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त होता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। इस प्रकारके विद्याके ऐक्यसे प्राप्त आर्थिक वसिष्ठत्व आदि गुणसमूहका 'एवम्' शब्द ग्रहण नहीं करता, क्योंकि 'एवम्' शब्द श्रुतिमें पठितका अवलम्बी है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त

भाष्य

गतेनैवंशब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं गुणजातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्, तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन तत्संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभिन्नविज्ञानावबद्धं गुणजातं स्वशाखागताद् विशिष्यते। न चैवं सति श्रुतहानिरश्रुतकल्पना वा भवति। एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र भवन्ति गुणवतो भेदाभावात्। नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽ-

भाष्यका अनुवाद

यद्यपि कौषीतकी ब्राह्मणमें स्थित एवंशब्दसे वाजसनेयी ब्राह्मणमें आये हुए गुण-समुदायका प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि वे गुण वहाँ असन्निहित हैं, तथापि उसी विज्ञानमें वाजसनेयी ब्राह्मणमें स्थित एवंशब्दसे वह गुणसमूह कहा गया है। इसलिए अन्य शाखागत भी अभिन्न विज्ञानसे सम्बद्ध गुणसमूह स्वशाखामें स्थित गुणसमूहसे भिन्न नहीं होता है। और ऐसा होनेपर श्रुतहानि और अश्रुतकी कल्पना भी नहीं होती है, क्योंकि एक भी शाखामें सुने गये गुण सर्वत्र श्रुत ही होते हैं, क्योंकि गुणवान्के भेदका अभाव है। स्वदेशमें शौर्यादि गुणोंसे प्रसिद्ध देवदत्त अन्य देशमें गया हो और उस देशके वासियों द्वारा उसके

रत्नप्रभा

कौषीतकिश्रुतौ प्रत्यभिज्ञायते, तथा च गुणानां गुण्यविनाभावेन अर्थतः प्राप्तानामपि श्रुतगुणैरविरोधात् सहैव श्रुतमार्थं च गुणजातं श्रुत्यर्थाभ्यां सन्निहितत्वाविशेषात् कौषीतकिगतेनैवंशब्देन परामृश्यत इत्याह—तथापीति। कौषीतकिश्रुतिस्थः प्राणः वसिष्ठत्वादिगुणकः, श्रेष्ठप्राणत्वात्, वाजिश्रुतिस्थप्राणवत् इत्यश्रुतगुणानुमाने सति श्रुतहानिर्नास्ति अविरोधात् इत्युक्तं स्पष्टयति—न चैवं सतीति। अपरि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"अस्थेरन्" इत्यादिसे। वाजसनेयी ब्राह्मणमें 'एवम्' शब्दसे वसिष्ठत्व आदि गुणसमूहका प्राणविद्याके साथ सम्बन्ध सिद्ध है, उसी विद्याका कौषीतकी श्रुतिमें प्रत्यभिज्ञान होनेसे गुणोंका गुणीके साथ अविनाभाव होनेसे अर्थतः प्राप्त गुणोंका भी श्रुत गुणोंके साथ कोई विरोध नहीं है, अतः श्रुत और आर्थ दोनों गुणोंका कौषीतकी श्रुतिमें पठित 'एवम्' शब्दसे साथ ही परामर्श होता है, क्योंकि वे दोनों ही श्रुति और अर्थसे समानरूपसे सन्निहित हैं, [इस सन्निधानमें कुछ विशेषता नहीं है] ऐसा कहते हैं—"तथापि" इत्यादिसे। कौषीतकी श्रुतिमें कथित प्राणशब्द वसिष्ठत्वादिगुणवाला है, श्रेष्ठ प्राण होनेसे, वाजिश्रुतिमें कहे गये प्राणके समान, ऐसा अश्रुत गुणोंका अनुमान होनेपर श्रुतकी हानि नहीं है, क्योंकि कोई विरोध

भाष्य

प्यतद्गुणो भवति। यथा च तत्र परिचयविशेषाद् देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते, एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽप्यस्येरन्। तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राऽप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

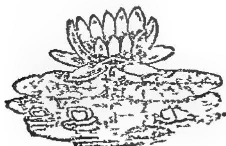
शौर्य आदि गुण ज्ञात नहीं हुए हों, तो भी वह उन गुणोंसे रहित नहीं होता है। और जैसे परिचयविशेषसे देशान्तरमें भी देवदत्तके गुणोंका ज्ञान होता है, वैसे ही सम्बन्धविशेषसे उपास्य गुण अन्य शाखामें गृहीत किये जाँय। इससे एक जगहमें कहे गये एक प्रधानके साथ सम्बद्ध धर्मोंका सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए ॥१०॥

रत्नप्रभा

गणिता अपि गुणाः श्रुता एवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—नहीति। फलितमाह—तस्मादिति ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसे स्पष्ट करते हैं—"न चैवं सति" इत्यादिसे। जिनकी गणना नहीं की गई है, ऐसे भी गुण श्रुत ही हैं, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। फलित कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ १० ॥



[६ आनन्दाद्यधिकरण सू० ११–१३]

नाहार्या उत वाहार्या आनन्दाद्या अनाहृतिः ।
वामनीसत्यकामादेरिवैतेषां व्यवस्थितेः ॥ १ ॥
विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद् यथाविधि ।
प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संहृतिः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—तैत्तिरीयककी परब्रह्म-विद्यामें पठित आनन्द आदिका ऐतरेयकादिमें प्रोक्त परब्रह्म विद्यामें उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

पूर्वपक्ष—आनन्द आदिका उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनकी व्यवस्था वामनी, सत्यकाम आदिके समान हो सकती है ।

सिद्धान्त—विधीयमान धर्मोंकी व्यवस्था सगुणविद्यामें विधिके अनुसार होगी, परन्तु ज्ञान जिनका फल है, ऐसे आनन्द आदिका तो सभी शाखाओंमें उपसंहार करना चाहिए ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

पदच्छेद—आनन्दादयः, प्रधानस्य ।

पदार्थोक्ति—प्रधानस्य—ब्रह्मणः, आनन्दादयः—आनन्दस्वरूपत्वादयो धर्माः, [सर्वत्र उपसंहर्तव्याः कुतः ? सर्वशाखासु वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वेन विद्याया एकत्वादेव] ।

भाषार्थ—ब्रह्मके आनन्दस्वरूपत्व आदि धर्मोंका सब जगह (जहाँपर आनन्दस्वरूपत्वादि धर्मोंका श्रवण नहीं है वहाँपर भी) उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि सब शाखाओंमें ज्ञेय ब्रह्मके एक होनेसे विद्या भी एक ही है ।

---

* भाव यह है कि 'आनन्दो ब्रह्म' 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा आनन्द आदि तैत्तिरीयकी परब्रह्मविद्यामें कहे गये हैं । और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि ऐतरेयकादिमें उक्त परब्रह्म-विद्यामें वे आनन्दादि नहीं कहे गये हैं, अतः ऐतरेयकादिमें उक्त परब्रह्म विद्यामें उनका उपसंहार नहीं करना चाहिए । उनकी व्यवस्था वामनीत्व आदि धर्मोंके समान होगी, जैसे 'एष उ वामनी.' 'एष उ भामनी.' इत्यादि वामनेतृत्व—कामयितृत्व, भासकत्व आदि गुण उपकोसल-विद्यामें कहे गये हैं और दहरविद्यामें 'सत्यकामः' इत्यादिमें सत्यकामादि गुण कहे गये हैं । उस स्थलमें परस्पर गुणोंका उपसंहार नहीं होता है, वैसे ही आनन्दादिकी भी व्यवस्था होगी अर्थात् उनका भी परस्पर तैत्तिरीयक और ऐतरेयकमें उक्त परब्रह्म-विद्यामें उपसंहार नहीं होगा ।

ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—उक्त दृष्टान्त विषम है, क्योंकि वामनीत्वादि ध्येयरूपसे विधीयमान हैं इसलिए उनकी व्यवस्था विधिके अनुसार होना युक्त है, आनन्द आदिका ज्ञान ही फल होनेसे विधीयमान नहीं हैं, इसलिए व्यवस्थापक विधिके अभावसे और ज्ञानरूप फलके सर्वत्र सामान्य होनेसे आनन्द आदिका उपसंहार करना चाहिए ।

भाष्य

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगःतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित् केचिच्छ्रूयन्ते। तेषु संशयः किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः किं वा सर्वे सर्वत्रेति। तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते—आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व सर्वगतत्व, और सर्वात्मत्व इत्यादि ब्रह्मके धर्म कहींपर कोई सुने जाते हैं। यहांपर संशय होता है—क्या आनन्द आदि ब्रह्मधर्म जहाँ जितने सुने जाते हैं, वहाँ उतनोंकी ही प्रतिपत्ति करनी चाहिए अथवा सर्वत्र सबकी प्रतिपत्ति करनी चाहिए। श्रुतियोंके विभागके अनुसार धर्मोंकी प्रतिपत्ति प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—आनन्द आदि प्रधानभूत ब्रह्मके धर्म समझने चाहिएँ।

रत्नप्रभा

आनन्दादयः प्रधानस्य। ब्रह्मणो ज्ञेयस्यैक्यात् निर्विशेषत्वाच्च संशयमाह—तेषु संशय इति। पूर्वपक्षे सत्यादिपदानुपसंहाराद् वाक्यार्थानवधारणम्, सिद्धान्ते त्ववधारणमिति फलम्। प्राणस्य सविशेषत्वाद्युक्तः शाखान्तरीयवसिष्ठत्वाद्युपसंहारः, ब्रह्मणस्तु निर्विशेषत्वात् स्वशाखागतपदैरेव प्रमितिसिद्धेर्व्यर्थः पदान्तरोपसंहार इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः। सिद्धान्तमाह—इदमिति। आनन्दत्वसत्यत्वज्ञानत्वादिसामान्यानि ब्रह्मणि कल्पितधर्माः। तेषां सर्वशाखासु उपसंहारो नाम—तद्वाचकानन्दादिपदानामेकवाक्यतयोच्चारणम्, आनन्दः, सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्, ब्रह्म, शुद्धम्, अद्वयम्, आत्मेति तानि

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आनन्दादयः प्रधानस्य"। ब्रह्म जो ज्ञेय है उसके ऐक्य और निर्विशेषत्वसे संशय कहते हैं—"तेषु संशय." इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें सत्यादि पदोंके अनुपसंहारसे वाक्यार्थका अनवधारण फल है। सिद्धान्तमें तो अवधारण फल है। प्राणके सविशेष होनेसे अन्य शाखामें कहे गये वसिष्ठत्वादि गुणोंका उपसंहार युक्त है परन्तु ब्रह्म तो निर्विशेष है, अतः अपनी शाखामें स्थित पदोंसे ही प्रमिति सिद्ध होती है, इसलिए अन्य-पदका उपसंहार व्यर्थ है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त कहते हैं—"इदम्" इत्यादिसे। आनन्दत्व, सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि सामान्य ब्रह्ममें कल्पित धर्म हैं। उन धर्मोंका प्रत्येक शाखामें उपसंहार अर्थात् उन धर्मवाचक आनन्द आदि पदोंकी एकवाक्यतामें आनन्द, सत्य, ज्ञान, अनन्त,

भाष्य

प्रतिपत्तव्याः। कस्मात्? सर्वाभेदादेव। सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते। तस्मात् सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

किससे? सबके साथ अभेद होनेसे ही। क्योंकि सर्वत्र वही एक ब्रह्म विशेष्यतया प्रधान है, भिन्न नहीं है, अतः उसी पूर्व अधिकरणमें उक्त देवदत्तके शौर्य आदि दृष्टान्तसे ब्रह्मके धर्म सार्वत्रिक हैं ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

च समानाधिकरणानि पदानि विरुद्धधर्मत्यागेन सर्वाधिष्ठानभूतामेकामखण्डव्यक्तिं लक्षयन्ति। न चैकेनैव पदेन लक्ष्यसिद्धेः पदान्तरं व्यर्थमिति वाच्यम्, एकस्मिन् पदे विरोधाभावेन लक्षणानवतारात्। यद्यपि पदद्वयेऽपि लक्षणाऽवतरति, तथापि 'आनन्दो ब्रह्म' इत्युक्ते दुःखत्वाल्पत्वभ्रान्तिनिरासेऽप्यसत्त्वजडत्वादिभ्रमो भवेत्; अतस्तन्निरासार्थं सत्यज्ञानादिपदानि प्रयोक्तव्यानि। न च भ्रमस्याऽनवधित्वात् वाक्यमपर्यवसितं स्यादिति वाच्यम्, सच्चिदानन्दात्मकं सर्वधर्मशून्यमद्वयमविकल्पं ब्रह्माहमिति विशेपदर्शने सर्वभ्रमनिरासात्। तच्च विशेपदर्शनं यावद्भिः पदैर्भवति, तावन्ति पदान्युपसंहर्तव्यानीति भावः ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म, शुद्ध, अद्वय, आत्मा—इस प्रकार उच्चारण है। वे समानाधिकरण पद विरुद्ध धर्मके त्यागसे सर्वाधिष्ठानभूत एक अखण्ड व्यक्तिका लक्षणासे बोध कराते हैं। एक ही पदसे लक्ष्यकी सिद्धि होनेसे अन्य पद व्यर्थ हैं, यदि ऐसा कहा जाय, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि एक पदमें विरोधके अभावसे लक्षणावृत्ति उतर नहीं सकती। यद्यपि दो पदोंमें लक्षणा उतर सकती है, तो भी 'ब्रह्म आनन्द है' ऐसा कहनेसे दुःखत्व और अल्पत्वकी भ्रान्तिका निरास होता है, फिर भी असत्त्व, जडत्व आदि भ्रम होंगे, अतः उनके निरासके लिए सत्य, ज्ञान आदि पदोंका प्रयोग करना चाहिए। भ्रमके अवधिरहित होनेसे वाक्य परिसमाप्त नहीं होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सच्चिदानन्दात्मक, सर्वधर्मशून्य, अद्वय, अविकल्प 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विशेषज्ञान होनेपर सब भ्रमका निरसन होता है। और यह विशेषज्ञान जितने पदोंसे हो सके, उतने पदोंका उपसंहार करना युक्त है, यह भाव है ॥११॥

भाष्य

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र संकीर्येरन्, तथा हि—तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याऽऽम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु ऐसा होनेपर प्रियशिरस्त्व आदि सभी धर्म सर्वत्र संकीर्ण होंगे, क्योंकि तैत्तिरीयकमें आनन्दमय आत्माका उपक्रम करके कहा जाता है—'तस्य प्रियमेव शिरः०' (उस आनन्दमय आत्माका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ—प्रतिष्ठा है) । इससे उत्तर सूत्र कहते हैं—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

पदच्छेद—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः, उपचयापचयौ, हि, भेदे ।

पदार्थोक्ति—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः—प्रियशिरस्त्वादिधर्माणां न सर्वत्र प्राप्तिः, हि—यस्मात्, [प्रियमोदप्रमोदानन्दानां परस्परापेक्षया] उपचयापचयौ—वृद्धिक्षयावनुभूयेते । [तौ च] भेदे—धर्मिभेदे सत्येव स्वाभाविकौ भवतः, ब्रह्मणस्तु निर्भेदत्वात् न तौ ब्रह्मणः स्वाभाविकौ धर्मौ ।

भाषार्थ—एक स्थलमें श्रुत प्रियशिरस्त्व आदि धर्मोंकी सर्वत्र प्राप्ति नहीं है, क्योंकि प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्दके परस्परकी अपेक्षासे वृद्धि और ह्रास प्रतीत होते हैं । वे ब्रह्मके भेद होनेपर ही स्वाभाविक हो सकते हैं, ब्रह्म तो अभिन्न एक है, अतः वे ब्रह्मके स्वाभाविक धर्म नहीं हैं ।

भाष्य

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र

भाष्यका अनुवाद

तैत्तिरीयकमें उक्त प्रियशिरत्व आदि धर्मोंकी अन्यत्र प्राप्ति नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

ब्रह्मैक्यात् चेदानन्दत्वादिधर्माणां सर्वत्र प्राप्तिः, तर्हि सगुणब्रह्मविद्यागतधर्मप्राप्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि ब्रह्मके ऐक्यसे आनन्दत्वादि धर्मोंकी सर्वत्र प्राप्ति हो, तो सगुण ब्रह्मविद्यामें कहे गये

भाष्य

प्राप्तिः । यत्कारणं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते । उपचयापचयौ च सति भेदे सम्भवतः । निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । न चैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र । अपि च परस्मिन् ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते, न द्रष्टव्यत्वेन । एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम् । ब्रह्मधर्मांस्त्वेतान् कृत्वा

भाष्यका अनुवाद

प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये परस्परकी अपेक्षासे और अन्य भोक्ताकी अपेक्षासे भी उपचित और अपचितरूप उपलब्ध होते हैं। और भेदके रहनेपर उपचय और अपचय होते हैं, परन्तु ब्रह्म तो भेदशून्य है—क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रियशिरस्त्व आदि ब्रह्मके धर्म नहीं हैं किन्तु कोशधर्म हैं, यह हम 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रमें कह चुके हैं। और परब्रह्ममें चित्तकी अवस्थितिके उपायमात्रसे उनकी कल्पना की जाती है, द्रष्टव्यत्वरूपसे नहीं की जाती। इस प्रकार भी सुतरां

रत्नप्रभा

रपि स्यादिति शङ्कानिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—प्रियेति । पुत्रदर्शनसुखं प्रियम्, तद्वार्तादिना मोदः, तस्य विद्याद्यतिशये प्रमोद इत्येवं तारतम्यवन्तो धर्मास्त्वद्वये ज्ञेये न प्राप्नुवन्ति, तेषामब्रह्मस्वरूपाणां ब्रह्मज्ञानानुपयोगादिति भावः । तेषां ब्रह्मधर्मत्वं चाऽसिद्धमित्याह—न चैते इति । ब्रह्मणि चित्तावतारोपायत्वेऽपि तेषां प्राप्तिः स्यादित्याशङ्क्याह—एवमपीति । अज्ञेयत्वादेषां न ज्ञेये ब्रह्मणि प्राप्तिरित्यर्थः । किमर्थं तर्हि सूत्रमित्यत आह—ब्रह्मधर्मांस्त्विति । ब्रह्मधर्मानिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मोंकी भी प्राप्ति हो, इस प्रकारकी शङ्काके निरासके लिए सूत्रकी व्याख्या करते हैं—"प्रिय" इत्यादिसे। पुत्रदर्शनसे उत्पन्न सुखका नाम प्रिय है। उसकी वार्ता आदिसे जो सुख होता है उसका नाम मोद, तथा उसमें विद्या आदिका अतिशय होनेपर जो सुख मिलता है उसका नाम प्रमोद है। इस प्रकारके तारतम्यवाले ये धर्म—प्रिय, मोद और प्रमोद, अद्वय ज्ञेयमें नहीं प्राप्त होते, क्योंकि वे ब्रह्मस्वरूपके समान भेदरहित नहीं हैं, अतः ब्रह्मज्ञानमें उनका उपयोग नहीं है, ऐसा भाव है। और ये ब्रह्मधर्म हैं यह असिद्ध भी है, ऐसा कहते हैं—"न चैते" इत्यादिसे। तब ब्रह्ममें चित्तको स्थिर करनेके लिए सब ब्रह्मवाक्योंमें इन धर्मोंकी प्राप्ति होगी, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। ये धर्म ज्ञेय नहीं हैं अतः ज्ञेय ब्रह्ममें इनकी प्राप्ति नहीं है, यह अर्थ है। तब सूत्रका क्या प्रयोजन है ? इसपर कहते हैं—"ब्रह्मधर्मांस्तु" इत्यादिसे। प्रिय शिरस्त्व आदिको ब्रह्मका धर्म मानकर विचारका फल कहते हैं—

भाष्य

न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति । स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च । तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः । यथा च द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते छत्रेणैका चामरेणान्या । तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवत्येवमिहापीति । उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते, न निर्गुणे परस्मिन् ब्रह्मणि । अतो न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रियशिरस्त्व आदिकी अन्यत्र अप्राप्ति है । इनको प्रियशिरस्त्व आदिको ब्रह्मधर्म मानकर 'प्रियशिरस्त्व' आदिकी अप्राप्ति है, यह न्यायमात्र आचार्यने दर्शाया है । और यह न्याय उपासनाके लिए उपदिष्ट संयद्वामत्व, सत्यकामत्व आदि निश्चित अन्य ब्रह्मधर्मोंमें लगता है, क्योंकि उनमें उपास्य ब्रह्मके एक होनेपर भी प्रक्रम भेदसे अन्य उपासनाका भेद होनेपर अन्योन्य धर्मोंकी परस्परमें प्राप्ति नहीं होती। जैसे दो स्त्रियां एक राजाकी उपासना करती हैं एक छत्रसे और दूसरी चँवरसे, उसमें उपास्य एक है तो भी उपासनाका भेद और धर्मकी व्यवस्था होती है, वैसे यहां भी होगी । उपचित और अपचित गुणकी उपपत्ति भेदव्यवहारके योग्य सगुण ब्रह्ममें होती है, निर्गुण परब्रह्ममें नहीं होती है । इससे कहींपर श्रुत सत्यकामत्व आदि धर्मोंकी सर्वत्र प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

कृत्वा चिन्ताफलमाह—स चेति । ज्ञेये बाह्यधर्माणामनुपयोगादप्राप्तिरिति न्यायात् संयद्वामत्वादीनामप्राप्तिरिति सूत्रं व्याख्येयमित्यर्थः । ज्ञानानुपयोगेऽपि ध्याने तेषां धर्माणामुपयोगाद् उपास्यब्रह्मैक्यात् प्राप्तिरन्योन्यविद्यासु स्यादित्याशङ्क्याह—तेषु हीति । ध्यानविधिपरतन्त्राणां धर्माणां यथाविधि व्यवस्थेत्यर्थः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"स च" इत्यादिसे । ज्ञेयमें बाह्य धर्मोंका उपयोग न होनेसे उनकी अप्राप्ति है, इस न्यायसे संयद्वामत्व आदिकी भी अप्राप्ति है, ऐसा सूत्रका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा अर्थ है । यद्यपि ज्ञानमें इन धर्मोंका उपयोग नहीं है, तो भी ध्यानमें इन धर्मोंका उपयोग होनेसे उपास्य ब्रह्मके एक होनेके कारण अन्योन्य विद्याओंमें प्राप्ति होगी, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"तेषु हि" इत्यादिसे । ध्यानविधिके अधीन धर्मोंकी विधिके अनुसार व्यवस्था है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—इतरे, तु, अर्थसामान्यात् ।

पदार्थोक्ति—इतरे तु—उपास्यधर्मापेक्षया अन्ये तु आनन्दादयो धर्मा ज्ञानैकफलाः [सर्वत्रोपसंह्रियन्ते, कुतः] अर्थसामान्यात्—अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात् ।

भाषार्थ—उपास्य धर्मोंसे भिन्न केवल ज्ञानप्रयोजन आनन्द आदि धर्मोंका सर्वत्र उपसंहार होता है, क्योंकि प्रतिपाद्य ब्रह्मकी एकता है ।

भाष्य

इतरे त्वानन्दादयो धर्माः ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात् प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात् सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यम्, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए कथित आनन्द आदि सब धर्म अर्थके सामान्यसे धर्मीरूप प्रतिपाद्य ब्रह्मके एक होनेसे सर्वत्र प्रतीत हों; यह वैषम्य है, क्योंकि उनका प्रयोजन ब्रह्मकी प्रतिपत्तिमात्र है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

संयद्वामत्वादिधर्मेभ्यः आनन्दादीनां वैषम्यं ज्ञानोपयोगित्वादित्याह—इतरे त्विति । सत्यज्ञानानन्दात्मब्रह्मशब्दाः पञ्च सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति सिद्धम् ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

संयद्वामत्व आदि धर्मोंसे आनन्दादि धर्म भिन्न हैं, क्योंकि वे ज्ञानमें उपयोगी हैं, ऐसा कहते हैं—"इतरे तु" इत्यादिसे । सत्य, ज्ञान, आनन्द, आत्मा और ब्रह्म, इन पांच शब्दोंका सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥



[७ आध्यानाधिकरण सू० १४—१५]

सर्वा परम्पराऽक्षादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा।
ज्ञेया सर्वा श्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्बहून्यपि ॥ १ ॥
पुमर्थः पुरुषज्ञानं तत्र यत्नः श्रुतो महान्।
तद्बोधाय श्रुतोऽक्षादिर्वेद्य एकः पुमांस्ततः ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—इन्द्रिय आदिकी परम्परा ज्ञेयरूपसे श्रुतिप्रतिपाद्य है अथवा केवल पुरुष ही श्रुतिप्रतिपाद्य है ?

पूर्वपक्ष—इन्द्रिय आदिकी परम्परा ज्ञेयरूपसे प्रतिपाद्य है, क्योंकि वह श्रुत है और अनेक वाक्य इष्ट हैं।

सिद्धान्त—आत्मज्ञान पुरुषार्थ है उसमें महान् यत्न श्रुतिमें वर्णित इष्ट ही है, अतः अक्षादिपरम्परा भी उसी पुरुषके ज्ञानके लिए श्रुतियोंमें निविष्ट है, अतः केवल पुरुष ही ज्ञेयरूपसे श्रुतियोंसे प्रतिपाद्य है, इन्द्रियादि परम्परा नहीं।

---

* भाव यह है कि कठवल्लीमें—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥'

इत्यादि सुना जाता है। इसका अर्थ यह है—मनुष्य मनसे विषयोंकी अभिलाषा करनेके अनन्तर इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयोंके साथ सम्बन्ध करता है, उसमें बाह्य विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियां अनन्तर हैं, अतः विषय पर हैं, यह प्रसिद्ध है, इष्यमाण दशापन्न विषय आन्तर हैं, उनसे भी अभिलाषात्मिका मानसिक वृत्ति आन्तर है, वृत्तिसे भी वृत्तिमती बुद्धि अभ्यन्तर है, बुद्धिसे भी बुद्धिका उपादानभूत महत्-शब्दवाच्य हिरण्यगर्भ नामका आत्मा आन्तर है, महत्तत्त्वसे भी उसका उपादानभूत अव्यक्त-तत्त्व-मूलाज्ञान आन्तर है, अव्यक्तसे भी उसका अधिष्ठानभूत चिद्रूप पुरुष आत्मा आन्तर है और चिद्रूप पुरुषसे और कोई पर—आन्तर नहीं है, क्योंकि पुरुष ही अवान्तर तारतम्यकी विश्रामभूमि है। इसीलिए 'पुरुषार्थकामैः परो गन्तव्यः' इस प्रकार अन्य श्रुति भी है, इसमें पूर्वपक्षी यह कहता है कि पुरुष जिस प्रकार तात्पर्यवृत्तिसे श्रुति द्वारा प्रतिपाद्य है, वैसे इन्द्रियादिकी परम्परा भी तात्पर्यवृत्तिसे श्रुतिप्रतिपाद्य है, अन्यथा श्रुतिमें उसका—इन्द्रियादिपरम्पराका उपन्यास व्यर्थ हो जायगा, अनेकार्थके प्रतिपादनमें वाक्यभेदकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अनेक अर्थ हैं, अतः उनके प्रतिपादनमें एकवाक्यता हो ही नहीं सकती है।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—पुरुषज्ञान अशेष अनर्थके कारणीभूत अज्ञानका निवर्तक होनेसे वही [पुरुष] वस्तुतः श्रुतिप्रतिपाद्य है। इसलिए वाक्यशेषमें पुरुषके ज्ञानके लिए बड़ा यत्न किया गया है,

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—आध्यानाय, प्रयोजनाभावात् ।

पदार्थोक्ति—['इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इति काठकवाक्यस्यान्ते] आध्यानाय—आध्यानसाध्यसाक्षात्काराय [पुरुष एव अर्थादिभ्यः सर्वेभ्यः परत्वेन प्रतिपाद्यः, न तु इन्द्रियपरत्वेन अर्थादयः, कुतः] प्रयोजनाभावात्—इन्द्रियपरत्वेनार्थज्ञानं न किञ्चित् प्रयोजनं जनयति [अत एकमेव वाक्यम्, प्रतिपाद्यभेदाभावात् न वाक्यभेद इति सिद्धम्] ।

भाषार्थ—'इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्थाः' इस काठकवाक्यके अन्तमें ध्यानजन्य-साक्षात्कारके लिए पुरुष ही अर्थ आदि सभीसे पर है ऐसा प्रतिपादन करना चाहिए। इन्द्रियोंसे पर अर्थ आदि हैं, ऐसा प्रतिपादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियसे अर्थ आदि पर हैं यह ज्ञान स्वतः किसी फलका उत्पादक नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त काठक वाक्य एक ही है, प्रतिपाद्यका भेद न होनेसे वाक्यभेद नहीं है।

भाष्य

काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' (क० ३।१०) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० ३।११) इति। तत्र संशयः—किमिमे

भाष्यका अनुवाद

काठकमें पढ़ा जाता है—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः०' (इन्द्रियोंसे अर्थ पर हैं, अर्थसे पर मन है और मनसे बुद्धि पर है) इसका आरम्भ करके 'पुरुषान्न परम्०' (पुरुषसे पर कुछ नहीं है, वह पर्यवसान है और प्रकृष्ट गति है)

रत्नप्रभा

आध्यानाय०। वाक्यभेदाभेदानवधारणात् संशयमाह—तत्रेति। पूर्वपक्षे

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आध्यानाय०" इत्यादि। आध्यानके लिए वाक्योंके भेद और अभेदका निश्चय न होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें वाक्यभेद होनेसे विद्याभेद है, सिद्धान्तमें

'एष सर्वेषु भूतेषु' इत्यादिसे, यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि केवल पुरुष ही प्रतिपाद्य हो, तो इन्द्रियादि-परम्पराका कथन व्यर्थ हो जायगा, यह शङ्का योग्य नहीं है, कारण कि बहिर्मुख चित्तका ब्रह्ममें प्रवेशके प्रति साधन है, इससे पुरुष ही प्रतिपाद्य है, यह सिद्ध हुआ।

भाष्य

पूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

पूर्वक तत्त्वज्ञानके लिए ऐसा अर्थ है। तत्त्वज्ञानके लिए ही यहां आध्यानका उपदेश है, आध्यान ही स्वप्रधान है, ऐसा उपदेश नहीं है ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

आध्यानाय—तत्तत्परत्वाध्यानपूर्वकं पुरुषदर्शनायैव स्वतः प्रयोजनाभावादिति सूत्रं योजयति—आध्यानायेति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आध्यानपूर्वक ब्रह्मज्ञानके लिए ही है, क्योंकि इनका स्वतः कुछ प्रयोजन नहीं है, इस प्रकार सूत्रकी योजना करते हैं—"आध्यानाय" इत्यादिसे ॥१४॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—आत्मशब्दात्, च।

पदार्थोक्ति—['एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति प्रकृतपुरुषे] आत्मशब्दात्—आत्मशब्दश्रवणात् च [इदं वाक्यमात्मपरमेव] तस्यात्मनः श्रुत्या मानान्तरावेद्यत्वरूपापूर्वत्वप्रतिपादनादिति भावः।

भाषार्थ—'एष सर्वेषु' इत्यादिसे प्रकृत पुरुषमें आत्मशब्दका श्रवण होनेसे यह वाक्य आत्मपरक ही है, क्योंकि श्रुतिसे उस आत्मामें मानान्तरावेद्यत्वरूप अपूर्वका प्रतिपादन होता है।

भाष्य

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः। यत्कारणम्—

भाष्यका अनुवाद

इससे भी इन्द्रिय आदिके प्रवाहकी उक्ति केवल पुरुषकी प्रतिपत्तिके लिए

रत्नप्रभा

आत्मत्वादिलिङ्गैश्च पुरुष एव प्रतिपाद्य इत्याह—आत्मशब्दाच्चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मत्व आदि लिंगोंसे भी पुरुष ही प्रतिपाद्य है, ऐसा कहते हैं—"आत्मशब्दाच्च"

भाष्य

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥' (क० ३।१२)
इति प्रकृतं पुरुषमात्मेत्याह । अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते । तस्यैव च दुर्विज्ञानतां संस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति । तद्विज्ञानायैव 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (क० ३।१३) इत्याध्यानं विदधाति । तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र । एवमनेकप्रकार आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते, नेतरेषु । अपि च 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० ३।९) इत्युक्ते किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात् परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही है, क्योंकि 'एष सर्वेषु भूतेषु०' (*यह पुरुष सब भूतोंमें गूढ़ है यह [आत्मरूप से किसीको] प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु एकाग्रतासे युक्त सूक्ष्म बुद्धिसे सूक्ष्मदर्शियोंको इसका ज्ञान होता है*) इस प्रकार श्रुति प्रकृत पुरुषको आत्मरूपसे कहती है। अतः इतरोंके अनात्मत्वकी विवक्षा है, ऐसा ज्ञात होता है। और उसीको दुर्विज्ञेय और संस्कृतमतिगम्य दिखलाती है। उसके विज्ञानके लिए ही 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (*विवेकी वाणीका मनमें उपसंहार करे*) इस प्रकार आध्यानका विधान करती है। उसका 'आनुमानिकम्' इत्यादिसूत्रमें व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार श्रुतिसे अनेक प्रकारका आशयातिशय पुरुषमें लक्षित होता है, अन्यमें वह नहीं होता। और 'सोऽध्वनः पर०' (*मार्गका—संसारगतिका—पार पाता है वह विष्णुका परमपद प्राप्त करता है*) ऐसा कहा है, इसलिए मार्गसे पार विष्णुका परमपद क्या है? ऐसी आकांक्षा होनेपर इन्द्रिय आदिके अनुक्रमणसे परम पदकी प्राप्तिके लिए ही यह प्रयास है, इस प्रकार निश्चय होता है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

किञ्च, 'तद्विष्णोः परमं पदम्' 'पुरुषान्न परं किंचिद्' इत्युपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यात् क्लृप्तफलवदेकपुरुषपरत्वेनैकवाक्यत्वनिश्चये सति वाक्यभेदफलभेदकल्पना न युक्ता, गौरवादित्याह—अपि चेति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। और 'तद्विष्णोः परमं पदम्' (*वह विष्णुका परम पद*) 'पुरुषान्न परं किंचित्' (*पुरुषसे पर कुछ नहीं है*) इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारके एकरूप होनेसे सब वाक्योंका तात्पर्य एक फलवान् पुरुषका प्रतिपादन करनेमें ही है, तथा वस्तुत्वका प्रतिपादन करना—यह क्लृप्त प्रयोजन है, इस तरह एकवाक्यताका निश्चय होनेपर वाक्यभेद और फलभेदकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि उनकी कल्पनामें गौरव है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ॥१५॥

[८ आत्मगृहीत्यधिकरण सू० १६–१७]

(प्रथमवर्णक)

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट् स्यादथवेश्वरः ।
भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद् गवाद्यानयनाद् विराट् ॥ १ ॥
भूतोपसंहृतेरीशः स्याददैतावधारणात् ।
अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इस श्रुतिमें आत्मशब्दसे विराट्का ग्रहण होता है अथवा ईश्वरका ग्रहण होता है ?

पूर्वपक्ष—विराट्का ग्रहण होता है ईश्वरका ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि गवानयन आदि शरीरीसे ही हो सकता है और भूतसृष्टिका निरूपण नहीं है ।

सिद्धान्त—विराट्का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु ईश्वरका ही ग्रहण होता है, क्योंकि अद्वैतका ही अवधारण होने और भूतोंका उपसंहार होनेसे ईश्वर ही विवक्षित है, गवाद्यानयन तो अर्थवादमात्र है ।

---

* भाव यह है कि 'आत्मा वा इदमेक' इत्यादि श्रुतिमें पठित आत्मशब्दसे विराट्का ग्रहण करना चाहिए, ईश्वरका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' इत्यादिसे पाच भूतोंकी सृष्टि न कहकर केवल लोकसृष्टिका ही कथन है, तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदिमें ईश्वरके प्रकरणमें भूत-सृष्टिका कथन है,, और 'ताभ्यो गामानयत्' इससे विहित गवानयन भी शरीरी विराट्में ही घटता है, अशरीरी परमात्मामें नहीं घटता है, अतः श्रुतिमें आत्मशब्दसे विराट् ही विवक्षित है ।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—'एक एव' इससे अद्वैतका अवधारण होनेसे यहां आत्मशब्दसे ईश्वरका ही कथन है । इसलिए अन्य शाखामें उक्त भूतसृष्टिका यहां उपसंहार करना चाहिए । और गवानयन तो केवल अर्थवाद ही है, इसलिए उसका ज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं है । भूतार्थवाद यदि मानो, तो भी विराट् द्वारा ईश्वर ही गवानयनका सम्पादन करेगा, श्रूयमाण गवानयनको अर्थवाद माननेपर उस अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति अविवक्षितार्थ होगी, यदि कोई ऐसी शङ्का करे तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्मका ऐक्य विवक्षित है । और 'आत्मा वै' इसका उपक्रम करके 'स एतमेव' इत्यादिसे ईश्वरका ही उपसंहार है, इससे ईश्वर ही 'आत्मा' शब्दसे गृहीत है ।

(द्वितीयवर्णक)

द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोः ।
उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यामुपक्रमात् ॥१॥

साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः ।
वाक्यशेषादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः* ॥२॥

सन्देह—बृहदारण्यक और छान्दोग्य इन दोनोंके छठे अध्यायोंमें जो आत्मा और सत्का वर्णन किया गया है, वे दोनों एक ही हैं या पृथक् पृथक् हैं ?

पूर्वपक्ष—छान्दोग्यमें 'सत्' शब्दसे और बृहदारण्यकमें 'आत्म' शब्दसे उपक्रम है, इससे प्रतीत होता है कि दोनों जगहमें पृथक् पृथक् वस्तु है ।

सिद्धान्त—'सत्' शब्द यद्यपि आत्मा और अनात्मा दोनोंका वाचक होनेसे साधारण है तथापि 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है वह तू है) इस वाक्यशेषसे आत्माका वाचक होगा । इससे सिद्ध हुआ कि बृहदारण्यक और छान्दोग्यमें 'आत्मा' और 'सत्' शब्दसे एक ही वस्तु कथित है ।

---

* आशय यह है कि पूर्वपक्षी कहता है बृहदारण्यकके षष्ठ अध्यायमें 'कतम आत्मा' (आत्मा कौन है) इस प्रकार आरम्भ करके आत्माका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । छान्दोग्यके छठे अध्यायमें तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य ! सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् सत् ही था) इस प्रकार उपक्रम करके सद् वस्तुका विस्तारसे वर्णन किया गया है । लोकमें 'सत्' और 'आत्म' शब्द पर्यायवाची नहीं देखे जाते, अतएव दोनों वस्तुओंमें भेद है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि 'सत्' शब्द आत्मा और अनात्मा—दोनोंमें साधारण होनेसे दोनोंका वाचक होनेसे यहापर किसका प्रतिपादक है ? इस प्रकार सन्दिग्ध है, तथापि 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस वाक्यशेषकी श्रुतिसे वह आत्माका वाचक है, ऐसा निश्चय होता है । इससे सिद्ध हुआ कि बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य दोनों स्थलोंमें एक ही वस्तु वर्णित है ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—आत्मगृहीतिः, इतरवत्, उत्तरात् ।

पदार्थोक्ति—आत्मगृहीतिः—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिसृष्टिवाक्ये आत्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, [नान्यस्य हिरण्यगर्भादेः], इतरवत्—यथा इतरेषु सृष्टिवाक्येषु 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिषु आत्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, तद्वदत्रापि [कुतः ?] उत्तरात्—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' 'स इमांल्लोकानसृजत' इतीक्षणपूर्वकसृष्टिकर्तृत्वरूपोत्तरविशेषणात्, [तच्च विशेषणं परमात्मन्येव मुख्यत्वेन श्रुत्यन्तरेष्ववगतम्] ।

भाषार्थ—'आत्मा वा०' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् अद्वितीय आत्मा ही था) इत्यादि सृष्टिवाक्यमें आत्मशब्दसे परमात्माका ही ग्रहण होता है, हिरण्यगर्भ आदि अन्यका ग्रहण नहीं होता । जैसे 'आत्मन आकाशः' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि अन्य सृष्टिवाक्योंमें आत्मशब्दसे परमात्माका ही ग्रहण होता है, वैसे यहांपर भी समझना चाहिए, क्योंकि 'स ईक्षत०' (उसने विचार किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) और 'स इमा०' (उसने इन लोकोंकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियोंमें ईक्षणपूर्वक सृष्टिकर्तृत्वरूप विशेषण है । और वह विशेषण अन्य श्रुतियोंमें मुख्यरूपसे परमात्मामें ही अवगत है ।

भाष्य

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० १।१) 'स इमांल्लोकानसृजताम्भो

भाष्यका अनुवाद

ऐतरेयमें—'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् एक आत्मा ही था, अन्य कुछ व्यापार नहीं था, उसने—आत्माने विचार किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ), 'स इमाल्लोँकान०' (उसने अम्भ—स्वर्ग, अन्तरिक्ष,

---

रत्नप्रभा

आत्मगृहीतिरिति । मिषत्—चलत् । लोकानाह—अम्भ इति । अम्भः—स्वर्गः, मरीचयः—अन्तरिक्षलोकः, मरः—मर्त्यलोकः, आपः—पाताललोक इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आत्मगृहीतिरिति" । मिषत्—चलत्—चलायमान। लोकोंकी गणना करते हैं—"अम्भ" इत्यादिसे । अम्भ—स्वर्गलोक, मरीचि—अन्तरिक्षलोक, मर—मर्त्यलोक, आप—पाताललोक, ऐसा

भाष्य

मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १।२) इत्यादि । तत्र संशयः—किं पर एवात्मेहाऽऽत्मशब्देनाऽभिलप्यत उताऽन्यः कश्चिदिति । किं तावत् प्राप्तम् ?

न परमात्मेहाऽऽत्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति । कस्मात् ? वाक्यान्वयदर्शनात् । ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते, प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात्, ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च । नेत्युच्यते, लोकसृष्टि-

भाष्यका अनुवाद

मर्त्य और पाताल लोकोंकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुति है । यहांपर संशय होता है कि क्या यहां आत्मशब्दसे परमात्माका ही अभिधान होता है या अन्य किसीका ? क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—यहांपर आत्मशब्दसे परमात्माका अभिधान नहीं हो सकता । किससे ? वाक्यान्वयके पर्यालोचनसे । परन्तु वाक्यान्वय तो स्पष्टरूपसे परमात्मविषयक दिखाई पड़ता है, क्योंकि सृष्टिके पूर्वमें आत्माके एकत्वका निश्चय किया गया है और वह विचारपूर्वक सृष्टि करनेवाला कहा गया है । नहीं, ऐसा [हम] कहते हैं, क्योंकि लोकसृष्टि कही गई है, कारण कि परमात्माको

रत्नप्रभा

आत्मशब्दस्य ब्रह्मणि सूत्रात्मनि च प्रयोगात् संशयमाह—तत्रेति । अत्र पूर्वपक्षे वाक्यस्य सूत्रोपास्तिपरत्वात् परब्रह्मधर्माणाम् आनन्दादीनामैतरेयकेऽनुपसंहारः, सिद्धान्ते ब्रह्मपरत्वादुपसंहार इति फलम् । पुरुषवाक्याद् भेदप्रसङ्गाद् अर्थादिवाक्यानां नाऽर्थादिप्रतिपादकत्वमित्युक्तम्, तद्वदिहाऽपि प्रजापतेः रेतो देवा इति पूर्वस्मात् प्रजापतिवाक्याद् भेदप्रसङ्गाद् 'आत्मा वा' इत्यादिवाक्यस्य न ब्रह्मपरत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—न परमात्मेत्यादिना । वाक्यस्य प्रजापतौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है । आत्मशब्दका ब्रह्म और सूत्रात्मामें प्रयोग होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । यहां पूर्वपक्षमें वाक्यका सूत्रात्माकी उपासनामें तात्पर्य होनेसे परब्रह्मके आनन्द आदि धर्मोंका ऐतरेयकमें अनुपसंहार फल है, और सिद्धान्तमें वाक्यका ब्रह्ममें तात्पर्य होनेसे इन धर्मोंका ऐतरेयकमें उपसंहार है, ऐसा फल है । जैसे पूर्व अधिकरणमें पुरुषवाक्यसे अर्थादिवाक्योंका भेद प्राप्त होनेसे वेद अर्थादिका प्रतिपादक नहीं है, ऐसा कहा गया है, वैसे ही यहां भी 'देवता प्रजापतिके रेत हैं' इस पूर्वके प्रजापतिवाक्यसे 'सृष्टिके पूर्वमें यह सब जगत् एक आत्मा ही था' इत्यादि वाक्यका भेद प्राप्त होनेसे यह वाक्य ब्रह्मपरक नहीं है, इस प्रकार दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"न परमात्मा" इत्यादिसे । इस वाक्यका तात्पर्य

भाष्य

वचनात् । परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते । लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः । तथा चाम्भःप्रभृतीँल्लोकत्वेनैव विब्रवीति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' (ऐ० १।२) इत्यादिना । लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते । तथा हि श्रुतिर्भवति—'आत्मैवेदमग्र

भाष्यका अनुवाद

यदि सृष्टिकर्ता मानें, तो आरम्भमें महाभूतोंकी सृष्टि कहनी चाहिए थी, परन्तु यहां आरम्भमें लोकसृष्टि कही गई है। और लोक महाभूतोंके आकार-विशेष हैं। उसी प्रकार 'अदोऽम्भः०' (यह अम्भ द्युलोकसे पर है) इत्यादि श्रुति अम्भ आदिका लोकरूपसे ही निर्वचन करती है । और लोकसृष्टि परमेश्वरसे अधिष्ठित किसी अन्य ईश्वरसे की जाती है, ऐसा श्रुति और स्मृतिमें उपलब्ध होता है, क्योंकि 'आत्मैवेदमग्र आसीत्०' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् पुरुषाकार एक आत्मा

रत्नप्रभा

तात्पर्यदर्शनादित्यर्थः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य लोकस्रष्टृत्वलिङ्गात् न प्रजापतौ वाक्यान्वय इत्याह—नन्वित्यादिना । लोका एव महाभूतानीत्यत आह—लोकाश्चेति । लोकशब्दस्य महाभूतेष्वरूढत्वात् भौतिका एव लोकाः, निर्वचनाच्चेत्याह—तथा चेति । 'अम्भो मरीचीर्मरमापः' इति सूत्रयित्वा स्वयमेव श्रुतिर्व्याचष्टे—परेण दिवम्—दिवः परस्तात् दिवि प्रतिष्ठितश्चन्द्राम्भसा व्याप्तो यो लोकः, तद्—अम्भः । अन्तरिक्षम्—मरीचयः । पृथिवी—मरः । या अधस्तात् ताः—आप इति । ननु लोकसृष्टिरपि ईश्वरादेवाऽस्तु, नेत्याह—लोकेति । पुरुषविधः—नराकारः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रजापतिमें दीखता है, ऐसा अर्थ है। पूर्वपक्षका आक्षेप करके लोकस्रष्टृत्वलिंगसे प्रजापतिमें वाक्यान्वय नहीं है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। लोक ही महाभूत हैं, इसपर कहते हैं—"लोकाश्च" इत्यादिसे। लोकशब्द महाभूतोंमें रूढ नहीं है अतः लोक-भौतिक ही हैं, निर्वचन से भी यही सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। 'अम्भो मरीचीर्मरमापः' ऐसी सूत्रकी रचना करके श्रुति आप ही उसकी व्याख्या करती है—परेण दिवम्—द्युलोकसे पर द्युलोकमें प्रतिष्ठित चन्द्रजलसे व्याप्त जो लोक है वह अम्भ अर्थात् स्वर्गलोक है, मरीची—अन्तरिक्ष [सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त होनेके कारण अन्तरिक्ष ही मरीचिशब्दसे कहा गया है], मर—पृथिवी [मरणसे युक्त होनेसे पृथ्वी मरशब्दसे कही गई है], जो नीचे हैं वह आप अर्थात् पाताललोक है, इस प्रकार की लोकसृष्टि भी ईश्वरसे ही क्यों न हो ? नहीं, ऐसा कहते हैं—"लोक" इत्यादिसे। पुरुषविध-

भाष्य

आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—

'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥' इति ।

ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमामनन्ति । आत्मशब्दोऽपि तस्मिन् प्रयुज्यमानो दृश्यते—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्यत्र । एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते । ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम् । अपि च 'ताभ्यो गामानय-

भाष्यका अनुवाद

ही था) इत्यादि श्रुति है, और 'स वै शरीरी प्रथमः०' (वही प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहलाता है, भूतोंका—चराचर स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंका आदि कर्त्ता वह ब्रह्म सबसे पूर्वमें था) ऐसी स्मृति भी है । ऐतरेयशाखावाले भी 'अथातो रेतसः०' (इसके रेतकी—कार्यकी सृष्टि हुई, देवता प्रजापतिके रेत हैं) यहांपर पूर्वप्रकरणमें विचित्र सृष्टिको प्रजापतिकर्तृक कहते हैं । आत्मशब्द भी प्रजापतिमें 'आत्मैव इदमग्र०' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् एक आत्मा ही था) इत्यादिमें प्रयुक्त दिखाई देता है । एकत्वका निश्चय भी उत्पत्तिके पूर्व अपने विकारोंकी अपेक्षासे उपपन्न होता है और वह चेतन है, ऐसा स्वीकार होनेसे ईक्षण भी उपपन्न होता है ।

रत्नप्रभा

आत्मा—हिरण्यगर्भः । आ पिपीलिकाभ्यः सर्वमसृजतेत्यर्थः । भूतानाम्—लोकाना-मित्यर्थः । प्रकरणादपि लोकस्रष्टा प्रजापतिरित्याह—ऐतरेयिणोऽपीति । रेतः—कार्यमिति यावत् । ब्रह्मलिङ्गानि प्रजापतौ योजयति—आत्मशब्दोऽपीत्यादिना । किञ्च, प्रजाः सृष्ट्वा ताः प्रति भोगार्थं गामानयत् लोकस्रष्टा, तथाऽश्वमानयत्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

नराकार—मनुष्यकी तरह मस्तक, हाथ, पैर आदि वाला । आत्मा—हिरण्यगर्भ । अर्थात् उसने पिपीलिकाओंसे लेकर सब प्राणियोंकी सृष्टिकी यह अर्थ है । भूतोंका—लोकोंका, [स्थूल और सूक्ष्म कार्योंका, चर और अचर सभीका] यह भाव है । प्रकरणसे भी लोकस्रष्टा प्रजापति है, ऐसा कहते हैं—"ऐतरेयिणोऽपि" इत्यादिसे । रेतः—कार्य । ब्रह्मलिंगोंकी प्रजापतिमें योजना करते हैं—"आत्मशब्दोऽपि" इत्यादिसे । किंच, प्रजाओंको उत्पन्न करके उनके प्रति भोगोंके लिए लोकस्रष्टा गायें लाया तथा अश्व भी लाया । परन्तु वे प्रजायें गौओं और घोड़ोंकी प्राप्तिसे

भाष्य

ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्' इत्येवंजातीयको भूयान् व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते । तस्माद् विशेषवानेव कश्चिदिहाऽऽत्मा स्यादिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवाऽऽत्मेहाऽऽत्मशब्देन गृह्यते, इतरवत् । यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २ । १ । १) इत्येवमादिषु परस्याऽऽत्मनो ग्रहणम्, यथा चेतरस्मिंल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते, तथेहापि भवितुमर्हति । यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १।४।१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्येवमादि

भाष्यका अनुवाद

और 'ताभ्यो गामानयत्०' (स्रष्टा उन प्रजाओंके लिए गाय लाया, उनके लिए अश्व लाया, उनके लिए पुरुष लाया, तदनन्तर प्रजाओंने उससे कहा) इस प्रकारके अनेक व्यापार विशेष जो विशेषवान् लौकिक आत्माओंमें प्रसिद्ध हैं, उनका यहां अनुगम होता है, इससे प्रतीत होता है कि विशेष युक्त ही कोई आत्मा यहां स्रष्टा है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां आत्मशब्दसे परमात्माका ही ग्रहण है, अन्यत्रके समान । जैसे 'तस्माद्वा एतस्मा०' (तथाविध इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि अन्य सृष्टिश्रुतियोंमें आत्मशब्दसे परमात्माका ग्रहण है और जैसे अन्य लौकिक आत्मशब्दके प्रयोगमें आत्मशब्दसे मुख्य प्रत्यगात्माका ही ग्रहण होता है, वैसे ही यहांपर भी होना युक्त है । जहां 'आत्मैव इदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् आत्मा ही था) इत्यादिमें 'पुरुषविधः'

रत्नप्रभा

तास्तु गवाश्वप्राप्त्या न तृप्ताः, ततः पुरुषशरीरे आनीते ता अब्रुवन्—तृप्ताः स्म इति । अयं च व्यवहारो लोकस्रष्टुः प्रजापतित्वे लिङ्गमित्याह—अपि चेति ।

आत्मशब्दस्य चिदात्मनि मुख्यत्वात् मुख्यग्रहे बाधकाभावाद् उत्तरस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

तृप्त न हुई, पुरुषशरीर लाये जानेपर उन्होंने कहा कि हम सब तृप्त हो गईं । यह व्यवहार लोकस्रष्टाके प्रजापतित्वमें प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे ।

आत्मशब्दका मुख्य अर्थ चिदात्मा है, अतः इस मुख्य अर्थके ग्रहणमें कोई बाधक नहीं है

भाष्य

विशेषणान्तरं श्रूयते, भवेत् तत्र विशेषवत आत्मनो ग्रहणम् । अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० १।१), 'स इमांल्लोकानसृजत' (ऐ० १।२) इत्येवमादि । तस्मात् तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम् ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकारका अन्य विशेषण सुना जाता है, वहां विशेषयुक्त आत्माका ग्रहण हो परन्तु यहां तो परमात्माके ग्रहणके अनुकूल ही उत्तरका भी विशेषण उपलब्ध होता है—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (उसने विचार किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूं) 'स इमांल्लोकान०' (उसने इन लोकोंकी सृष्टि की) इत्यादि । इसलिए यहांपर आत्मशब्दसे उसीका ग्रहण उचित है ॥१६॥

रत्नप्रभा

ईक्षणादेरनुकूलत्वात् परमात्मग्रहणमिति सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । महाभूतसृष्टिपूर्वकं लोकानसृजतेति श्रुतिर्व्याख्येया इति भावः ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और बादमें आनेवाले ईक्षणादि अनुकूल हैं, इससे यहाँ परमात्माका ही ग्रहण है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे । महाभूतसृष्टिपूर्वक लोकोंकी सृष्टि उसने की—इस प्रकार श्रुतिका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा भाव है ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

पदच्छेद—अन्वयात्, इति, चेत्, स्यात्, अवधारणात् ।

पदार्थोक्ति—अन्वयात्—लोकसृष्टिवाक्यपर्यालोचनया हिरण्यगर्भे एव वाक्यान्वयात् [न परमात्मग्रहणं युक्तम्] इति चेत्—यद्येवं कश्चिदाशङ्केत, तर्हि [तत्राह—] स्यात्—परमात्मन एव ग्रहणं युक्तं स्यात् [कुतः ?] अवधारणात्—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्' इति सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणस्य परमात्मन्येव सामञ्जस्यात् ।

भावार्थ—लोकसृष्टिवाक्यके पर्यालोचनसे हिरण्यगर्भमें ही लोकसृष्टिवाक्यका अन्वय होता दिखाई देता है, इसलिए यहाँपर परमात्माका ग्रहण उचित नहीं है—ऐसी यदि कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'आत्मा वा०' इस श्रुतिमें आत्माके एकत्वका अवधारण है और उस अवधारणका परमात्मामें ही सामञ्जस्य है, अतः यहाँपर परमात्माका ही ग्रहण करना युक्त है।

भाष्य

'वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहणम्' इति पुनर्यदुक्तम्, तत् परिहर्तव्यमिति । अत्रोच्यते—स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम् । कस्मात् ? अवधारणात् । परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते, अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत् परिकल्प्येत । लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि । यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेवमिहापि । श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेपूपसंहर्तव्यो भवति । योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो

भाष्यका अनुवाद

वाक्यान्वयके देखनेसे यहांपर परमात्माका ग्रहण नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—'स्यादवधारणात्'। अर्थात् परमात्माका ग्रहण उपपन्न होगा। किससे ? अवधारणसे। क्योंकि परमात्माका स्वीकार करनेसे ही उत्पत्तिके पूर्व 'आत्मा अकेला ही था' यह अवधारण घटता है। परमात्माका स्वीकार न कर हिरण्यगर्भका ग्रहण किया जाय, तो वह अवधारण अमुख्य हो जायगा। किन्तु ऐतरेयवाक्योंमें जो लोकसृष्टिवचन है उसकी तैत्तिरीय आदि अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध महाभूतसृष्टिके अनन्तर उस आत्माने अम्भः, मरीचि आदि लोकों की सृष्टि की है—ऐसी योजना करेंगे। जैसे 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) इस वाक्यकी—अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाशकी और वायुकी सृष्टिके अनन्तर उसने तेजकी सृष्टि की, ऐसी योजना हमने की है, वैसे यहां भी योजना करेंगे, क्योंकि एक श्रुतिमें प्रसिद्ध समानविषयवाले विशेषका अन्य श्रुतिमें उपसंहार करना युक्त है। 'उनके लिए लाया गाय लाया' इत्यादि

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षबीजमनूद्य दूषयति—अन्वयादिति । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति चोपक्रमोपसंहारस्थात्मब्रह्मश्रुतिभ्याम् एकत्वावधारणात् प्रवेशादिलिङ्गैश्च लोकस्रष्टृत्वादिलिङ्गबाधेन प्रत्यग्ब्रह्म ग्राह्यमिति भावः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षके बीजका अनुवाद करके उसे दूषित करते हैं—"अन्वयात्" इत्यादिसे । 'आत्मा वा इदमेक०' (सृष्टिके पहले यह सब एक आत्मा ही था) और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (प्रज्ञान ब्रह्म है) इस प्रकारके उपक्रम और उपसंहारमें आत्मश्रुति और ब्रह्मश्रुति होनेसे एकत्वका अवधारण होता है, इससे और इसी प्रकारके प्रवेश आदि लिंगोंसे लोकस्रष्टृत्व आदि

भाष्य

गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यः । नह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुम्, तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात् । ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम् । तथा ह्यम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाऽऽग्नेयादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति—'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३।१२) इति । पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितम्' (ऐ० ३।११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

व्यापारविशेषका जो अनुगम है उसका भी विवक्षित अर्थके अवधारणके आनुकूल्यसे ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यह सकल कथाप्रबन्ध विवक्षित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण कि उसकी प्रतिपत्तिमें पुरुषार्थका अभाव है । यहाँ तो ब्रह्म सबका आत्मा है, यही विवक्षित है, क्योंकि अम्भ आदि लोकोंकी और अग्नि आदि लोकपालोंकी सृष्टिका उपदेश करके इन्द्रियों और इन्द्रियोंके स्थान शरीरका उपदेश करके उसी स्रष्टाने 'कथं न्विदम०' (मेरे विना कैसे होगा) ऐसा विचारकर इस शरीरमें प्रवेश किया, ऐसा 'स एतमेव सीमानम्०' (वह परमेश्वर इसी सीमाको—शिरके केशविभागके अवसानको फाड़कर इस ब्रह्मरन्ध्रसंज्ञक द्वारसे शरीरमें प्राप्त हुआ) यह श्रुति दिखलाती है । और 'यदि वाचाभिव्याहृतं०' (यदि वाणीने भाषण व्यापार किया, यदि प्राणने प्राणन व्यापार किया) इत्यादि वाक्योंसे इन्द्रियोंके व्यापारका विवेचनकर 'अथ कोऽहम्' (उसके पश्चात् मैं कौन हूँ) ऐसा

रत्नप्रभा

स परमेश्वरः, एतमेव सीमानम्—मूर्ध्नः केशविभागावसानं विदार्य—छिद्रं कृत्वा एतया—ब्रह्मरन्ध्राख्यया द्वारा लिङ्गविशिष्टः प्रविष्टवान् इत्यर्थः । मां विना यदि वागादिभिः स्वस्वव्यापारः कृतः, अथ तदाऽहं क इति त्वम्पदार्थं विचार्य स्वयम् एतमेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिंगोंका बाध होनेसे प्रत्यक् ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, ऐसा भाव है । स—उस—परमेश्वरने, इसी सीमामें—मस्तकके केशविभागके अवसानमें छिद्र करके इस ब्रह्मरन्ध्र—द्वारा लिंगविशिष्ट होकर प्रवेश किया, यह अर्थ है । मेरे बिना यदि वाक् आदि अपने-अपने व्यापार कर लें, तो 'मैं कौन हूँ' इस प्रकार त्वम्पदार्थका विचार करके आप ही इसी शोधित आत्माको

भाष्य

ततममपश्यत्' (ऐ० ३।१३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति । तथोपरिष्टाद् 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐ० ५।३) इत्यादिना समस्तभेदजातं सह महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ० ५।३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति । तस्मादिहाऽऽत्मगृहीतिरित्यनपवादम् ।

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । वाजसनेयके कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष' (बृ० ४।३।७)

भाष्यका अनुवाद

विचार करके 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म०' (उसने इसी पुरुष ब्रह्मको अतिशय व्यापक देखा) इस प्रकार श्रुति ब्रह्म सबका आत्मा है, इस दर्शनका अवधारण करती है । उसी प्रकार आगे भी 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः०' (यह ब्रह्म है यह इन्द्र है) इत्यादि श्रुतिसे महाभूतोंके साथ समस्त भेदसमूहका उपक्रम करके 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं०' (वह सब प्रज्ञासे—चिदात्मासे नियम्य है, प्रज्ञामें प्रतिष्ठित है, प्रज्ञासे लोक नियम्य है, प्रज्ञा प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ब्रह्म है) यह श्रुति ब्रह्म सबका आत्मा है, इस दर्शनका ही अवधारण करती है । इसलिए यहाँ परमात्माका ग्रहण है, यह निरपवाद है ।

दूसरी योजना कहते हैं—परमात्माका ग्रहण है, अन्यके समान, उत्तरसे । वाजसनेयकमें 'कतम आत्मेति०' (आत्मा कौन है, जो यह विज्ञानमय—प्राणोंसे व्यतिरिक्त और बुद्धिसे व्यतिरिक्त है, ज्योति

रत्नप्रभा

शोधितम् आत्मानं ब्रह्म ततमम्—व्याप्ततमम् अपश्यत् । तकारलोपः छान्दसः । प्रज्ञा—चिदात्मा नेत्रम्—नीयतेऽनेनेति—नियामकं यस्य तत्—प्रज्ञानेत्रम् चिदात्मनियम्यमित्यर्थः ।

उक्तव्याख्याने गुणोपसंहारस्य अस्फुटत्वात् न पादसङ्गतिः इति मत्वैव व्याख्यान्तरमाह—अपरेति । उदर्कः—उपसंहारः । सच्छब्दस्य आत्मानात्मसाधारण्यात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्याप्ततम ब्रह्मरूपसे देखा । ततमम्—तततमम्, यहाँ एक तकारका लोप छान्दस है । प्रज्ञा—चिदात्मा—ब्रह्मचैतन्य है, नेत्र—जिससे नियमन किया जाता है अर्थात् नियामक जिसका वह प्रज्ञानेत्र—चिदात्मनियम्य है, यह अर्थ है ।

उक्त व्याख्यानके गुणोंका उपसंहार अस्फुट है, अतः पादसंगति नहीं होती, ऐसा विचार करके ही दूसरी व्याख्या कहते हैं—"अपरा" इत्यादिसे । उदर्क—उपसंहार । 'सत्' शब्द

भाष्य

इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति—'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति। छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यन्तरेणैवाऽऽत्मशब्दमुपक्रम्योदर्के 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति तादात्म्यमुपदिशति। तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयोराम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति।

अतुल्यार्थत्वमिति तावत् प्राप्तम्, अतुल्यत्वादाम्नानयोः, नह्याम्नान-

भाष्यका अनुवाद

और पूर्ण है) इस प्रकार आत्मशब्दसे उपक्रम करके वही सर्वसंगसे निर्मुक्त है, ऐसा प्रतिपादन करके श्रुति ब्रह्म सब जीवोंका आत्मा है, ऐसा अवधारण करती है, और 'स वा एष०' (तथाविध यह आत्मा महान्, अज, अमर, अमृत, अभय और ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्मरूपसे ही श्रुति उपसंहार करती है। तथा—छान्दोग्यमें तो 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, पूर्वमें—जगत्की उत्पत्तिके पूर्वमें यह जगत् सत्स्वरूप ही था, अद्वितीय था) उसके पीछे ही आत्मशब्दसे उपक्रम करके उपसंहारमें 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है वह तू है) इस प्रकार तादात्म्यका उपदेश श्रुति करती है। यहांपर संशय होता है कि ये दोनों श्रुतियाँ तुल्यार्थक हैं या भिन्नार्थक?

पूर्वपक्षी—ये दोनों भिन्नार्थक हैं, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि श्रुतियां अतुल्य

रत्नप्रभा

संशयमाह—तत्रेति। पूर्वपक्षे सत्तासामान्ये ब्रह्मात्मत्वसम्पदुपास्तिः छान्दोग्ये, वाजिश्रुतौ निर्गुणविद्येति भेदाद् मिथोगुणानुपसंहारः, सिद्धान्ते तूभयत्र निर्गुणविद्यैक्याद् उपसंहार इति फलभेदः। पदानां जातौ शक्तिग्रहात् सच्छब्दोऽपि सत्त्वजातिवाचीत्युपक्रमस्य निश्चितार्थत्वादसंजातविरोध्युपक्रमबलेन तादात्म्योपदेशः

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्माके अर्थमें है या अनात्माके? निर्णय न होनेसे—'सत्' शब्दके आत्मानात्मसाधारण होनेसे—दोनों वाक्योंमें संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें छान्दोग्यके अन्दर सत्तासामान्यमें ब्रह्मात्मत्वकी सम्पत्ति—उपासना है और बृहदारण्यकमें निर्गुणब्रह्म विद्या है, अतः इस भेदसे एकके गुणका अन्यमें उपसंहार नहीं होगा और सिद्धान्तमें तो उन दोनों श्रुतियोंमें निर्गुण विद्याके ऐक्यसे उपसंहार है, ऐसा दोनों पक्षोंमें फलभेद है। पदोंका शक्तिग्रह जातिमें है, इससे 'सत्' शब्द भी सत्त्व जातिवाचक है, ऐसा उपक्रमका निश्चित अर्थ होनेसे, जिसका विरोधी उत्पन्न नहीं है ऐसे उपक्रमके बलसे तादात्म्यके उपदेशका अर्थ

भाष्य

वैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुमाम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेयके चाऽऽत्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः। ननु छन्दोगानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते।

तथा प्राप्तेऽभिधीयते—आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'

भाष्यका अनुवाद

हैं, कारण कि श्रुतियोंके विषम होनेसे अर्थकी समानता नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि अर्थका ग्रहण श्रुतिके अधीन है। वाजसनेयकमें आत्मशब्दके उपक्रमसे आत्मतत्त्वका उपदेश है, ऐसा समझा जाता है। छान्दोग्यमें तो विपरीत उपक्रम होनेसे विपरीत उपदेश है। परन्तु छन्दोगोंके उपसंहारमें भी तादात्म्यका उपदेश है, ऐसा कहा गया है। ठीक है, कहा गया है। उपसंहार उपक्रमके अधीन है, अतः वह तादात्म्यसम्पत्ति है, ऐसा मानते हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'सदेव सोम्येदमग्र०' (हे

रत्नप्रभा

सम्पत्तिपरतया नेय इति पूर्वपक्षनिष्कर्षः। पूर्वत्र वाक्यैक्याद् अर्थादिपरत्वं त्यक्त्वा विद्यैक्यमुक्तम्, इह तु सदात्मशब्दाभ्यां जात्यात्मवाचिभ्याम् उपक्रमभेदाद् वाक्यभेदे सति विद्याभेद इति प्रत्युदाहरणसङ्गतिः। न चाऽऽत्मशब्दः जातिवाचकः, आत्मव्यक्त्यैक्याद् जात्यभावात्। किन्तु सर्वान्तरवस्तुवाचकः, कल्पितजातिवाचित्वेऽप्युपक्रमभेदः स्फुट एव, सत्त्वात्मत्वयोर्भेदादिति मन्तव्यम्।

सिद्धान्तयति—तथेत्यादिना। उपक्रमान्वयादिति। उपक्रमाधीनत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

तादात्म्यकी सम्पत्ति है, ऐसा करना चाहिए, यह पूर्वपक्षका निष्कर्ष है। पूर्व अधिकरणमें वाक्यके एक होनेसे—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि वाक्यके एक होनेसे वाक्यके अर्थादिपरत्वका त्याग करके विद्या एक है, ऐसा कहा गया है। इस अधिकरणमें तो 'सत्' और 'आत्मन्' इन दोनोंके जाति और आत्मवाची होनेके कारण उपक्रमका भेद होनेसे वाक्यभेद है, और वाक्यभेद होनेपर विद्याका भेद है, इस प्रकार दोनों अधिकरणोंकी प्रत्युदाहरणसंगति है। और आत्मशब्द जातिवाचक है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मव्यक्तिके एक होनेसे जातिका अभाव है [एक व्यक्तिमें जाति नहीं रहती—यह सिद्धान्त है], किन्तु आत्मशब्द सर्वान्तर वस्तुका वाचक है। यदि कल्पित जातिवाचक मान लें, तो भी उपक्रमका भेद स्पष्ट ही है, क्योंकि सत्ता और आत्मत्वमें भेद है, ऐसा समझना चाहिए।

सिद्धान्त करते हैं—"तथा" इत्यादिसे। "उपक्रमान्वयात्" इत्यादि। उपसंहार

भाष्य

(छा० ६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हतीतरवत्। यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात् तादात्म्योपदेशात्। अन्वयादिति चेत्, स्यादवधारणात्। यदुक्तम्— उपक्रमान्वयादुपक्रमे चाऽऽत्मशब्दश्रवणाभावान्नाऽऽत्मगृहीतिः इति, तस्य कः परिहार इति चेत्, सोऽभिधीयते—स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः, अवधारणात्। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिषया 'सदेव' इत्याह। तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते, अन्यथा हि

भाष्यका अनुवाद

सोम्य, सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् सत् ही था) इस छान्दोग्य वाक्यमें छन्दोगोंने भी परमात्माका ही ग्रहण करना चाहिए, अन्यत्रके समान—जैसे 'कतम आत्मा' (आत्मा कौन है) इस बृहदारण्यक वाक्यमें वाजसनेयकोंने परमात्माका ग्रहण किया है, वैसे ही छन्दोगोंके मतमें भी आत्मग्रहण होना उचित है। किससे? आगे आनेवाले तादात्म्यके उपदेशसे। अन्वयसे [परमात्माका ग्रहण नहीं है] यदि ऐसा कहो, तो हम कहते हैं कि [परमात्माका ग्रहण] है, अवधारणसे। उपक्रमके अन्वयसे और उपक्रममें आत्मशब्दका श्रवण न होनेसे परमात्माका ग्रहण नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसका क्या परिहार है? ऐसा यदि पूछो, तो उस परिहारको कहते हैं—अवधारणसे। यहाँ परमात्माका ग्रहण युक्त है, अवधारणसे, क्योंकि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यम०' (जिस आदेशके सुननेसे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अतर्कित भी तर्कित हो जाता है, अनिश्चित भी निश्चित हो जाता है, हे भगवन्, वह आदेश कैसा है?) इस प्रकार एक विज्ञानसे सब विज्ञानका अवधारण करके उसके सम्पादन करनेकी इच्छासे 'सदेव सोम्य०' (हे सोम्य, जगत्की उत्पत्तिके पूर्वमें यह जगत् सत्स्वरूप ही था) ऐसा कहते हैं। और वह परमात्माका ग्रहण करनेसे सम्पन्न हो जाता है, नहीं

रत्नप्रभा

उपसंहारस्य इत्यर्थः। तच्चाऽवधारणं सत्पदेनाऽऽत्मगृहीतौ सत्यां युज्यते इत्याह—तच्चेति। सदेकमेवेति अवधारणम्, 'अनेन जीवेनात्मना' इति सद्देवताकर्तृको

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपक्रमके अधीन है, इससे, ऐसा अर्थ है। वह अवधारण सत्पदसे परमात्माका ग्रहण करनेपर ही युक्त होता है, ऐसा कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। 'सदेकमेव' (सत् एक ही है) यह अवधारण है, 'अनेन जीवेन०' (इस जीवरूपी आत्मा द्वारा प्रवेश करके)

भाष्य

योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत, तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणम्, जीवस्य चाऽऽत्मशब्देन परामर्शः, स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनम्, परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत् तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते, न तादात्म्यसंपादनायाम्। न चाऽत्रोपक्रमतन्त्रत्वोपन्यासो न्याय्यः। नह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वाऽस्ति। सामान्योपक्रमश्च न

भाष्यका अनुवाद

तो मुख्य आत्माका विज्ञान न होनेसे सर्वविज्ञान सम्पन्न होगा ही नहीं। इसी प्रकार उत्पत्तिके पूर्व एकत्वका अवधारण, जीवका आत्मशब्दसे परामर्श, स्वापकी अवस्थामें जीव सत्के साथ सम्पन्न होता है, ऐसा कथन, और परिचोदनापूर्वक बारम्बार 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकारका अवधारण, ये सब तादात्म्यका प्रतिपादन करनेसे ही घटते हैं, उसकी ? सम्पत्तिमें—आरोप करनेमें नहीं घटते हैं। और उपक्रमकी अधीनताका उपन्यास उचित नहीं है, क्योंकि उपक्रममें आत्मत्वका या अनात्मत्व दोनोंका संकीर्तन नहीं है और सामान्यसे उपक्रम वाक्यशेषमें स्थित विशेषसे विरुद्ध नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

जीवस्य आत्मशब्देन परामर्शः, सुप्तौ जीवः सता सम्पन्नो भवतीति कथनम्, भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति परिचोदना। सदिति पदेन सत्ताश्रय उच्यते, न जातिमात्रम्, कर्तृवाचिशतृप्रत्ययान्तत्वात्। तथा चोपक्रमे सत्ताश्रयसामान्योक्तौ क आश्रय इत्याकाङ्क्षायां वाक्यशेषादात्मेति निश्चीयते इत्याह—न चेति। सच्छब्दस्याऽऽत्मानात्मसाधारण्यमुपेत्य उक्तम्, तदपि नास्ति, आत्मपदवत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा सद्देवताकर्तृक जीवका आत्मशब्दसे परामर्श है। सुषुप्तिमें जीव सत्के साथ सम्पन्न होता है, ऐसा कथन है, भगवन् ? मुझसे बार-बार कहो, यह परिचोदना—विज्ञापना है। 'सत्' इस पदसे सत्ताके आश्रयका अभिधान होता है, जातिमात्रका नहीं, क्योंकि यह कर्तृवाचिशतृप्रत्ययान्त है। इस प्रकार उपक्रममें सत्ताके आश्रय सामान्य की उक्तिसे यह आश्रय कौन है ? ऐसी आशंका होनेपर—यह आश्रय आत्मा है, ऐसा वाक्यशेषसे निश्चय होता है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। 'सत्' यह शब्द आत्मा और अनात्माके अर्थमें साधारण है यह स्वीकार करके जो कहा गया है वह—साधारणता भी नहीं है,

भाष्य

वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते, विशेषाकाङ्क्षित्वात् सामान्यस्य । सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यात्मनोऽन्यः संभवत्यतोऽन्यस्य वस्तुजातस्याऽऽरम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः आम्नानवैषम्यमपि नाऽवश्यमर्थवैषम्यमावहति, 'आहर पात्रम्' 'पात्रमाहर' इत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात् । तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

सामान्यको विशेषकी आकांक्षा है। उसी प्रकार 'सत्' शब्दके अर्थका भी पर्यालोचन करनेसे प्रतीत होता है कि उसका मुख्य आत्मासे अन्य अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इससे अन्य वस्तुसमूह आरम्भण शब्द आदिसे अनृत है, ऐसा उपपन्न होता है और श्रुतिवचनकी विषमता भी अर्थकी विषमता को नहीं ला सकती, क्योंकि 'आहर पात्रम्' (लाओ पात्र), 'पात्रमाहर' (पात्र लाओ) इत्यादिमें अर्थकी समता है, तो भी वचनकी समता नहीं देखी जाती है। इसलिए इस प्रकारके वाक्योंमें प्रतिपादन करनेके प्रकारमें भेद होनेपर भी जो अर्थ प्रतिपाद्य होता है, उसमें भेद नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

सत्पदस्य व्यक्तिवाचित्वात् । व्यक्तिश्च बाधायोग्या चिदात्मैवेति न वाजिच्छन्दोगयोरुपक्रमवैषम्यमित्याह—सच्छब्देति । वैषम्यमुपेत्याऽप्याह—आम्नानेति । वाजिवाक्ये त्वमर्थस्य तदर्थपर्यन्तस्य लक्ष्यस्य प्रतिपादनम्, छान्दोग्यवाक्ये तु तदर्थस्य त्वमर्थपर्यन्तस्य प्रतिपादनमिति प्रकारभेदेऽपि वाक्यार्थैक्याद् विद्यैक्यमिति फलितमाह—तस्मादिति ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि आत्मपदके समान सत्पद व्यक्तिवाचक है। और वह व्यक्ति बाधके अयोग्य चिदात्मा ही है, अतः वाजि और छन्दोगोंके उपक्रममें वैषम्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सच्छब्द" इत्यादिसे। वैषम्य स्वीकार करके भी कहते हैं—"आम्नान" इत्यादिसे। वाजसनेयकमें त्वमर्थ—आत्मा, तदर्थपर्यन्त—परब्रह्मपर्यन्त लक्ष्य है, ऐसा प्रतिपादन है, छान्दोग्यवाक्यमें तो त्वमर्थपर्यन्त तदर्थका प्रतिपादन है, इस भाँति प्रकारभेद होनेपर भी वाक्यार्थके एक होनेसे विद्याका ऐक्य है, ऐसा फलित कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ १७ ॥

[९ कार्याख्यानाधिकरण सू० १८]

अनग्नबुद्ध्याचमने विधेये शुद्धिरेव वा ।
उभे अपि विधेये ते द्वयोरत्र श्रुतत्वतः ॥ १ ॥
स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रायत्यार्थमनूद्य तत् ।
अनग्नतामतिः प्राणविदोऽपूर्वा विधीयते* ॥ २ ॥

सन्देह—'अशिष्यन्नाचामेत्, अशित्वा चाचामेत् । एतमेव तदनमनमं कुरुते' (भोजन करनेके पूर्वमें आचमन करना चाहिए और भोजन करके आचमन करना चाहिए, इसी प्राणको उस आचमनसे हम आच्छादित करते हैं, ऐसा मानते हैं) इस श्रुतिमें प्राणकी अनग्नताबुद्धि और आचमन इन दोनोंका विधान है अथवा केवल प्राणकी अनग्नताबुद्धि ही विधेय है ?

पूर्वपक्ष—इस श्रुतिमें प्राणकी अनग्नताबुद्धि और आचमन दोनोंका श्रवण है इससे प्रतीत होता है कि दोनोंका विधान है ।

सिद्धान्त—शुद्धताके लिए स्मृतिसे आचमन प्राप्त है उसका अनुवाद करके प्राणोपासकके प्रति अपूर्व होनेसे अनग्नताबुद्धिका विधान होता है ।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—कार्याख्यानाद्, अपूर्वम्

पदार्थोक्ति—['तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त' इत्यादिनाऽनग्नताचिन्तनमेव] अपूर्वम्—प्राणविद्याङ्गत्वेन विधेयम्, नाचमनम्, कुतः ? कार्याख्यानाद्—'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्' इत्यादिना स्मार्तविधिना कृत्स्नानुष्ठानाङ्गत्वेन शुद्धयर्थं कार्यस्याचमनस्य प्राणविद्यायामपि विधिप्राप्तस्याख्यानात्—अनग्नताविधानार्थमनुवादात्' इत्यर्थः ।

भाषार्थ—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त' इत्यादि श्रुति अनग्नतासूचनका ही प्राणविद्याके अङ्गरूपसे अपूर्वका विधान करती है, क्योंकि 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्' इत्यादि स्मार्तविधिसे सम्पूर्ण अनुष्ठानाङ्गरूपसे शुद्धिके लिए विधिप्राप्त आचमन का प्राणविद्यामें भी अनग्नता-विधानके लिए अनुवाद है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि बृहदारण्यककी प्राणविद्याके अन्तर्में 'अशिष्यन्नाचामेत्, अशित्वा चाचामेत् । एतमेव तदनमनम्न कुरुते' ऐसी श्रुति है यहा पर सन्देह होता है उक्त श्रुतिमें अनग्नताबुद्धि और आचमन इन दोनोंका विधान है या केवल अनग्नताबुद्धिका ही विधान है ? पूर्वपक्षी कहता है कि दोनोंका विधान है कारण कि श्रुतिमें दोनोंका श्रवण है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' (अप्राप्त विषयमें शास्त्र सार्थक होता है) इस न्यायसे अन्य प्रमाणसे अप्राप्त अनग्नताबुद्धि ही यहापर विधेय है । भोजनके पहले और भोजनके बाद आचमन करने योग्य जलमें वस्त्रबुद्धि करके उस वस्त्रसे प्राणकी अनग्नताका ध्यान करना चाहिए ऐसा अर्थ है । आचमन तो शुद्धिके लिए स्मृतिसे ही प्राप्त है इसलिए उसका विधान नहीं किया जाता है ।

भाष्य

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नाय तस्यैवाऽऽपो वास आमनन्ति। अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' (छा० ५।२।२) इति। वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचा-

भाष्यका अनुवाद

छन्दोग और वाजसनेयी प्राणके संवादमें कुत्ते, कृमि आदि पर्यन्तको प्राणका अन्न कहकर उसी प्राणका जल वस्त्र है, ऐसा कहते हैं। और इसके अनन्तर छन्दोग कहते हैं—'तस्माद्वा एत०' (चूँकि जल प्राणोंका वस्त्ररूप है अतः भोजन करनेवाला भोजनके पूर्व और पश्चात् जलसे प्राणका परिधान करता है) वाजसनेयी भी कहते हैं—'तद्विद्वांसः श्रोत्रियाः०' (जल प्राणका वस्त्र है अतएव विद्वान् श्रोत्रिय भोजन करनेके पहले आचमन करते हैं और भोजन करनेके अनन्तर आचमन करते हैं उस प्राणको ही वे आचमनसे अनग्न करते

रत्नप्रभा

कार्याख्यानादपूर्वम्। 'मे किमन्नं किं वासः' इति प्राणेन पृष्टा वागादय ऊचुः—यदिदं किं चाश्वभ्यः आकृमिभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वासः' इति सर्वप्राणिभिर्भुज्यमानं यदिदं प्रसिद्धं श्वादिपर्यन्तमन्नं तत् प्राणस्य तवाऽन्नम्, आप आच्छादनमित्युपासकेन चिन्तनीयमित्यर्थः। शाखाद्वयेऽप्यविशेषश्रुतिमुक्त्वा विशेषश्रुतिभेदमाह—अनन्तरं चेति। तस्माद् अपां प्राणवस्त्रत्वाद् अशिष्यन्तः अशनं कुर्वन्तः श्रोत्रिया एतत् कुर्वन्ति। किं तत्? भोजनात् पूर्वम् ऊर्ध्वं चाऽऽचामन्ति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कार्याख्यानादपूर्वम्"। 'मे किमन्नं किं वासः' (मेरा क्या अन्न है क्या वस्त्र है?) इस प्रकार प्राणके वागादिसे पूछनेपर वागादियोंने कहा—'यदिदं किमाश्वभ्य०' (कृमिसे लेकर श्वानपर्यन्त जो यह प्रसिद्ध अन्न है वह तेरा अन्न है, जल तेरा वस्त्र है) इस प्रकार सब प्राणी जो अन्न खाते हैं वह प्रसिद्ध श्वादिपर्यन्त अन्न तेरा अन्न है जल आच्छादन है—इस प्रकार उपासकोंको ध्यान करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। दोनों शाखाओंमें किसी समान श्रुतिका प्रतिपादन करके विशेषश्रुति कहते हैं—"अनन्तरं च" इत्यादिसे। इससे—जल प्राणका वस्त्र है, भोजन करते हुए श्रोत्रिय इसे करते हैं। वह क्या है? अर्थात् भोजनके पूर्व और पीछे आचमन करते हैं उस जलसे प्राणका आच्छादन करते हैं, जलसे आचमन करना प्राणका

उस स्मृतिकी यह श्रुति मूल है ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि वर्णाश्रमधर्मका प्रकरण न होनेसे इसका विषय भिन्न है। उक्त स्मृतिकी मूलभूत दूसरी श्रुतिका अनुमान करना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि आचमनके स्मृतिसे प्राप्त होनेसे अनग्नताबुद्धि ही प्राणोपासकके प्रति विधेय है।

भाष्य

मन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति। तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते। तत् किमुभयमपि विधीयते, उताऽऽचमनमेव, उताऽनग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते। किं तावत् प्राप्तम्? उभयमपि विधीयते इति। कुतः? उभयस्याऽप्यवगम्यमानत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

हैं, ऐसा वे मानते हैं, 'तस्मादेवंविद०' (इसलिए ऐसा जाननेवाले भोजनके पहले और पश्चात् आचमन करते हैं वस प्राणको अनग्न करते हैं) ऐसा माध्यन्दिनोंका पाठ है। उसमें आचमन और प्राणका अनग्न रूपसे चिन्तन प्रतीत होता है। उसपर विचार किया जाता है कि क्या उन दोनोंका विधान है? या आचमनका या अनग्नताचिन्तनका? क्या प्राप्त होता है?

रत्नप्रभा

इति यत् तदद्भिः प्राणं परिदधति—आच्छादयन्तीत्यर्थः। पूर्वोत्तरासु आचमनसम्बन्धिनीषु अप्सु प्राणवासस्त्वचिन्तनरूपमनग्नताध्यानं कार्यमिति भावः। तत्—तस्मात्, इति उक्तार्थे यतः पूर्वे विद्वांसोऽशनात् प्राक् ऊर्ध्वं चाचामन्त एतमेव अनम्—प्राणं तत् तेनाचमनेनानग्नम्—आच्छादितं कुर्वन्तो मन्यन्ते—चिन्तयन्ति। तस्माद् एवंविद् इदानीन्तनोऽप्युपासकः एवं कुर्यादिति वाजिश्रुत्यर्थः। अत्रोभयोरप्यपूर्वत्वात् संशयमाह—तत्किमिति। सन्दिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषात् निर्णयवदाचामन्तीति पदस्य विधित्वसन्देहे आचामेदिति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णय इति दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। ज्ञानसाधनोपासनाङ्गविधिविचारात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

आच्छादन है, यह अर्थ है। भोजनके पूर्व और भोजनके पश्चात् आचमनसम्बन्धी जलमें प्राणके वस्त्ररूपसे चिन्तनरूप अनग्नताका ध्यान करना चाहिए [यह जल प्राणका वस्त्र है इससे यह प्राण अनग्न है—ऐसा ध्यान करना चाहिए] यह भाव है। तत्—इससे, यह उक्त अर्थमें है, पूर्वके विद्वानोंने भोजनके पहले और भोजनके पीछे आचमन किया है, अतः उस आचमन द्वारा इसी अनको–प्राणको अनग्न—आच्छादित किया है, ऐसा माना है—चिन्तन किया है। इसलिए इस प्रकारके ज्ञानवान् आधुनिक उपासकोंको भी ऐसा ही करना चाहिए, यह वाजि, श्रुतिका अर्थ है। इसमें आचमन और अनग्नरूपसे चिन्तन ये दोनों ही अपूर्व हैं, अतः संशय कहते हैं—"तत्किम्" इत्यादिसे। संदिग्ध सदुपक्रमका पूर्व अधिकरणमें जैसे वाक्यशेषसे निर्णय किया गया है, वैसे ही 'आचामन्ति' यह पद विधिवाचक है या नहीं, ऐसा सन्देह होनेपर 'आचामेत्' इस वाक्यशेषसे विधिवाचक है, ऐसा निर्णय करना चाहिए, ऐसी दृष्टान्तसंगतिसे

भाष्य

उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद् विध्यर्हम् । अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मिन् विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः; नाऽऽचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते—कार्याख्यानात् ।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—दोनोंका विधान है, ऐसा [प्राप्त होता है] किससे ? दोनोंकी प्रतीति होती है, इससे । किञ्च, दोनों अपूर्व हैं, इसलिए विधिके योग्य भी हैं । अथवा आचमनका ही विधान हो, क्योंकि उसमें विधिबोधक विभक्ति स्पष्टरूपसे भासती है—'तस्मादेवंविद' (इससे, ऐसा जाननेवाला-विद्वान् भोजन करनेके पूर्वमें आचमन करे और भोजन करके आचमन करे । और अनग्नताका सूचन भी उसीकी स्तुतिके लिए है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—कार्यरूपतः आख्यान होनेसे आचमनमें विधेयत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि कार्यरूपसे स्मृति

रत्नप्रभा

पादसंगतिर्बोध्या । पूर्वपक्षे प्राणविद्याङ्गत्वेनाऽपूर्वाचमनं विहितमन्यत्रोपसंहर्तव्यमिति फलम्, सिद्धान्ते तस्याऽविधेयत्वात् नाऽङ्गत्वेनोपसंहार इति विवेकः । उभयविधाने वाक्यभेदः स्यादित्यरुच्या पक्षान्तरमाह—अथवेति । प्रशस्तं हीदमाचमनम्, यस्मादनेन प्राणमनग्नं मन्यन्त इति स्तुतिः ।

'प्रसिद्धानुवादेनाप्रसिद्धं विधेयम्' इति न्यायेन सिद्धान्तयति—एवमिति । प्रयतस्य—प्रयत्नवतो भावः प्रायत्यम्—शुद्धिः, तदर्थमित्यर्थः । स्मृत्या शुद्ध्यर्थं कार्यत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्ष करते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे । ज्ञानसाधन जो उपासनाकी अङ्गविधि है, उसका यहां विचार होनेसे पादकी संगति है, ऐसा समझना चाहिए । पूर्वपक्षमें प्राणविद्याके अंगरूपसे अपूर्व आचमनका जो विधान है, उसका अन्यत्र उपसंहार करना चाहिए, यह फल है और सिद्धान्तमें आचमन विधेय न होनेसे अङ्गरूपसे उसका उपसंहार नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें विवेक है । आचमन और अनग्नरूपसे चिन्तन, यदि इन दोनोंका विधान माना जाय, तो वाक्यभेद होगा, अरुचिसे अन्य पक्ष कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । यह आचमन प्रशस्त है, क्योंकि इससे प्राणको अनग्न मानते हैं, ऐसी स्तुति है ।

प्रसिद्धका अनुवाद करके अप्रसिद्धका विधान होता है इस न्यायसे सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । प्रयतस्य—प्रयत्नवान् का जो भाव वह प्रायत्य–शुद्धि है, तदर्थम्—

भाष्य

प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वेनाऽऽचमनं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते। नन्वियं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात्; नेत्युच्यते, विषयनानात्वात्। सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं प्रापयति। श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात्। न च भिन्नविषययोः श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते। न चेयं श्रुतिः

भाष्यका अनुवाद

प्रसिद्ध जो यह आचमन शुद्धिके लिए प्राप्त है, उसका अन्वाख्यान है। यदि कोई शङ्का करे कि यह श्रुति उस स्मृतिकी मूल है, तो नहीं ऐसा कहते है, क्योंकि विषय-भिन्न है—सामान्यविषयकस्मृति शुद्धिके लिए पुरुषमात्र सम्बन्धी आचमन प्राप्त कराती है। श्रुति तो प्राणविद्याके प्रकरणमें पठित है, इसलिए तद्विषय आचमनका विधान करती हुई विधान करेगी। भिन्नविषयक श्रुति और स्मृतिमें मूलमूलिभाव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यह श्रुति प्राणविद्याके साथ संयुक्त

रत्नप्रभा

विहितं सकलकर्माङ्गतया प्राप्ताचमनानुवादेन अपूर्वमनग्नताध्यानमेव विधीयत इति सूत्रार्थः। स्मार्तमाचमनं श्रुत्या नानूद्यते किंत्वनया श्रुत्या विहितं स्मृत्याऽनूद्यत इति शङ्कते—नन्विति। श्रुतिस्मृत्योरनयोर्न मूलमूलिभावः भिन्नविषयत्वात् इति परिहरति—नेति। 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेद्' इत्याद्या स्मृतिः। आचमनान्तरविधिमुपेत्य मूलमूलित्वं निरस्तम्, सम्प्रति विधिरसिद्ध इत्याह—न चेयं श्रुतिरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

उस शुद्धिके लिए [अर्थात् प्रायत्यर्थ माने शुद्ध्यर्थ—शुद्धिके लिए] यह अर्थ है। स्मृतिद्वारा शुद्धिके लिए कार्यरूपसे आचमनका विधान है, इसलिए सकल कर्मके अङ्गरूपसे प्राप्त आचमनका अनुवाद करके अपूर्व जो जलका अनग्नरूपसे चिन्तन है उसका ही विधान किया जाता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। स्मृतिमें कहे गये आचमनका श्रुतिद्वारा अनुवाद नहीं किया जाता, किन्तु इस श्रुतिमें विहितका स्मृति द्वारा अनुवाद किया जाता है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृति इन दोनोंका विषय भिन्न होनेसे इनमें मूलमूलिभाव नहीं है—एकका मूल दूसरा है, एक मूल है और दूसरा उसके आधारपर है, ऐसा इन दोनोंमें सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। 'द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्, (ब्राह्मण नित्य आचमन करे) इत्यादि स्मृति है। अन्य आचमन विधिका स्वीकार करके मूलमूलिभावका निरसन किया जा चुका है, अब विधान ही असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"न चेयं श्रुतिः" इत्यादिसे। "अत एव" इत्यादि। आचमनविधिका अभाव होनेसे

भाष्य

प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अत एव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्यं भिद्येत, तस्मात् प्राप्तमेवाशिशिषतामशितवतां चोभयत आचमनमनूद्य 'एतमेव तदनमग्ननं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (छा० ६।१।१४) इति प्राणस्याऽनग्नताकरणसंकल्पोऽनेन वाक्येनाऽऽचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धित्वेनाऽपूर्व उपदिश्यते। न चाऽयमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्, आचमनस्याऽविधेयत्वात्, स्वयं चाऽनग्नतासंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः। न चैवं सत्येकस्याऽऽचमनस्योभयार्थताभ्युपगता भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति, क्रियान्तरत्वा-

भाष्यका अनुवाद

अपूर्व आचमनका विधान करेगी, यह स्वीकार नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पुरुषमात्र संयोगी पूर्व आचमनका ही यहाँ प्रत्यभिज्ञान होता है। इसी कारणसे उभयका भी विधान नहीं हो सकता है, क्योंकि उभयके विधानमें वाक्यभेद हो जायगा। इससे जो भोजनके लिए तयार हैं और जिन्होंने भोजन कर लिया है, उन दोनोंको ही प्राप्त हुए आचमनका अनुवाद करके 'एतमेव०' (इसी प्राणको उस आचमनसे अनग्न करते हैं, ऐसा वे मानते हैं) इस वाक्यसे प्राणको अनग्न करनेका सङ्कल्प आचमनीय जलमें प्राणविद्याके सम्बन्धिरूपसे अपूर्व उपदिष्ट है। और यह अनग्नतावाद आचमनकी स्तुतिके लिए है, यदि ऐसी शङ्काकी जाय, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि आचमन विधेय नहीं है और अनग्नता सङ्कल्प स्वयं विधेय है ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा होनेपर एक ही आचमनके दो प्रयोजन होंगे—एक शुद्धि प्रयोजन और दूसरा परिधान प्रयोजन, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि क्रियान्तरका स्वीकार किया

रत्नप्रभा

अत एवेति। आचमनविध्यभावादेवेत्यर्थः। अप्सु प्राणवासस्त्वध्यानाख्यः सङ्कल्पः प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयत इत्याह—तस्मादिति। स्वयञ्चेति। अपूर्वत्वादित्यर्थः। शुद्ध्यर्थं विनियुक्तस्याऽऽचमनस्य प्राणाच्छादनार्थत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही, यह अर्थ है। जलमें प्राणका परिधानरूपसे ध्यान करना चाहिए, इस सङ्कल्पका प्राणविद्याके अङ्गरूपसे विधान किया जाता है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। "स्वयं च" इत्यादि। अपूर्व होनेके कारण, यह अर्थ है। शुद्धिके लिए विनियुक्त आचमन प्राणाच्छादनके लिए है,

भाष्य

भ्युपगमात् । क्रियान्तरमेव ह्याचमनं नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याऽभ्युपगम्यते, तदीयासु त्वप्सु वासःसंकल्पनं नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम् । अपि च 'यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६ । १ । १४) इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च । सर्वं तु प्राणस्याऽन्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते । तत्साहचर्याचापोवास इत्यत्रापि नाऽपामाचमनं चोद्यते प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम् । नह्यर्धवैशसं सम्भवति । अपि चाऽऽचामन्तीति वर्तमानापदे-

भाष्यका अनुवाद

गया है ? क्योंकि आचमनरूप अन्य क्रिया पुरुषकी पवित्रताके लिए अभ्युपगत है, और उसके जलमें वस्त्रसंकल्पन नामकी अन्य क्रियाका प्राणके परिधानके लिए स्वीकार किया जाता है, अतः कोई दोष नहीं है । और यदिदं किञ्च०' (श्वान, कृमि, कीट और पतंग पर्यन्त जो यह कुछ है, वह तुम्हारा अन्न है) यहाँ सब अन्नके भक्षणका विधान होता है, ऐसा कहना शक्य नहीं है, क्योंकि वह श्रुति प्रतिपादित नहीं है और अशक्य भी है । सब प्राणका अन्न है, यह अन्न दृष्टिका विधान है, अतः उसके साहचर्यसे 'जल वस्त्र है' इसमें भी जलके आचमनका विधान नहीं है, किन्तु आचमनके योग्य प्रसिद्ध जलमें परिधान दृष्टिका विधान युक्त है, क्योंकि अर्ध विनाशका सम्भव नहीं है । और भी 'आचामन्ति'

रत्नप्रभा

न चैवं सतीति । आचमनस्याच्छादनार्थत्वम् असिद्धमित्यर्थः । किञ्च, यथा पूर्ववाक्ये प्राणस्याऽन्नध्यानमङ्गं विहितम्, तथाऽत्र अप्सु वासोध्यानं विधीयते, अन्यथाचमनविधौ पूर्वत्र ध्यानविधिः, उत्तरत्र क्रियाविधिरित्यर्धवैशसं स्यादित्याह—अपि चेति । भक्षयेदिति शब्दाभावात् श्वाद्यन्नस्य सर्वस्य मनुष्येण उपासकेन भोक्तुमशक्यत्वाच्च न पूर्ववाक्ये क्रियाविधिरित्यर्थः । इतश्चाचमनमत्र न विधेयमित्याह—अपि चेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह विरुद्ध है ऐसी आशंका करके कहते हैं—"न चैवं सति" इत्यादिसे । आचमनका प्रयोजन आच्छादन है, यह असिद्ध है, ऐसा अर्थ है । किंच, जैसे पूर्ववाक्यमें प्राण अन्नध्यानके अंगरूपसे विहित है, वैसे ही यहां जलमें वस्त्रध्यानका विधान है, नहीं तो आचमन विधानमें पूर्वत्र ध्यानविधि और उत्तरत्र क्रिया विधि—ऐसा अर्धनाशरूप दोष होगा, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । 'भक्षयेत्' (भक्षण करे) इस शब्दके न होनेसे और कुत्ते आदिका सब अन्न उपासक मनुष्य नहीं खा सकता, अतः पूर्ववाक्यमें क्रियाविधि नहीं है, यह अर्थ है और

·भाष्य·

शित्वान्नाऽयं शब्दो विधिक्षमः। ननु मन्यन्त इत्यत्रापि समानं वर्तमानापदेशित्वम्। सत्यमेवमेतत्, अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन् वासःकार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवाऽपूर्वं विधीयते, नाऽऽचमनं पूर्ववद्धि तदित्युपपादितम्। यदप्युक्तम्—विस्पष्टा चाऽऽचमने विधिविभक्तिः इति, तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम्। अत एवाऽऽचमनस्याऽविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति; नामनन्ति तस्मादेवं-

भाष्यका अनुवाद

(आचमन करते हैं) यह वर्तमानका कथन है, अतः विधियोग्य यह शब्द नहीं है। परन्तु 'मन्यन्ते' यह भी तो समान ही वर्तमानापदेश है? यद्यपि यह सत्य है; तथापि अन्यतरके अवश्य विधेय होनेपर वस्त्रका कार्यरूपसे कथन होनेसे जलका वस्त्ररूपसे अपूर्व संकल्पन ही विधेय है, आचमन विधेय नहीं है, क्योंकि वह पूर्ववत्—प्राप्त है अर्थात् स्मृतिसे प्राप्त है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। और आचमनमें विधिका प्रत्यय स्पष्ट है, ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है, उसका भी निरसन हुआ, क्योंकि आचमन पूर्ववत्—प्राप्त है। अतः आचमनका विधान करना अभीष्ट न होनेसे 'एतमेव तदन०' इत्यादि स्थलमें ही काण्व पर्य्यवसान—समाप्ति करते हैं और 'तस्मादेवं-

रत्नप्रभा

'अनग्नं मन्यन्ते' इत्यत्र वासस्त्वध्यानमपि न विधेयम्, दोषसाम्यादिति शङ्कते—नन्विति। उभयोरप्यनुवादत्वे वैफल्यादवश्यमेकानुवादेनैकं विधेयम्, तच्च विधेयं वासोध्यानमेव, वासःकार्यस्यानग्नत्वस्याख्यानादपूर्वत्वाच्चेति समाधानार्थः। पूर्ववदिति। स्मृत्या प्राप्तमित्यर्थः। आचामेदिति न विधिः, किन्तु विष्णुरुपांशु यष्टव्य इतिवदनुवादः इत्यत्र लिङ्गमाह—अत एवेति। तस्मादेवंविदशिष्यन् आचामेदशित्वा चाऽऽचामेदिति

रत्नप्रभाका अनुवाद

इससे भी यहां आचमनका विधान नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। 'अनग्नं मन्यन्ते' इसमें जलका वस्त्ररूपसे ध्यान भी विधेय नहीं है, कारण कि दोनों स्थलोंमें दोष समान है, ऐसी आशंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। दोनोंका अनुवाद विफल है, इससे अवश्य ही एकके अनुवादसे अन्य विधेय है और वह वस्त्ररूपसे ध्यान ही विधेय है, क्योंकि वस्त्रका कार्य अनग्न करना—आच्छादित करना कहा है और वह अपूर्व है, ऐसा समाधानका अर्थ है। "पूर्ववत्" इति। स्मृतिसे प्राप्त है, ऐसा अर्थ है। 'आचामेत्' (आचमन करे) यह विधि नहीं है, किन्तु 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' (विष्णुका एकान्तमें यज्ञ करना चाहिए) इसके समान अनुवाद है, इसमें लिंग कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। 'तस्मादेवंविद०'

भाष्य

विदित्यादि। तस्मात् माध्यन्दिनानामपि पाठे आचमनानुवादेनैवंवित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्वं विधीयते इति प्रतिपत्तव्यम्। योऽप्ययमभ्युपगमः क्वचिदाचमनं विधीयते क्वचिद्वासोविज्ञानमिति, सोऽपि न साधुः; आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात्। तस्माद् वासोविज्ञानमेवेह विधीयते, नाऽचमनमिति न्याय्यम्॥ १८॥

भाष्यका अनुवाद

वित्' (इससे ऐसा जाननेवाला) इस प्रकार नहीं कहते हैं। इससे माध्यंदिन शाखा-वालोंके पाठमें भी आचमनके अनुवादसे 'एवं वित्त्वम्'का ही—प्रकृत प्राणको वस्त्र जाननेवाला होनेका ही विधान किया जाता है, ऐसा जानना चाहिए। और कहीं आचमनका विधान और कहीं वस्त्रविज्ञानका विधान है, ऐसा जो स्वीकार किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'जल वस्त्र है' इत्यादि वाक्यकी प्रवृत्ति सर्वत्र एकरूप है। अतः वस्त्रविज्ञानका ही यहाँ विधान है, आचमनका विधान नहीं है, यह न्याय्य—योग्य है॥ १८॥

रत्नप्रभा

वाक्यस्याविधित्वे काण्वैरपठनं लिङ्गमित्यर्थः। तर्हि पाठबलान्माध्यन्दिने आचमन-विधिः, काण्वे ध्यानविधिरिति कस्यचित् मतं निराकरोति—योऽपीति॥ १८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

(इसलिए ऐसा जाननेवाला भोजन करनेके पूर्वमें आचमन करे और भोजन करनेके पश्चात् आचमन करे) यह वाक्य काण्वोंने पढ़ा नहीं है—यही इस वाक्यके विधिवाचक न होनेमें लिंग है, यह अर्थ है। तब पाठके बलसे माध्यन्दिनशाखामें आचमनका विधान है और काण्वशाखामें ध्यानका विधान है—यह किसीका मत है, इसका निराकरण करते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे॥ १८॥



[१० समानाधिकरण सू० १९]

शाण्डिल्यविद्या काण्वाना द्विविधैकविधाऽथवा ।
द्विरुक्तेरेकशाखाया द्वैविध्यमिति गम्यते ॥ १ ॥
एका मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत् ।
विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणे विधिः * ॥ २ ॥

सन्देह—काण्वोंकी शाण्डिल्यविद्या दो प्रकारकी है अथवा एक प्रकारकी है ?

पूर्वपक्ष—एक शाखामें पुनरुक्तिके भयसे दो विद्याएँ हैं, ऐसा प्रतीत होता है ।

सिद्धान्त—मनोमयत्व आदिके प्रत्यभिज्ञानसे एक ही विद्या है एक जगहमें—अग्निरहस्यब्राह्मणमें विद्याकी विधि है और दूसरी जगहमें—बृहदारण्यकमें गुणोंकी विधि है ।

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

पदच्छेद—समाने, एवम्, च, अभेदात् ।

पदार्थोक्ति—[यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैक्यं गुणोपसंहारश्च भवति] एवम्—तथा समाने च—समानायामपि [शाखायाम् भवितु युक्तम्, कुतः ?] अभेदात्—उपास्यस्य मनोमयत्वादिगुणकस्योभयत्राप्यभेदेन प्रत्यभिज्ञानात् ।

भाषार्थ—जैसे भिन्न शाखाओंमें एकही विद्या है और गुणोंका उपसंहार है, वैसे ही समान शाखाओंमें भी हो सकता है, क्योंकि मनोमयत्व आदि गुणवाला उपास्य दोनो स्थलोंमें अभिन्नरूपसे प्रतीत होता है ।

---

* आशय यह है कि काण्वोंके अग्निरहस्यब्राह्मणमें शाण्डिल्यविद्या—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरम्' (उसे मनोमय प्राण ही जिसका शरीर है, उस आत्माकी उपासना करनी चाहिए) इस प्रकार पढ़ी जाती है । और उन्हींके बृहदारण्यकमें वही विद्या—'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्य' (यह पुरुष मनोमय और प्रकाशमान होनेवाला है) इस प्रकार पढ़ी गई है । यहांपर पुनरुक्तिके भयसे पूर्वपक्षी कहता है कि दोनों स्थलोंकी शाण्डिल्यविद्या भिन्न भिन्न है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—मनोमयत्व आदि ध्येयके स्वरूपकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे एक ही विद्या है । पूर्वपक्षी द्वारा आशङ्कित पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि एक जगह विद्याका विधान करके दूसरी जगह उसके अनुवादमें 'अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति' (अग्निहोत्र करता है, दही से हवन करता है) इत्यादिके समान सत्यत्व, सर्वेश्वरत्व आदि गुणोंका विधान हो सकता है । इससे सिद्ध हुआ कि शाण्डिल्यविद्या एक ही प्रकारकी है ।

भाष्य

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता; तत्र च गुणाः श्रूयन्ते—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः। तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' (बृ० ५।६।१) इति। तत्र संशयः—किमियमेका विद्याऽग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्च उत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति। किं तावत् प्राप्तम् ?

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयी शाखाके अग्निरहस्यमें शाण्डिल्य नामसे अङ्कित—चिह्नित और उनसे विज्ञात विद्या है और उस विद्यामें 'स आत्मानमुपासीत०' (उसको मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशरूप आत्माकी उपासना करनी चाहिए) इस प्रकारके गुणोंका श्रवण है। और उसी शाखाके बृहदारण्यक उपनिषत्में 'मनोमयोऽयं पुरुषः०' (पुरुष मनोमय है, प्रकाश ही इसका सत्य अर्थात् स्वरूप है, अर्थात् भास्वर है, हृदयके मध्यमें व्रीहि या यवके परिमाणवाला पुरुष है, वह सबका स्वामी है सबका अधिपति और सबका अधिष्ठानरूपसे पालन करता है, यह जो कुछ है उसका—सर्व जगत्का वह शासन करता है)। यहांपर संशय होता है कि अग्निरहस्य और बृहदारण्यकमें यह एक ही विद्या है और उसमें परस्पर गुणोंका उपसंहार है या दो विद्याएँ हैं और गुणोंका उपसंहार नहीं होता है। तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

समान एवं चाभेदादिति। शाण्डिल्येन दृष्टा तन्नाम्नाऽङ्किता, अन्तर्हृदये व्रीह्यादिवत् सूक्ष्मं तिष्ठतीत्यर्थः। अभ्यासप्रत्यभिज्ञाभ्यां संशयमाह—तत्रेति। गुणानुपसंहारोपसंहारौ पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम्। पूर्वत्र प्राप्ताचमनानुवादेनाऽनग्नताध्यानविधिरुक्तः, इह त्वेकशाखायां विप्रकृष्टदेशस्थवाक्ययोरेकस्य विधित्वमन्यस्यानुवादत्वमित्यनिश्चयाद् द्वयोरपि विद्याविधित्वमिति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"समान एवं चाभेदात्"। शाण्डिल्यसे देखी गई और उसके नामसे अंकित—चिह्नित—विशेषित हुई विद्या शाण्डिल्य विद्या है। अन्तर्हृदये—हृदयके अन्दर व्रीहि आदिके समान सूक्ष्म है, ऐसा अर्थ है। अभ्यास और प्रत्यभिज्ञा इन दोनोंसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। गुणोंका अनुपसंहार पूर्वपक्षका और उपसंहार उत्तरपक्षका फल है। पूर्व अधिकरणमें प्राप्त आचमनके अनुवादसे अनग्नताध्यानकी विधि कही गई है, यहां तो एक शाखामें दूर देशस्थ वाक्योंमें एक विधिवाक्य और दूसरा अनुवाद है, ऐसा निश्चय न होनेसे दोनों

भाष्य

विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति। कुतः? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात् पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्राऽतिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्थैका विद्या भवितुमर्हति। न चाऽत्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति। तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—विद्याका भेद है और गुणोंकी व्यवस्था है, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? पुनरुक्तिका प्रसङ्ग होनेसे। भिन्न शाखाओंमें अध्येता और वेदिताके भेदसे पुनरुक्तिका परिहारकर विद्याकी एकताका निश्चय करके एक विद्यामें भिन्न गुणोंका अन्य विद्यामें उपसंहार होता है, प्राणसंवाद आदिमें ऐसा कहा गया है। एक शाखामें अध्येता और वेदिताका भेद न होनेसे पुनरुक्तिका परिहार नहीं हो सकनेसे दूर स्थानमें स्थित दोनों एक विद्या हों, यह युक्त नहीं है। यहां एक श्रुति विद्याका विधान करनेके लिए है और दूसरी श्रुति गुणोंका विधान करनेके लिए है, ऐसा विभाग भी नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसी अवस्थितिमें भिन्न गुणोंकी ही स्थल स्थलपर श्रुति होगी, समान गुणोंकी

रत्नप्रभा

किं तावदिति। यत्पुनरुक्तं तद्विद्यान्तरमिति न व्याप्तिः प्राणपञ्चाग्न्यादिविद्यासु व्यभिचारात् इत्याशङ्क्य शाखाभेदे पुनरुक्तिः असिद्धा इत्युक्तमित्याह—भिन्नास्विति। यथाऽग्निहोत्रवाक्ये कर्मणि विधिः, 'दध्ना जुहोति' इति वाक्ये गुणविधिः, तथाऽत्राऽप्यस्तु, न विद्याभेद इत्याशङ्क्याह—न चाऽत्रैकमिति। उक्तगुणानां पुनरुक्तिर्वृथा स्यात्, अतोऽभ्यासाद्विद्याभेदः प्रयाजभेदवदिति भावः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्योंमें विद्या विधि है, इस प्रकारके प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे। जो पुनरुक्त है वह दूसरी विद्या है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है, क्योंकि प्राणपञ्चाग्नि आदि विद्याओंमें व्यभिचार है, ऐसी आशंका करके भिन्न शाखाओंमें पुनरुक्ति असिद्ध है, यह कहा गया है, ऐसा कहते हैं—"भिन्नासु" इत्यादिसे। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस अग्निहोत्रवाक्यमें कर्मविधि है और [इस अर्थका अनुवाद करके] 'दध्ना जुहोति' इस वाक्यमें गुणविधि है, वैसे ही यहां भी हो, विद्याभेद न हो, ऐसी आशंका करके कहते हैं—"न चात्रैकम्"

भाष्य

चाम्नायेरन्न समानाः, समाना अपि तूभयत्राऽऽम्नायन्ते मनोमयत्वादयः, तस्मान्नाऽन्योन्यं गुणोपसंहार इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति, उपास्याभेदात् । तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राऽप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमहे । उपास्यं च रूपं विद्यायाः । न च विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः । नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम् । ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद् विद्याभेदोऽध्यवसितः । नेत्युच्यते, अर्थविभागोपपत्तेः । एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते । नन्वेवं सति यदपठितमग्निरहस्ये तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम् 'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि ।

भाष्यका अनुवाद

नहीं होगी । परन्तु दोनों स्थलोंमें मनोमयत्व आदि समान गुणोंकी ही श्रुति है, इसलिए अन्योन्यके गुणोंका उपसंहार नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जैसे भिन्न-भिन्न शाखाओंमें एक ही विद्या है और गुणोंका उपसंहार होता है, वैसे एक शाखामें भी होना युक्त है, क्योंकि उपास्यका अभेद है । मनोमयत्व आदि गुणवाला वही एक ब्रह्म दोनों स्थलोंमें उपास्य है, ऐसा हमको प्रत्यभिज्ञान होता है । और विद्याका रूप उपास्य है और रूपके अभेदके विद्यमान रहते विद्याके भेदका निश्चय नहीं कर सकते । और विद्याके अभिन्न होनेपर गुणोंकी व्यवस्था नहीं कर सकते । परन्तु हमने [पूर्वपक्षीने] पुनरुक्तिकी प्राप्ति होनेसे विद्याके भेदका निश्चय किया है । नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अर्थका विभाग है, कारण कि एक श्रुति विद्याका विधान करनेके लिए है और दूसरी श्रुति गुणोंका विधान करनेके लिए है, इस प्रकार कुछ भी अनुपपन्न नहीं होता । परन्तु ऐसा होनेपर अग्निरहस्यमें जो गुण नहीं पढ़े गये हैं, बृहदारण्यकमें उन्हींका कथन होना युक्त है—'स एष सर्वस्येशानः' (वह यह सबका स्वामी है)

रत्नप्रभा

उक्तगुणोक्तिर्न वृथा कतिपयगुणविशिष्टोपास्याभेदप्रत्यभिज्ञानार्थत्वात्, अतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । उक्त गुणोंकी पुनरुक्ति व्यर्थ होगी, इसलिए अभ्यासरो प्रयाजभेदके समान विद्या भेद है, यह मान है । उक्त गुणोंकी उक्ति व्यर्थ नहीं होगी, क्योंकि कतिपय गुणोंसे विशिष्ट

भाष्य

यत्तु पठितमेव 'मनोमयः' इत्यादि तन्न पठितव्यम् । नैष दोषः, तद्बलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात् । समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते । अन्यथा हि कथं तस्यामयं गुणविधिरभिधीयते । अपि चाऽप्राप्तांशोपदेशेनाऽर्थवति वाक्ये संजाते प्राप्तांशपरामर्शस्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपेक्षितुं शक्यते । तस्मादत्र समानायामपि शाखायां विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि । और मनोमय इत्यादि जो पढ़े गये हैं, उन्हें नहीं पढ़ना चाहिए । यह दोष नहीं है, क्योंकि उसके बलसे ही अन्य प्रदेशमें पठित विद्याका प्रत्यभिज्ञान होता है, क्योंकि समान गुणोंकी श्रुतिसे दूरदेशकी शाण्डिल्य विद्याका प्रत्यभिज्ञान कराकर उसमें ईशानत्व—स्वामित्व आदिका उपदेश किया जाता है । नहीं तो उसमें यह गुणविधान कैसे कहा जायगा, और अप्राप्त अंशके उपदेशसे वाक्यके अर्थवान् होनेपर प्राप्त अंशका परामर्श नित्य अनुवादरूपसे भी उपपन्न होता है, अतः उसके बलसे प्रत्यभिज्ञाकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । इसलिए यहां समान शाखामें भी विद्याकी एकता और गुणोंका उपसंहार उपपन्न है ॥१९॥

रत्नप्रभा

उपास्यरूपाभेदात् भिन्नशाखायामपि विद्यैक्यमिति सिद्धान्तसूत्रं योजयति—यथेति । सौत्रश्चकारोऽप्यर्थो व्याख्यातः; यत्र बहवो गुणाः श्रुताः तत्र प्रधानविधिः, अन्यत्र तदनुवादेन गुणविधिरिति निश्चयादग्निरहस्ये प्रधानविधिः, उत्तरत्र गुणविधिरिति भावः ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपास्य अभिन्न है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा करानेके लिए गुणोंकी उक्ति है, अतः उपास्यका स्वरूप अभिन्न होनेसे भिन्न शाखाओंमें भी विद्याका ऐक्य है, इस प्रकार सिद्धान्त सूत्रकी योजना करते हैं—"यथा" इत्यादिसे । सूत्रगत चकार 'अपि'के अर्थमें है, इसकी व्याख्या हो चुकी है । जहांपर श्रुतिमें बहुत गुणोंका विधान है, वहां प्रधानविधि है, अन्यत्र उसके अनुवादसे गुणविधि है इस प्रकारके निश्चयसे अग्निरहस्यमें प्रधानविधि है और उत्तरमें गुणविधि है, यह भाव है ॥ १९ ॥



[११ सम्बन्धाधिकरण सू० २०]

संहारः स्याद् व्यवस्था वा नाम्नोरहरहं त्विति ।
विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥ १ ॥

तस्योपनिषदित्येवं भिन्नस्थानत्वदर्शनात् ।
*स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अहः' और 'अहम्' इन नामोंका दोनों जगह उपसंहार करना चाहिए या नहीं ।

पूर्वपक्ष—एक विद्या होनेसे अध्यात्म और अधिदैव नामोका दोनों स्थलोंमे उपसंहार होता है ।

सिद्धान्ती—'तस्य उपनिषत्' (उसका रहस्य नाम) इस प्रकार भिन्न स्थान दिखाई देता है, इसलिए बैठे हुए और खडे हुए गुरुकी उपासनाकी तरह नामोंकी व्यवस्था है ।

---

* बृहदारण्यकमें सत्यविद्यामें आधिदैविक पुरुष आदित्यका 'अहः' यह नाम ध्यानके लिए उपदिष्ट है, और आध्यात्मिक अक्षि पुरुषका 'अहम्' यह नाम उपदिष्ट है । यहांपर एक विद्या होनेसे दोनों नामोंका दो पुरुषोंमें उपसंहार है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर ।

सिद्धान्ती कहते है—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' (जो यह इस मण्डलमें पुरुष है) ऐसा उपक्रम करके 'तस्योपनिषदहः' (उसका उपनिषद् अहः है) इस श्रुतिमें विद्यमान 'तद्' शब्दसे मण्डलमें रहनेवाले पुरुषका परामर्श करके उसीका एक (पुरुषका) नाम कहा गया है । वैसे 'योऽयं दक्षिणे' (जो दहिने नेत्रमें पुरुष है) इसका उपक्रम करके 'तस्योपनिषदहम्' इस श्रुतिके 'तत्' शब्दसे अक्षि–चक्षुमें रहनेवाले पुरुषको लक्ष्यकर उसीका नामविशेष बतलाया गया है । इसलिए विद्याके एक होनेसे वेद्य सत्यरूप ब्रह्मके एक होनेपर भी किसी स्थानविशेषमें केवल कटाक्षसे नामका विधान होनेसे आध्यात्मिक और आधिदैविकमें नामोंकी व्यवस्था हो सकती है, परन्तु उन नामोंका उपसंहार नहीं हो सकता है । जैसे लोकमें उपास्य गुरु एक है, तथापि खड़े हुए गुरुजीके लिए जो उपचार है, वह उपचार बैठे हुए गुरुजीके लिए नहीं हो सकता है और आसीन गुरुके लिए जो पैर दबाना आदि उपचार है वह खड़े हुए गुरुके लिए नहीं हो सकता है, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए, इससे नामकी व्यवस्था है, उपसंहार नहीं है ।

संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

पदच्छेद—सम्बन्धात्, एवम्, अन्यत्र, अपि ।

पदार्थोक्ति—सम्बन्धात्—यथा शाण्डिल्यविद्यायामेकशाखायां विभागेनाधीतायामेकविद्यात्वसम्बन्धात् [अन्योन्यं गुणोपसंहारः पूर्वमुक्तः] एवम्—तथा, अन्यत्राऽपि—भिन्नस्थलेऽपि [सत्यविद्यायां भवितुमर्हति, एकविद्यात्वसम्बन्धात्, इति पूर्वपक्षः]

भाषार्थ—एक शाखामें विभागरूपसे अधीत शाण्डिल्यविद्यामें एकविद्यात्वसम्बन्धसे परस्पर गुणोपसंहार जैसे पूर्वमें कहा गया है, वैसे अन्य स्थलमें भी सत्यविद्यामें एकविद्यात्वरूप सम्बन्धसे परस्पर गुणोपसंहार हो सकता है, ऐसा पूर्वपक्ष है ।

भाष्य

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५ । ५ । १) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५ । ५ । २) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणोऽधिदैवतमध्यात्मं चाऽऽयतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते । 'तस्योपनिषदहः' इत्यधिदैवतम् । 'तस्योपनिषदहम्' इत्यध्या-

भाष्यका अनुवाद

बृहदारण्यकमें 'सत्यं ब्रह्म' (सत्य ब्रह्म है) इस प्रकार उपक्रम करके 'तद्यत्तत् सत्यमसौ०' (उसमें जो वह सत्य ब्रह्म है, वह यह आदित्य है, जो इस आदित्यमण्डलमें अभिमानी पुरुष है और जो इस दक्षिण नेत्रमें पुरुष है) इस प्रकार उसी सत्य ब्रह्मके अधिदैवत और अध्यात्म स्थानविशेषका उपदेश करके और व्याहृति उसका शरीर है, ऐसा सम्पादन करके दो उपनिषदोंका—रहस्य नामोंका उपदेश किया जाता है । 'अहः' इसका अधिदैवत उपनिषत्—रहस्य नाम है

रत्नप्रभा

सम्बन्धादेवमन्यत्रापीति । सद्—भूतत्रयम्, त्यद्—वाय्वाकाशात्मकम्, सत्यम्—परोक्षभूतात्मकं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मोपक्रम्य तद् उक्तं यत्सत्यम् ततः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

"संबन्धादेवमन्यत्रापि" । सत् अर्थात् पृथिवी, जल और तेज ये तीन भूत, त्यत्—वायु और आकाश, सत्य—परोक्षभूतात्मक हिरण्यगर्भसंज्ञक ब्रह्म, उसका उपक्रम करके जो

भाष्य

त्मम्। तत्र संशयः—किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्राऽनुसंधातव्ये उत विभागेनैकाऽधिदैवतमेकाऽध्यात्ममिति।

तत्र सूत्रेणैवोपक्रमते। यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां

भाष्यका अनुवाद

और 'अहम्' अध्यात्म उपनिषद्—रहस्य नाम है। यहांपर संशय होता है कि क्या अविभागसे ही दोनों उपनिषदोंका दोनों स्थलोंमें अनुसन्धान करना चाहिए या विभागसे एक अधिदैव है और एक अध्यात्म है, इस प्रकार अनुसन्धान करना चाहिए ऐसा संशय उपस्थित होनेपर उपक्रम करते हैं। जैसे भेदसे अधीत होनेपर भी

रत्नप्रभा

योऽसावादित्य.। किं मण्डलम्? न, तत्र स्थाने पुरुषः करणात्मकः स एवाऽध्यात्ममक्षिस्थानस्थ इत्युपदिश्य 'तस्य भूरिति शिर.' 'भुव इति बाहु.' 'स्वरिति पादौ' (बृ० ५।५।३) इति व्याहृतिरूपं शरीरकमुक्त्वा द्वे उपनिषदौ रहस्यदेवतानामनी उपदिश्येते, तस्य आदित्यमण्डलस्थस्य अहरिति नाम प्रकाशकत्वात्, तस्य अक्षिस्थस्य अहमिति नाम प्रत्यक्त्वादिति इदं नामद्वयं विषयः। तत्र नामिनः सत्याख्यस्य ब्रह्मण एकत्वात् स्थानभेदोक्तेश्च संशयमाह—तत्रेति। पूर्वपक्षे प्रतिस्थानं नामद्वयानुष्ठानम्, सिद्धान्ते यथाश्रुत्येकैकनामानुष्ठानमिति फलम्। दृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—यथेति। यथा—विद्यैक्यादुपसंहार उक्त', एवमन्यत्रापि एकविद्यायामुपसंहारो भवितुमर्हतीत्यर्थः। 'सत्यं ब्रह्म' इत्युपक्रमाभेदः, 'तावेतौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्य—ब्रह्म कहा गया है वह यह आदित्य है। क्या आदित्य आदित्यमण्डल है? [क्या आदित्यशब्दसे यहां आदित्य मण्डलका ग्रहण है?] नहीं, उस मण्डलमें इन्द्रियात्मक जो पुरुष है, वही पुरुष अध्यात्म नेत्रस्थानमें स्थित है, ऐसा उपदेश करके 'तस्य भूरिति शिर •' (उसका 'भू' यह शिर है, 'भुव' यह बाहु है और 'स्व' यह पाद है) ऐसा व्याहृतिरूप शरीर कहकर दो उपनिषदोंका—रहस्य देवतानामोंका [श्रुतिसे] उपदेश किया जाता है। उस आदित्यमण्डलमें स्थित पुरुषका प्रकाशक होनेसे 'अह•' ऐसा नाम है, उस अक्षिस्थ पुरुषका प्रत्यक् होनेसे 'अहम्' ऐसा नाम है, इस प्रकार ये दो नाम अधिकरणके विषय हैं। यहांपर जिसके ये दो नाम हैं, उस सत्यसंज्ञक ब्रह्मके एक होनसे और उसके स्थानके भेदका कथन होनेसे भी संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें प्रत्येक स्थानमें दोनों नामोंका अनुष्ठान है, और सिद्धान्तमें श्रुतिके अनुसार एक-एक नामका अनुष्ठान है—[जिस-जिस स्थानमें जो-जो नाम है उसका अनुष्ठान है] ऐसा पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें फल है। दृष्टान्तसंगतिसे इस पूर्वपक्षसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। जैसे पूर्व

भाष्य

गुणोपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति एकविद्याभिसम्बन्धात् । एका हीयं सत्यविद्याऽधिदैवमध्यात्मं चाऽधीता उपक्रमाभेदाद् व्यतिषक्तपाठाच । कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात् । यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति । तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥ २० ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

भाष्यका अनुवाद

शाण्डिल्यविद्यामें गुणोंका उपसंहार कहा गया है, इसी प्रकार इस तरहके विषयमें अन्य स्थलोंमें भी होना युक्त है, क्योंकि एक विद्याका सम्बन्ध है, कारण कि अधिदैवत और अध्यात्मरूपसे पठित सत्यविद्या एक ही है, उपक्रमका अभेद होनेसे और परस्परसम्बद्ध पाठ होनेसे। एक विद्यामें कथित धर्म उसी विद्यामें क्यों न हों, क्योंकि आचार्यके विषयमें अनुगमन आदि जिस किसी एक आचारका विधान है, आचार्य चाहे ग्राममें हो चाहे अरण्यमें हो तो भी वह तुल्य ही होता है। इसलिए दोनों उपनिषदोंकी दोनों स्थलोंमें प्राप्ति है ॥ २० ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर समाधान करते हैं—

रत्नप्रभा

अक्ष्यादित्यपुरुषौ अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ, (बृ० ५।५।१) आदित्यरश्मीनां चक्षुषि, चक्षुषश्चादित्ये प्रतिष्ठानादिति। व्यतिषक्तपाठः—मिथःसंश्लेषपाठः, ताभ्यां विद्यैक्यसिद्धिः । विद्यैक्येऽपि किं स्यात्? तत्राह—कथमिति। विद्यैक्येऽपि स्थानभेदादुपनिषदोरसङ्करः स्यादित्याशङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति—यो हीति ॥२०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधिकरणमें विद्याके ऐक्यसे गुणोंका उपसंहार कहा गया है, ऐसे ही अन्यत्र भी एक विद्यामें उपसंहार हो सकता है, ऐसा अर्थ है। 'सत्यं ब्रह्म' ऐसा उपक्रमका अभेद है। 'तावेतौ' (वे दोनों ये) अक्षिस्थ और आदित्यमण्डलस्थ पुरुष 'अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ' (परस्पर प्रतिष्ठित हैं) आदित्य-रश्मियोंका—सूर्यकी किरणोंका चक्षुमें और चक्षुका आदित्यमें प्रतिष्ठान होनेसे। व्यतिषक्त पाठ—परस्परसम्बद्ध पाठ। उपक्रमके अभेदसे और परस्परसम्बद्ध पाठ होनेसे विद्याका ऐक्य सिद्ध हुआ। विद्याके ऐक्यकी सिद्धि होनेपर भी क्या होगा? उसपर कहते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। विद्याका ऐक्य है, तो भी स्थानभेदसे दोनों उपनिषदोंका असङ्कर हो—वे दोनों भिन्न भिन्न रहें—संकीर्ण न हों, ऐसी आशङ्का करके दृष्टान्तसे उसका परिहार करते हैं—"यो हि" इत्यादिसे ॥ २० ॥

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

पदच्छेद—न, वा, विशेषात् ।

पदार्थोक्ति—न वा—नैव [उभयत्रोपसंहारो विधेयः, कुतः ?] विशेषात्—'तस्याहः' इति, 'तस्यामहम्' इति चायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवोपनिषदोर्विशेषोपदेशात् [इति न पूर्वोक्तपूर्वपक्षस्याऽवसरः] ।

भाषार्थ—दोनों स्थलोंमें उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'तस्याहः' 'तस्यामहम्' इस प्रकार आयतन विशेषके आश्रयसे ही दो उपनिषदोंमें विशेषका उपदेश है, अतः पूर्वोक्त पूर्वपक्षका अवसर नहीं है ।

भाष्य

न वोभयोरुभयत्र प्राप्तिः । कस्मात् ? विशेषात्, उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः । कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इत्युच्यते—'य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः' (बृ० ५ । ५ । ३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य 'तस्योपनिषदहः' इति श्रावयति, योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५ । ५ । ४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य 'तस्योपनिषदहम्' इति ।

भाष्यका अनुवाद

अथवा दोनोंकी दोनों स्थलोंमें प्राप्ति नहीं है, किससे ? विशेषसे अर्थात् उपासनाका स्थानविशेषके साथ सम्बन्ध होनेसे । स्थानविशेषके साथ सम्बन्ध किस प्रकार है, इसपर कहते हैं—'य एष एतस्मिन्०' (जो यह इस मण्डलमें पुरुष है) इस प्रकार आधिदैविक पुरुषको प्रस्तुत करके उसका उपनिषद्—रहस्य नाम 'अहः' है, ऐसा श्रुति श्रवण कराती है । 'योऽयं दक्षिणे०' (जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है) इस प्रकार अध्यात्म पुरुषका उपक्रम करके उसका

रत्नप्रभा

नाम्नैक्यात् नामसङ्करो युक्तः, तथा चाऽक्षिस्थः अहरिति नामवान्, सत्यब्रह्मत्वाद्, आदित्यस्थाहरिति नामवत्, इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं योजयति—न वेति । नाम्नोरुपासनस्थानविशिष्टसम्बन्धित्वादित्यर्थः । 'तस्योपनिषदहरहम्' (बृ० ५।५।२)

रत्नप्रभाका अनुवाद

नामोंके—'अहः' और 'अहम्' ये दो नाम जिस सत्य, ब्रह्मके हैं, उसके एक होनेसे नामोंका संकर ठीक है, इसलिए अक्षिस्थ पुरुष 'अहः' नामवाला है, सत्य ब्रह्म होनेसे, आदित्यस्थ पुरुषके समान, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रकी योजना करते हैं—

भाष्य

तस्येति चैतत् संनिहितावलम्बनं सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते। कुत उभयोरुभयत्र प्राप्तिः? नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः, एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात्। सत्यमेवमेतत्, एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात् तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हति। अस्ति चाऽयं दृष्टान्तः सत्यप्याऽऽचार्यस्वरूपानपाये यदाचार्यस्याऽऽसीनस्याऽनुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति, यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति। ग्रामारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्

भाष्यका अनुवाद

उपनिषद्—रहस्य नाम 'अहम्' है ऐसा श्रुति श्रवण कराती है। 'तस्य' यह शब्द निकटवर्तीका अवलम्बन करनेवाला सर्वनाम है, इसलिए स्थान विशेषके सम्बन्धसे ही इन दो उपनिषदोंका उपदेश किया जाता है। दोनो उपनिषदोंकी दोनों स्थलोंपर प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। अध्यात्म और अधिदैवत एक ही पुरुष है, क्योंकि एक ही सत्य ब्रह्मका दो स्थलोंपर प्रतिपादन किया है। हाँ, यह ठीक ही है। परन्तु एक ब्रह्मके भी अवस्थाविशेषको लेकर ही उपनिषद् विशेषका उपदेश होनेसे उस अवस्थामें आये हुएका ही वह उपनिषद् है, यह युक्त है। और यह दृष्टान्त भी है। आचार्यस्वरूपका अपाय न होनेपर बैठे हुए आचार्यका जो अनुवर्तन कहा गया है, वह खड़े हुए आचार्यका नहीं होता और जो खड़े हुएका कहा गया है वह बैठे हुएका नहीं होता। परन्तु ग्राम और अरण्यमें तो

रत्नप्रभा

इति च वाक्यद्वयेन तच्छब्दपरामृष्टयो सन्निहितस्थानविशिष्टयो पुरुषयोर्नामसम्बन्धपरेणोपसंहारानुमान बाध्यमिति भाव। विशेष्यैक्यात् नामसंकर इत्याशङ्क्य स्थानभेदेन विशिष्टपुरुषभेदात् नामव्यवस्थामाह—नन्वित्यादिना। विशिष्ट-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न वा" इत्यादिसे। ये दोनों नाम भिन्न भिन्न उपासनास्थानके साथ सम्बन्ध रखते हैं, इससे ऐसा अर्थ है। 'तस्योपनिषदहरहम्' यहापर 'अहः' और 'अहम्' इन दो वाक्योंसे तत्शब्दसे परामृष्ट सन्निहित विशिष्टस्थानवाले दो पुरुषोंके नामसम्बन्धपरक होनेसे उपसंहारका अनुमान बाध्य है, यह भाव है। विशेष्यके ऐक्यसे नामोंका संकर है, ऐसी आशंका करके स्थानभेदसे विशिष्ट पुरुषका भेद होता है, इससे नामोंकी व्यवस्था कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। विशिष्टके सम्बन्धमें दृष्टान्त कहते हैं—"अस्ति" इत्यादिसे। प्रतिदृष्टान्तके स्वरूप सम्बन्धी

भाष्य

तत्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यदृष्टान्तः सः । तस्मात् व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

आचार्यस्वरूपका अपाय न होनेसे और स्वरूपके साथ जुटे हुए धर्ममें ग्राम और अरण्यसे विशेष न होनेसे दोनों स्थलोंपर एक-सा भाव है, इसलिए यह दृष्टान्त नहीं है। अतः इन दोनों उपनिषदोंकी व्यवस्था है ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

सम्बन्धे दृष्टान्तमाह—अस्तीति । प्रतिदृष्टान्तस्य स्वरूपसम्बन्धित्वाद् विशिष्टे ध्येये प्रकृते दृष्टान्तत्वं नास्तीत्याह—ग्रामेति । ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेके कारण विशिष्ट ध्येय जो प्रकृत है, उसमें दृष्टान्तता नहीं है, ऐसा कहते हैं—"ग्राम" इत्यादिसे ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

पदच्छेद—दर्शयति, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, दर्शयति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' इत्यतिदेशः विद्यास्थले स्थानभेदान्नोपसंहार इति प्रतिपादयति, [अन्यथोक्तातिदेशो निरर्थक एव स्यात्, अतो नाम्नोर्व्यवस्थेति सिद्धम्]

भाषार्थ—और 'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' इत्यादि अतिदेश विद्यास्थलमें उपसंहार नहीं होता है, ऐसा प्रतिपादन करता है। अन्यथा उक्तातिदेश निरर्थक हो जायगा, अतः नामकी व्यवस्था है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—'तस्य-

भाष्यका अनुवाद

और इस प्रकारके धर्मोंकी व्यवस्था है, उनका परस्पर उपसंहार नहीं होता,

रत्नप्रभा

उक्तनामव्यवस्थायामतिदेशो लिङ्गमित्याह—दर्शयति चेति । विद्यैक्यादेवोप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त नामोंकी व्यवस्थामें अतिदेश ही लिंग है, ऐसा कहते हैं—"दर्शयति च" इत्यादिसे ।

भाष्य

तस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १ । ७ । ५) इति । कथमस्य लिङ्गत्वमिति तदुच्यते । अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान् धर्मानन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्य्यान् पश्यन्निहातिदेशेनाऽऽदित्यपुरुषगतान् रूपादीनक्षिपुरुष उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' (छा० १ । ७ । ५) इत्यादिना । तस्माद् व्यवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस विषयमें 'तस्यैतस्य तदेव रूपम्०' (उस चाक्षुष पुरुषका वही रूप है, जो इस आदित्य पुरुषका है और जो इसके दो पर्व हैं, वे ही इस चाक्षुष पुरुषके दो पर्व हैं और जो इसका नाम है वही चाक्षुष पुरुषका नाम है) इस प्रकार यह लिंगदर्शन है । यह लिंग किस प्रकार है ? इसे कहते हैं । अक्षि और आदित्य इन स्थानभेदोंसे भिन्न धर्म अन्योन्यमें उपसंहार करने योग्य नहीं हैं, ऐसा देखकर श्रुति आदित्य पुरुषमें स्थित रूप आदि धर्मोंका यहां अतिदेशसे अक्षिपुरुषमें उपसंहार करती है—'तस्यैतस्य०' (इसका वही रूप है) इत्यादिसे । इसलिए ये दोनों उपनिषद् व्यवस्थित हैं, ऐसा निर्णय है ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

संहारसिद्धौ अतिदेशो वृथा स्यात्, तस्मादेकविद्यायामपि स्थानभेदेन उक्तगुणानां विनाऽतिदेशमनुपसंहार इति सिद्धम् ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि विद्याके ऐक्यसे ही उपसंहारकी सिद्धि हो, तो अतिदेश व्यर्थ हो जायगा, इसलिए एक विद्यामें भी स्थानभेदसे कथित गुणोंका अतिदेश न हो, तो अनुपसंहार है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ २२ ॥



[१२ संभृत्यधिकरण सू० २३]

आहार्या या न वान्यत्र संभृत्यादिविभूतयः ।
आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादावधारणात् ॥ १ ॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञाऽत्र नास्त्यतः ।
अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसञ्जकः* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—शाण्डिल्य आदि अन्य विद्यामें सम्भृति आदि गुणोंका उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

पूर्वपक्ष—सम्भृति आदि ब्रह्मधर्म हैं, अतः उनका शाण्डिल्य आदि विद्यामें उपसंहार करना चाहिए।

सिद्धान्त—शाण्डिल्यविद्यामें उन सम्भृति आदि असाधारण धर्मोंकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, इसलिये उनका उपसंहार नहीं करना चाहिए और ब्रह्ममात्रका सम्बन्ध अतिप्रसक्त है।

---

* आशय इस प्रकार है कि राणायनीय शाखामें खिल-शिष्ट प्रकरणमें कहा जाता है—'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या०' इत्यादि। इसका यह अर्थ है—हरि, हर, कमलासना लक्ष्मी आदि देवोंमें प्रसिद्ध वीर्य है, वे सब ब्रह्मके आधारपर ही निर्भर हैं, क्योंकि शक्तिसम्पन्न ब्रह्मके बिना वे नहीं रह सकते हैं, वह ब्रह्म ज्येष्ठ है और पूर्व दिशाको व्याप्तकर अवस्थित है। यहाँ आधिदैविक ब्रह्मके सम्भृति, द्युव्याप्ति आदि गुण उपास्यरूपसे सुने जाते हैं। और शाण्डिल्य, दहर आदि विद्याओंमें आध्यात्मिक हृदयान्तर्वर्ती ब्रह्म उपास्यरूपसे सुना गया है, उनमें ब्रह्मके होनेसे सम्भृति आदि गुणोंका शाण्डिल्य आदि विद्यामें उपसंहार करना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होता है।

इस पर सिद्धान्ती कहते हैं—सम्भृति आदि गुणोंमेंसे एक भी शाण्डिल्य आदि विद्यामें उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए विद्याकी एकताकी प्रत्यभिज्ञा न होनेसे गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए। ब्रह्मके एकत्वमात्रसे उपसंहार करनेपर कहींपर भी अनुपसंहार न होनेका प्रसङ्ग आवेगा, इससे सम्भृति आदिका उपसंहार नहीं करना चाहिए।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

पदच्छेद—सम्भृतिद्युव्याप्ति, अपि, च, अतः ।

पदार्थोक्ति—सम्भृतिद्युव्याप्ति—'वीर्या सम्भृतानि' इति या वीर्यसम्भृतिः—समृद्धिः, या च 'दिवमाततान' इति द्युलोकव्याप्तिः अनयोः समाहारः सम्भृतिद्युव्याप्ति तदपि [नोपसंहर्तव्यम्, कुतः ?] अतश्च—अत एव—नाम्नोरिव व्यवस्थापकस्थानविशेषादेव ।

भाषार्थ—'वीर्या सम्भृतानि' इससे ज्ञात जो वीर्यसमृद्धि है और 'दिवमाततान' यह जो द्युलोकव्याप्ति है, उनका भी उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि नामके समान व्यवस्थापक स्थानरूप प्रमाणविशेष विद्यमान है ।

भाष्य

'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्यसंभृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते ।

भाष्यका अनुवाद

'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या०' (ब्रह्म ही जिनका कारण है, ऐसे पराक्रमविशेष—आकाशको उत्पन्न करना आदि निर्विघ्न समृद्ध हुए, वह ज्येष्ठ ब्रह्म देवताओंकी उत्पत्तिके पूर्वमें स्वर्गमें व्याप्त हुआ) इस प्रकार राणायनीय शाखावालोंके परिशिष्टोपदेश ग्रन्थोंमें

रत्नप्रभा

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः । ब्रह्मैव ज्येष्ठं कारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि, निलोपश्छान्दसः । वीर्याणि—पराक्रमविशेषाः आकाशोत्पादनादयः, तानि च वीर्याणि सम्भृतानि निर्विघ्नं समृद्धानि, सर्वनियन्तुः कार्ये विघ्नकर्तुरसत्त्वात् । तच्च ज्येष्ठं ब्रह्म अग्रे—देवाद्युत्पत्तेः प्रागेव दिवं स्वर्गम् आततान व्याप्तवत्, सदा सर्वव्यापकमित्यर्थः । सर्वप्राथम्यं स्पर्धानर्हत्वमिति वाक्यशेषस्था गुणाः प्रभृतिपद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः" । ब्रह्म ही है ज्येष्ठ—कारण जिनका वे ब्रह्मज्येष्ठा कहलाते हैं, यहांपर 'नि' का लोप छान्दस है । वीर्या—पराक्रमविशेष—आकाशोत्पादन आदि [आकाश उत्पन्न करना आदि—ब्रह्मके पराक्रमविशेष हैं], और वे वीर्य निर्विघ्न समृद्ध होते हैं, क्योंकि सबके नियन्ताके कार्यमें विघ्नकर्ताका अभाव है । उस ज्येष्ठ ब्रह्मने देवताओंकी उत्पत्तिके पहले ही स्वर्गको व्याप्त किया था, वह सदा सर्वव्यापक है, यह अर्थ है । सबसे प्रथम और स्पर्धाके अयोग्य [जिसकी कभी कोई स्पर्धा न कर सके] इत्यादि

भाष्य

तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते। तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियेरन्न वेति विचारणायां ब्रह्मसम्बन्धादुपसंहारप्राप्तावेवं पठति—संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः, अत एव च—आयतनविशेषयोगात्। तथा हि शाण्डिल्यविद्यायां हृदयायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्मान्तर्हृदये' (छा० ३।१४।३) इति। तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म

भाष्यका अनुवाद

वीर्यसमृद्धि, स्वर्गव्याप्ति आदि ब्रह्मकी विभूतियाँ पढ़ी जाती हैं। और उन्हींके उपनिषद्‌में शाण्डिल्यविद्या आदि ब्रह्मविद्याएँ पढ़ी जाती हैं। उन ब्रह्मविद्याओंमें उन ब्रह्मविभूतियोंका उपसंहार करना चाहिए या नहीं ? ऐसा विचार उपस्थित होनेपर ब्रह्मके सम्बन्धसे उपसंहार होता है ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—संभृति, द्युव्याप्ति आदि विभूतियोंका शाण्डिल्य विद्या आदिमें उपसंहार नहीं करना चाहिए, इसीसे अर्थात् स्थानविशेषके सम्बन्धसे। जैसे कि शाण्डिल्यविद्यामें 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये०' (यह मेरा आत्मा हृदयके अन्दर है) इस प्रकार ब्रह्मका

रत्नप्रभा

ग्राह्याः। खिलेष्विति। विधिनिषेधशून्यवाक्येष्वित्यर्थः। ब्रह्मसम्बन्धाद् विद्याभेदभानाच्च संशयमाह—तास्विति। अनारभ्याधीतब्रह्मविभूतीनां ब्रह्मसम्बन्धेन सर्वब्रह्मविद्यासु प्रत्यभिज्ञानादुपसंहार इति पूर्वपक्षः।

सिद्धान्तमाह—सम्भृतीति। सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्च सम्भृतिद्युव्याप्ति तदपि सर्वत्र नोपसंहर्तव्यम्, उपनिषदोरिव व्यवस्थापकविशेषयोगादिति सूत्रयोजना। आध्यत्मिकायतनविशेषयुक्तासु विद्यास्वाधिदैविकविभूतीनां प्रत्यभिज्ञाने हेत्वभावात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यशेषस्थ गुणोंका प्रभृतिपदसे ग्रहण करना चाहिए। 'खिलेषु' का विधि और निषेधसे शून्य वाक्योंमें, यह अर्थ है। ब्रह्मके सम्बन्धसे और विद्याभेदके भानसे संशय कहते हैं—"तासु" इत्यादिसे। अनारभ्य—शाडिल्य आदि विद्याका आरम्भ न कर पठित ब्रह्मविभूतियोंका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होनेके कारण सब ब्रह्मविद्याओंमें प्रत्यभिज्ञान होनेसे उपसंहार है, ऐसा पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्त कहते हैं—"सम्भृति" इत्यादिसे। सम्भृतिद्युव्याप्ति—सम्भृति और द्युव्याप्ति, इनका भी सर्वत्र उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों उपनिषदों—रहस्यनामोंके समान व्यवस्थापक स्थानविशेषका योग है, ऐसी सूत्रकी योजना है। स्थान विशेषयुक्त आध्यात्मिक विद्याओंमें आधिदैविक विभूतियोंकी प्रत्यभिज्ञामें हेतुके अभावसे प्राप्ति नहीं है,

भाष्य

दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति। उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इति। एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते। आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयस्तासां कुत एतासु प्राप्तिः। नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) 'एष उ भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।४) 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्

भाष्यका अनुवाद

स्थान हृदय कहा गया है। इसी प्रकार दहरविद्यामें भी 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म०' (इस ब्रह्मपुरमें अल्प हृदयकमलरूप गृह है, ब्रह्मकी उपलब्धिका अधिष्ठान है, इसमें—अल्प गृहके अन्दर आकाशसंज्ञक ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्मका स्थान हृदय कहा गया है। उपकोसल विद्यामें तो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो०' (आंखमें जो यह पुरुष दीखता है) इस प्रकार आंख ब्रह्मस्थान कही गई है। इस तरह तत्-तत् स्थलमें तत्-तत् आध्यात्मिक स्थान इन विद्याओंमें प्रतीत होता है। परन्तु संभृति, द्युव्याप्ति आदि विभूतियां आधिदैविकी हैं, उन विभूतियोंकी इन विद्याओंमें प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है। इन विद्याओंमें भी आधिदैविकी विभूतियोंकी श्रुति है—'ज्यायान् दिवो०' (आकाशसे आत्मा बहुत बड़ा है, इन लोकोंसे बहुत बड़ा है), 'एष उ एव भामनीरेष०' (यह आत्मा सब लोकोंमें आदित्य, चन्द्र, अग्नि आदिरूपोंसे प्रकाशित होता है, यह भामनी—अपने तेजोंको फैलानेवाला है) 'यावान् वा अयमाकाश०' (जितना बड़ा यह भौतिक आकाश है, उतना ही बड़ा हृदयके अन्दर यह आकाश—ब्रह्म है। द्युलोक और

रत्नप्रभा

न प्राप्तिरित्युक्ते हेतुं शङ्कते—नन्वेतास्विति। आधिदैविकत्वसाम्यादाध्यात्मिकायतनहीनत्वसाम्याद् वा तत्तद्विद्यासु सम्भृत्यादीनां प्राप्तिरिति शङ्कार्थः। उक्तहेतुद्वयं न गुणप्रापकम्, आधिदैविकविद्यानां शाण्डिल्यदहरादीनामायतनहीनविद्यानाञ्च मिथो

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा जो कहा गया है, उसमें हेतुकी आशंका करते हैं—"नन्वेतासु" इत्यादिसे। उन उन विद्याओंमें आधिदैविकत्वरूप धर्मके साम्यसे अथवा आध्यात्मिक स्थानरहितत्वरूप धर्मके साम्यसे उन उन विद्याओंमें सम्भृति आदिकी प्राप्ति है, ऐसा शंकाका अभिप्राय है। उक्त दोनों हेतु गुणके प्रापक नहीं हैं, क्योंकि शाण्डिल्यविद्या, दहरविद्या आदि आधिदैविक विद्याओंके और स्थानहीनविद्याओंके गुणोंका परस्पर साङ्कर्य हो जायगा, इसलिए कतिपय

माष्य

द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्येवमाद्याः सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः । सत्यमेवमेतत् । तथाऽप्यत्र विद्यते विशेषः संभृत्याद्यनुपसंहारहेतुः । समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंह्रियेरन्निति युक्तम् । संभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः । न च ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते, विद्याभेदेऽपि

भाष्यका अनुवाद

पृथिवी ये दोनों इसके अन्दर स्थित हैं) इत्यादि विभूतियोंकी श्रुतियां हैं । और इस प्रकरणमें स्थानविशेपरहित दूसरी षोडशकला आदि ब्रह्मविद्याएँ हैं । यह ठीक ही है, तो भी यहांपर विशेष है, वह संभृति आदिके अनुपसंहारका हेतु है, क्योंकि समान गुणोंकी श्रुतिसे उपस्थापित दूर देशमें प्रकरणमें स्थित विद्याओंमें भी दूर देशमे स्थित गुणोंका उपसंहार होना युक्त है । परन्तु संभृति आदि गुण और शाण्डिल्य आदिके वाक्यामें स्थित मनोमयत्व आदि गुण परस्पर भिन्न स्वरूपवाले होनेसे अन्य प्रदेशमें स्थित विद्याका उपस्थापन करनेमें समर्थ नहीं हैं । उसी प्रकार केवल ब्रह्मसम्बन्धसे अन्य प्रदेशमें स्थित विद्याका उपस्थापन

रत्नप्रभा

गुणसाङ्कर्यप्रसङ्गात्, तस्मात् कतिपयसमानगुणविशिष्टोपास्यरूपैक्यं विद्यैक्यमावहद् गुणप्राप्तिहेतुः तदभावात् न प्राप्तिरिति परिहरति—सत्यमित्यादिना । स्थानविशिष्टभेदात् नाम्नोर्व्यवस्थावत् सम्भृत्यादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणः शाण्डिल्यादिविद्योक्तगुणविशिष्टब्रह्मणश्च मिथो भेदेन रूपभेदात् सम्भृत्यादीनां नोपसंहार इत्युक्तन्यायातिदेशत्वादस्य न संगत्याद्यपेक्षा, यथैकस्मिन् उद्गीथे परोवरीयस्त्वादिगुणो-

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान गुणोंसे विशिष्ट उपास्यरूपका ऐक्य विद्याकी एकताका ज्ञान कराता हुआ गुण प्राप्तिका हेतु होता है, और यदि ऐसे उपास्यरूपके ऐक्यका अभाव हो, तो गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे । स्थानविशिष्ट भेदसे जैसे 'अह' और 'अहम्'की व्यवस्था है, वैसे ही सम्भृति आदि गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्म और शाण्डिल्य विद्यामें कहे गये गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्म, इन दोनोंका परस्पर भेद होनेसे रूपके भेदसे सम्भृति आदिका उपसंहार नहीं है, इस प्रकार उक्त न्यायका अतिदेश है, अतः यहाँ संगति आदिकी अपेक्षा नहीं है ।

भाष्य

तदुपपत्तेः। एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थितिः, परोवरीयस्त्वादिवद्भेददर्शनात्। तस्माद् वीर्यसंभृत्यादीनां शाण्डिल्यविद्यादिष्वनुपसंहार इति ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा नहीं कहा जाता है, क्योंकि विद्याका भेद होनेपर भी ब्रह्मका सम्बन्ध उपपन्न होता है, कारण कि एक ही ब्रह्मकी भिन्न भिन्न विभूतियोंसे अनेक प्रकारसे उपासना की जाती है, ऐसी स्थिति है, क्योंकि परोवरीयस्त्व आदिके समान भेद देखनेमें आता है, इससे सिद्ध हुआ कि वीर्यसंभृति आदि गुणोंका शाण्डिल्यविद्या आदिमें उपसंहार नहीं है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

पास्तेर्हिरण्यश्मश्रुत्वाद्युपास्तिर्भिद्यते, तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि विद्याभेदोपपत्तेः ब्रह्मप्रत्यभिज्ञा न गुणप्रापिकेत्याह—परोवरीयस्त्वादिवदिति। तस्मात् सम्भृत्यादिगुणविशिष्टविद्यान्तरविधिरिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे एक उद्गीथमें परोवरीयस्त्व आदि गुणोंकी उपासनासे हिरण्यश्मश्रु आदि उपासनाका भेद होता है, वैसे एक ब्रह्ममें भी विद्याके भेदकी उपपत्ति होनेसे ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा गुणोंको प्राप्त करानेवाली नहीं है, ऐसा कहते हैं—"परोवरीयस्त्वादिवत्" इत्यादिसे। इसलिए सम्भृति–समृद्धि आदि गुणोंसे विशिष्ट अन्य विद्याकी विधि है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २३ ॥



[१३ पुरुषाद्यधिकरण सू० २४]

पुंविद्यैका विभिन्ना वा तैत्तिरीयकताण्डिनोः ।
मरणावभृथत्वादि साम्यादेकेति गम्यते ॥ १ ॥
बहुना रूपभेदेन किञ्चित्साम्यस्य बाधनात् ।
न विद्यैक्यं तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—तैत्तिरीयक और ताण्डिशाखामें जो पुरुषविद्या है, वह एक है या भिन्न है ?

पूर्वपक्ष—दोनोंमें मरणरूप अवभृथत्व आदि समान धर्म होनेसे वह एक है, ऐसा समझा जाता है ?

सिद्धान्त—रूपभेदके आधिक्यसे किञ्चत् साम्य बाधित होता है, अतः एक विद्या नहीं है, और तैत्तिरीयकमें तो केवल ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा है ।

---

* निष्कर्ष यह है कि तैत्तिरीयशाखामें 'तस्यैवविदुषो यज्ञस्यात्मा यजमान.' इस प्रकार पुरुषविद्या है, और ताण्डिशाखामें 'पुरुषो वाव यज्ञ ' इस प्रकार पुरुषविद्या सुनी जाती है, यहांपर वे दोनों विद्याएँ एक ही हैं, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि 'यन्मरण तदवभृथ.' 'मरणमेवावभृथ ' इस प्रकार दोनों स्थलोंमें समान धर्मकी प्रतीति होती है । और प्रात.सवन आदि भी समान हैं, यह पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—वेदरूपका अत्यधिक भेद यहाँ सुना जाता है—'विदुषो यो यज्ञ तस्य यज्ञस्यात्मा' इस प्रकार तैत्तिरीयकमें व्यधिकरण षष्ठी है, अन्यथा आत्मा यजमान है, इसके व्याघातसे विद्वान् ही यज्ञ है और वही यजमान है, ऐसा व्याघात क्यों नहीं होगा, और ताण्डिशाखावालोंके मतमें पुरुष और यज्ञका सामानाधिकरण्य श्रुत है, यह एक रूपभेद है, आत्मा यजमान है, इत्यादि ताण्डिशाखामें उपलब्ध नहीं होता है, और ताण्डिशाखामें तीन प्रकारसे विभक्त आयुष्यके तीन सवन जो उपलब्ध होते हैं वे तैत्तिरीयकमें नहीं हैं, अत. मरणावभृथत्व आदि अल्प धर्मोंकी समानताका बाध होनेसे विद्याका भेद मानना ही उचित है । तैत्तिरीयकोंकी यह उपासना नहीं है, किन्तु ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा ही है, क्योंकि 'तस्यैवविदुष ' इससे ब्रह्मवित् पुरुषका केवल उत्कर्ष सूचित होता है, इससे एक विद्याकी आशङ्का प्रसङ्ग नहीं है ।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—पुरुषविद्यायाम्, इव, च, इतरेषाम्, अनाम्नानात् ।

पदार्थोक्ति—पुरुषविद्यायाम् इव—यथा पैङ्गिनां पुरुषविद्यायाम् [पुरुषो यज्ञत्वेन कल्पितः तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्वेन कल्पितम् तथा] इतरेषाम्—तैत्तिरीयकाणाम् [पुरुषविद्यायाम्] अनाम्नानात्—अकथनात् [कस्यचिदेव गुणविशेषस्योपलब्धौ सत्यामपि बहुगुणभेदेन विद्यैक्याभावात् न तैत्तिरीयके धर्मा उपसंहर्तव्याः इति] ।

भाषार्थ—पैङ्गिशाखामें पुरुषविद्यामें जैसे पुरुषकी यज्ञरूपसे कल्पना की गई है और उसकी आयुके तीन विभाग करके उनकी सवनरूपसे कल्पना की गई है, वैसे तैत्तिरीयकमें कथन न होनेसे किसी गुणविशेषकी समानता होनेपर भी गुणभेदकी अधिकतासे तैत्तिरीयकमें उसके धर्मोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए ।

भाष्य

अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या । तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः । तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम् । अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि, अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगता आशीर्मन्त्रप्रयोगा-

भाष्यका अनुवाद

ताण्डी और पैङ्गीके रहस्यब्राह्मणमें पुरुषविद्या है । वहां पुरुषकी यज्ञरूपसे कल्पना की गई है, उसकी आयुका तीन प्रकारसे विभाग कर उसमें तीन सवनोंकी कल्पनाकी गई है, भोजनकी इच्छा आदिकी दीक्षाभाव

रत्नप्रभा

"पुरुषविद्यायाम्०" । छान्दोग्यस्थां विद्यामाह—अस्तीति । 'पुरुषो वा यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनम् (छा० ३।१६।१) 'अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनम्' (छा० ३।१६।३) 'अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम् (छा० ३।१६।३) इति प्रसिद्धयज्ञसाम्यार्थं सवनत्रयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पुरुषविद्यायाम्" । छान्दोग्यगत विद्या कहते हैं—"अस्ति" इत्यादिसे । 'पुरुषो वा यज्ञस्तस्य०' (पुरुष ही यज्ञ है, उसके जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातःसवन है), 'अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि०' (उसके जो चौवालीस वर्ष हैं वह माध्यन्दिनसवन है), 'अथ यान्यष्टाचत्वा०' (उसके जो अड़तालीस वर्ष हैं वह तृतीय सवन है) इस प्रकार प्रसिद्ध यज्ञके सादृश्यके लिए

भाष्य

दयः। तैत्तिरीयका अपि कञ्चित् पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैवंविदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' (ना० ८०) इत्येतेनाऽनुवाकेन। तत्र संशयः—किं ये इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्या

भाष्यका अनुवाद

आदिसे कल्पना की गई है और आशीर्वादका प्रयोग, मन्त्रका प्रयोग आदि अन्य धर्म भी वहां प्रतीत होते हैं। तैत्तिरीयक भी 'तस्यैवंविदुषो यज्ञस्यात्मा०' (ऐसा जाननेवाले उसके यज्ञका आत्मा यजमान है और श्रद्धा पत्नी है) इत्यादि अनुवाकसे किसी एक पुरुषयज्ञकी कल्पना करते हैं। यहांपर संशय होता कि क्या जो पुरुषयज्ञके धर्म अन्यत्र कहे गये हैं, उनका तैत्तिरीयक में

रत्नप्रभा

कल्पितम्। 'स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते' ता अस्य दीक्षा। अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते' (छा० ३।१७।२) ता उपसदः, 'अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति' (छा० ३।१७।३) तानि स्तुतशस्त्राणि, अथ यत्तपोदानादि 'सा अस्य दक्षिणा' (छा० ३।१७।४) 'वस्वादिरूपा मे प्राणाः इदं सवनत्रयं यावदायुरनुसन्तनुते' इत्याशीः, 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० ३।१७।६) इति मन्त्रत्रयप्रयोगः। षोडशाधिकशतवर्षजीवितत्वं फलमिति दर्शितम्। संशयार्थं शाखान्तरीयपुरुषविद्यामाह—तैत्तिरीयका इति। अत्र विदुषो यज्ञस्येति षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यानिश्चयात् संशयमाह—तत्रेति। उपसंहारानुपसंहारावेव फलम्। पूर्वत्रासाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

तीन सवन कल्पित हैं। 'स यदशिशिषति०' (वह जो खानेकी अभिलाषा करता है, जो पीना चाहता है, जो रमण नहीं करता वह दीक्षा है, और जो खाता है, जो पीता है, जो रमण करता है वह उपसद्—पयो भक्षण करनेवाला है, और जो हँसता है, जो खाता है जो मैथुन करता है वे स्तुत-शस्त्र हैं और जो तप, दान आदि हैं वह दक्षिणा है, मरण ही अवभृथ स्नान है वसु आदि रूप मेरे प्राण हैं—ये तीन सवन आयुपर्यन्त चलते हैं) यह आशिष है। 'अक्षितमस्यच्युतमसि०' (तू क्षयरहित है, तू च्युतिरहित है, तू प्राणमें सम्यक् तीक्ष्ण—जाग्रत् है) ऐसा तीन मन्त्रोंका प्रयोग है। एक सौ सोलह वर्ष तक जीना फल है, ऐसा दिखलाया गया है। संशयके लिए अन्य शाखाकी पुरुषविद्या कहते हैं—"तैत्तिरीयका" इत्यादिसे। यहांपर 'विदुषो यज्ञस्य' इसमें इन दो षष्ठ्यन्त पदोंका सामानाधिकरण्य है या वैयधिकरण्य

भाष्य

किं वा नोपसंहर्तव्या इति। पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति। कस्मात्?-तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्। तदाहाऽऽचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति। यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नानमस्ति। तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते, पत्नीयजमानवेदवेदिबर्हिर्यूपाज्यपशृत्विगाद्यनुक्रम-

भाष्यका अनुवाद

उपसंहार करना चाहिए या उनका उपसंहार नहीं करना चाहिए? पुरुषयज्ञका ऐक्य होनेसे उपसंहार करना चाहिए ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपसंहार करना युक्त नहीं है। किस कारणसे गुण उपसंहार करनेके योग्य नहीं हैं? उसके रूपका—छान्दोग्य-पुरुषविद्या तैत्तिरीयक-पुरुषविद्या है ऐसा—प्रत्यभिज्ञान न होनेसे। उसे आचार्य कहते हैं—'पुरुषविद्यायामिव' से। एक शाखावालोंकी—ताण्डी और पैंगियोंकी पुरुषविद्यामें जैसी श्रुति है, वैसी अन्यकी—तैत्तिरीयकोंकी श्रुति नहीं है, क्योंकि उनकी यज्ञसम्पत्तिमें पत्नी, यजमान, वेद, वेदी, बर्हि, यूप, आज्य, पशु, ऋत्विक् आदिका अनुक्रम किया गया है। और तैत्तिरीयकी पुरुषविद्यामें जो सवनकी सम्पत्ति है वह भी

रत्नप्रभा

सम्भूत्यादौ विद्याभेद उक्तः। इह त्वसाधारणावभृथगुणविशिष्टपुरुषयज्ञरूपैक्यप्रत्यभिज्ञानाद् विद्यैक्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते सिद्धान्तयति—नोपसंहर्तव्या इति। 'तस्यैवंविदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युर्मनो ब्रह्मा' (नारा० ८०) इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसका निश्चय न होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। उपसंहार और अनुपसंहार ही फल है। पूर्व अधिकरणमें असाधारण गुणसे प्रत्यभिज्ञान न होनेके कारण विद्याका भेद कहा गया है, किन्तु इस अधिकरणमें असाधारण मरणावभृथगुणसे विशिष्ट पुरुषयज्ञरूप ऐक्यका प्रत्यभिज्ञान होनेसे विद्याका ऐक्य है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"नोपसंहर्तव्याः" इत्यादिसे। 'तस्यैवंविदुषो यज्ञस्य०' (ऐसा जाननेवाले उसके यज्ञका आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर लकड़ियां हैं, छाती वेदी, रोम बर्हिष हैं, वेद-कुशमुष्टि शिखा है, हृदय यूप है, काम घी है, मन्यु-क्रोध पशु है, तप अग्नि है, शमन करनेवाला दम दक्षिणा है, वाणी होता है, प्राण उद्गाता है, आंख अध्वर्यु और मन ब्रह्मा है)

भाष्य

णात् । यदपि सवनसंपादनं तदपीतरत्रिलक्षणमेव 'यत्प्रातर्मध्यंदिनꣳसायं च तानि सवनानि' (ना० ८०) इति । यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादि-साम्यं तदप्यल्पीयस्त्वाद् भूयसा वैलक्षण्येनाऽभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापन-क्षमम् । न च तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते । विदुषो यज्ञस्येति हि न चैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ, विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति । नहि

भाष्यका अनुवाद

'यत्प्रातर्मध्यन्दिनम्०' (जो प्रातः, मध्यन्दिन और सायंकाल हैं वे सवन हैं) इस प्रकार छान्दोग्यगत सवनसम्पत्तिसे विलक्षण ही है । और उन दोनों विद्याओंमें जो कुछ थोड़ी-सी अवभृथ इत्यादि साम्यकी उपलब्धि होती है, वह भी बहुत स्वल्प होनेसे अधिक वैलक्षण्यसे पराभूत होती हुई प्रत्यभिज्ञान करानेकी शक्ति नहीं रखती । तैत्तिरीयकमें पुरुषका यज्ञत्व श्रुत नहीं है, क्योंकि 'विदुषो यज्ञस्य (विद्वान् जो यज्ञरूप है उसका) इस प्रकार ये दो समानाधिकरण षष्ठी नहीं हैं, कारण कि पुरुष मुख्य यज्ञ नहीं है । परन्तु 'विद्वान्का

रत्नप्रभा

बहुतरधर्मवैलक्षण्यात् न रूपैक्यप्रत्यभिज्ञेत्यर्थः । वेदः—कुशमुष्टिः । शमयिता दमो दक्षिणेत्यन्वयः । किञ्च, छान्दोग्ये त्रिधा विभक्तायुषि सवनत्वकल्पना, अत्र तु सायं-कालादाविति वैरूप्यमाह—यदपीति । 'यन्मरणं तदवभृथः' (तै०उ० ६।५२।१) 'यद्रमते तदुपसदः' (तै० उ० ६।५२।१) इति तित्तिरिश्रुतौ सारूप्यमपि भातीत्यत आह—यदपि किञ्चिदिति । गजोष्ट्रयोश्चतुष्पात्त्वसारूप्यवदिदं सारूप्यं न ऐक्यप्रयोजकमित्यर्थः । किञ्च, छान्दोग्ये पुरुषयज्ञयोरैक्यं श्रुतम्, अत्र तु भेद इति वैरूप्यान्तरमाह—न चेति । यद्यपि निषादस्थपतिन्यायेन सामानाधिकरण्यं षष्ठ्योः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार अनेक धर्मोंका वैषम्य होनेसे एक रूपकी प्रत्यभिज्ञा नहीं है, ऐसा अर्थ है । वेद—कुशमुष्टि, शमयिता दम दक्षिणा है, इस प्रकार अन्वय है । और छान्दोग्यमें तीन प्रकारसे विभक्त किये गये आयु में सवनत्वकी कल्पना है, यहां तो सायंकाल आदिमें सवनत्वकी कल्पना है, इस प्रकार वैरूप्य कहते हैं—"यदपि" इत्यादिसे । 'यन्मरणं तदवभृथो०' (जो मरण है वह अवभृथस्नान है, जो रमण करता है वह उपसद् है) ऐसा तित्तिरि श्रुतिमें सारूप्य—सादृश्य भी अवगत होता है, इसपर कहते हैं—"यदपि किंचित्" इत्यादिसे । हाथी और ऊंटमें जैसे चतुष्पात्त्व—चार पैर युक्त होना साम्य है, उस साम्यके समान यह सारूप्य ऐक्यका प्रयोजक नहीं है, ऐसा अर्थ है । और छान्दोग्यमें पुरुष और यज्ञका ऐक्य है, यहां तो

भाष्य

पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति। व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति। भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञसंबन्धः। सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः। 'आत्मा यजमानः' इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्ब्रुवन् वैयधिकरण्येनैवाऽस्य यज्ञसंबन्धं दर्शयति। अपि च तस्यैवं-विदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च

भाष्यका अनुवाद

जो यज्ञ उसका' इस प्रकार ये दो व्यधिकरण षष्ठी हैं, क्योंकि पुरुषका यज्ञसम्बन्ध मुख्य है और यदि बन सके तो मुख्य अर्थका ही आश्रयण करना ठीक है, गौणका आश्रयण करना ठीक नहीं है। और 'आत्मा यजमानः' (आत्मा यजमान है) यह भी पुरुषको यजमानरूपसे बतलाता हुआ वैयधिकरण्यसे ही इसका यज्ञसे सम्बन्ध दिखलाता है। इसी प्रकार 'तस्यैवं-विदुषः' (इस प्रकार जाननेवाले उस विद्वान्का) ऐसे सिद्ध-से अनुवादकी

रत्नप्रभा

युक्तम्, तथापि अप्रसिद्धैक्यकल्पनागौरवाद् यज्ञस्य आत्मेति भेदोक्तेरेकस्यैव यज्ञ-त्वयजमानत्वविरोधादात्मविदो यो यज्ञः प्रसिद्धः, तस्येति वैयधिकरण्यमेव युक्तम्। किञ्च, विद्वत्सम्बन्धियज्ञरूपविशेष्यानुवादेन विद्वदङ्गैरङ्गसम्पद्विधौ एकवाक्यता प्रतीयते, तस्यां सत्यां विशेष्यस्याऽङ्गानां च पृथग्विधिवादिनस्तव वाक्यभेददोषः स्यादित्यर्थः। किञ्च, सत्यादिभ्यो न्यास एवापरे च यदिति संन्यासमुक्त्वा सर्वैः सर्वमिदं जगदित्येवं तमात्मानं ज्ञात्वा भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वानिति संन्याससाध्यामात्मविद्यां पुरस्तात् प्राजापत्यनुवाके उपदिश्य अनन्तरानुवाके तस्यैवंविदुष इत्युक्त्वा आत्मविद्यानुवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद है, ऐसा दूसरा वैरूप्य कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। यद्यपि निषादस्थपतिन्यायसे 'विदुषो यज्ञस्य' इसमें दो षष्ठियोंका सामानाधिकरण्य युक्त है, तो भी अप्रसिद्ध ऐक्यकी कल्पना करनेमें गौरव होनेसे, 'यज्ञस्य आत्मा' ऐसी भेदोक्ति होनेसे, एकको ही यज्ञ और यजमान कहनेमें विरोध होनेसे 'आत्मवेत्ताका प्रसिद्ध जो यज्ञ है, उसका, इस प्रकार वैयधिकरण्य ही युक्त है। और विद्वान्का सम्बन्धी यज्ञरूप जो विशेष्य है उसके अनुवादसे विद्वान्के अङ्गोंके साथ यज्ञके अङ्गोंकी सम्पत्तिका विधान करनेमें एकवाक्यता प्रतीत होती है, और ऐसा होनेसे विशेष्य और विशेषणोंका पृथक् विधान है, ऐसा कहनेवाले तुम्हारे मतमें वाक्यभेदरूप दोष होगा, ऐसा अर्थ है। किंच, 'सत्यादिभ्यो न्यास एवापरे च यत्' (सत्य आदिसे संन्यास ही श्रेष्ठ है) इससे संन्यासको कहकर 'सभीसे यह सब जगत् है' इस प्रकार उस आत्माको जानकर पुनः विद्वान् मृत्युको प्राप्त नहीं होता है, इस प्रकार संन्याससाध्य आत्मविद्याका आगे प्राजापत्य

भाष्य

यजमानादिभावं प्रतिपित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात्। अपि च ससंन्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्याऽनन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः। तथा चैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' इति। इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः। आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ 'एष ह षोडशवर्षशतं जीवति य एवं वेद' (छा० ३। १६। ७) इति समभिव्याहारात्। तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

श्रुति होनेपर पुरुषके यज्ञभाव और आत्मा आदिके यजमान आदि भावके प्रतिपादनकी इच्छा रखनेवालेके मतमें वाक्यभेद होगा। और संन्याससहित आत्मविद्याका पहले उपदेश करके उसके अनन्तर 'तस्यैवंविदुषः' इत्यादि अनुक्रमणको देखते हुए हम यह श्रुति पूर्वशेष ही है, स्वतन्त्र नहीं है, ऐसा जानते हैं। इस प्रकार दोनों अनुवाकोंका 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (ब्रह्मकी महिमा प्राप्त करता है) ऐसा एक ही फल हम समझते हैं। दूसरोंकी (पैंगा और ताण्डियोंकी तो विद्याकी श्रुति अनन्यशेष है, वह किसीकी भी शेष नहीं है, क्योंकि इसका फल आयुकी अभिवृद्धि है—'एष ह षोडशवर्षशतं जीवति' (जो ऐसा—तथोक्त जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष तक जीता है) ऐसा कथन होनेसे। इससे सिद्ध होता है कि अन्य शाखामें पठित आशीर्वाद, मन्त्र आदि पुरुषविद्याधर्मोंकी तैत्तिरीयकमें प्राप्ति नहीं है ॥ २४ ॥

रत्नप्रभा

देन प्रशंसार्थत्वेन तच्छेषतया यज्ञसम्पत्तिः क्रियते फलैक्यश्रुतेः, छन्दोगानां तु स्वतन्त्रविद्याविधिरित्याह—अपि च ससंन्यासामिति। चिन्ताफलमाह—तस्मादिति ॥२४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुवाकमें उपदेश करके उसके अनन्तरके अनुवाकमें 'तस्यैवविदुष' ऐसा कहकर आत्मविद्याके अनुवादसे प्रशंसाके लिए, आत्मविद्याके शेष—अङ्गरूपसे पुरुषकी यज्ञसम्पत्ति कही गई है, क्योंकि एक ही फलकी श्रुति है। छन्दोगोंकी तो स्वतन्त्र विद्याविधि है, ऐसा कहते हैं—"अपि च ससंन्यासाम्" इत्यादिसे। चिन्ताफल कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ २४ ॥

[१४ वेधाद्यधिकरण सू० २५]

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा न तु।
विद्यासंनिधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणी ॥ १ ॥
लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम्।
विनियोगात्संनिधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वेधमन्त्र, प्रवर्ग्य आदि विद्याके अङ्ग हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—विद्याके समीपमें पाठ होनेसे मन्त्र और कर्म (वेधमन्त्र, प्रवर्ग्य आदि) विद्याके अङ्ग हैं।

सिद्धान्त—*लिङ्गरूप प्रमाणसे मन्त्रोंका और वाक्यप्रमाणसे कर्मोंका अन्यत्र विनियोग होनेसे सन्निधि बाधित है, अतः उनका विद्याके प्रति अङ्गत्व नहीं है।*

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

पदार्थोक्ति—['सर्वं प्रविध्य' इत्यादिमन्त्राणां 'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादिप्रवर्ग्यकर्मणाश्च विद्यासु नोपसंहारः, कुतः ?] वेधाद्यर्थभेदात्—वेधाद्यर्थानाम्—'सर्वं प्रविध्य' इत्यादिमन्त्रप्रकाशितानामर्थानामाभिचारिककर्मादिसमवेतानाम्, भेदात्—विद्यासु असमवेतत्वात्।

भाषार्थ—'सर्वं प्रविध्य' (सबका वेधकर) इत्यादि मन्त्रोंका और 'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' (देवताओंने यज्ञ किया) इत्यादि प्रवर्ग्यकर्मोंका विद्याओंमें उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'सर्वं प्रविध्य' इत्यादि मन्त्रोंसे प्रकाशित आभिचारिक कर्मोंमें समवेत अर्थोंका भेद है अर्थात् विद्याओंमें उनका विनियोग नहीं है।

---

* निष्कृष्टार्थ यह है कि आथर्वणिकोंके उपनिषद्के आरम्भमें 'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य' इत्यादि आभिचारिक मन्त्र पढ़े जाते हैं और काण्वोंके उपनिषदारम्भमें प्रवर्ग्य ब्राह्मण पढ़ा गया है, उनका विद्याकी सन्निधिमें पाठ होनेके कारण मन्त्र और कर्म विद्याके अङ्ग हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होता है।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—लिङ्गसे हृदयवेधादि मन्त्रोंका आभिचारिक कर्ममें विनियोग होगा और प्रवर्ग्यका 'पुरस्तादुपसदां प्रवृणक्ति' इसमे अग्निष्टोममें विनियोग होगा, सन्निधि प्रमाणसे लिङ्ग और वाक्य बलवान् होते हैं, ऐसी पूर्वतन्त्रमें श्रुतिलिङ्गाधिकरणमें व्यवस्था की गई है। इससे मन्त्र और कर्म विद्याके अङ्ग नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ।

भाष्य

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः। ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः। शाट्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादिः। कठानां तैत्तिरीयणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' (तै० १।१।१) इत्यादिः। वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे

भाष्यका अनुवाद

आथर्वणिकोंके उपनिषद्के आरम्भमें ऐसी मन्त्रश्रुति है—'सर्वं प्रविध्य०' (हे देव, मेरे शत्रुके सब अंगोंको छिन्न-भिन्न कर और विशेषतः हृदयको चीर दे, शिराओंको तोड़ डाल, मस्तकका नाश कर इस प्रकार तीन तरहसे मेरा शत्रु छिन्न-भिन्न हो) इत्यादि। ताण्डियोंके उपनिषद्के आरम्भमें—'देव प्रसुव यज्ञम्' (हे विश्वप्रकाशक! हे उत्पत्तिहेतुभूत सूर्यदेव! तुम यज्ञका सम्पादन करो) इत्यादि श्रुति है। शाट्यायनियोंके उपनिषद्के प्रारम्भमें—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि०' (हे इन्द्र, श्वेत जिसके अश्व हैं, ऐसे तुम इन्द्रनील मणिके समान नील हो) इत्यादि श्रुति है। कठ और तैत्तिरीयोंके उपनिषद्के आरम्भमें—'शं नो मित्रः' (मित्र—आदित्य हमारे लिए सुखकर हो, वरुण

रत्नप्रभा

वेधाद्यर्थभेदात्। देवतामभिचारकर्ता प्रार्थयते—सर्वमिति। हे देवते! मद्रिपोः सर्वम् अङ्गं प्रविध्य—विदारय, विशेषतश्च हृदयं भिन्धि, धमनीः—शिराः प्रवृज्य—त्रोटय, शिरश्चाभितो नाशय, एवं त्रिधा विपृक्तः—विश्लिष्टो भवतु मे शत्रुरित्यर्थः। हे देव सवितः! यज्ञं तत्पतिं च प्रसुव निर्वर्तयेत्यर्थः। उच्चैःश्रवाः श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरितमणिवन्नीलोऽसीत्यर्थः। नः—अस्माकम्, शम्—सुखकरो भवत्वित्यर्थः। अग्निष्टोमो ब्रह्मैव स यस्मिन्नहनि क्रियते, तदपि ब्रह्म, तस्माद् य एतदहः-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"वेधाद्यर्थभेदात्"। अभिचार करनेवाला अभिचारदेवतासे प्रार्थना करता है—"सर्वम्" इत्यादिसे। हे देवते, मेरे शत्रुके सब अंगोंका तू विदारण कर, विशेषतः हृदयको तो चीर डाल, धमनी और शिराओंको विभक्त करके तोड़ डाल, और उसके मस्तकको दोनों तरफसे नष्ट कर दे, इस प्रकार मेरा शत्रु तीन तरहसे छिन्न हो जाय, ऐसा अर्थ है। हे सूर्य देव! यज्ञ और यज्ञके पतिको उत्पन्न करो, ऐसा अर्थ है। जिस इन्द्रके सफेद घोड़े हैं, वह इन्द्र! [हे श्वेत अश्ववाले इन्द्र!] तुम हरितमणिके समान नील हो, ऐसा अर्थ है। तुम हम लोगोंके लिए सुखकर होओ, यह भाव है। ब्रह्म ही अग्निष्टोम है, वह जिस दिन किया जाता है, वह दिन भी ब्रह्म है, इसलिए जो उस दिन साध्य कर्म करते हैं, वे ब्रह्मरूप साधन द्वारा ही

भाष्य

प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि। कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' इति। किमिमे सर्वे प्रविध्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंह्रियेरन् किं वा नोपसंह्रियेरन्निति मीमांसामहे। किं तावन्नः प्रतिभाति।

उपसंहार एवैषां विद्यास्विति। कुतः? विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात्। नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभा-

भाष्यका अनुवाद

हमारे लिए सुखकर हो) इत्यादि श्रुति है। परन्तु वाजसनेयी शाखावालोंके उपनिषद्के आरम्भमें—'देवा ह वै सत्रं०' (पूर्वकालमें इन्द्र आदि देवता यज्ञ करनेके लिए बैठे) ऐसा पढ़ा जाता है। कौषीतकियोंका भी अग्निष्टोमब्राह्मण ग्रन्थ है—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव०' (अग्निष्टोम ब्रह्महीहै, वह दिवस ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे वह ब्रह्मको पाता है, जो उस दिवसमें काम करता है वह अमृतत्व प्राप्त करता है)। क्या ये सब प्रविध्य आदि मन्त्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म विद्याओंमें उपसंहार करनेके योग्य है या नहीं? ऐसा हम विचार करते हैं। तब हमको क्या प्रतीत होता है?

पूर्वपक्षी—इनका विद्याओंमें उपसंहार ही है, ऐसा प्रतीत होता है। किससे? विद्या जिनमें प्रधान है, ऐसे उपनिषद्ग्रन्थोंके समीप पाठ होनेसे। परन्तु विद्याके प्रयोजनरूपसे इनका विधान हमें उपलब्ध नहीं होता। ठीक

रत्नप्रभा

साध्यं कर्म उपयन्ति—अनुतिष्ठन्ति, ते ब्रह्मणैव साधनेन ब्रह्म उपयन्ति, ते च क्रमेण अमृतत्वमाप्नुवन्तीति योजना। मन्त्रादिषु तत्तदुपनिषद्विद्याशेषत्वे प्रमाणभावाभावाभ्यां संशयमाह—**किमिति**। फलं पूर्ववत्, ननु तेषां शेषत्वे मानाभावान्नोपसंहार इति शङ्कते—**नन्वेषामिति**। मन्त्रादयः तत्तद्विद्याशेषाः फलवद्विद्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मको प्राप्त करते हैं और वे क्रमशः अमृतत्वको प्राप्त करते हैं, ऐसी योजना है। मन्त्र आदि उन उन उपनिषद्-विद्याओंके अङ्ग हैं इसमें प्रमाणके अस्तित्व और अभावमें संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। फल पूर्ववत् समझना चाहिए। परन्तु मन्त्र और कर्म विद्याके अंग हों, इसमें प्रमाण न होनेसे उपसंहार नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्वेषाम्" इत्यादिसे। मन्त्र आदि उन-उन उपनिषद्-विद्याओंके अङ्ग हैं, फलवती विद्याके सन्निहित होनेसे, तैत्तिरीय-

भाष्य

महे। बाढम्, अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे संनिधिसामर्थ्यात्। नहि संनिधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मादसावनाश्रयितुं युक्तः। ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं पश्यामः, कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थ-

भाष्यका अनुवाद

है, यद्यपि इसका विधान उपलब्ध नहीं होता है, तो भी हम सन्निधानके सामर्थ्यसे अनुमान करेंगे, क्योंकि सन्निधिके प्रयोजनत्वका सम्भव होते हुए इसका अनाश्रयण करना युक्त नहीं है। परन्तु मन्त्रोंका विद्यामें हम कुछ सामर्थ्य नहीं देखते हैं। और प्रवर्ग्य आदि कर्म जो अन्य प्रयोजनके लिए ही विनियुक्त हैं, वे विद्यार्थक भी हैं, ऐसा हम कैसे समझें? यह दोष नहीं है। मन्त्रोंकी विद्यामें भी

रत्नप्रभा

सन्निहितत्वात् तैत्तिरीयकगतपुरुषयज्ञवदिति समाधत्ते—बाढमिति। तथा च दृष्टान्तसंगतिः। सिद्धान्तिपक्षे सन्निधिवैयर्थ्यं बाधकमाह—नहीति। अफलमन्त्रादीनां फलवच्छेषत्वबोधनं सन्निधेरर्थवत्त्वम्। तत्सम्भवे सति अकस्मादर्थशून्यत्वेनाऽसौ सन्निधिराश्रयितुं नहि युक्त इत्यर्थः। नञ्पाठे तु अकस्माद् हेतुं विना असौ अर्थो नाश्रयितुं नहि युक्त इत्यर्थः। ननु मन्त्राणां विद्यासमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्याभावान्न विद्याशेषत्वमिति शङ्कते—नन्विति। पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्तीति' वाक्येन प्रवर्ग्यस्य क्रतुशेषत्वं श्रुतम्, अग्निष्टोमादेश्च तत्तद्वाक्येन स्वर्गाद्यर्थत्वम्, अतो न विद्यार्थत्वमित्याह—कथं चेति। मन्त्राणां विद्यासमवेत-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गत पुरुषयज्ञके समान, इस प्रकार समाधान करते हैं—"बाढम्" इत्यादिसे। इस प्रकार होनेपर दृष्टान्तसंगति है। सिद्धान्तीके पक्षमें सन्निधिकी व्यर्थता बाधक है। ऐसा कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे। निष्फल मन्त्र आदि फलवती विद्याके अंग हैं, इस प्रकारका ज्ञान करना ही सन्निधिकी अर्थवत्ता प्रयोजन है—और उसका सम्भव होनेपर अकस्मात् अर्थरहित-रूपसे सन्निधिका आश्रयण करना युक्त नहीं है [अर्थात् प्रयोजन-रहित सन्निधिका आश्रयण करना उचित नहीं है] यह अभिप्राय है। नञ्पाठमें—'अनाश्रयितुम्' इस पाठमें तो अकस्मात्—अर्थात् हेतुके विना इस सन्निधिका आश्रयण नहीं करना ठीक नहीं है [आश्रयण करना ही ठीक है यह भाव है]। मन्त्र अनुष्ठेयके प्रकाशन करनेमें समर्थ होते हैं, इनका विद्यासमवेत अर्थोंके प्रकाशनमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, अतः वे विद्याशेष—विद्याके अङ्ग नहीं हैं, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण चरन्ति' इस वाक्यसे प्रवर्ग्य क्रतुका अंगरूप है, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, और अग्निष्टोम आदि उस-उस वाक्यसे

भाष्य

स्वेनापि प्रतिपद्येमहीति । नैष दोषः । सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्, हृदयादिसंकीर्तनात् । हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि, तद्द्वारेण च हृदयं प्रविध्येत्येवं-जातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम् । दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्र-विनियोगः 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३।१५।३) इत्येवमादिः । तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति ।

भाष्यका अनुवाद

कुछ सामर्थ्यकी कल्पना की जा सकती है, हृदय आदिका संकीर्तन होनेसे, क्योंकि उपासनाओंमें प्रायः हृदय आदिका स्थान आदि भावसे उपदेश किया गया है, और उन हृदय आदि स्थानके द्वारा 'हृदयं प्रविध्य' इस प्रकारके मन्त्रोंका उपसनाका अंग होना उपपन्न है । तथा उपासनाओंमें भी 'भूः प्रपद्येऽमुनामुना०' (इस पुत्रके साथ मैं भूलोकको प्राप्त होता हूँ) इत्यादि मन्त्रोंका विनियोग देखनेमें आता है । इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त प्रवर्ग्य आदि कर्मोंका विद्यामें विनियोग होना कोई विरुद्ध नहीं है, जैसे वाजपेयमें बृहस्पतिसवका विनियोग विरुद्ध नहीं है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ।

रत्नप्रभा

हृदयनाड्यादिप्रकाशकत्वमस्तीत्याह—नैष इति । उपास्तिषु मन्त्रप्रयोगः क्वापि न दृष्ट इत्यत आह—दृष्टश्चेति । पुत्रस्य दीर्घायुष्यार्थं छान्दोग्ये त्रैलोक्यस्य कोशत्वेनोपास्तिरुक्ता, तत्र पितुरयं प्रार्थनामन्त्रः । तत्र 'अमुना' इति पुत्रस्य त्रिर्नाम गृह्णाति, अमुना पुत्रेण सह भूरितीमं लोकममुं च प्रपद्ये, न मे पुत्रवियोगः स्यादित्यर्थः । तत्तद्वाक्येन अन्यत्र विनियुक्तानामपि कर्मणां सन्निधिना विद्यासु

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वर्गादिके प्रयोजक हैं, ऐसा कहा गया है, अतः कर्म विद्याके अंग नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"कथं च" इत्यादिसे । मन्त्र आदि विद्यामें समवेत हृदय, नाड़ी आदिके प्रकाशक हैं, ऐसा कहते हैं—"नैष" इत्यादिसे । उपासनाओंमें मन्त्रप्रयोग किसी स्थलपर भी नहीं देखा गया है, इसपर कहते हैं—"दृष्टश्च" इत्यादिसे । पुत्रके दीर्घायुष्यके लिए छान्दोग्यमें त्रैलोक्य-की कोशरूपसे उपासना कही गई है, उसमें पिताका यह प्रार्थनामन्त्र है । यहाँ 'अमुना' इस शब्दसे पुत्रका तीन बार नामग्रहण करते हैं—इस पुत्रके साथ भू—इस लोक और परलोकको भी मैं प्राप्त करूँ, मुझे पुत्रका वियोग न हो, ऐसा अर्थ है । तत्-तत् वाक्यसे अन्यत्र

रत्नप्रभा

विनियोगो न विरुध्यते, इत्यत्र दृष्टान्तमाह—वाजपेय इति । "ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत" इति वाक्येन ब्रह्मवर्चसफले विनियुक्तस्यापि बृहस्पतिसवस्य "वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत" इति वाजपेयप्रकरणस्थवाक्येन वाजपेयोत्तराङ्गतया विनियोगवद् अविरोध इत्यर्थः । यद्यपि एकेन वाक्येन प्रकरणान्तरस्थबृहस्पतिसवस्य प्रत्यभिज्ञानमङ्गत्वविधानं च कर्तुमयुक्तम्, वाक्यभेदप्रसंगात्, अतो मासाग्निहोत्रवत् कर्मान्तरमेव बृहस्पतिसवाख्यमङ्गतया विधीयते इति न विनियुक्तस्य विनियोग इति भट्टगुरुतन्त्रद्वयसिद्धम्, तथापि यथा नित्याग्निहोत्रस्याऽश्वमेधप्रकरणे "वाग्यतस्यैतां रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति" इति नाम्ना प्रत्यभिज्ञा यथा वा दर्शपूर्णमासविकृतीष्टौ "आज्यभागौ यजति" इत्येकस्मिन् वाक्ये प्रकृतिस्थाज्यभागयोः पदेन प्रत्यभिज्ञा वाक्येन विधानम्, तथाऽत्रापि बृहस्पतिसवपदेन प्रत्यभिज्ञानं वाक्येनाङ्गताविधानं किं न स्यात्? न च साध्यभावार्थविधायकाख्यातपरतन्त्रं नामपदम्, न सिद्धकर्मप्रत्यभिज्ञाक्षममिति वाच्यम्, सिद्धस्याऽप्यङ्गतया पुनः साध्यत्वसम्भवेऽन्यथासिद्धाख्यातस्यैव प्रसिद्धार्थकनामपारतन्त्र्योपपत्तेः । न चैवं सति कुण्डपायिसत्रेऽप्यङ्गत्वेन नित्याग्नि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विनियुक्त कर्मोंका भी सन्निधिसे विद्याओंमें विनियोग विरुद्ध नहीं होता, इसपर दृष्टान्त कहते हैं—"वाजपेय" इत्यादिसे। 'ब्रह्मवर्चस्कामो बृहस्पति०' (ब्रह्मतेजकी इच्छा रखनेवाला बृहस्पतिसव करे) इस वाक्यसे ब्रह्मवर्चसके फलमें विनियुक्त बृहस्पतियज्ञके 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पति०' (वाजपेय यज्ञ करके बृहस्पतियज्ञ करे) वाजपेयके प्रकरणमें स्थित इस वाक्यसे वाजपेयके उत्तर अंगरूपसे जैसे विनियोगका अविरोध है, वैसे ही अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों और कर्मोंकी सन्निधिसे विद्यामें विनियोगका विरोध नहीं है, यह अर्थ है। यद्यपि एक वाक्यके बलसे अन्य प्रकरणमें वर्तमान बृहस्पतिसव-यागके प्रत्यभिज्ञान और अङ्गत्वका विधान करना अयुक्त है, क्योंकि वाक्यभेदका प्रसङ्ग होगा, इसलिए मासाग्निहोत्रके समान बृहस्पतिसव नामके अन्य कर्मका ही अङ्गरूपसे विधान किया जाता है, अतः विनियुक्तका विनियोग नहीं होता है, इस प्रकार भट्ट और गुरुके दो तन्त्रोंसे सिद्ध है, तो भी जैसे नित्य अग्निहोत्रका अश्वमेधयज्ञके प्रकरणमें 'वाग्यतस्यैताम्०' इसकी नामसे प्रत्यभिज्ञा और वाक्यसे विधान है, और जैसे दर्शपूर्णमासकी विकृतीष्टिमें 'आज्यभागौ यजति' इस प्रकारके एकवाक्यमें प्रकृतिस्थ आज्यभागपदसे प्रत्यभिज्ञा है, और वाक्यसे विधान है, वैसे यहाँ भी बृहस्पतिसवपदसे प्रत्यभिज्ञान होनेपर वाक्यसे अङ्गताका विधान क्यों नहीं होगा? अर्थात् होगा ही। यदि कोई शङ्का करे कि नामपद साध्य-साधन करने योग्य भावार्थका विधायक जो आख्यात लिङ् है, उसके अधीन है, सिद्ध कर्मकी प्रत्यभिज्ञा करनेमें समर्थ नहीं है? तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्ध होनेपर भी अङ्गरूपसे वह साध्य हो सकता है।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैषामुपसंहारो विद्यास्विति। कस्मात्? वेधाद्यर्थ-भेदात्। हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्नाः, अनभिसंबद्धास्त उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः, तेषां न ताभिः संगन्तुं

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—इन मन्त्रों और कर्मोंका विद्यामें उपसंहार नहीं है। किस कारणसे उपसंहार नहीं होता? वेध आदि अर्थका भेद होनेसे, क्योंकि 'हृदयं प्रविध्य' (हृदयका अत्यन्त वेध कर) इस प्रकारके मन्त्रोंके हृदयवेध आदि जो अर्थ हैं वे उपनिषद् में उक्त विद्याओंसे भिन्न—सम्बन्धरहित हैं। इन मन्त्रों और कर्मोंमें उस विद्यासे सम्बन्ध होनेकी

रत्नप्रभा

होत्रस्यैव विधिः स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात्। न च पूर्वतन्त्रविरोधः, उत्तर-तन्त्रस्य बलीयस्त्वात् पूर्वतन्त्रस्य स्वतन्त्रपरतन्त्रभावनाभेदे तात्पर्याच्च। तस्माद् एकस्यैव बृहस्पतिनामकस्य धात्वर्थस्य ब्रह्मवर्चसे विनियुक्तस्यापि वाजपेयाङ्गतया विनियोग इति भगवत्पादतात्पर्यम्। अस्ति च विनियुक्तस्य विनियोगे सर्वसम्मत-मुदाहरणं खादिरत्वादिकम्। तस्य क्रतौ विनियुक्तस्य वीर्यादिफलेऽपि विनियोगात्। तथा मन्त्रकर्मणामन्यत्र विनियुक्तानां विद्याशेषत्वमिति प्राप्ते सिद्धान्तयति—नैषामित्यादिना। विद्यासु हृदयादिसम्बन्धेऽपि वेधाद्यर्थानामसम्बन्धात् कृत्स्नमन्त्रार्थानामभिचारादिसम्बन्धलिङ्गेन सन्निधेः बलीयसा अभिचारादावेव मन्त्राणां विनियोग

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसलिए अन्यथासिद्ध आख्यातमें ही प्रसिद्ध अर्थके बोधक नामका पारतन्त्र्य है। उस रीतिसे 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' यह जो कुण्डपायी सत्रमें है, उसमें भी अङ्गत्वरूपसे नित्याग्निहोत्रकी विधि प्रसक्त होगी, यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस प्रसङ्गको इष्ट मानेंगे। परन्तु ऐसा स्वीकार करनेपर पूर्वमीमांसाके साथ विरोध होगा? विरोध नहीं होगा, क्योंकि उत्तरमीमांसा बलवती है और पूर्वतन्त्रका स्वतन्त्र और परतन्त्र भावनाविशेषमें तात्पर्य है। इससे एक ही बृहस्पतिसव नामक धात्वर्थका ब्रह्मवर्चसमें विनियुक्त होनेपर भी वाजपेयके अङ्गरूपसे विनियोग है, ऐसा भगवत्पाद आचार्यका तात्पर्य है। विनियुक्तके विनियोगमें सर्वसम्मत उदाहरण खदिरत्वादि विद्यमान भी है, क्योंकि वह क्रतुमें विनियुक्त है, तो भी उसका वीर्यादि फलमें विनियोग होता है। उसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त मन्त्र और कर्म विद्याके शेष हैं, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"नैषाम्" इत्यादिसे। यद्यपि विद्याओंमें हृदय आदिका सम्बन्ध है, तो भी वेध आदि अर्थोंका सम्बन्ध न होनेसे समस्त मन्त्रार्थोंका अभिचार आदिसे सम्बन्धरूप लिंग जो सन्निधिसे अधिक बलवान् है उससे अभिचार आदिमें ही मन्त्रोंका

भाष्य

सामर्थ्यमस्ति। ननु हृदयस्योपासनेष्वप्युपयोगात् तद्द्वारक उपासनासंबन्ध उपन्यस्तः। नेत्युच्यते, हृदयमात्रसंकीर्तनस्य ह्येवमुपयोगः कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत, न च हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः। हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्येत्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसम्बध्यते, आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थस्तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याऽभिसम्बन्धः। तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वाद् यज्ञेन कर्मणाऽभिसम्बन्धः। तद्विशेषसंबन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः। एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन केषांचिद् वचनेन केषांचित् प्रमाणान्तरेणेत्येव-

भाष्यका अनुवाद

सामर्थ्य नहीं है। परन्तु हृदयका उपासनाओंमें उपयोग है, अतः उनके द्वारा उपासनासे सम्बन्धका उपन्यास किया गया है। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि केवल हृदयके संकीर्तनके इस प्रकार उपयोगकी भले कल्पना की जा सके, परन्तु यहां केवल हृदय आथर्वण श्रुतिके मन्त्रका अर्थ नहीं है। 'हृदयं प्रविध्य०' (हृदयको चीर डाल शिराओंको तोड़ डाल) इस प्रकारका मन्त्रार्थ विद्याओंके साथ साक्षात् सम्बद्ध नहीं होता, क्योंकि यह अर्थ आभिचारिक कर्मके साथ 'सर्वं प्रविध्य' (शत्रुके सब अंगोंका विदारण कर) इस मन्त्रका साक्षात् सम्बन्ध है। उसी प्रकार 'देवः सवित.' (हे सूर्य देव, यज्ञका सम्पादन कर) इसमें यज्ञप्रसवरूप लिंग होनेसे इसका यज्ञकर्मसे सम्बन्ध है। उसके विशिष्ट सम्बन्धका तो अन्य प्रमाणसे शोधन करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य मन्त्र भी—कुछ लिंगसे, कुछ वचनसे और कुछ अन्य प्रमाणसे, ऐसे

रत्नप्रभा

इत्यर्थः। "देव सवितः प्रसुव" इति "प्रदक्षिणतोऽग्निं पर्युक्षेद्" इति वाक्यादग्निपर्युक्षणे "सावित्रं जुहोति कर्मणः पुरस्तात् सवने सवने जुहोति"; इति वाक्याद् वाजपेये कर्मविशेषे सम्बन्धोऽस्य मन्त्रस्येत्याह—तद्विशेषेति। उक्तं न्यायं "श्वेताश्व" इत्यादिष्वतिदिशति—एवमन्येषामिति। प्रमाणान्तरम्—प्रकरणा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विनियोग है, ऐसा अर्थ है। 'देव सवित प्रसुव' इस मन्त्रका 'प्रदक्षिणतोऽग्निं पर्युक्षेत्' इस वाक्यसे अग्निके पर्युक्षणमें और 'सावित्रं जुहोति०' इस वाक्यसे वाजपेय कर्मविशेषमें सम्बन्ध है, ऐसा कहते हैं—"तद्विशेष" इत्यादिसे। उक्त न्यायका 'श्वेताश्व०' इत्यादिमें अतिदेश करते हैं—"एवमन्येषाम्" इत्यादिसे। प्रमाणान्तर—प्रकरण आदि।

भाष्य

मर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न सन्निधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः। दुर्बलो हि सन्निधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'

भाष्यका अनुवाद

अन्य अर्थोंमें विनियुक्त हुए हैं और रहस्यमें—उपनिषदमें पढ़े गये हैं, तो भी केवल सन्निधिसे वे विद्याके शेष—अंग हों, यह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान०' (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याके समवायमें समान विषयमें दोनोंका विरोध होनेपर पूर्व-पूर्वसे पर-पर दुर्बल है, क्योंकि उत्तर प्रमाणसे निश्चित अर्थ दूर है—पूर्व प्रमाणसे व्यवहित है) इस सूत्रमें श्रुति आदिसे संनिधि दुर्बल है, ऐसा पूर्वमीमांसामें कहा

रत्नप्रभा

दिकम्। ननु लिङ्गादिभिरन्यत्र विनियुक्तानामपि सन्निधिना विद्यास्वपि विनियोगोऽस्त्वविरोधाद् इत्युक्तम्, तत्राह—दुर्बलो हीति। समवाये समानविषयत्वे द्वयोर्विरोधे, परस्य दौर्बल्यम्। कुतः? अर्थविप्रकर्षात्, स्वार्थबोधने परस्य पूर्वव्यवधानेन प्रवृत्तेरित्यर्थः। अयमाशयः—एकत्र विनियुक्तस्य निराकाङ्क्षत्वादन्यत्र विनियोगो विरुद्ध एव, परन्तु विनियोजकप्रमाणयोः समबलत्वेऽन्यतरविनियोगत्यागायोगादगत्या आकाङ्क्षोत्पादनेन विनियुक्तविनियोगः स्वीक्रियते, "यथा खादिरो यूपो भवति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्याद्" इति वाक्याभ्यां क्रतौ विनियुक्तस्य खादिरत्वस्य वीर्यफले विनियोगः। यत्र तु प्रमाणयोरतुल्यत्वम्, तत्र न स्वीक्रियते, प्रबलप्रमाणेन दुर्बल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई शंका करे कि लिंगादिसे अन्यत्र विनियुक्त कर्म और मन्त्रोंका विद्याओंमें भी विनियोग हो, क्योंकि कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहा गया है, उसपर कहते हैं—"दुर्बलो हि" इत्यादिसे। समवायमें दोनोंका समान विषय होनेसे विरोध होनेपर परका दौर्बल्य है। किससे? अर्थके विप्रकर्षसे—[अपने अर्थकी उक्तिके लिए पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा होनेसे उत्तरोत्तर विलम्बसे अर्थ कहता है, इससे] पूर्वके व्यवधानसे परकी स्वार्थावबोधनमें प्रवृत्ति होनेसे, ऐसा अर्थ है। तात्पर्य यह है—एक जगह जिसका विनियोग हो चुका है, निराकांक्ष होनेसे उसका अन्यत्र विनियोग विरुद्ध ही है, परन्तु यदि विनियोजक—विनियोग करानेवाले दो प्रमाण समान बलवाले हों, तो दोनोंमें से विनियोगका त्याग अयुक्त होनेसे अगत्या आकांक्षा उत्पन्न करके विनियुक्तका विनियोग स्वीकार किया जाता है, जैसे 'खादिरो यूपो भवति' (खदिरका यूप होता है) 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपम्०' (वीर्यकी

रत्नप्रभा

विनियोगबाधात् । यथा "कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि" इत्यस्याः ऋचः "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इति तृतीयाविभक्तिश्रुत्याऽन्यनिरपेक्षया गार्हपत्योपस्थानशेषत्वबोधिकया ऐन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्गप्राप्तमिन्द्रशेषत्वं बाध्यते। लिङ्गं हि न साक्षाच्छेषत्वं बोधयति,[1] किन्तु इन्द्रप्रकाशनमात्रं करोति । तेन च लिङ्गेनानेन मन्त्रेण इन्द्र उपस्थापयितव्य इति श्रुतिव्यवधानेन शेषत्वबोधकं लिङ्गं झटिति स्वार्थबोधकश्रुत्या बाध्यम् । तथा लिङ्गेन वाक्यं बाध्यम्, यथा— "स्योऽनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया सुवेशं कल्पयामि तस्मिन् सीदामृते

रत्नप्रभाका अनुवाद

इच्छा रखनेवाला खदिरका यूप बनावे) इन दो वाक्योंसे क्रतुमें विनियुक्त खादिरत्वका वीर्यफलमें विनियोग होता है । परन्तु जहांपर इस प्रकार दोनों प्रमाणोंमें तुल्यता न हो, वहांपर दोनों जगहमें विनियोगका स्वीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि प्रबल प्रमाणसे दुर्बल विनियोगका बाध होता है । जैसे 'कदाचन स्तरीरसि०' (हे इन्द्र, तू कभी भी घातक नहीं होता है, प्रत्युत आहुति देनेवाले यजमानपर प्रसन्न होता है) इस ऐन्द्री ऋचाकी 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमु०' इसमें 'ऐन्द्रया' यह तृतीयाविभक्तिश्रुति बाधक है क्योंकि अन्य निरपेक्ष तृतीयाविभक्तिश्रुति जो गार्हपत्योपस्थानके शेषत्वका बोध कराती है उस श्रुतिसे—इन्द्रके प्रकाश करनेकी जो सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यरूप लिंगसे प्राप्त इन्द्रशेषत्व—बाधित होता है, क्योंकि लिंग साक्षात् शेषत्वका ज्ञान नहीं कराता [जैसा श्रुति कराती है वैसा नहीं कराता] किन्तु इन्द्रका प्रकाशनमात्र करता है । उस लिंगसे 'इस मन्त्रसे इन्द्रका उपस्थान करना चाहिए' ऐसी श्रुतिकी कल्पना होती । उस श्रुतिसे शेषत्वका बोध होता है, इस प्रकार श्रुतिके व्यवधानसे शेषत्वबोधक लिंग शीघ्र ही स्वार्थबोधक श्रुतिसे बाधित होता है ।

---

१ श्रुति और लिङ्गके विरोधका उदाहरण—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यहांपर 'गार्हपत्यम्' यह द्वितीया है, अतः क्रियाके प्रति कर्म होनेसे गार्हपत्यका शेषित्व सिद्ध है । ऐन्द्र्या इस तृतीया श्रुतिसे 'कदाचन स्तरीरसि' इत्यादि ऐन्द्र्याख्यऋक् करण होनेसे उपस्थानक्रियाकी शेष है । यह श्रुतिमें प्रतिपादित शेषशेषिभाव 'कदाचन' इस ऋचाके इन्द्रदेवोक्तिसामर्थ्यरूप लिङ्गसे विरुद्ध है । इसलिए लिङ्गके अनुरोधसे 'गार्हपत्यम्' इस श्रुतिका सप्तमी-अर्थमें गार्हपत्यके समीपमें इन्द्रका उपस्थान करना चाहिए, ऐसा व्याख्यान करना उचित है या श्रुतिके अनुरोधसे लिङ्गका 'इन्द्र—ईश्वर स्वोचित क्रियासे गार्हपत्य है ? ऐसा व्याख्यान करना चाहिए इस प्रकार सन्देह होनेपर श्रुतिको विनियोगके लिए यद्यपि सामर्थ्यकी अपेक्षा है तो भी उसके ज्ञानकी उसको अपेक्षा न होनेसे ज्ञात यौन विनियोगके निर्वाहके लिए उसकी अन्यथा उपपत्ति न होनेसे सामर्थ्यके गम्यमान होनेके कारण पूर्वमें ज्ञान यौनविनियोगके अनुरोधसे ही लिङ्गकी स्थिति होती है । इसलिए उसीका श्रुतिके अनुसार उन्नयन करना चाहिए इत्यादि न्यायनिर्णयमें विस्तारसे प्रतिपादित है ।

रत्नप्रभा

प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः" इति मन्त्रभागयोः प्रत्येकं सदनकरणे पुरोडाशासादने तत्प्रकाशनसामर्थ्यलिङ्गेन श्रुतिद्वारा विनियोगे सति प्रतीतमेकवाक्यत्वं बाध्यते, तस्य कृत्स्नेऽपि मन्त्रे सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यम्, पुरोडाशासादनप्रकाशनसामर्थ्यं च लिङ्गं कल्पयित्वा श्रुतिकल्पनयोभयत्र कृत्स्नमन्त्रविनियोगबोधने द्वाभ्यां लिङ्गश्रुतिभ्यां व्यवधानेन श्रुत्या एकव्यवहितक्लृप्तलिङ्गात् दुर्बलत्वात्। न च सामर्थ्यं न कल्पयामीति वाच्यम्, असमर्थस्य विनियोगायोगात्। अत एव गङ्गापदस्य तीरबोधविनियोगे लक्षणारूपं सामर्थ्यं कल्प्यते। तथा वाक्येन प्रकरणं बाध्यम्, यथा साह्नप्रकरणाम्नातद्वादशोपसदां द्वादशाहीनस्येति वाक्येन अहीनाङ्गत्वबोधकेन प्रकरणप्राप्तसाह्नाङ्गत्वबाधादुत्कर्षः। प्रधानस्य अङ्गाकाङ्क्षारूपं प्रकरणं तस्याङ्गप्रधानवाक्यैकवाक्यतासामर्थ्यश्रुतिभिः कल्प्यमानाभिः स्वार्थविनियोगप्रमितौ व्यवधानेन अङ्गसामर्थ्यश्रुत्योर्द्वयोः कल्पकवाक्याद् दुर्बलत्वात्। तथा प्रकरणेन सन्निधिर्बाध्यः, यथा राजसूयप्रकरणेन तदन्तर्गताभिषेचनीयाख्यसोमयागविशेषसन्निधिपाठप्राप्तं शुनःशेपोपाख्यानादेरभिषेचनीयशेषत्वं बाधित्वा कृत्स्नराजसूयशेषत्वमापादितम्, सन्निधेः प्रकरणादिकल्पकत्वेन क्लृप्तप्रकरणाद् दुर्बलत्वात्। तथा सन्निधिना समाख्या बाध्यते, तथा हि—पौरोडाशिकसमाख्याके

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे 'स्योनन्ते सदनं करोमि' इस मन्त्रके प्रत्येक भागोंका पुरोडाशासादन और सदनकरणमें तत्प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्गसे श्रुतिकी कल्पना करके विनियोग किया जाय, तो प्रतीयमान जो एकवाक्यता है, उसका बाध होगा, क्योंकि सम्पूर्ण मन्त्रमें सदन-करणप्रकाशनसामर्थ्य और पुरोडाशासादनप्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गकी कल्पना करके श्रुतिकी कल्पना द्वारा दोनों स्थलोंमें सम्पूर्ण मन्त्रके विनियोगके बोधनमें लिङ्ग और श्रुतिसे व्यवहित होनेके कारण श्रुतिमात्रसे व्यवहित क्लृप्त लिङ्गकी अपेक्षा यह वाक्य दुर्बल है। सामर्थ्यकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सामर्थ्यरहित का विनियोग नहीं हो सकता है। इसीसे तीरबोधक विनियोगमें गङ्गापदके लक्षणारूप सामर्थ्यकी कल्पना की जाती है। वैसे वाक्यसे प्रकरणका बाध होता है, जैसे साह्नप्रकरणमें आम्नात द्वादश उपसदोंके 'द्वादशाहीनस्य' इस अहीनाङ्गत्वबोधक वाक्यसे प्रकरणप्राप्त साह्नाङ्गत्वके बाधसे वाक्यका उत्कर्ष है, क्योंकि प्रधानकी जो आकांक्षा है, वही प्रकरण है, अङ्गप्रधान वाक्यकी एकवाक्यताके सामर्थ्यसे कल्पित श्रुतियोंसे स्वार्थमें विनियोगकी प्रमितिका व्यवधान होनेसे अङ्गसामर्थ्य और श्रुति इन दोनोंके कल्पक वाक्यसे यह प्रकरण दुर्बल है। वैसे प्रकरणसे सन्निधिका बाध होता है। जैसे राजसूयप्रकरणसे तदन्तर्गताभिषेचनीय नामक सोमयाग विशेषकी सन्निधिसे प्राप्त शुनःशेपोपाख्यानादिका अभिषेचनीय शेषत्वका बाध करके सम्पूर्ण राजसूयशेषत्वका आपादन किया

भाष्य

(जै० सू० ३।३।१३) इत्यत्र । तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः, नह्येषां विद्याभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति । वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्ट्वा

भाष्यका अनुवाद

गया है । इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त प्रवर्ग्य आदि कर्म विद्याके शेष नहीं हो सकते, क्योंकि इनकी विद्याओंके साथ कुछ भी एकार्थता नहीं है । वाजपेयमें तो बृहस्पतियज्ञका अन्य विनियोग स्पष्ट है—वाजपेयेनेष्ट्वा०' (वाजपेययज्ञ करके

रत्नप्रभा

काण्डे आग्नेयपुरोडाशादिकर्मणां क्रमेण मन्त्रा आम्नाताः, तत्र दधिपयोरूपसान्नाय्यसन्निधौ "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे" इति मन्त्रः आम्नातः । तत्र समाख्याबलेन अस्य मन्त्रस्य पुरोडाशपात्रशुन्धनशेषत्वं प्राप्तं सन्निधिना बाधित्वा सान्नाय्यपात्रशुन्धनशेषत्वमापाद्यते । पुरोडाशसम्बन्धिकाण्डं पौरोडाशिकमिति पौरुषसमाख्यायाः काण्डान्तर्गतमन्त्रस्य पुरोडाशसम्बन्धसामान्यबोधकत्वेऽपि शेषशेषिभावरूपविप्रियोगबोधकत्वे सन्निध्याद्यपेक्षत्वेन दुर्बलत्वादिति । एवं विरोधे सति श्रुतिर्बाधिकैव, समाख्या बाध्यैव, मध्यस्थानां तु चतुर्णां पूर्वबाध्यत्वं परबाधकत्वं चेति श्रुतिलिङ्गसूत्रार्थः । तस्माल्लिङ्गादिना अन्यत्र विनियुक्तानां मन्त्राणां दुर्बलसन्निधिना न विद्यासु विनियोग इति सिद्धम् । तथा कर्मणामिति । कर्मणां विद्योपकारकत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, क्योंकि सन्निधि प्रकरणादिकी कल्पिका होनेसे क्लृप्त प्रकरणकी अपेक्षा दुर्बल है । वैसे सन्निधिसे समाख्या बाधित होती है । जैसे पौरोडाशिककाण्डमें आग्नेयपुरोडाश आदि कर्मोंके मन्त्र क्रमसे पढ़े गये हैं, उसमें दधिपयोरूप जो सान्नाय्य है उसकी सन्निधिमें 'शुन्धध्वम् दैव्याय कर्मणे' ऐसा मन्त्र कहा गया है, उसमें समाख्याके बलसे यह मन्त्र पुरोडाशपात्रशुन्धनका अङ्ग है यह प्राप्त हुआ, परन्तु उसका बाधकर सन्निधिसे सान्नाय्यपात्रके शुन्धनमें इस मन्त्रका अङ्गरूपसे विनियोग किया गया है । पुरोडाशसम्बन्धी जो काण्ड है, उसको पौरोडाशिक कहते हैं, इससे पुरुषकृत पौरोडाशिक समाख्या—संज्ञा है, अन्य काण्ड-प्रकरणगत मन्त्र सामान्य पुरोडाशके सम्बन्धका बोधन करता है, तो भी अङ्गाङ्गिभावरूप विनियोगके बोधन करनेमें सन्निधि आदिकी अपेक्षा होनेसे दुर्बल है । अतः ऐसा विरोध होनेपर श्रुति बाधक ही है और समाख्या बाध्य है, चार जो मध्यमें हैं—लिङ्गादि वे पूर्वसे बाध्य हैं और परके बाधक हैं, यह 'श्रुतिलिङ्ग' इत्यादि सूत्रका अर्थ है । इससे यह सिद्ध हुआ कि लिङ्गादि प्रमाणसे अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रोंका सामर्थ्यहीन सन्निधिप्रमाणसे विद्यामें विनियोग नहीं है । 'तथा

भाष्य

बृहस्पतिसवेन यजेत' इति । अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति । अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यात्, न तु बलवदबलवतोः प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता संभवति; बलवदबलवत्त्वविशेषादेव । तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न सन्निधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम्, अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्तु संनिधिपाठ इति संतोष्टव्यम् ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

बृहस्पतियज्ञ करे)। और यह एक प्रवर्ग्यकर्म एक बार उत्पन्न होकर विशेष बलवान् प्रमाणसे एकत्र विनियुक्त हो, फिर दुर्बल प्रमाणसे अन्यत्र भी विनियोगका भाजन बने यह युक्त नहीं है, क्योंकि दो प्रमाणोंमें यदि विशेष गृहीत न हो, तो ऐसा होगा। बलवान् और दुर्बल दो प्रमाणोंमें विशेष न समझा जाय, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि बलवत्त्व और दुर्बलत्व यही विशेष है। इसलिए इस प्रकारके मन्त्र या कर्म सन्निधिमात्रसे विद्याके अंग हों, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। अरण्यमें उनका अनुवचन आदि समान धर्म होनेसे सन्निधिमें पाठ है, ऐसा सन्तोष करना चाहिए ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

ताभिः सहैकफलत्वे च मानं किञ्चित् नास्ति इत्यर्थः । अपि चेति । उक्तार्थम् । ननु तर्हि वेधादिवाक्यानामुपनिषद्भिः सह पाठस्य का गतिस्तामाह—अरण्येति । तस्माद्वेधादिमन्त्रकर्मणां विद्यास्वनुपसंहार इति सिद्धम् ॥२५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मणाम्" इत्यादि । कर्म विद्याके उपकारक हैं और विद्याओंके साथ उनका समान फल भी है, इस प्रकार स्वीकार करनेमें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा अर्थ है। 'अपि च' इसका उक्त अर्थ है। परन्तु उपनिषद् वाक्योंके साथ वेधादि वाक्योंके पाठका क्या फल है? उसे कहते हैं—"अरण्य" इत्यादिसे। इससे वेधादिमन्त्र और कर्मोंका विद्यामें उपसंहार नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ २५ ॥



[१५ हान्यधिकरण सू० २६]

(प्रथम वर्णक)

उपायनमनाहार्यं हानायाह्रियतेऽथवा ।
अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाहृतिः ॥१॥
विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यः स्तुतिसाम्यतः ।
हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवादवत् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उपायन शब्दका उपसंहार नहीं करना चाहिए या हानके लिए करना चाहिए ?

पूर्वपक्ष—श्रुत नहीं होनेसे, आक्षेप नहीं होनेसे और विद्याका भेद होनेसे उपायनका उपसंहार नहीं करना चाहिए।

सिद्धान्त—विद्याका भेद होनेपर भी अर्थवादमें उपायनका उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि सामान्यतः स्तुति है और एकविंशादि अर्थवादके समान हानकी प्रत्यभिज्ञा होती है।

---

* तात्पर्य यह है कि 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्याम्, द्विषन्तः पापकृत्याम्' इत्यादि शाट्यायनी पाठ करते हैं। इसका अभिप्राय यह है—ज्ञानीके पुत्रस्थानीय सब प्राणी उसके वित्तस्थानीय कर्मोंका यथायोग्य ग्रहण करते हैं। और ताण्डिशाखावाले 'अश्व इव रोमाणि' इत्यादि पढ़ते हैं। आथर्वणिक 'तदा विद्वान्' इत्यादिका अध्ययन करते हैं। 'तदा विद्वान्' इत्यादि श्रुतिमें श्रुत निरञ्जन शब्दका 'भावीजन्मके कारणसे रहित' और साम्य—ब्रह्मस्वरूप, यह अर्थ है। यहाँपर तत्त्वज्ञानी पुरुषके पुण्यपापके परित्यागका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें परित्यक्त पुण्यपापका जो अन्य पुरुष द्वारा स्वीकार है उसका उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि त्यागश्रुतिमें अन्य स्वीकारका कहीं भी श्रवण नहीं है। यदि ऐसी आशङ्का की जाय कि अश्रुतका भी आक्षेप किया जाता है, तो यह असङ्गत है, क्योंकि अनुपपत्तिके रहनेपर ऐसा किया जाता है, परन्तु प्रकृतमें अनुपपत्ति नहीं है। अन्य द्वारा स्वीकार न होनेपर भी ज्ञानियोंका परित्याग अवश्य हो सकता है। अपि च, इतर स्वीकारवाक्य सगुणविद्यामें पठित है और त्यागवाक्य निर्गुण विद्यामें पठित है, इससे केवल हानिके श्रूयमाण होनेपर उपायन उपसंहृत नहीं हो सकता है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं कि यह सत्य है कि विद्याभेद है, और इसीलिए हम उपायनका अनुष्ठेयत्व-रूपसे उपसंहार नहीं करना चाहते हैं, परन्तु अर्थवादरूपसे उसका उपसंहार करनेकी कोशिश कर रहे हैं। जैसे श्रूयमाण पुण्य-पापके परित्यागसे ब्रह्मविद्याकी स्तुति की जाती है, वैसे अन्य द्वारा स्वीकार करनेसे भी ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा कर सकते हैं। अर्थवाद होनेसे हानोपायनश्रुतिका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है। इस प्रकारकी शङ्काके फेरमें नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि अन्य प्रमाण और प्रतिषिद्धके विरोधके न रहनेसे

(द्वितीय वर्णक)

विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् ।
दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥१॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् ।
*कर्त्रा नह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—विधूननशब्दका अर्थ चालन है या त्याग है ?

पूर्वपक्ष—विधूननशब्दका अर्थ चालन है, क्योंकि 'दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि' (ध्वजाके अग्रभागको चालन करते हैं) इत्यादि स्थलमें विधूननशब्दका चालन अर्थ देखा जाता है ।

सिद्धान्त—विधूननशब्दका अर्थ हान है, क्योंकि वाक्यशेषमें अन्योपायनका श्रवण है, और कर्ता जबतक परित्याग न करे तबतक अन्य उसका स्वीकार नहीं कर सकता है ।

यह भूतार्थवाद है । और यह जो पूर्वपक्षमें कहा गया है कि हानश्रुतिमें उपायन कहीं भी सुना नहीं जाता है, यह तो अत्यन्त तुच्छ विचार है, क्योंकि कौषीतकिश्रुतिमें हान और उपायन ये दोनों श्रुत हैं—'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति, अप्रिया दुष्कृतम्' इत्यादि । तत्शब्दका अर्थ है उसमें अर्थात् ब्रह्मलोककी प्राप्तिके समयमें । इसलिए कौषीतकीमें सुने गये हानका आथर्वणिक और ताण्डिशाखामें प्रत्यभिज्ञा होनेसे कौषीतकीमें उक्त उपायनका उपसंहार करना युक्त है । परन्तु अन्य अर्थवादसे सापेक्ष अर्थवाद कहींपर उपलब्ध नहीं है ? यह युक्त नहीं है, क्योंकि सामकी उपासनाका स्तावकरूपसे श्रुत 'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' इत्यादि अर्थवादका जो एकविंशत्व है, उसके निर्णयके लिए तैत्तिरीयकके सत्रप्रकरणके अर्थवादकी अपेक्षा है—'द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः', इस प्रकार उस स्थलमें सङ्ख्याका निर्वाह कहा गया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अर्थवाद होनेपर भी उपायनका उपसंहार करना चाहिए ।

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'सुकृतदुष्कृते विधूनुते' इस श्रुतिमें श्रूयमाण विधूनन शब्द 'दोधूयन्ते' इत्यादिके समान चालन अर्थका ही वाचक है, परित्यागका वाचक नहीं है—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि यद्यपि उक्त पूर्वपक्ष युक्त है, तथापि वाक्यशेषमें श्रूयमाण अन्यका स्वीकार परित्यागके बिना अनुपपन्न है, इससे विधूननशब्द चालन अर्थका ही वाचक है ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछन्दःस्तुत्यु-पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—हानौ, तु, उपायनशब्दशेषत्वात्, कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्, तत्, उक्तम्।

पदार्थोक्ति—[सूत्रवर्तितुशब्दः कैवल्यवाचकः, तथा च] हानौ तु—केवल-हानौ [श्रुतायां सत्यां ताण्ड्याथर्वणवाक्यद्वये त्यक्तयोरपि पुण्यपापयोरुपादानं कार्यम्, कुतः ?] उपायनशब्दशेषत्वात्—'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' इति कौषीतकीरहस्ये हानसन्निधौ श्रूयमाणस्य हानशब्देनापेक्षितस्योपादानार्थकोपायनशब्दस्य हानं प्रति शेषत्वावगमात्। अश्वरोमदृष्टान्तेन विधूतयोः पुण्यपापयोः परत्रावस्थानसापेक्षत्वात् परैरुपायनमावश्यकमिति भावः। अपेक्षितस्यान्यशाखास्थस्यान्यत्रोपसंहार आवश्यक इत्यत्र निदर्शनमाह—कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्—कुशावत्, छन्दोवत्, स्तुत्युपगानवत्, इत्यर्थः। [तत्र सम्मतिमाह] तद् उक्तम्—'प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' इत्यस्मिन् सूत्रे जैमिनिना पूर्वकाण्डे प्रतिपादितम्—अथवा वर्णकान्तरमनुरुध्येदं सूत्रमन्यथा व्याख्येयम्—तथाहि—हानौ तु—हानावेव [विधूननशब्दो भवितुमर्हति, कथम् ?] उपायनशब्दशेषत्वात्—उपायनशब्दस्य सन्निधौ पठितस्य विधूननशब्दस्य उपायनशब्दं प्रति अङ्गत्वात्। विधूननशब्दस्य तल्लक्षकत्वे–हानलक्षकत्वे निदर्शनमाह—कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदिति, अयमर्थः—यथा कुशादिस्थले शाखान्तरीयविशेषश्रवणम् निर्णायकम्, तद्वदत्रापि कुत्रचिद्विधूननशब्दसामीप्ये प्रतीयमानमुपायनं सर्वत्र विधूननस्य हानलक्षकत्वे प्रमितिजनकमिति, तदुक्तमित्यस्य पूर्ववदेव व्याख्या।

भाषार्थ—सूत्रस्थ तुशब्दका केवल अर्थ है, केवल हानिके श्रवणमें ताण्डि और आथर्वणोंके दोनों वाक्योंमें त्यक्त होनेपर भी पुण्य और पापका उपादान करना चाहिए, किससे ? 'तत्सुकृतदुष्कृते' इत्यादिकौषीतकीरहस्यमें हानकी सन्निधिमें हानशब्दापेक्षित उपादानार्थक श्रूयमाण उपायनशब्दके हानके प्रति अङ्ग होनेसे। अश्वरोमके दृष्टान्तसे विधूत पुण्यपापका अन्यत्र अवस्थानापेक्ष होनेसे अन्योंसे उपादान होना चाहिए, यह भाव है। अन्य शाखामें रहनेवाले अपेक्षित-धर्मोंका अन्यत्र उपसंहार करना चाहिए, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—कुशा इत्यादिसे। कुशाके समान छन्दके समान, स्तुत्युपगानके समान।

सम्मति देते हैं 'तदुक्तम्'। भगवान् जैमिनिने 'प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' इस सूत्रमें पूर्वकाण्डमें इस अर्थका प्रतिपादन किया है। अथवा अन्य वर्णकके अनुसार इस सूत्रकी अन्य रीतिसे व्याख्या करनी चाहिए, विधूननशब्दको हानि अर्थमें ही लेना चाहिए क्योंकि उपायनशब्दकी सन्निधिमें पठित विधूननशब्द उपायनशब्दका अङ्ग है, विधूननशब्द हानलक्षक है उसमें कुशेत्यादि दृष्टान्त है— कुशा आदि स्थलमें अन्य शास्त्रीय विशेषका श्रवण निर्णायक है, वैसे यहाँ भी कहीं विधूननशब्दके समीपमें प्रतीयमान उपायनशब्द सर्वत्र स्थलमें विधूनन हानका लक्षक है, इस प्रकार प्रमापक है, 'तदुक्तम्' इसकी व्याख्या पूर्व प्रणालिसे करनी चाहिए।

भाष्य

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' (छा० ८।१३।१) इति। तथाथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय

भाष्यका अनुवाद

'अश्व इव रोमाणि विधूय०' (जैसे अश्व अपने रोमोंको झाड़कर—रोमोंसे धूलि आदिको निकाल कर निर्मल होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानसे पापको—धर्माधर्मको निकालकर, या जैसे राहुग्रस्त चन्द्र राहुके मुखसे निकलकर भास्वर—प्रकाशमान होता है, वैसे ही सब अनर्थोंके आश्रय शरीरका त्याग करके यहीं ध्यानसे कृतकृत्य होकर नित्य ब्रह्मलोकको प्राप्त करता हूँ—प्रत्यक्‌रूप प्राप्त करता हूँ)

रत्नप्रभा

हानौ त्विति। यथाऽश्वो रजोयुक्तानि जीर्णरोमाणि त्यक्त्वा निर्मलो भवति, तथाऽहमपि पापं विधूय कृतात्मा निर्मलीकृतचित्तः सन्, यथा वा राहुग्रस्तश्चन्द्रो राहुमुखात् प्रमुच्य स्पष्टो भवति, तथा शरीरं धूत्वा त्यक्त्वा देहाभिमानान्मुक्तः सन् अकृतं कूटस्थं ब्रह्मात्मकं लोकम् अभि—प्रत्यक्त्वेन सम्भवामीत्यर्थः। यथा नद्यः समुद्रं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"हानौ तूपायन०" इत्यादि। जैसे घोड़ा रजोयुक्त जीर्ण रोमोंका त्यागकर निर्मल हो जाता है, वैसे ही मैं भी पापका विधूनन करके कृतात्मा अर्थात् निर्मल चित्तवाला होकर, अथवा जैसे राहुग्रस्त चन्द्रमा राहुके मुखसे छुटकारा पाकर स्पष्ट दीखता हुआ चमकता है वैसे ही [अकृत-अशुद्ध अथवा प्रवाहरूपसे अनादिसिद्ध] इस शरीरको छोड़कर देहाभिमानसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो मैं भी अकृत-कूटस्थ ब्रह्मात्मक लोकको अभि—प्रत्यक्‌रूपसे प्राप्त करता हूँ।

भाष्य

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।२।८) इति । तथा शाट्यायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति । तथैव कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रियाः ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति । तदिह क्वचित् सुकृत-दुष्कृतयोर्हानं श्रूयते क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनं क्वचित्तु-भयमपि हानमुपायनं च । तद्यत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद् वक्तव्यमस्ति । यत्राप्युपायनमेव श्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति, अन्यै-रात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात् तद्धानस्य । यत्र तु हान-

भाष्यका अनुवाद

ऐसी ताण्डियोंकी श्रुति है । इसी प्रकारकी आथर्वणिकों की भी श्रुति है—'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः०' (जैसे बहनेवाली नदियां नामरूपका त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, वैसे ही अविद्याकृत नाम और रूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परसे—अक्षरसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त करता है) इसी प्रकार शाट्यायन शाखावाले कहते हैं—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' (उसके—मृतक विद्वान्‌के पुत्र धन प्राप्त करते हैं, मित्र पुण्यकर्म और शत्रु पापकर्म प्राप्त करते हैं)। कौषीतकी की भी 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया०' (शरीरत्यागके समयमें विद्वान् उस विद्याबलसे सुकृत और दुष्कृतका त्याग करता है, उसके प्रिय बन्धु—सुहृत् सुकृतको और शत्रु दुष्कृतको प्राप्त करते हैं) ऐसी श्रुति है। इन उदाहृत वाक्योंमें कहींपर सुकृत और दुष्कृतके त्यागकी श्रुति है, कहींपर उन दोनोंका ही विभागसे प्रिय और अप्रिय पुरुषोंसे ग्रहणका श्रवण है । उसमें जहां दोनोंकी श्रुति है वहां

रत्नप्रभा

प्राप्य नामरूपे त्यजन्ति, तथा विद्वानित्यर्थः। निरञ्जनः—शुद्धः, साम्यम्—ब्रह्म। तस्य मृतस्य विदुषः, दायं धनम्। तत् तेन विद्याबलेन सुकृतदुष्कृते त्यजतीत्यर्थः। उपा-यनम् ग्रहणम्, तस्य त्यागपूर्वकत्वात् अत्यक्तयोः ग्रहणायोगात्त्यागोऽर्थादायाति । यत्र तु त्याग एव श्रुतः, तत्र हानोपायनयोः सहभावस्याऽऽवश्यकत्वानावश्यकत्वाभ्यां

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है । जैसे नदियाँ समुद्रको प्राप्तकर नाम और रूपका त्याग करती हैं वैसे ही विद्वान्, यह अभिप्राय है । निरञ्जन—शुद्ध, साम्य—ब्रह्म । तस्य—मृत विद्वान्‌का। दाय—धन। तत्—उस विद्याबलसे विद्वान् सुकृत और दुष्कृतका विधूनन—निरसन करता है अर्थात् सुकृत और दुष्कृतको त्याग देता है, ऐसा अर्थ है । उपायन—ग्रहण । ग्रहण त्यागपूर्वक होता है, क्योंकि

भाष्य

मेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायाम-श्रवणादसंनिपातः, विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शाखान्तरीयस्य श्रवणस्य। अपि चाऽऽत्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानं परकर्तृकं तूपायनं तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत। तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति।

भाष्यका अनुवाद

कुछ वक्तव्य नहीं है। परन्तु जहां ग्रहणकी ही श्रुति है, त्यागकी श्रुति नहीं है वहां भी त्याग अर्थतः प्राप्त होता है, क्योंकि यदि दूसरोंसे अपने सुकृत और दुष्कृत ग्रहण किये जांय, तो ऐसी अवस्थामें उसका त्याग आवश्यक है। परन्तु जहां त्यागकी ही श्रुति है, ग्रहणकी श्रुति नहीं है, वहां ग्रहण प्राप्त होता है या नहीं? ऐसा संशय होनेपर श्रवण न होनेसे नहीं प्राप्त होता है, और अन्य शाखामें जो श्रुति है, वह अन्य विद्यामें है। और सुकृत एवं दुष्कृतका त्याग आत्मकर्तृक है और ग्रहण अन्यकर्तृक है। त्याग और ग्रहण इन दोनोंके आवश्यक न होनेसे त्यागसे ग्रहणका आक्षेप किस प्रकार किया जाता है, इसलिए त्यागमें ग्रहणकी प्राप्ति नहीं है।

रत्नप्रभा

संशयमाह—यत्र त्विति। अत्र पूर्वपक्षे स्तुतिप्रकर्षासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सि-द्धिरिति फलम्। यद्यपि ताण्ड्याथर्वणश्रुत्योर्निर्गुणविद्यार्थयोः कर्महानमेव श्रुतं नोपायनम्, तथापि कौषीतकिश्रुतौ पर्यङ्कस्थसगुणब्रह्मविद्यायामुपायनं श्रुतमत्रोपसंहर्त-व्यमित्याशङ्क्य विद्याभेदान्नोपसंहार इत्याह—विद्यान्तरेति।

किंच, यथा मन्त्रकर्मणामनावश्यकत्वाद् विद्यास्वनुपसंहार उक्तः, तथा परैरुपादानं विनापि हानस्य अनावश्यकत्वान्न प्राप्तिरिति दृष्टान्तसंगत्या प्राप्ते सिद्धान्तयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अत्यक्तका ग्रहण युक्त नहीं होता, इसलिए ग्रहणके कथनसे त्याग अर्थतः आ जाता है। परन्तु जहाँपर त्याग ही श्रुतिमें उक्त है वहाँपर हान और उपायनका सहभाव आवश्यक है या नहीं? ऐसा संशय कहते हैं—"यत्र तु" इत्यादिसे। यहाँ पूर्वपक्षमें स्तुतिके प्रकर्षकी असिद्धि फल है, और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है। यद्यपि ताण्ड्य और आथर्वण निर्गुण विद्यार्थक श्रुतियोंमें कर्महान ही श्रुत है उपायन श्रुत नहीं है, तो भी कौषीतकी श्रुतिमें पर्यंकस्थ सगुण ब्रह्मविद्यामें उपायनका श्रवण है, उसका यहाँपर उपसंहार करना चाहिए। ऐसी आशंका करके विद्याभेद होनेसे उपसंहार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"विद्यान्तर" इत्यादिसे।

और जैसे आवश्यक न होनेके कारण मन्त्रों और कर्मोंका विद्याओंमें अनुपसंहार कहा गया है, वैसे ही परकर्तृक ग्रहणके बिना भी हानकी प्राप्ति है, इससे अनावश्यक होनेसे ग्रहणकी प्राप्ति नहीं है,

भाष्य

अस्यां प्राप्तौ पठति—हानौ त्विति। हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति, तच्छेषत्वात्। हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषीतकिरहस्ये। तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः। यदुक्तम्—अश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वाद् अनावश्यकत्वाच्चासंनिपातः—इति, तदुच्यते। भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत, नत्विह हानमुपायनं वानुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते, विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम्—इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते, ते चाऽस्य सुहृद्द्विषत्सु

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—"हानौ तु०" इत्यादि। यद्यपि इसमें केवल त्याग श्रूयमाण है, तो भी ग्रहणका सन्निपात होना युक्त है, क्योंकि ग्रहण त्यागका शेष है, कारण कि कौषीतकिरहस्यमें ग्रहणशब्द त्यागशब्दके शेषरूपसे ज्ञात है, इसलिए अन्यत्र केवल त्यागशब्दकी श्रुति होनेपर भी ग्रहण अनुवृत्त होता है। श्रुत न होनेसे, अन्य विद्यामें होनेसे और अनावश्यक होनेसे सन्निपात नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसका समाधान किया जाता है। यदि एक स्थानमें श्रुत अनुष्ठेयको अन्यत्र ले जाने की इच्छा हो, तो यह व्यवस्था हो सकती है, परन्तु यहां त्याग या ग्रहण अनुष्ठेयरूपसे नहीं कहा जाता है, क्योंकि ये दोनों तो विद्याकी स्तुतिके लिए कहे गये हैं। ऐसी महाभाग्यशाली विद्या है कि जिसके सामर्थ्यसे इस विद्वान्‌के संसारकारणभूत सुकृत और दुष्कृत

रत्नप्रभा

हानौ त्वित्यादिना। उपायनशब्दस्य शेषत्वात्—हानशब्देनापेक्षितत्वादिति सूत्रार्थः। अश्वरोमदृष्टान्तेन विधूतयोः पुण्यपापयोः परत्रावस्थानसापेक्षत्वात् परैरुपादानं वाच्यमिति भावः। विद्याभेदे गुणानुपसंहार इति व्यवस्था अनुष्ठानविषया, न स्तुतिविषयेत्याह—तदुच्यते इति। मन्यते सूत्रकार इत्यर्थः। ननु श्रुतत्यागार्थ-

भाष्य

निविशेते इति। स्तुत्यर्थे चास्मिन् संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय। प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षाऽर्थवादान्तरप्रवृत्तिः—'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु। कथं हीहैकविंशतादित्यस्याभिधीयेताऽनपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' इत्येतस्मिन्। तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय' इत्येवमादिषु वादेष्वपि 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येव-

भाष्यका अनुवाद

छुट जाते हैं और वे इसके मित्र और शत्रुओंमें प्रवेश करते हैं। और स्तुतिके लिए किये गये इस संकीर्तनमें त्यागके अनन्तर होनेवाले ग्रहणके कचित् श्रुत होनेसे अन्यत्र भी त्यागकी श्रुतिमें स्तुतिप्रकर्षके लाभके लिए ग्रहणकी अनुवृत्ति मानी जाती है। और एक अर्थवादकी अपेक्षासे अन्य अर्थवादकी प्रवृत्ति 'एकविंशो वा०' (इस लोकसे यह आदित्य इक्कीसवां है) इत्यादिमें प्रसिद्ध है, क्योंकि 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रयः०' (बारह महीने, पांच ऋतुएँ, ये तीन लोक, यह आदित्य इक्कीसवाँ है) इस अन्य अर्थवादकी यदि अपेक्षा न हो, तो यहाँ आदित्य इक्कीसवां है, ऐसा किस प्रकार कहा जाय? इसी प्रकार 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय' (दो त्रिष्टुभ् सेन्द्रियत्वके लिए होते हैं) इत्यादि वादमें 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्'

रत्नप्रभा

वादेनापि स्तुतिसिद्धौ किमर्थमुपायनार्थवाद आनीयते, तत्राह—स्तुतिप्रकर्षलाभायेति। नन्वर्थवादस्य विधिना सम्बन्धः प्रसिद्धः, नार्थवादान्तरेण इत्यत आह—प्रसिद्धा चेति। इतः—भूलोकादित्यर्थः। हेमन्तशिशिरयोरैक्यात् पञ्चर्तवः। यज्ञस्य पुरुषरूपकल्पनया 'सेन्द्रियत्वाय त्रिष्टुभौ भवतः' इत्युक्तं बह्वृचब्राह्मणे। तत्र त्रिष्टुभश्छन्दोमात्रत्वात् कथमिन्द्रियत्वकल्पना? इत्याकाङ्क्षायां यजुर्वाक्यं संबध्यते

रत्नप्रभाका अनुवाद

मानते हैं, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु श्रुत जो हान है उस अर्थवादसे भी स्तुति सिद्ध होती है, फिर भी उपायनरूप अर्थवाद किस लिए लाया जाता है? इसपर कहते हैं—"स्तुतिप्रकर्षलाभाय" इत्यादिसे। परन्तु अर्थवादका विधिके साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, अन्य अर्थवादके साथ नहीं, इसपर कहते है—'प्रसिद्धा च" इत्यादिसे। इतः—भूलोकसे, यह अर्थ है। हेमन्त और शिशिरको एक मिलनेसे पाँच ऋतुएँ हैं। यज्ञकी पुरुषाकार कल्पना की गई है, इससे उसमें 'सेन्द्रियत्वके लिए दो त्रिष्टुभ होते हैं' ऐसा बह्वृचब्राह्मणमें कहा गया है।

भाष्य

माद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते । विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरभ्युपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् । उपायन-

भाष्यका अनुवाद

(इन्द्रिय ही त्रिष्टुप् है) इत्यादि अर्थवादकी अपेक्षा दीखती है। इसी प्रकार यह प्राप्तिवाद विद्याकी स्तुतिके लिए है, अतः एकके सुकृत और दुष्कृत दूसरोंसे

रत्नप्रभा

इत्यर्थः । नन्वमूर्तयोः पुण्यपापयोः उपादानस्यासम्भवादनुपसंहार इत्यत आह—**विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चेति** । विद्वन्निष्ठयोरेव तयोः फलं परे प्राप्नुवन्ति विद्यासामर्थ्यादित्युपयन्तिपदेनोच्यते इत्यर्थः । ननु अन्यनिष्ठकर्मणोरन्यत्र फलसञ्चारः कथम् । ननु वचनबलादिति चेत्, न; 'फलमुपयन्ति' इति श्रुतेः । न च यथा पुत्रकृतश्राद्धस्य पितृषु फलम्, तथात्रेति वाच्यम्; यत् फलमुद्दिश्य यत् कर्म विहितं तस्य तत्फलमिति न्यायेन पितॄणां तृप्त्युद्देशेन कृतकर्मणो व्यधिकरणफलत्वेऽपि विदुषः कर्मकालेऽनुद्दिष्टव्यधिकरणफलायोगात् । किञ्च, विदुषो देहपाते कर्मणोऽसत्त्वाद् यावज्जीवं विद्वत्सेवकस्य, तद्द्वेषिणो वा फलं न स्यादित्यत आह—**नातीवाभिनिवेष्टव्यमिति** । विद्वत्सेवाद्वेषाभ्यां विद्वन्निष्ठपुण्यपापतुल्ये पुण्यपापे

रत्नप्रभाका अनुवाद

त्रिष्टुभ छन्दोमात्र होनेसे उसकी इन्द्रियत्वरूपसे कल्पना किस प्रकार की गई है? ऐसी आकांक्षा होनेपर 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुभ्' इस यजुर्वाक्यका सम्बन्ध किया जाता है, यह अर्थ है। अमूर्त पुण्य और पापके उपादानका सम्भव न होनेसे अनुपसंहार है, इसपर कहते हैं—"विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्च" इत्यादिसे। सुकृत और दुष्कृतके विद्वन्निष्ठ होनेपर ही उनके फलको दूसरे प्राप्त करते हैं, विद्याके सामर्थ्यसे, ऐसा [कौषीतकी और शाट्यायनिवाक्यके] 'उपयन्ति' इस पदसे कहा गया है, ऐसा अर्थ है। यहांपर शंका होती है कि अन्यनिष्ठ कर्मोंका अन्यत्र फलसंचार किस प्रकार हो सकता है? वचनबलसे, यदि ऐसा कहो, तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'फलमुपयन्ति' (वे फल प्राप्त करते हैं) इस प्रकारकी श्रुति है। जिस प्रकार पुत्र द्वारा किये गये श्राद्धका फल पितृ आदिको प्राप्त होता है उसी तरह यहाँ भी हो सकता है, यदि ऐसा कहो, तो वह भी उचित नहीं है; क्योंकि 'जिस फलके उद्देशसे जिस कर्मका विधान है उसका वह फल है, इस न्यायसे पितृगणोंकी तृप्तिके उद्देशसे जो कर्म किया गया है उसका फल व्यधिकरण है। [कर्म और फलका अधिकरण—स्थान एक नहीं है, एक कर्म करता है, तो दूसरा उसका फल भोगता है], तो भी विद्वान्‌के कर्मकालमें अनुद्दिष्ट व्यधिकरण फलका योग नहीं है। किंच, उसी प्रकार विद्वान्‌के देहपातसमयमें कर्मके न रहनेसे उसके जीवन पर्यन्त [जबतक वह विद्वान् जीवित है, तबतक] विद्वत्सेवक अथवा विद्वद्द्वेषीको फल नहीं होगा, इससे कहते हैं—

भाष्य

शब्दशेषत्वादिति तु शब्दशब्दं समुच्चारयन् स्तुत्यर्थमेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति। गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानावनुवृत्तिं ब्रूयात्। तस्माद् गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्। कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्। तद्यथा शाट्यायनिनाम्—'कुशा वान-

भाष्यका अनुवाद

कैसे प्राप्त किये जांय ? इस प्रकार अत्यन्त अभिनिवेश करना युक्त नहीं है, क्योंकि 'उपायनशब्दशेषत्वात्' (उपायनशब्द हानका अंग है) इसमें 'शब्द' पद कहकर भाष्यकार सूचित करते हैं कि त्यागमें ग्रहणकी अनुवृत्ति स्तुतिके लिए ही है, क्योंकि यदि गुणोंके उपसंहारकी विवक्षा होती, तो उपायनके अर्थकी ही त्यागमें अनुवृत्ति कहते, इसलिए गुणोपसंहारविचारके प्रसंगसे स्तुतिके उपसंहारका प्रदर्शन करनेके लिए यह सूत्र है। 'कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत्' (कुशा, छन्द, स्तुति और उपगानके समान) इस उपमाका ग्रहण है। वह इस प्रकार

रत्नप्रभा

सेवकद्वेपिणोर्जायेते, जातयोः फलतः स्वीकारः उपायनमिति परिहारस्य सुलभत्वादनाग्रह इत्यर्थः। उपायनादेः स्तुतित्वे लिङ्गमाह—उपायनेति। उपायनविवक्षायां उपायनस्यैवोपसंहारं सूत्रकारो ब्रूयाद्, अतः शब्दस्य तं वदन् स्तुतिं सूचयतीत्यर्थः। विद्याविचारात्मकपादे स्तुतिविचारस्य का सङ्गतिरित्यत आह—तस्मादिति। शाखान्तरस्थो विशेषः शाखान्तरेऽपि ग्राह्य इत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुशेति। कुशाः उद्गातॄणां स्तोत्रगणनार्थाः शलाकाः दारुमय्यः। भोः कुशाः यूयं वानस्पत्याः वनस्थमहावृक्षः वनस्पतिः, तत्प्रभवाः स्थ, ता इत्थंभूताः यूयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नातीवाभिनिवेष्टव्यम्" इत्यादिसे। विद्वान्‌की सेवासे और उसके साथ द्वेषसे विद्वन्निष्ठ पुण्यके समान पुण्य और पापके समान पाप उसके सेवक और द्वेषीमें उत्पन्न होते हैं और जो उत्पन्न होते हैं उनका फलतः स्वीकार करना उपायन है, इस प्रकार परिहार सुलभ है, अतः मिथ्या तर्कका अवकाश नहीं है, ऐसा अर्थ है। उपायन आदि स्तुति है, इसमें लिंग हेतु कहते हैं—"उपायन" इत्यादिसे। यदि उपायनकी विवक्षा होती, तो सूत्रकार उपायनका ही उपसंहार कहते [न कि उपायनशब्दका] अतः उपायनशब्दका उपसंहार कहते हुए स्तुति सूचित करते हैं, ऐसा अर्थ है। परन्तु विद्याका विचार जिस पादमें है उस पादमें स्तुति-विचारकी सङ्गति किस प्रकार हो सकती है ? इसपर कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। एक शाखामें स्थित विशेष अन्य शाखामें भी ग्राह्य है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"कुशा" इत्यादिसे। कुशा—स्तोत्रसंख्याकी गणनाके लिए उद्गाताओंकी लकड़ीकी बनी हुई शलाका। हे कुशो, तुम वानस्पत्य हो, जंगलमें स्थित महा-

भाष्य

स्पत्याः स्थ ता मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते। यथा च क्वचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इति पैङ्ग्याम्नानात् प्रतीयते। यथा च षोडशिस्तोत्रे केषांचित् कालविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये' इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रति-

भाष्यका अनुवाद

'कुशा वानस्पत्याः स्थ०' (हे कुशो, तुम वनस्पतिसे उत्पन्न हुए हो, तुम मेरी रक्षा करो) इस भाल्लवियोंके निगममें कुशोंकी समानरूपसे वनस्पतिसे उत्पत्तिका श्रवण होनेपर शाट्यायनियोंका 'औदुम्बराः' (उदुम्बरसे उत्पन्न होते हैं) ऐसा विशेषश्रवण होनेसे उदुम्बरसे उत्पन्न हुए कुशोंका आश्रयण किया जाता है) और जैसे देवच्छन्द और और असुरच्छन्दका अविशेषसे पौर्वापर्यप्रसङ्ग होनेसे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' (देवच्छन्द पूर्व हैं) ऐसा पैङ्गियोंकी श्रुतिसे प्रतीत होता है। और इसी प्रकार षोडशीके स्तोत्रमें कितनोंको कालविशेष प्राप्त नहीं है, उसमें 'समयाध्युषिते सूर्ये' (सूर्यके उदयके सन्निधानमें उदयके

रत्नप्रभा

मा पात। मां रक्षतेति यजमानप्रार्थना। अत्र "ताः" इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशादौदुम्बर्य इति भाष्याच्च शलाकासु कुशाशब्दस्य स्त्रीत्वं मन्तव्यम्। 'अस्त्री कुशम्' इत्यनुशासनात्। छन्दोदृष्टान्तं व्याचष्टे—यथा चेति। 'नवाक्षराणि छन्दांसि आसुराण्यन्यानि दैवानि, तेषां कश्चित् छन्दोभिः स्तुवते' इत्यत्राविशेषप्राप्तौ पैङ्गिवाक्याद् विशेषग्रह इत्यर्थः। स्तुतिं विवृणोति—यथेति। अतिरात्रे षोडशिनो ग्रहस्य अङ्गभूतं स्तोत्रं कदेति च्छन्दोगादीनामाकाङ्क्षायामुदयसमयाविष्टे सूर्ये "षोड-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कुश वनस्पतिसे उत्पन्न हुई हो, ऐसी तुम मेरा रक्षण करो—इस प्रकार यजमानकी प्रार्थना है। इस मन्त्रमें 'ताः' इस स्त्रीलिंगका निर्देश होनेसे और 'औदुम्बर्य्यः' ऐसा भाष्यकारका प्रयोग होनेसे शलाकाके अर्थमें कुशाशब्द स्त्रीलिंग है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि 'अस्त्री कुशम्' (कुशशब्द स्त्रीलिंग नहीं है) ऐसा अनुशासन है। छन्दोंका दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे। 'नवाक्षराणि छन्दांसि' (नौ अक्षरवाले छन्द आसुर छन्द हैं और अन्य देव छन्द हैं) कहींपर—'छन्दोभिः स्तुवते' इस मन्त्रमें अविशेषसे—कोई विशेष न होनेके कारण उन सब छन्दोंकी प्राप्ति होनेपर 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इस पैंगीवाक्यसे विशेष समझा जाता है, ऐसा अर्थ है। स्तुतिका विवरण करते हैं—"यथा" इत्यादिसे।

भाष्य

पत्तिः। यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित् समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः। यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वय एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः

भाष्यका अनुवाद

समयमें षोडषी स्तोत्र कहे) ऐसी ऋचाका अध्ययन करनेवालोंकी श्रुति होनेसे कालविशेषकी प्रतिपत्ति होती है। और जैसे कितने ही उपगानका अविशेषसे आम्नान करते हैं किन्तु भाल्लवी विशेषसे आम्नान करते हैं। जैसे इन कुशा आदिमें अन्य श्रुतिमें स्थित विशेषके साथ अन्वय है, वैसे ही त्यागमें भी ग्रहणका अन्वय है, ऐसा अर्थ है। एक श्रुतिमें कहे गये विशेषका अन्य श्रुतिमें स्वीकार न करनेवालेको सर्वत्र ही विकल्प हो जायगा,

रत्नप्रभा

शिनः स्तोत्रम्" इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषग्रह इत्यर्थः। ऋचोऽधीयत इति—आर्चाः। उपगानं विभजते—यथेति। 'ऋत्विज उपगायन्ति' इत्यविशेषश्रुतेः 'नाध्वर्युरुपगायति' इति श्रुत्यन्तरादध्वर्युभिन्नाः ऋत्विजः उपगायन्तीति विशेषग्रह इत्यर्थः। ननु कुशादिवाक्यानामपि किमिति विशेषश्रुत्यन्तरैकवाक्यताऽभ्युपगम्यते, तत्राह—श्रुत्यन्तरकृतं हीति। सामान्यविशेषयोरेकवाक्यतारूपायां गतौ सत्यां वाक्यभेदं कृत्वा 'नाध्वर्युः' इति निषेधादविशेषश्रुतेश्चाध्वर्युरुपगायति, नोपगायति चेत्येवं सर्वत्र विकल्पो न युक्तः। व्रीहियवयोस्त्वगत्या विकल्प आश्रित इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतिरात्रमें षोडशीके ग्रहणका अंगभूत स्तोत्र कब होता है, ऐसी छन्दोग आदिकी आकांक्षा होनेपर उदयसमयमें जब सूर्यमण्डल आविष्ट हो, तब षोडशीका स्तोत्र होता है) इस प्रकार की आर्च-श्रुतिसे कालविशेषका ग्रहण है, यह अर्थ है। जो ऋचाका अध्ययन करते हैं वे आर्च कहलाते हैं। उपगानका विभाग करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। 'ऋत्विज उपगायन्ति' (ऋत्विज् उपगान करते हैं) इस प्रकारकी अविशेष श्रुति है, इसमें 'नाध्वर्युरुपगायति' (अध्वर्यु उपगान नहीं करता) इस दूसरी श्रुतिसे अध्वर्युसे भिन्न ऋत्विज् उपगान करते हैं, ऐसे विशेषका ग्रहण होता है, यह अर्थ है। परन्तु कुशा आदि वाक्योंकी दूसरी विशेष श्रुतियोंसे एकवाक्यताका किस लिए स्वीकार किया जाता है? इसपर कहते हैं—"श्रुत्यन्तरकृतं हि" इत्यादिसे। सामान्य और विशेष इन दोनोंकी एकवाक्यतारूप गति होनेपर भी वाक्यभेद करके 'नाध्वर्यु०' (अध्वर्यु उपगान नहीं करता) ऐसा निषेध होनेसे और 'ऋत्विज उपगायन्ति' (ऋत्विज् उपगान करते हैं) ऐसी अविशेष श्रुति होनेसे 'अध्वर्युरुपगायति' (अध्वर्यु उपगान करता है) 'नोपगायति' (अध्वर्यु उपगान नहीं करता है) ऐसा सर्वत्र विकल्प करना युक्त नहीं है। 'व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत' (धान अथवा यवोंसे यज्ञ करे) इसमें व्रीहि और यवका तो अगत्या विकल्प आश्रित है, यह अर्थ है। क्योंकि विकल्प न्यायसंगत नहीं

भाष्य

स्यात् , स चान्याय्यः सत्यां गतौ । तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम्—'अपि तु

भाष्यका अनुवाद

और दूसरी गतिके रहते विकल्प उचित नहीं है, इसलिए द्वादश अध्यायवाली पूर्वमीमांसामें कहा है—अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः (दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचति—दीक्षित दान नहीं करता, होम नहीं करता और

रत्नप्रभा

विकल्पस्याऽन्याय्यत्वम् , अष्टदोपदुष्टत्वात् । तथा हि यदि व्रीहिवाक्यमाश्रीयते, तदा यववाक्यस्येष्टप्रामाण्यत्यागः, अनिष्टाप्रामाण्यस्वीकारः, कदाचिद् यववाक्याश्रयणे त्यक्तप्रामाण्यस्वीकारः, स्वीकृताप्रामाण्यत्यागश्चेत्येकस्मिन् यववाक्ये चत्वारो दोषाः भवन्ति । एवं व्रीहिवाक्येऽपि चत्वारो दोषाः इति । एवं दुष्टविकल्पपरिहाराय भिन्नशाखाश्रुत्योरपि एकवाक्यता जैमिनिसम्मतेत्याह—तदुक्तमिति । ज्योतिष्टोम-प्रकरणे 'दीक्षितो न जुहोति' इति श्रुतम्, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इति चान्यत्र श्रुतम् । तत्र यदि नदीक्षितवाक्यं होमप्रतिषेधकं स्यात् , तदा क्रत्वर्थत्वात् निषेधोऽनुष्ठेयः, यावज्जीवविधिना होमो वाऽनुष्ठेयः,—इति विकल्पः स्यात् । स चाऽन्याय्यः । अपि तु यावज्जीववाक्यं प्रति नदीक्षितवाक्यस्य शेषत्वान्नकार इतर-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, कारण कि वह आठ दोषोंसे दुष्ट है। वे आठ दोष यों हैं—यदि व्रीहिवाक्यका आश्रयण करें, तो यववाक्यका जो इष्ट प्रामाण्य है उसका त्याग होता है—[यववाक्यमें प्रामाण्य हेतुके बिना त्याज्य होता है] (१)। यववाक्यका जो अनिष्ट अप्रामाण्य है उसका स्वीकार होता है, [यववाक्यमें जो प्रामाण्य त्यक्त है, वह अप्रामाण्य लेना पड़ता है] (२)। कदाचित् यववाक्यका आश्रयण करें, तो त्यक्त प्रमाणका स्वीकार करना पड़ता है। [प्रथम जो प्रामाण्यका त्याग किया गया है उसका स्वीकार होता है] (३)। और स्वीकृत अप्रामाण्यका त्याग होता है। [द्वितीयमें जो स्वीकार किया गया है उसका त्याग होता है] (४)। इस प्रकार एक यववाक्यमें चार दोष होते हैं। इसी तरह व्रीहिवाक्यमें भी चार दोष होते हैं। ऐसे अष्ट-दोषयुक्त विकल्पके परिहारके लिए भिन्न भिन्न शाखाओंकी श्रुतियोंकी एकवाक्यता जैमिनि आचार्यको सम्मत है, ऐसा कहते हैं—"तदुक्तम्" इत्यादिसे । ज्योतिष्टोमप्रकरणमें 'दीक्षितो न जुहोति' (दीक्षित हवन नहीं करता) ऐसा श्रुत है, 'यावज्जीवम०' (जीवनपर्यन्त हवन करे) इस प्रकार अन्यत्र श्रुत है। वहाँ 'दीक्षितो न जुहोति' यह नदीक्षितवाक्य यदि होमका प्रतिषेधक हो, तो क्रत्वर्थक होनेसे निषेध अनुष्ठेय है, अथवा यावज्जीवविधिसे—'यावज्जीवम०' इस विधिसे होम अनुष्ठेय है, ऐसा विकल्प हो। परन्तु वह न्याय्य—न्यायसंगत नहीं है। और यावज्जीववाक्यके प्रति नदीक्षितवाक्य शेष होनेसे नकार इतरपर्युदासार्थक है [दीक्षितके

भाष्य

वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' इति ।

अथवैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम्–किमनेन

भाष्यका अनुवाद

पाक नहीं करता, ऐसी श्रुति है) उसमें 'अहरहर्दद्यात्—प्रतिदिन उसे दान करना चाहिए, इस वाक्यका 'न दीक्षितो ददाति' यह शेष होनेसे इतरका पर्युदास है, क्योंकि यदि पर्युदास न हो, तो प्रतिषेधमें विकल्प होगा, वह अन्याय्य है।

अथवा इन्हीं विधूनन श्रुतियोंके विषयमें इस सूत्रसे यह विचार करना चाहिए कि क्या इस विधूननवचनसे सुकृत और दुष्कृतका त्याग कहा जाता है, अथवा

रत्नप्रभा

पर्युदासार्थकः स्यात् दीक्षितान्यलक्षकः स्यात्, न होमप्रतिषेधकः । तस्माददीक्षितो यावज्जीवं जुहुयादित्येकवाक्यतेति नदीक्षिताधिकरणसिद्धान्तसूत्रार्थः ।

अत्र भगवत्पादैः सूत्रमेव पठितम् । मिश्रैस्तु पर्युदासाधिकरणसिद्धान्तसूत्रम् 'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्याद्' [जै० सू० १०।८।४) इति स्थितम् । अत्रार्थतः पठितमित्युक्तम्, तच्चिन्त्यम् । सूत्रार्थस्तु—'यजमात्रे येयजामहे इति प्रयोक्तव्यम्' इति श्रुतम्, 'नानुयाजेषु येयजामहं करोति' इत्यपि श्रुतम् । तत्र नकारस्य निषेधकत्वेऽतिरात्रे षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिवानुयाजेषु यजत्वाविशेषात् प्रयोक्तव्यं, निषेधात् न प्रयोक्तव्यमिति विकल्पः स्यात् । तस्याऽन्याय्यत्वात् येयजामहविधेरेव नानुयाजवाक्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिवाय अन्यके पर्युदासका निषेध करता है] इसलिए नकार दीक्षितसे अन्यका लक्षक है, होमका प्रतिषेधक नहीं है, इसलिए 'अदीक्षितो यावज्जीवं जुहुयात्' (अदीक्षित जीवनपर्यन्त होम करे) इस प्रकार एकवाक्यता है, ऐसा नदीक्षिताधिकरणके सिद्धान्तसूत्रका अर्थ है।

यहाँ भगवान् श्रीमच्छङ्कराचार्यने सूत्र ही पढ़ा है। वाचस्पतिमिश्र तो पर्युदासाधिकरणमें सिद्धान्तसूत्र यह है—'अपि तु वाक्यशेषः०'। इस सूत्रको भाष्यकारने अर्थतः पढ़ा है, ऐसा कहते हैं। उनका यह वचन चिन्त्य है। सूत्रार्थ तो ऐसा है—यजमात्रमें 'येयजामहे' इसका प्रयोग करना चाहिए, ऐसी श्रुति है। इसी प्रकार 'नानुयाजेषु येयजामहं करोति' (अनुयाजमें 'येयजामहे' नहीं पढ़ता) ऐसी भी श्रुति है। वहाँ नकारके निषेधक होनेपर भी अतिरात्रमें षोडशीके ग्रहण और अग्रहणकी तरह अनुयाजोंमें यजत्वका अविशेष होनेसे उनमें 'येयजामहे' इसका प्रयोग करना चाहिए [जो यजमात्रमें प्रयोक्तव्य है] और 'नानुयाजेषु०'—इत्यादि निषेध होनेसे उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए, इस प्रकारका विकल्प होगा। परन्तु उसके

भाष्य

विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति। तत्र चैवं प्रापयितव्यम्। न हानं विधूननमभिधीयते 'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात्, दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात्। तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते। चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं

भाष्यका अनुवाद

दूसरा अर्थ, ऐसा संशय होनेपर विधूननका अर्थ त्याग नहीं कहा जाता, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त कराना चाहिए, क्योंकि 'धूञ् कम्पने' (धूधातु कांपनेके अर्थमें है) ऐसा पाणिनिका स्मरण है। और 'दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि' (ध्वजाके अग्रभाग बारम्बार हिलते हैं) इस प्रकार वायुसे चलायमान ध्वजाग्रमें प्रयोग देखा जाता है,

---

रत्नप्रभा

मेकदेशः स्यात्, पर्युदासवृत्त्या विधिवाक्यशेषः स्यादिति यावत्। यथा-चानुयाजभिन्नेषु यागेषु येयजामह इति प्रयोक्तव्यमित्येकवाक्यतेति।

वर्णकान्तरमाह—अथवा इति। पूर्वत्र विधूननं कर्महानिरिति सिद्धवत्कृत्य उपायनोपसंहारः उक्तः। अत्र सैव साध्यत इति भेदः। उभयत्र लक्षणासाम्यात् संशयमाह—किमिति। विधूननस्य हि फलद्वयमश्वरोमादिषु दृष्टं पूर्वस्वभावात् च्युतिः, अन्यत्र संक्रान्तिश्चेति। तत्र संक्रान्तिरूपहानिर्लक्षणीया किं वा च्युतिरिति संशयार्थः। तत्र विधूननशब्दस्य कम्पनं मुख्यार्थ इति तावत् सर्वसम्मतम्। तच्चामूर्तयोः पुण्यपापयोर्न सम्भवति, अतस्तयोर्यः स्वभावः फलदातृत्वशक्तिस्ततश्चालनं विद्यया

रत्नप्रभाका अनुवाद

न्यायसंगत न होनेके कारण 'येयजामहेविधि' का ही नानुयाज्यवाक्य एक देश होगा, अर्थात् पर्युदासवृत्तिसे विधिवाक्यका निषेधवाक्य शेष होगा। और अनुयाज-भिन्न यागोंमें 'येयजामहे' इसका प्रयोग करना चाहिए, इस प्रकार एकवाक्यता होगी।

अन्य वर्णक कहते है—"*अथवा*" इत्यादिसे। *पूर्वत्र विधूनन अर्थात् कर्मकी हानि*, ऐसा सिद्धान्त करके उपायनका उपसंहार कहा गया है, यहाँपर अब इस कर्महानिको ही सिद्ध करते हैं, ऐसा दोनों वर्णकोंमें भेद है। दोनों अर्थोंमें लक्षणाका साम्य होनेसे संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। विधूननके अश्वरोम आदिमें दो फल देखनेमें आते हैं—(१) पूर्वस्वभावसे च्युति और (२) अन्यत्र संक्रान्ति। उसमें विधूननका लक्ष्य अर्थ संक्रान्तिरूप हानि लेना चाहिए या च्युति लेना चाहिए, *ऐसा संशयका प्रयोजन है। वहाँ विधूननशब्दका मुख्य अर्थ कम्पन है*, यह तो सर्वसम्मत है और वह कम्पन अमूर्त पुण्य और पापका नहीं हो सकता, इसलिए उन दोनोंका फलदातृत्व-शक्ति जो स्वभाव है उसमेंसे चालन अर्थात् विद्या द्वारा प्रतिबन्ध होनेसे च्युति, यह लक्ष्य

भाष्य

फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्रापय्य प्रतिवक्तव्यम् ।

हानावेवैष विधूननशब्दो वर्तितुमर्हति, उपायनशब्दशेषत्वात् । नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति । यद्यपीदं

भाष्यका अनुवाद

इसलिए चालन ही विधूनन कहा जाता है और सुकृत और दुष्कृतका चालन तो कुछ समय तक फलके प्रतिबन्धनसे विवक्षित है, ऐसा पूर्वपक्ष कराके उसका निराकरण करना चाहिए।

इस विधूनन शब्दकी वृत्ति त्यागमें ही युक्त है, क्योंकि यह शब्द उपायनशब्दका अङ्ग है, कारण, दूसरेसे परिगृहीत होनेवाले सुकृत और दुष्कृत यदि त्यक्त न हों, तो उनका अन्यसे ग्रहण संभावित नहीं है। यद्यपि

रत्नप्रभा

प्रतिबन्धात् च्युतिः, सा लक्षणीया, न हानिः, अमूर्तयोरन्यत्र संक्रान्त्ययोगादन्यसापेक्षत्वाच्चेति पूर्वपक्षार्थः ।

सिद्धान्तयति—हानावेवेति । यदि च्युतिमात्रं लक्ष्यम्, तदोपयन्तीत्यनन्वितं स्यात् । न च यत्र धुनोतेरुपायनशब्दसान्निध्यं तत्र हानिर्लक्ष्यते, न केवलधुनोतेः, हानिश्चान्यत्र विदुषः सेवकादौ तुल्यकर्मसंक्रान्तिरिति नासम्भव इति वाच्यम्; केवलधुनोतेरपि मुख्यार्थासम्भवेन अन्यत्र लक्ष्यतया बुद्धिस्थहानिलक्षणाया एव युक्तत्वादिति भावः । उपायनस्यामुख्यत्वान्न क्वापि हानिलक्षणाबीजत्वमिति शङ्कित्वा पुण्यपापयोः फलतः स्वीकारात्मकमुपायनं हानिं विनाऽनुपपन्नं सत् लक्षणा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है, हानि लक्ष्य अर्थ नहीं है, क्योंकि अमूर्तकी अन्यत्र संक्रान्ति नहीं हो सकती और विधूननको अन्यकी अपेक्षा भी है, ऐसा पूर्वपक्षका अभिप्राय है।

सिद्धान्त करते हैं—"हानावेव" इत्यादि । यदि च्युतिमात्र लक्ष्य अर्थ होता, तो 'उपयन्ति' यह शब्द अनन्वित होता—अन्वयके विना ही रहता। और जहाँपर धुनोतिशब्द उपायनशब्दकी सन्निधिमें है। वहाँपर धुनोतिका लक्ष्यार्थ लेकर 'हानि' अर्थ करना चाहिए, केवल धुनोतिशब्दका नहीं, और हानि शब्दका अर्थ—विद्वान्से अन्यत्र सेवक आदिमें तुल्य कर्मकी संक्रान्ति है—इससे असम्भव नहीं है, यदि ऐसा कहो, तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि केवल धुनोतिके भी मुख्य अर्थका सम्भव न होनेसे लक्ष्य अर्थ लेनेकी आवश्यकता है, इसलिए बुद्धिस्थ हानिके अर्थमें लक्षणा माननी ही युक्त है, ऐसा भाव है। उपायनशब्दके अमुख्य होनेसे कहींपर भी उसमें हानिके अर्थमें लक्षणाका बीज नहीं है, ऐसी आशंका करके पुण्य और पापके फलका स्वीकार करना ही उपायन है

भाष्य

परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाञ्जसं संभाव्यते तथापि तत्संकीर्तनात्ताचत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते। क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाछन्दस्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्राप्यपेक्ष्यमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते। न च चालनं ध्वजाग्रवत् सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं संभवति, अद्रव्यत्वात्। अश्वश्च रोमाणि विधुन्वानस्त्यजन् रजः सहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि

भाष्यका अनुवाद

दूसरेके सुकृत और दुष्कृतका दूसरेसे साक्षात् ग्रहण करना घट नहीं सकता, तो भी वह कहा गया है, इसलिए उसके अनुकूल विधूननशब्दका त्याग ही अर्थ है, ऐसा निर्णय किया जा सकता है। विधूननकी सन्निधिमें क्वचित् इस उपायनकी श्रुति है, इसलिए कुशा, छन्द, स्तुति और उपगानके समान यह उपायन विधूननश्रुतिसे सर्वत्र अपेक्ष्यमाण होनेसे सार्वत्रिक निर्णयका कारण होता है। ध्वजाग्रके चलनेके समान सुकृत और दुष्कृतका चलना मुख्य अर्थमें नहीं हो सकता, क्योंकि वे अद्रव्य हैं। अश्वरोमोंका विधूनन करता है, रजका

रत्नप्रभा

निर्णायकमिति परिहरति—यद्यपीत्यादिना। यथान्यत्र श्रुतम् औदुम्बरत्वादिकं कुशादिनिर्णायकं तथेदमुपायनं विधूननस्य हानत्वनिश्चायकमित्याह—क्वचिदपीति। विधूननं मुख्यं किमिति नोच्यते, तत्राह—न चेति। तथापि हानं कथं लक्ष्यत इत्याशङ्क्य मुख्यसम्बन्धादित्याह—अश्वश्चेति। अनुपपत्तिसम्बन्धौ लक्षणाबीजरूपावुक्त्वा लक्षकं पदं निर्दिशति—अश्व इवेति। विधूयेति पदं दृष्टान्ते हानपर्यन्तं सत् दार्ष्टान्तिकेऽपि हानलक्षकमित्यर्थः। यद्वा हानवाचकमेवास्तु,

रत्नप्रभाका अनुवाद

और यह उपायन विना हानिके अनुपपन्न होनेसे लक्षणाका निर्णायक होता है, ऐसा परिहार करते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। जैसे और जगह श्रुतिमें कहे गये औदुम्बरत्व आदि कुशा आदिके निर्णायक हैं, वैसे ही यह उपायन विधूननके हानरूप अर्थका निश्चायक है, ऐसा कहते हैं—क्वचिदपि" इत्यादिसे। विधूननको ही मुख्य अर्थ क्यों नहीं मानते? इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। तो भी 'हान' यह अर्थ लक्ष्य किस प्रकार है, ऐसी आशंका करके मुख्य अर्थके साथ सम्बन्ध होनेसे यह अर्थ लिया जाता है, ऐसा कहते हैं—"अश्वश्च" इत्यादिसे। मुख्य अर्थकी अनुपपत्ति और मुख्य अर्थका सम्बन्ध यह लक्षणाका बीज है, ऐसा कहकर लक्षक पदका निर्देश करते हैं—"अश्व इव" इत्यादि। 'विधूय' यह पद दृष्टान्तमें

भाष्य

विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति च ब्राह्मणम् । अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः । तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥२६॥

भाष्यका अनुवाद

त्याग करके उसके साथ जीर्णरोमोंका त्याग करता है, और 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (अश्व जैसे रोमोंका विधूनन करता है वैसे पापका त्याग करके) ऐसा ब्राह्मण है। इसी प्रकार धातुओंके अनेक अर्थ माननेसे किसी स्मृतिका विरोध नहीं होता। 'तदुक्तम्' (वह कहा गया है) इसका व्याख्यान हो चुका है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

न च "धूञ् कम्पने" इति धातुपाठविरोधः, तस्योपलक्षणत्वार्थत्वादित्याह—अनेकेति । शाखान्तरस्थमुपायनं विधूननस्य हानत्वनिश्चायकमित्यत्र जैमिनिसूत्रं तदुक्तमिति गृहीतम्, पूर्वं व्याख्यातमित्यर्थः । एवं विधूननस्य हानित्वसिद्धेः केवलहानौ उपायनोपसंहार इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हानपर्यन्त होकर दार्ष्टान्तिकमें भी हानलक्षक होता है, ऐसा अर्थ है। अथवा विधूननपद हानवाचक ही हो विधूननका हान अर्थ लेनेपर 'धूञ् कम्पने' (धु धातु कम्पन अर्थमें है) इस धातुपाठके विधूननरूप वाच्यार्थका विरोध होगा, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि धातु पाठका अर्थ उपलक्षण होता है, ऐसा कहते हैं—"अनेक" इत्यादिसे। अन्य शाखान्तर्गत उपायनशब्द विधूननके हानरूप अर्थका निश्चायक है, इसके लिए सूत्रकारने 'तदुक्तम्' शब्दसे जैमिनिके सूत्रका ग्रहण किया है, पूर्वमें उसका व्याख्यान किया गया है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार विधूननका हानिरूप अर्थ है, ऐसा सिद्ध होनेपर केवल हानकी जहाँ श्रुति हो वहाँपर भी उपायनका उपसंहार है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥२६॥



[१६ सांपरायाधिकरण सू० २७—२८]

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा ।
उत्तीर्य विरजां त्यागस्तथा कौषीतकिश्रुतेः ॥१॥

कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात् ।
ताण्डिश्रुतेः पुरा त्यागो बाध्यः कौषीतकिक्रमः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्म लोकमें जाते समय मार्गमें कर्मका त्याग होता है अथवा मरणके पूर्वमें कर्मका त्याग होता है ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मलोक जाते समय विरजा नदी को पारकर मार्गके मध्यमें कर्मका त्याग होता है, क्योंकि उसी अर्थको कहनेवाली कौषीतकी श्रुति है।

सिद्धान्त—कर्मसे प्राप्त होनेवाले फलका अभाव होनेसे और मार्गके मध्यमें साधनका अभाव होनेसे मरणके पूर्वमें ही कर्मत्याग होता है, कौषीतकीमें श्रुतक्रमका तो ताण्डिश्रुतिसे बाध होता है।

---

* भाव यह है कि पूर्व अधिकरणमें जो सुकृत और दुष्कृतका परित्याग कहा गया है, वह ब्रह्मलोक-मार्गके बीचमें ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मलोकके पासकी नदीके पार करनेपर कर्मत्यागका श्रवण है—'स आगच्छति विरजा नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' इति (वह विरजा नदीको आता है उस नदीको मनसे पार करता है और उससे सुकृत और दुष्कृतका त्याग करता है) इससे ज्ञात होता है कि मार्गके बीचमें कर्मोका त्याग करता है' इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—ब्रह्मलोकके मार्गमें ब्रह्मप्राप्तिसे अन्य सुकृत और दुष्कृतकर्मसे प्राप्तव्य फलका अभाव होनेसे उनका—कर्मोंका नदीपर्यन्त नयन सार्थक नहीं है, और भी मरणके पूर्वमें परित्यक्त सुकृत और दुष्कृतका मध्यमार्गमें परित्याग करनेमें कोई साधन नहीं है, क्योंकि देहके अभावमें साधनका अनुष्ठान कर नहीं सकते हैं, मरणके पूर्वमें उनके त्यागमें 'अश्व इव रोमाणि' यह ताण्डि-श्रुतिसे बोधित होता है, इससे मरणके पूर्वमें ही साक्षात्कार करनेपर उनका—कर्मोंका परित्याग है यही प्रमाण परिष्कृत है।

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥२७॥

पदच्छेद—साम्पराये, तर्तव्याभावात्, तथा, हि, अन्ये ।

पदार्थोक्ति—साम्पराये—देहत्यागात्प्राक् परलोकसाधनीभूतविद्याकाले [एव कर्महानिस्वीकरणं युक्त्यापूर्णम्, कुतः ?] तर्तव्याभावात्—विरजानदीतरणानन्तरं पुण्यपापकर्मणस्तर्तव्यस्य प्राप्तव्यस्य फलान्तरस्याभावात् । हि—यतः तथा—तेन प्रकारेण अन्ये—शाखिनस्ताण्ड्यादयः जीवदशायामेव कर्महानिम् 'अश्व इव रोमाणि' इत्यादिना प्रतिपादयन्ति ।

भाषार्थ—देहत्यागके पूर्वमें ही परलोकसाधनीभूतविद्याके समयमें कर्महानिका स्वीकार युक्तियुक्त है, किससे ? इससे कि विरजा नदीके तरणके बाद तर्तव्य पुण्यपापकर्मका अन्य फल प्राप्त करनेके लिए नहीं है। इसीलिए ताण्ड्यादि अन्य शाखावाले जीवनकालमें ही 'अश्व इव रोमाणि' इत्यादिसे कर्महानिका प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्य

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४) इति ।

भाष्यका अनुवाद

देवयान मार्गसे पर्यंकस्थ ब्रह्मकी ओर जानेवाले पुरुषके सुकृत और दुष्कृतका अर्धमार्गमें वियोग कौषीतकी शाखावाले पर्यङ्क ब्रह्मविद्यामें कहते हैं— 'स एतं देवयानम्' (वह इस देवयान मार्गको प्राप्त करके अग्निलोकमें आता है) इस प्रकार उपक्रम करके 'स आगच्छति विरजां नदीं' (वह विरजा नदी प्राप्त करता है, उसको मन द्वारा ही लांघ जाता है, उससे सुकृत

रत्नप्रभा

साम्पराये······अन्ये । व्यध्वनि अर्धमार्गे पूर्वोक्तं विधूननस्य हानत्वमुपजीव्य हानस्य नदीतरणानन्तर्यश्रुतेः, "अश्व इव रोमाणि" (छा० ८।१३।१) इत्यादौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

"साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये"। पूर्वमें कहा गया विधूननका अर्थ जो त्याग है उसका अवलम्बन करके त्याग विरजा नदीके सन्तरणके बाद होता है, ऐसी श्रुति होनेसे और 'अश्व

भाष्य

तत् किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुतिप्रामाण्याद् यथाश्रुति प्रतिपत्तिप्रसक्तौ पठति—सांपराय इति। सांपराये—गमन एव—देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात् सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते। हेतुं व्याचष्टे तर्तव्याभावादिति। नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किंचित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्प्येयाताम्, विद्याविरुद्ध-

भाष्यका अनुवाद

और दुष्कृतका त्याग करता है) यहांपर श्रुतिके अनुसार अर्धमार्गमें ही वियोग समझना या आरम्भमें ही देहसे गमन होनेपर ऐसा विचार करनेपर श्रुतिके प्रामाण्यसे श्रुतिके अनुसार ही प्राप्तिका प्रसग होनेपर [सूत्रकार] कहते हैं—'साम्पराये'। साम्परायसमयमें—गमनसमयमें—देहसे अपसर्पण समयमें विद्याके सामर्थ्यसे यह सुकृत-दुष्कृत त्याग होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं और उसका हेतु कहते हैं—'तर्तव्याभावात्'। विद्यासे ब्रह्म सम्प्राप्त करनेवाले मृत विद्वान्को मार्गके बीचमें सुकृत और दुष्कृतसे कुछ प्राप्तव्य नहीं है जिससे कि कुछ एक क्षणके लिए सुकृतदुष्कृतके क्षीण न होनेकी कल्पना की

रत्नप्रभा

देहत्यागात् प्राक्कालत्वश्रुतेश्च,—संशयमाह—तत्किमिति। ब्रह्मलोकमार्गमध्ये विरजाख्यनदीमत्येति "तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते" इत्यत्र तदिति सर्वनामश्रुत्या तेनेत्यर्थतया सन्निहितनदीतरणस्य कर्महानिहेतुत्वोक्तेरर्धपथे कर्मक्षय इति पूर्वपक्ष।

तत्र विद्याया कर्मक्षयहेतुत्वासिद्धि पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सिद्धान्तयति—साम्पराय इति। मरणात् प्रागित्यर्थ। सम्परेतस्य—मृतस्य कञ्चित्काल कर्मसत्त्वे फलाभावाद् देवयानमार्गप्रवेशायोगाच्च आदावेव क्षय इत्यर्थ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इव रोमाणि' इत्यादिमें देह त्यागसे पहले त्याग होता है ऐसा श्रवण होनेसे संशय कहते हैं—"तत्किम्" इत्यादिसे। ब्रह्म लोकमार्गमें विरजा नामकी नदीको पार करता है, उससे सुकृत दुष्कृतका त्याग करता है, इसमें 'तत्' यह सर्वनाम शब्द है और उसका 'तेन' (उससे) ऐसा अर्थ है। उससे सन्निहित नदीतरण कर्महानिका हेतु कहा गया है, इसलिए अर्धपथमें कर्मक्षय होता है, ऐसा पूर्वपक्ष है। उसमें विद्या कर्मक्षयकी हेतु है, इसकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है और विद्या कर्मक्षयकी हेतु है, इसकी सिद्धि सिद्धान्तपक्षमें फल है ऐसा मानकर सिद्धान्त करते

भाष्य

फलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, सा च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति । तस्मात् प्रागेव सत्ययं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात् पठ्यते । तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानिमामनन्ति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च ॥२७॥

भाष्यका अनुवाद

जाय। परन्तु उनका (सुकृतदुष्कृतका) फल विद्यासे विरुद्ध है अतः विद्याके सामर्थ्यसे उनका क्षय होता है और जब विद्या फलाभिमुख होती है, तभी उनका क्षय होना ठीक है, इसलिए पूर्वमें ही वर्त्तमान यह सुकृतदुष्कृक्षय पीछे पढ़ा जाता है। इसी प्रकार अन्य शाखावाले ताण्डी और शाट्यायनी भी—'अश्व इव रोमाणि' (अश्व जैसे रोम झाड़ देता है, वैसे पापमुक्त होकर) और 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' (उसके पुत्र धन प्राप्त करते हैं, सुहृद पुण्यकर्म और शत्रु पापकर्म प्राप्त करते हैं) इस प्रकार पूर्व अवस्थामें ही सुकृत और दुष्कृतका क्षय कहते हैं ॥ २७ ॥

रत्नप्रभा

क्षयहेतोः विद्याया मध्येमार्गम् असत्त्वाच्चेत्याह—**विद्याविरुद्धेति** । नदीतरणानन्तरपाठस्तु बाध्यः अर्थविरोधादित्याह—**तस्मादिति** । तदिति सर्वनाम्नापि प्रकृतविद्यैव उच्यते इति भावः ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"साम्पराये०" इत्यादिसे । मरणके पहले, ऐसा अर्थ है । सम्परेत—मृत पुरुषके कुछ कालतक कर्मोंके अस्तित्वमें फलके अभावसे एवं देवयान मार्गमें प्रवेश न हो सकनेसे मरणके पहले ही कर्मक्षय होता है, ऐसा अर्थ है । क्षयहेतु विद्याका मार्गके मध्यमें अस्तित्व न होनेसे ऐसा कहते हैं—"विद्याविरुद्ध" इत्यादिसे । नदीतरणके पीछे, यह पाठ तो बाध्य है, अर्थका विरोध होनेसे, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे । "तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते" इस सर्वनामसे भी प्रकृत विद्या ही कही जाती है, ऐसा भाव है ॥२७॥



छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

पदच्छेद—छन्दतः, उभयाविरोधात् ।

पदार्थोक्ति—छन्दतः—स्वेच्छातः [विद्यानुष्ठानं जीवत एवेति तत्फलभूतः कर्मक्षयोऽपि जीवत एव युक्तः, सति हेतौ कार्यविलम्बायोगात् । ननु विद्याकर्मक्षययोः किमिति निमित्तनैमित्तिकभावोऽङ्गीकार्यः ? उभयाविरोधात् कौषीतकिताण्डिश्रुत्योरुभयोरविरोधात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—जीवित पुरुष ही अपनी इच्छासे विद्याका अनुष्ठान कर सकता है, इससे उसका फल कर्मक्षय भी जीवनकालमें ही होगा, क्योंकि कारणके विद्यमान रहनेपर कार्य शीघ्र ही होना चाहिए । विद्या और कर्मक्षयका निमित्तनैमित्तिकभाव क्यों माना जाय, यदि इस प्रकार शङ्का हो, तो कहते हैं—उभयाविरोधात्—अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभाव माननेसे कौषीतकी और ताण्डिशाखावाले दोनोंकी उभय श्रुतियोंका विरोध नहीं होगा ।

भाष्य

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृत-

भाष्यका अनुवाद

देहसे निःसृत और देवयानमार्गसे प्रस्थित पुरुषके सुकृत-दुष्कृतका क्षय अर्धमार्गमें होता है ऐसा यदि स्वीकार किया जाय, तो देहपात होनेपर यम नियम

रत्नप्रभा

किंच, मृतस्य छन्दतो यथाकामं विद्यानुष्ठानानुपपत्तेः उभयोः विद्याकर्मक्षययोः श्रुतौ हेतुफलभावो विरुध्यते । किंच, सति पुष्कलहेतौ न कार्यविलम्ब इति न्यायोपेतताण्ड्यादिश्रुतिविरोधस्तव स्याद् अस्मत्पक्षे त्वविरोध इत्याह—छन्दत

रत्नप्रभाका अनुवाद

और मृत पुरुषके यथेच्छ विद्यानुष्ठानकी उपपत्ति न होनेसे विद्या और कर्मक्षय, इन दोनोंका श्रुतिमें जो कार्यकारणभाव कहा गया है, उसका विरोध होता है । और 'पुष्कल हेतुके रहते कार्यमें विलम्ब नहीं होता' इस न्यायसे युक्त हुआ ताण्डी आदि श्रुतिका विरोध तुम्हें (पूर्वपक्षीको) होगा । हमारे (सिद्धान्तीके) पक्षमें तो विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

क्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात्, तस्मात् पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात्, तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम्। एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च संगतिरिति ॥२८॥

भाष्यका अनुवाद

सुकृतदुष्कृत क्षयके हेतुभूत विद्याभ्यासरूप पुरुषप्रयत्नका इच्छासे अनुष्ठान उपपन्न न होनेसे उससे होनेवाले सुकृतदुष्कृतके क्षयकी अनुपपत्ति ही होगी। इसलिए पूर्वमें—साधक अवस्थामें ही इच्छासे उसका अनुष्ठान होगा और अनुष्ठान पूर्वक ही सुकृतदुष्कृतका हान है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार निमित्त और नैमित्तिक इन दोनोंकी उपपत्ति होगी और ताण्डी और शाट्यायनी इन दोनों श्रुतियोंकी संगति होगी ॥ २८ ॥

रत्नप्रभा

इति। तस्मात्—कर्महानस्य विद्याफलत्वात् केवलहानावुपायनोपसंहारो विद्यास्तुतये इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"छन्दत·" इत्यादिसे। इससे अर्थात् कर्मनाश विद्याका फल होनेसे केवल हानमें उपायनका उपसंहार विद्याकी स्तुतिके लिए है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥२८॥



[१७ गतेरर्थवत्त्वाधिकरण सू० २९–३०]

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः ।
सम एवोत्तरो मार्ग एतयोः कर्महानिवत् ॥१॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु ।
आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—उपासना और तत्त्वज्ञानका अर्चिरादि मार्ग समान ही है या पृथक् है ?

पूर्वपक्ष—सुकृत और दुष्कृत कर्मोंके त्यागके समान इनका अर्चिरादि मार्ग समान ही है ।

सिद्धान्त—उपासनाओंमें देशान्तररूप फलकी प्राप्तिके लिए मार्गकी कल्पना आवश्यक है । ज्ञानका फलतः रोग निवृत्तिके समान अविद्याकी निवृत्ति ही है अर्थात् मार्ग व्यवस्थित है ।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२९॥

पदच्छेद—गतेः, अर्थवत्त्वम्, उभयथा, अन्यथा, हि, विरोधः ।

पदार्थोक्ति—गतेः—देवयानस्य पथः अर्थवत्त्वम्—प्रयोजनवत्त्वम् उभथा—विभागेन [भवितुमर्हति—क्वचित् सगुणविद्यायां देवयानमार्गोऽस्ति निर्गुणविद्यायां क्वचिन्नास्तीत्यर्थः] अन्यथा हि—सर्वत्र देवयानमार्गोपसंहारे हि विरोधः—'विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इत्यादिना विरोधः [स्यात् इति भावः]

भाषार्थ—देवयानमार्गकी सफलता दोनों प्रकारसे हो सकती है । अर्थात् सगुणविद्यामें देवयानमार्ग है और निर्गुणविद्यामें नहीं है । अगर उसका सर्वत्र उपसंहार करेंगे, तो 'विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध हो जायगा ।

---

* आशय यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—छान्दोग्यमें चतुर्थाध्यायके तृतीय पादमें कहा जानेवाला अर्चिरादि मार्ग सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवालों और निर्गुण ब्रह्मज्ञानवालोंके लिए समान है, क्योंकि पापकर्म और पुण्यकर्मके त्यागकी भांति उनकी समानताका होना युक्त है ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—उपासनासे प्राप्त होनेवाला ब्रह्मलोकरूप फल अन्यदेशवर्ती है, अतः वहांपर मार्गकी आवश्यकता है, किन्तु ज्ञानका फल तो रोगकी निवृत्तिके समान अविद्यानिवृत्तिमात्र है, इसलिए वहांपर मार्गका क्या प्रयोजन है । अतः अर्चिरादि मार्ग उपासकके लिए ही है ज्ञानीके लिए नहीं है, इस प्रकार मार्गमें व्यवस्था है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

भाष्य

क्वचित् पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते क्वचिन्न। तत्र संशयः—किं हानावविशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित् संनिपतेत् क्वचिन्नेति। यथा तावद्धानावविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीति।

अस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे—गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति, क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति। नाविशेषेण। अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात्। 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३)

भाष्यका अनुवाद

कहींपर पुण्यपापके हानकी सन्निधिमें देवयानमार्गकी श्रुति है और कहींपर नहीं है। यहांपर संशय होता है कि क्या हानमें अविशेषसे ही देवयान मार्गका सन्निपात है अथवा विभागसे कहींपर सन्निपात होता है और कहींपर नहीं होता।

पूर्वपक्षी—जैसे हानमें अविशेषसे ही उपायनकी अनुवृत्ति कही गई है, वैसे ही देवयानकी अनुवृत्ति भी होनी चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—गतिका अर्थात् देवयानमार्ग-का अर्थवत्त्व उभयथा अर्थात् विभागसे होना चाहिए—कहींपर अर्थवती गति है और कहींपर नहीं है, अविशेषसे सर्वत्र ही गति नहीं है। यदि अविशेषसे ही इस गतिका अङ्गीकार करें, तो विरोध होगा। 'पुण्यपापे विधूय०' (वह विद्वान् पुण्य और पापका—बन्धनभूत कर्मका समूल निरसन करके निर्लिप्त—विगतक्लेश

रत्नप्रभा

गतेरर्थवत्त्वम्०। क्वचित् सगुणविद्यायां मार्गः श्रूयते, निर्गुणविद्यायां न श्रूयते, तत्र हानसन्निधौ मार्गस्य श्रुतत्वादनपेक्षितत्वात् च संशये दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षमाह—यथा तावदिति। उपायनवत् मार्गस्यापि क्वचित् श्रुतत्वात् सर्वत्र उपसंहार इत्यर्थः। अत्र निर्गुणविदोऽपि मुक्त्यर्थं मार्गापेक्षा पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते

रत्नप्रभाका अनुवाद

"गतेरर्थवत्त्वम्०" इत्यादि। कहीं सगुणविद्यामें मार्गका श्रवण है और निर्गुण विद्यामें नहीं है। यहांपर हानकी सन्निधिमें मार्गका श्रवण होनेसे और ज्ञानमें इसकी अपेक्षा न होनेसे संशय होता है और संशय होनेपर दृष्टान्त संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"यथा तावत्" इत्यादिसे। उपायनके समान मार्गकी भी कहींपर श्रुति होनेसे मार्गका सर्वत्र उपसंहार है, ऐसा पूर्वपक्षका आशय है। यहां निर्गुण विद्यावालेको भी मुक्तिके लिए मार्गकी अपेक्षा पूर्वपक्षमें

भाष्य

इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत, कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्, गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥२९॥

भाष्यका अनुवाद

होकर प्रकृष्ट—निरतिशयसाम्य—अद्वय लक्षण समताको प्राप्त करता है, द्वैतविषय साम्य इनसे नीचे ही प्रकारका है, इस कारणसे अद्वयलक्षण परम साम्य प्राप्त करता है) इस श्रुतिमें अन्य देश प्राप्त करानेवाली गति विरुद्ध होगी, क्योंकि निर्लिप्त पुरुष जो गमनकर्ता नहीं है वह अन्य देशमें किस प्रकार जायगा और परम साम्य जो गन्तव्य है वह अन्य देशकी प्राप्तिके अधीन नहीं है। इसलिए यहां गति निरर्थक है, ऐसा ही हम मानते हैं ॥ २९ ॥

रत्नप्रभा

त्वनपेक्षेति फलम् । देशादिव्यवहितवस्तुप्राप्तौ मार्गस्यापेक्षेतिन्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधात् नोपसंहार इति सिद्धान्तः । निरञ्जनः—असङ्गः । साम्यम्—ब्रह्म ॥२९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

फल है। 'देश आदिसे व्यवहित वस्तुकी प्राप्तिमें मार्गकी अपेक्षा है, इस न्यायसे अनुगृहीत श्रुतिका विरोध होनेसे मार्गका उपसंहार नहीं है, ऐसा सिद्धान्त है। निरञ्जन—असंग। साम्य—ब्रह्म ॥२९॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३०॥

पदच्छेद—उपपन्नः, तल्लक्षणार्थोपलब्धेः, लोकवत् ।

पदार्थोक्ति—[गतेः—देवयानस्य उभयाथाभावः] उपपन्नः—युक्तियुक्तः [कुतः ?] तल्लक्षणार्थोपलब्धेः—सा—गतिः लक्षणं कारणं यस्य सगुणविद्याफलस्य पर्यङ्कस्थब्रह्मप्राप्तिरूपस्य स तल्लक्षणार्थः, तस्य उपलब्धेः—श्रुतिपु प्रत्यभिज्ञानात्, [अतः सगुणविद्यायां मार्गोऽर्थवान्, न निर्गुणविद्यायाम्, लोकवत्—यथा लोके सेतुवासिनां गङ्गाप्राप्त्यै मार्गोऽपेक्षतः न गङ्गास्थानाम्, तद्वत्]।

भावार्थ—गतिका उभयथाभाव–विभागसे व्यवस्था युक्त ही है, क्योंकि गतिका फलीभूत अर्थ पर्यङ्कविद्यादिमें उपलब्ध होता है। जैसे लोकमें सेतुवासियोको गङ्गाकी प्राप्तिके लिये मार्गकी अपेक्षा होती है, गङ्गामें रहनेवालोंको उसकी अपेक्षा नहीं होती है, उसके समान प्रकृतस्थलमें भी समझना चाहिए।

भाष्य

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः—क्वचिदर्थवती गतिः, क्वचिन्नेति, तल्लक्षणार्थोलब्धेः । गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते, तत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहुदेशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते, तत्रार्थवती गतिः, नहि सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति । नह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं किंचिदस्ति तत्रानर्थिका गतिः । लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यः—यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति । भूयश्चैनं विभागं चतुर्थाध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥३०॥

भाष्यका अनुवाद

कहींपर गति अर्थवती है और कहींपर नहीं है यह उपपन्न है, क्योंकि उसका अर्थात् गति है लक्षण—कारण जिसका ऐसा अर्थ उपलब्ध होता है, क्योंकि गतिकारणभूत अर्थ पर्यङ्कविद्या आदि सगुण उपासनाओंमें उपलब्ध होता है। उसमें पर्यंकारोहण, पर्यंकस्थ ब्रह्मके साथ संवाद और विशिष्ट गन्ध आदिकी प्राप्ति इत्यादि अनेक भिन्न भिन्न देशोंकी प्राप्तिके अधीन फलकी श्रुति है, उसमें गति अर्थवती है। सम्यग्दर्शनमें उसके फलभूत अर्थकी उलब्धि नहीं है, क्योंकि आत्माके एकत्वका जिनको दर्शन हुआ है, जिनके मनोरथ पूर्ण हुए हैं, जिनके सम्पूर्ण क्लेशबीज जल गये हैं, उनको आरब्ध भोगवाले कर्म और आशयके नाशके अतिरिक्त किसी फल की अपेक्षा नहीं है, उसमें गति निरर्थक है। और इस विभागको लोकके—लोक व्यवहारके समान समझना चाहिए। जैसे लोकमें ग्रामप्राप्तिके लिए अन्य देशकी प्राप्ति करानेवाले मार्गकी अपेक्षा होती है, और आरोग्य प्राप्तिमें मार्गकी अपेक्षा नहीं है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए, इस विभागको चौथे अध्यायमें फिर अधिक निपुणतासे उपपादन करेंगे ॥ ३० ॥

रत्नप्रभा

ननु तर्हि सगुणविद्यायाम् अपि मार्गो व्यर्थः इत्यत आह—उपपन्न इति । सा गतिः लक्षणं कारणं यस्य अर्थस्य स तल्लक्षणार्थः ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु तब सगुण विद्यामें भी मार्ग व्यर्थ है, इसपर कहते हैं—"उपपन्न" इत्यादिसे । वह गति है लक्षण—कारण जिस अर्थका वह तल्लक्षणार्थ है ॥३०॥

[१८ अनियमाधिकरण सू० ३१]

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् ।
श्रुतेष्वेव प्रकरणात् द्विःपाठोऽस्य वृथान्यथा ॥१॥
प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः ।
तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—श्रुतियोंमें जिन विद्याओंमें अर्चिरादिमार्गकी श्रुति है । उन्हीं सगुण उपासनाओंमें अर्चिरादि मार्ग व्यवस्थित है या सब उपासनाओंमें ?

पूर्वपक्ष—प्रकरणसे जिन विद्याओंमें अर्चिरादि मार्ग श्रुत है उन्हींमें उसकी व्यवस्था है, यदि सब उपासनाओंमें उसका उपसंहार किया जाय तो दो विद्याओंमें उसका कथन व्यर्थ हो जायगा ।

सिद्धान्त—'ये चेमे' इस वाक्यसे अन्य विद्यामें अर्चिरादिमार्ग कहा गया है इससे प्रकरणका बाध करना चाहिए दो बार पाठ तो उपास्यमार्गके चिन्तनके लिए है ।

---

* आशय यह है कि छान्दोग्यमें पञ्चाग्नि विद्या और उपकोसलविद्यामें अर्चिरादिमार्ग पठित है । शाण्डिल्य, वैश्वानर आदि विद्याओंमें उसका पाठ नहीं है । यहांपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रकरणसे जिन विद्याओंमें अर्चिरादि मार्ग श्रुत है उन्हीं विद्याओंमें वह लागू है अन्यत्र उसका उपसंहार नहीं करना चाहिए । यदि उपसंहार करें तो एकबारके पाठसे ही उसका सर्वत्र उपसंहार किया जा सकता है, तो दो विद्याओंमें उसका पाठ निरर्थक हो जायगा । इससे प्रतीत होता है कि श्रुत स्थलोंमें ही मार्गकी व्यवस्था है ।

सिद्धान्ती कहते हैं—पञ्चाग्नि विद्याके वाक्यशेषमें पञ्चाग्निके उपासकोंके लिए उत्तर मार्गका प्रतिपादन करते हुए 'तद्य इत्थं विदुः' इस श्रुतिमें अन्य विद्यावालोंके लिए मुखसे अर्चिरादिमार्गका प्रतिपादन किया है । इसका अर्थ यह है कि जो उपासक इस प्रकार पञ्चाग्निकी उपासना करते हैं और जो अरण्यमें श्रद्धा, तप आदि धर्मोंके रहते हुए अन्य उपासनाओंमें प्रवृत्त होते हैं, वे सब अर्चिरादि मार्गको प्राप्त होते हैं । इससे मार्गका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसे प्रकरणका बाध करना चाहिए । दुबारा कथन व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उपास्यमार्गके चिन्तनके लिए उसकी उपपत्ति है, इसलिए सब सगुण उपासनाओंमें मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए ।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

पदच्छेद—अनियमः, सर्वासाम्, अविरोधः, शब्दानुमानाभ्याम्।

पदार्थोक्ति—सर्वासाम्—सगुणोपासनानाम् [मार्गस्य] अनियमः—नियमाभावः, [ननु अनियमस्वीकारे प्रकरणेन विरोधः स्यादिति, चेत् ? अस्ति] अविरोधः—विरोधस्य अभावः, [कुतः ?] शब्दानुमानाभ्याम्—'तद्य इत्थं विदुः' 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् [हेतुभ्याम् इत्यर्थः]।

भाषार्थ—सभी सगुणोपासनाओंके मार्गका नियम नहीं है, और प्रकरणके साथ विरोध भी नहीं है, किससे ? 'तद्य इत्थं विदुः' इत्यादि श्रुति और 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' इत्यादि स्मृति होनेसे, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम्। सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद् गतिः श्रूयते—यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां दहरविद्यायामिति, नान्यासु यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति। तत्र संशयः—किं यास्वेवैषा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवैवंजातीयकाभिर्विद्याभिरभिसम्बध्येतेति। किं तावत् प्राप्तं नियम इति।

भाष्यका अनुवाद

सगुण विद्यामें गति अर्थवती है, निर्गुण—परमात्मविद्यामें वह अर्थवती नहीं है, ऐसा कहा गया है। सगुणविद्याओंमें भी किन्हीं विद्याओंमें गतिश्रुति है—जैसे पर्यंकविद्यामें, उपकोसलविद्यामें, पञ्चाग्निविद्यामें और दहरविद्यामें अन्य विद्याओंमें गति श्रुत नहीं है, जैसे मधुविद्यामें, शाण्डिल्यविद्यामें, षोडशकलविद्यामें और वैश्वानर विद्यामें। यहाँपर संशय होता है कि जिन सगुण विद्याओंमें गति श्रुत है, उन्हींमें गति नियत की जाती है या अनियमसे सभी सगुण विद्याओंके साथ इसका सम्बन्ध होता है। तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

अनियमः सर्वासाम्०। अत्रापि अर्चिरादिमार्ग एव विषयः। तत्र विद्याविशेषप्रकरणाद् अविशेषश्रुतेः च संशये पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। सगुण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अनियमः सर्वासाम्०" इत्यादि। इस अधिकरणका भी अर्चिरादि मार्ग ही विषय है। यहांपर विद्याविशेषका प्रकरण होनेसे और अविशेष श्रुति होनेसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—

भाष्य

यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति, प्रकरणस्य नियामकत्वात्। यद्यन्यत्राश्रूयमाणापि गतिर्विद्यान्तरं गच्छेच्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत, सर्वस्य सर्वार्थवत्त्वप्रसङ्गात्। अपि चार्चिरादिकैकैव गतिरुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत् पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात्। तस्मात् नियम इति।

एवं प्राप्ते पठति—अनियम इति। सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलानां सगुणानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति। नन्व-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—नियम प्राप्त होता है। जिन विद्याओंमें गति श्रुत है, उन्हीं विद्याओंमें वह होनी चाहिए, क्योंकि प्रकरण नियामक है। अन्य स्थानमें जिसका श्रवण नहीं है, ऐसी गति यदि अन्य विद्याको प्राप्त होने लगे, तो श्रुति आदिके प्रामाण्यकी हानि हो जायगी, क्योंकि सबमें सर्वार्थवत्त्व होने लगेगा और अर्चिरादि एक ही गति उपकोसल विद्या और पञ्चाग्नि विद्यामें समानरूपसे जैसी पढ़ी जाती है वह यदि सब विद्याओंके लिए मानी जाय, तो उसका पुनः कथन निरर्थक हो जायगा। इसलिए गतिका उन उन विद्याओंमें ही नियम है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—अनियम है। अभ्युदय प्राप्त जिनका फल है, ऐसी सब सगुणविद्याओंमें समानरूपसे इस देवयान नामकी

रत्नप्रभा

निर्गुणविद्यासु मार्गस्य भावाभावव्यवस्थावत् सगुणास्वपि व्यवस्थेति दृष्टान्तेन प्राप्तौ सिद्धान्ते व्यवस्थापवादात् गतिनियमाऽनियमौ उभयत्र फलम्। नियमे प्रकरणमुक्त्वा पुनरुक्तिं लिङ्गमाह—अपि चेति। एकत्रोक्तगतेरन्यत्र प्राप्तौ पुनरुक्तिः। वृथा स्यादित्यर्थः।

सिद्धान्तयति—सर्वासामिति। अभ्युदयः—ब्रह्मलोकः। अविशेषश्रुत्यादिना

रत्नप्रभाका अनुवाद

"किं तावत्" इत्यादिसे। सगुण विद्या और निर्गुण-विद्याओंमें मार्गके अस्तित्व और अभावकी व्यवस्थाके समान सगुण विद्याओंमें भी व्यवस्था होगी, ऐसा दृष्टान्तसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्तमें व्यवस्थाके अपवादसे गतिका नियम और गतिका अनियम पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें फल है। नियमके लिए प्रकरण कहकर पुनरुक्तिरूप लिंग कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। एक स्थानमें कही गई गति यदि अन्यत्र प्राप्त हो, तो पुनः कथन व्यर्थ होगा, ऐसा अर्थ है।

सिद्धान्त करते हैं—"सर्वासाम्" इत्यादिसे। अभ्युदय—ब्रह्मलोक। अविशेष श्रुति आदिसे।

भाष्य

नियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्तः । नैषोऽस्ति विरोधः, शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथा हि श्रुतिः—'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति । कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरिति, ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्, तन्मात्र-

भाष्यका अनुवाद

गतिका होना युक्त है । अनियमका स्वीकार करनेमें प्रकरणका विरोध कहा गया है । नहीं, यह विरोध नहीं है, क्योंकि इसमें शब्द और अनुमान—श्रुति और स्मृति प्रमाण हैं, ऐसा अर्थ है । श्रुति और स्मृति इन दो प्रमाणोंमेंसे श्रुति यह है—'तद्य इत्थं विदुः' (उनमें—लोकके प्रति उपस्थित हुए अधिकृत गृहमेधियोंमें—जो इस प्रकार यथोक्त पञ्चाग्निदर्शन—द्युलोकादि अग्निसे हम क्रमसे उत्पन्न हुए पंचाग्निस्वरूप हैं, ऐसा जानते हैं) यह श्रुति पंचाग्निविद्याके उपासकोंके लिए देवयान मार्गका उपदेश करती हुई, 'ये चेमेऽरण्ये०' (और जो अरण्योपलक्षित वैखानस और परिव्राजक श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं) इस प्रकार अन्य विद्याके वेत्ताओंका भी पंचाग्निविद्याके वेत्ताओंके समान ही मार्ग बतलाती है । परन्तु सगुण विद्याओंकी उपासना करनेवालोंकी यह गति है, ऐसा कैसे समझा जाता है ? श्रद्धा और तपमें संलग्न अरण्यवासियोंको

रत्नप्रभा

प्रकरणबाधो न दोष इत्याह—नैष इति । तत्—तत्र अधिकृतानां मध्ये 'ये इत्थं पञ्चाग्नीन् विदुः' 'ये चामी अरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' श्रद्धातपउपलक्षितं ब्रह्म ध्यायन्ति, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्तीत्यन्वयः । ननु श्रद्धातपोमात्रश्रुतेः ताभ्यामेव अर्चिरादिगमनं स्यात्, न वैश्वानरादिविद्याशीलानामिति शङ्कते—कथं पुनरिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकरणका बाध होना दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैष" इत्यादिसे । 'तद्य इत्थं विदुः'—उनमें—अधिकृत पुरुषोंमें जो इस प्रकार पंचाग्नियोंको जानते हैं और जो ये लोक अरण्यमें श्रद्धातपकी उपासना करते हैं, श्रद्धा और तपसे उपलक्षित ब्रह्मका ध्यान करते हैं, वे अर्चिमार्ग प्राप्त करते हैं, ऐसा अन्वय है । परन्तु केवल श्रद्धा और तपका श्रवण होनेसे उन दोनोंसे ही अर्चिरादिगमन होगा, वैश्वानरादिविद्याओंके जाननेवालोंको नहीं होगा, ऐसी शंका करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । अविद्वानोंकी गतिका निषेध होनेसे

भाष्य

श्रवणात्। नैष दोषः, नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते—

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः॥'

इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम्। वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति, तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासते इति व्याख्येयम्, सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

ही यह गति प्राप्त होती है, क्योंकि श्रुतिमें केवल उन्हींका श्रवण है। यह दोष नहीं है, क्योंकि विद्याबलके विना केवल श्रद्धा और तपसे यह गति प्राप्त नहीं होती, कारण कि 'विद्यया तदारोहन्ति०' (विद्यासे उसमें—ब्रह्मलोकमें आरूढ होते हैं, जहां जानेपर कामनाएँ परावृत्त हो जाती हैं, वहां केवल कर्ममें लीन तपस्वी अविद्वान् पुरुष नहीं जा सकते) ऐसी दूसरी श्रुति है। इससे प्रतीत होता है कि यहांपर श्रद्धा और तपसे अन्य विद्याओंका उपलक्षण है। वाजसनेयी तो पंचाग्निविद्याके अधिकरणमें 'य एवमेतद्विदुः०' (जो इस प्रकार इस पंचाग्निविद्याको जानते हैं और अरण्यमें सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिमार्ग प्राप्त करते हैं) इस प्रकार कहते हैं। जो श्रद्धालु सत्य—ब्रह्मकी उपासना करते हैं, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि सत्यशब्द ब्रह्मके लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। और पंचाग्निविद्यो-

रत्नप्रभा

अविदुषां गतिनिषेधात् श्रद्धातपःशब्दाभ्यां तत्साध्यब्रह्मविद्यालक्षणेति परिहरति—नैष दोष इति। तत्—ब्रह्मलोकस्थानम्, परागताः—परावृत्ताः, कामक्रोधदोषा न सन्तीति यावत्। दक्षिणाः केवलकर्मिणः तपस्विनोऽपि अविद्वांसो न गच्छन्तीत्यर्थः। लक्षणादोषहीनं वाक्यमाह—वाजसनेयिनस्त्विति। किञ्च, विद्याकर्मलक्षण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रद्धा और तप इन शब्दोंसे ब्रह्मविद्या लक्षित होती है, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"नैष दोष" इत्यादिसे। तत्—ब्रह्मलोक स्थान। परागता—परावृत्त हुए, काम, क्रोध, ये दोष नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। दक्षिण अर्थात् केवल कर्मी तपस्वी भी यदि विद्वान् न हों, तो वे नहीं जाते, ऐसा अर्थ है। लक्षणादोषसे हीन वाक्यको कहते हैं,—"वाजसनेयिनस्तु" इत्यादिसे। और विद्यालक्षण और कर्मलक्षण इन दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट हुए अधोगतिको

भाष्य

पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्तयैवोपात्तत्वाद् विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम् । 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति । तत्राऽपि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः । स्मृतिरपि—

'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥' (भ०गी० ८।२६) इति ।

भाष्यका अनुवाद

पासकोंका 'य इत्थं विदुः' इस वाक्यसे इत्थंवित्त्वका ही ग्रहण किया है, इसलिए अन्य विद्यामें संलग्न हुए लोगोंका ही यह ग्रहण उचित है। और 'अथ य एतौ' (अब जो उत्तर और दक्षिण इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते—उत्तर या दक्षिण मार्ग प्राप्त करनेके लिए ज्ञान या कर्मका अनुष्ठान नहीं करते—वे कीट, पतंग और सर्प आदि होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट हुए लोगोंको दुःखदायिनी अधोगति प्राप्त होती है ऐसा ज्ञान कराती हुई देवयान और पितृयानमें ही इन लोकोंका अन्तर्भाव करती है। उसमें भी विद्याविशेषसे इनको देवयान प्राप्त होता है। स्मृति भी है—'शुक्लकृष्णे गती०' (ज्ञान और कर्मके अधिकारी जनोंकी ये दो प्रकाश और अप्रकाशरूप गतियां—मार्ग नित्य मानी गई हैं, उनमेंसे एकसे—शुक्लसे अनावृत्ति-मोक्ष पाता है और अन्यसे—कृष्णसे पुनः पुनः

रत्नप्रभा

मार्गद्वयभ्रष्टानामधोगतिश्रुतेः वैश्वानराद्युपासकानामर्चिरादिमार्गप्राप्तिरित्याह—**अथ य एताविति** । दन्दशूकः—सर्पः । किञ्च, 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' इत्यविशेषेण उपासकानाम् अर्चिरादिगतिमुक्त्वोपसंहारस्मृतेश्च तेषां तत्प्राप्तिरित्याह—**स्मृतिरिति** । शुक्ला

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राप्त होते हैं— ऐसी श्रुति होनेसे वैश्वानरादिके उपासकोंको अर्चिरादि मार्गकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—"अथ य एतौ" इत्यादिसे । दन्दशूक—सर्प । और 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः०' (अग्नि, ज्योति, अहर्देवता, शुक्लपक्ष देवता और [illegible]: मास उत्तरायणकी अभिमानिनी देवता, उस मार्गसे ब्रह्म जाननेवाले पुरुष क्रमसे जाकर ब्रह्म प्राप्त करते हैं—इस प्रकार समानरूपसे उपासकोंकी अर्चिरादि गति कहकर उपसंहारस्मृतिसे उनकी ब्रह्मप्राप्ति कहते हैं—"स्मृति." इत्यादिसे । शुक्ला गति—अर्चिरादिमार्ग कृष्णा गति—धूमादिमार्ग

भाष्य

यत् पुनर्देवयानस्य पथो द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च, तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम् । तस्मादनियमः ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

संसारमें आवृत्त होता है) देवयान मार्गका उपकोसलविद्यामें और पंचाग्नि-विद्यामें जो दो बार कथन है वह उन दोनों विद्याओंमें ध्यानके लिए है। अतः गतिका अनियम है ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

गतिः—अर्चिरादिका, कृष्णा—धूमादिका, जगतः—विद्याकर्माधिकृतस्य, शाश्वते—ध्रुवे, मते—सम्मते, तत्र एकया शुक्लया पुनरावृत्तिवर्जं कार्यं ब्रह्म गच्छति । अन्यया स्वर्गं गत्वा पुनरायातीत्यर्थः । पुनरुक्तिदोषं दूषयति—यत्पुनरिति । तत्र तत्र मार्गश्रुतिः अन्वहं मार्गचिन्तनार्थम्, प्रकरणेन मार्गध्यानस्य विद्याङ्गत्वावगमात् । तथा च वक्ष्यति सूत्रकारः—'तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च' (ब्र० सू० ४।२।१७) इति । येषां न श्रुतो मार्गः, ते मार्गध्यानं विनाऽपि विद्यासामर्थ्यात् मार्गं लभन्ते इति ज्ञापनार्था पुनरुक्तिः इत्यर्थः । तस्मात् सर्वोपासनासु प्रतीकभिन्नासु अर्चिरादिप्राप्तिः इति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगतः—विद्या और कर्ममें अधिकृत पुरुषकी शाश्वते—ध्रुव कही गई है। उनमेंसे शुक्ल गतिसे पुनरावृत्तिसे रहित कार्य ब्रह्मको प्राप्त करता है, दूसरीसे स्वर्गमें जाकर पुनः संसारमें आता है, ऐसा अर्थ है। पुनरुक्ति दोषका निराकरण करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। तत्-तत् स्थलोंमें मार्गश्रुति प्रतिदिन मार्गचिन्तनके लिए है, क्योंकि प्रकरणसे मार्गध्यान विद्याका अंग है, ऐसा जाना जाता है। जिनका मार्ग श्रुतिमें नहीं है, वे मार्गध्यानके बिना भी विद्या-सामर्थ्यसे मार्ग प्राप्त करते हैं, यह सूचित करनेके लिए पुनरुक्ति है, ऐसा अर्थ है। इससे प्रतीकभिन्न सब उपासनाओंमें अर्चिरादिकी प्राप्ति होती है, यह सिद्ध हुआ ॥३१॥



[१९ यावदधिकाराधिकरण सू० ३२]

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताऽथवा ।
पाक्षिक्यपान्तरतमःप्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥ १ ॥
नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः ।
भुक्त्वाधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंकी मुक्ति पाक्षिकी—अनियत है या नियत है ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओंकी मुक्ति अनियत ही है, क्योंकि अपान्तरतमा आदिकी जन्मगाथा प्रसिद्ध है ।

सिद्धान्त—तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति नियत है, परन्तु ईश्वरोपासनाजन्य अनेक शरीरोंसे भोक्तव्य फलोंके उपभोगके अनन्तर उन अधिकारी तत्त्वज्ञानी जनोंकी मुक्ति होती है, अतः तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति नियत ही है ।

---

* इस अधिकरणका सारांश यह है कि पुराणोंमें अपान्तरतमा नामवाले वेदप्रवर्तक आचार्य द्वापरके अन्तमें भगवान् विष्णुकी आज्ञाके अनुसार कृष्णद्वैपायनके रूपसे उत्पन्न हुए यह सुना जाता है, वैसे सनत्कुमार स्कन्दरूपसे पार्वती और महेश्वरसे उत्पन्न हुए, इसी तरह अन्य भी वसिष्ठप्रभृति तत्त्वज्ञानियोंने शापद्वारा यत्र तत्र अन्य अन्य शरीरोंको धारण किया, ऐसा भी सुना जाता है, अतः तत्त्वविदोंकी मुक्ति नियत नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षीका अभिप्राय है ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि—जो तुमने अपान्तरतमा आदि दृष्टान्तरूपसे उद्धृत किये हैं, वे सब जगत्का निर्वाह करनेवाले हैं। और पूर्वकल्पमें बड़े तपके प्रभावसे परमेश्वरकी उपासना करके इस कल्पमें अनेक शरीरोंसे उपभोग्य अधिकारी-पदको प्राप्त कर अन्तमें प्रारब्ध कर्मोंके क्षीण होनेपर मोक्षपदवीको अवश्य प्राप्त करते हैं। और जो आरब्ध कर्म नहीं हैं, उनकी तत्त्वज्ञानसे अवश्य निवृत्ति होती है, अतः तत्त्वज्ञानियोंकी मुक्ति अवश्य होती है ।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—यावदधिकारम्, अवस्थितिः, आधिकारिकाणाम् ।

पदार्थोक्ति—[अपान्तरतमःप्रभृतीनाम्] आधिकारिकाणाम्—अधिकारसम्पन्नानाम्—लोकव्यवस्थाहेतुष्वधिकारेषु परमेश्वरेण नियुक्तानां सम्यग्दर्शनतः प्रक्षीणकर्मणाम् यावदधिकारम्—यावत्प्रारब्धकर्म अवस्थितिः—अवस्थानम् [भवतीत्यर्थः] ।

भाषार्थ—लोकव्यवस्थाके हेतुभूत अधिकारोंमें विनियुक्त यथार्थ विज्ञानसे जिनके कर्म प्रक्षीण हो गये हैं ऐसे अपान्तरमा प्रभृति बड़े बड़े महर्षि लोगोंकी प्रारब्ध कर्मों तक अवस्थिति रहती है, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते, न वेति चिन्त्यते । ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति नेयं चिन्तोपपद्यते । नहि पाकसाधनसम्पत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति । नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते । उपपन्ना त्वियं चिन्ता,

भाष्यका अनुवाद

विद्वान्‌के वर्त्तमान शरीरका पात होनेपर अन्य शरीर उत्पन्न होता है या नहीं ? इसपर विचार किया जाता है । परन्तु साधनभूत विद्याकी प्राप्ति होनेपर मोक्ष निष्पन्न होता है या नहीं ? इसपर विचार करना ठीक नहीं है, क्योंकि पाकके साधनोंकी प्राप्ति होनेपर पाक बनेगा या नहीं, ऐसा विचार करना ठीक नहीं है । और भोजन करनेवाला तृप्त होगा या नहीं, इसपर भी विचार नहीं किया जा सकता । यह विचार उपपन्न है, क्योंकि

रत्नप्रभा

यावदधिकारमव० । निर्गुणविद्यायां गतिर्व्यर्था मुक्तिफलत्वात्, सगुणविद्यासु सर्वत्र अर्थवती ब्रह्मलोकफलत्वादिति व्यवस्था कृता । सा न युक्ता, तत्त्वज्ञानिनाम् अपि इतिहासादौ पुनर्जन्मदर्शनेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावाद् इत्याक्षेपात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

'यावदधिकारम्०' इत्यादि । निर्गुणविद्यामें गति व्यर्थ है, क्योंकि इस विद्याका फल मुक्ति है और सगुण विद्यामें गति सर्वत्र प्रयोजनवाली है, क्योंकि इस विद्याका फल ब्रह्मलोककी प्राप्ति है—इस प्रकार जो व्यवस्था की गई है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इतिहास आदिमें तत्त्वज्ञानियोंका भी पुनर्जन्म देखनेमें आता है, इसलिए ज्ञानका फल मुक्ति नहीं है, ऐसे आक्षेपसे

भाष्य

ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथा ह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन् निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात् स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव। एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ। श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च

भाष्यका अनुवाद

इतिहास और पुराणमें कितने ही ब्रह्मवेत्ताओंकी अन्य देहकी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे कि अपान्तरतमा नामके वेदाचार्य, पुराण ऋषि विष्णुकी आज्ञासे कलि और द्वापरकी सन्धिमें कृष्णद्वैपायनरूपसे उत्पन्न हुए ऐसा स्मृतिकार कहते हैं। और ब्रह्माके मानस पुत्र वसिष्ठ निमिके शापसे पूर्व देहका त्याग करके ब्रह्माके आदेशसे मित्र वरुणसे उत्पन्न हुए। उसी प्रकार ब्रह्माके ही मानस पुत्र भृगु आदिकी भी वरुणके यज्ञमें पुनरुत्पत्ति कही गई है। ब्रह्माके ही मानस पुत्र सनत्कुमार भी स्वयं रुद्रको वरदान देनेके कारण कार्तिकेयरूपसे उत्पन्न हुए। इसी प्रकार स्मृतिमें तत् तत् निमित्तसे दक्ष, नारद आदिके अनेक शरीरोंकी उत्पत्ति कही गई है। और श्रुतिमें भी मन्त्र और अर्थवादमें प्रायः देखा जाता है। कितने ही

रत्नप्रभा

संगतिः। ज्ञानिनां पुनर्जन्मदर्शनं संशयबीजं भाष्ये दर्शितम्। पूर्वपक्षे ज्ञानात् मुक्तिश्रुतीनां ज्ञानस्तुतिमात्रत्वेन ज्ञानस्य मुक्तिफलत्वाभावे सति ब्रह्मलोकफलत्वाविशेषादर्चिरादिमार्गोपसंहारः फलम्, सिद्धान्ते तूक्तव्यवस्थासिद्धिः इति विवेकः। श्रुतावपीति। 'मेधातिथेर्मेष' इति मन्त्रे इन्द्रस्य मेषजन्म उपलभ्यते। वसिष्ठ उर्वशीपुत्रो जात इत्येवमर्थो बह्वृचार्थवाद इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व अधिकरणसे इस अधिकरणकी संगति है। ज्ञानियोंका पुनर्जन्मदर्शन संशयका बीज भाष्यमें दिखलाया गया है। ज्ञानसे मुक्ति कहनेवाली श्रुतियाँ केवल ज्ञानकी स्तुतिका प्रतिपादन करती हैं, इसलिए ज्ञानका फल मुक्ति न होनेपर ब्रह्मलोकप्राप्ति फल समान होनेसे और अर्चिरादिमार्गका उपसंहार पूर्वपक्षमें फल है। सिद्धान्तमें तो उपर्युक्त व्यवस्थाकी सिद्धि फल है, यह पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। "श्रुतावपि" इत्यादि। 'मेधातिथेर्मेष०'—इस मन्त्रमें इन्द्रका मेषरूपसे जन्म प्रतीत होता है। 'वसिष्ठ उर्वशीपुत्रो जात०' यह अर्थ बह्वृचोंका अर्थ-

भाष्य

केचित् पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते केचित्तु स्थिते एव तस्मिन् योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति।

अत उत्तरमुच्यते। न, तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात् स्थितेः। यथाऽसौ भगवान् सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसाने उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति, 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतै-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वदेहपात होनेपर अन्य देहधारण करते हैं और कितने तो उस देहके रहते हुए ही योग ऐश्वर्यके बलसे अनेक देहग्रहण करनेके न्यायसे अन्य देहोंका ग्रहण करते हैं। और इन सबको सकल वेदार्थ ज्ञात था, ऐसा स्मृतियाँ कहती हैं। इसलिए इनके अन्य शरीरकी उत्पत्ति दिखाई देनेसे ब्रह्मविद्या मोक्षकी पाक्षिक हेतु है या अहेतु है, ऐसा प्राप्त होता है।

सिद्धान्ती—इससे उत्तर कहा जाता है—नहीं, वे अपान्तरतमा आदि लोकस्थितिके हेतु वेदप्रवर्तन आदि अधिकारमें नियुक्त हुए थे, अतः उनकी स्थिति अधिकारके अधीन है। जैसे यह भगवान् सूर्य हजार युग तक जगत्का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होनेपर उदय और अस्तसे रहित कैवल्यका अनुभव करते हैं, क्योंकि 'अथ तत ऊर्ध्व०, (प्रारब्धकर्मके क्षीण होनेपर

रत्नप्रभा

'पाक्षिकम्' इत्यापाततः, अहेतुत्वम् ,एव इति पूर्वपक्षः। ज्ञानस्य मुक्त्यहेतुत्वं नेति सिद्धान्तयति—नेति। लोकव्यवस्थासु स्वामित्वम् अधिकारः, तत्प्रापकं प्रारब्धं यावदस्ति तावत् कालं जीवन्मुक्तत्वेनाऽधिकारिणामवस्थितिः, प्रारब्धक्षये प्रतिबन्धकाभावाद् विदेहकैवल्यम् इत्यत्र मानमाह—अथेति। अथ प्रारब्धक्षया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाद है। ब्रह्मविद्या विकल्पसे मोक्षकी हेतु है यह आपाततः कहा गया है, वस्तुतः तो ब्रह्मविद्या मोक्षकी हेतु नहीं ही है, यही पूर्वपक्ष है। अब ज्ञान मुक्तिका अहेतु नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"न" इत्यादिसे। लोकव्यवहारमें स्वामित्वका नाम अधिकार है। अधिकार प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध कर्म जबतक रहता है तबतक जीवन्मुक्तरूपसे अधिकारियोंकी स्थिति रहती है। प्रारब्ध कर्मके क्षीण होनेपर प्रतिबन्धकका अभाव होनेसे विदेह कैवल्य प्राप्त होता है, उसमें प्रमाण

भाष्य

कल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३ । ११ । १) इति श्रुतेः । यथा च वर्तमाना ब्रह्मविदः प्रारब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६ । १४ । २) इति श्रुतेः । एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चाऽपवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् । सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते

भाष्यका अनुवाद

विलक्षण—केवल ब्रह्मस्वरूप—होकर, देहत्याग करके आदित्य न उदित होते हैं, न अस्त होते हैं, किन्तु अकेले ही मध्यमें रहते हैं) ऐसी श्रुति है। और जैसे वर्तमान ब्रह्मवेत्ता प्रारब्ध कर्मोंके भोगके क्षीण होनेपर कैवल्यका अनुभव करते हैं, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरं०' (जिसका अधिकाररूप बन्धन टूट गया है, उसके सदात्मस्वरूपकी प्राप्तिमें तभीतक विलम्ब है जबतक कि देहसे विमुक्त नहीं होता, देहपात होते ही वह ब्रह्ममें सम्पन्न हो जाता है) ऐसी श्रुति है। उसी प्रकार परमेश्वरसे उन उन अधिकारोंमें नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि ईश्वर भी कैवल्यहेतु सम्यग्दर्शन (तत्त्वज्ञान) होनेपर कर्मोंके क्षीण न होनेसे अधिकारपर्यन्त रहते हैं, कर्मोंके क्षीण होनेपर मुक्त होते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अधिकारका फल देनेके लिए एक बार प्रवृत्त हुए

रत्नप्रभा

नन्तरम् । ततः—पश्चात्, ऊर्ध्वः—विलक्षणः, केवलः—ब्रह्मस्वरूपः सन् उदेत्य—उद्गम्य, देहं त्यक्त्वेति यावत् । एकल एव—अद्वितीयः, मध्ये—उदासीनात्मस्वरूपे तिष्ठति इत्यर्थः । ननु ज्ञानिनामपि जन्मान्तरं चेत् कथं मुक्तिः ? इत्यत आह—सकृत्प्रवृत्तमेवेति । यदि ज्ञानिनां प्रारब्धातिरिक्तकर्माधीनं जन्मान्तरं स्यात् , तदा ज्ञानाद् मुक्त्यभावः स्यात् , नैतदस्ति, किन्तु बहुजन्मफलाय सकृदुद्भूतं प्रारब्धं ते क्षपयन्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । अथ—प्रारब्धके क्षीण होनेके अनन्तर । ततः—तत्पश्चात्, उदूर्ध्वः—विलक्षण, केवल—ब्रह्मस्वरूप होकर । उदेत्य—देहका त्याग करके । एकल एव—अकेला ही । मध्ये—उदासीनरूप स्वरूपमें रहता है, ऐसा अर्थ है । यदि ज्ञानीका भी अन्य जन्म हो, तो मुक्ति किस प्रकार होगी ? इसपर कहते हैं—"सकृत्प्रवृत्तमेव" इत्यादिसे । यदि ज्ञानियोंका अन्य जन्म प्रारब्धसे भिन्न कर्मोंके अधीन हो, तो ज्ञानसे

भाष्य

फलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायाऽपरिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान् युगपत् क्रमेण वाऽधितिष्ठन्ति। न चैते जातिस्मरा

भाष्यका अनुवाद

कर्माशयको समाप्त करते हुए एक घरसे दूसरे घरके समान अन्य अन्य देहमें संचार करते हुए अपना अधिकार चलानेके लिए स्मृतिका लोप हुए विना ही वे देह और इन्द्रियोंकी प्रकृतिको अपने वशमें करके देहोंका निर्माण करके एक ही समय या क्रमसे उनमें प्रवेश करते हैं। और पूर्व जन्मका स्मरण करनेवाले

रत्नप्रभा

जन्मग्रहणेऽपि ज्ञानयोगबलाद् न शोचन्ति, प्रारब्धसमाप्तौ मुच्यन्ते इत्यर्थः। ज्ञानिनां जन्मान्तरस्य पूर्वजन्महेतुप्रारब्धाधीनतायाम् अलुप्तस्मृतित्वं हेतुः, यो ह्यजातिस्मरत्वे सति कर्मान्तराधीनजन्मान्तरवान्, स लुप्तस्मृतिरिति व्याप्तेः, ज्ञानिषु व्यापकाभावाद् विशिष्टव्याप्याभावसिद्धिः। ननु तेषां जातिस्मरत्वादलुप्तस्मृतित्वमन्यथासिद्धमित्यत आह—न चैत इति। तथा च तेषामजातिस्मरत्वरूपविशेषणे सति विशेष्याभावादेव विशिष्टाभावसिद्धिरित्यर्थः। पूर्वदेहनामप्रत्यभिज्ञानहीनाः परतन्त्राः साभिमानाः जातिस्मराः, आधिकारिकास्तु पूर्वनामानः

रत्नप्रभाका अनुवाद

मुक्तिका अभाव होगा, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वे अनेक जन्मोंमें फलके लिए एक बार उत्पन्न हुए प्रारब्धको क्षीण करते हैं, यद्यपि वे जन्मग्रहण करते हैं, तो भी ज्ञानयोगके बलसे शोक नहीं करते और प्रारब्ध समाप्त होनेपर मुक्त हो जाते हैं, ऐसा अर्थ है। ज्ञानियोंके अन्य जन्मके पूर्वजन्मके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन होनेमें अलुप्तस्मृतित्व—स्मृतिलुप्त न होना—हेतु है, क्योंकि जो *अजातिस्मर होनेपर कर्मान्तरके अधीन जन्मान्तर वाला है*, वह लुप्तस्मृति है—ऐसी व्याप्ति है। इस व्याप्तिमें ज्ञानियोंमें व्यापकका अभाव है—ज्ञानी लुप्तस्मृति नहीं है—इसलिए विशिष्ट व्याप्यका अभाव [अजातिस्मर होनेसे कर्मान्तरके अधीन जन्मान्तरवाले—इस व्याप्यका अभाव] सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि विद्वानोंके जातिस्मर होनेसे उनका अलुप्तस्मृतित्व अन्यथासिद्ध है, इस शंकाका परिहार करते हैं—"न चैते" इत्यादिसे। अर्थात् उनमें अजातिस्मरत्वरूप विशेषणके रहनेपर विशेष्यका अभाव है [कर्मान्तरके अधीन जन्मान्तरवाले हैं इस विशेष्यका अभाव है, क्योंकि उनका जन्मान्तर प्रारब्धके ही अधीन है] इसीसे विशिष्टका—विशेषण सहित विशेष्यका अभाव सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः। यथा हि 'सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामा व्युदस्य स्वं देहं जानकं देहमाविश्य व्युह्य तेन पश्चात् स्वमेव देहमाविवेश' इति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वाऽऽशङ्क्येत, न त्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात् कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। तथा हि श्रुतिः—

'भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मु० २।२।८) इति।

भाष्यका अनुवाद

नहीं कहे जाते, क्योंकि 'त एवैते' (ये वे ही हैं) इस प्रकार स्मृतिमें प्रसिद्धि है। जैसे सुलभा नामकी ब्रह्मवादिनीने जनकके साथ विवाद करनेकी इच्छासे अपने देहका त्याग कर जनकके देहमें प्रवेश करके उसके साथ विवाद करनेके पश्चात् अपने ही देहमें प्रवेश किया था, ऐसी स्मृति है। यदि एक बार प्रवृत्त हुए उपयुक्त कर्ममें अन्य देहकी उत्पत्तिके कारण अन्य कर्मका आविर्भाव हो तो अन्य भी जिसका बीज नहीं जला है, ऐसा कर्मान्तर उसी तरह प्रसक्त होगा। इससे ब्रह्मविद्या पाक्षिक मोक्षहेतु है, ऐसी आशंका होगी, परन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे कर्मबीजका दाह होता है यह श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। श्रुति देखिए—'भिद्यते हृदयग्रन्थि०' (कारणकार्यरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी रागादि गांठ—अविद्यावासनासमूह—टूट जाती है और सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं,

रत्नप्रभा

स्वतन्त्रा निरभिमाना इति वैषम्यम्। तेन जनकेन सह व्युह्य विवादं कृत्वेत्यर्थः। विदुषः प्रारब्धातिरिक्तकर्माभावाद् न बन्धः, निमित्ताभावे नैमित्तिकाभाव इति न्यायानुगृहीतानां ज्ञानान्मुक्तिश्रुतीनां न स्तुतिमात्रत्वमितीममर्थमुपपादयति—यदि ह्युपयुक्ते इत्यादिना। श्रुतिस्मृत्युक्तार्थे युक्तिमप्याह—न चाऽविद्येति। विद्यया क्लेश-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व देह और नामके प्रत्यभिज्ञानसे रहित परतन्त्र, साभिमान पुरुष जातिस्मर कहलाते हैं। आधिकारिक तो पूर्व जन्मके नामवाले हैं, स्वतन्त्र और निरभिमान है, ऐसा जातिस्मर और आधिकारिकोंका भेद है। तेन—जनकके साथ, व्युह्य—विवाद करके, यह अर्थ है। प्रारब्धसे अतिरिक्त कर्मोका अभाव होनेसे विद्वान्‌का बन्ध नहीं है, ऐसा अर्थ है। निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका अभाव है। इस न्यायसे अनुगृहीत हुई ज्ञानसे मुक्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ केवल स्तुतिके लिए नहीं हैं इस अर्थका उपपादन करते हैं—"यदि ह्युप-

भाष्य

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥'
(भ० गी० ४।३७) इति।

'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते' पुनः॥' इति चैवमाद्या।

न चाऽविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते। नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते। प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः। 'तस्य तावदेव

भाष्यका अनुवाद

द्रष्टाके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं [संसार कारणका उच्छेद होनेसे वह मुक्त हो जाता है]) और 'स्मृतिलम्भे सर्व०' (स्मृति प्राप्त होनेपर सब राग आदि गांठोंका विनाश हो जाता है) इत्यादि। स्मृति भी है—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्०' (हे अर्जुन, जैसे भली भाँति प्रदीप्त हुई अग्नि लकड़ियोंको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि—तत्त्वज्ञान सब कर्मोंको निर्बीज कर देती है) और 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि०' (जैसे अग्निसे भुने गये बीज फिर नहीं उगते वैसे ही ज्ञानाग्निसे जले हुए क्लेशोंसे आत्मा—शरीर फिर उत्पन्न नहीं होता) इत्यादि। उसी प्रकार अविद्या आदि क्लेशोंका दाह होनेपर क्लेशके बीज कर्माशयके एकदेशका दाह हो और एकदेशका प्ररोह हो, यह नहीं हो सकता। परन्तु जिसका फल प्रवृत्त हो चुका है, ऐसे कर्माशयकी निवृत्तितो जैसे छोड़े हुए बाणकी निवृत्ति वेगका क्षय होनेसे होती है, वैसे होती है, क्योंकि 'तस्य

रत्नप्रभा

दाहात् तत्कार्यकर्मक्षयश्चेत्, तर्हि प्रारब्धस्य कथं स्थितिः, तत्राह—प्रवृत्तफलस्येति। विदुषो देहपातावधिश्रुतेरनुभवाच्च ज्ञानस्य आवरकाज्ञानांशनिवर्तकस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्ते" इत्यादिसे। श्रुति और स्मृतिसे जो अर्थ कहा गया है उसमें युक्ति भी कहते हैं—"न चाऽविद्या" इत्यादिसे। विद्यासे क्लेशोंका दाह होनेपर उनका कार्य जो कर्म है, उसका क्षय हो, तो प्रारब्ध किस प्रकार रह सकता है? इसपर कहते हैं—"प्रवृत्तफलस्य" इत्यादिसे। देहपाततक मोक्ष नहीं होता, ऐसा श्रवण होनेसे और अनुभवसे भी जाना जाता

भाष्य

चिरम्' (छा० ६ । १४ । २) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात् । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः । न च ज्ञानफलस्याऽनैकान्तिकता । तथा च श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति । ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः, ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाय कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति स्मरणात् ।

भाष्यका अनुवाद

तावदेव चिरम्०' (उसे तभी तक विलम्ब है) इस प्रकार शरीरपाततक विलम्ब कहा है । इसलिए अधिकार पर्यन्त आधिकारिकोंकी अवस्थिति उपपन्न है । और ज्ञानका फल अनियत नहीं है, क्योंकि 'तद्यो देवानां०' (उन देवताओंके मध्यमें जो जो प्रतिबुद्ध हुआ वही प्रतिबुद्ध आत्मा ब्रह्म हुआ, उसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमें जो कोई ज्ञानी हुआ वह ब्रह्म हुआ) यह श्रुति समानरूपसे सबका ज्ञानसे मोक्ष दिखलाती है । परन्तु ऐश्वर्य आदि जिनका फल है, ऐसे अन्य ज्ञानोंमें महर्षि आसक्त हुए, तदनन्तर वे ऐश्वर्यका क्षय देखनेसे विरक्त हो परमात्माके ज्ञानमें परिनिष्ठित होकर मोक्षको प्राप्त हुए, यह उपपन्न होता है, क्योंकि 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते' (महाप्रलय प्राप्त होनेपर और परका—हिरण्यगर्भका अन्त होनेपर संस्कृत—शुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानी ब्रह्माके साथ परम पदको प्राप्त करते हैं)

रत्नप्रभा

प्रारब्धविक्षेपस्थित्यनुकूलाज्ञानांशनिवर्तनसामर्थ्याभावसिद्धेर्भोगेनैव प्रारब्धक्षय इति भावः । ज्ञानिनामाधिकारिकत्वं कथमित्याशङ्क्य ज्ञानात् प्राक् कृतोपासनादिवशादित्याह—ज्ञानान्तरेषु चेति । प्रतिसञ्चरः—महाप्रलयः । परस्य—हिरण्यगर्भस्य,

रत्नप्रभाका अनुवाद

है कि ज्ञान आवरण करनेवाले अज्ञानांशका निवर्तक है, परन्तु प्रारब्ध कर्मका विक्षेप और स्थितिके अनुकूल जो अज्ञानांश है, उसको निवृत्त करनेमें ज्ञानकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसा सिद्ध होनेसे भोगसे ही प्रारब्ध कर्मका क्षय होता है, यह भाव है । ज्ञानियोंमें आधिकारिकत्व किस प्रकार है ? ऐसी आशंका करके ज्ञानके पूर्वमें उनके द्वारा की गई उपासनासे उनको अधिकार प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—"ज्ञानान्तरेषु च" प्रतिसंचर—महाप्रलय । परस्य—

भाष्य

प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः । कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का—भवेद्वा न वेति, अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० २।४।१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति च सिद्धवदुपदेशात् । नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत् त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः । 'तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति । तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः ॥ ३२ ॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसी स्मृति है और ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है अतः उसके फलके अभावकी आशंका नहीं हो सकती है । और कर्मका फल जो स्वर्गादि है वह अनुभवमें नहीं आता और उसमें—है या नहीं ? इस प्रकार शङ्का भी हो सकती है, परन्तु ज्ञानका फल तो अनुभवमें आरूढ हुआ है, क्योंकि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (जो ब्रह्म साक्षात् है—किसीसे भी व्यवहित नहीं है, द्रष्टाके प्रत्यक्ष होनेसे अगौण है) ऐसी श्रुति है और 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार सिद्धवत् उपदेश है । 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका अर्थ 'वह तू मृत होगा' ऐसा नहीं किया जा सकता। और 'तद्धैतत्पश्यन्नृपिर्वामदेवः०' (उस ब्रह्मको देखते हुए ऋषि वामदेवने उस ब्रह्मको प्राप्त किया, मैं मनु हुआ और सूर्य हुआ—इत्यादि मन्त्रोंका, ब्रह्मदर्शन होनेपर, उसको ज्ञान हुआ) यह श्रुति तत्त्वज्ञान कालमें ही उसका फल जो सर्वात्मत्व है उसे दिखलाती है । इसलिए विद्वान्‌की कैवल्यसिद्धि नियत—नित्य है ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभा

अधिकारान्ते साक्षात्कृतात्मानो मुच्यन्ते इत्यर्थः । ब्रह्मभावफलस्याऽपि भावित्वमाशङ्क्य "तत्त्वमसि" इति श्रुतिबाधमाह—नहीति । तस्मात् निर्गुणविद्यायां मार्गानुपसंहार इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हिरण्यगर्भका । अधिकारके अन्तमें जिनको आत्माका साक्षात्कार हो गया है, वे मुक्त होते हैं, ऐसा अर्थ है । ब्रह्मसम्पत्तिरूप फलमें भी उत्पत्तिकी आशंका करके 'तत्त्वमसि' यह श्रुतिरूप बाध कहते हैं—"नहि" इत्यादिसे । इससे निर्गुणविद्यामें मार्गका अनुपसंहार है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

[२० अक्षरध्यधिकरण सू० ३३]

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः ।
आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥ १ ॥
श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समा यतः ।
आत्मलक्षणता तस्माद् दार्ढ्यायास्तूपसंहृतिः ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'अस्थूलम्' इत्यादि निषेधोंका उपसंहार है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—उपसंहार नहीं है, क्योंकि ये आनन्द आदिके समान आत्मरूप नहीं हैं।

सिद्धान्त—श्रुत और उपसंहृत निषेधोंकी आत्मस्वरूपता समान है, इस दृढ़ताके लिए निषेधोंका उपसंहार करना चाहिए।

---

*भाव यह है कि 'अस्थूलम्' इत्यादिसे ब्रह्मके अवबोधके लिए गार्गीब्राह्मणमें कुछ निषेध सुने जाते हैं। वैसे कठवल्लीमें भी 'अशब्दमस्पर्शम्०' इत्यादि निषेध सुने जाते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी उदाहृत हैं। उन निषेधोंके विषयमें पूर्वपक्षकर्ताकी यह राय है—उन निषेधोंका परस्पर उपसंहार नहीं होता है, क्योंकि आनन्द, सत्यत्व आदि धर्म जैसे ब्रह्मस्वरूप हैं, वैसे वे निषेध ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं, अतः उनके उपसंहारका कोई फल नहीं है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे अपनी शाखामें श्रूयमाण निषेध आत्मस्वरूप नहीं हैं, तो भी आत्माके उपलक्षक हैं। वैसे अन्यशाखाओंमें उपसंहृत निषेध भी उसके समान ही उपलक्षक हैं। स्वशाखाओंमें उक्त निषेधोंसे ही उपलक्षणकी सिद्धि है, इतरोंका उपसंहार निष्प्रयोजन है, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि दृढ़ताके लिए अन्य निषेधोंका उपसंहार होनेसे वह सप्रयोजन है। अन्यथा अपनी शाखामें भी दो तीन निषेधसे ही कार्य हो जानेपर इतरका वैयर्थ्य प्रसक्त होगा। इससे निषेधोंका उपसंहार करना चाहिए।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या-मौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—अक्षरधियाम्, तु, अवरोधः, सामान्यतद्भावाभ्याम्, औपसदवत्, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—अक्षरधियाम्—अक्षरे ब्रह्मणि द्वैतनिषेधधियाम् [सर्वत्र निषेधश्रुतिषु] अवरोधः—उपसंहारः [युक्ततरः, कुतः ?] सामान्यतद्भावाभ्याम्—द्वैतनिरासेन ब्रह्मप्रतिपादनस्य सर्वत्र सामान्यम्—समानत्वम्, प्रतिपाद्यस्य तस्य ब्रह्मणः सर्वत्र भावः—एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वम्—ताभ्याम् हेतुभ्याम् [इत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तं प्रवक्ति] औपसदवत्—यथा जामदग्न्ये अहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितानामौपसदानामध्वर्युकर्तृकपुरोडाशशेषाणां मन्त्राणां यत्र कचिच्छ्रुतानामप्यध्वर्युणा सम्बन्धः, तथाऽक्षरप्रमितिशेषाणां निषेधानां यत्र कचिच्छ्रुतानामप्यक्षरेण सर्वत्र सम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तम्—जैमिनिना प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' इति ।

भावार्थ—अक्षर—ब्रह्ममें द्वैतनिषेधबुद्धियोंका सब निषेधश्रुतियोंमें उपसंहार करना चाहिए, किससे ? *सामान्य और तद्भाव हेतुओंसे अर्थात् द्वैतनिरसन द्वारा* सब स्थलोंमें ब्रह्मप्रतिपादन समान है, और सर्वत्र प्रतिपाद्य उस ब्रह्मका भाव—एकरूपसे प्रत्यभिज्ञान भी है, अतः इन दो हेतुओंसे उपसंहार करना योग्य है । उसमें दृष्टान्त कहते हैं—औपसदवत्—जमदग्निसे किये गये अहीन—चार रात्रिमें सम्पन्न होनेवाले क्रतु—यज्ञमें पुरोडाशसाध्य इष्टियोंका विधान है, उसमें कथित अध्वर्युकर्तृक पुरोडाशके अङ्गभूत औपसदमन्त्रोंके कहींपर श्रुत होनेपर भी अध्वर्युके साथ ही संसर्ग है, अक्षर प्रमितिके शेषभूत निषेधोंका, वैसे जहाँ कहींपर श्रवण हो तो भी अक्षरके साथ सर्वत्र संसर्ग होता है, ऐसा अर्थ है, यही बात जैमिनिने 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे' इत्यादि सूत्रमें कही है ।

भाष्य

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादि। तथाऽऽथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १।१।५)इत्यादि। तथैवाऽन्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाऽक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च क्वचित् केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयकमें—'एतद्वै तदक्षरम्' (हे गार्गि, जो तूने मुझसे पूछा है कि आकाश किसमें ओतप्रोत है, वह यह है, ब्रह्मवेत्ता उसको अक्षर कहते हैं वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह है) उसी प्रकार आथर्वणमें भी श्रुति है—'अथ परा यया तदक्षर०' (अब परा विद्या कही जाती है जिससे वह अक्षर प्राप्त होता है वह अदृश्य [सब बुद्धीन्द्रियोंसे अगम्य], अग्राह्य [सब कर्मेन्द्रियोंका अविषय], मूलरहित एवं वर्णरहित अर्थात् स्थूलत्व, शुक्लत्व आदि द्रव्यधर्मोंसे रहित है) इत्यादि। इसी प्रकार अन्य स्थलमें भी विशेषके निराकरण द्वारा अक्षर परब्रह्मका श्रवण कराया जाता है। उनमें कहींपर कितने अतिरिक्त विशेषोंका प्रतिषेध होता है। उनमें सब प्रतिषेधबुद्धियोंकी सर्वत्र

रत्नप्रभा

अक्षरधियाम्०। अत्र अक्षरब्रह्मप्रमापका निषेधशब्दा विषयाः, तेषु यत्र यावन्तः श्रुताः, तत्र तावतामशेषद्वैतनिषेधकत्वसम्भवासंभवाभ्यां संशयमाह—तासामिति। यथा निर्गुणविद्यायां मार्गस्य अनपेक्षितत्वादनुपसंहारः, तथा श्रुतनिषेधानामुपलक्षणतया सर्वद्वैतनिषेधसम्भवात् शाखान्तरीयनिषेधशब्दानामनपेक्षितत्वादनुपसंहार इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः, तत्र लाघवं फलम्, सिद्धान्ते तु दोषद्वयाभावः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अक्षरधियां त्ववरोध.०"। इस अधिकरणमें अक्षर ब्रह्मकी प्रमिति करानेवाले निषेधशब्द विषय हैं। उन श्रुतियोंमें जहांपर जितने निषेधोंका श्रवण है वे सम्पूर्ण द्वैतका निषेध कर सकते हैं या नहीं? इस प्रकार संभव और असम्भवसे संशय कहते हैं—"तासाम्" इत्यादिसे। जैसे निर्गुणविद्यामें मार्ग अनपेक्षित होनेसे उसका अनुपसंहार है, वैसे श्रुतिनिषेधोंके उपलक्षण होनेसे सम्पूर्ण द्वैतके निषेधका संभव होनेसे अन्य शाखाके निषेधशब्दोंकी अपेक्षा न होनेसे उनका अनुपसंहार है, ऐसा दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं। पूर्वपक्षमें लाघव फल

भाष्य

व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद् व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्राऽवरोद्धव्याः, सामान्यतद्भावाभ्याम्—समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः। तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्म अभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते। तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः। तथा च 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि

भाष्यका अनुवाद

प्राप्ति है या व्यवस्था है, ऐसा संशय होनेपर श्रुतियोंके विभागसे निषेधशब्दों-की तत्-तत् श्रुतिमें व्यवस्था है, ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर कहा जाता है—अक्षरमें सब विशेषकी प्रतिषेधबुद्धियोंका सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए, सामान्य और तद्भाव से, क्योंकि विशेष निराकरणरूप ब्रह्म प्रतिपादन प्रकार सर्वत्र समान है। और उसी प्रतिपाद्य ब्रह्मकी सर्वत्र अभिन्नरूपसे प्रत्यभिज्ञा होती है। उसमें एक जगहमें की गई बुद्धियाँ अन्यत्र क्यों न हों, उसी प्रकार 'आनन्दा-दयः प्रधानस्य' इस सूत्रमें व्याख्यान किया गया है। उसमें विधिरूप विशेषणोंका विचार किया गया है, और यहांपर निषेधरूप विशेषणोंका विचार किया जाता है।

रत्नप्रभा

फलम्। तथा हि यदि श्रुतशब्दैरश्रुतनिषेधाः लक्ष्यन्ते, तदा लक्षणादोषः, यदि न लक्ष्यन्ते, तदा सर्वद्वैतनिषेधासिद्धेर्निर्विशेषप्रमित्यभावदोष इति विवेकः। अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषेधधियः—अक्षरधियः, तद्धेतवः शब्दा इति यावत्, तासां अवरोधः—उपसंहार इति सूत्रयोजना। शेषिब्रह्मणः सर्वशाखासु भावात् तत्प्रमितेः समानत्वात् शेषाणामुपसंहार इति चेत्, तर्हि न्यायसाम्यात् पुनरुक्तिताद‌वस्थ्य-मित्यत आह—प्रपञ्चार्थ इति। आनन्दादीनां स्वरूपत्वात् अस्तूपसंहारः, निषेधा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। सिद्धान्तमें दोनों दोषोंका अभाव फल है, क्योंकि यदि श्रुत निषेधशब्दोंसे अश्रुत निषेध लक्ष्य हों, तो लक्षणादोष प्राप्त होगा, यदि लक्ष्य न हों, तो सर्वद्वैतका निषेध असिद्ध होनेसे निर्विशेषकी प्रमितिका—ज्ञानका अभावरूप दोष होगा, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। 'अक्षरधियां त्ववरोधः'—इत्यादि सूत्रकी योजना इस प्रकार करनी चाहिए—अक्षर इस धर्मीमें द्वैतनिषेध बुद्धि अक्षरधी है, उसके हेतु शब्द। अक्षरमें द्वैतनिषेधबुद्धिके हेतु जो शब्द हैं उनका अवरोध अर्थात् उपसंहार है। शेषी—धर्मी—अंगी ब्रह्मका सब शाखाओंमें अस्तित्व होनेसे उसकी प्रमिति समान है, इसलिए शेषोंका—धर्मोंका उपसंहार है, ऐसा यदि हो, तो समानन्यायसे समान पुनरुक्ति है, इसपर कहते हैं—"प्रपञ्चार्थः" इत्यादिसे। स्वरूप होनेसे आनन्द आदिका उपसंहार भले ही हो, परन्तु

भाष्य

चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः । प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः । औपसदवदिति निदर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्'

भाष्यका अनुवाद

इतना इन दोनों अधिकरणोंमें अन्तर है, और यह पुनः किया जानेवाला विचार उसीके विस्तारके लिए है। 'औपसदके समान' यह दृष्टान्त है। जैसे जमदग्नि द्वारा किये गये अहीनमें (चार रात्रिमें पूर्ण होनेवाले यज्ञमें) पुरोडाशयुक्त इष्टियोंका उपदेश होनेपर 'अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरम्' (देवताओंका होत्र और अध्वरकर्म अग्निसे ही

रत्नप्रभा

नाम् अनात्मत्वात् आनन्त्याच्च अनुपसंहार इत्यधिकाशङ्कायां तेषामनात्मत्वेऽपि निर्विशेषब्रह्मप्रमित्यर्थत्वादविद्यातज्जनिषेधत्वेन संग्रहसिद्धेश्च निरपेक्षास्थूलानणुवाक्यस्थतया क्लृप्तनिषेधशब्दानामन्यत्र श्रुतिनिषेधवाक्यैकवाक्यतया उपसंहार इति चिन्ता युक्तेत्यर्थः । अन्यत्र श्रुतशेषाणाम् अन्यत्रस्थशेषिसम्बन्धे दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति । 'जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजत' इत्युपक्रम्य विहितो जमदग्निना कृतः जामदग्न्यः, अहीनः चतूरात्रः क्रतुः तस्मिन्, 'पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ति' इति पुरोडाशसाध्या इष्टयः तैत्तिरीयके विहिताः, तासामध्वर्युकर्तृकत्वात् सामवेदोत्पन्नमन्त्राणां तासु विनियोगादध्वर्युणैव प्रयोगः, नोद्गात्रेत्यर्थः । वेः-देवगणस्य होत्रम् अध्वरं च कर्म अग्नेस्त्वत्त एव इत्यग्न्यामन्त्रणमन्त्रार्थः । उत्पत्तिविधिर्गुणः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

निषेध तो अनात्मस्वरूप हैं और अनन्त हैं, अतः उनका अनुपसंहार है, ऐसी अधिक शंका होनेपर वे अनात्मा हैं, तो भी निर्विशेष ब्रह्मकी प्रमिति उनका प्रयोजन होनेसे और अविद्या और उससे उत्पन्न हुए निषेधरूपसे संग्रहकी सिद्धि होनेसे निरपेक्ष, 'अस्थूलमनणु'—इस वाक्यमें स्थित क्लृप्त निषेधशब्दोंका अन्य श्रुतिके निषेधवाक्यके साथ एकवाक्यता होनेसे उपसंहार है, इसलिए विचार युक्त है, ऐसा अर्थ है। एक श्रुतिके अंगोंका अन्य श्रुतिके अंगीके साथ सम्बन्धमें दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे। पुष्टिकी कामनावाले जमदग्निने चतूरात्र यज्ञ किया, ऐसा उपक्रम करके विधान किया गया जमदग्नि द्वारा विहित होनेसे जामदग्न्य कहलानेवाला अहीन—चार रात्रियोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ, उसमें 'पुरोडाशिन्य०' इससे पुरोडाशसाध्य इष्टियोंका तैत्तिरीयकमें विधान है। इन इष्टियोंका कर्ता अध्वर्यु है, अतः सामवेदमें उत्पन्न हुए मन्त्रोंका इन इष्टियोंमें विनियोग होनेसे अध्वर्युसे ही उनका प्रयोग करना चाहिए, उद्गातासे नहीं, ऐसा अर्थ है। 'अग्नेर्वेः'—'वेः'—देवगणका। हे 'अग्नि! देवगणका होत्र अध्वर कर्म, तुझसे ही है' यह अग्निका जिसमें आमन्त्रण है, उस मन्त्रका अर्थ है। उत्पत्ति-

भाष्य

इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति, अध्वर्युकर्तृकत्वात् पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाऽङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राऽभिसम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

है) इत्यादि पुरोडाश देनेके मन्त्र जो उद्गातृके वेदमें उत्पन्न हुए हैं, उनका भी अध्वर्युके साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि पुरोडाश प्रदानका अध्वर्यु कर्त्ता है और अंग प्रधानके अधीन हैं। वैसे ही यहांपर भी अक्षरके विशेषणोंके अक्षराधीन होनेसे जो कहीं भी उत्पन्न हुआ है, उसका सर्वत्र अक्षरके साथ सम्बन्ध है, ऐसा अर्थ है, वह प्रथम काण्डमें 'गुणमुख्यव्यतिक्रमे०' (गुण और मुख्यका विरोध होनेपर मन्त्रात्मक वेदका मुख्य, बलवत्तर, अध्वर्युके साथ संप्रयोग है, उत्पत्ति विनियोगके अर्थ होनेसे) कहा गया है ॥३३॥

रत्नप्रभा

फलापेक्षत्वात् । उत्पन्नस्य फले विनियोगविधिर्मुख्यः, सफलत्वात् । तथा च मन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नत्वादुद्गात्रा प्रयोगः विनियोगविधिनाऽध्वर्युणा प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे—विरोधे सति मुख्येन—बलीयसा मन्त्रात्मकवेदस्य अध्वर्युणा संप्रयोगः उत्पत्तेः विनियोगार्थत्वादिति जैमिनिसूत्रार्थः । यद्यपि शाबरभाष्ये वारवन्तीयादिसाम्नामुच्चैस्स्वरकसामवेदोत्पन्नत्वादाधानाङ्गत्वेन उच्चैस्स्वरप्रयोगः 'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति यज्ञायज्ञीयं गायति वामदेव्यं गायति' इत्याधाने तेषां विनियोगविधिना याजुषेण याजुषस्योपांशुस्वरस्य प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्विरोधे सति उत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वान्मुख्यविनियोगबलेन साम्नां यजुर्वेदस्वरसंयोग इति सूत्रं व्याख्यातम्, तथापि न्यायसाम्यादौपसदमन्त्राः सूत्रविषयत्वेनोदाहृता इत्यविरोधः ॥३३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधि गुण है, क्योंकि इसको फलकी अपेक्षा है। उत्पन्नके फलमें विनियोगविधि मुख्य है, सफल होनेसे, अब मन्त्रोंका उद्गातृके वेदमें—सामवेदमें उत्पन्न होनेसे उद्गातासे प्रयोग हो और विनियोगविधिसे अध्वर्युसे प्रयोग हो, ऐसा गुण और मुख्यका व्यतिक्रम अर्थात् विरोध होनेपर मुख्य अर्थात् बलवत्तर अध्वर्युके साथ मन्त्रात्मक वेदका संप्रयोग है, क्योंकि उत्पत्ति विनियोगके लिए है, ऐसा जैमिनिके सूत्रका अर्थ है। वारवन्तीय आदि सामोंका उच्च स्वरवाले सामवेदमें उत्पन्न होनेसे आधानके अंगरूपसे उच्चैःस्वरका प्रयोग है, और 'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति०' इस आधानमें इन सामोंका याजुष विनियोगविधिसे यजुर्वेदके उपांशु स्वरका प्रयोग है, ऐसा गुण और मुख्यका विरोध होनेपर उत्पत्तिके विनियोगार्थक होनेसे मुख्य विनियोगबलसे सामोंका यजुर्वेदस्वरसंयोग है, यद्यपि इस सूत्रका ऐसा व्याख्यान शाबरभाष्यमें किया गया है, तथापि समानन्यायसे औपसद मन्त्रोंका सूत्रोंके विषयरूपसे उदाहरण है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥३३॥

[२१ इयदधिकरण सू० ३४]

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथवैकता।
भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावितिं विद्ये उभे इमे ॥ १ ॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये।
इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—'ऋतं पिबन्तौ' 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिसे दो विद्याएँ प्रतीत होती हैं अथवा एक प्रतीत होती है ?

पूर्वपक्ष—एक श्रुतिमे दोनों भोक्ताओंकी दूसरी श्रुतिमें एक भोक्ता और एक अभोक्ताकी प्रतीति होनेसे दो विद्याएँ हैं।

सिद्धान्त—समन्वयमें 'पिबन्तौ' इस शब्दका अर्थ भोक्ता और अभोक्ता किया गया है, और भोक्ताका दोनोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है, इसलिए दोनों मन्त्रोंमें एक ही विद्या है।

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

पदार्थोक्ति—['द्वा सुपर्णा सयुजा' तथा 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यनयोर्मन्त्रयोर्न विद्याभेदः, कुतः ?] इयदामननात्—इयतः—परिच्छिन्नस्य द्वित्वावच्छिन्नस्य उभयत्रापि भेदविघटनद्वारा आमननात्—कथनात् इत्यर्थः।

भाषार्थ—'द्वा सुपर्णा' और 'ऋतं पिबन्तौ' इन दो मन्त्रोंमें विद्याका भेद नहीं है, क्योंकि द्वित्वावच्छिन्नका दोनोंमें भेदके निराससे प्रतिपादन है।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इस मन्त्रमें द्विवचनसे दोनोंमें भोक्तृत्वकी प्रतीति होती है। और 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें तथा 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इसमें कर्मफल-भोक्तृत्वकी और अन्यमें 'अनश्नन्' इत्यादिसे अभोक्तृत्वकी प्रतीति होती है, इससे यह ज्ञात होता है कि वेद्यके स्वरूपका भेद होनेसे विद्याका भी भेद है।

सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रके प्रथमाध्यायके द्वितीय पादके तृतीय अधिकरणमें 'पिबन्तौ' इस शब्दको जीव और ब्रह्मपरक मानकर उसका अर्थ भोक्ता और अभोक्ता, ऐसा किया गया है, इसलिए वेद्यका भेद नहीं है, इयत्ता—द्वित्व संख्या तो दोनों जगहमें प्रतीत होती है, इसलिए एक ही विद्या है, ऐसा समझना चाहिए।

भाष्य

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'

(मु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति । तथा कठाः—

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥'

(क० ३।१) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः । किं तावत् प्राप्तम् ? विद्यानानात्वमिति । कुतः ? विशेषदर्शनात् । द्वा सुप-

भाष्यका अनुवाद

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (सुन्दर पंखवाले—नियम्यनियामक भाववाले सर्वदा साथ ही रहने वाले सखा—समान आख्यानवाले दो पक्षी शरीर नामक समान वृक्षमें रहते हैं, उनमेंसे एक—क्षेत्रज्ञ स्वादयुक्त फलोंका—सुख-दुःख लक्षण कर्मजन्य फलोंका भोग करता है, दूसरा—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ईश्वर उनका भोग न करता हुआ जीवाख्य पक्षीको भोगनेके लिए प्रेरित करता है) इस प्रकार अध्यात्मके अधिकारमें आथर्वणिक और श्वेताश्वतर पढ़ते हैं। इसी प्रकार कठ—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके०' (इस शरीरमें स्वतः किये गये कर्मोंसे होनेवाले कर्मफलोंको स्वतः भोगनेवाले दोनों बुद्धिरूप गुहामें—परम ब्रह्म स्थानमें प्रविष्ट हुए छाया और आतपके समान विलक्षण हैं, ऐसा दो ब्रह्मवेत्ता त्रिणाचिकेत और पंचाग्निवाले कहते हैं) ऐसा कहते हैं। यहांपर विद्या एक है या नाना हैं, ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—विद्याएँ नाना हैं, ऐसा प्राप्त होता है, किससे ? विशेषके दर्शनसे,

रत्नप्रभा

इयदामननात् । मन्त्रद्वयेऽपि प्रतिपादनप्रकारभेदात् ज्ञेयैक्यभानाच्च संशयमाह—किमत्रेति । ऋतपानवाक्ये 'अक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (कठ० १।३।२) इति गुणाः श्रुताः, सुपर्णवाक्येऽनश्नत्वादयः तेषां मिथोऽनुपसंहार इति पूर्वपक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"इयदामननात्" इति । दोनों मन्त्रोंमें प्रतिपादन करनेका प्रकार भिन्न है और ज्ञेयके ऐक्यका भान होता है, इसलिए संशय कहते हैं—"किमत्र" इत्यादिसे । ऋतपानवाक्यमें 'अक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (जो परम अक्षर ब्रह्म है) इन गुणोंका श्रवण है और सुपर्ण-वाक्यमें अनश्नत्व—अनुपभोग आदि धर्म हैं । इन धर्मोंका परस्पर अनुपसंहार पूर्वपक्षका फल

भाष्य

र्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते, एकस्य चाऽभोक्तृत्वं दृश्यते। ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तद्वेद्यं रूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादिति।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—विद्यैकत्वमिति। कुतः ? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति। ननु दर्शितो रूपभेदः, नेत्युच्यते, उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतः, नार्थान्तरम्। 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमा-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'द्वा सुपर्णा' इसमें एक भोक्ता और दूसरा अभोक्ता दिखाई देता है। 'ऋतं पिबन्तौ' इसमें दोनों भोक्ता ही दिखाई देते हैं। इसलिए भिन्न होता हुआ वेद्यका स्वरूप विद्याको भिन्न करेगा।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि विद्या एक है। किससे ? इससे कि इन दोनों मन्त्रोंमें इयत्तासे परिच्छिन्न—द्वित्वसे युक्त वेद्यरूप अभिन्न ही है, ऐसा श्रुतियां कहती हैं। परन्तु रूपभेद दिखलाया है। हम कहते हैं कि नहीं, ये दोनों मन्त्र जीवद्वितीय ईश्वरका प्रतिपादन करते हैं, अन्य अर्थका प्रतिपादन नहीं करते हैं। इस मन्त्रमें 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इससे बुभुक्षा आदिसे अतीत परमात्माका प्रतिपादन होता है और वाक्यशेषमें भी 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्य०' (जब अनेक योगमार्गोंसे सेवित समर्थ परमात्माको और उसकी महिमाको जानता है, तब शोकरहित होता है) उसीका प्रतिपादन देखा जाता है। 'ऋतं पिबन्तौ' इसमें तो जीवके पान करनेपर बुभुक्षा आदिसे अतीत

रत्नप्रभा

फलम्, सिद्धान्ते तूपसंहारे ब्रह्मस्वरूपवाक्यार्थैक्यादुपसंहार इति विवेकः। अस्तु वेद्यैक्याद् अक्षरधियामुपसंहारः, इह तु वेद्यभेदान्नोपसंहार इति प्रत्युदाहरणेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। सिद्धान्तमें धर्मोंका उपसंहार माननेपर ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका एक अर्थ होनेसे उपसंहार है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। विद्याके एक होनेसे अक्षर-बुद्धि—अक्षरमें—ब्रह्ममें द्वैतनिषेध बुद्धि करनेवाले शब्दोंका उपसंहार हो, [पूर्व अधिकरणमें] यहाँ तो वेद्यका भेद होनेसे एकत्र भोक्ता और अभोक्ता ये दो वेद्य हैं और अन्यत्र दोनों भोक्ता ही वेद्य हैं, इसलिए वेद्योंके भिन्न होनेसे उपसंहार नहीं है, ऐसा प्रत्युदाहरणसे पूर्व-

भाष्य

त्मापि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते। परमात्मप्रकरणं ह्येतत् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्युपक्रमात्, तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क०३।२) इति। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत् प्रपञ्चितम्। तस्मान्नास्ति वेद्यभेदः, तस्माच्च विद्यैकत्वम्। अपि च त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवाऽवगम्यते तादात्म्यविवक्षयैव

भाष्यका अनुवाद

परमात्मा भी साहचर्य होनेसे छत्रिन्यायसे पान करता है, ऐसा उपचार होता है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्मा०' (शास्त्रीय धर्मानुष्ठानसे, उसके फल और कारणोंसे भिन्न है और अधर्मसे भिन्न है) ऐसा उपक्रम होनेसे यह परमात्माका प्रकरण है। आथर्वणिक आदि वाक्यके समान यहांपर भी 'यः सेतुरीजानानामक्षरम्०' (यजमानोंका—कर्म करनेवालोंका जो सेतु जैसा सेतु है, जो अक्षर परम ब्रह्म है) यह वाक्यशेष परमात्मविषयक ही है। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि०' इस सूत्रमें इस विषयका सविस्तार विचार किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि वेद्यका भेद नहीं है और इसीसे विद्या एक है। और पूर्वापर सम्बन्धका पर्यालोचन करनेपर इन तीनों अर्थात् आथर्वणिक, श्वेताश्वतर और काठक वेदान्तोंमें परमात्मविद्या

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षः। नन्वयं गुहाधिकरणे निरस्त इति चेत्, सत्यम्, किन्तु पिबत्पदस्य मुख्यार्थत्वाय स्वतः कल्पनया च पानकृत्याश्रयौ बुद्धिजीवौ पिबन्तौ ग्राह्यौ, सुपर्णौ तु जीवेश्वरावित्यधिकाशङ्कायां मन्त्रद्वयेऽपि द्विवचनशब्दसाम्यादौत्पत्तिकद्वित्वविशिष्टतया तुल्यवस्तुद्वयप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकाभावात् प्रकरणाद्यनुग्रहाच्च जीवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्ष खड़ा होता है। परन्तु इस पूर्वपक्षका गुहाधिकरणमें खण्डन किया जा चुका है, ऐसी जो शंका करें, तो यह सत्य है, परन्तु 'पिबन्तौ' में 'पिबत्' पदका मुख्य अर्थ लिया जानेसे और स्वतः और कल्पनासे भी पानक्रियाके आश्रय बुद्धि और जीवको पानकर्तारूपसे लेना चाहिए और 'सुपर्णौ' ये तो जीव और ईश्वर हैं, ऐसी अधिक आशंका होनेपर दोनों मन्त्रोंमें द्वित्वसंख्याके साम्यसे और दोनोंमें औत्पत्तिक द्वित्वसंख्याके योगसे तुल्य दो वस्तुओंके प्रत्यभिज्ञानका बाध न होनेके कारण तथा प्रकरण आदिके अनुग्रहसे।

भाष्य

जीवोपादानम् , नार्थान्तरविवक्षया । न च परमात्मविद्यायां भेदाभेद-विचारावतारोऽस्तीत्युक्तम् । तस्मात् प्रपञ्चार्थ एवैष योगः । तस्मा-च्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही समझी जाती है और जीवका ग्रहण तादात्म्यकी विवक्षासे ही है, अन्य अर्थकी विवक्षासे नहीं है । इसी प्रकार परमात्मविद्यामें भेद या अभेदके विचारकी गुंजायश नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है । इसलिए यह सूत्र विस्तारके लिए ही है और इसीसे अधिक धर्मोंका उपसंहार है ॥३४॥

रत्नप्रभा

नुवादेनासंसारिब्रह्मणि मन्त्रद्वयतात्पर्यमिति प्रपञ्चार्थमिदं सूत्रमिति भावः ॥३४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवके अनुवादसे असंसारी ब्रह्ममें दोनों मन्त्रोंका तात्पर्य है । इसलिए प्रपञ्चके लिए यह सूत्र है, ऐसा भाव है ॥ ३४ ॥



[२२ अन्तराधिकरण सू० ३५–३६]

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुपस्तकहोलयोः ।
समानस्य द्विराम्नानाद्विद्याभेदः प्रतीयते ॥ १ ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः ।
*शंकाविशेषनुत्यै द्विः पाठस्तत्त्वमसीतिवत् * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उषस्त और कहोल ब्राह्मणमें विद्याका भेद है या एक विद्या है ।

पूर्वपक्ष—तुल्य वस्तुके दो बार कथनसे विद्याभेद प्रतीत होता है ।

सिद्धान्त—दोनों ब्राह्मणोंमें सर्वान्तरत्वके होनेसे एक विद्या है । शङ्काविशेषकी निवृत्तिके लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके समान दो बार पाठ किया है, अतः पुनरुक्ति नहीं है ।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—अन्तरा, भूतग्रामवत्, स्वात्मनः ।

पदार्थोक्ति—[पूर्वस्मात् सूत्राद् आमननादित्येकदेशस्यात्रानुवृत्तिर्विधेया, तथा-च 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इति ब्राह्मणद्वयेऽपि] स्वात्मनः—स्वमात्मस्य अन्तरामननात्—सर्वान्तरामननात् [विद्यैक्यं विज्ञेयम्, तत्र निदर्शनमाह]—भूतग्रामवत्—यथा 'एको देवः' इत्यादिश्रुत्यन्तरे सर्वेषु भूतग्रामेषु सर्वान्तरः एकैवात्माऽऽम्नायते तद्वदनयोरित्यर्थः ।

भावार्थ—इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे 'आमननात्' इसकी अनुवृत्ति करनी चाहिए, इसलिए 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इन दोनों ब्राह्मणोंमें भी स्वात्माके सर्वान्तरत्वका कथन है, इससे एक ही उपासना है, ऐसा समझना चाहिए । उसमें दृष्टान्त कहते हैं—भूतग्रामवत्—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्यादि अन्य श्रुतिमें सम्पूर्ण भूतसमूहमें सर्वान्तर एक ही आत्मा उक्त है, वैसे प्रकृतमें भी जानना चाहिए, ऐसा अर्थ है ।

---

* भाव यह है कि 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तर.' इस प्रकार एक ही शाखामें उषस्त और कहोल ब्राह्मणमें पढ़ा गया है । अपरोक्षात्, इसमें विभक्तिके व्यत्ययसे 'अपरोक्ष' ऐसा अर्थ है । उन दोनों ब्राह्मणोंमें समानरूपसे पठित वाक्यकी पुनरुक्तिके परिहारके लिए विद्याका भेद मानना चाहिए ।

भाष्य

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१-३।५।१) इत्येवं द्विरुषस्तकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति। विद्यानानात्वमिति तावत् प्राप्तम्; अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थे द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्मात् यथाऽभ्यासात् कर्मभेद एवमभ्यासात् विद्याभेद इति।

भाष्यका अनुवाद

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म०' (जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो प्रत्यगात्मा और सबका आभ्यन्तर है) इस प्रकार दो बार उषस्त और कहोलके प्रश्नोंमें नैरन्तर्यसे वाजसनेयी श्रवण कराते हैं। यहांपर संशय होता है कि विद्या एक है या अनेक?

पूर्वपक्षी—विद्याएँ अनेक हैं, ऐसा प्राप्त होता है, किससे अभ्यास—पुनरुक्तिके सामर्थ्यसे, क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो न्यूनतासे और आधिक्यसे रहित अर्थके विषयमें दो बार कथन निरर्थक हो जायगा। इसलिए जैसे 'यजति' पदके अभ्याससे कर्मभेद होता है, वैसे ही अभ्याससे विद्याका भेद सिद्ध होता है।

रत्नप्रभा

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन इति। घटादिकं चिद्विषयत्वेनाऽपरोक्षम्, ब्रह्म तु साक्षादविषयत्वेनापरोक्षम् इति, प्रथमार्थे पञ्चमी। अत्र श्रुतावात्मधर्मोऽपरोक्षत्वं ब्रह्मण्युक्तम्, ब्रह्मधर्मः सर्वान्तरत्वमात्मन्युक्तम्, तेन तयोरैक्यं दृढीकृतं मन्तव्यम्।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मन" इति। घट आदि चिद्विषय होनेसे अपरोक्ष हैं। ब्रह्म तो साक्षात् अविषय होनेसे अपरोक्ष है। 'अपरोक्षात्' यहाँपर पंचमी प्रथमाके अर्थमें है—इस श्रुतिमें आत्माका अपरोक्षत्व धर्म ब्रह्ममें कहा गया है और ब्रह्मका सर्वान्तरत्व धर्म आत्मामें—जीवमें कहा गया है, इससे आत्मा और ब्रह्म—इन दोनोंका ऐक्य दृढ़ किया गया समझना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि दोनों ब्राह्मणोंमें सर्वान्तरत्वका प्रतिपादन होता है, और वह एक ही वस्तुमें उपपन्न हो सकता है। दो वस्तुओंमें एकका बहिर्भाव अवश्यम्भावी है, इससे वेद्यरूप सर्वान्तरके एक होनेके कारण विद्याका भेद नहीं है। पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि जैसे अन्य शाखामें शङ्काविशेषकी निवृत्तिके लिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार उपन्यास किया गया है, वैसे यहाँ भी उपपन्न हो सकता है। उषस्तब्राह्मणसे देहमें आत्मत्वकी शङ्का निवृत्त होती है, और कहोलब्राह्मणसे देहादिसे व्यतिरिक्त वस्तुमें ब्रह्मत्वका आपादन होता है, क्योंकि वाक्यके शेषमें उस प्रकार ज्ञात होता है। इससे एक ही विद्या है, ऐसा जानना चाहिए।

भाष्य

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराऽऽम्नानाविशेषात् स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति । सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च । नहि द्वावात्मानावेकस्मिन् देहे सर्वान्तरौ सम्भवतः, तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत, एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात् । यथा च पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति तथेहापीत्यर्थः । अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति, यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं आत्मा आन्तर है, यह दोनों श्रुतियोंमें समानरूपसे कहा गया है, इससे विद्याकी एकता समानरूपसे ज्ञात होती है, क्योंकि सबके अभ्यन्तर स्वात्माके विषयमें दोनों स्थलोंपर समानरूपसे प्रश्न और उत्तर है । एक देहमें सर्वान्तर दो आत्माओंका रहना संभव नहीं है । एक शरीरमें दो सर्वान्तर हैं, ऐसा यदि कहा जाय, तो एक वास्तविक सर्वान्तर उपपन्न होगा, दूसरा तो भूतसमूहके समान किसी समय सर्वान्तर नहीं होगा । जैसे पंचभूतोंके समूह देहमें पृथिवीसे जल अभ्यन्तर है, जलसे तेज अन्तर है, इस प्रकार यद्यपि अपेक्षासे अन्तरत्व है, तो भी उनमें मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए, ऐसा अर्थ है । अथवा 'भूतसमूहके समान' इस प्रकार अन्य श्रुतिका निदर्शन करते हैं । जैसे 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः०' (अद्वितीय, द्योतनस्वभाव, सब प्राणियोंमें गूढ,

---

रत्नप्रभा

'तं मे व्याचक्ष्व' (बृ० ३।४।१) इत्युषस्तप्रश्ने याज्ञवल्क्येन प्राणादिप्रेरको दृष्ट्यादिसाक्षी प्रतिपादितः । तथैव 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व' (बृ० ३।४।२) इति कहोलप्रश्नेऽशनायाद्यतीतः प्रतिपादितः । तत्र ब्राह्मणद्वयेऽपि प्रश्नाद्यभ्यासात् सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानात् च संशये

रत्नप्रभाका अनुवाद

'तन्मे व्याचक्ष्व' इस उपस्तके प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने प्राण आदिका प्रेरक और दृष्टि आदिका साक्षी आत्मा है, ऐसा प्रतिपादन किया है । उसी प्रकार 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस कहोलके प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्म अशनाया—बुभुक्षा आदिसे रहित है, ऐसा प्रतिपादन किया है । उन दोनों ब्राह्मणोंमें प्रश्न आदिके अभ्याससे और सर्वान्तरत्वके प्रतिपादनसे विद्या एक है या भिन्न हैं, ऐसा संशय होनेपर पूर्व अधिकरणमें तो मन्त्रोंमें वेधके एक होनेसे विद्याका

भाष्य

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इत्यस्मिन् मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽम्नायते, एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

सर्वव्यापी, सब भूतोंका अन्तरात्मा—स्वरूपभूत है) इस मन्त्रमें समस्त प्राणिसमूहमें एक ही सर्वान्तर आत्माका कथन है, इसी प्रकार इन दोनों ब्राह्मणोंमें भी कहा गया है, ऐसा अर्थ है। इससे उक्त दोनों ब्राह्मणोंमें दो आत्माओंका सर्वान्तरत्व न होनेसे वेद्यके एक होनेसे विद्याका एकत्व है ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभा

मन्त्रयोर्वेद्यैक्यादस्तु विद्यैक्यम्, इह तु ब्राह्मणयोर्वेद्यैक्येऽपि अभ्यासात् विद्याभेदः 'यजत्यभ्यासात् प्रयाजभेदवद्' इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः। तत्र मिथो धर्मानुपसंहारः फलम्, सिद्धान्ते तूपसंहार इति विवेकः। द्वयोः सर्वान्तरत्वानुपपत्त्या तावद् ब्राह्मणयोरेकवस्तुपरत्वं सिद्धम्। तथा च वेद्यैक्यात् निर्गुणविद्यैक्ये न विवादः ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐक्य भले ही हो परन्तु यहाँ ब्राह्मणोंमें तो वेद्यके एक होनेपर भी अभ्यास होनेसे जैसे यजतिके अभ्याससे प्रयाजका भेद है, वैसे ही विद्याका भेद है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें परस्पर धर्मोंका अनुपसंहार फल है तथा सिद्धान्तमें तो इन धर्मोंका उपसंहार फल है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें अन्तर है। दो वस्तुओंका सर्वान्तर होना उपपन्न न होनेसे दोनों ब्राह्मण एक वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, यह सिद्ध हुआ। इससे वेद्यके एक होनेसे निर्गुणविद्याके एकत्वमें कोई विवाद नहीं है ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—अन्यथा, भेदानुपपत्तिः, इति, चेत्, न, उपदेशान्तरवत्।

पदार्थोक्ति—अन्यथा—विद्याया भेदानङ्गीकारे भेदानुपपत्तिः—भेदस्य—आम्नानभेदस्याभ्यासस्य अनुपपत्तिः—उपपत्त्यभावः [प्रयोजनाभावात्] इति चेन्न—उक्तप्रकारेण कश्चिदाशङ्केत, तदा तन्न चारु [यतः] उपदेशान्तरवत्—छान्दोग्ये तत्त्वमसीत्युपदेशो नवकृत्वोऽभ्यस्यमानेऽपि न विद्याभेदो न चानुपपत्तिस्तद्वत् [प्रकृतेऽपि न विद्याभेदो न वोक्तानुपपत्तिरित्यर्थः।]

भाषार्थ—विद्याका यदि भेद न माना जाय, तो आम्नानरूप अभ्यासकी उपपत्ति नहीं होगी, इस प्रकार कोई शङ्का करे, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे छान्दोग्यमें 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ बार अभ्यास करनेपर भी विद्याका भेद और अनुपपत्ति नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी विद्याका भेद और उक्त अनुपपत्ति नहीं है, ऐसा जानना चाहिए।

भाष्य

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः। उपदेशान्तरवदुपपत्तेः। यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवति, एवमिहापि भविष्यति। कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात्। 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात् आशङ्कान्तरनिरा-

भाष्यका अनुवाद

विद्याका भेद न मानें, तो आम्नानका भेद अनुपपन्न होता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि अन्य उपदेशके समान उसकी उपपत्ति होती है। जैसे ताण्डियोंके उपनिषद्के छठे प्रपाठकमें 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वह तू है) इस प्रकार नौ बार उपदेश किये जानेपर भी विद्याका भेद नहीं होता है, वैसे यहां भी होगा। परन्तु नौ बार उपदेश किये जानेपर विद्याका भेद क्यों नहीं होता ? इससे नहीं होता है कि उपक्रम और उपसंहारसे एक अर्थ ज्ञात होता है। 'भूय एव मा भगवान्०' (भगवान् आप मुझसे फिर कहें) इस प्रकार एक ही अर्थका पुनः पुनः प्रतिपादन करनेकी इच्छासे निर्देश किया गया है और अन्य आशंकाके निराकरणसे बार-बार उपदेश उपपन्न है, अतः

रत्नप्रभा

अन्यथा०। ननु विद्यैक्याङ्गीकारे अभ्यासानुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, स एवाभ्यासः कर्मभेदकः, यो निरर्थकः, इह तुषस्तिब्राह्मणोक्तात्मन एव

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्यथा०" इत्यादि। विद्याके ऐक्यका स्वीकार होनेपर अभ्यासकी अनुपपत्ति होगी, यदि ऐसी कोई शंका करे, तो उसपर कहते हैं—जो अभ्यास निरर्थक होता है, वही कर्मका

भाष्य

करणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः, एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात्। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२-३।५।२) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इति द्वितीयेऽपि प्रश्ने एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति। पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते। उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इत्येकार्थतोपपत्तिः। तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

विद्याभेद नहीं होता, इसी प्रकार यहां भी प्रश्नरूपके अभेद होनेसे विद्याका भेद नहीं है, 'अतोऽन्यदार्तम्०' (इस आत्मासे अन्य विनाशी है) ऐसी परिसमाप्तिके भी एकरूप होनेसे उपक्रम और उपसंहार एकार्थक ही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। 'यदेव साक्षादप०' (जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म) ऐसे दूसरे प्रश्नमें एवकारका प्रयोग करनेवाले ऋषि पूर्व प्रश्नके अर्थका ही उत्तर प्रश्नमें अनुकर्षण है, ऐसा बतलाते हैं। पूर्व ब्राह्मणमें कार्यकरणसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व कहा है और उत्तर ब्राह्मणमें तो वह अशनाया आदि संसारधर्मसे अतीत है, ऐसा कहा गया है, इस प्रकार एकार्थता उपपन्न होती है। इससे एक विद्या है, यह सिद्ध हुआ ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभा

अशनायाद्यत्ययरूपविशेषकथनार्थत्वाद् अभ्यासोऽन्यथासिद्धः, न विद्याभेदक इति समुदायार्थः ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद बतलाता है, यहां तो उपस्ति ब्राह्मणमें कहा गया आत्मा ही अशनाया आदिसे प्रतीत है, यह विशेष कहना अभ्यासका प्रयोजन है अतः अभ्यास अन्यथा सिद्ध है, विद्याका भेदक नहीं है, ऐसा समुदायका अर्थ है ॥ ३६ ॥



[२३ व्यतिहाराधिकरण सू० ३७]

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेकधा धीरुत द्विधा ।
वस्त्वैक्यादेकधैक्यस्य दार्ढ्याय व्यतिहारधीः ॥ १ ॥
ऐक्येपि व्यतिहारोक्त्या धीर्द्वेधेशस्य जीवता ।
युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यमार्थिकम् ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वदेह और रविमण्डलके अन्योऽन्य व्यतिहारमें एक प्रकारकी बुद्धि—उपासना है, अथवा दो प्रकारकी है ?

पूर्वपक्ष—एक वस्तु होनेसे एक प्रकारकी ही बुद्धि करनी चाहिए, व्यतिहार पाठ तो एक वस्तुकी दृढ़ताके लिए है,

सिद्धान्त—ऐक्य होनेपर भी व्यतिहारकी उक्तिसे दो प्रकारकी बुद्धि-उपासना समझनी चाहिए, और ईशमें जीवत्वका प्रतिपादन उपासनाके लिए युक्त है। और वाचनिकी मूर्तिके समान दृढता तो आर्थिक हो सकती है ।

---

* भाव यह है कि ऐतरेयकमें सुना जाता है 'तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्' इत्यादि। इस मन्त्रका अर्थ यह है—जो यह देह-इन्द्रियका साक्षी जीवात्मा है वही आदित्यमण्डलके अन्दर रहनेवाला परमात्मा है और जो मण्डलके अन्दर रहनेवाला है वह हम लोगोंके देहादिमें रहनेवाला है। उसमें अपने शरीरका और रविमण्डलका अन्योऽन्य व्यतिहार सुना जाता है, तो भी जीवब्रह्मैक्यरूप वस्तुके एक होनेसे एक प्रकारकी ही उपासना करनी चाहिए। व्यतिहार पाठका प्रयोजन—वस्तुकी दृढता है, अतः वह पाठ व्यर्थ भी नहीं है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—*यह प्रकरण तत्त्वके बोधके लिए नहीं है, जिसे* एकत्वकी प्रतिपत्ति दृढताके लिए अपेक्षित हो किन्तु सगुण उपासना परक है, और उपासना वचनके—श्रुतिके अनुसार करनी चाहिए, इसलिए *व्यतिहारके सामर्थ्यसे दो प्रकारकी उपासना करनी* चाहिए। परन्तु ऐसा होनेपर—जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य है, ऐसा कहकर ब्रह्मका जीवके साथ ऐक्य बोधन किया जाय, तो ब्रह्ममें निकृष्टता सिद्ध होगी ? इस प्रकार यदि कोई शङ्का करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि उपासकके मनकी स्थिरताके लिए देहादिरहित ब्रह्मका भी चतुर्भुज, अष्टभुज आदि मूर्तिरूपसे उपदेश किया जाता है और वह व्यर्थ नहीं है, ठीक वैसे ही प्रकृतमें होनेसे श्रुतिके बलसे यदि इसमें जीवत्व की उपासना मानी जाय तो तुम्हारा कौनसा नुकसान है ? उपासनाके लिए अनुष्ठीयमान व्यतिहारमें यदि अर्थात् जीवब्रह्म की एकत्वप्रतिपत्ति दृढ हो जाय, तो हम और अधिक कृतकृत्य होंगे। इसलिए व्यतिहारसे द्विविध उपासना है, एकविध नहीं है।

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—व्यतिहारः, विशिंषन्ति, हि, इतरवत् ।

पदार्थोक्ति—व्यतिहारः—'तद्योऽहम्' इत्याद्युक्तः [अत्रोपासनार्थमुपदिश्यते] इतरवत्—यथा इतरे सर्वात्मत्वादय उपासनार्थमुच्यन्ते तद्वत् । हि—यतः [तथाऽऽम्नातारः 'त्वमहमस्म्यहम्' इत्यादिना] विशिंषन्ति—प्रतिपादयन्ति ।

भाषार्थ—'तद्योऽहम्' इत्यादिसे उक्त व्यतिहार यहाँ उपासनाके लिए उक्त है, जैसे अन्य सर्वात्मत्व आदि उपासनाके लिए उक्त हैं, वैसे प्रकृतमें जानना चाहिए, इसीलिए उस प्रकार समाम्नान करनेवाले 'त्वमहमस्म्यहम्' इत्यादिसे प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्य

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्यैतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबालाः 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति । तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्या उत एकरूपैवेति । एकरूपैवेति तावदाह । नह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं

भाष्यका अनुवाद

जैसे 'तद्योऽहं सोऽसौ०' (जो मैं हूँ, वही आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, और जो वह है, वह मैं हूँ) इस प्रकार आदित्यपुरुषको प्रस्तुत करके ऐतरेयशाखावाले कहते हैं, वैसे जाबाल कहते हैं—'त्वं वा अहमस्मि०' (हे देवते ! तू ही मैं हूँ और मैं ही तू है) यहांपर—संशय होता है कि क्या यहांपर परस्पर विशेषणविशेष्यभावसे उभयरूप मति करनी चाहिए या एकरूप ?

रत्नप्रभा

व्यतिहार इति । जीवेशयोः मिथो विशेषणविशेष्यभावः व्यतिहारः, तस्य श्रुतत्वात्, 'उत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कृता फलवती' इति न्यायात् च संशये जीवे ईश्वरत्वमतिरेव कार्या, 'उक्तन्यायात्; व्यतिहारश्रुतिस्तु तस्या एव दृढीकरणार्थत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"व्यतिहारो०" इत्यादि । जीव और ईश्वर इन दोनोंका परस्पर विशेषणविशेष्यभाव व्यतिहार है, इस व्यतिहारके श्रुतिप्रतिपादित होनेसे और 'निकृष्टमें की गई उत्कृष्टदृष्टि फलवती होती है' इस न्यायसे संशय होनेपर उक्त न्यायसे जीवमें ईश्वरबुद्धि ही करनी चाहिए,

भाष्य

मुक्त्वाऽन्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत, संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्वे उत्कर्षो भवेदीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्, तस्मादैकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाऽऽम्नायते। इतरवत्—यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाऽऽम्नायन्ते तद्वत्। तथा हि विशिंषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति। तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति, अन्यथा हीदं विशेषेणोभया-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—एकरूप ही मति करनी चाहिए, क्योंकि इस व्यतिहारमें आत्माका ईश्वरके साथ एकत्वके सिवाय अन्य कुछ भी चिन्तन करने योग्य नहीं है। यदि जीवकी ईश्वररूपता और ईश्वरकी जीवरूपता, इस प्रकार चिन्तनीयविशेषकी कल्पना की जाय, तो संसारी जीवको ईश्वररूप माननेमें जीवका उत्कर्ष होगा और ईश्वरको जीवरूप माननेमें ईश्वरका अपकर्ष होगा, इसलिए मतिकी एकरूपता ही है। 'तू ही मैं और मैं ही तू' यह व्यतिहारश्रुति तो एकत्वको दृढ़ करनेके लिए है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं—यह व्यतिहार आध्यानके लिए कहा जाता है, अन्यके समान—जैसे सर्वात्मत्व आदि अन्य गुण आध्यानके लिए श्रुतिमें कहे गये हैं, वैसे ही यह व्यतिहार भी कहा जाता है, क्योंकि श्रुति कहनेवाले 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इस प्रकार उभयका निर्देश करके उन्हें इस प्रकार विशिष्ट करते हैं, और वह उभयरूपसे मति करनेपर ही सार्थक होता है, नहीं तो इस विशेषसे उभयश्रुति अनर्थक हो जायगी, क्योंकि एकके

रत्नप्रभा

अभ्यासवदन्यथासिद्धा इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। तत्र लाघवं फलम्, सिद्धान्ते तु श्रुत्यर्थवत्त्वमिति विवेकः। एकेनैव 'त्वमहमस्मि' इत्युच्चारणेनैकत्वमतेः कृतत्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यतिहारश्रुति तो इसी बुद्धिको दृढ़करनेके लिए पिछले अधिकरणमें उक्त अभ्यासके समान अन्यथासिद्ध है, ऐसा दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें लाघव फल है और सिद्धान्तमें तो श्रुति सार्थक होती है यह फल है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तका विवेक है। यदि 'त्वमहस्मि, (तू मैं हूँ) इस एक ही उच्चारणसे एकत्वबुद्धि हो, तो 'अहं त्वमसि' यह व्यर्थ

भाष्य

म्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात् । ननु उभयाम्नानस्याऽर्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम् । नैष दोषः । ऐकात्म्यस्यैवाऽनेन प्रकारेणाऽनुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः । किं तर्हि ? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः । फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति । यथाऽऽध्यानार्थेऽपि सत्यकाम-

भाष्यका अनुवाद

आम्नान—उच्चारणसे ही एकरूप मति सिद्ध हो जायगी । परन्तु उभयश्रुतिमें यदि अर्थविशेषकी कल्पना की जाय, तो देवताकी सांसारिकस्वरूपता प्राप्त होनेसे उसका अपकर्ष हो जायगा, ऐसा हमने (पूर्वपक्षीने) कहा है । नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि एकत्वरूपताका ही इस प्रकारसे अनुचिन्तन है । परन्तु ऐसा होनेसे उसी एकत्वका दृढ़ होना प्रसक्त होगा । हम एकत्वकी दृढ़ताका निवारण नहीं करते । तब क्या करते हैं ? यहांपर—इस उदाहरणमें व्यतिहारसे ही वचनके प्रामाण्यसे द्विरूप मति करनी चाहिए, एकरूप मति नहीं करनी चाहिए, इसीका हम उपपादन करते हैं, और फलसे तो एकत्व भी दृढ़ होता है । जैसे सत्यकामत्व आदि गुणोंका उपदेश यद्यपि ध्यानके लिए है, तो भी ईश्वर

रत्नप्रभा

'अहं त्वमसि' इति वृथा स्यादित्यर्थः । उक्तदोषं स्मारयति—नन्विति । सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः सावकाशः, इह तु श्रुतत्वादन्योन्यात्मत्वं ध्येयम् । ब्रह्मणि मनोमयत्वादिवत् जीवात्मत्वस्य ध्यानार्थम् आरोपेऽपि निकर्षप्रसक्त्यभावादिति परिहरति—नैष दोष इति । ब्रह्मणि निकर्षं हित्वा जीवतादात्म्यध्याने मदुक्तमेव आगतमिति शङ्कते—नन्वेवमिति । मतेर्द्विरूपत्वं त्वदनुक्तमस्माभिरुच्यते, ध्यानपरं वाक्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होगा, ऐसा अर्थ है । उक्त अर्थका स्मरण कराते हैं—"ननु" इत्यादिसे । सन्दिग्ध अर्थमें यह न्याय सावकाश है, यहां तो श्रुति कहती है, इसलिए अन्योऽन्यात्मताका ध्यान करना चाहिए । ब्रह्ममें मनोमयत्व आदिके समान जीवात्माका 'ध्यानके लिए' आरोप होनेपर अपकर्ष नहीं होता, इस प्रकार परिहार करते हैं—"नैष दोष" इत्यादिसे । परन्तु ब्रह्ममें अपकर्षका त्याग करके जीवके तादात्म्यके ध्यानमें मेरा कहा हुआ ही प्राप्त होता है, इस प्रकार शंका करते हैं—"नन्वेवम्" इत्यादिसे । उभयरूप विचार है, यह जो तुमने (पूर्वपक्षीने) नहीं कहा था, वह हम कहते हैं । यह वाक्य ध्यानपर है; एकत्व तो अन्य प्रमाणके साथ

भाष्य

त्वादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति तद्वत्। तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषये उपसंहर्तव्यो भवतीति ॥ ३७ ॥

भाष्यका अनुवाद

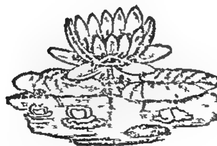
उन गुणोंवाला सिद्ध होता है, वैसे यहांपर भी समझना चाहिए। इसलिए यह व्यतिहार ध्यान करने योग्य है और समान विषयमें उपसंहार करने योग्य है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥३७॥

रत्नप्रभा

मिदम्, एकत्व तु मानान्तराविरोधात् सिध्यतीति समाधत्ते—न वयमिति। अहंग्रहोपास्तिषु अयं व्यतिहार उपसंहर्तव्य इत्याह—तस्मादिति ॥ ३७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध न होनेसे सिद्ध होता है, ऐसा समाधान करते हैं—"न वयम्" इत्यादिसे। अहंग्रहोपास्तिमें इस व्यतिहारका उपसंहार करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥३७॥



[२४ सत्याद्यधिकरण सू० ३८]

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः ।
फलभेदादुभे लोकजयात् पापहतेः पृथक् ॥ १ ॥
प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधीफलम् ।
अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोऽधिकृतिकल्पकः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—*यक्षवाक्य और रवि आदि वाक्यसे दो विद्याएँ प्रतीत होती हैं अथवा एक विद्या प्रतीत होती है ?*

पूर्वपक्ष—*लोकजय और पापनाशरूप फलके भिन्न होनेसे उक्त दो वाक्योंसे दो विद्याएँ जाननी चाहिएँ ।*

सिद्धान्त—*एक ही विद्या है, क्योंकि प्रकृतका ही आकर्षण करके रविरूपका वर्णन है और पापघात तो उपासनाका फल होनेसे अर्थवादमात्र है । अथवा अधिकारीका कल्पक होनेसे मुख्य उपासनाविधि है ।*

---

* भाव यह है कि बृहदारण्यकमें सुना जाता है 'स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' इत्यादि । यक्षम्—पूज्यम्, प्रथमजम्—हिरण्यगर्भरूपसे प्रथम उत्पन्न । इस वाक्यसे सत्यविद्याका प्रतिपादन करके अनन्तर यह प्रतिपादन किया जाता है—'तद्यत्तत्सत्यम्, असौ स आदित्यो य एष' इत्यादि । तत्—उसमें । अब यहां पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त दो वाक्योंसे दो विद्याओंकी प्रतिपत्ति होती है, किससे ? फलका भेद होनेसे यक्षवाक्यमें लोकजयरूप फल कहा गया है, और रविवाक्यमें 'हन्ति पाप्मानम्' इत्यादिमें पापनाशरूप अन्य फल कहा गया है । इससे अगत्या विद्याका भेद है, ऐसा मानना ही होगा ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यह सत्यविद्या एक ही है 'तद्यत्तत्सत्यम्' इससे प्रकृत सत्यरूप ब्रह्मका अनुवाद करके 'असौ स आदित्यः' इससे रविरूपत्वका वर्णन किया है । यहां फलका भेद भी नहीं है । पापनाश उपासनाका फल है, अतः अर्थवाद है, 'अङ्गेषु फलश्रुतिरर्थवादः' (अङ्गोंमें—साधनोंमें जहाँ फलश्रुति होती है, वहाँ अर्थवाद समझना चाहिए) इस न्यायसे यह अविवक्षित है । अथवा इस उपासनामें अधिकारीका श्रवण नहीं है, इसलिए श्रूयमाण फलके ही 'कामोपबन्धका' (इच्छाविषयत्वका) अध्याहार करके अधिकारीकी कल्पना करके 'पापघातलोकजयकाम उपासीत' (पापनाशकी और लोकविजयकी इच्छा करनेवाला उपासना करे) इस प्रकार कह सकनेसे विशिष्ट फल ही विवक्षित है । इसलिये एक ही यह सत्यविद्या है, यह सिद्ध हुआ ।

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—सा, एव, हि, सत्यादयः ।

पदार्थोक्ति—[या इयमनन्तरविद्या] सा एव—सत्यविद्यैव, [कुतः ? हिशब्दो हेतौ, तथा च 'तद्यत् तत्सत्यम्' इत्यादिना प्रकृतस्यैव उपास्यस्य हिरण्यगर्भस्याऽऽकर्षणात् हेतोः, नहि उपास्याभेदे विद्याया भेदो युक्ततरः, तस्माद्विद्यैक्यात् सर्वे] सत्यादयः—सत्यप्रभृतयो गुणाः [उपसंहर्तव्याः इति भावः] ।

भाषार्थ—जो अनन्तरविद्या है, वही—सत्यविद्या ही है, किससे ? हि शब्द हेतुके अर्थमें है अतः 'तद्यत् तत्सत्यम्' इत्यादिसे प्रकृत उपास्य हिरण्यगर्भका ही आकर्षण होनेसे, उपास्यके एक होनेसे विद्याका भेद योग्य नहीं है, इस युक्तिसे विद्याका ऐक्य होनेपर सभी सत्य आदि गुणोंका उपसंहार करना चाहिए, ऐसा भाव है ।

भाष्य

'स यो हैतत् महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।४।१) इत्या-

भाष्यका अनुवाद

'स यो हैतत् महद्यक्षं प्रथमजम्०' (जो कोई अधिकारी इस महत्, पूज्य, प्रथम उत्पन्न हुए सत्य ब्रह्मको इस प्रकार जानता है [वह लोकजय प्राप्त करता

रत्नप्रभा

सैव हि सत्यादयः । स यः कश्चिदधिकारी महद् व्यापकं यक्षम्—पूज्यं भौतिकेषु प्रथमजमेतत् सच्च त्यच्चेति सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं वेद उपास्ते, तस्य लोकजयः फलमित्यर्थः । सत्यमिति नाम त्र्यक्षरं सतियमिति । तत्र प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम्, मध्यस्थमक्षरमनृतमुभयतः सत्येन संपुटितत्वात् सत्यप्रायमेव भवतीति नामाक्षरोपासना सत्यविद्याङ्गत्वेनोक्ता । यत् तत् पूर्वप्रकृतं हृदयाख्यं तत् संप्रयुक्तयक्षत्वादिगुणकम्, सोऽसौ आदित्यमण्डलेऽक्षिणि च पुरुषस्तस्याहरित्यहमिति च

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सैव हि सत्यादयः" इति। जो कोई अधिकारी महत् व्यापक यक्ष—पूज्य भौतिकोंमें प्रथम उत्पन्न हुए इस सत्य ब्रह्म, हिरण्यगर्भाख्यको जानता है—इसकी उपासना करता है, उसको लोकजय फल होता है, ऐसा अर्थ है । 'सत्यम्' यह नाम तीन अक्षरका है उनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है, मध्य अक्षर अनृत है, वह दोनों ओरसे सत्यके साथ सम्पुटित होनेसे सत्यप्राय ही होता है, ऐसी सत्यविद्याके अंगरूपसे नामाक्षरकी उपासना की गई है । जो वह पूर्वमें कहा गया हृदयाख्य ब्रह्म है और अब पूर्वोक्त यक्षत्व आदि गुणवाला ब्रह्म है, वह आदित्यमण्डलमें अक्षिमें जो पुरुष है वह है । उसके 'अहः' और 'अहम्' ऐसे दो रहस्यनाम जाननेसे

भाष्य

दिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनां विधायाऽनन्तरमाम्नायते— 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (बृ० ५।५।२) इत्यादि । तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किं वैकैवेति । द्वे इति तावत् प्राप्तम् । भेदेन हि फलसंबन्धो भवति 'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५।४।१) इति पुरस्तात्, 'हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद' (बृ० ५।५।३।२) इत्युपरिष्टात् । प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति ।

भाष्यका अनुवाद

है]) इत्यादिसे वाजसनेयकमें नामाक्षरकी उपासनाके साथ सत्यविद्याका विधान करके पीछे 'तद् यत्तत्सत्यमसौ०' (अब जो वह सत्य है वह यह आदित्य है, जो इस मण्डलमें पुरुष है और जो इस दक्षिण आंखमें पुरुष है) इत्यादि श्रुति है । यहांपर संशय होता है कि क्या ये दो सत्यविद्याएँ हैं या एक ही है ?

पूर्वपक्षी—वे विद्याएँ दो हैं, क्योंकि फलका संयोग भिन्न है, 'जयतीमाँल्लोकान्' (वह इन लोकोंको जीतता है) ऐसा पूर्वकी उपासनामें फल है और 'हन्ति पाप्मानं जहाति च' (वह पापका नाश करता है) ऐसा अन्तिम उपासनामें फल है । प्रकृतका आकर्षण तो उपास्यके एकत्वसे है ।

रत्नप्रभा

नामद्वयज्ञानात् पापक्षयः फलमित्यर्थः । अत्र पूर्वोत्तरवाक्ययोः फलभेदश्रुतेः प्रकृताकर्षणाच्च संशयमाह—तत्रेति । पूर्वपक्षे गुणानां व्यवस्थयाऽनुष्ठानं सिद्धान्ते त्वनुष्ठानैक्यमिति फलम् । यथा जीवेशयोरन्योन्यात्मत्वप्रतिश्रुतिभेदात् वैरूप्यमुक्तम्, तथाऽत्र फलश्रुतिभेदात् विद्याभेद इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति—द्वे इति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पापक्षयरूप फल होता है, ऐसा अर्थ है । यहां पूर्ववाक्यमें और उत्तरवाक्यमें फल भिन्न है, ऐसी श्रुति होनेसे और पूर्ववाक्यमें जो प्रकृत है, उसका उत्तरवाक्यमें आकर्षण होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें गुणोंका व्यवस्थासे अनुष्ठान फल है और सिद्धान्तमें अनुष्ठानका ऐक्य फल है । जैसे पूर्व अधिकरणमें जीव और ईश्वरके अन्योन्यात्मत्व श्रुतिके भेदसे द्विरूप मति कही गई है, वैसे ही यहां फल और श्रुतिके भेदसे विद्याका भेद है । पूर्वत्र श्रुतिके भेदसे द्विरूप मति करनी चाहिए, ऐसा कहा है, तो यहां भी फलके भेदसे द्विरूप उपासना होगी, ऐसा दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"द्वे" इत्यादिसे । विशेष्य जो ब्रह्म है केवल

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति । कुतः ? 'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५।५।२) इति प्रकृताकर्षणात् । ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्युक्तम् । नैतदेवम् । यत्र तु विस्पष्टात् कारणान्तराद् विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात् । अत्र तूभयथा सम्भवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात् पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्यमुत्तरत्राऽऽकृष्यत इत्येकविद्यात्व-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं कि यह सत्यविद्या एक ही है। किससे ? इससे कि 'तद् यत्तत्सत्यम्' (वह जो पूर्वोक्त हृदयाख्य सत्य—ब्रह्म है) इस प्रकार प्रकृतका आकर्षण किया जाता है। परन्तु विद्याका भेद होनेपर भी प्रकृतका आकर्षण उपास्यके एक होनेसे उपपन्न होता है, ऐसा हमने कहा है, परन्तु यहांपर ऐसा नहीं है, जहांपर अन्य विस्पष्ट कारणसे विद्याका भेद प्रतीत होता है, वहांपर भले ही प्रकृताकर्षण हो। यहां तो विद्याका भेद और अभेद इन दोनों प्रकारोंसे संभव होनेपर 'तद् यत्तत्सत्यम्' ऐसा प्रकृतका आकर्षण होनेसे पूर्वविद्यासे सम्बद्ध सत्यका ही उत्तर

रत्नप्रभा

विशेष्यब्रह्ममात्राकर्षणमयुक्तम्, तद्यत्तदिति सर्वनामभिः पूर्वोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्म आकृष्यादित्याक्षिस्थानादिगुणविधानात्, तथा च वाक्यादेव विद्यैक्यसिद्धिरिति सिद्धान्तयति—एकैवेति । यथा दहरशाण्डिल्यविद्ययोर्ब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानमात्रम्, तथाऽत्र नेत्याह—नैतदिति । कारणान्तरं प्रकरणभेदादिकम् । एवं विद्याभेदेऽपि एतदुपास्यैक्यज्ञानं स्यात्, अत्र तूभयथा सम्भवे विद्यैक्यनानात्वसंशये सत्यमित्युपास्यरूपैक्यज्ञानाद् विद्यैक्यनिश्चय इत्यक्षरार्थः । असत्यपवादकारणे

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसीका आकर्षण ठीक नहीं है, क्योंकि तद्, यत्, तत्, इन सर्वनामोंसे पूर्वोक्त गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका आकर्षण करके आदित्यस्थान और अक्षिस्थान आदि गुणोंका विधान है। इसलिए वाक्यसे ही विद्याकी एकता सिद्ध होती है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एकमेव" इत्यादिसे । जैसे दहरविद्यामें और शाण्डिल्यविद्यामें ब्रह्मके ऐक्यका प्रत्यभिज्ञानमात्र है, वैसे यहां नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैतत्" इत्यादिसे । कारणान्तर—प्रकरणभेद आदि । इस प्रकार विद्याका भेद होनेपर भी उपास्यके ऐक्यका ज्ञान होगा। यहां तो दोनों प्रकारसे संभव होनेसे विद्याके एकत्व और नानात्वका संशय होनेपर 'सत्यम्' उपास्यरूपके ऐक्यके ज्ञानसे विद्याके ऐक्यका निश्चय होता है, ऐसा अक्षरार्थ है।

भाष्य

निश्चयः। यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद् विद्यान्तरमिति। अत्रोच्यते—तस्योपनिषदहरहमिति चाऽङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपि चाऽर्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चाऽवयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति।

भाष्यका अनुवाद

विद्यामें आकर्षण होनेसे एक विद्या है, ऐसा निश्चय होता है। परन्तु अन्य फलकी श्रुति होनेसे अन्य विद्या है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—उसके रहस्य नाम 'अहः' और 'अहम्' ऐसे अन्य अंगके उपदेशका स्तावक यह अन्य फलका श्रवण है, इसलिए दोष नहीं है। और अर्थवादसे ही फलकी कल्पना होनेपर विद्याकी एकतामें अवयवोंमें श्रूयमाण बहुत फलोंका भी अवयविनी विद्यामें ही उपसंहार करना चाहिए। इसलिए वही एक सत्य-

रत्नप्रभा

रूपैक्यात् विद्यैक्योत्सर्गसिद्धिः, न च फलभेदादपवादः, अङ्गे फलश्रुतेः स्तुतिमात्रतया फलभेदासिद्धिः इत्याह—यत्पुनरित्यादिना। किञ्च, यत्र प्रधानविधौ 'एवंकामः' इति फलं श्रुतम्, तत्र प्रधानफलेनैवाऽङ्गानां फलाकाङ्क्षानिवृत्तेरङ्गे फलश्रुतेः स्तुतिमात्रत्वम्, इह तु 'प्रथमजं सत्यं ब्रह्मेति वेद' इति प्रधानविद्याविधिस्थत्वं लोकजयफलस्याऽभ्युपेत्य अस्माभिर्नामरूपाङ्गस्य फलश्रुतेः स्तुतित्वमुक्तम्। वस्तुतस्तु प्रधानविधावपि एवङ्कामपदाभावाद् रात्रिसत्रन्यायेन फले कल्पनीये सति प्रधाने तदङ्गे वा यत्किञ्चित् फलं श्रुतम्, तस्य सर्वस्यापि श्रुतत्वाविशेषात् जातेष्टिफलन्यायेन समुच्चित्यैकप्रधानफलत्वकल्पनात् फलभेदोऽसिद्ध इत्याह—अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपवाद-कारणके न रहनेपर रूपके ऐक्यसे विद्याका ऐक्यरूप उत्सर्ग सिद्ध होता है। और फलभेदसे अपवाद नहीं होता, क्योंकि अंगमें फलश्रुतिके श्रुतिमात्र होनेसे फलभेद असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"यत्पुन॰" इत्यादिसे। और जहां प्रधान विधिमें 'ऐसी कामनावाला' इस प्रकार फलका श्रवण होता है, वहां प्रधानके फलसे ही अंगोंके फलकी आकांक्षा निवृत्त होनेसे अंगमें फलश्रुति केवल स्तुतिके लिए होती है। यहां तो 'प्रथमजं सत्यं ब्रह्मेति वेद' (प्रथमज सत्यको ब्रह्मरूपसे जो जानता है) प्रधानविद्या-विधिमें ऐसा लोकजयरूप फल है, ऐसा स्वीकार करके हमने नामरूप अंगकी फलश्रुति स्तुतिके लिए है, ऐसा कहा है। परन्तु वस्तुतः प्रधानविधिमें भी 'ऐसी कामनावाला,' ऐसे पदका अभाव होनेसे रात्रिसत्रन्यायसे फलके कल्पनीय होनेपर प्रधान या उसके अंगमें जो कुछ फल श्रुतिमें कहा गया है, उस सबका श्रुतत्व समान होनेसे जातेष्टिफलन्यायसे सब

भाष्य

तस्मात् सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताऽऽम्नायत इत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्याः ।

केचित् पुनरस्मिन् सूत्र इदं वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यम्, छान्दोग्ये च–'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन् गुणान् वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान् मन्यन्ते । तन्न साधु लक्ष्यते । छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते ।

भाष्यका अनुवाद

विद्या उस उस विशेषसे युक्त कही जाती है, इसलिए सत्य आदि सब गुणोंका एक ही प्रयोगमें उपसंहार करना चाहिए ।

दूसरे कई टीकाकार तो वाजसनेयियोंका यह वाक्य अक्षिपुरुष और आदित्य-पुरुष विषयक है और छान्दोग्यमें 'अथ य एषो०' (आदित्यमें जो यह हिरण्मय पुरुष दीखता है) और 'अथ य एषो०' (अक्षिमें जो यह पुरुष दीखता है) इन दोनों वाक्योंका उदाहरण देकर अक्षिपुरुष और आदित्यपुरुष सम्बन्धी विद्याएँ दोनों स्थलोंमें एक ही हैं, ऐसा मानकर वाज-सनेयियोंके सत्य आदि गुणोंका छन्दोगोंको उपसंहार करना चाहिए' ऐसा मानते हैं । यह ठीक नहीं दीखता, क्योंकि छान्दोग्यमें ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनी

रत्नप्रभा

चेति । सूत्रं योजयति—तस्मादिति ।

एकदेशिव्याख्याम् उद्भाव्य दूषयति—केचिदित्यादिना । छान्दोग्ये कर्माङ्गो-द्गीथे हिरण्मयपुरुषदृष्टिः इत्यत्र लिङ्गमाह—तत्रेति । पृथिव्यग्न्यात्मना दृष्टे ऋक्सामे गेष्णौ, तस्मात्—ऋक्सामगेष्णत्वात्, पुरुष उद्गीथ इति एवं विद्वान् उद्गाता

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंगफल एकत्र होकर एक प्रधानके फलरूपसे कल्पित होते हैं, इसलिए फलभेद असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । सूत्रकी योजना करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ।

एकदेशीके व्याख्यानका निरूपण करके उसे दूषित करते हैं—"केचित्" इत्यादिसे । छान्दोग्यमें ज्योतिष्टोमके अंगभूत उद्गीथमें हिरण्मय पुरुषदृष्टि है, इसमें लिंग कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । अग्नि और पृथिवी रूपसे दृष्ट ऋक् और साम ये दो पर्व हैं, इससे ऋक्

भाष्य

तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसम्बन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान् साम गायति' (छा०१।७।९) इत्युपसंहारे, नैवं वाजसनेयके किंचित् कर्मसम्बन्धि चिह्नमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद् विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

यह उद्गीथाश्रित विद्या समझी जाती है, क्योंकि उसमें आदि, मध्य और अवसानमें कर्मसम्बन्धी चिह्न हैं 'इयमेवर्गग्निः साम' (यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि साम है) ऐसा उपक्रममें, 'तस्यर्क्च' (ऋक् और साम उसके पर्व हैं, इसलिए वह उद्गीथ है) ऐसा उपसंहारमें है। इस प्रकार वाजसनेयकमें कोई कर्मसम्बन्धी चिह्न नहीं है। प्रक्रम भिन्न होनेसे विद्याका भेद होनेपर गुणोंकी व्यवस्था ही युक्त है ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभा

कर्मफलसमृद्धिसमर्थ इति श्रुत्यर्थः। सत्यविद्या तु न कर्माङ्गाश्रितेत्याह—नैवमिति। अङ्गविद्यातः स्वतन्त्रहिरण्यगर्भविद्याया भेदात् न गुणोपसंहार इत्यर्थः ॥३८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और सामके पर्व होनेसे पुरुष उद्गीथ है ऐसा जाननेवाला उद्गाता कर्मफलकी समृद्धिमें समर्थ होता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। सत्यविद्या तो कर्मके अंगरूपसे आश्रित नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैवम्" इत्यादिसे। अंगविद्यासे स्वतन्त्र हिरण्यगर्भविद्याके भिन्न होनेसे गुणोंका उपसंहार नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥३८॥



[२५ कामाद्याधिकरण सू० ३९]

असंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः ।
उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥ १ ॥
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चाऽस्तु संहृतिः ।
दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोऽपि नेतरः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—सत्यकामत्व, वशित्व आदि जो दहराकाश और हृदयाकाशके गुण हैं, उनका परस्पर उपसंहार करना चाहिए या नहीं ?

पूर्वपक्ष—उपास्य और ज्ञेयके भिन्न होनेसे उन गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता है ।

सिद्धान्त—कहींपर उपासनाके लिए और कहींपर स्तुतिके लिए उपसंहार होगा ही । और दहराकाश और हृदाकाश आत्मा ही हैं, अन्य नहीं हैं ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—कामादि, इतरत्र, तत्र, च, आयतनादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—कामादि—सत्यकामत्वादिगुणग्रामः, इतरत्र—बृहदारण्यके [उपसंहर्तव्यः, यच्च सर्ववशित्वादिकं तदपि तत्र छान्दोग्ये उपसंहर्तव्यम्, कुतः ?] आयतनादिभ्यः—उभयत्राविशिष्टेभ्यः हृदयायतनसेतुव्यपदेशादिभ्यो हेतुभ्यः ।

भाषार्थ—सत्यकामत्व आदि गुण समूहका अन्यत्र—बृहदारण्यकमें उपसंहार करना चाहिए, और सर्ववशित्व आदि जो गुणसमूह है उसका भी छान्दोग्यमें उपसंहार करना चाहिए, किन हेतुओंसे ? आयतन आदि हेतुओंसे—दोनों स्थलोंमें अविशिष्ट—समान हृदयातनसेतुव्यपदेश आदि कारणोंसे ।

---

* भाव यह है कि छान्दोग्यमें 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इससे उक्त दहराकाशके सत्यकामत्व आदि गुण कहे गये हैं। और बृहदारण्यकमें तो 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाश' इससे हार्दाकाशमें वशित्व आदि गुण कहे गये हैं, यहाँपर पूर्वपक्षीका मत है कि परस्पर गुणोंका उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि दहराकाश उपास्य है और हार्दाकाश ज्ञेय है ? अतः विद्याका भेद है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि उस स्थलमें वशित्व आदि गुणोंका दहराकाशमें उपासनाके लिए उपसंहार होगा और सत्यकामत्व आदिका हार्दाकाशमें उपसंहार स्तुतिके लिए होगा । यदि कोई कहे कि स्तुति और उपासनारूप प्रयोजनके होनेपर भी विद्याके

भाष्य

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति। तत्रेदमुच्यते—कामादीति। सत्य-

भाष्यका अनुवाद

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे०' (यह जो इस ब्रह्मपुरमें सूक्ष्म कमलाकार स्थान है और जो इस अभ्यन्तर स्थानमें सूक्ष्म आकाशाख्य ब्रह्म है) इस प्रकार उपक्रम करके छन्दोग—'एष आत्माऽपहतपाप्मा०' (यह आत्मा निष्पाप, जरारहित, मृत्युशून्य, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) इत्यादि पाठ करते हैं। उसी प्रकार वाजसनेयी—'स वा एष०' (वही यह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो हृदय-पुण्डरीकमें यह आकाश है उस आकाशमें शयन करता है, यह सबको वशमें करनेवाला है) इत्यादि पढ़ते हैं। यहांपर विद्याका एकत्व और परस्पर गुणोंका योग—उपसंहार है या नहीं ? ऐसा संशय होनेपर विद्याका एकत्व है' ऐसा

रत्नप्रभा

कामादीतरत्र०। सगुणनिर्गुणविद्ययोः श्रुताः सत्यकामादयो वशित्वादयश्च गुणा मिथ उपसंहर्तव्या न वा इत्युपसंहारस्य फलभावाभावाभ्यां सन्देहे सत्यविद्याया एकत्वाद् गुणसाङ्कर्येऽप्यत्र विद्ययोः सगुणनिर्गुणरूपभेदेन भेदात् निर्गुणविद्यायां गुणोपसंहारस्य फलाभावात् चाऽनुपसंहार इति बहिरेव प्राप्ते सिद्धान्तयति—तत्रेदमित्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"कामादीतरत्र" इति। सगुण और निर्गुण विद्यामें कहे गये सत्यकाम आदि और वशित्व आदि गुणोंका अन्योन्यमें उपसंहार करना चाहिए या नहीं ? इस प्रकार उपसंहारके फल और फलाभावसे सन्देह होनेपर सत्यविद्याके एक होनेसे गुणोंके संकीर्ण होनेपर भी यहां विद्याओंमें सगुणरूप और निर्गुणरूप स्वरूपभेद होनेसे विद्याका भेद होनेसे और निर्गुणविद्यामें गुणोपसंहारका फल न होनेसे गुणोंका अनुपसंहार है, ऐसा ऊपरसे प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादिसे।

भेदका परिहार नहीं कर सकते हैं ? यह शङ्का नहीं हो सकती है कारण कि विद्याभेद होनेपर भी आकाशशब्दवाच्य आत्मा दोनों स्थलोंमें एक है। दहराकाश आत्मा है, इसका दहराधिकरणमें निरूपण किया गया है। हार्दाकाश आत्मा है, यह 'महानज आत्मा' इस प्रकारके उपक्रमसे समझना चाहिए, इसमें उभयत्र उपसंहार है यह समझना चाहिए।

भाष्य

कामादीत्यर्थः। यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र सम्बध्येत। यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते, तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र सम्बध्येत। कुतः? आयतनादिसामान्यात्। समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनम्, समानश्च वेद्य ईश्वरः, समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासम्भेदप्रयोजनमित्येवमादि बहुतरं सामान्यं दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते *छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण* इति। न; 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अयं त्वत्र विद्यते विशेषः—सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्ये उपदिश्यते, 'अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्' (छा० ८।१।६) इत्यात्मवत् कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्। वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्त होता है। यहांपर यह कहते हैं—'कामादि'। सत्यकाम आदि ऐसा अर्थ है जैसे कि 'देवदत्त' 'दत्त' कहा जाता है और 'सत्यभामा' 'भामा' कही जाती है। छान्दोग्यमें हृदयाकाशके सत्यकामत्व आदि जो गुणसमूह उपलब्ध होते हैं, उनका अन्यत्र 'स वा एष महानज आत्मा' (वही यह महान् अज आत्मा है) इस वाजसनेयकमें सम्बन्ध होता है और वाजसनेयकमें जो वशित्व आदि गुण उपलब्ध होते हैं, उनका भी अन्यत्र 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इस छान्दोग्यमें सम्बन्ध होता है। किससे ? स्थान आदिके समान होनेसे, क्योंकि दोनों स्थलोंमें हृदय यह स्थान समान है, वेद्य—ईश्वर समान है और लोकमर्यादाका भंग न होना जिसका प्रयोजन है, ऐसा उनका सेतुत्व भी समान है, इस प्रकार पुष्कल समानता दीखती है। परन्तु विशेष भी दीखता है। छान्दोग्यमें हृदयाकाशके गुणोंका योग है और वाजसनेयकमें आकाशके आश्रय ब्रह्ममें गुणोंका योग है। नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'दहर उत्तरेभ्यः' इस सूत्रमें छान्दोग्यमें आकाशशब्द ब्रह्मवाचक ही है, ऐसा सिद्धान्त किया गया है। परन्तु यहांपर विशेष है—छान्दोग्यमें सगुण ब्रह्मविद्याका उपदेश है—'अथ य०' (जो यहां आत्माको और इन सत्य कामोंको जानकर प्रयाण करते हैं) इस प्रकार आत्माके समान काम भी वेद्य हैं, ऐसा श्रुति कहती है। वाजसनेयकमें तो निर्गुण परब्रह्मका

भाष्य

ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात् । वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते । तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति । गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद् विभूतिप्रदर्शनायाऽयं गुणोपसंहारः सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही उपदेश किया गया दीखता है, क्योंकि 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय०' (इसके अनन्तर विमोक्षके लिए कहिए), 'असंगो ह्ययं पुरुषः०' (यह पुरुष असंग है) इत्यादि प्रश्न और उत्तरका समूह इसकी स्तुतिके लिए ही वाजसनेयकमें कहा गया है, क्योंकि पीछे 'स एष नेति नेत्यात्मा' (वह यह जो ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इस प्रकार निर्दिष्ट है, वह यह आत्मा है) इत्यादिसे श्रुति निर्गुण ब्रह्मका ही उपसंहार करती है । सगुण ब्रह्मके एक होनेसे उसकी विभूतिके प्रदर्शनके लिए इन गुणोंका उपसंहार सूत्रमें कहा गया है, उपासनाके लिए नहीं कहा है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभा

एवं विद्याभेदे स्फुटे कथं गुणोपसंहारः तत्राह—गुणवतस्त्विति । भिन्नविद्यास्थानामपि गुणानामायतनादिसाम्येन निर्गुणस्थले बुद्धिस्थानां स्तुत्यर्थमुपसंहारो युक्तः, ज्ञानस्तुतिप्रकर्षकस्य आकाङ्क्षितत्वात्, यत्र क्वचित् दृष्टगुणैः स्तुतेः कर्तुं योग्यत्वात् । यद्यपि सगुणस्थसत्यकामादिषु निर्गुणस्थगुणा अन्तर्भूता एव, तथापि नोपसंहारोक्तेर्वैयर्थ्यम्, निर्गुणस्तावकत्वेन श्रुतगुणानामन्यत्राप्यध्येयत्वमिमि शङ्कानिरासेनाऽन्तर्भावदार्ढ्यार्थत्वादित्यनवद्यम् ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विद्याभेदके स्फुट होनेपर गुणोंका उपसंहार किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"गुणवतस्तु" इत्यादिसे । यद्यपि ये गुण भिन्न विद्या स्थित हैं, तो भी स्थान आदिका साम्य होनेसे निर्गुणविद्यास्थलमें बुद्धिस्थ हुए गुणोंका स्तुतिके लिए उपसंहार युक्त है, क्योंकि ज्ञानस्तुतिका प्रकर्ष आकाङ्क्षित है अत- जहां कहीं गुण दीखते हैं उनके द्वारा स्तुति करनी चाहिए । यद्यपि सगुणविद्यामें स्थित सत्यकाम आदिमें निर्गुणविद्यामें स्थित गुण अन्तर्भूत ही हैं, तो भी उपसंहारकी उक्ति व्यर्थ नहीं है, क्योंकि निर्गुणके स्तावकरूपसे जो गुण श्रुतिमें हैं उनका अन्यत्र भी अध्ययन करना ठीक है, इस शंकाका निरसन करके अन्तर्भाव दृढ़ करनेके लिए उपसंहार है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥ ३९ ॥

[२६ आदराधिकरण सू० ४०–४१]

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने ।
न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥ १ ॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते ।
भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप होता है या नहीं होता है ?

पूर्वपक्ष—भोजनके अभावमें प्राणाहुतिका लोप नहीं होता है, क्योंकि 'अतिथिके पूर्वमें भोजन करे' इस प्रकार आदरोक्ति है ।

सिद्धान्त—भोजनके लिए उपस्थित अन्नका प्राणाहुति उपजीवी है, अतः उसका—भोजनका लोप होनेपर आहुतिका भी लोप होता है । भोजनपक्षमें पूर्वभोजनमें आदर भी उपपन्न होता है, अतः अभोजनमें आहुतिका लोप होता है ।

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—आदरात्, अलोपः ।

पदार्थोक्ति—[भोजनलोपे अग्निहोत्रस्य] अलोपः—लोपाभावः [कुतः] आदरात्—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इति जाबालश्रुत्या पूर्वभोजनस्य प्राथम्यरूपधर्मलोपमसहमानया प्राणाग्निहोत्रे आदरकरणात् । [पूर्वपक्षसूत्रमिदम्] ।

भाषार्थ—भोजनका लोप होनेपर भी अग्निहोत्रका लोप नहीं है, क्योंकि 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यादि जाबाल श्रुतिने प्राणाग्निहोत्रमें आदर किया है । यह पूर्वपक्ष सूत्र है ।

---

*भाव यह है कि वैश्वानरविद्याके वाक्यशेषमें 'या प्रथमामाहुतिं जुहुयात्, तां जुहुयात्' 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादिसे प्राणाहुतिका पाठ किया गया है । उसमें किसी कारणसे भोजनका लोप होनेपर भी उपासककी प्राणाहुतिका लोप नहीं होता है क्योंकि 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' (अतिथिसे पूर्व अशन करे) इस प्रकार अतिथिभोजनके पूर्वमें उपासकके लिए—यजमानके लिए भोजनकी प्रसक्ति करनेवाली श्रुतिसे प्राणाहुतिमें आदरका अवबोध होता है । उस आदरकी प्रसिद्धि करनेके लिए ही श्रुति अतिथिभोजनमें प्राथम्यकी निन्दा करती है—'यथा ह्वै' इत्यादिसे । इसमे प्राणाहुतिका लोप नहीं होता है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते है कि 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयम्' (जो प्रथम भात आता है वह होमीय—होमोपयोगी है) इत्यादिसे भोजनार्थ अन्न ही होमद्रव्य है, इससे भोजनका लोप होनेपर द्रव्यका अभाव हो जानेसे आहुतिका लोप हो जायगा । जो आदर है वह भोजनपक्षमें प्राथम्य विधानके लिए है, इससे यह निर्विवाद है कि भोजनका लोप होनेपर प्राणाहुतिका लोप होता है ।

भाष्य

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात् प्राणाय स्वाहा' (छा० ५।१९।१) इत्यादि। तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः। तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा० ५।२४।२) इति।

'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥' (छा० ५।२४।५) इति च।

तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्य, उताऽलोप इति।

भाष्यका अनुवाद

छान्दोग्यमें वैश्वानरविद्याके आरम्भमें श्रुति कहती है—'तद् यद्भक्त० (इसमें जो भक्त—अन्न प्रथम आवे वह होतव्य है, वह भोक्ता जो पहली आहुति दे, उस आहुतिका 'प्राणाय स्वाहा' इस मन्त्रसे होम करना चाहिए) इत्यादि। उसमें पांच प्राण-आहुतियोंका विधान है और उन आहुतियोंमें, आगे अग्निहोत्रशब्द प्रयुक्त है—'य एतदेवं०' (जो इसको इस प्रकार जानता है वह अग्निहोत्रका हवन करता है) और 'यथेह क्षुधिता बाला०' (जैसे यहां भूखे बालक माताकी उपासना करते हैं कि कब माता अन्न देगी, इसी प्रकार सब प्राणी अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं, यहांपर विचार किया जाता है कि भोजनका लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप होता है या लोप नहीं होता ?

रत्नप्रभा

आदरादलोपः। अत्र यच्छब्दाग्निहोत्रशब्दाभ्यां संशयमाह—तत्रेदं विचार्यते इति। वैश्वानरोपासकेन अतिथिभोजनात् प्राक् कार्यत्वेन विद्याङ्गप्राणाग्निहोत्रविचारात् पादसङ्गतिः। पूर्वपक्षे भोजनलोपेऽपि द्रव्यान्तरेण प्राणाग्निहोत्रानुष्ठानम्, सिद्धान्ते तल्लोप इति भेदः। ननु यद्भक्तमिति यच्छब्देन भोजना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आदरादलोप" इति। प्राणाग्निहोत्रमें यत्शब्द और अग्निहोत्रशब्दसे संशय कहते हैं—"तत्रेदं विचार्यते" इत्यादिसे। वैश्वानरके उपासकको अतिथि भोजनसे पहले स्वयं भोजन करना चाहिए, इससे विद्याङ्गभूत प्राणाग्निहोत्रका विचार होता है, अतः पादसङ्गति है। पूर्वपक्षमें भोजनलोप होनेपर भी अन्य द्रव्यसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान है और सिद्धान्तमें उसका लोप है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें भेद है। परन्तु 'यद् भक्तम्' ऐसे यत् शब्दसे

भाष्य

तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह । कस्मात्? आदरात्, तथा हि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्, यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रे आदरं करोति । या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते । ननु भोजनार्थभक्तागमन-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—'तद्यद्भक्तम्०' इससे प्राणाग्निहोत्रका भक्त—अन्नके आगमनके साथ संयोग सुना जाता है और भक्तका आगमन भोजनके लिए है, अतः भोजनका लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप होता है ऐसा प्राप्त होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप नहीं होगा। किससे? आदरसे, क्योंकि वैश्वानरविद्यामें जाबालोंकी श्रुति है—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्, (उसको अतिथिसे पूर्व भोजन करना चाहिए, जैसे अपने अग्निहोत्रहोमके बिना किये दूसरेका अग्निहोत्र हवन करे, वैसे ही वह है) इस प्रकार अतिथिभोजनके प्राथम्यकी निन्दा करके स्वामिभोजनको प्रथम प्राप्त कराती हुई श्रुति प्राणाग्निहोत्रमें आदर दिखलाती है, क्योंकि जो श्रुति प्राथम्यका लोप नहीं सह सकती, वह प्राथम्य जिसको है, ऐसे अग्निहोत्रका लोप तो और भी नहीं सह सकेगी, ऐसा माना जाता है।

रत्नप्रभा

क्षिप्तभक्तम् अनूद्य तद्धोमीयमिति होमसंयोगविधानादाक्षेपकभोजनलोपे तदाक्षिप्तभक्ताश्रितहोमलोप इति सिद्धान्ती शङ्कते— तद्यदिति । निर्गुणस्योपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थगुणस्थैर्यवद् भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्य आदरेण स्तुतिनिर्वाहार्थमलोप इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षसूत्रेण परिहरति—एवं प्राप्ते इति । एवं तदिति—स्वयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

भोजनाक्षिप्त भक्तका अनुवाद करके 'तद्धोमीयम्' इस प्रकार होमसंयोगका विधान किया गया है, इसलिए आक्षेपक भोजनका लोप होनेपर उससे आक्षिप्त जो भक्त है, तदाश्रित होमका लोप होता है, इस प्रकार सिद्धान्ती शंका करते हैं—"तद्यत्" इत्यादिसे। जैसे निर्गुणकी उपासनाका लोप होनेपर भी स्तुतिके लिए गुणोंकी दृढता है, वैसे ही भोजनका लोप होनेपर भी प्राणाग्निहोत्रका, आदरसे स्तुतिके निर्वाहके लिए, अलोप है, इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा पूर्वपक्षसूत्रसे शंका करते हैं—"एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। 'एवं तत्'—स्वयं प्राणाग्निहोत्र न करके अतिथियोंको

भाष्य

संयोगाद् भोजनलोपे लोपः प्रापितः । न; तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात् । प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात् कौण्डपायिनामयनवत् तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थ-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु भोजनके लिए जो अन्नका आगमन होता है, उसका प्राणाग्निहोत्रके साथ सम्बन्ध होनेसे, भोजनलोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप प्राप्त होता है, ऐसा कहा है। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्यविशेषका विधान करना उसका प्रयोजन है। प्राकृत—मुख्य अग्निहोत्रमें पय आदि द्रव्योंके नियत होनेसे यहांपर भी अग्निहोत्रशब्दसे कुण्डपायियोंके अयनके समान उसके धर्मकी प्राप्ति होनेपर भक्तरूप द्रव्यके एकतारूप विशेष गुणका विधान करने लिए

रत्नप्रभा

प्राणाग्निहोत्रमकृत्वाऽतिथीनां तत्करणमित्यर्थः । उक्तं स्मारयित्वा परिहरति—ननु इत्यादिना । यथा कुण्डपायिसत्रगते मासाग्निहोत्रे अग्निहोत्रशब्दाद् गौणाद् नित्याग्निहोत्रवाचकात् नित्याग्निहोत्रधर्माणां पयोद्रव्यादीनां प्राप्तिस्तथा इहाऽपि प्राणाहुतिषु अग्निहोत्रशब्दवशात् पयोद्रव्यादीनामुत्सर्गतः प्राप्तौ सत्यां भोजनार्थ-भक्तद्रव्यविधिनाऽपवादः कृतः, अतो भक्तविधेरपवादार्थत्वाद् भोजनलोपे—भक्ताख्य-गुणस्य अङ्गस्य लोपेऽपि न मुख्यस्य अग्निहोत्रस्य लोपः, अपवादाभावे उत्सर्ग-प्राप्तपयआदिना तस्य निष्पत्तिसम्भवादिति प्राप्तमित्यर्थः । 'गुणलोपे न मुख्यस्य' इति जैमिनिसूत्रम् । आधाने सन्ति पवमानेष्टयः, तत्र 'अग्नये पवमानाय पुरोडाश-

रत्नप्रभाका अनुवाद

भोजन कराना, ऐसा अर्थ है। उक्त शंकाका स्मरण कराकर उसका परिहार करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। जैसे कुण्डपायियोंके सत्रगत मासाग्निहोत्रमें नित्य अग्निहोत्रके वाचक गौण अग्निहोत्रशब्दसे नित्य अग्निहोत्रके धर्म पयोद्रव्य आदिकी अतिदेशसे प्राप्ति होती है, उसी प्रकार यहां भी प्राणाहुतिमें अग्निहोत्रशब्दके बलसे पयोद्रव्य आदिके उत्सर्गसे प्राप्त होनेपर भोजनार्थ भक्त द्रव्यकी विधिसे अपवाद किया है, इसलिए भक्तविधिके अपवादार्थ होनेसे भोजनलोप होनेपर—भक्ताख्य अंगभूत गुणका लोप होनेपर भी मुख्य अग्निहोत्रका लोप नहीं होता, क्योंकि अपवादके अभावमें उत्सर्गसे प्राप्त पय आदिसे अग्निहोत्रकी निष्पत्तिका संभव है, ऐसा प्राप्त होता है, यह अर्थ है। "गुणलोप०" (अंगका लोप होनेपर मुख्यका लोप नहीं होता) यह जैमिनिसूत्र है। अग्निके आधानमें पवमान इष्टियां हैं, उनमें—'अग्नये पवमानाय०' (पवमान गार्हपत्य अग्निको आठ कपालवाला पुरोडाश दे) ऐसा निर्वाप श्रुतिमें कहा है, उसके अंगरूप

भाष्य

मिदं वाक्यम् 'तद्यद्भक्तम्' इति । अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम् । भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाऽविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्याऽनुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

'तद् यद्भक्तम्' यह वाक्य है । इसलिए गुणका लोप होनेपर मुख्यका लोप नहीं है, ऐसा प्राप्त हुआ । भोजनका लोप होनेपर जलसे या अन्य अविरुद्ध द्रव्यसे, प्रतिनिधिन्यायसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान है ॥ ४० ॥

इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

मष्टाकपालं निर्वपेद्' इति निर्वापः श्रुतस्तदङ्गत्वेन 'अग्निहोत्रहवण्यां हवींषि निर्वपेत्' इति दर्शपूर्णमासाख्यप्रकृतौ विहिताग्निहोत्रहवण्यतिदेशेन प्राप्ता, आधानकाले चाऽग्निहोत्राभावात् तस्या गुणभूताया लोपेऽपि मुख्यस्य निर्वापस्य, न लोप इत्यर्थः । आरब्धनित्यादिकर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वाच्छ्रुतद्रव्यालाभे प्रतिनिहितद्रव्येणापि कर्म कर्तव्यमिति प्रतिनिधिन्यायः ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्निहोत्रहवणीमें हविका निर्वाप करे, इस प्रकार दर्शपूर्णमासनामक प्रकृतियागमें विहित अग्निहोत्रहवनी अतिदेशसे प्राप्त हुई, परन्तु आधानकालमें अग्निहोत्रका अभाव होनेसे अग्निहोत्रहवनीमें जो निर्वाप है उसका लोप नहीं होता, ऐसा अर्थ है । आरब्ध नित्य आदि कर्मोंके अवश्य अनुष्ठेय होनेसे श्रुत द्रव्यकी प्राप्ति न होनेपर प्रतिनिधिरूप द्रव्यसे भी कर्म करना चाहिए, यह प्रतिनिधिन्याय है ॥४०॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—उपस्थिते, अतः, तद्वचनात् ।

पदार्थोक्ति—उपस्थिते—भोजने उपस्थिते, अतः—अस्मादेव भोजनद्रव्यात् [प्राणाग्निहोत्रं कार्यम् , अनुपस्थिते त्वग्निहोत्रस्य लोप एव, कुतः ?] तद्वचनात्—'तद्यद् भक्तं प्रथमं' इति वचनादित्यर्थः, [आदरवचनन्तु भोजनप्राप्तिदशायां बोध्यम्] ।

भाषार्थ—भोजनद्रव्यके उपस्थित होनेपर इसी भोजनद्रव्यसे प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए, क्योंकि 'तद्यद्भक्तम्' इत्यादि वाक्य है और आदरवचन तो भोजनकी प्राप्तिदशाको लेकर है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात् प्रथमोपनिपतितात् प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम् । कस्मात् ? तद्वचनात् । तथा हि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१९।१) इति सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति । ता अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः । न चाऽत्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति, कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति'

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—भोजनके उपस्थित होनेपर उस प्रथम प्राप्त भोजनद्रव्यसे प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए । किससे ? उसका वचन होनेसे । तद्यद्भक्तम्०' (इसलिए जो भक्त प्रथम आवे, वह होतव्य है) यह श्रुति सिद्धवत् भक्तका जो आगमन है उसके [तत्शब्दसे] परामर्शसे परार्थ—भोजनार्थ द्रव्य (भक्त) से प्राणाहुति साध्य हैं, ऐसा विधान करती है । उन आहुतियोंमें प्रयोजकके लक्षण—आक्षेपकत्वके न होनेसे भोजनका लोप होनेपर वे किस प्रकार अन्य द्रव्यका प्रतिनिधान्यायसे आक्षेप कर सकेंगी । और यहांपर प्रकृत अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति नहीं है । कुण्डपायीके अयनमें 'मासपर्यन्त अग्निहोत्र करें' इस विधिके

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—उपस्थितेऽतस्तद्वचनादिति । तद्धोमीयमिति तच्छब्देन भोजनार्थसिद्धभक्तमाश्रित्य होमविधानादित्यर्थः । सिद्धवद्भक्तोपनिपातः—प्रकृतभक्तागमनम्, तस्य तच्छब्देन परामर्शेनेत्यर्थः । आश्रित्य विहिताहुतीनामाश्रयलोपे लोप एव, न द्रव्यान्तराक्षेपकत्वम्, यथा क्रतुप्रयुक्ताऽप्प्रणयनाश्रितस्य गोदोहनस्य क्रतुलोपे लोपो न स्वाश्रयान्तरप्रयोजकत्वम्, तथेति फलितमाह—ता इति । यदुक्तमग्निहोत्रशब्दाद् द्रव्यान्तरप्राप्तिरिति, तत्राह—न चात्रेति । तद्भावो नित्याग्निहोत्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त करते हैं—"उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्" से । "तद्वचनात्" इसका 'तद्धोमीयम्' यहांपर तत्शब्दसे भोजनके लिए जो सिद्ध भक्त है, उसका आश्रय कर होमके विधानसे, ऐसा अर्थ है । सिद्धवत् भक्तोपनिपातः—प्रकृत भक्तकी प्राप्ति, उसका 'तत्' शब्दसे परामर्श करके ऐसा अर्थ है । भोजनका आश्रयण करके विहित आहुतियोंके आश्रयका लोप होनेपर लोप ही हो जाता है । आहुतियां अन्य द्रव्यका आक्षेप नहीं करतीं, जैसे क्रतुप्रयुक्त अप्प्रणयनके आश्रित गोदोहनका क्रतुका लोप होनेपर लोप ही हो जाता है वह अन्य आश्रयका आक्षेप नहीं करता, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए, इस प्रकार फलित कहते हैं—"ताः" इत्यादिसे । अग्निहोत्रशब्दसे अन्य द्रव्यकी प्राप्ति होती है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—

भाष्य

इति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः। इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति। तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि प्राप्येरन्। न चाऽस्ति सम्भवः, अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय, न चाऽयमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्, भोजनोपनीतद्रव्यसम्बन्धाच्चाऽऽस्य एवैष होमः। तथा च जाबालश्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यास्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति। अत एव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—"उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमा-

भाष्यका अनुवाद

उद्देशमें अग्निहोत्रशब्द कहा गया है। इससे वह प्रकृत अग्निहोत्रके सदृश धर्मोंका विधान करावेगा। इससे उसमें उसके धर्मकी प्राप्ति युक्त है। परन्तु यहांपर—प्राणाग्निहोत्रमें अर्थवादगत अग्निहोत्रशब्द प्रकृत अग्निहोत्रके सदृश धर्मोंका विधान नहीं करा सकता। और यदि अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति मानी जाय, तो अग्निका उद्धरण आदि भी प्राप्त होगा। किन्तु उसका यहांपर संभव नहीं है, क्योंकि अग्निका उद्धरण होमके अधिकरणत्वके लिए है और यह होम अग्निमें नहीं होता है, क्योंकि भोजनके लिए है, ऐसा जो कहा गया है, उसका व्याघात हो जायगा और भोजनके लिए लाये गये द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेसे मुखमें ही यह होम होता है। जाबाल श्रुति—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' (अतिथिसे पूर्व भोजन करे) इस प्रकार मुखमें ही इस होमकी निष्पत्तिको दिखलाती है। इसीसे यहांपरभी श्रुति कल्पनासे सम्पादन किये गये अग्निहोत्रांगको दिखलाती है—'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं०' (इस वैश्वानर भोक्ताका उरस्थान ही वेदी है

रत्नप्रभा

सादृश्यम्, अर्थवादस्थशब्दस्य स्तुतित्वेन उपपत्तेरित्यर्थः। धर्मप्रापकत्वे दोषमाह—तद्धर्मप्राप्तौ चेति। अत एवेति—तद्धर्मप्राप्त्यभावादेवेत्यर्थः। प्राप्तौ सम्पादनं वृथा स्यादिति भावः। मुख्याग्निहोत्राङ्गानि उत्पाद्यन्ते चेत्, कथं तदनङ्गं वेदिरत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न चाऽत्र" इत्यादिसे। तद्वद्भाव—नित्याग्निहोत्रकी सदृशता। अर्थवादवाक्योंमें स्थित शब्द स्तुतिरूपसे उपलब्ध होता है, ऐसा अर्थ है। धर्मप्रापकतामें दोष कहते हैं—"तद्धर्मप्राप्तौ च" इत्यादिसे। 'अत एव'—इसीसे—नित्य अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति न होनेसे ही। प्राप्ति हो, तो सम्पादन वृथा होगा, ऐसा भाव है। यदि मुख्य अग्नि॰

भाष्य

हवनीयः' (छा० ५।१८।२) इति । वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह संपिपादयिपितत्वात् । भोजनेनैव च कृतकालेन संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः । एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचिद् कथंचिद् विरुध्यन्ते । तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात् पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः। यत्त्वादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । नह्यस्ति वचनस्याऽतिभारः ।

भाष्यका अनुवाद

[समानाकार होनेसे] लोम दर्भ है [वेदीपर दर्भके समान छातीमें रोम आस्तीर्ण दीखते हैं] हृदय गार्हपत्य है, मन अन्वाहार्यपचन—दक्षिणाग्नि है और मुख आहवनीय अग्नि है ।) यहांपर—प्राणाग्निहोत्रमें वेदीकी श्रुति स्थण्डिलमात्रके उपलक्षणके लिए है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि मुख्य अग्निहोत्रमें वेदीका अभाव है और प्राणाग्निहोत्रमें उसके अंगोंका सम्पादन कराना अभीष्ट है । जिसका कालनिश्चय किया गया है, ऐसे भोजनके साथ [प्राणाग्निहोत्रका] संयोग होनेसे मुख्य अग्निहोत्रके कालके अवरोधका सम्भव नहीं है । इसी प्रकार उपस्थान आदि दूसरे भी कई एक धर्म कथंचित् विरुद्ध होते हैं । इसलिए मन्त्र, द्रव्य और देवताके संयोगसे भोजनपक्षमें ही ये पांच होम करने योग्य हैं । परन्तु आदरदर्शनके लिए जो वचन है, वह तो भोजनपक्षमें प्राथम्यका

रत्नप्रभा

सम्पाद्यते, तत्राह—वेदिश्रुतिश्चेति । मुख्याग्निहोत्रस्थाग्न्युद्धरणवत् सायम्प्रातःकालद्वयस्यापि न प्राप्तिरित्याह—भोजनेनेति । उपस्थानपरिस्तरणादयोऽपि अग्न्यभावात् न प्राप्नुवन्तीत्याह—एवमिति । यस्मात् तद्धर्मप्राप्त्यभावः तस्माद् भोजनद्रव्येणैव होम इत्युपसंहारः । प्राणाय स्वाहा इत्यादयो मन्त्राः । ननु स्वामिभोजनस्योत्तरकालत्व श्रुत्यादिविहितं कथ 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयाद्'इति वचनेन .

रत्नप्रभाका अनुवाद

होत्रके अंगोंका सम्पादन हो, तो उसकी अनगभूता जो वेदी है उसका सम्पादन यहां कैसे होता है, इसपर कहते हैं—"वेदिश्रुतिश्च" इत्यादिसे । मुख्य अग्निहोत्रमें स्थित अग्निके उद्धरणके समान सायंकाल और प्रातःकाल इन दो कालोंकी भी प्राप्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"भोजनेन" इत्यादिसे । उपस्थान परिस्तरण आदि भी अग्निके अभावसे प्राप्त नहीं होते, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । मुख्य अग्निहोत्रके धर्मोंकी प्राप्ति न होनेसे भोजनद्रव्यसे

भाष्य

न त्वनेनाऽस्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम्। तस्माद् भोजनलोप लो एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

विधान करनेके लिए है। इसमें वचनका कोई बोझ नहीं है, क्योंकि इससे इसकी नित्यता नहीं दिखाई जा सकती, इससे भोजन लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

बाध्यते, तत्राह—**नह्यस्तीति** । उपासकान्यस्वामिविषयमुत्तरकालत्वविधानमित्यर्थः । **न त्विति** । प्राथम्यमात्रेणेत्यर्थः । प्राणोपासकस्य प्राप्ते भोजने प्राथम्यार्थतयाऽऽदरस्य अन्यथासिद्धौ फलितमाह—**तस्मादिति** ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही होम है, ऐसा उपसंहार है। 'प्राणाय स्वाहा'—इत्यादि मन्त्र है। परन्तु यदि कोई शंका करे कि स्वामीका भोजनकाल अतिथिके भोजनकालसे पश्चात् है, ऐसा श्रुति और स्मृतिसे विहित है, यह वचन 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इस वचनसे किस प्रकार बाधित होगा? उसपर कहते हैं—"नह्यस्ति" इत्यादिसे। उपासकसे अन्य स्वामीमें उत्तरकालत्वका विधान लागू होता है, ऐसा अर्थ है। "न तु" इत्यादि। केवल प्राथम्यसे नहीं ऐसा अर्थ है। प्राणके उपासकको भोजन प्राप्त होनेपर प्राथम्यके अर्थमें आदर होनेसे आदरके अन्यथासिद्ध होनेपर फलित कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ ४१ ॥



[२७ तन्निर्धारणाधिकरण सू० ४२]

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत ।
पर्णवत्क्रतुसम्बन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥ १ ॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् ।
उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुपासिनोः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—कर्ममें अङ्गरूपसे आश्रित उपासनाएँ नित्य हैं अर्थात् नियमसे अनुष्ठेय हैं या कर्मोंमें अनियत हैं ?

पूर्वपक्ष—पर्णताके समान क्रतुके साथ वाक्य द्वारा उनका सम्बन्ध है, अतः उनका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिए।

सिद्धान्त—पृथक् पृथक् फलका श्रवण होनेसे गोदोहनके समान ये उपासनाएँ नित्य नहीं हैं और 'उभौ कुरुतः' (दोनों—उपासक और अनुपासक करते हैं) इससे उपासक और अनुपासक-दोनोंके लिए कर्म कहा गया है, इससे अनियत हैं, ऐसा समझना चाहिए।

---

* इस अधिकरणका सारांश यह है कि प्रतिमाके प्रतीकभूत समान उद्गीथ आदि कर्मके अङ्गोंमें विधीयमान देवतोपासना अङ्गावबद्ध है इसलिए कर्मोंके अनुष्ठानके प्रसङ्गसे नियमतः उनका अनुष्ठान करना चाहिए, यद्यपि कर्मप्रकरणका आरम्भ करके उनका पठन नहीं किया गया है, तथापि वाक्यसे क्रतुसम्बन्ध संपन्न हो सकता है। जैसे 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' (जिसकी जुहू—यज्ञपात्र पर्णमयी होती है) इसके अनारभ्याधीत होनेपर भी अव्यभिचारिणी जुहू द्वारा वाक्यप्रमाणसे क्रतुका सम्बन्ध माना गया है, वैसे ही 'य एवं विद्वानुद्गायति' (जो इस प्रकार जाननेवाला उद्गान करता है) 'य एवं विद्वान् साम गायति' (जो ऐसा जानकर सामका गान करता है) इत्यादिमें व्यभिचाररहित क्रतुसम्बन्धी साम और उद्गीथ द्वारा उन उपासनाओंका क्रतुके—यज्ञके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इससे उपासनाएँ कर्मोंमें नियमतः प्राप्त हैं।

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि गोदोहनके समान उपासनाएँ अनियत हैं। जैसे 'चमसेनापः प्रणयेत्, गोदोहनेन पशुकामस्य' (चमस पात्रसे जलका प्रणयन—नयन करे, पशुकी इच्छा करनेवाला गोदोहनसे करे, इत्यादि स्थलमें अप्प्रणयनका आश्रयण करके विधीयमान गोदोहन है, तो भी ऐच्छिक होनेके कारण प्रणयनके समान नियत नहीं है। वैसे प्रकृतमें कर्माङ्गोंका आश्रय करके उपासनाओंका विधान है, तो भी वे क्रतुकी अङ्ग नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, क्योंकि कर्मफलसे पृथक् उनका फल सुना जाता है—'वर्षति हास्मै' इत्यादि पांच प्रकारके सामोंमें देवताकी उपासना करनेवालोंका ऐच्छिक वृष्टि—क्रतुफलसे अन्य फल सुना जाता है। और भी 'तेनोभौ कुरुतः' इस प्रकार अङ्गाश्रित उपासनावाक्यके शेषमें उपासक और अनुपासक—दोनोंका उपास्यका आधारभूत उस अङ्गसे कर्मका अनुष्ठान स्पष्ट रीतिसे कहा गया है। इससे कर्मोंमें उपासनाका नियम नहीं है।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

पदच्छेद—तन्निर्धारणानियमः, तद्दृष्टेः, पृथक्, हि, अप्रतिबन्धः, फलम् ।

पदार्थोक्ति—तन्निर्धारणानियमः—तेषाम्—कर्माङ्गाश्रितानां निर्धारणानाम्—उपासनानाम् अनियमः—नित्यवदनुष्ठानाभावः [कुतः ?] तद्दृष्टेः—तस्य—अनियमस्य दृष्टेः—'तेनोभौ कुरुतः' इति श्रुतौ दर्शनात्, [उपासनानां पृथक्फलश्रवणाद् हि न नित्यवदनुष्ठानमित्याह]—पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्—हि—यस्मात् कर्मफलतः पृथगेव अप्रतिबन्धः 'यदेव विद्यया करोति' इति वीर्यवत्तरत्वात्मककर्मसमृद्धिरूपः फलम्—परिणामः उपलभ्यते—प्राप्यते [अतो न कर्माङ्गत्वमुपासनानामिति भावः] ।

भावार्थ—कर्माङ्गोंसे आश्रित उपासनाओंका नित्यके समान अनुष्ठान नहीं है, क्योंकि वह अनियम 'तेनोभौ कुरुतः' इत्यादि श्रुतिमें दृष्ट है, यद्यपि उपासनाओंका पृथक् फल सुना जाता है, तो भी नित्यके समान अनुष्ठान नहीं है, यह कहते हैं—पृथक् इत्यादिसे । जिससे कि कर्मफलसे अन्य ही वीर्यवत्तरत्वात्मक कर्मसमृद्धिरूप फल उपलब्ध होता है, इससे कर्माङ्गत्व उपासनाओंमें नहीं है, यह सिद्ध हुआ ।

भाष्य

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमादीनि । किं तानि नित्यान्येव स्युः

भाष्यका अनुवाद

'ओमित्येदक्षरमु०' (उद्गीथके अवयव ओम् इस वर्णकी उपासना करे) इत्यादि कर्म—ज्योतिष्टोम आदिके अङ्गका आश्रयण करनेवाली उपासनाएँ हैं । क्या

रत्नप्रभा

तन्निर्धारणेति । उभयथा दृष्टान्तदर्शनात् संशयमाह—किं तानीति । यथा अनारभ्याधीतपर्णमयीत्वं जुहूद्वारा क्रत्वङ्गतया कर्मसु नित्यं प्रयुज्यते, तथा अङ्गाश्रितोपासनानि उद्गीथादिद्वारा अङ्गतया नित्यानि उत क्रत्वङ्गाप्प्रणयनाश्रयो गोदोहनसंयोगः

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तन्निर्धारणा०" इत्यादिसे। दोनों प्रकारके दृष्टान्तोंके देखनेमें आनेसे संशय कहते हैं—"किं तानि" इत्यादिसे । जैसे क्रतुके प्रकरणमें जिसका अध्ययन नहीं है, ऐसे पर्णमयीत्व जुहूद्वारा क्रतुका अङ्ग होकर कर्मोंमें नित्य प्रयुक्त होता है, वैसे अङ्गके आश्रित उपासना उद्गीथादि द्वारा अङ्ग

भाष्य

कर्मसु पर्णमयीत्यादिवदुताऽनित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः । किं तावत् प्राप्तम्—नित्यानीति । कुतः? प्रयोगवचनपरिग्रहात् । अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसम्बन्धात् क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत् संस्पृश्यन्ते। यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेव, अपापश्लोक-

भाष्यका अनुवाद

वे उपासनाएं कर्मोंमें पर्णमयीत्व आदिके समान नित्य ही होंगी या गोदोहन आदिके समान अनित्य होंगी ? इस विषयमें हम विचार करते हैं। प्रथम क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—नित्य हैं। किससे ? प्रयोग वचनके परिग्रहसे। क्रतुके प्रकरणमें जो पठित नहीं हैं ऐसी इन उपासनाओंका उद्गीथ आदि द्वारा क्रतुसे सम्बन्ध होनेसे क्रतुप्रयोगके वचनसे ही अन्य अंगके समान ये भी संस्पृष्ट होती हैं। स्ववाक्योंमें इन विज्ञानोंका जो फलश्रवण है—'आपयिता ह वै०' (जो विद्वान् इस प्रकार उद्गीथके अवयव ओम् वर्णकी उपासना करता है वह यजमानके कामोंको प्राप्त करानेवाला होता है) इत्यादि, वह फलश्रवण

रत्नप्रभा

पशुफलार्थत्वादनित्यत्वेन यथा प्रयुज्यते, यथा वा पश्वङ्गयूपाश्रयं बैल्वमन्नाद्यफलत्वादनित्यम्, तथा कर्मसमृद्ध्यादिफलकत्वाद् उपासनान्यनङ्गत्वेनाऽनित्यानीति संशयार्थः । पूर्वपक्षे उपासनानां प्रयोगनित्यत्वम्, सिद्धान्ते त्वनित्यत्वमिति फलभेदः । अनित्यभोजनाश्रयमाणाग्निहोत्रस्याऽनित्यत्ववद् नित्यकर्माङ्गोपास्तीनां नित्यत्वमिति प्रत्युदाहरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति ।

उपासनानि कर्माङ्गानि, अफलत्वे सति कर्माङ्गाश्रितत्वात्, पर्णमयीत्वादिवत्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

होकर नित्य है या क्रतुका अङ्ग जो जलप्रणयन, उसके आश्रित गोदोहनसंयोग पशुफलार्थक होनेसे अनित्यरूपसे जैसे प्रयुक्त होता है और जैसे पश्वङ्गभूत यूपके आश्रित बैल्व अन्नाद्यफलक होनेसे अनित्य है, वैसे ही कर्मसमृद्धि आदि फल होनेसे उपासनाएँ अनङ्ग होनेसे अनित्य हैं, ऐसा संशयका अर्थ—विषय है। पूर्वपक्षमें उपासनाएँ प्रयोगमें नित्य हैं और सिद्धान्तमें अनित्य हैं, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तके फलका भेद है। जैसे अनित्य भोजनके आश्रित प्राणाग्निहोत्र अनित्य है, वैसे नित्य कर्मके अङ्गभूत उपासनाएँ नित्य हैं, ऐसा प्रत्युदाहरण दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे।

उपासनाएँ कर्मकी अङ्ग हैं, अफल होकर कर्मके अंगके आश्रित होनेसे, पर्णमयीत्वके समान,

भाष्य

श्रवणादिवन्न फलप्रधानम् । तस्माद् यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात् प्रकरणपठितवन्नित्यता, एवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति । यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि 'रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्यः' इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत् कर्मसु नियम्येरन् । कुतः ? तद्दृष्टेः । तथा ह्यनि-

भाष्यका अनुवाद

वाक्यमें वर्तमान कालका निर्देश होनेके कारण अर्थवादमात्र ही हैं, अपाप श्लोकश्रुति आदिके समान फल प्रधान नहीं है। इसलिए जैसे 'यस्य पर्णमयी०' (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह पापश्लोकका श्रवण नहीं करता) इत्यादि क्रतु-प्रकरणमें पठित न होनेपर भी जुहू आदिके द्वारा क्रतुमें प्रवेश होनेसे प्रकरणमें पढ़े गयेके समान नित्य ही है, इसी प्रकार उद्गीथ आदि उपासनाओंको भी समझना चाहिए ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपासनाके निर्धारणका अनियम है । 'रसोंमें वह श्रेष्ठ, कामोंकी प्राप्ति करानेवाला, समृद्धिका देनेवाला, मुख्य प्राण, आदित्य है, इत्यादि उद्गीथ आदि कर्मगुणोंके यथावत् स्वरूपका निर्धारण करनेवाली जो उपासनाएँ हैं—वे उपासनाएँ नित्य अंगोंके समान कर्मोंमें नियमित होनेवाली नहीं हैं । किससे ? [श्रुतिमें] उनके दिखाई

रत्नप्रभा

तथा चाऽङ्गतया प्रयोगविधिना नित्येन प्रयुज्यते इति प्राप्ते सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—यानीत्यादिना । उद्गीथादयः कर्मणां गुणाः—अङ्गानि तेषां याथात्म्यम्—रसतमत्वादिकं तन्निर्धारणान्युपासनानि यानि, तानि कर्मसु नित्यपर्णमयीत्वादिवन्न नियम्येरन्नित्यर्थः । एषां कर्माङ्गत्वे तद्धीनस्य अविदुषः कर्म न स्यात्, अङ्गलोपात्, तस्माद् अविदुषोऽपि कर्मकर्तृत्वश्रुतिलिङ्गैरङ्गत्वानुमानबाध इत्याह—तद्दृष्टेरिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अनुमान है । इस प्रकार अंग होकर नित्य प्रयोगविधिसे प्रयुक्त होती हैं, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्तसूत्रका व्याख्यान करते हैं—"यानि" इत्यादिसे । उद्गीथ आदि कर्मगुण हैं अर्थात् कर्मके अंग हैं । उन अङ्गोंका याथात्म्य रसतमत्व आदि है, उस याथात्म्यका निर्धारण करनेवाली जो उपासनाएँ हैं, वे कर्ममें पर्णमयीत्वके समान नियमित नहीं हैं, ऐसा अर्थ है । यदि उपासनाएँ कर्मकी अङ्ग हों, तो उनका याथात्म्य न जाननेवालेका अंग लोप होनेसे कर्म नहीं होगा, परन्तु याथात्म्य न जाननेवालेका कर्म है, ऐसी श्रुति होनेसे उपासना

भाष्य

यतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात् । प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि' (छा० १।१०।९) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १।१०।१०) 'तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि' (छा० १।१०।११) इति च । अपि चैवंजातीयकस्य

भाष्यका अनुवाद

देनेसे । क्योंकि इस प्रकारकी उपासनाएँ अनित्य हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है— 'तेनोभौ कुरुतो०' (उस ओंकाराख्य अक्षर द्वारा जो इस उद्गीथावयवभूत अक्षरको इस प्रकार रसतमत्वादि विशिष्ट जानता है—अक्षरयाथात्म्यको जानता है और जो नहीं जानता—कर्ममात्र जानता है, अक्षरयाथात्म्यको नहीं जानता वे दोनों उस अक्षर द्वारा कर्म करते हैं) इस प्रकार अविद्वान्‌के लिए भी कर्मकी अनुज्ञा दी गई है । और प्रस्तावादिके देवताके विज्ञानसे रहित प्रस्तोता आदिमें याजनका निश्चय देखा जाता है, 'प्रस्तोतर्या देवता०' (हे प्रस्तोता, जो देवता प्रस्तावभक्तिमें अनुगत है, उस देवताको—प्रस्तावभक्तिकी देवताको जाने बिना यदि तू प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यति' (हे उद्गाता, उस देवताको—प्रस्तावभक्तिकी देवताको जाने बिना यदि तू उद्गान करेगा, तो तेरा शिर गिर पड़ेगा) 'तां चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यति०' (हे प्रतिहर्त्ता, उस देवताको—प्रस्तावभक्तिकी देवताको जाने बिना यदि तू प्रतिहार करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा) ऐसा चाक्रायणने आक्षेप किया है,

रत्नप्रभा

तस्याऽनियमस्य दर्शनादित्यर्थः । 'तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते पतिष्यति' इति चाक्रायणेनार्त्विजामाक्षिप्तत्वादनुपासकानामपि कर्मप्रयोगोऽस्तीत्याह—प्रस्तावादीति । उपास्तीनां कर्मफलात् पृथक् फलश्रुतेर्न कर्माङ्गत्वमित्याह—अपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मकी अङ्ग है, ऐसे अङ्गत्वानुमानका अविद्वान् भी कर्मका कर्त्ता है इस श्रुतिलिंगसे बाध है, ऐसा कहते हैं—"तद्दृष्टेः" इत्यादिसे । तद्दृष्टेः—अनियमके देखनेसे, ऐसा अर्थ है । 'तां चेदविद्वान्०' इस प्रकार चाक्रायणने ऋत्विजोंका आक्षेप किया है, इससे प्रतीत होता है कि जो उपासक नहीं है उनका भी कर्मप्रयोग है, ऐसा कहते हैं—"प्रस्तावादि" इत्यादिसे । उपासनाओंका फल कर्मफलसे पृथक् है, ऐसी श्रुति है, इससे उपासना कर्मकी अङ्ग नहीं है,

भाष्य

कर्मण्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित्—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद् वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद् विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चाऽनित्यत्वे विद्याया उपपद्यते,

भाष्यका अनुवाद

इससे प्रस्तोता आदिकी अविद्वत्ता सिद्ध होती है। और इस प्रकारकी अंगभूत उपासनाका कर्मफलसे पृथक् फलकी सिद्धिका अप्रतिबन्ध फल उपलब्ध होता है, कर्मफलकी समृद्धि अर्थात् कोई एक अतिशय विशेष फल—'तेनोभौ कुरुतो०' (इस प्रकार व्याख्यात उस अक्षरको जो जानता है और जो अक्षरका याथात्म्य नहीं जानता, किन्तु कर्ममात्र जानता है वे दोनों कर्म करते हैं। परन्तु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न हैं, विज्ञानसे, श्रद्धासे और उपनिषद्से युक्त होकर जो कर्म करता है वही अविद्वान्‌के कर्मसे अधिक फलवाला होता है) इत्यादि। उस श्रुतिमें 'नाना तु' इस शब्दसे विद्वान् और अविद्वान् द्वारा किये गये प्रयोगोंमें पार्थक्य करनेसे और 'वीर्यवत्तरम्' इसमें (अधिकतावाचक) तरप्प्रत्ययका प्रयोग होनेसे विद्याहीन कर्म भी वीर्यवान्—फलवाला होता है, ऐसा समझा जाता है। और वह विद्याके अनित्य होनेपर उपपन्न होता है, यदि विद्या

रत्नप्रभा

चेति। तेन—ओमित्यक्षरेण। यश्च एतद् अक्षरम् एवं रसतमत्वादिरूपेण वेद—उपास्ते, यश्च न वेद तावुभौ कर्म कुरुत एव यद्यपि, तथापि तु विद्याविद्ययोः नानात्वं भिन्नफलत्वम्। दृष्टं हि मणिविक्रये ज्ञानाज्ञानाभ्यां वणिक्शबरयोः फलवैषम्यम्। तस्माद् यदेव कर्म विद्यया—उद्गीथाद्युपास्त्या श्रद्धया—आस्तिक्यबुद्ध्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। तेन—'ओम्' इस अक्षरसे। यद्यपि जो इस अक्षरको रसतमत्व आदिरूपसे जानता है अर्थात् इस अक्षरकी उपासना करता है और जो नहीं जानता अर्थात् इसकी उपासना नहीं करता, वे दोनों कर्म करते ही हैं; तो भी विद्या और अविद्याका भिन्न भिन्न फल है। मणिका विक्रय करनेमें ज्ञान और अज्ञानसे जौहरी और भीलको भिन्न-भिन्न फल मिलता है, ऐसा देखा गया है। इससे जो कर्मविद्यासे—उद्गीथ आदिकी उपास्तिसे, श्रद्धासे—आस्तिक्यबुद्धिसे और उपनिषद्से—रहस्य देवताके ध्यानसे

भाष्य

नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत । सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः । तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३)

भाष्यका अनुवाद

नित्य हो, तो उससे (विद्यासे) विहीन कर्म वीर्यवत् है, ऐसी अनुज्ञा श्रुतिसे किस प्रकार की जा सकती है ? क्योंकि सब अंगोंका उपसंहार होनेपर कर्म वीर्यवत् होता है, ऐसी स्थिति है। उसी प्रकार लोकदृष्टि आदिसे साम आदि उपासना-में—'कल्पन्ते हास्मै०' (जो इस प्रकार जानकर लोकोंमें पांच प्रकारका साम साधु है, ऐसी उपासना करता है, उसको भूमिसे ऊपर और नीचेके लोक—भोग

रत्नप्रभा

उपनिषदा—रहस्यदेवताध्यानेन करोति, तदेव कर्म फलातिशयवदित्यर्थः । कर्मणो वीर्यवत्त्वं नाम फलवत्त्वं विद्याहीनस्यापि गम्यमानं विद्याया अनङ्गत्वे लिङ्गमिति भावः । साम्नि लोकादिदृष्ट्युपासनेषु कर्मसमृद्ध्यतिरिक्तलोकादिफलश्रुतेश्च नाऽङ्गत्व-मित्याह—तथेति । अस्मै—विदुषे कल्पन्ते—भोगाय समर्था भवन्ति भूमेरूर्ध्वा लोकाः आवृत्ताः—अधस्तनाश्चेत्यर्थः । तथा हि गुणवाद इति फलश्रुतेरर्थवाद-मात्रत्वे स्तुतिलक्षणा स्यात्, सा न युक्ता, मुख्यवृत्त्या फलपरत्वसम्भवात् । प्रयाजानु-याजकर्मणां तु प्रकरणाद् दर्शाद्यङ्गत्वलाभाद् भ्रातृव्याभिभूतिफलश्रुतेरगत्या स्तुतिल-क्षकत्वम्, यद्यपि पर्णमयीत्वादीनामङ्गत्वबोधकं प्रकरणं नास्ति, तथापि तेषु फल-श्रुतेः स्तुतित्वम्, तेषामक्रियात्वेन क्रियासम्बन्धं विना फलहेतुत्वानुपपत्तेः, अत-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किया जाता है, वही कर्म अतिशय फलवाला होता है, ऐसा अर्थ है। विद्याहीनको भी गम्यमान कर्मका वीर्यवत्त्व अर्थात् फलवत्त्व, विद्या कर्मकी अङ्गभूत नहीं है, इसमें लिंग है, ऐसा भाव है। साममें लोकादि दृष्टिरूप उपासनाओंमें कर्मसमृद्धिसे अन्य लोकादि फल श्रुतिमें कहा गया है, इससे भी उपासना कर्मकी अङ्ग नहीं है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। भूमिसे ऊपरके लोक और भूमिसे नीचेके लोक विद्वान्‌के भोगके लिए समर्थ होते हैं ऐसा अर्थ है। 'तथा हि गुणवादः' इसका तात्पर्य यह है कि फलश्रुतिके अर्थवादमात्र होनेपर स्तुतिमें लक्षणा होगी, वह युक्त नहीं है, क्योंकि मुख्यवृत्तिसे श्रुति फलका बोध करा सकती है। प्रयाज, और अनुयाज कर्मोंको तो प्रकरणसे दर्श आदिका अङ्गत्व प्राप्त होता है, इससे भ्रातृ-व्याभिभूतिरूप फलश्रुति अगत्या स्तुतिलक्षक है, यद्यपि पर्णमयीत्व आदिका अङ्गत्व-बोधक प्रकरण नहीं है—किसी क्रतुके प्रकरणमें आनेसे वे क्रतुके अङ्ग हों, ऐसा नहीं है—तो भी

भाष्य

इत्येवमादीनि। न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्, तथा हि गुणवाद आपद्येत, फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः, प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। तथाऽनारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसम्बन्धोऽवकल्पते। गोदोहनादीनां हि प्रकृता-

भाष्यका अनुवाद

भूमि—भोगके समर्थ होते हैं) इत्यादि प्रतिनियत फल कहे गये हैं। और इस फलश्रवणको केवल अर्थवाद समझना ठीक नहीं है, क्योंकि वे केवल अर्थवाद हैं ऐसा माननेसे उन्हें गुणवाद मानना पड़ेगा, परन्तु फलके उपदेशमें तो मुख्यवाद उपपन्न होता है। प्रयाज आदिमें तो इतिकर्त्तव्यता—इस प्रकार करनेकी आकांक्षा रखनेवाले क्रतुके प्रकृत होनेसे प्रयाज आदिमें क्रत्वर्थत्व है उसमें तादर्थ्य होनेपर फलश्रुति अर्थवाद हो, यह युक्त है। उसी प्रकार प्रकरणके आरम्भमें जिनका अध्ययन नहीं हुआ है ऐसे पर्णमयीत्व आदिमें भी फलश्रुतिका अर्थवादत्व है। अक्रियारूप होनेसे पर्णमयीत्वका भी आश्रयके बिना फलसम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि गोदोहन आदिमें तो प्रकृत जलप्रणयन आश्रयका लाभ

रत्नप्रभा

स्तेषां फलार्थं क्रियापेक्षितत्वात् क्रतोश्च जुहूप्रकृतिद्रव्याकाङ्क्षित्वात् 'पर्णमयी जुहू' इत्यादिवाक्येनैव प्रकृतिद्रव्यार्पकेण जुहूद्वारा सन्निहितक्रत्वङ्गत्वसिद्धेर्युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वमिति भावः। अक्रियात्मकगोदोहनादेरपि फलश्रुतिरर्थवादः स्यादत आह—गोदोहनादीनां हीति। 'यदपः प्रणयेत्तत्पशुकामस्य सतो गोदोहनेन ब्रह्मवर्चसकामस्य कांस्येन' इति फलार्थविधिरेव, नाऽर्थवादः। गोदोहनादेः क्रत्वनाकाङ्-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उनमें फलश्रुति अर्थवाद—स्तुति है, क्योंकि पर्णमयीत्व आदि अक्रिया होनेसे क्रियाके सम्बन्धके बिना फलहेतु हों, यह युक्त नहीं है। अतः फलके लिए उनको क्रियाकी अपेक्षा है और क्रतुको जुहूप्रकृति द्रव्यकी आकांक्षा होनेसे 'पर्णमयी जुहू' इत्यादि वाक्यसे ही—प्रकृतिद्रव्यबोधक वाक्यसे ही जुहूद्वारा पर्णमयीत्व आदि संनिहित क्रतुके अङ्ग सिद्ध होनेसे फलश्रुति अर्थवाद है, यह युक्त है, यह अभिप्राय है। अक्रियात्मक गोदोहन आदिकी फलश्रुति अर्थवाद होगी, इसपर कहते हैं—"गोदोहनादीनां हि" इत्यादिसे। 'पशुकी कामना हो, तो जलप्रणयन गोदोहनसे करे और ब्रह्मवर्चसकी कामना हो, तो कांस्यपात्रसे करे' ऐसी फलार्थविधि ही है, अर्थवाद नहीं है। क्योंकि गोदोहन आदिको क्रतुकी आकांक्षा न होनेसे, ये

भाष्य

प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बैल्वादीनामपि प्रकृत-यूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, न तु पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति। वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्। उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानो-पपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते। तस्माद् यथा क्रत्वाश्रया-

भाष्यका अनुवाद

होने से फलविधि उपपन्न है। उसी प्रकार बैल्व आदिमें भी प्रकृत यूप आदि आश्रयका लाभ होनेसे फलविधि उपपन्न है। परन्तु पर्णमयीत्व आदिमें इस प्रकार कोई आश्रय प्रकृत नहीं है, परन्तु वाक्यसे ही जुहू आदिको आश्रय कहनेकी इच्छासे फलमें भी विधिकी विवक्षा करनेवालेको वाक्यभेद होगा। उपासनाएँ तो क्रियात्मक हैं, उनका विशिष्टविधान उपपन्न होनेसे उद्गीथादिके आश्रित हुई उपासनाओंके फलमें विरोध नहीं होता। इसलिए जैसे यज्ञके आश्रित

रत्नप्रभा

क्षिततेनाऽङ्गत्वाभावात्, चमसेन निराकाङ्क्षक्रियासम्बन्धितया स्वफलसाधकत्व-सम्भवात्। तथा खादिरत्वेन निराकाङ्क्षक्रत्वङ्गयूपमाश्रित्य "बैल्वमन्नाद्यकामस्य खादिरं वीर्यकामस्य" इति फलार्थविधिरेवार्थः। पर्णमयीत्वादिषु फलविधिः किं न स्यात्? अत आह—न त्विति। एवंविधः यूपादिवन्निराकाङ्क्ष इत्यर्थः। जुहूरेवाश्रय इत्यत आह—वाक्येनैवेति। जुह्वाः प्रकृतिद्रव्यापेक्षित्वादनेनैव वाक्येन क्रत्वङ्गतया जुहूप्रकृतिद्रव्यसम्बन्धो विधेयः पश्चात् निराकाङ्क्षं जुहू-माश्रित्य तस्यैव प्रकृतिद्रव्यस्य फलसंयोगो विधेय इति वाक्यभेद इत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रतुके अङ्ग नहीं है, निराकांक्ष क्रियाका सम्बन्धी होनेसे चमससे ही क्रतु स्वफलका साधक हो सकता है। उसी प्रकार निराकांक्ष क्रतुका अंग जो यूप है उसका खादिरत्वरूपसे आश्रय होनेसे बैल्वयूप अन्नाद्य कामनावालेके लिए और खादिरयूप वीर्यकी कामनावालेके लिए है ! यह फलार्थविधि ही है। पर्णमयीत्व आदिमें भी फलविधि क्यों न हो, उसपर कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे। एवं विध—इस प्रकारका—यूप आदिके समान आकांक्षारहित, यह अर्थ है। जुहू ही आश्रय होगा, इसपर कहते हैं—"वाक्येनैव" इत्यादिसे। जुहूको प्रकृति-द्रव्यकी अपेक्षा होनेसे इसी वाक्यके द्वारा क्रतुके अंगरूपसे जुहूका प्रकृति द्रव्यके साथ सम्बन्ध विधेय होता है, पश्चात् निराकांक्ष जुहूका आश्रयण करके उसी प्रकृत द्रव्यका फलसंयोग विधेय होता है, ऐसा वाक्यभेद होगा, यह अर्थ है। पर्णता आदिसे

भाष्य

ण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

गोदोहन आदि फलसंयोगसे अनित्य हैं, ऐसे ही उद्गीथ आदि उपासनाएँ भी अनित्य हैं, ऐसा समझना चाहिए । इसीसे कल्पसूत्रकारोंने इस प्रकारकी उपासनाओंकी क्रतुओंमें कल्पना नहीं की है ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

पर्णतादिवैलक्षण्यमुपासनानामाह—उपासनानां त्विति । स्वयं क्रियात्वाद् यागादिवत्फलविशिष्टत्वेन विधानोपपत्तिरित्यर्थः । तस्मादिति । अङ्गत्वावेदकमानाभावादित्यर्थः । अत एवेति । अनङ्गत्वादेवेत्यर्थः । तस्मादङ्गोपास्त्यभावेऽपि कर्माधिकार इति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासनाओंका वैलक्षण्य कहते हैं—"उपासनानां तु" इत्यादिसे । स्वयं क्रियात्मक होनेसे यागादिके समान फलविशिष्टरूपसे उपासना विधान उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है । "तस्मात्" इत्यादि । इससे—अङ्गत्व जनानेवाला प्रमाण न होनेसे । "अत एव" इत्यादि । अंग न होनेसे ही, यह अर्थ है । इससे अंगकी उपासनाके अभावमें भी कर्मका अधिकार है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ४२ ॥



[२८ प्रदानाधिकरण सू० ४३]

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् ।
तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनाऽनुचिन्तनम् ॥ १ ॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममाधिदैवं पृथक् श्रुतेः ।
प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत्॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वायु और प्राणका चिन्तन एकरूपसे करना चाहिए अथवा पृथक्रूपसे करना चाहिए ?

पूर्वपक्ष—उनकी—प्राण और वायुकी उपासना एकरूपसे करनी चाहिए, क्योंकि वे दोनों एक ही तत्त्व है ।

सिद्धान्त—अध्यात्म और आधिदैवरूप अवस्थाके भेदसे उनका पृथक् चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि ऐसी श्रुति है, और राज आदि गुणवाले इन्द्रके प्रदानके समान प्रयोगका पार्थक्य भी उपपन्न हो सकता है ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—प्रदानवत्, एव, तत्, उक्तम् ।

पदार्थोक्ति—प्रदानवत् 'यथेन्द्राय राज्ञे' इतीन्द्रदेवताया एकत्वेऽपि राजाधिराजादिगुणभेदेन तद्विशिष्टदेवताभेदात् पुरोडाशानां प्रदानस्य—प्रक्षेपस्य भेदः तद्वत् [एकस्यामपि विद्यायां वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदेऽपि आध्यात्मिकाद्यवस्थाभेदेन गुणभेदात् [प्रयोगभेदः इति] तदुक्तम्—'नाना वा देवता' इत्यादिना जैमिनिना ।

भाषार्थ—'यथेन्द्राय राज्ञे' इससे उक्त इन्द्र देवताके एक होनेपर भी राजाधिराज आदि गुणके भेदसे उससे युक्त देवताका भेद होता है, वैसे एक विद्यामें भी वायु, प्राण आदि स्वरूपके अभेद होनेपर भी आध्यात्मिक आदि अवस्थाके भेदसे गुणभेद है, अतः प्रयोगभेद है, यह 'नाना वा' इत्यादि सूत्रसे जैमिनिने पूर्व काण्डमें कहा है ।

---

* संवर्गविद्यामें अधिदैव वायु और अध्यात्म प्राण उपास्यरूपसे सुने जाते हैं, इसपर पूर्वपक्षीका यह कहना है कि उन दोनोंका एकीकरण करके ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि प्राण वायुका कार्य है, इससे दोनों एक ही तत्त्व हैं ।

भाष्य

वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इत्यत्राऽध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।२) इत्यत्राऽध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणा-

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयकमें—'वदिष्याम्येवाहमिति' (मैं सदा बोलूँगी ही, ऐसा वाणीने व्रतधारण किया) यहांपर अध्यात्म वाक् आदिमें प्राण श्रेष्ठ है और अधिदैव अग्नि आदिमें वायु श्रेष्ठ है, ऐसा निश्चय किया गया है। उसी प्रकार छान्दोग्यमें 'वायुर्वाव संवर्गः' (वायु ही संवर्ग है, सबका संवर्जन अर्थात् संग्रहण या संग्रसन करनेसे) यहांपर अधिदेव अग्नि आदिका संग्रसन करनेवाला वायु है, ऐसा निश्चय किया गया है और 'प्राणो वाव संवर्गः' (मुख्य प्राण ही संवर्ग है) यहांपर अध्यात्म वाक् आदिमें प्राण संवर्ग है, ऐसा निश्चय किया गया है। यहांपर संशय होता कि इन वायु और प्राणको पृथक् ही समझना चाहिए या

रत्नप्रभा

प्रदानवदेव तदुक्तम्। वायुप्राणयोर्भेदाभेदवाक्याभ्यां संशयमाह—तत्रेति। अस्तु कर्माङ्गानां तत्सम्बन्धोपास्तीनां च फलभेदान्नित्यत्वानित्यत्वरूपः प्रयोगभेदः, इह तु वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदात् तत्स्वरूपप्राप्तिलक्षणफलैक्याच्च ध्यानप्रयोगैक्यमि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रदानवदेव तदुक्तम्" इति। वायु और प्राण इन दोनोंका भेद और अभेद बतलानेवाले वाक्यसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्व अधिकरणमें कर्मके अङ्गोंका और कर्मसम्बन्धी उपासनाओंका फलभेद होनेसे नित्यत्व और अनित्यत्वरूप प्रयोगभेद भले ही हो, इस अधिकरणमें तो वायु और प्राणका स्वरूपाभेद होने और उनके स्वरूपकी प्राप्तिरूप फलके एक होनेसे ध्यानप्रयोग

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि यद्यपि वे एक तत्त्व हैं, तथापि कार्यत्व और कारणत्वरूप अवस्थाका भेद होनेसे अध्यात्म और अधिदैवतरूपसे विवेचना करके भिन्नरूपसे अनुचिन्तन करना चाहिए, इस प्रकार भगवती श्रुति ही विवेक करती है। इससे इन्द्रप्रदानके समान प्रयोगभेद जानना चाहिए—जैसे 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालम्, इन्द्रायाधिराजाय, इन्द्राय स्वराजाय' इससे इन्द्रके एक होनेपर भी राजा आदि गुणके भेदसे भिन्न-भिन्न पुरोडाश प्रदान होता है। ठीक इसी तरह वायुतत्त्वके एक होनेपर भी स्थानके भेदसे पृथक् चिन्तन हो सकेगा।

भाष्य

ष्युपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति। अपृथगेवेति तावत् प्राप्तं तत्त्वाभेदात्। नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति। तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति। क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति विस्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति।

भाष्यका अनुवाद

अपृथक् समझना चाहिए ?

पूर्वपक्षी—अपृथक् ही समझना चाहिए, क्योंकि स्वरूपका अभेद है, यदि तत्त्व अभिन्न—एक हो, तो उसका पृथक् अनुचिन्तन करना ठीक नहीं है। श्रुति भी—'अग्निर्वाग्भूत्वा०' (अग्नि वाग् इन्द्रियकी अभिमानी देवता वाक् होकर—वागिन्द्रियमें अन्तर्भाव पाकर मुखच्छिन्द्रमें प्रविष्ट हुई) ऐसा आरम्भ करके अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्वोंका अभेद दिखलाती है। और 'त एते सर्वे एव०' (ये वाक्, मन और प्राण सभी तुल्य हैं, अध्यात्म और अधिभूत सम्पूर्ण जगत् इन तीनोंसे व्याप्त है, इन तीनोंसे अतिरिक्त कार्यात्मक या कारणात्मक कुछ नहीं है, ये सब अनन्त हैं) यह श्रुतिवचन आधिदैविक विभूति आध्यात्मिक प्राणोंकी आत्मभूत है, ऐसा दिखलाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्वका बहुधा अभेद देखा जाता जाता है। और कहींपर 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु है) इस प्रकार स्पष्टरूपसे ही प्राण और वायुमें

रत्नप्रभा

ति पूर्वपक्षयति—अपृथगिति। 'अग्निर्वाग् भूत्वा' इत्यारभ्य 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्' इत्यभेदं दर्शयतीत्यर्थः। 'यतश्चोदेति सूर्यस्तं वद' इति प्रश्ने सूत्रात्मकवायुर्वाच्यः, वायुस्थाने प्राणं वदन्नेकत्वं तयोर्दर्शयतीत्याह—तथेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक ही होगा, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"अपृथक्" इत्यादिसे। 'अग्निर्वाग् भूत्वा' (अग्नि वाणी होकर) इस प्रकार आरम्भ करके 'वायुः प्राणो भूत्वा०' (वायु प्राण होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ) ऐसी श्रुति वायु और प्राणका अभेद दिखलाती है, ऐसा अर्थ है। 'यतश्चोदेति सूर्यस्तं वद' (जिससे सूर्य उदित होता है, उसको कहो) इस प्रश्नमें सूत्रात्मक वायु वाच्य है और 'प्राणाद्वा एष उदेति' (प्राणसे यह उदित होता है) इसमें वायुके स्थानमें प्राणको कहती हुई श्रुति वायु और प्राणका ऐक्य दिखलाती है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। किंच, वायु और

भाष्य

तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन् उपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १।५।२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति। 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति। तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव

भाष्यका अनुवाद

अभेद दिखलाती है। उसी प्रकार उदाहृत वाजसनेयी ब्राह्मणमें भी 'यतश्चोदेति सूर्यः' (जिससे—जिस वायुसे सूर्यका उदय होता है) इसमें 'प्राणाद्वा एष उदेति०' (प्राणसे यह उदित होता है, प्राणमें अस्त होता है) इस उपसंहार-श्लोकमें प्राणसे ही उपसंहार करके [प्राण और वायुमें] अभेद दिखलाती है। 'तस्मादेकमेव व्रतम्०' (इसलिए एक ही व्रत करे, प्राणनव्यापार करे और और अपानव्यापार करे) इस प्रकार एक प्राणव्रतसे उपसंहार करके इसको ही दृढ़ करती है। इसी प्रकार छान्दोग्यमें भी आगे 'महात्मनश्चतुरो देव एकः'

रत्नप्रभा

किञ्च, यदि वायुप्राणयोः पृथग् ध्यानं स्यात्, तर्हि ध्यानाङ्गव्रतभेदोऽपि स्यात्, इह तु प्राणापाननिरोधात्मकव्रतैक्यश्रुतेर्ध्यानैक्यमित्याह—तस्मादिति। व्रतैक्यस्य प्रशस्तत्वादित्यर्थः। किञ्च, वायुप्राणौ संवर्गौ भेदेनोपक्रम्य परस्ताद्वाक्यशेषे संवर्गदेवैक्यश्रुतेः प्रयोगैक्यमित्याह—तथेति। महात्मन इति द्वितीयाबहुवचनम्। चतुरः चतुःसंख्याकान्—अग्निसूर्यदिक्चन्द्रानपरांश्च वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरूपान् एको देवः कः—प्रजापतिः जगार—गीर्णवान्—उपसंहृतवानित्यर्थः। न ब्रवीति भेदमिति शेषः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राणका पृथक् ध्यान हो, तो ध्यानके अंगका व्रत भी भिन्न होगा, परन्तु यहां तो प्राणका और अपानका निरोधरूप एक ही व्रत श्रुति कहती है, अतः ध्यान एक ही है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। व्रतके ऐक्यके प्रशस्त होनेसे, ऐसा अर्थ है। इसी प्रकार वायु और प्राण संवर्ग हैं, ऐसा वायु और प्राणके अभेदसे उपक्रम करके पीछे वाक्यशेषमें संवर्गदेव एक ही है, ऐसा श्रुति कहती है, इसलिए प्रयोगका ऐक्य है, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे। 'महात्मनः' यह द्वितीयाका बहुवचन है। चतुरः—चार—अग्नि, सूर्य, दिक् और चन्द्र, और दूसरे चार—वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन। इन चार महात्माओंका एक देवता अर्थात् प्रजापतिने उपसंहार किया, ऐसा अर्थ है। 'न ब्रवीति' यहांपर 'भेदम्' इतना शेष है।

भाष्य

एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४।३।६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति। तस्माद-पृथक्त्वमुपगमनस्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति। कस्मात्? पृथगुपदेशात्। आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्या-ध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात्। ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदा-

भाष्यका अनुवाद

(चार [अग्नि, सूर्य, दिक् और चन्द्र; और वाक्, चक्षु, श्रोत्र, और मन] महात्माओंका एक प्रजापति देव उपसंहार कर गया और वह भुवनका रक्षक है) यह श्रुति संवर्ग एक ही है, ऐसी प्रतीति कराती है, श्रुति इन चारोंका यहां एक संवर्ग है, और दूसरे चारोंका दूसरा संवर्ग है, ऐसा नहीं कहती, इसलिए ध्यान पृथक् नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वायु और प्राणका पृथक् ही चिन्तन करना युक्त है। किससे? पृथक् उपदेश होनेसे, क्योंकि अध्यात्म और अधिदैव विभागोंका यह उपदेश आध्यानके लिए है आध्यान पृथक् न हो, तो यह उपदेश अनर्थक ही होगा। परन्तु पृथक् अनुचिन्तन नहीं है, क्योंकि तत्त्वका

रत्नप्रभा

यथा "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्युत्पन्नाग्निहोत्रस्यैकस्यैव दधितण्डुलादिगुण-भेदेन सायम्प्रातःकालभेदेन प्रयोगभेदः, तथा 'अन्नादो भवति य एवं वेद' (तै० ३।९।१) इत्युत्पन्नायाः संवर्गविद्याया एकत्वेऽप्युत्पन्नशिष्टवायुप्राणाख्य-गुणभेदात् प्रयोगभेद इत्युत्सूत्रं सिद्धान्तयति—पृथगेवेति। 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ' (छा ४।३।३) इत्युपास्यभेदवाक्यस्य प्रयोगभेदपरत्वाद् वाक्यादेव भेदसिद्धिरित्यर्थः। पूर्वपक्ष्युक्तमनूद्य प्रत्याह—ननूक्तमित्यादिना। उपास्यतया

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' से उत्पन्न एक ही अग्निहोत्रका दधितण्डुल आदि भेदसे सायंकाल और प्रातःकालके भेदसे प्रयोगभेद है, 'वैसे अन्नादो भवति य एवं वेद' (जो ऐसा जानता है वह अन्नका उपयोग करनेवाला होता है) इस प्रकार उत्पन्न संवर्गविद्या एक है, तो भी उत्पन्नविशिष्ट वायु और प्राणसंज्ञक गुणोंका भेद होनेसे प्रयोगका भेद है, ऐसा सूत्रके बाहर सिद्धान्त करते हैं—"पृथगेव" इत्यादिसे। 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ' (वे ये दो संवर्ग हैं—संग्रसन करनेवाले हैं) यह उपास्य-भेदवाक्य प्रयोगभेद बतलाता है, इस वाक्यसे ही भेद

भाष्य

दिति। नैष दोषः। तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनाऽनुचिन्तनभेदोपपत्तेः। श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाऽप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात्। 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात्। एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः। 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः। भग्नव्रतानि हि

भाष्यका अनुवाद

अभेद है, ऐसा कहा है। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि यद्यपि तत्त्वका अभेद है, तो भी अवस्थाभेदसे उपदेशका भेद होनेसे अनुचिन्तनका भेद उपपन्न होता है। और श्लोकका उपन्यास तो तत्त्वके अभेदके अभिप्रायसे उपपन्न होता है, उस उपन्यासमें पूर्वमें कहे गये ध्येयभेदका निराकरण करनेकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि 'स यथैषां प्राणानाम्०' (जैसे वाक् आदि इन प्राणोंमें प्राण मध्यम है, वैसे इन अग्नि आदि देवताओंमें वायु मध्यम है) इस प्रकार उपमान और उपमेय करनेसे ध्येयका भेद ही है। इस कथनसे व्रतके उपदेशका भी व्याख्यान हुआ। 'एकमेव व्रतम्' ([इसलिए] एक ही व्रत करना चाहिए) इसमें एवंकार वाक्

रत्नप्रभा

प्रधानभूतसंवर्गगुणविशिष्टोपास्यभेदवाक्यविरोधादनुपास्यवायुतत्त्वैक्यवाक्यं न प्रयोगैक्यप्रापकमिति भावः। सूर्योदयास्तमययोर्वाय्वधीनत्वात् तदभेदाभिप्रायेण प्राणाद्युक्तौ। ततोऽध्यात्माधिदैवावस्थाभेदेनोक्तस्य ध्येयभेदस्य निरासे 'यतश्चोदेति' इति श्लोकस्य न शक्तिरित्याह—श्लोकेति। असामर्थ्ये लिङ्गमाह—स यथेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है। पूर्वपक्षी द्वारा की गई शंकाका अनुवाद करके निराकरण करते हैं—"ननूक्तम्" इत्यादिसे। प्रधानभूत संवर्गगुणसे विशिष्ट वायु और प्राण ये दो धर्मी उपास्यरूपसे भिन्न होनेसे संवर्गगुणविशिष्ट उपास्यका भेद बतानेवाला [तौ वा एतौ संवर्गौ] यह जो वाक्य है, उसके साथ भेद होनेसे अनुपास्य वायुतत्त्वका भेद बतानेवाले [य प्राणः स वायु] इत्यादि वाक्य प्रयोगका ऐक्य प्राप्त नहीं कराते, ऐसा तात्पर्य है। सूर्यका उदय और अस्त वायुके अधीन होनेसे और प्राण वायुसे अभिन्न है इस अभिप्रायसे प्राणसे सूर्यका उदय और अस्त कहा गया है, इसलिए अध्यात्म और अधिदैव इस अवस्थाभेदसे कहे गये ध्येयभेदका निरसन करनेमें 'यतश्चोदेति सूर्यः' इस श्लोककी शक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"श्लोक" इत्यादिसे। असामर्थ्यमें लिंग कहते हैं—"स यथा" इत्यादिसे। श्लोकके उपन्यासके

भाष्य

वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः, न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १।५।२१) इति

भाष्यका अनुवाद

आदिका व्रत निवृत्त करके प्राणव्रतकी प्रतिपत्तिके लिए है, क्योंकि वाक् आदि भग्नव्रत कहे गये हैं 'तानि मृत्युः श्रमो०' (मृत्युने श्रमरूप होकर उन इन्द्रियोंका संग्रहण किया) ऐसी श्रुति होनेसे, परन्तु वह एवकार वायुव्रतकी निवृत्तिके लिए नहीं है, क्योंकि 'अथातो व्रतमीमांसा' (अब व्रतकी मीमांसा—उपासनाकर्मका विचार होता है) ऐसा उपक्रम करके वायु और प्राणका समानरूपसे अभग्न-

रत्नप्रभा

श्लोकोपन्यासवद् मतैक्योपन्यासोऽपि तत्त्वाभेदाभिप्रायेणेत्याह—एतेनेति। ननु एवकाराद् वायुव्रतनिवृत्तेः प्राण एवैको ध्येयो भातीत्यत आह—एकमेवेति। वदनदर्शनादीनि वाक्चक्षुरादीनां व्रतानि श्रमरूपमृत्युना भग्नानीत्युक्त्वा प्राणस्य अभग्नव्रतत्वं निर्धारितम्, तथा ज्वलनतापादीनि अग्न्यादित्यादीनां व्रतानि भग्नानीत्युक्त्वा वायोरभग्नव्रतत्वं निर्धारितम्। 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राणः स्थिरव्रतः एवमेतासां देवतानां वायुः म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १ । ५ । २२) इति श्रुतेः। अतो भग्नव्रतनिरासार्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान मतैक्यका उपन्यास भी तत्त्वाभेदके अभिप्रायसे है, ऐसा कहते हैं—"एतेन" इत्यादिसे। परन्तु 'एकमेव व्रतम्' इसमें एवकारसे ही वायुव्रतकी निवृत्ति होनेसे प्राण ही अकेला ध्येय है, ऐसा प्रतीत होता है, ऐसा कहते हैं—"एकमेव" इत्यादिसे। वाक्, चक्षु आदिके वदन, दर्शन आदि व्रत श्रमरूप मृत्युसे भग्न होते हैं, ऐसा कहकर प्राणका व्रत अभग्न है, ऐसा निर्धारण किया गया है, इसी प्रकार अग्नि, आदित्य आदिके ज्वलन, तापन आदि व्रत भग्न होते हैं, ऐसा कहकर वायुका व्रत अभग्न है, ऐसा निर्धारण किया है, क्योंकि 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः०' (जैसे अध्यात्म वाक् आदि प्राणोंमें वह मध्यम प्राण मृत्युसे आक्रान्त न होकर अपने कर्मसे प्रच्यावित नहीं होता और उसका प्राणव्रत अभग्न रहता है, वैसे इन अग्नि आदि देवताओंमें वायु भी है, क्योंकि अग्नि आदि अन्य देवता अध्यात्म वाक् आदिके समान अस्त होते हैं—अपने कर्मसे उपरत होते हैं, परन्तु वायु मध्यम प्राणके समान अस्त नहीं होता, इस कारणसे यह वायु अस्त न होनेवाला देवता है। इस प्रकार अध्यात्म अधिदैवका विचार करके प्राणका और वायुका व्रत अभग्न है, ऐसा निर्धारण किया है) ऐसी श्रुति है, अतः भग्नव्रतका निराकरण करनेके लिए एवकार है,

भाष्य

प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात् । 'एकमेव व्रतं चरेत्' (बृ० १।५।२३) इति चोक्त्वा तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इति वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन् वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति। देवतेति अत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मत्वस्य प्रेप्सितत्वात्, पुरस्तात् प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति। 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्'

भाष्यका अनुवाद

व्रतत्व है, ऐसा निर्धारण किया गया है। उसी प्रकार 'एकमेव व्रतं चरेत्' (एक ही व्रत करे) ऐसा कहकर 'तेनो एतस्यै देवतायै०' (उस व्रतसे इस प्राणदेवताके साथ एकात्मता और एकस्थानत्व प्राप्त करता है) यह श्रुति वायुप्राप्तिको फल कहती हुई वायुव्रत निवृत्त नहीं हुआ—ऐसा दिखलाती है। यहांपर देवता वायु ही है, क्योंकि अपरिच्छिन्नात्मकत्व अभीष्ट है और 'सैषाऽनस्तमिता०' (जो यह वायु है वह अस्त न होनेवाली देवता है) पीछे ऐसा प्रयोग किया गया है, अतः वायु देवता है। उसी प्रकार श्रुति 'तौ वा एतौ द्वौ' (ये दो संवर्ग हैं, देवताओंमें वायु ही संवर्ग है और वाक् आदि प्राणोंमें मुख्य प्राण संवर्ग है) इस प्रकार भेदसे व्यपदेश करती है, और 'ते वा एते पञ्चान्ये०' (जिनका प्राप्त होता है,

---

रत्नप्रभा

एवकारो न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः। अत्रैवाऽर्थे लिङ्गमाह—एकमिति। उकारः चार्थः। तेन व्रतेन वायोः सायुज्यम्—समानदेहत्वं सलोकतां च जयतीत्यर्थः। नन्वत्र वायुप्राप्तिर्न श्रुतेत्यत्राह—देवतेति। तस्मात् तत्त्वाभेददृष्ट्या व्रतैक्यमिति स्थितम्। सम्प्रति पूर्वोक्तं पृथगुपदेशं विवृणोति—तथा तौ वा इति। सौत्रं दृष्टान्तं

रत्नप्रभाका अनुवाद

वायुव्रतकी निवृत्ति करनेके लिए नहीं है, ऐसा अर्थ है। इसी अर्थमें लिंग कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। 'तेनो एतस्यै' इत्यादि। तेन+उ=तेनो, इसमें उकार चकारके अर्थमें है अर्थात् उकार समुच्चयार्थक है। इस व्रतसे वायुके सायुज्यको—समानदेहताको और सलोकता—समानलोकताको भी प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है। यदि कोई कहे कि यहांपर वायुकी प्राप्ति श्रुतिमें नहीं कही गई है, तो इसपर कहते हैं—"देवता" इत्यादिसे। इसलिए तत्त्वके अभेदकी दृष्टिसे व्रतकी एकता कही गई है, ऐसा सिद्ध हुआ। अब पूर्वोक्त पृथक् उपदेशका विवरण करते हैं—"तथा तौ वा" इत्यादिसे। सूत्रमें दिये गये दृष्टान्तका व्याख्यान करते हैं—

भाष्य

(छा० ४।३।८) इति च भेदेनैवोपसंहरति । तस्मात् पृथगेवोपगमनम् । प्रदानवत्—यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाऽधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ 'सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छंबट्कारम्' इति अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायाम्, राजादिगुण-

भाष्यका अनुवाद

ऐसे अग्नि आदि चार और उनका ग्रास करनेवाला वायु ये पांच वाक् आदिसे अन्य, और उनसे भिन्न जो पांच अध्यात्म, वाक् आदि चार और प्राण, वे सब दश होकर कृत हैं) इस प्रकार भेदसे ही उपसंहार करती है । इसलिए प्राण और वायुका पृथक् ही अनुचिन्तन करे । प्रदानके समान—जैसे 'इन्द्र राजाके लिए, इन्द्र अधिराजके लिए और इन्द्र स्वराजके लिए ग्यारह कपालवाला पुरोडाश इस तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें 'सब देवताओंको हवि प्राप्त करानेके लिए एक साथ ही पुरोडाशोंका अवदान करता है—इस वचनसे और इन्द्रका अभेद होनेसे सहप्रदानकी आशङ्का होनेपर राजा आदि (राजा, अधिराज, स्वराज) गुणभेदसे

रत्नप्रभा

व्याचष्टे—प्रदानवदिति । त्रयः पुरोडाशाः अस्याः सन्तीति—त्रिपुरोडाशिनी । इष्टिः, तस्यां किं सह प्रदानम्, उत भेदेनेति सन्देहे पूर्वपक्षमाह—सर्वेषामिति । सर्वेषां देवानामाभिमुख्येन प्रापयन् हविः अवद्यति गृह्णाति अच्छं वट्कारं वषट्काराख्यदेवभागमित्यर्थः । यद्वा, सर्वदेवार्थं युगपदवदानं कार्यमित्यत्र हेतुः—अच्छंवट्कारमिति । अव्यर्थत्वायेत्यर्थः । एकार्थम् अवत्ते हविषि शेषो यागानर्हतया वृथा स्यादिति भावः ।

एवं सहावदानश्रुतेर्देवैक्याच्च पुरोडाशानां सहप्रक्षेपे प्राप्ते पृथक्प्रक्षेप इति सिद्धान्तमाह—राजेति । राजाधिराजस्वराजगुणभेदेन विशिष्टदेवताभेदादित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रदानवत्" इत्यादिसे । तीन पुरोडाश हैं जिसमें, वह त्रिपुरोडाशिनी कहलाती है, उस तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें सहप्रदान इष्ट है या भेदसे प्रदान इष्ट है, ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"सर्वेषाम्" इत्यादिसे । सब देवताओंके अभिमुख प्राप्त कराते हुए हविष्का अवदान करता है अर्थात् वषट्कारनामक देवभागका ग्रहण करता है । अथवा सब देवताओंके लिए एक साथ ही अवदान करना चाहिए, इसपर हेतु है—अच्छ वट्कार, अर्थात् अव्यर्थताके लिए । एकके लिए प्रवृत्त किये गये—भाग किये गये हविमें शेष यागके अयोग्य होनेसे वृथा होगा, ऐसा आशय है इस प्रकार एक साथ अवदानकी श्रुति होनेसे और देवताके एक होनेसे

भाष्य

भेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात् प्रदानपृथक्त्वं भवति। एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः। तदुक्तं संकर्षे 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' (जै० सू०) इति। तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद् यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति। उपक्रमो-

भाष्यका अनुवाद

और याज्या और अनुवाक्याके व्यत्याससे विधान होनेसे लेखक्रमके अनुसार ही देवताके पृथक् होनेसे प्रदान पृथक् है। इसी प्रकार तत्त्वको यद्यपि (वायु और प्राणमें) अभेद है, तो भी उपास्य अंशके एक न होनेसे उपासना पृथक् है, ऐसा भाव है। सकर्षकाण्डमें कहा है—'नाना वा देवता०' (देवता भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनका पृथक् ज्ञान होता है)। वहांपर तो द्रव्य और देवताके भेदसे

रत्नप्रभा

किञ्चाऽध्वर्युणा 'यज' इति प्रैषे कृते होत्रा यो मन्त्रः पठ्यते, सा याज्या 'अनुब्रूहि' इति प्रैषानन्तरमन्त्रः पुरोऽनुवाक्येति भेदोऽस्ति। तत्राऽस्यामिष्टौ प्रथमपुरोडाशप्रदाने या क्लृप्ता याज्या सा द्वितीयप्रदाने पुरोऽनुवाक्या, या च पूर्वमनुवाक्या सा पश्चात् याज्येति 'व्यत्यासमन्वाह' इति श्रुत्या विधानात्, यथाश्रुति प्रक्षेपपृथक्त्वमित्याह—याज्येति। संकर्षः—देवताकाण्डम्। वाशब्दः अवधारणे। नानैव देवता राजादिगुणभेदेन भेदावगमादिति सूत्रार्थः। दृष्टान्ते देवताभेदात् कर्मभेदवद् विद्याभेदः स्यादित्यत आह—तत्र त्विति। कर्मोत्पत्तिवाक्यस्थदेवताभेदः कर्मभेद

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरोडाशका सहप्रक्षेप प्राप्त होनेपर पृथक् आक्षेप है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"राजा" इत्यादिसे। राजा, अधिराज और स्वराज्य विशेषणके भेदसे विशिष्ट देवताके भिन्न होनेसे, ऐसा अर्थ है। अध्वर्युके 'यज' (यज्ञ करो) ऐसी आज्ञा करनेपर होतासे जो मन्त्र पढ़ा जाता है वह याज्या है, 'अनुब्रूहि' इस आज्ञाके अनन्तरका मन्त्र पुरोऽनुवाक्या है, ऐसा भेद है। तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें प्रथम पुरोडाशके प्रदानमें जो याज्यारूपसे निर्णीत है वह द्वितीयप्रदानमें अनुवाक्या है और जो पूर्वमें अनुवाक्या है वह पीछे याज्या होती है, क्योंकि 'व्यत्यास०' (व्यत्याससे कहते हैं) ऐसा श्रुति विधान करती है, इसलिए श्रुतिके अनुसार पृथक् प्रक्षेप है, ऐसा कहते हैं—"याज्या" इत्यादिसे। संकर्ष—देवताकाण्ड। 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' इसमें वाशब्द अवधारणवाचक है। देवता पृथक् है, क्योंकि राजा आदि गुणोंके भेदसे भेद समझा जाता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है। जैसे दृष्टान्तमें देवताभेदसे कर्मका भेद है, वैसे विद्याभेद होगा, इसपर कहते हैं—" तत्र तु"

भाष्य

पसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः । विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात् प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकालभेदात् । इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ॥ ४३ ॥

भाष्यका अनुवाद

यागभेद है, यहांपर ऐसा विद्याभेद नहीं है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे अध्यात्म और अधिदैव उपदेशोंमें एक विद्याका विधान प्रतीत होता है। जैसे सायंकाल और प्रातःकालका भेद होनेसे अग्निहोत्रमें प्रवृत्तिका भेद है, वैसे ही विद्याके एक होनेपर भी अध्यात्म और अधिदैवभेदसे प्रवृत्तिका भेद है। इस अभिप्रायसे 'प्रदानके समान' ऐसा कहा है ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभा

हेतुः, इह तु 'अन्नादो भवति य एवं वेद' इत्युत्पत्तावेकत्वेन ज्ञातविद्यायाः पश्चात् श्रुतवायुप्राणभेदो न भेदकः, अग्निहोत्रस्येव दध्यादिद्रव्यभेद इत्यर्थः। तर्हि केनांशेन प्रदानस्य दृष्टान्तत्वमित्यत आह—विद्यैक्येऽपीति । अवस्थाभेदाद् देवताभेदः प्रयोगभेदश्चेत्यंशेनायं दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। कर्मोत्पत्तिवाक्यमें स्थित देवताभेद कर्मभेदमें हेतु होता है यहां तो 'अन्नादो भवति य एवं वेद' इस प्रकार उत्पत्तिमें एक ही है, ऐसा ज्ञात विद्याका पीछेसे श्रुतिद्वारा कथित वायुप्राणभेद भेदक नहीं होता, जैसे कि दधि आदि द्रव्यभेद अग्निहोत्रका भेदक नहीं होता है, ऐसा अर्थ है। तब किस अंशमें प्रदानदृष्टान्त होता है, इसपर कहते हैं—"विद्यैक्येऽपि" इत्यादिसे अवस्थाके भेदसे देवता और प्रयोगका भेद है, इस अंशमें दृष्टान्त है, ऐसा अर्थ है ॥ ४३ ॥



[२९ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण सू० ४४–५२]

कर्मशेषाः स्वतन्त्रा वा मनश्चित्प्रमुखाग्नयः ।
कर्मशेषाः प्रकरणाल्लिंग त्वन्यार्थदर्शनम् ॥१॥
उन्नेयविधिगाल्लिंगादेव श्रुत्या च वाक्यतः ।
बाध्यं प्रकरणं तस्मात् स्वतन्त्रं वह्निचिन्तनम्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—मनश्चित् प्रभृति जो अग्नियां हैं, वे कर्मशेष–कर्माङ्ग हैं या स्वतन्त्र हैं।

पूर्वपक्ष—प्रकरणके बलसे वे कर्माङ्ग ही हैं, और लिङ्ग प्रमाण तो अन्यार्थ दर्शनरूप है।

सिद्धान्त—उन्नेय—गृहीत विधिगत लिङ्गसे और श्रुतिसे एवं वाक्य प्रमाणसे प्रकरणका बाध होनेसे स्वतन्त्र ही उन वह्नियोंका चिन्तन है।

---

* भाव यह है कि अग्निरहस्यके किसी ब्राह्मणमें इस प्रकार श्रुति देखी जाती है—'षट्त्रिंशतसहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इति। इसका अर्थ है—शत वर्ष परिमित पुरुषकी आयुमें छत्तीस हजार दिन होते हैं, उसमें एक एक दिनमें जो मनोवृत्ति है, उसका एक एक अग्निरूपसे ध्यान किया जाय, तो छत्तीस हजार अग्नियां सम्पन्न होंगी। उन अग्नियोंका प्रत्यगात्मस्वरूपसे ध्यान करना चाहिए, उन्हींकी पूजा करनी चाहिए, मनसे सम्पन्न होते हैं, इसलिए उनको मनश्चित् कहते हैं, इसी प्रकार वाक्चित्, प्राणचित् और चक्षुश्चित्, इत्यादि। इन अग्नियोंका अग्निचयनके प्रकरणमें पाठ होनेसे ये कर्मशेष ही हैं, स्वतन्त्र विद्यात्मक नहीं हैं, यदि शङ्का हो कि लिङ्ग प्रमाणके प्रभावसे स्वतन्त्र विद्यात्मक हो सकेंगे क्योंकि 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इस प्रकार वाक्यशेषमें पढ़ा गया है, और इसका अर्थ है—सोये हुए उपासककी अग्नियां विच्छिन्न नहीं हुईं। स्वकीय मन, वाक् आदि वृत्तियोंका उपरम होनेपर भी बुद्ध पुरुषके मन, वाक् आदिकी वृत्तियां सर्वदा प्रवृत्त होती ही हैं, क्योंकि साधारणरूपसे पुरुषके मन आदिकी वृत्तियोंमें अग्नित्वका उपवर्णन है इससे—इस प्रकार जाननेवालेके सोनेपर भी अग्नियोंका सर्वदा सब भूत चयन करते हैं। यहाँ जीवनपर्य्यन्त अग्निके साथ विच्छेद नहीं होनेके कारण नैरन्तर्य प्रतीत होता है, और वह (उनकी) स्वतन्त्र विद्यामें लिङ्ग है। और वह प्रकरणसे बलवान् है, इसलिए अग्नियां स्वतन्त्र ही हैं यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यार्थ दर्शनरूप होनेसे यह लिङ्गप्रमाण दुर्बल है। लिङ्ग दो प्रकारका होता है—सामर्थ्यरूप और अन्यार्थदर्शनरूप। उसमें विधि देशगत जो लिङ्ग होता है, वह सामर्थ्य है, और वह स्वतन्त्र प्रमाण है, अर्थवादगत लिङ्ग तो अन्यशेषवाक्यमें दृश्यमान होनेसे अन्यार्थ दर्शन कहा जाता है, वह तात्पर्य्यरहित होनेके कारण स्वतन्त्रमें प्रमाण नहीं है, किन्तु प्रमेयके स्तावक अन्य प्रमाणमें केवल उपोद्बलक हो सकता है, इसलिए यहां उदाहृत लिङ्गके दुर्बल होनेसे प्रकरणप्रमाणसे मनश्चित् आदि कर्मशेष हैं।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—लिङ्गभूयस्त्वात्, तत्, हि, बलीयः, तद्, अपि।

पदार्थोक्ति—[वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये उक्ताः अग्नयः स्वतन्त्रा एव, कुतः ?] लिङ्गभूयस्त्वात्—'यत् किञ्चेमानि भूतानि' इत्यादिस्वातन्त्र्यप्रतिपादकानां लिङ्गानाम्—प्रमाणानां भूयस्त्वात्—आधिक्येन सत्त्वात्। तद्धि—लिङ्गप्रमाणं हि [प्रकरणापेक्षया] बलीयः—बलवत् तदपि—बलीयस्त्वमपि [पूर्वकाण्डे श्रुतिलिङ्गेत्यादिसूत्रे भगवता जैमिनिनोक्तम्, इति]।

भाषार्थ—वाजसनेयकके अग्निरहस्यमें अग्नियाँ स्वतन्त्ररूपसे ही कही गयी हैं, क्योंकि 'यत् किञ्चेमानि भूतानि' इत्यादि अनेक लिङ्ग रूप प्रमाण स्वतन्त्रताके प्रतिपादक हैं, और प्रकरणादिकी अपेक्षासे लिङ्ग प्रमाण बलवान् भी है, उसके बलवान् होनेमें 'श्रुतिलिङ्ग' इत्यादिसूत्र पूर्वकाण्डमें भगवान् जैमिनि द्वारा कहा गया है।

भाष्य

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन् ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याऽधीयते 'तत्पट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्का-

भाष्यका अनुवाद

वाजसनेयी अग्निरहस्यमें 'नैव वा इदमग्रे०' (उत्पत्तिके पूर्वमें यह सब न सत् ही था [और न असत् था]) इस ब्राह्मणमें मनका विषय करके 'तत् पट्त्रिंशत्सहस्रा०' (उस मनने अपने अर्चनीय मनोवृत्तिभावित

रत्नप्रभा

लिङ्गभूयस्त्वात्। उत्पत्तेः प्राग् 'इदं सर्वं नैव सदासीन्नाप्यसत्' इति उपक्रम्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"लिंगभूयस्त्वात्०" इत्यादि। उत्पत्तिके पूर्वमें यह सब दृश्यमान जगत् सत्स्वरूप भी नहीं

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यहाँ शब्दतः विधि उपलब्ध नहीं होती है, क्योंकि लिङ्, लोट् आदिका श्रवण नहीं है, किन्तु अर्थवादके सामर्थ्यसे विधिकी कल्पना करनी चाहिए, अतः फलके प्रतिपादक स्तावक वाक्योंका रात्रिसत्रन्यायसे अधिकारीके समर्पणमें पर्यवसान होनेसे यह ब्राह्मण विधिरूप होगा, इस कारणसे विध्युद्देशगत होनेसे लिङ्ग प्रबल है। किञ्च, 'ते हैते विद्याचित एव' इस श्रुतिसे कर्माङ्गत्वकी व्यावृत्ति होती है, जैसे विद्यया हैवेत एव विदश्चिता भवन्ति, इस प्रकारका बाध भी स्वातन्त्र्यका बोधक है। इससे श्रुति,लिङ्ग और वाक्यसे प्रकरणका बाध करके स्वतन्त्र विद्यात्मकत्व मनश्चिदादिको मानना चाहिए।

भाष्य

न्मनोमयान्मनश्चितः इत्यादि । तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादिकान् । तेषु

भाष्यका अनुवाद

होनेसे मनोमय मनश्चित् छत्तीस हजार अग्नियोंको देखा) इत्यादि कहते हैं । उसी प्रकार 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः' (वाक्से सम्पादित प्राणसे सम्पादित श्रोत्रसे सम्पादित कर्मसे सम्पादित अग्निसे सम्पादित अपनी अपनी वृत्तिरूप अग्नियोंको वाक्, प्राण आदिकोंने देखा) इस प्रकार भिन्न भिन्न साम्पादिक अग्नियोंको कहते हैं । उनमें

रत्नप्रभा

मनःसृष्टिमुक्त्वा 'तन्मन आत्मानमैक्षत' इतीक्षणपूर्वकम् 'अग्नीनपश्यद्' इति मनोऽधिकृत्य पठन्ति इत्यर्थः । पुरुषायुष्ट्वेन क्लृप्तशतवर्षान्तर्गतैः षट्त्रिंशत्सहस्रैरहोरात्रैरवच्छिन्नया मनोवृत्तीनामसङ्ख्येयानामपि षट्त्रिंशत्सहस्रत्वम् । ताभिरिष्टकात्वेन कल्पिताभिर्मनसैव सम्पादिता अग्नयः मनश्चितः तान् अर्कान् पूज्यान् मनोमयान् मनोवृत्तिषु सम्पादितान् आत्मनः स्वस्य सम्बन्धित्वेन मनोऽपश्यत्, तथा वाक्प्राणादयोऽपि स्वस्ववृत्तिरूपानग्नीनपश्यन्नित्याह—तथेति । प्राणः—घ्राणम् । कर्मेन्द्रियेण हस्तादिना चितः कर्मचितः । अग्निः—त्वक् । पूर्वत्राग्निचयनप्रकरणात् किमेतेऽग्नयः क्रत्वर्थाः, उत प्राधान्यज्ञापकलिङ्गादिभूयस्त्वात् पुरुषार्था वेति संशयमाह—तेष्विति । केवलविद्यात्मकाः क्रियाङ्गत्वं विना भावनामया इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

था और असत्रूप भी नहीं था, ऐसा उपक्रम करके मनकी सृष्टि कहकर उस मनने अपनेको देखा, इस प्रकार ईक्षणपूर्वक अग्नियोंको देखा, इस तरह मनके उद्देशसे पाठ करते हैं, ऐसा अर्थ है । पुरुषके आयुष्रूपसे कल्पित सौ वर्षके अन्तर्गत छत्तीस हजार दिन और रात्रिसे मनोवृत्तियां अवच्छिन्न हैं, यद्यपि वे असंख्य हैं, तो भी वे छत्तीस हजार ही कही गई हैं । और इष्टिकारूपसे कल्पित इन मनोवृत्तियों द्वारा मनसे सम्पादित अग्नियां मनश्चित् अग्नियां हैं, ऐसे पूज्य और मनोमय अर्थात् मनोवृत्तियोंमें सम्पादित अग्नियोंको देखा, ऐसा कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । प्राणचित—प्राणसे अर्थात् घ्राणेन्द्रियसे सम्पादित । कर्मचित—कर्मेन्द्रिय, हस्त आदिसे सम्पादित । अग्निचयन प्रकरण होनेसे ये अग्नियां क्रत्वर्थ हैं या प्राधान्येक ज्ञापक लिंगादिके आधिक्य होनेसे पुरुषार्थ हैं, ऐसा संशय कहते हैं—"तेषु" इत्यादिसे ।

भाष्य

संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति ।

तत्र प्रकरणात् क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत् प्रतिजानीते—लिङ्गभूयस्त्वादिति । भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन् ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति

भाष्यका अनुवाद

संशय होता है कि क्या मनसे सम्पादित अग्नि आदि क्रियामें अनुप्रवेश करनेवाले ये कर्मके अंगभूत हैं या स्वतन्त्र—केवल विद्यात्मक हैं ? यहांपर प्रकरणसे क्रियामें अनुप्रवेश प्राप्त होनेपर स्वातन्त्र्यकी प्रतिज्ञा करते हैं—बहुतसे लिंग होनेसे, क्योंकि इस ब्राह्मणमें बहुतसे लिंग 'ये अग्नियां केवल विद्यात्मक हैं' ऐसा समर्थन करते देखे जाते हैं—'तद्यत् किंचेमानि०' (उसमें ये भूत मनसे

रत्नप्रभा

एकप्रयोगासम्भवाद् वायुप्राणयोरपि प्रयोगभेदोऽस्तु, इह तु मनश्चिदाद्यग्नीनां प्रकरणात् कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगत्वमिति प्रापय्य सिद्धान्तमुपक्रमते—तत्रेत्यादिना । पूर्वपक्षे भावनाग्नीनां क्रत्वङ्गत्वमिष्टम्, तेषां क्रियाग्निना विकल्पः समुच्चयो वाऽस्तु, सिद्धान्ते पुरुषार्थत्वमिति फलम् । तत्—तत्र सर्वप्राणिमनोवृत्तिभिर्मम सदाग्नयश्चीयन्ते इति ध्यानदार्ढ्ये सति सर्वभूतानि यत्किञ्चित् मनसा सङ्कल्पयन्ति, तेषामेवाऽग्नीनां सा कृतिः—करणमित्येकं लिङ्गम्, क्रियाङ्गस्य यत्किञ्चित्करणेन सिद्ध्यदर्शनादित्याह—तद्यदिति । एवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि तदीयाग्नीन् भूतानि सर्वदा चिन्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवलविद्यात्मक—क्रियाके अङ्ग हुए विना भावनामय है, ऐसा अर्थ है । वायु और प्राणके एक प्रयोगका संभव न होनेसे उनका भिन्न प्रयोगसे ध्यान होता है, परन्तु यहां तो मनश्चित् आदि अग्नियां प्रकरणसे कर्मके अङ्ग हैं, अतः उनका एक प्रयोग युक्त है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त कराकर सिद्धान्तका उपक्रम करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें भावनामय अग्नियोंकी क्रत्वङ्गता इष्ट है, उनका क्रियाग्निके साथ विकल्प हो चाहे समुच्चय हो । सिद्धान्तमें उनकी पुरुषार्थता फल है । उसमें सब प्राणियोंकी मनोवृत्तिसे मेरी अग्नियाँ सर्वदा सम्पादित होती हैं, इस प्रकार ध्यानकी दृढ़ता होनेपर भी सब प्राणी जो कुछ मनसे संकल्प करते हैं वह उन्हीं अग्नियोंकी कृति अर्थात् करण है, यह एक लिंग है, क्योंकि क्रियाके अंगकी जिस किसी करणसे सिद्धि नहीं देखी जाती, ऐसा कहते हैं—"तद्यत्" इत्यादिसे । ऐसा जाननेवाला चाहे सोता हो चाहे जागता हो सब प्राणी सदा

भाष्य

तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद् बलीयः। तदप्युक्तं पूर्वस्मिन् काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३।) इति ॥ ४४ ॥

भाष्यका अनुवाद

जो कुछ संकल्प करते हैं वह उन अग्नियोंकी ही कृति—करण है) यह और 'तान् हैतानेवंविदे०' (ऐसी उपासना करनेवाला यद्यपि सोता हो या जागता हो तो भी उसके लिए सर्वदा सब भूत उन उन अग्नियोंका चयन करते हैं) इत्यादि । वे लिंग प्रकरणसे विशेष बलवान् हैं यह भी पूर्व काण्डमें कहा गया है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान०' (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्याके समवायमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्वसे दुर्बल है, अर्थका विप्रकर्ष होनेसे अर्थात् स्वार्थके बोध करनेमें परके पूर्व व्यवधानसे प्रवृत्त होनेसे) ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभा

न्तीति लिङ्गान्तरम्, क्रियाङ्गस्य चोदितकालानुष्ठेयस्य सदा सर्वैरनुष्ठीयमानत्वायोगादित्यर्थः । षट्त्रिंशत्सहस्रत्वसंख्यापि अनङ्गत्वे लिङ्गमेवंजातीयकपदेनोक्तम् ॥४४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसके लिए उसकी अग्नियोंका सम्पादन करते हैं यह अन्य लिंग है, क्योंकि क्रियाङ्ग जो चोदितकालमें अनुष्ठेय है, उसका सदा सबसे अनुष्ठान हो यह युक्त नहीं है, ऐसा अर्थ है। छत्तीस हजार संख्या भी अग्नियोंको क्रियाङ्ग न माननेमें लिंग है और वह लिंग 'एवं जातीयक' इस शब्दसे उक्त है ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत् ॥४५॥

पदच्छेद—पूर्वविकल्पः, प्रकरणात्, स्यात्, क्रिया, मानसवत् ।

पदार्थोक्ति—[संकल्पात्मका मनश्चिदादयोऽग्नयो न स्वतन्त्राः, अपि तु] प्रकरणात्—प्रकरणप्रामाण्यात्, पूर्वविकल्पः—पूर्वस्य—'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इति प्राक्तनस्य प्रकृतस्य क्रियामयस्याग्नेरयं विकल्पः—सङ्कल्पात्मकोऽग्निः क्रिया—क्रियामय एव स्यात् । तत्र दृष्टान्तमाह—मानसवत्—'मनोमदं गृह्णाति' इत्येवंरूपेण विश्रुतो यथा द्वादशाहे मानसग्रहो द्वादशाहान्तःपातिनो दशमस्याह्नोऽङ्गम्, तथेमेऽग्नयः प्रकृतकर्मणः शेषभूताः इत्यर्थः ।

भाषार्थ—संकल्पात्मक मनश्चिद् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं, परन्तु प्रकरणसे पूर्वमें प्रकृत क्रियामय अग्निका यह संकल्पात्मक अग्नि अङ्ग ही है। जैसे 'मनोग्रहं गृह्णाति' (मन मनोग्राह्य (सोमरस)का ग्रहण करता है) इत्यादि द्वादशाहमें (बारह दिनमें) सुना गया मानसग्रह बारह दिनके मध्यवर्ती दशम दिनका भी अङ्ग जैसे होता है, वैसे ही प्रकृत कर्मके अङ्गभूत ये अग्नियाँ हैं, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

नैतद् युक्तम्—स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति, पूर्वस्य क्रियामयस्याऽग्नेः प्रकरणात् तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः। सत्यमेवमेतत्। लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न

भाष्यका अनुवाद

ये अग्नियां स्वतन्त्र हैं अन्यके शेषभूत नहीं हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्व क्रियामय अग्निका ही प्रकरण होनेसे तद्विषयक ही इस विकल्पविशेषका उपदेश है, स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु प्रकरणसे लिंग अधिक बलवान् है। विध्युद्देशस्थलिंग प्रकरणसे बलवान् है यह कथन ठीक है।

रत्नप्रभा

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षति—पूर्वेति। पूर्वस्य 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इत्युक्तस्य 'स एव त्विष्टकाग्निः' इति सन्निहितस्य अयं विकल्पविशेषोपदेशः सङ्कल्पमयत्वाख्यप्रकारभेदोपदेशः, क्रियाग्निवत् साङ्कल्पिकाग्नयोऽप्यङ्गमिति यावत्। किं विधिवाक्यस्थं लिङ्गं प्रकरणाद् बलीयः अर्थवादस्थं वा। आद्यम् अङ्गीकरोति—सत्यमिति। न द्वितीय इत्याह—लिङ्गमिति। मानसाग्निविध्यर्थार्थवादस्थलिङ्गानां स्वार्थप्रापकमानाभावाद् दौर्बल्यमित्यर्थः। सूत्रस्थक्रियापदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त प्रकारसे सिद्धान्तका उपक्रम करके पूर्वपक्ष करते हैं—"पूर्व" इत्यादिसे। पूर्वमें 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' (ईंटोंसे अग्निका चयन करते हैं) इस प्रकार जो कहा गया है, और जो 'स एष त्विष्टकाग्निः' (यह तो ईंटकी अग्नि है) इस प्रकार सन्निहित है उसका यह विकल्पविशेषोपदेश है—संकल्पमयत्वनामका प्रकार भेदसे उपदेश है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रियाग्निके समान सांकल्पिक अग्नि भी यागका अङ्ग है। क्या विधिवाक्यगत लिङ्ग प्रकरणसे बलवान् है अथवा अर्थवादगत बलवान् है? प्रथम पक्षका स्वीकार करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"लिङ्गम्" इत्यादिसे। मानसाग्निविधिके अर्थवादगत लिङ्ग स्वार्थप्रापक प्रमाणके न होनेसे दुर्बल हैं,

भाष्य

प्रकरणाद् बलीयो भवति, अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चाऽसत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाऽप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात् सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात् क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः। मानसवत्, यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये

भाष्यका अनुवाद

परन्तु इस प्रकारका लिंग प्रकरणसे बलवान् नहीं होता, कारण कि, यह अन्यार्थदर्शन है, क्योंकि वह साम्पादिक अग्निका प्रशंसारूप है, और अन्यार्थदर्शन तो अन्यप्राप्ति न होनेपर गुणवादसे भी उपपन्न होता हुआ प्रकरणका बाध करनेमें समर्थ नहीं होता है। इसलिए साम्पादिक होती हुई भी ये अग्नियाँ प्रकरणसे क्रियामें अनुप्रवेश करनेवाली ही होंगी, मानसके समान। जैसे दशरात्र क्रतुके

रत्नप्रभा

व्याचष्टे—तस्मादिति। ननु अक्रियारूपाग्नीनां ध्यानमयानां कथं क्रियाङ्गत्वं तत्राह—मानसवदिति। द्वादशाहस्याऽद्यन्ताहर्द्वयं त्यक्त्वा मध्यस्थदशरात्रस्यैव द्विरात्रादिषु प्रकृतित्वम्, तद्धर्माणामेव तेषु अतिदेशात्, तस्य मध्यदिनानुष्ठेयस्य सद्योचैरनुष्ठीयमानत्वात्, दशरात्रस्य दशमेऽहन्यर्थादेकादशेऽहनि मानसग्रहः श्रूयते—"अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति" इति। अनया रसया पृथिव्या पात्रेण समुद्रं त्वा प्रजापतिदेवताकं मनोग्रहं गृह्यते इति—ग्रहः—सोमरसः, मनसा रसत्वेन भावितमध्वर्युर्गृह्णातीत्यर्थः। अत एवर्त्विजां ध्यायितया विविधवाक्योच्चारणाभावाद् अविवाक्यसंज्ञा—अह्नः प्राप्ता। ग्रहणं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। सूत्रस्थ क्रियापदकी व्याख्या करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। परन्तु क्रियास्वरूपसे रहित ध्यानमय अग्नियाँ क्रियाकी अङ्ग किस प्रकार हो सकती हैं? इसपर कहते हैं—"मानसवत्" इत्यादिसे। द्वादशाहके—बारह दिनमें होनेवाले सोमयागके आदि और अन्त दिनको छोड़कर मध्यके दशरात्र ही द्विरात्र आदिमें प्रकृति हैं उसके धर्मोंका ही उनमें अतिदेश होनेके कारण उस मध्यरात्रके दशम दिनमें अर्थात् ग्यारहवें दिनमें मानसग्रह सुना जाता है—"अनया त्वा०" इत्यादिसे। इसका यह अर्थ है—हे समुद्र! इस पृथ्वीरूपपात्रसे सोमरससे कल्पित जिसका प्रजापति देवता है ऐसे तुझको, अध्वर्यु ग्रहण करता है, इसलिए ऋत्विजोंका ध्यायीरूपसे (ध्यान करनेवालेके रूपसे) विविधवाक्यका उच्चारण न होनेके कारण अहःको अविवाक्यसंज्ञा प्राप्त होती है। ग्रहणशब्दका अर्थ है—सोमपात्रका ग्रहण—उपादान।

भाष्य

पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाऽऽम्नायन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात् क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥४५॥

भाष्यका अनुवाद

दसवें दिनमें अविवाक्यमें पृथ्वीरूपसे ग्रहण किये जानेवाले प्रजापति देवताके लिए समुद्ररूपी सोमके ग्रहण, आसादन, हवन, आहरण, उपह्वान और भक्षण मानस ही श्रुतिमें कहे जाते हैं । जैसे वह मानस ग्रहकल्प भी क्रियाप्रकरणसे क्रियाशेष ही है, इसी प्रकार यह अग्निकल्प भी है, ऐसा अर्थ है ॥ ४५ ॥

रत्नप्रभा

नाम सोमपात्रस्योपादानम् । गृहीतस्य स्वस्थाने स्थापनम्—आसादनम् । सोमस्य होमः—हवनम् । हुतशेषोपादानम्—आहरणम् । शेषभक्षणायर्त्विजां मिथोऽनुज्ञानकरणम्—उपह्वानम्, ततो भक्षणमित्येतानि मानसान्येवेत्यर्थः । स च मानसो ग्रहो द्वादशाहात् अहरन्तरं स्वतन्त्रमित्याशङ्क्य द्वादशाहसंज्ञाविरोधात् नाहरन्तरम्, किन्तु प्रकरणादविवाक्यस्याह्नोऽङ्गमिति सिद्धान्तमाह—स चेति । कल्पः—कल्पनाप्रकारः । केचित्तु अत्र भाष्ये दशरात्रशब्दो विकृतिपरः । तत्रापि दशमेऽहन्यविवाक्यसंज्ञके मानसग्रहस्याऽतिदेशप्राप्ततयाऽङ्गत्वादित्याहुः ॥४५॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गृहीतका उसके स्थानमें स्थापन, आसादन शब्दका अर्थ है । सोमका होम, हवन शब्दका अभिधेय है, हवन किये गयेका बचा हुआ भाग—आहरण है । शेषके भक्षणके लिए ऋत्विजोंका परस्पर अनुज्ञाकरण-सलाह करना—उपह्वान है । उसके बाद भक्षण, ये सब मानस ही हैं, ऐसा अर्थ है । और वह मानसग्रह द्वादशाह—सोमयागसे अन्य अह स्वतन्त्र है, इस प्रकार आशङ्का करके द्वादशाह संज्ञाके साथ विरोध होनेसे अहरन्तर नहीं है, किन्तु प्रकरणके बलसे अविवाक्य अहन्का अङ्ग है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"स च" इत्यादिसे । कल्प—कल्पनाका प्रकार । कोई लोग, इस भाष्यमें दशरात्रशब्द विकृतिपरक है, उसमें भी अविवाक्यसंज्ञक दशम दिनमें अतिदेशसे प्राप्त मानसग्रह अङ्ग है, इससे ऐसा कहते हैं ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—अतिदेशात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, अतिदेशात्—मानसिकाग्नीनां मध्ये 'एकोऽग्निस्तावान्' इत्यादिना पूर्ववर्तीष्टकाचिताग्निना साम्योपदेशात् [क्रियाशेषत्वमेवोक्ताग्नीनामित्यर्थः] ।

भाषार्थ—और 'एकोऽग्निस्तावान्' इत्यादिसे इष्टकाचित अग्निसे सादृश्यका उपदेश किया गया है, इससे भी उक्त अग्नियोंको क्रियाशेष ही मानना युक्त है, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः' इति । सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते । ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना सांपादिकानग्नीनतिदिशन् क्रियानुप्रवेशमेवैषां द्योतयति ॥ ४६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और 'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयो०' (छत्तीस हजार पूज्य अग्नियां हैं, उनमें से एक उतना ही है, जितना कि पूर्व अग्नि है) इस तरह इन अग्नियोंका अतिदेश क्रियानुप्रवेशकी पुष्टि करता है, क्योंकि सादृश्य होनेपर ही अतिदेश प्रवृत्त होता है । इसलिए पूर्व, ईंटोंसे चित क्रियानुप्रवेशी अग्निसे साम्पादिक अग्नियोंका अतिदेश करनेवाली श्रुति इनका क्रियानुप्रवेश सूचित करती है ॥ ४६ ॥

रत्नप्रभा

मनश्चिदादीनां क्रियाङ्गत्वे प्रकरणमुक्त्वा लिङ्गमाह—अतिदेशश्चेति । क्रियाङ्गत्वसादृश्यादतिदेश इत्यर्थः ॥४६॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मनश्चित आदि क्रियाके अङ्ग हैं, उसमें प्रकरणको कहकर लिङ्ग प्रमाण कहते हैं—"अतिदेशाच्च" इत्यादिसे क्रियाङ्गत्वके सादृश्यसे अतिदेश है, ऐसा अर्थ है ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

पदच्छेद—विद्या, एव, तु, निर्धारणात् ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दः पूर्वोक्तसूत्रद्वयाशङ्कितशङ्कानिरासार्थकः । विद्या—विद्यात्मका [एते मनश्चिदाद्यग्नयः स्वतन्त्राः] एव [कुतः ?] निर्धारणात्—'ते हैते विद्याचितः एव' इत्यादिनाऽवधारणात् ।

भाषार्थ—विद्यास्वरूप मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र ही हैं, क्योंकि 'ते हैते विद्याचितः एव' (वे मनश्चिदादि अग्नियाँ विद्यात्मक ही हैं) इस प्रकार अवधारण किया गया है ।

भाष्य

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः । तथा हि निर्धारयति–'ते हैते विद्याचित एव' इति, 'विद्यया हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ति' इति च ॥ ४७ ॥

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है । विद्यात्मक ये मनश्चित् आदि अग्नियां स्वतन्त्र ही हैं, क्रियाकी अंगभूत नहीं हैं, क्योंकि 'ते हैते विद्याचित एव' (वे ये विद्याचित ही हैं) ऐसा और 'विद्यया हैवैते०' (इस प्रकार उपासकके लिए विद्यासे ही वे अग्नियां सम्पादित होती हैं) ऐसा निर्धारण है ॥ ४७ ॥

रत्नप्रभा

सिद्धान्तमाह—विद्येति ॥४७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त कहते हैं—"विद्या" इत्यादिसे ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्—च ।

पदार्थोक्ति—दर्शनात्—मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्यबोधकस्य लिङ्गस्य प्रागुक्तस्य विलोकनात् च—अपि [ते स्वतन्त्रा एव इत्यर्थः] ।

भावार्थ—मनश्चिद् आदिके स्वातन्त्र्यका बोधक पूर्वोक्त लिङ्ग दृष्ट है, अतः वे अग्नियां स्वतन्त्र ही है, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम्, तत् पुरस्ताद्दर्शितम् 'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र ॥ ४८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इन अग्नियोंके स्वातन्त्र्यमें लिंग दीखता है, वह 'लिंग भूयस्त्वात्' इस सूत्रमें दिखलाया गया है ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभा

श्रुतिलिंगवाक्यैः प्रकरणं बाध्यमिति सूत्रत्रयार्थः ॥४८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुति, लिङ्ग और वाक्यसे प्रकरणका बाध होता है, ऐसा तीनों सूत्रोंका अर्थ है ॥ ४८ ॥

भाष्य

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्प्रकरणसामर्थ्यात् क्रियाशेषत्वमध्यवसितमिति, अत उत्तरं पठति--

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अन्यप्राप्ति न होनेपर लिंग भी अर्थका साधक नहीं होता है, ऐसा मानकर लिंगका त्याग करके प्रकरणके सामर्थ्यसे मनश्चित् अग्नि क्रियाका शेष है, ऐसा निश्चय किया गया है, इससे उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

पदच्छेद—श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्, च, न, बाधः ।

पदार्थोक्ति— [श्रुत्यादीत्यत्रादिना लिङ्गवाक्ययोरुपग्रहः, तथा च] श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्—श्रुत्यादीनाम्—श्रुतिलिङ्गवाक्यानाम्—बलीयस्त्वात्—अधिकबलशालित्वात् च —अपि न बाधः—न बलहीनेन कर्मप्रकरणेन मन आदीनां स्वातन्त्र्यबाधः [इति भावः] ।

भावार्थ—श्रुत्यादि इसमें जो आदिशब्द है, उससे लिङ्ग और प्रकरणका ग्रहण करना चाहिए, एवञ्च श्रुति, लिङ्ग और वाक्यका अधिक बल होनेसे दुर्बल कर्मप्रकरणसे मन आदिके स्वातन्त्र्यका बाध नहीं होता है, ऐसा भाव है ।

भाष्य

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात् क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः, श्रुत्यादेर्बलीयस्त्वात् । बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे । तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते । कथम् ? श्रुतिस्तावत् 'ते हैते विद्याचित एव' इति । तथा लिङ्गम् 'सर्वदा

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार प्रकरणके सामर्थ्यसे मनश्चित् आदि अग्नियां क्रियाशेष हैं, ऐसा निश्चय करके स्वातन्त्र्यपक्षका बाध करना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति आदि विशेष बलवान् हैं, क्योंकि 'श्रुतिलिङ्ग' इत्यादि सूत्रमें प्रकरणसे श्रुति, लिंग और वाक्य विशेष बलवान् हैं, ऐसा सिद्ध किया गया है और वे श्रुति आदि प्रमाण यहां स्वातन्त्र्य पक्षके साधक दीखते हैं । किस प्रकार ? प्रथम 'ते हैते विद्याचित एव' (वे ये अग्नियां विद्याचित ही हैं) यह श्रुति है । 'सर्वदा सर्वाणि भूतानि०'

भाष्य

सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति । तथा वाक्यमपि 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति । 'विद्याचित एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात् । नन्वबाह्य-साधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति । नेत्युच्यते । तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्, स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनमिति । अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत् क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति । तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शन-

भाष्यका अनुवाद

(सर्वदा सब प्राणी चाहे वह जागता हो चाहे सोता हो उसके लिए इन अग्नियोंका चयन करते हैं) यह लिंग है । 'विद्यया हैवैते०' (विद्यासे ही ये अग्नियाँ ऐसा जाननेवालेके लिए संघटित होती हैं) यह वाक्य भी है । 'विद्याचित एव' (विद्यासे संपादित हुई ही) ऐसी यह अवधारणसहित श्रुति, यदि इन अग्नियोंके क्रियानुप्रवेशका स्वीकार किया जाय, तो बाधित हो जायगी। परन्तु इस अवधारण-का अभिप्राय बाह्यसाधनका अभाव दिखलाना होगा। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि यदि ऐसा उसका अभिप्राय हो, तो 'विद्याचितः' (विद्यासे सम्पादित हुई) इतने स्वरूप संकीर्तनसे ही उसका अबाह्यसाधनत्व सिद्ध होनेसे 'एव' यह अवधारण अनर्थक हो जायगा, क्योंकि बाह्य साधनका अभाव इन अग्नियोंका स्वरूप ही है। परन्तु उन मनश्चित् आदि अग्नियोंके बाह्य साधनका अभाव होनेपर भी मानसग्रहके समान क्रियानुप्रवेशकी शंका होनेपर उसकी निवृत्ति करनेसे, यह अवधारण सार्थक होगा। इसी प्रकार 'स्वपते जाग्रते०'

रत्नप्रभा

तत्रावधारणश्रुतेरन्यथासिद्धिं शङ्कते—नन्वबाह्येति । विद्याचित इति पदे-नेवाऽबाह्यसाधनत्वस्य लब्धत्वादवधारणं व्यर्थम् इत्याह—नेति । तर्हि कथमस्या-र्थवत्त्वं तत्राह—अबाह्येति । लिङ्गं व्यनक्ति—तथेति । अग्नीनां सर्वकालव्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसमें अवधारण श्रुति अन्यथासिद्ध है, ऐसी शङ्का करते हैं—"नन्वबाह्य" इत्यादिसे । 'विद्याचित' इस पदसे ही बाह्य—अन्य साधनका अभाव प्राप्त होनेसे यह अवधारण व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं-"न" इत्यादिसे । तो इस अवधारणका प्रयोजन है, यह किस प्रकार सिद्ध होगा? इसपर कहते हैं—"अबाह्य" इत्यादिसे । लिंगको अभिव्यक्त करते—"तथा" इत्यादिसे । सर्वकालव्यापी

भाष्य

मेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते । यथा सांपादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति—वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति चोक्त्वोच्यते 'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौषी० २।५) इति, तद्वत् । क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याऽल्पकालत्वेन न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत । न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम् । यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङादिरुपलभ्यते, युक्तं तत्र संकीर्तनमात्रस्याऽर्थवादत्वम् । इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः सङ्कीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्पनीयम्, तच्च यथा सङ्कीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव

भाष्यका अनुवाद

ऐसा जाननेवाला चाहे जागता हो चाहे सोता हो, उसके लिए सर्वदा सब भूत इन अग्नियोंका सम्पादन करते हैं) यह सातत्य दर्शन इन अग्नियोंके स्वातन्त्र्यसे ही घटता है । जैसे साम्पादिक, वाक् प्राणमय अग्निहोत्रमें 'प्राणं तदा वाचि' (तब—ध्यानकालमें प्राणका वाणीमें होम करता है और तब—ध्यानकालमें वाणीका प्राणमें होम करता है) ऐसा कहकर 'एते अनन्ते अमृते आहुती०' (इन अनन्त अमृत-आहुतियोंका वह जागते या सोते सदा होम करता है) ऐसा कहा जाता है, इसीके समान इनका क्रियाङ्गत्व नहीं है । क्रियानुप्रवेशमें तो क्रियाके प्रयोगकी अल्पकालता होनेसे इन अग्नियोंका सतत प्रयोग न हो सकेगा । और यह अर्थवादमात्र है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जहांपर विधान करनेवाले लिङ्, लोट् आदि स्वरूपसे उपलब्ध होते हैं वहांपर संकीर्त्तनमात्रका अर्थवाद होना युक्त है। यहां तो स्पष्टरूपसे अन्य विधिकी उपलब्धि न होनेसे संकीर्त्तनसे ही इनके विज्ञानके विधानकी कल्पना करनी चाहिए और उसकी संकीर्त्तनके अनुसार ही कल्पना की जा सकती है, अतः सातत्यक्रियाका दर्शन होनेसे वैसी ही

रत्नप्रभा

पित्वेनाऽनङ्गत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । तदा—ध्यानकाल इत्यर्थः । होमे यथा सातत्यमुच्यते, तद्वदग्नीनां सातत्यदर्शनमित्यन्वयः । यदुक्तमर्थवादस्थत्वात् लिङ्गं दुर्बलमिति, तन्न, सर्वदा सर्वभूतानि मदर्थमग्नीन् चिन्वन्तीति ध्यायेदित्यपूर्वार्थ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेके कारण अग्नि अङ्ग नहीं है, उसमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे । तदा—ध्यानकालमें, ऐसा अर्थ है । जैसे होममें सातत्यकी—नैरन्तर्यकी उक्ति है, वैसे अग्नियोंमें भी सातत्यदर्शन है, ऐसा अन्वय है । और यह जो कहा गया है कि अर्थवादगत होनेके कारण लिङ्ग दुर्बल है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि सब भूत मेरे लिए सदा अग्नियोंको एकत्रित करते हैं,

भाष्य

कल्प्यते। ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः। एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि 'एवंविदे' इति पुरुषविशेषसम्बन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसम्बन्धं मृष्यते। तस्मात् स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥ ४९ ॥

भाष्यका अनुवाद

कल्पना की जाती है। इसलिए सामर्थ्यसे ये अग्नियां स्वतन्त्र हैं, ऐसा सिद्ध होता है, इस नयसे 'तद्यत्किंचेमानि०' (ये भूत मनसे जो कुछ संकल्प करते हैं वह उन अग्नियोंकी ही कृति है) इत्यादिका व्याख्यान हुआ। उसी प्रकार वाक्य भी 'एवंविदे' (ऐसा जाननेवालेके लिए) इन अग्नियोंका पुरुषार्थविशेषके साथ सम्बन्ध कहता हुआ, क्रतुके साथ इनके सम्बन्धका सहन नहीं करता है। इसलिए स्वातन्त्र्यपक्ष ही अधिक श्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

रत्नप्रभा

तया विधिकल्पनात्। तथा विधिवाक्यस्थत्वात् लिङ्गं प्रकरणात् बलवत् इत्याह—न चेदमित्यादिना। एतेनेति—विधित्वेनेत्यर्थः। वाक्यं विवृणोति—तथेति ॥४९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार ध्यान करे, इस प्रकार अपूर्व अर्थका प्रतिपादन होनेसे विधिकी कल्पना की जाती है। इसी प्रकार विधिवाक्यगत लिङ्ग भी प्रकरणसे बलवान् है, ऐसा कहते हैं—"न चेदम्" इत्यादिसे। 'एतेन'—विधिसे, ऐसा अर्थ है। वाक्यका विवरण करते हैं— "तथा" इत्यादिसे ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

पदच्छेद—अनुबन्धादिभ्यः, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्, दृष्टः, च, तत्, उक्तम्।

पदार्थोक्ति—[अनुबन्धादिभ्यः, इत्यत्रादिना अतिदेशो गृह्यते, बहुवचनोपपत्तिश्च प्राक्तनसूत्रोक्तश्रुत्यादीनादाय बोध्या, अनुबन्धः 'ते मनसैवाधीयन्त' इत्यादिना मनआदिवृत्तिषु कर्माङ्गत्वसम्पादनम्, तथा च] अनुबन्धादिभ्यः—अनुबन्धादिहेतुभ्यः [मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्यम्, तत्र दृष्टान्तः]—प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्—यथा प्रज्ञान्तराणाम्—शाण्डिल्यादिविद्यानाम् पृथक्त्वम्—स्वातन्त्र्यम्, तद्वत्, [ननु मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये प्रकरणादुत्कर्षे को दृष्टान्तः ? इत्यत आह]—दृष्टश्च—राजसूयं प्रस्तुत्य श्रुताया अवेष्टेर्ब्राह्मणादिकर्तृकाया राजमात्रकर्तृकराजसूयप्रकरणादुत्कर्षो दृष्टः, तद्वदिहापि [अग्नीनां कर्मप्रकरणादुत्कर्ष इति] तदुक्तम्—तद्धि प्रथमे काण्डे 'क्रत्वर्थायामिति' इत्यादिनोक्तम्।

भाषार्थ—अनुबन्धादिमें आदि शब्दसे अतिदेशका ग्रहण करना चाहिए और श्रुति आदि जो पूर्वमें कहे गये हैं उनको लेकर प्रकृतमें बहुवचनकी उपपत्ति करनी चाहिए। अनुबन्ध—'ते मनसैवाधीयन्त' इत्यादिसे मन आदि वृत्तियोंमें कर्माङ्गत्वका सम्पादन। एवञ्च अनुबन्धादिभ्यः—अनुबन्ध आदि हेतुओंसे, मनश्चित् आदि स्वतन्त्र हैं, जैसे शाण्डिल्य आदि अन्य विद्याएँ स्वतन्त्र हैं, मनश्चित् आदिके स्वतन्त्र होनेपर कर्मप्रकरणसे उन्हें अलग करनेमें क्या दृष्टान्त है? इसपर कहते हैं—दृष्टश्च—राजसूयका प्रस्ताव करके श्रुत ब्राह्मण आदिसे की जानेवाली अवेष्टिका केवल राजासे किये जानेवाले राजसूय यागसे उत्कर्ष जैसे देखा गया है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए, यही बात क्रत्वर्थायामिति' इत्यादि सूत्रमें पूर्वकाण्डमें कही गई है।

भाष्य

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्, यत्क्रियावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबध्नाति 'ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी प्रकरणका उपमर्दन करके मनश्चित् आदि अग्नियोंका स्वातन्त्र्य समझना चाहिए, क्योंकि श्रुति क्रियाके अवयवोंको मन आदिके व्यापारोंमें सम्बद्ध करती है—'ते मनसैवाधीयन्त०' (उन अग्नियोंका मनसे ही आधान करे, मनसे चयन करना चाहिए, मनसे ईंटे रक्खी जाती हैं, मनसे ही उद्गाता आदि ऋत्विक् उनका स्तवन करते हैं, मनसे ही होता कहते हैं और यज्ञोंमें जो कोई कर्म—पुरुषार्थ किया जाता है और यज्ञके योग्य जो कर्म किया जाता है वह सब मनसे ही किया जाता है, उससे वह मनोमय मनश्चित् अग्नियोंमें

रत्नप्रभा

सम्पदुपास्त्यै मनोवृत्तिषु क्रियाङ्गानां योजनम्—अनुबन्धः श्रुत्या क्रियते, तदन्यथानुपपत्त्याऽप्यग्नीनां पुरुषार्थत्वम्, क्रत्वर्थत्वेऽङ्गानां सिद्धत्वेन सम्पादनानुपपत्तेरित्याह—इतश्चेत्यादिना। ते अग्नयः आधीयन्त—तेषामाधानं मनसैव

रत्नप्रभाका अनुवाद

सम्पत् उपासनाके लिए क्रियाके अङ्गोंका मनोवृत्तिओंमें—योजन अनुबन्ध श्रुतिसे किया जाता है, इसकी अन्यथानुपपत्ति न हो इसलिए भी अग्नियाँ पुरुषार्थ हैं, क्योंकि क्रत्वर्थ माननेपर अङ्गोंके सिद्ध होनेसे सम्पादनकी अनुपपत्ति होगी, ऐसा कहते हैं—"इतश्च" इत्यादिसे। ते—अग्नियाँ आधीयन्त—उनका मनसे ही आधान करे, ऐसा अर्थ है, क्योंकि वेदमें कालविशेषका कोई

भाष्य

क्रियते' इत्यादिना। संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः, न च प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः सम्पदा लिप्सितव्याः। न चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्गसम्बन्धात्त-दनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैरूप्यात्। नह्यत्र क्रियाङ्गं किञ्चिदादाय तस्मिन्नदो नामाऽध्यवसितव्यमिति वदति। षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्ति-भेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत्। संख्या चेयं

भाष्यका अनुवाद

मनोमय ही किया जाता है) इत्यादिसे। क्योंकि यह अनुबन्ध सम्पत् फल है (तत्-तत् अवयवोंका सम्पादन इस अनुबन्धका फल है और क्रियावयवोंके प्रत्यक्ष होनेपर उनका सम्पत्तिसे—संकल्पसे प्राप्त करनेकी इच्छा करना उचित नहीं है। और यहांपर उद्गीथादि उपासनाके समान क्रियाके अंगके साथ संबन्ध होनेसे क्रियानुप्रवेशित्व है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुतियां विरूप हैं—असमान हैं, क्योंकि यहां किसी क्रियाङ्गको लेकर उसमें इसका अध्यवसाय करना चाहिए, ऐसा श्रुति नहीं कहती। परन्तु छत्तीस हजार मनो-

रत्नप्रभा

कुर्यादित्यर्थः। कालस्य छन्दस्यनियमात् अचीयन्त—इष्टका चेतव्या इत्यर्थः। ग्रहाः—पात्राणि, अस्तुवन्—उद्गातारः स्तुवन्ति, अशंसन्—होतारः शंसन्ति, किं बहूक्त्या यत्किञ्चित् यज्ञे कर्म—आरादुपकारकं यज्ञीयं यज्ञस्वरूपोत्पादकञ्च तत् सर्वं मनोमयं कुर्यादिति श्रुत्यर्थः। वृत्तिष्वग्निध्यानस्य क्रियानङ्गत्वेऽ-प्युद्गीथध्यानवत्क्रियाङ्गाश्रितत्वं स्यात्, नेत्याह—न चात्रोद्गीथेति। अङ्गावबद्धश्रुतितोऽस्याः श्रुतेः वैरूप्यं स्फुटयति—नहीति। अनङ्गवृत्तिषु साङ्ग-क्रतुसम्पादनं पुरुषस्य यज्ञत्वध्यानवत् स्वतन्त्रमित्यर्थः। अनादरार्थोऽतिदेशो न

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियम नहीं है। अचीयन्त—ईंटोंका चयन करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। ग्रह—पात्र, अस्तु-वन्—उद्गाता लोग स्तुति करते हैं। अशंसन्—होता लोग शंसन करते हैं। अधिक क्या कहें साक्षात् या परम्परासे उपकारक यज्ञ सम्बन्धी या यज्ञ स्वरूपका उत्पादक जो कोई कर्म हो उस सबको मनोमय करे ऐसा श्रुतिका अर्थ है। यद्यपि वृत्तियोंमें अग्निका ध्यान क्रियाका अङ्ग नहीं है, तथापि वह उद्गीथ ध्यानके समान क्रियाङ्गाश्रित होगा? नहीं, ऐसा कहते हैं—"न चात्रोद्गीथ" इत्यादिसे। अङ्गाश्रित श्रुतिसे इस श्रुतिका पृथक्त्व स्फुट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे अनंग वृत्तियोंमें साङ्ग क्रतुका सम्पादन पुरुषमें यज्ञत्वके ध्यानके समान स्वतन्त्र है, ऐसा अर्थ है। अतिदेश

भाष्य

पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्सम्बन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम्। एवमनुबन्धात् स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासम्भवं योजयितव्यम्। तथा हि—'तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्याऽतिदिशत् क्रियायामनादरं दर्शयति। न च सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाऽऽहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तरे उपकर्तुं शक्नुवन्ति। यत्तु—पूर्वपक्षेऽ-

भाष्यका अनुवाद

वृत्तिके भेदका ग्रहण उनमें अग्नित्व और ग्रह आदिकी कल्पना करती है, पुरुष यज्ञके समान। और छत्तीस हजार यह संख्या पुरुषके आयुष्यके दिनोंमें प्रत्यक्ष अनुभूत होती हुई उसके सम्बन्धी मनोवृत्तियोंमें उसका आरोप किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार अनुबन्धसे मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं। सूत्रस्थ आदि शब्दसे अतिदेश आदिकी यथासम्भव योजना करनी चाहिए। जैसे कि 'तेषामेकैक एव०' (उन अग्नियोंमेंसे एक एक उतना है, जितनी कि यह पूर्व अग्नि है) ऐसे क्रियामय अग्निके माहात्म्यका ज्ञानमय अग्निमेंसे एक एकमें अतिदेश करके क्रियामें अनादर दिखलाती है, इसी प्रकार क्रियासम्बन्धके होनेपर ही उत्तर अग्नियोंका (सांपादिक अग्नियोंका) पूर्व अग्निके साथ विकल्प है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस आहवनीय हविष्के धारण आदि व्यापारसे पूर्व अग्नि क्रियामें उपकारक होती है, उस व्यापारसे उत्तर अग्नियाँ उपकारक नहीं हो सकती हैं।

रत्नप्रभा

भवति, किन्तु विकल्पार्थ इत्यत आह—न चेति। एकस्मिन् साध्ये निरपेक्षसाधनयोर्विकल्पो भवति, यथा व्रीहियवयोः, अत्र तु क्रियाग्नेर्ध्यानाग्नीनां साध्यभेदात् न विकल्प इत्यर्थः। अत एव समुच्चयोऽपि निरस्तः। यदुक्तं क्रियाङ्गत्वसामान्येनाऽतिदेश इति, तन्नेत्याह—यत्तु इति। सूत्रे बहुवचनार्थमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदरके अभावके लिए नहीं होता है, किन्तु विकल्पके लिए होता है, इसपर कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। साध्यवस्तुके एक होनेपर निरपेक्ष साधनोंका विकल्प हो सकता है, जैसे व्रीहि और यवका होता है, यहाँ तो क्रियाग्नि और ध्यानाग्निका भिन्न साध्य होनेसे विकल्प नहीं है, ऐसा अर्थ है। इसीसे समुच्चयका भी निरास हुआ समझना चाहिए। और यह जो कहा है कि

भाष्य

प्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तेत इति, तदस्मत्पक्षेऽप्यग्नित्वसामान्येनाऽतिदेशसम्भवात् प्रत्युक्तम्। अस्ति हि सांपादिकानामप्यग्नीनामग्नित्वमिति। श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि। एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति। दृष्टश्चावेष्टेः राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राज-

भाष्यका अनुवाद

सामान्य—सादृश्य यदि हो, तो अतिदेश (क्रियानुप्रवेशका) पोषक है, ऐसा जो कहा गया है, उसका तो हमारे पक्षमें भी अग्नित्वरूप सामान्यसे अतिदेशका संभव होनेसे निराकरण हुआ, क्योंकि सांपादिक अग्नियोंमें भी अग्नित्व है। श्रुति आदि भी कारणरूपसे दिखलाये गये हैं। इस प्रकार अनुबन्ध आदि कारणोंसे मनश्चित् आदि अग्नियां स्वतन्त्र हैं, अन्य प्रज्ञाओंकी स्वतन्त्रताके समान। जैसे अपने अपने अनुबन्धसे सम्बद्ध हुई शाण्डिल्यविद्या आदि प्रज्ञाएँ कर्म और अन्य प्रज्ञाओंसे पृथक्—स्वतन्त्र ही हैं, इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। राजसूयप्रकरणमें पढ़ी हुई अवेष्टिनामक इष्टिका प्रकरणसे उत्कर्ष देखनेमें आता है, क्योंकि तीनों वर्णोंके साथ इसका

रत्नप्रभा

श्रुत्यादीनि चेति। अनुबन्धातिदेशश्रुतिलिङ्गवाक्येभ्य इत्यर्थः। एवमिति। अर्थ इति शेषः। मनश्चिदादीनां स्वातन्त्र्ये क्रियाप्रकरणादुत्कर्षः स्यादित्याशङ्क्य स इष्ट इत्याह—दृष्टश्चेति। एकादशे चिन्तितम् (जै० न्यायमाला २।३।२) 'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इति प्रकृत्य अवेष्टिनाम काचिदिष्टिराम्नाता—'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' 'वैश्वदेवं चरुं पिशङ्गी पष्ठौही

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्रियाङ्गत्वके सामान्य होनेसे अतिदेश है, यह भी नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"श्रुत्यादीनि च" इत्यादिसे। अनुबन्ध अतिदेश, श्रुति, लिङ्ग और वाक्यसे, ऐसा अर्थ है। "एवम्" इत्यादि। अर्थशब्दका अध्याहार करना चाहिए। मनश्चित् आदिको यदि स्वतन्त्र माना जायगा, तो क्रिया-प्रकरणसे उत्कर्ष होगा, इस प्रकार आशङ्का करके वह इष्ट है, ऐसा कहते हैं—"दृष्टश्च" इत्यादिसे। पूर्व काण्डमें ग्यारहवें अध्यायमें विचार किया गया है 'राजा स्वराज्यकामो०' (स्वर्गके राजा होनेकी इच्छा करनेवाला राजसूय याग करे) इसका उपक्रम करके

रत्नप्रभा

दक्षिणा' 'मैत्रावरुणीमामिक्षां वशा दक्षिणा' 'बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा' 'ऐन्द्रमेकादशकपालमृषभो दक्षिणा' इति। तस्यां वर्णभेदेन प्रयोगभेदः श्रूयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिं हुत्वाभिघारयेत्'। 'यदि वैश्यो वैश्वदेवं चरुं निधाय मध्ये निदध्यात् 'यदि राजन्यस्तदैन्द्रम्' इति आग्नेयैन्द्रपुरोडाशयोर्मध्ये बार्हस्पत्यं चरुं निधाय निर्वपेदित्यर्थः। तत्राग्नेयादिचरुषु अङ्गानां तन्त्रेण प्रयोगो भाति मध्ये निधानलिङ्गात् प्रयोगभेदे मध्ये निधानायोगात्, 'एतयान्नाद्यकामं याजयेद्' इत्येकवचनाच्च। स च तन्त्रप्रयोगो राजसूयक्रतुबाह्यायामन्नाद्यकामवर्णत्रयकर्तृकायामेवाऽवेष्टौ ज्ञेयः, न तु क्रत्वन्तर्गतायाम्। ननु किमत्र नियामकं क्रत्वर्थायामप्यवेष्टौ तन्त्रप्रयोगः किं न स्यादिति चेत्, न, वर्णत्रयसंयुक्तायां काम्यायामेव अङ्गतन्त्रैक्यसाधकस्य मध्ये निधानादिलिङ्गस्य सत्त्वात्। अतो लिङ्गैकवचनाभ्यां तन्त्रैक्ये सति हिरण्यादिका मिलित्वैकैव दक्षिणा देया, अन्यथा प्रयोगैक्यायोगात्। राजमात्रकर्तृकक्रत्वन्तर्गतेष्टौ तु वर्णत्रयसंयोगाभावात् मध्ये निधानादिलिङ्गं नास्ति, ततश्च तन्त्रैक्यसाधकाभावात् दक्षिणाभेदेन तन्त्रभेद इत्यङ्गानामावृत्तिरेव चरुष्विति सूत्रार्थः। अत्र चैकप्रयोगलिङ्गस्य क्रत्वर्थेष्टावसम्भवं काम्येष्टौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवेष्टिनामकी इष्टिका कथन किया गया है—'आग्नेयोऽष्टाकपालो०' 'बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो०' 'ऐन्द्रमेकादश' इत्यादि। उसमें वर्णके भेदसे प्रयोगका भेद सुना जाता है—यदि ब्राह्मण याग करे, तो बार्हस्पत्यको मध्यमें रखकर आहुतिका अभिघारण करे (घृतकी धारा दे) यदि वैश्य हो, तो वैश्वदेव चरुका मध्यमें धारण करे, यदि राजा हो, तो ऐन्द्रका धारण करे, इत्यादिसे। आग्नेय और इन्द्रके मध्यमें, बार्हस्पत्य चरुका धारण करे, ऐसा अर्थ है। उसमें आग्नेयादि चरुओंमें अङ्गोंका तन्त्रसे प्रयोग है इसी तरह 'एतयान्नाद्यकामं याजयेत्' इस प्रकार एकवचन है। और वह तन्त्ररूपसे प्रयोग राजसूयक्रतुसे बहिर्भूत अन्न आदिकी अभिलाषासे तीनों वर्णों द्वारा की जानेवाली अवेष्टि नामक इष्टिमें जानना चाहिए, अन्य क्रतुकी इष्टिमें नहीं। परन्तु क्रत्वर्थ होनेपर भी अवेष्टि नामक इष्टिमें तन्त्रसे प्रयोग नहीं होता है, उसमें प्रयोजक क्या है? यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि तीनों वर्णोंसे संयुक्त काम्य इष्टिमें ही एक अङ्ग तन्त्रमात्रसे साध्य निधान आदि लिङ्गका मध्यम सत्त्व है, इससे लिङ्ग और तन्त्रके ऐक्य होनेपर हिरण्य आदि मिलित एक ही दक्षिणा दी जानी चाहिए, अन्यथा एक प्रयोगका योग नहीं होगा। राजमात्रकर्तृक क्रतु-राजसूयके अन्तर्गत इष्टिमें, तो तीनों वर्णोंका संयोग होनेके कारण मध्यमें निधानादि लिङ्ग नहीं है इसलिए एक तन्त्रके साधकके न होनेसे दक्षिणाके भेदसे तन्त्रका भेद है, अतः अङ्गोंकी चरुमें आवृत्ति ही है, ऐसा सूत्रार्थ है। यहाँ एक प्रयोग लिंगका क्रत्वर्थ इष्टिमें असम्भव है और काम्येष्टिमें सम्भव है, इस प्रकार प्रतिपादन

भाष्य

यज्ञत्वाच्च राजसूयस्य। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' (जै० सू० ११।४।७) इति ॥ ५० ॥

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्ध है और राजसूय क्षत्रिययज्ञ है। यह प्रथमकाण्डमें कहा गया है—'क्रत्वर्थायामिति०' (क्रत्वर्थ अवेष्टिमें लिङ्ग आदिका दर्शन होनेसे अंगोंका तन्त्रप्रयोग क्यों नहीं होगा, ऐसा यदि कोई कहे, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि अवेष्टिमें तीनों वर्णोंका संयोग है) ॥ ५० ॥

रत्नप्रभा

च सम्भवं वदता अनेन सूत्रेण काम्येष्टेः क्रत्वर्थेष्टिविलक्षणत्वात् क्रतुप्रकरणाद् उत्कर्ष इति सूचितम्। स च उत्कर्षो युक्त एव, राजमात्रकर्तृकराजसूयक्रतौ वर्णत्रयकर्तृकेष्टेरन्तर्भावायोगात् इति स्थितम्। तथा मनश्चिदादीनाम् उत्कर्ष इति भावः ॥५०॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहनेवाले इस सूत्रसे क्रत्वर्थ इष्टिसे विलक्षण होनेसे काम्येष्टिका क्रतु-प्रकरणसे उत्कर्ष सूचित होता है। और वह उत्कर्ष युक्त ही है। क्योंकि राजमात्रकर्तृक राजसूय यागमें वर्णत्रयकर्तृक इष्टिका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, यह स्थिति है, इस प्रकार मनश्चिद् आदिका उत्कर्ष है, ऐसा भाव है ॥५०॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

पदच्छेद—न, सामान्यात्, अपि, उपलब्धेः मृत्युवत्, नहि, लोकापत्तिः।

पदार्थोक्ति—[मनश्चित्प्रभृतीनाम्] सामान्यात् अपि—मानसत्वस्य समानत्वेऽपि, न—क्रियाङ्गत्वं न स्वीकार्यम्, [कुतः ?] उपलब्धेः—पूर्वोक्तश्रुत्यादिभ्यो हेतुभ्यः स्वातन्त्र्यस्योपलब्धत्वात् [तत्र दृष्टान्तमाह] मृत्युवत्—'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दस्य प्रयोगे नात्यन्तिकी समानत्वापत्तिः, [यथा वा] नहि लोकापत्तिः—'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' इत्यादिषु स्थलेषु समानत्वेऽपि समित्प्रभृतीनां नहि लोकस्य-द्युलोकस्य आपत्तिः—ग्नित्वापत्तिः [अपि तु परस्परं वैजात्यम्, तद्वत् मानसमानसिकाग्न्योर्मानसिकत्वसाम्यध्रौव्येऽपि मिथो वैजात्यमेवेत्यर्थः]।

भापार्थ—यद्यपि मनश्चित् प्रभृति मानसत्वरूप धर्मसे समान हैं, तो भी उनको क्रियाका अङ्ग नहीं मानना चाहिए, किससे? इससे कि पूर्व कथित श्रुति आदि प्रमाणोंसे मनश्चित् आदिकी स्वतन्त्ररूपसे उपलब्धि होती है। उसमें दृष्टान्त है—'स वा एष' और 'अग्निर्वै मृत्युः' इत्यादिसे अग्नि और आदित्य पुरुषमें मृत्युशब्दका प्रयोग समान है, तथापि उनकी अत्यन्त समानता नहीं है। अथवा 'असौ वाव लोको०' इत्यादिमें समित् आदिके समान होनेपर भी द्युलोकमें अग्नित्वकी प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु परस्पर वैजात्य ही है, वैसे ही मानस और मानसिक अग्निका मानसिकत्व समान होनेपर भी मिथः विजातीयता ही है, ऐसा भाव है।

भाष्य

यदुक्तं मानसवदिति, तत् प्रत्युच्यते। न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम्। पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। नहि किंचित् कस्यचित् केनचित् सामान्यं न संभवति। न च तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते; मृत्युवत्—यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' (बृ० ३।२।१०)

भाष्यका अनुवाद

मानसके समान, ऐसा जो कहा गया है, उसका निराकरण किया जाता है। मानसपात्रके साथ सादृश्यसे भी मनश्चित् आदि क्रियाके अंग हैं, ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति आदि हेतुओंसे मनश्चित् आदि केवल पुरुषार्थ हैं, ऐसा उपलब्ध होता है। किसीका किसीके साथ कुछ सादृश्य न हो, यह सम्भव नहीं है, परन्तु इतनेसे प्रत्येक वस्तुका स्वाभाविक वैषम्य निवृत्त नहीं होता, मृत्युके समान—जैसे 'स वा एष एव०' (वह यही मृत्यु है, जो इस मण्डलमें पुरुष है) इसमें और 'अग्निर्वै

रत्नप्रभा

एवं दृष्टान्तं विघटयति—**न सामान्यादिति**। क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्ववैषम्येऽपि मानसत्वसामान्यं न विरुध्यते, विषमयोरपि साम्यदर्शनात् इत्यर्थः ॥५१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार पूर्वपक्षीसे कहे गये दृष्टान्तका निराकरण करते हैं—"न सामान्यात्" इत्यादिसे। क्रत्वर्थ और पुरुषार्थरूप वैलक्षण्य होनेपर भी मानसत्वरूप सादृश्य विरुद्ध नहीं होता, क्योंकि विलक्षणोंमें भी सादृश्य देखा जाता है, ऐसा अर्थ है ॥५१॥

भाष्य

इति चाऽग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नाऽत्यन्तसाम्यापत्तिः। यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा०५।४।१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याऽग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

भाष्यका अनुवाद

मृत्युः' (अग्नि ही मृत्यु है) इसमें अग्नि और आदित्य पुरुषमें यद्यपि मृत्यु-शब्दका प्रयोग समान है, तो भी अत्यन्त समानताकी प्राप्ति नहीं होती। और जैसे 'असौ वाव लोको०' (हे गौतम, यही लोक अग्नि है और द्युलोकाख्य इस अग्निका आदित्य समिध् है) इसमें समिध् आदिके सादृश्यसे लोक अग्निभाव प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार मानस और मानसाग्निकी वैषम्यसिद्धि होती है ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

पदच्छेद—परेण, च, शब्दस्य, ताद्विध्यम्, भूयस्त्वात्, तु, अनुबन्धः।

पदार्थोक्ति—परेण—मानसाग्निब्राह्मणात् उत्तरेण ब्राह्मणेन [साम्यात्] शब्दस्य—मध्यस्य ब्राह्मणस्य, ताद्विध्यम्—तद्विधत्वम्—यथा चितेऽग्नौ लोक-दृष्टिरूपस्वतन्त्रविद्याविधित्वम् [तथा प्रकृतेऽपि मानसिकाग्नीनां स्वतन्त्रविद्या-विधित्वम् एव प्रतीतं भवति] च—एवम् [पूर्वेणाऽपि ब्राह्मणग्रन्थेन पुरुषो-पासनालक्षणान्यानधीनविद्याविधित्वमेव यथा प्रतीयते [तथा प्रकृतेऽपि मध्यस्थे ब्राह्मणे बोध्यम्, ननु कथं तर्हि क्रियाग्निना सार्धं पाठः ? इत्यत आह]—भूयस्त्वात् तु अनुबन्धः, तुशब्दः शङ्कां निरस्यति—भूयस्त्वात्—मानसाग्नि-विद्यायां सम्पादनीयानां कर्माङ्गानां बहुत्वात् [विद्यायाः क्रियाग्निना] अनुबन्धः—सार्धं पाठः, इति।

भाषार्थ—मानसाग्नि ब्राह्मणके उत्तर ब्राह्मणके साथ मध्यस्थ ब्राह्मणकी समानता होनेके कारण ताद्विध्य ही है अर्थात् जैसे उत्तर ब्राह्मणमें चित् अग्निमें लोक दृष्टिरूप स्वतन्त्रविद्याविधित्व ही है, और जैसे पूर्व ब्राह्मणमें पुरुषोपासनारूप स्वतन्त्र विद्याविधि है, वैसे ही प्रकृत मध्यस्थ ब्राह्मणमें भी समझना चाहिए। यदि ऐसा है, तो क्रियाग्निके साथ पाठ क्यो किया ? इसके उत्तरमें कहते हैं—भूय-स्त्वात् इत्यादिसे। तुशब्द शङ्काकी निवृत्ति करता है मानसाग्नि विद्यामें सम्पादनीय कर्माङ्गोंका आधिक्य होनेसे विद्याका क्रियाग्निके साथ पाठ है।

भाष्य

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते, न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम्। तत्र हि—

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः॥'

इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन् विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति। तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन् ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते—'सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोप-

भाष्यका अनुवाद

आगे भी 'अयं वाव लोको०' (यही लोक यह चित—सम्पादित अग्नि है) इस अनन्तर *ब्राह्मणमें श्रुतिका प्रयोजन तद्विधित्व अर्थात् केवल विद्या*-विधित्व दीखता है, शुद्ध कर्मका अंगविधित्व नहीं दीखता, क्योंकि उसमें 'विद्यया तदारोहन्ति' (विद्यासे उस स्थानपर आरोहण करते हैं, जहांपर मनोरथ प्राप्त होते हैं, वहां कर्मकुशल पुरुष नहीं जाते और अविद्वान् तपस्वी भी वहां नहीं जाते) इस श्लोकसे केवल कर्मकी निन्दा करनेवाली और विद्याकी प्रशंसा करनेवाली श्रुति इस ब्राह्मणमें विद्याका प्राधान्य है, ऐसा सूचित करती है। उसी प्रकार पूर्वमें भी 'यदेतन्मण्डलं तपति' (जो यह मण्डल तपता है) इस प्रकार विद्याप्रधानत्व ही दीखता है। 'सोऽमृतो भवति०' (वह अमृत होता है, मृत्यु इसका आत्मा है) इस प्रकार विद्याफलसे ही उपसंहार

रत्नप्रभा

किञ्च, पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः स्वतन्त्रविद्याविधानात् तन्मध्यस्थस्यापि ब्राह्मणस्य स्वतन्त्रविद्याविधिपरत्वम् इत्याह—परेण चेति। चितेऽग्नौ लोकदृष्टिविधानं स्वतन्त्रमुत्तरत्र गम्यते, पूर्वत्र मण्डलपुरुषोपास्तिः, तत्सान्निध्यात् मध्येऽपि मानसा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, पूर्व और उत्तर ब्राह्मणोंमें स्वतन्त्ररूप विद्याका विधान होनेसे उन दो ब्राह्मणोंके बीचमें स्थित ब्राह्मणमें भी स्वतन्त्ररूपसे विद्याकी विधि है, ऐसा कहते हैं—"परेण च" इत्यादिसे। चित अग्निमें स्वतन्त्र लोकदृष्टिका विधान उत्तरमें समझा जाता है और पूर्वमें मण्डलपुरुषकी

भाष्य

संहारान्न कर्मप्रधानता। तत्सामान्यादिहापि तथात्वम्। भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात् कारणादग्निनाऽनुबध्यते विद्या, न कर्माङ्गत्वात्। तस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः ॥ ५२ ॥

भाष्यका अनुवाद

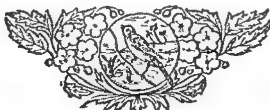
होनेसे कर्मप्रधानता नहीं है। पूर्व और उत्तर ब्राह्मणके सादृश्यसे यहांपर भी विद्याकी प्रधानता है, परन्तु विद्यामें अग्निके बहुतसे अवयवोंकी सम्पत्ति करनी पड़ती है, इस कारणसे विद्या अग्निके साथ अनुबद्ध होती है, कर्मकी अंग है, इस कारणसे नहीं। इसलिए मनश्चित् आदि केवल विद्यात्मक हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ५२ ॥

रत्नप्रभा

ग्नयः स्वतन्त्रा इत्यर्थः। तर्हि क्रियाग्निना सह पाठः किमर्थम् इत्यत आह—भूयांसस्त्विति ॥ ५२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासना समझी जाती है, उसकी सन्निधिसे बीचमें भी मानसाग्नियाँ स्वतन्त्र हैं, ऐसा अर्थ है, तब क्रियाग्निके साथ पाठ किस लिए है? इसपर कहते हैं—"भूयांसस्तु" इत्यादिसे ॥५२॥



[३० ऐकात्म्याधिकरण सू० ५३-५४]

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत् ।
भूतमेलनजं देहे नान्यत्रात्मा वपुस्ततः ॥ १ ॥
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः ।
सैवात्मा भौतिकाद्देहादन्योऽसौ परलोकभाक् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—शरीर ही आत्मा है या शरीरसे अन्य है ?

पूर्वपक्ष—मदशक्तिके समान भूतोंके सम्मेलनसे देहमें चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, इसलिए शरीर ही आत्मा है, उससे अतिरिक्त आत्मा नहीं है ।

सिद्धान्त—भूतोंकी उपलब्धि भूतोंसे पृथक् है, क्योंकि वह विषयी है, इसलिए वही—उपलब्धि ही देहादि भूतोंसे पृथक्, परलोकको प्राप्त करनेवाला आत्मा है ।

---

*मनश्चिदादिको क्रत्वर्थता नहीं है, किन्तु पुरुषार्थता है, इस प्रकार प्रथम अधिकरणमें विचार किया गया है, उसमें 'पुरुष कौन है ?' इस प्रकार प्रश्न होनेसे प्रसङ्गतः पुरुषका विचार किया जाता है। यह अधिकरण पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनोंके लिए उपयोगी है क्योंकि इसमें स्वर्ग और मोक्षके अधिकारी आत्माका निरूपण किया जाता है। चार्वाकोंका मत है कि देह ही आत्मा है, क्योंकि अन्वय व्यतिरेकसे देह ही में चैतन्यका उपलम्भ होता है—देहके रहते चैतन्यकी उपलब्धि होती है और देहके न रहनेपर उसकी प्रतीति नहीं होती है। चैतन्यको अन्य जाति मानकर भी देहसे अन्य आत्मा है, इस प्रकार शङ्का नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पान, सुपारी, चुना, और कत्था आदिके सम्मेलनसे एक प्रकारकी मद शक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही देहाकारसे परिणत भूतोंसे चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है और वह किस रीतिसे देहसे पृथक् हो सकती है, इससे चेतन शरीर ही आत्मा है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि पृथ्वी आदि भूतोंकी उपलब्धि भूतोंसे भिन्न है, क्योंकि वह विषयी है, जो विषयी होता है, वह विषयसे अतिरिक्त होता है, जैसे चक्षु रूपसे पृथक् है। ठीक इसी रीतिसे विचार करें, तो उसी चैतन्यको आत्मतत्त्व स्वीकार करनेवालेको भौतिकदेहरूपता कैसे प्राप्त होगी, उक्त जो अन्वयव्यतिरेक दिया है वह भी असाधु ही है, क्योंकि व्यतिरेक बन ही नहीं सकता है, देहके न रहनेपर भी परलोकगामी आत्माका शास्त्रसे ज्ञान होता है, और शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिए, इसी प्रकार अन्वय भी असङ्गत है मृत देहमें चैतन्यका गन्ध भी नहीं रहता है। इससे यह स्वीकार करना होगा कि चैतन्य आत्मा शरीरसे पृथक् है ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

पदच्छेद—एके, आत्मनः शरीरे, भावात् ।

पदार्थोक्ति—एके—केचन चार्वाकाः आत्मनः—शरीरातिरिक्तस्य प्राज्ञस्य [असत्त्वं मन्यन्ते, कुतः ?] शरीरे—देहे [सति उपलब्धेः] भावात्—सत्त्वात् [तदभावे चाऽभावादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्या उपलब्धेः शरीरधर्मतयाऽतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसिद्धेरिति पूर्वपक्षः] ।

भाषार्थ—चार्वाक लोग शरीरातिरिक्त आत्माकी सत्ता नहीं मानते हैं, क्योंकि 'शरीरके रहनेपर उपलब्धि होती, और नहीं रहनेपर नहीं होती है' इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसे उस उपलब्धिका शरीरधर्मतया भान होनेसे शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है ।

भाष्य

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते, बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये । नह्यसति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन् कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत । ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमुक्तम् । सत्यमुक्तं भाष्यकृता,

भाष्यका अनुवाद

इस अधिकरणमें बन्ध और मोक्षके अधिकारकी सिद्धिके लिए देहसे पृथक् आत्माके अस्तित्वका समर्थन किया जाता है । यदि देहसे अतिरिक्त आत्मा न हो, तो परलोक जिनका फल है, ऐसे विधिवाक्योंकी उपपत्ति नहीं होगी । यदि देहातिरिक्त आत्मा न हो, तो किसके ब्रह्मात्मत्वका उपदेश किया जायगा । परन्तु शास्त्रके आरम्भमें ही (पूर्वमीमांसामें) प्रथम पादमें शास्त्रोक्त फलके उपभोगके योग्य, देहसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व कहा

रत्नप्रभा

मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वमुक्तम्, तदयुक्तम्, देहातिरिक्तपुरुषाभावात्, इत्याक्षिपति—एक आत्मनः शरीरे भावाद् इति । सिद्धान्तफलमाह—बन्धेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मनश्चित् आदि पुरुषार्थ हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि देहसे अतिरिक्त पुरुष नहीं है, ऐसा आक्षेप करते हैं—"एक आत्मनः शरीरे भावात्" इत्यादिसे । सिद्धान्तका फल कहते हैं—"बन्ध" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें तो परलोकके लिए किये गये

भाष्य

न तु तत्राऽऽत्मास्तित्वे सूत्रमस्ति। इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाऽऽकृष्याऽऽचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। इह चेदं चोदनालक्षणे-

भाष्यका अनुवाद

गया है। यह ठीक है, भाष्यकारने वहां देहातिरिक्त आत्माका कथन किया है, परन्तु उसमे आत्माके अस्तित्वके विषयमें सूत्र नहीं है। और यहां तो सूत्रकारने आप ही आक्षेपपूर्वक देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वका स्थापन किया है। और यहींसे आकर्षण करके आचार्य शबरस्वामीने प्रमाणलक्षणमे देहातिरिक्त आत्माका वर्णन किया है। इसीसे भगवान् उपवर्ष, पूर्वमीमांसामे आत्माके अस्तित्वके कथनका प्रसंग आनेपर, हम इसे शारीरिकमे कहेंगे, ऐसा कहकर विरत हुए हैं। यहां चोदनाविधि जिनमें लक्षण-प्रमाण

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षे तु परलोकार्थकर्मसु मोक्षार्थविद्यायां च अप्रवृत्तिरिति व्यतिरेकमुखेन फलमाह—नह्यसतीति। व्यतिरिक्तात्मविचारस्य पूर्वतन्त्रे कृतत्वात् पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य तत्रत्यविचारस्याऽपि इदमेव सूत्रं मूलम्, जैमिनिसूत्राभावात्, अतः क पुनरुक्तिः इत्याह—नतु शास्त्रेत्यादिना। 'यज्ञायुधो यजमानः स्वर्गं लोकमेति इत्यादिवाक्यस्य भोक्तु' अभावात् अप्रामाण्यप्राप्तौ इत एव आकृष्य भोक्तुर्विचारः कृत इत्यत्र वृत्तिकारवचनं लिङ्गमाह—अत एवेति। तत्र सूत्राभावादेवेत्यर्थः। उद्धारः—उपरमः। अस्य अधिकरणस्य अस्मिन् पादे प्रसङ्गसङ्गतिरित्याह—इह-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मोंमें और मोक्षार्थविद्यामें अप्रवृत्ति है, इस तरह व्यतिरेकसे फल कहते हैं—"नह्यसति" इत्यादिसे। देहसे अतिरिक्त आत्माका विचार पूर्वतन्त्रमें किया गया है, अतः पुनरुक्ति है, ऐसी आशंका करके कहते हैं कि पूर्वतन्त्रमें जो विचार किया गया है उसका भी यही सूत्र मूल है, क्योंकि इस विषयमें जैमिनिका कोई सूत्र नहीं है, अतः पुनरुक्ति कहां है, ऐसा कहते हैं—"ननु शास्त्र" इत्यादिसे। भोक्ताके अभावमें 'यज्ञायुधो यजमान.' इत्यादि वाक्यमें अप्रामाण्यकी प्राप्ति होनेपर, यहींसे आकर्षण—अनुवृत्ति करके भोक्ताका विचार किया गया है, इसमें वृत्तिकारका वचन लिंग है, ऐसा कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। इसीसे—पूर्वतन्त्रमें सूत्रके न होनेसे ही, ऐसा अर्थ है। उद्धार—उपरम। इस अधिकरणकी इस पादमें प्रसंगसंगति है, ऐसा कहते हैं—"इह च" इत्यादिसे। आमुष्मिक फल जिनसे मिलता

भाष्य

पूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते, कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय। अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितम्, कोऽसौ पुरुषो यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देह-व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमादिमं सूत्रम्। आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धि-मुत्पादयेदिति।

अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देह व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽ-

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसी उपासनाओंका विचार किये जानेपर, समस्त शास्त्रका वह आत्मास्तित्व अंग है, ऐसा प्रदर्शन करनेके लिए आत्माके अस्तित्वका विचार किया जाता है। और पूर्व अधिकरणमें क्रतुके प्रकरणका उत्कर्ष स्वीकार करके मनश्चित् आदि पुरुषार्थ हैं, ऐसा वर्णन किया गया है, अब पुरुष कौन है, जिसके लिए ये मनश्चित् आदि हैं, ऐसा प्रसक्त होनेपर देहसे व्यतिरिक्त आत्माका अस्तित्व कहा जाता है। और इस अस्तित्वके आक्षेपके लिए यह प्रथम सूत्र है। आक्षेप करके कहा गया परिहार स्थूणानिखननन्यायसे विवक्षित अर्थमें दृढ़ बुद्धि उत्पन्न करता है।

आत्मविचारके प्रसङ्गमें कितने ही, देहमात्र आत्मा है, ऐसा विचार

रत्नप्रभा

चेति। आमुष्मिकफलोपासनानिर्णयप्रसंगेन तदपेक्षितात्मास्तित्वमुच्यते इत्यर्थः। एतत् सिद्धवत्कृत्य प्रथमसूत्रेऽथशब्देन अधिकारी चिन्तितः, तस्मात् इदमधिकरणं सर्वशास्त्राङ्गमिति शास्त्रसङ्गतिमाह—कृत्स्नेति। आक्षेपलक्षणामवान्तरसङ्गतिमाह— अपि चेति। देहातिरिक्तः आत्मास्ति न वेति वादिविप्रतिपत्तेः संशये पूर्वपक्षमाह— अत्रैक इति। यद्यपि समस्तेषु मिलितेषु भूतेषु चैतन्यं न दृष्टम्, तप्तोदकुम्भस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसी उपासनाओंके निर्णयके प्रसंगसे उनमें अपेक्षित आत्माका अस्तित्व कहा जाता है, ऐसा अर्थ है। यह सिद्धवत् मानकर प्रथम सूत्रमें अथशब्दसे अधिकारीका विचार किया गया है, इससे यह अधिकरण सब शास्त्रोंका अंग है, ऐसी शास्त्रसंगति कहते हैं—"कृत्स्न" इत्यादिसे। आक्षेपरूप अवान्तर संगति कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। देहसे अतिरिक्त आत्मा है या नहीं, इस विषयमें वादियोंकी विमति होनेसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष कहते हैं—"अत्रैके" इत्यादिसे। यद्यपि मिलित समस्त भूतोंमें चैतन्य नहीं दीखता, क्योंकि गर्मजलके घड़ेमें

भाष्य

भावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु वाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाऽऽहुः। न स्वर्गगमनायाऽपवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात्, देह एव तु चेतनश्चाऽऽत्मा चेति प्रतिजानते। हेतुं चाचक्षते—शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन् सति भवति, असति च न भवति, तत् तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते—यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादय

भाष्यका अनुवाद

करनेवाले लोकायतिक देहसे व्यतिरिक्त आत्माका अभाव मानकर समस्त और व्यस्त—बाह्य पृथिवी आदिमें अदृष्ट भी चैतन्य शरीरके आकारमें परिणत भूतोंमें होगा, इस प्रकार उन भूतोंसे चैतन्यकी सम्भावना करते हुए मदशक्तिके समान विज्ञान है और चैतन्यविशिष्ट काय पुरुष है, ऐसा कहते हैं। स्वर्गमें जानेके लिए या अपवर्ग प्राप्त करनेके लिए देहसे अतिरिक्त समर्थ आत्मा नहीं है, जिसके प्रभावसे देहमें चैतन्य हो। देह ही चेतन है और आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं और उस प्रतिज्ञात अर्थके विषयमें हेतु कहते हैं—'शरीरे भावात्'। क्योंकि जिसके रहते जो रहता है और जिसके अभावमें जिसका अभाव होता है, वह उसका धर्म माना जाता है, जैसे अग्निके धर्म—उष्णता और प्रकाश माने जाते हैं। प्राण,

रत्नप्रभा

ज्ञानाभावात्, व्यस्तेषु तु नास्त्येव, तथापि देहात्मकभूतेषु स्यादिति तेभ्यो भूतेभ्यः चैतन्यं सम्भावयन्तो मदशक्तिवत् विज्ञानं संघातजम्, तद्विशिष्टसंघात आत्मेत्याहुरित्यन्वयः। यथा मादकद्रव्येषु ताम्बूलपत्रादिषु प्रत्येकमदृष्टापि मदशक्तिः तत्संघाताद् जायते, तद्वदित्यर्थः। ननु देहः स्वयं न चेतनः, घटवद्, भौतिकत्वात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

ज्ञान नहीं दिखाई देता, व्यस्त—पृथक् पृथक् स्थित भूतोंमें तो चैतन्य है ही नहीं, तो भी देहात्मक भूतोंमें चैतन्य होगा, इस प्रकार उन भूतोंसे चैतन्यकी संभावना करते हुए लोकायतिक 'मदशक्तिके समान विज्ञान संघातसे उत्पन्न होता है और तद्विशिष्ट संघात आत्मा है, ऐसा कहते हैं, ऐसा अन्वय है। जैसे ताम्बूलपत्र आदि प्रत्येक मादक द्रव्योंमें यद्यपि मदशक्ति नहीं देखी जाती, तो भी उनके संघातसे उत्पन्न होती है, वैसे ही प्रत्येक भूतमें यद्यपि ज्ञान अदृष्ट है, तो भी देहाकारसे परिणत भूतोंमें चैतन्य होगा। यदि कोई कहे कि देह

भाष्य

आत्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनाम्, तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति। तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

चेष्टा, चैतन्य, स्मृति आदि जो आत्मवादियोंके आत्मधर्मरूपसे अभिमत हैं, वे भी देहके अन्दर ही उपलब्ध होते हैं और देहके बाहर उपलब्ध नहीं होते हैं। अत एव देहसे अतिरिक्त धर्मीके सिद्ध न होनेपर उनका देहधर्म होना ही युक्त है। इससे देहसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ५३ ॥

ऐसा प्राप्त होनपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

किंतु चेतनः कश्चित् स्वर्गादिभोक्ताऽस्ति, तत्सान्निध्यात् देहस्य चैतन्यविभ्रम इत्यत आह—न स्वर्गेति ॥ ५३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वयं चेतन नहीं है, घटके समान भौतिक होनेसे, किन्तु कोई एक स्वर्गादिका भोक्ता चेतन है, अत. उसके सान्निध्यसे देहमें चैतन्य भ्रम होता है, तो इसपर कहते हैं—"न स्वर्ग" इत्यादिसे ॥ ५३ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

पदच्छेद—व्यतिरेकः, तद्भावाभावित्वात्, न, तु, उपलब्धिवत्।

पदार्थोक्ति—[आत्मनो देहादभिन्नत्वम्] न तु—नास्त्येव [किन्तु] व्यतिरेकः—भिन्नत्वम् [एव, कुतः ?] तद्भावाभावित्वात्—तस्य—शरीरस्य मरणसमये वर्तमानत्वेऽपि ज्ञानरूपात्मधर्मस्यासत्त्वात् [तत्र दृष्टान्तः]—उपलब्धिवत्—यथा भूतानामुपलब्धिर्न तेषां धर्मोऽपि तु ततो व्यतिरिच्यते; तथा भौतिकदेहोपलब्धिर्न तद्धर्मस्ततो व्यतिरिच्यत एव [उपलब्धिश्चात्मेत्यनर्थान्तरं वेदान्तिनामिति भावः]।

भाषार्थ—शरीर और आत्माका अभेद नहीं है, किन्तु उनका परस्पर भेद ही है, क्योंकि मरण अवस्थामें शरीरके रहते भी आत्मधर्म–ज्ञान नहीं रहता है, उसमें दृष्टान्त भी है—जैसे भूतोंकी उपलब्धि भूतोंका धर्म नहीं है और उससे अतिरिक्त है, वैसे भौतिक शरीरमें भी उपलब्धि धर्म नहीं है, और उससे भिन्न है, आत्मा और उपलब्धि एक ही वस्तु है, यह वेदान्ती लोगोंका मत है अर्थात् वे परस्पर भिन्न नहीं है।

भाष्य

नत्वेतदस्ति—यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति। व्यतिरेक एवाऽस्य देहाद्भवितुमर्हति, तद्भावाभावित्वात्। यदि देहभावे भावाद् देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत ? देहधर्मवैलक्षण्यात्। ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देहं भवन्ति। प्राणचेष्टा-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—देहसे आत्मा अतिरिक्त नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है। आत्माका देहसे व्यतिरेक ही होना युक्त है, किससे ? उसके (देहके) अस्तित्वमें, उनका (आत्मधर्मोंका) अभाव होनेसे। यदि देहके अस्तित्वमें आत्मधर्मोंका अस्तित्व होनेसे आत्मधर्म देहधर्म माने जायँ, तो देहके अस्तित्वमें भी आत्माके चैतन्य आदि धर्मोंका अस्तित्व न होनेसे ये आत्मधर्म देहधर्म नहीं हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ? क्योंकि वे देहधर्मसे विलक्षण हैं, क्योंकि जो देहधर्म रूप आदि हैं, वे जबतक देह रहता है, तबतक रहते हैं, और प्राण,

रत्नप्रभा

'मनुष्योऽहं जानामि' इति देहस्य ज्ञातृतायाः प्रत्यक्षत्वात् आत्मधर्मत्वेन प्रसिद्धानां धर्माणां देहान्वयव्यतिरेकानुभवात् तदन्यात्मनि प्रत्यक्षाभावादप्रत्यक्षस्य अप्रामाणिकत्वात् देह एवाऽऽत्मेति प्राप्ते सूत्रस्थनत्वितिपदेन सिद्धान्तं प्रतिजानीते—न त्वेतदिति। अनुमानस्य तावत् प्रामाण्यमनिच्छतापि आस्थेयम्, अन्यथा व्यवहारासिद्धेः, नह्यनागतपाकादौ इष्टसाधनतानुमितिं विना प्रवृत्तिः सम्भवति। तथा च ज्ञानादयः देहव्यतिरिक्ताश्रयाः, देहसत्त्वेऽप्यसत्त्वात्, व्यतिरेकेण देहरूपादिवत्, इत्याह—व्यतिरेक एवास्येति। न चादौ श्यामदेहस्य पश्चात् रूपान्तरे व्यभिचारः, गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यवच्छेदेन असत्त्वस्य विवक्षित-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'मैं—मनुष्य जानता हूँ' इस प्रकार देहमें ज्ञातृताका प्रत्यक्ष होनेसे, आत्माके धर्मरूपसे प्रसिद्ध धर्मोंका देहमें अन्वय और व्यतिरेकका अनुभव होनेसे, अतिरिक्त आत्माका प्रत्यक्ष न होनेसे और जो प्रत्यक्ष नहीं है उसके अप्रामाणिक होनेसे देह ही आत्मा है, ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रमें स्थित 'न तु' इन पदोंसे सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा करते हैं—"नत्वेतत्" इत्यादिसे। इच्छाके न होनेपर भी अनुमानको प्रमाण स्वीकार करना ही पड़ेगा, नहीं तो व्यवहारकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि अनागत पाक आदिमें इष्टसाधनताकी अनुमितिके बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए ज्ञानादि देहसे व्यतिरिक्तके आश्रित हैं, देहके अस्तित्वमें भी उनका अभाव होनेसे, व्यतिरेकमें देहके रूप आदिके समान, ऐसा कहते हैं—"व्यतिरेक एवास्य" इत्यादिसे। पहले श्याम देहमें पीछेसे अन्य रूपकी उत्पत्ति होनेपर व्यभिचार है,

भाष्य

दयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति । देहधर्माश्च रूपादयः परै-रप्युपलभ्यन्ते, न स्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः । अपि च सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुम्, न त्वसत्यभावः । पतितेऽपि कदाचिदस्मिन् देहे देहान्तरसंचारेणाऽऽत्मधर्मा अनुवर्तेरन् । संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते । किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते, यस्य भूतेभ्य

भाष्यका अनुवाद

चेष्टा—श्वासोच्छ्वास आदि मृत अवस्थामें देहके विद्यमान रहते भी नहीं होते हैं। और रूप आदि देहधर्म अन्य पुरुषोंसे भी जाने जाते हैं, परन्तु चैतन्य, स्मृति आदि आत्मधर्म अन्य पुरुषोंसे नहीं जाने जाते। इसी प्रकार देहके रहते जीवनावस्थामें इन धर्मोंके अस्तित्वका निश्चय किया जा सकता है, परन्तु देह यदि विद्यमान न हों, तो धर्मोंके अभावका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि कदाचित् इस देहके गिर जानेपर भी आत्मधर्म अन्य देहमें संचारसे अनुवृत्त होते हैं। इस प्रकार केवल संशयसे भी उसका प्रतिषेध किया जाता है। और जिस चैतन्यकी उत्पत्ति तुम भूतोंसे मानते हो, उस

रत्नप्रभा

त्वात् । देहेऽवस्थिते सदा रूपत्वावच्छिन्नम् अस्त्येव, ज्ञानत्वावच्छिन्नं तु नास्तीति न ज्ञानं देहधर्मः । किञ्च, एते न देहगुणाः, परैः दृश्यत्वात्, इत्याह—देहधर्माश्चेति । किञ्च, देहव्यतिरेके तेषामभावस्य सन्दिग्धत्वात् न देहधर्मत्वनिश्चय इत्याह—अपि चेति । न च अनुपलम्भात् तेषामभावनिश्चयः, तवाऽनुपलब्धेः अमानत्वात्, तद्धर्मात्मनो देहान्तरप्राप्त्यापि अनुपलम्भोपपत्तेश्चेति भावः । 'उपलब्धिवत्' इति सूत्रस्थं पदं व्याख्यातुम् उपक्रमते—किमात्मकमिति । तत् किं भूतातिरिक्तं तत्त्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा नहीं कहना चाहिए, गुणत्व साक्षात् व्याप्यजाति—रूपत्वके अवच्छेदसे असत्त्व विवक्षित है। देहमें सदा रूपत्वाच्छिन्न ही रहता है, ज्ञानत्वाच्छिन्न तो सदा नहीं रहता है, इसलिए ज्ञान देहधर्म नहीं है। और ये चैतन्य, स्मृति आदि देह धर्म नहीं है, दूसरोंसे अदृश्य होनेसे, ऐसा कहते हैं—"देहधर्माश्च" इत्यादिसे। किञ्च, देहके व्यतिरेकमें उनके अभावका सन्देह होनेसे वे देह धर्म हैं, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता है, यह कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। और इन धर्मोंके देहमें अनुपलम्भसे उनके अभावका निश्चय होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अनुपलब्धि तुम्हारे मतमें प्रमाण नहीं है और उनके धर्मी आत्माका देहान्तर प्राप्तिसे भी अनुपलम्भ उपपन्न होता है, ऐसा भाव है। 'उपलब्धिवत्' इस सूत्रस्थ पदका व्याख्यान करनेके लिए भूमिका रचते हैं—"किमात्मकम्" इत्यादिसे। क्या यह चैतन्य भूतोंसे अतिरिक्त तत्त्व है या रूपादिके समान भूतधर्म

भाष्य

उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्यनुयोक्तव्यः । नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकः किञ्चित् तत्त्वं प्रत्येति । यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत्, तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। नह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति, नहि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति, नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन् । नहि रूपादिभिः स्वरूपं पररूपं वा विषयीक्रियते । विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन । अतश्च

भाष्यका अनुवाद

चैतन्यका स्वरूप क्या है, ऐसा वादीसे पूछना चाहिए, क्योंकि लोकायतिक—नास्तिक चार भूतोंसे अतिरिक्त किसी तत्त्वको नहीं मानता। भूत और भौतिकोंका जो अनुभव है, वही चैतन्य है, ऐसा यदि वह कहे, तो चैतन्यके प्रति उनके (देहात्मभूतोंके) विषय होनेसे वह (चैतन्य) उनका धर्म नहीं होगा, क्योंकि अपनेमें क्रियाका विरोध होता है अर्थात् एक हीमें विषयत्व और विषयित्वका विरोध है, क्योंकि अग्नि उष्ण होनेसे अपनेको नहीं जलाती और नट कितना ही शिक्षित क्यों न हो, फिर भी अपने कन्धोंपर नही चढ़ सकता है। चैतन्य भूत और भौतिकोंका धर्म होनेसे उस चैतन्यसे भूत और भौतिक विषय नहीं किये जा सकते, क्योंकि रूप आदिसे स्वरूप या पररूप विषय नहीं किये जाते यह प्रसिद्ध है, परन्तु बाह्य और आध्यात्मिक भूतभौतिक पदार्थ चैतन्यसे विषय किये जाते हैं। इससे जैसे भूत भौतिक विषयकी उपलब्धिके

रत्नप्रभा

उत रूपादिवद् भूतधर्मः। नाऽऽद्यः, अपसिद्धान्तात्, इत्युक्त्वा द्वितीयमाशङ्क्य निषेधति—यदनुभवनमित्यादिना। देहात्मकभूतानां चैतन्यं प्रति विषयत्वात् कर्तृकर्मविरोधेन विषयस्य कर्तृत्वायोगात् न भूतकर्तृकत्वं चैतन्यस्येत्यर्थः। किञ्च, ज्ञानस्य भूतधर्मत्वे रूपादिवत् जाड्यापत्तेर्न तद्धर्मत्वमित्याह—नहीति। फलितं सूत्रप-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, सिद्धान्तकी हानि होनेसे, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षकी शंका करके उसका निराकरण करते हैं—"यदनुभवनम्" इत्यादिसे। देहात्मक भूत चैतन्यके प्रति विषय हैं, अतः कर्ता और कर्मका विरोध होनेसे, विषयके कर्ता न हो सकनेसे भूत चैतन्यके उत्पादक नहीं हैं, ऐसा अर्थ है। और यदि ज्ञानको भूतधर्म माना जाय, तो वह रूप आदिके समान जड हो जायगा, इससे वह उसका धर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

यथैवाऽस्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते, एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः। 'उपलब्धिस्वरूप एव च नः आत्मा' इत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम्। नित्यत्वं चोपलब्धेः ऐकरूप्यात्, 'अहमिदमद्राक्षम्' इति चाऽवस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, स्मृत्याद्युपपत्तेश्च। यत्तूक्तम्—शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिः—इति, तद्वर्णितेन प्रकारेण

भाष्यका अनुवाद

अस्तित्वका स्वीकार किया जाता है, इसी प्रकार उनसे इनके व्यतिरेकका भी स्वीकार करना चाहिए। और हमारे मतमें आत्मा उपलब्धिस्वरूप ही है, इसलिए आत्मा देहसे व्यतिरिक्त है। और उपलब्धि नित्य है, क्योंकि वह एकरूप है, 'मैंने यह देखा' इस प्रकार अन्य अवस्थाका सम्बन्ध होनेपर भी उपलब्धृत्व रूपसे प्रत्यभिज्ञान होता है और स्मृति आदिकी उपपत्ति भी होती है; शरीरमें भाव—अस्तित्व होनेसे उपलब्धि शरीरधर्म है, ऐसा जो कहा गया है, उसका वर्णित प्रकारसे निराकरण हुआ। और प्रदीप

रत्नप्रभा

दार्थमाह—अतश्चेति। या देहातिरिक्ता सद्रूपोपलब्धिः स एव आत्मा चेत्, अनित्यः स्यात्, उपलब्धेः अनित्यत्वात् इत्यत आह—नित्यत्वं चेति। घटः स्फुरति, पटः स्फुरतीति सर्वत्र स्फूर्तेरभेदात् नित्यत्वम् विषयोपरागनाशे तु नाशभ्रम इत्यर्थः। एवम् आत्मा देहाद् भिन्नः, उपलब्धिरूपत्वाद्, उपलब्धिवत् इत्युक्तम्। किञ्च, जाग्रत्स्वप्नयोर्देहभेदेऽपि आत्मैकत्वप्रत्यभिज्ञानाद् आत्मभेदे च अन्यानुभूते अन्यस्य स्मृतीच्छानुपपत्तेः स्वप्नस्मृत्यादिमान् आत्मा देहाद्भिन्न इत्याह—अहमिति। निरस्तमपि अधिकाभिधित्सया अनुवदति—यत्तूक्तमिति। उपलब्धेर्देहान्वयव्यतिरेकौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नहि" इत्यादिसे। फलित सूत्रपदार्थ कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। जो देहसे अतिरिक्त सद्रूप उपलब्धि है वही आत्मा है, ऐसा यदि कहो, तो आत्मा अनित्य हो जायगा, क्योंकि उपलब्धि अनित्य है, इसपर कहते हैं—"नित्यत्वं च" इत्यादिसे। घट प्रकाशित होता है, पट प्रकाशित होता है, इस प्रकार सर्वत्र उपलब्धिका अभेद होनेसे उपलब्धि नित्य है, परन्तु विषयोपरागका नाश होनेसे उपलब्धिके नाशका भ्रम होता है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार आत्मा देहसे भिन्न है, उपलब्धिरूप होनेसे, उपलब्धिके समान, ऐसा कहा गया है। और जाग्रत् और स्वप्नमें देहभेद होनेपर भी आत्माके एकत्वका प्रत्यभिज्ञान होनेसे आत्माका भेद होनेपर अन्यसे अनुभूत विषयमें दूसरेकी इच्छा, स्मृति आदिके उपपन्न न होनेसे स्वप्न, स्मृति आदि वाला आत्मा देहसे भिन्न है, ऐसा कहते हैं—"अहम्" इत्यादिसे। पूर्व निराकृतका भी अधिक

भाष्य

प्रत्युक्तम्। अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवति, असत्सु न भवति। न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति। एवं सति देह उपलब्धिर्भवति, असति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति। उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद् देहोपयोगोपपत्तेः। न चाऽत्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते, निश्चेष्टेऽप्यस्मिन् देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात्। तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥

भाष्यका अनुवाद

आदि उपकरण यदि विद्यमान हों, तो उपलब्धि होती है और यदि विद्यमान न हों, तो नहीं होती, उतनेसे उपलब्धि प्रदीप आदिका धर्म नहीं होती। इसी प्रकार देहके विद्यमान रहनेपर उपलब्धि होती है, और देहके विद्यमान न रहनेपर, उपलब्धि नहीं होती, इससे उसका देहधर्म होना युक्त नहीं है, क्योंकि केवल उपलब्धिके उपकरण होनेसे भी प्रदीप आदिके समान देहका उपयोग हो सकता है। और उपलब्धिमें देहका अत्यन्त उपयोग नहीं दीखता, क्योंकि जब यह देह निश्चेष्ट रहता है, तब भी स्वप्नमें नाना प्रकारकी उपलब्धि देखी जाती है। इससे देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व दोषरहित है ॥ ५४ ॥

रत्नप्रभा

न देहधर्मत्वसाधकौ, तन्निमित्तत्वेन अन्यथासिद्धेः इत्यधिकमाह—अपि चेति। उपलब्धिमात्रे देहस्य निमित्तत्वम् अपि असिद्धम्, इत्याह—न चाऽत्यन्तमिति। स्वप्नोपलब्धिः न देहजन्या, देहव्यापारं विनापि भावाद्, वृक्षवत्। अत एव तन्वभावेऽपि स्वप्नवत् योगिनां भोगं सूत्रकृद् वक्ष्यति। जाग्रदुपलब्धेः देहजत्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहनेकी इच्छासे अनुवाद करते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। उपलब्धिका देहसे अन्वय और व्यतिरेक है, वे अन्वय-व्यतिरेक उपलब्धि देहका धर्म है, ऐसा सिद्ध नहीं करते, क्योंकि अन्वय व्यतिरेकको देहमें निमित्तत्व सूचनसे अन्यथासिद्धि है, ऐसा अधिक कहते हैं—"अपि च" इत्यादि। उसी प्रकार उपलब्धिमात्रमें देहका निमित्तत्व भी असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"न चात्यन्तम्" इत्यादिसे। स्वप्नमें जो उपलब्धि होती है वह देहजन्य नहीं है, क्योंकि देहके व्यापारके विना भी वह होती है, वृक्षके समान। इसीसे शरीरके अभावमें भी स्वप्नके समान योगीको भोग होता है, ऐसा सूत्रकार कहेंगे। जाग्रत् अवस्थामें उपलब्धि देहसे उत्पन्न

रत्नप्रभा

मस्तीस्ति इत्यत्यन्तमित्युक्तम्। तस्मात् उक्तानुमानानुगृहीतात् 'मम शरीरम्' इति भेदानुभवात् 'अहं मनुष्यः' इत्यभेदज्ञानं भ्रम इत्युपसंहरति—तस्मादिति ॥५४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है, इसलिए 'अत्यन्तम्' ऐसा कहा है। इससे पूर्वोक्त अनुमानसे अनुगृहीत 'मेरा शरीर' ऐसे भेदानुभवसे 'मैं मनुष्य हूँ' यह अभेदज्ञान भ्रम है, इस तरह उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ ५४ ॥



[३१ अङ्गावबद्धाधिकरण सू० ५५–५६]

उक्थादिधीः स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत्।
सांनिध्यात् स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौ व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥
उक्थोद्गीथादिसामान्यं तत्तच्छब्दैः प्रतीयते।
श्रुत्या च संनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—स्वशाखामें ही उक्थादिबुद्धि है अथवा अन्यत्र भी है।

पूर्वपक्ष—सान्निध्यसे स्वशाखामें ही उसकी—उक्थादिबुद्धिकी व्यवस्थिति होती है।

सिद्धान्त—उन उन शब्दोंसे उक्थ और उद्गीथ आदि सामान्य प्रतीत होते हैं, इसलिए श्रुतिसे सन्निधिका बाध होनेसे अन्यत्र भी इसका गमन है।

---

* भाव यह है कि अङ्गाश्रित उपासनाओंमें उक्थशस्त्र आदि कर्माङ्गमें पृथिव्यादिदृष्टिका ऐतरेय उपनिषद्में श्रवण है। और उक्थका तो कौषीतकी आदि अन्य शाखाओंमें भी विधान है। यहांपर संशय होता है कि पृथिव्यादिदृष्टि ऐतरेयगत उक्थमें ही व्यवस्थित है अथवा कौषीतकी आदिमें भी अनुवृत्त होती है? इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि सन्निधिसे स्वशाखामें ही उसका अवस्थान होता है, अन्यत्र नहीं होता।

इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—मुख्यवृत्तिसे उक्थशब्द सब शाखाओंमें उक्त उक्थसामान्यका बोधन करता है, इसलिए उक्थकी श्रुतिसे सब शाखाओंमें रहनेवाले उक्थशस्त्रमें उपासनाकी अनुवृत्ति प्राप्त होती है। और श्रुति सन्निधिकी अपेक्षा बलवती है इससे क्वचित् क्वचित् विहित होनेपर भी बुद्धि सर्वत्र अनुगत होती है।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

पदच्छेद—अङ्गावबद्धाः, तु, न, शाखासु, हि, प्रतिवेदम् ।

पदार्थोक्ति—[पूर्वपक्षनिरास एव सूत्रस्थतुशब्दस्य प्रयोजनम्] अङ्गावबद्धाः—अङ्गाश्रिताः [एता उपासनाः] प्रतिवेदम्–प्रत्येकं वेदान्तेषु, शाखासु—स्वस्वशाखासु [च विद्यमानोद्गीथावलम्बना एव न भवन्ति, किन्तु अन्यशाखीयोद्गीथावलम्बना अपि, कुतः ?] हि—शब्दोयं हेत्वर्थकः, तथा च 'उद्गीथमुपासीत' इत्यादौ उद्गीथादिश्रुतेरविशेषात् हेतोरित्यर्थः ।

भाषार्थ—पूर्वपक्षका निरास ही तुशब्दका प्रयोजन है । अङ्गाश्रित वे उपासनाएँ प्रत्येक वेदान्तमें केवल अपनी अपनी शाखाओंमें विद्यमान उद्गीथावलम्बिनी ही नहीं हैं, परन्तु अन्य शाखीय उद्गीथका भी अवलम्बन करती हैं, क्योंकि 'उद्गीथमुपासीत' इत्यादिमें अविशेष उद्गीथ आदिकी श्रुति हेतु है ।

भाष्य

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, संप्रति तु प्रकृतामेवाऽनुवर्तामहे—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्',

भाष्यका अनुवाद

प्रासङ्गिक कथा समाप्त हुई । अब प्रकृत कथाको ही चलाते हैं । 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथ०' (उद्गीथभक्तिके अवयव 'ओम्' वर्णकी उपासना करनी चाहिए), 'लोकेषु पञ्चविधं०' (लोकोंमें—पृथिवी आदिमें अर्थात् पृथिवी आदि दृष्टिसे पांच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा०' (प्रजाएँ उक्थ, उक्थ, ऐसा कहती हैं, वह उक्थ यही—वक्ष्यमाण

रत्नप्रभा

अङ्गावबद्धाः० । उद्गीथावयवोङ्कारे प्राणदृष्टिः 'पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम्' (छा० २।२।१) इति हिङ्कारादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अङ्गावबद्धा०" इत्यादि । उद्गीथके अवयव ओंकारमें प्राणदृष्टि करनी चाहिए । 'पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावो०' (हिंकार पृथिवी है, प्रस्ताव अग्नि है, उद्गीथ अन्तरिक्ष है, प्रतिहार आदित्य और निधन द्युलोक है, हिंकार आदि पांच प्रकारके साममें पृथिवी आदि

भाष्य

'इयमेव पृथिवी', 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्येवमाद्या य उद्गीथादि-कर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखा-गतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथवा सर्वशाखागतेष्विति विशयः । प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानुपादायायमुपन्यासः । किं तावत् प्राप्तम् । स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति । कुतः ? संनिधानात् । 'उद्गीथ-

भाष्यका अनुवाद

ही है, जो उक्थ है' यह यही पृथिवी है), 'अयं वाव लोकः०' (चित अग्नि यह लोक है ऐसी उपासना करनी चाहिए) उद्गीथादि कर्माङ्गके साथ सम्बद्ध, इस प्रकारकी विद्याएँ प्रत्येक वेदमें भिन्न भिन्न शाखाओंमें विहित हैं। वे विद्याएँ उस उस शाखामें स्थित उद्गीथादिमें ही हैं या सब शाखाओंमें स्थित उद्गीथोंमें है, ऐसा संशय होता है। प्रत्येक शाखामें स्वरादिके भेदसे उद्गीथ आदि भेदोंको लेकर यह उपन्यास है। तब क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—अपनी शाखाओंमें स्थित उद्गीथादिमें ही विद्याओंका विधान किया

रत्नप्रभा

पञ्चविधे साम्नि पृथिव्यादिलोकदृष्टिः, उक्थाख्यशस्त्रे पृथिवीदृष्टिः, इष्टका-चिताग्नौ लोकदृष्टिः इत्येवं कर्माङ्गाश्रितोपास्तयः सन्ति, तासूद्गीथादिसाधारणश्रुत्या विशेषसन्निधिना च संशयः। ननु उद्गीथादीनां सर्वशाखास्वेकत्वादुपास्तयः सर्वत्रेति विद्यैक्यान्निश्चये कथं संशयः इत्यत आह—प्रतिशाखं चेति । यथा देहात्मनोः भेदाद् आत्मधर्मा देहे न सम्भवन्ति, तथा प्रतिवेदमुद्गीथादीनां भिन्नत्वादेकस्मिन् वेदे विहितोद्गीथाद्युपास्तयो वेदान्तरस्थोद्गीथादिषु न सम्भवन्तीति दृष्टान्तेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

दृष्टि करके उपासना करनी चाहिए) इस प्रकार हिंकारादि पंचविध साममें पृथिव्यादि लोकदृष्टि करनी चाहिए, उक्थसंज्ञक शस्त्रमें—ऋचमें पृथिवीदृष्टि करनी चाहिए, इष्टकाचित अग्निमें लोकदृष्टि करनी चाहिए, ऐसी कर्माङ्गके आश्रित उपासनाएँ हैं। उद्गीथ आदि साधारण श्रुतिसे—उद्गीथ आदिके सब शाखाओंमें साधारण होनेसे और विशेषसंनिधिसे संशय होता है। यदि कोई शंका करे कि उद्गीथ आदिके सब शाखाओंमें एक होनेसे सर्वत्र उपासनाएँ हैं, अतः विद्याकी एकतासे निश्चय होनेपर संशय कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—"प्रतिशाखम्" इत्यादिसे । जैसे देह और आत्माके भेदसे आत्मधर्मोंका देहमें रहना संभव नहीं है, वैसे ही प्रत्येक वेदमें उद्गीथादिके भिन्न होनेसे एक वेदमें स्थित उद्गीथादिकी उपासनाएँ अन्य वेदमें स्थित उद्गीथादिमें नहीं हो सकतीं, ऐसा दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष करते हैं—"स्वशाखा" इत्यादिसे ।

भाष्य

मुपासीत' (छा० १।१।१।१) इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः, तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति, तस्मात् प्रतिशाखं व्यवस्थेति ।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—अङ्गावबद्धास्त्विति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्, अपि तु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन्। कुतः ? उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात्। स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता

भाष्यका अनुवाद

जाता है। किससे ? संनिधानसे। 'उद्गीथमुपासीत' (उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए) इस प्रकार सामान्यतः विहित विद्याओंको विशेषकी आकांक्षा होनेपर सन्निकृष्ट होनेसे अपनी शाखामें स्थित विशेषसे आकांक्षा आदिकी निवृत्ति होनेसे उसका अतिक्रमण करके अन्य शाखामें विहित विशेषका ग्रहण करनेमें कारण नहीं है, इससे प्रत्येक शाखामें व्यवस्था है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'अङ्गावबद्धास्तु'। तुशब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। ये उपासनाएँ प्रत्येक वेदमें अपनी शाखामें ही व्यवस्थित रहें, यह ठीक नहीं है, परन्तु सब शाखाओंमें अनुवृत्त होनी चाहिएँ। किससे ? उद्गीथ आदि श्रुतिमें विशेष न होनेसे, क्योंकि अपनी शाखामें व्यवस्था होनेपर 'उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए' यह सामान्यश्रुति सामान्यरूपसे प्रवृत्त होती हुई सन्निधानके बलसे विशेषमें व्यवस्थापित की

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षयति—स्वशाखेति । 'उद्गीथमुपासीत' इति विधिवाक्यस्थोद्गीथत्वसामान्यस्य व्यक्त्यपेक्षत्वात् स्वशाखासन्निहितव्यक्तिग्रह इत्यर्थः। सामान्यश्रुतेः सन्निहितव्यक्तिग्रहाख्यसंकोचस्तत्र कर्तव्यः, यत्र व्यक्तिमात्रग्रहो नोपपद्यते। यथा 'शुक्लां गामानय' इत्यत्र गोश्रुतेः सन्निहितशुक्लव्यक्तिपरतया

रत्नप्रभाका अनुवाद

'उद्गीथमुपासीत' (उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए) इस विधिवाक्यमें स्थित उद्गीथत्व सामान्यको व्यक्तिकी अपेक्षा होनेसे अपनी शाखामें सन्निहित जो व्यक्ति उसका ग्रहण होता है, ऐसा अर्थ है। सामान्यश्रुतिका सन्निहितव्यक्तिग्रहरूपी संकोच वहां करना चाहिए, जहां व्यक्तिमात्रका ग्रहण उपपन्न नहीं होता। जैसे सफेद गाय लाओ, इसमें गोश्रुतिका

भाष्य

स्यात्। न चैतत् न्याय्यम्। संनिधानाद्धि श्रुतिर्बलीयसी। न च सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते। तस्मात् स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात् सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥ ५५ ॥

भाष्यका अनुवाद

जानेसे बाधित होगी, और यह ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति सन्निधानसे विशेष बलवती है। और सामान्यके आश्रयसे विद्या उपपन्न नहीं होती, ऐसा भी नहीं है, इससे यद्यपि स्वरादिका भेद है, तो भी उद्गीथत्व आदिका अभेद होनेसे सब शाखाओंमें स्थित ही उद्गीथादिमें इस प्रकारकी उपासनाएँ होंगी, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ५५ ॥

रत्नप्रभा

संकोचः, अत्र चानुपपत्त्यभावाद् व्यक्तिमात्रसम्बन्धसामान्यम् उपास्यमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना ॥ ५५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सन्निहित शुक्ल व्यक्तिमें तात्पर्य होनेसे संकोच होता है, यहां तो अनुपपत्ति न होनेसे व्यक्तिमात्रके साथ जिसका सम्बन्ध है, ऐसे सामान्यकी उपासना करनी चाहिए, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

पदच्छेद—मन्त्रादिवत्, वा, अविरोधः।

पदार्थोक्ति—[एकस्यां शाखायां विहितानामुद्गीथादीनामन्यस्यां शाखायामुदितेषूद्गीथादिषु प्राप्तेः] अविरोधः—विरोधाभावः मन्त्रादिवत् तण्डुलपेषणार्थभश्मादानमन्त्रस्य 'कुटरुरसि' इत्येकत्राम्नातस्य शाखान्तरेऽपि प्राप्तेरविरोधः, तद्वत्। वाशब्दो दृष्टान्तप्रदर्शनरूपहेत्वन्तरप्रदर्शनार्थः।

भाषार्थ—एक शाखामें विहित उद्गीथ आदिकी अन्यशाखामें कथित उद्गीथ आदिमें प्राप्ति होनेपर भी विरोध नहीं है। मन्त्रादिके समान—जैसे तण्डुलपेषणके लिए अश्मादानके 'कुटरुरसि' इत्यादि एकस्थानमें आम्नात मन्त्रकी अन्य शाखामें प्राप्ति करनेपर भी विरोध नहीं है, उसके समान प्रकृतमें भी समझना चाहिए। वाशब्द दृष्टान्त-प्रदर्शनके लिए है।

भाष्य

अथवा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः—कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्यशाखाविहिताः प्रत्यया भवेयुरिति, मन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः । तथा हि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते । येषामपि हि शाखिनां 'कुटरुरसि' इत्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते—'कुक्कुटोऽसि' इत्यश्मानमादत्ते 'कुटरुरसि' इति वेति । येषामपि च समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधि-

भाष्यका अनुवाद

अथवा अन्य शाखामें विहित उपासनाएँ किस प्रकार होंगी ? यहां ऐसे विरोधकी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मन्त्र आदिके समान अविरोध उपपन्न होता है, कारण कि एक शाखामें कहे गये मन्त्र, कर्म और गुणोंका अन्य शाखामें उपसंहार दिखाई देता है। जैसे कि जिन शाखावालोंके 'कुटरुरसि' (तू कुटरु है) ऐसा अश्मादान मन्त्र पठित नहीं है, उनके भी 'कुक्कुटोऽसि' (तू कुक्कुट है) ऐसा कहकर अश्मका ग्रहण करते हैं, अथवा 'कुटरुरसि' (तू कुटरु है) ऐसा कहकर अश्मका आदान करते हैं, यह विनियोग देखा जाता है।

रत्नप्रभा

पूर्वं शाखान्तरविहितोपास्तीनां शाखान्तरस्थाङ्गसम्बन्धे यः प्रतीतो विरोधः, तमङ्गीकृत्य सम्बन्ध उक्तः, सम्प्रति विरोध एव नास्ति, शाखान्तरविहिताङ्गानां शाखान्तरस्थाङ्गिसम्बन्धोपपत्तेः इत्याह—अथवेत्यादिना । यद्यपि यजुर्वेदिनां 'कुक्कुटोऽसि' इति मन्त्रोऽस्ति, 'कुटरुरसि' इति नास्ति । तथापि तण्डुलपेषणार्थाश्मादाने मन्त्रद्वयस्य विकल्पेन विनियोगात् सोऽपि प्राप्नोति इत्यर्थः । सूत्रस्थादिपदोपात्तकर्मणाम् उदाहरणमाह—येषामिति । मैत्रायणीयानामित्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्व सूत्रमें एक शाखामें विहित उपासनाओंका अन्य शाखामें स्थित अंगके साथ सम्बन्धमें जो विरोध प्रतीत हुआ था, उसका अंगीकार करके सम्बन्ध कहा गया है, अब विरोध ही नहीं है, क्योंकि अन्य शाखामें विहित अंगोंका अन्य शाखामें स्थित अंगीके साथ सम्बन्ध जैसे उपपन्न होता है, वैसे ही यह सम्बन्ध उपपन्न है, ऐसा कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे । यद्यपि यजुर्वेदियोंका 'कुक्कुटोऽसि' (तुम कुक्कुट हो) ऐसा मन्त्र है, 'कुटरुरसि' (तुम कुटरु हो) ऐसा मन्त्र नहीं है, तो भी तण्डुल पीसनेके लिए अश्मके आदानमें दोनों मन्त्रोंका विकल्पसे विनियोग होनेसे 'कुटरुरसि' यह मन्त्र भी प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ है। सूत्रमें कहे गये आदिपदसे कर्मका ग्रहण होता है, उसका उदाहरण कहते हैं—"येषाम्"

भाष्य

राम्नायते—'ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः' इति । तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति जातिविशेषोपदेशो नास्ति, तेषामपि तद्विषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति । तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्निर्वैहोत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे

भाष्यका अनुवाद

इसी प्रकार जिन शाखावालोंके समिध् आदि प्रयाज पठित नहीं हैं, उनकी शाखामें भी 'ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः' (ऋतु ही प्रयाज हैं, समान देशमें—तुल्य कर्मस्थलमें उनका होम करना चाहिए) ऐसी गुणविधि कही जाती है। इसी प्रकार जिन शाखावालोंमें 'अजोऽग्नीषोमीयः' (अज अग्नीषोमीय है) इस प्रकार जातिविशेषका उपदेश नहीं है, उनकी शाखामें 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' (अजकी वपाके मेदके होमके लिए अनुवाक्या कहो) ऐसा मन्त्रवर्ण उपलब्ध होता है। इसी प्रकार अन्य वेदमें उत्पन्न हुए 'अग्नेर्वैहोत्रं वेरध्वरम्' (देवताओंका होत्र और अध्वरकर्म अग्निसे ही है) इत्यादि मन्त्रोंका अन्य वेदमें परिग्रह दीखता है। इसी प्रकार 'यो जात

रत्नप्रभा

हेमन्तशिशिरयोः ऐक्याद् ऋतवः पञ्च, तद्वत् पञ्चसंख्याकाः प्रयाजाः । समानत्र—तुल्यकर्मस्थले होतव्या इति पञ्चत्वगुणविधानाद् गुणिनः शाखान्तरविहिताः सम्बध्यन्ते इति भावः । *गुणमुदाहरति—तथा येषामपीति ।* यजुर्वेदिनामग्नीषोमीयः पशुः श्रुतः, न अज इति जातिविशेषः, तथापि मैषमन्त्रलिङ्गाद् जातिविशेषसंग्रह इत्यर्थः । मन्त्राणाम् उदाहरणान्तरमाह—तथेति । सामवेदस्थानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । येषाम्—मैत्रायणी शाखावालोंका, ऐसा अर्थ है। हेमन्त और शिशिर इन दोको एक मानकर ऋतुएँ पांच हैं, उसी प्रकार प्रयाज भी पांच हैं, उनका तुल्य कर्मस्थलमें होम करना चाहिए, इस प्रकार पंचत्व गुणका विधान होनेसे अन्य शाखामें विहित गुणियोंका संबन्ध होता है, ऐसा भाव है। गुणका उदाहरण देते हैं—"तथा येषामपि" इत्यादिसे । यजुर्वेदियोंकी श्रुतिमें अग्नि और सोम जिसके देवता हैं, ऐसा पशु कहा गया है, 'अज' ऐसा जातिविशेष नहीं कहा गया है, तो भी मैषमन्त्रके लिंगसे जातिविशेषका संग्रह होता है, ऐसा अर्थ है। मन्त्रोंका दूसरा उदाहरण कहते हैं—"तथा" इत्यादिसे । सामवेदस्थ मन्त्रोंका

भाष्य

परिग्रहो दृष्टः । तथा बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २।६।७) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः । तस्माद् यथाऽऽश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्राऽनुवृत्तिः, एवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥

भाष्यका अनुवाद

एव प्रथमो मनस्वान्' (जो उत्पन्न हुआ ही—बालक ही गुणोंसे श्रेष्ठ और विवेकवान् हुआ [हे जनो, वह इन्द्र है]) बह्वृचों द्वारा पठित इस सूक्तका 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' (अध्वर्युद्वारा किये गये प्रयोगमें सजनीय— 'स जनास इन्द्रः' [हे जनो, वह इन्द्र है] यह सूक्त कहना चाहिए) इसमें परिग्रह देखा जाता है। इसलिए जैसे आश्रय कर्मके अंगोंकी सर्वत्र अनुवृत्ति है, वैसे ही आश्रित उपासनाओंकी भी सर्वत्र अनुवृत्ति है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ ५६ ॥

रत्नप्रभा

यजुर्वेदे परिग्रह इत्यर्थः । तथा बह्वृचेति । 'स जनास इन्द्रः' इत्यनेनोपलक्षितं सूक्तम्—सजनीयम् । तस्य याजुषाध्वर्युकर्तृकप्रयोगे शंसनं दृष्टमित्यर्थः । यो जातः बाल एव प्रथमः गुणैः श्रेष्ठः मनस्वान्—विवेकवान् सः इन्द्रः एवंविधो हे जनासः—जना इति श्रुत्यर्थः ॥ ५६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यजुर्वेदमें परिग्रह होता है, ऐसा अर्थ है। "तथा बह्वृच" इत्यादि। 'स जनास इन्द्रः' इससे उपलक्षित सूक्त 'सजनीयम्' है, उसका शंसन (यजुर्वेदके) अध्वर्युकृत प्रयोगमें दीखता है, ऐसा अर्थ है। हे जनो! जो उत्पन्न हुआ अर्थात् बाल ही होकर गुणोंसे प्रथम—श्रेष्ठ और मनस्वी—विवेकी है, वह इन्द्र है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥ ५६ ॥



[३२ भूमज्यायस्त्वाधिकरण सू० ५७]

ध्येयो वैश्वानरांशोऽपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा ।
अंशेपूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशधीरपि ॥१॥
उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् ।
अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—वैश्वानरके अंशकी उपासना करनी चाहिए अथवा कृत्स्न—समस्त वैश्वानरकी उपासना करनी चाहिए ।

पूर्वपक्ष—अशोंकी उपासना और फलका भी कथन है, इसलिए उभयकी अर्थात् व्यस्त और समस्तकी उपासना विवक्षित है ।

सिद्धान्त—उपक्रम और उपसंहारसे समस्तकी ही उपासना विवक्षित है तथा व्यस्तकी उपासना और उसका फल स्तुतिके लिए है, क्योंकि प्रत्येक उपासनाकी निन्दा की गई है ।

---

* भाव यह है कि वैश्वानरविद्यामें विराट्रूप वैश्वानरके द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, उदक और पृथ्वीका मूर्धा, चक्षु, प्राण और मध्यशरीर, मूत्रस्थान पाद आदि रूपसे ध्यान करनेके लिए योग्य अंश कहे गये हैं । उन सभी अंशोंकी प्रत्येक—स्वतन्त्र उपासना है कारण कि उपास्तिशब्द और फलकथन प्रत्येक स्थलमें उपलब्ध होता है—'औपमन्यव क त्वमात्मानमुपास्से' (हे उपमन्युके पुत्र ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो) 'दिवमेव भगवो राजन्निति' (हे भगवन् ! द्युलोककी उपासना करता हूँ) इस प्रकारके प्रश्न और उत्तरसे द्युलोकमात्रकी उपासना देखी जाती है । इसी प्रकार 'तव सुतम्' इत्यादिसे सोमयागविशेषकी सम्पत्ति फलरूपसे देखी जाती है । इसी रीतिसे अन्य अंशोंमें भी उपासना और फलका उदाहरण है । 'तस्य ह वै' इससे समस्त उपासना भी प्रतीत होती है, इसलिए समस्त और व्यस्त–उभयकी उपासना है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—समस्त उपासना ही विवक्षित है, व्यस्त उपासनाकी विवक्षा नहीं है, किससे ? उपक्रम और उपसंहारसे एकवाक्यताका अवगम—ज्ञान होनेसे । प्रथम उपक्रममें 'को न आत्मा, किं ब्रह्म' इत्यादिसे कृत्स्न—उपास्यरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्मका ही विचार करनेके लिए कथन है । उपसंहारमें भी 'तस्य ह वै' इत्यादिसे सुस्पष्ट रीतिसे समस्तोपासना ही उदित है । ऐसी स्थितिमें अंशोपासनाएँ यदि पृथक् पृथक् मानी जायँ, तो वाक्यभेद प्रसक्त होगा । पृथक् उपासनाफलके कथनका तो कैमुतिकन्यायसे समस्तोपासनाकी स्तुतिमें पर्यवसान होगा । यदि अनेक उपासनाओंके लाभके लिए वाक्यभेद मानोगे, तो 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' इत्यादि प्रत्येक उपासनाकी निन्दाके लिए प्रयुक्त वाक्य निरर्थक होंगे, इसलिए समस्त उपासना ही न्याय्य है ।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

पदच्छेद—भूम्नः, क्रतुवत्, ज्यायस्त्वम्, तथा, हि, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—भूम्नः—समस्तोपासनस्य [एवात्र वाक्ये 'प्राचीनशाल औपमन्यवः' इत्यादौ] ज्यायस्त्वम्—प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वम्, [न व्यस्तोपासनानाम् अपि] क्रतुवत्—दर्शपूर्णमासादेः क्रतोः यथा साङ्गप्रधानस्यैकस्यैव प्रयोगो विवक्ष्यते, न व्यस्तानामपि प्रयाजादीनां तद्वत्, [ननु भूम्न एव ज्यायस्त्वं कथम्? इत्यत आह]—तथेत्यादि । हि—यतः तथा—तेन प्रकारेण प्राचीनशालादिभिरुक्तानि व्यस्तोपासनानि निन्दित्वा कैकेयेन राज्ञा समस्तोपासनस्योक्त्वादेकवाक्यतां श्रुतिर्दर्शयति ।

भाषार्थ—'प्राचीनशाल औपमन्यवः' इत्यादिमें समस्तोपासनाका ही प्रधानरूपसे प्रतिपादन है [प्रत्येकमें वैश्वानरत्वकी उपासना व्यस्तोपासना कही जाती है] जैसे दर्शपूर्णमास क्रतुमें एक ही साङ्ग प्रधानका प्रयोग होता है, अलग अलग व्यस्त प्रयाज आदिका नहीं होता है, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए । समस्तोपासनाका ही प्रधानरूपसे कथन है, यह श्रुति भी प्राचीनशाल आदिसे कहे गये व्यस्त उपासनाओंकी निन्दा करके कैकेय राजा द्वारा कथित समस्त उपासनाओंकी ही प्रतिपत्ति दिखलाती है ।

भाष्य

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (छा० ५।११।१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते । व्यस्तोपासनं तावत्—

भाष्यका अनुवाद

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल) इस आख्यायिकामें व्यस्त और समस्त वैश्वानरकी उपासना श्रुत है । 'औपमन्यव कम्०'

रत्नप्रभा

भूम्नः क्रतुवत्० । द्युलोकादिषु प्रत्येकं वैश्वानरत्वोपास्तिः—व्यस्तोपास्तिः, तदवयव्युपास्तिः—समस्तोपास्तिः इति भेदः, आख्यायिका पूर्वमेव व्याख्याता । अत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

"भूम्नः क्रतुवत्०" इत्यादि । द्युलोक आदिमें से प्रत्येककी वैश्वानररूपसे उपासना व्यस्त उपासना है और उनके अवयवीकी उपासना समस्त उपासना है, यह भेद है, आख्यायिकाका पहले ही व्याख्यान कर चुके हैं । यहां दोनों उपासनाओंमें विधि और फलका श्रवण होनेसे

भाष्य

'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' (छा० ५।१२।१) इत्यादि। तथा समस्तोपासनमपि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिहोभयथाऽप्युपासनं स्यात् व्यस्तस्य समस्तस्य च, उत समस्तस्यैवेति। किं

भाष्यका अनुवाद

(हे औपमन्यव! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? इस प्रकार कैकय राजाके प्रश्न करनेपर, हे राजन्! द्युलोकरूप वैश्वानरकी मैं उपासना करता हूँ, ऐसा औपमन्यवने कहा। उससे कैकय राजाने कहा—जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो, यह सुतेजा आत्मा वैश्वानर है) इत्यादि व्यस्त उपासना है। इसी प्रकार 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य०' (इस आत्मा वैश्वानरका माथा ही सुतेज—शोभन तेजवाला—द्यु है, चक्षु विश्वरूप—सूर्य है, प्राण पृथग्वर्त्मा—वायु है, देहका मध्य ही आकाश है, वस्ति ही धन है और पृथिवी ही पाद है) इत्यादि समस्त उपासना भी है। यहां पर संशय होता है कि वैश्वानर-वाक्यमें व्यस्त और समस्त दोनों प्रकारकी उपासनाएँ हैं या समस्तकी ही उपासना है ? क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

उभयत्र विधिफलयोः श्रवणात् एकवाक्यत्वोपपत्तेश्च संशयम् आह—तत्रेति। 'सैव हि सत्यादयः' (ब्र० सू० ३।३।३८) इत्यत्र 'तद्यत्तत् सत्यम्' इति प्रकृताकर्षाद् विद्यैक्यमुक्तम्, तद्वत् अत्र ऐक्यहेत्वभावात् अगतार्थत्वं मत्वा पूर्वत्रोद्गीथादिश्रुत्या सन्निधिबाधेन उद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशाखासु उपसंहारवद् व्यस्तोपास्तीनां विधिश्रुतेः फलश्रवणस्य च समस्तोपास्तिसन्निधिप्राप्तं स्तुत्यर्थत्वं बाधित्वा तद्विधेयत्वम् इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

और एक वाक्यताकी उपपत्ति होनेसे संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। 'सैव हि सत्यादय' यहांपर यह जो सत्य है, इस प्रकार प्रकृतका आकर्षण करके विद्याकी एकता कही गई है। उस प्रकार यहांपर एकताके हेतुका अभाव होनेसे गतार्थता नहीं है, ऐसा मानकर पूर्वमें उद्गीथ आदि श्रुति संनिधिका बाध करती है, इससे उद्गीथ आदिकी उपासनाका सब शाखाओंमें उपसंहार कहा है, उसी तरह यहां भी व्यस्त उपासनाके विधि और फल दोनोंका श्रवण होनेसे समस्त उपासनाकी संनिधिसे प्राप्त हुई स्तुत्यर्थ व्यस्त उपासनाका बाध करके व्यस्त

भाष्य

तावत् प्राप्तम् ? प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषु 'उपास्से' इति क्रियापदश्रवणात्, 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५।१२।१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च, व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम् ।

ततोऽभिधीयते—भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्येनाऽस्मिन् वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि । क्रतुवत्—यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते, न व्यस्तानामपि प्रयोगः

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—सुतेजा आदि प्रत्येक अवयवमें 'उपास्से' (तू उपासना करता है) इस क्रियापदका श्रवण है और 'तस्मात्तव सुतं०' (उससे—सुतेजा वैश्वानरकी उपासनासे तुम्हारे कुलमें सुत, प्रसुत और आसुत दीखते हैं) इत्यादि फलभेदके श्रवणसे उपासनाएँ व्यस्त हैं ।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—भूमाका-पदार्थोपचयात्मक समस्त वैश्वानरोपासनाका ज्यायस्त्व—प्राधान्य, इस वाक्यमें विवक्षित होना युक्त है, प्रत्येक अवयवोपासनाका प्राधान्य विवक्षित होना युक्त नहीं है, क्रतुके समान । जैसे दर्शपूर्णमास आदि क्रतुओंमें साकल्येन सांगप्रधानका ही प्रयोग विवक्षित है, व्यस्त प्रयाज आदिका प्रयोग विवक्षित नहीं है, उसी प्रकार

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षमाह—प्रत्यवयवमिति । फलानुक्तौ पूर्वोत्तरपक्षसिद्धिरेव फलं मन्तव्यम् । सुतम्—खण्डितं सोमद्रव्यम् । तस्यैव प्रसुतत्वम् आ—समन्तात् सुतत्वम्—अवस्थाभेदः, सोमयागसम्पत्तिः तव कुले दृश्यते इति यावत् ।

'आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इति वाक्यप्रकरणाभ्यां व्यस्तोपास्तीनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासनाकी विधि ही है—व्यस्त उपासना विधेय ही है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"प्रत्यवयवम्" इत्यादिसे । फलका कथन न होनेसे पूर्व और उत्तर पक्षकी सिद्धि को ही फल मानना चाहिए । सुत—खण्डित सोमद्रव्य । उसीके प्रसुत और आसुत ये अवस्थाभेद हैं, सोमयागकी सम्पत्ति तुम्हारे कुलमें दीखती है, ऐसा भावार्थ है । आत्मा—वैश्वानरका मूर्धा ही सुतेजा है, ऐसे वाक्य और प्रकरणसे व्यस्त उपासनाका समस्त उपासनामें अन्तर्भाव होनेसे प्रयाज और दर्शके समान उनकी एकप्रयोगताकी सिद्धि होनेपर अर्थवादमें प्रधानका और उसके

भाष्य

प्रयाजादीनाम् । नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य—तद्वत् । कुत एतद्—भूमैव ज्यायानिति ? तथा हि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति, एकवाक्यतावगमात् । एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात् प्रतीयते । तथा हि—प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षड्ऋषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठाम-प्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुः—इत्युपक्रम्यैकैकस्यर्षे-रुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मा नागमिष्यः' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना च व्यस्तो-पासनमपवदति । पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य, समस्तोपासनमेवाऽनुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५।१८।१)

भाष्यका अनुवाद

एकदेशरूप अंगसे युक्त प्रधानका भी प्रयोग विवक्षित नहीं है, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए। परन्तु भूमा ही प्रधान है, ऐसा किससे ज्ञात होता है ? इससे कि श्रुति भूमाका प्राधान्य दिखलाती है, कारण कि एक-वाक्यताका बोध होता है, क्योंकि ग्रन्थके पौर्वापर्यकी आलोचना करनेसे यह वैश्वानर विद्याविषयक एक वाक्य है, ऐसा प्रतीत होता है। जैसे कि प्राचीन-शालसे लेकर उद्दालक तक छः ऋषि वैश्वानर विद्यामें परिनिष्ठित नहीं थे, इससे वे अश्वपति कैकेय राजाके पास गये, ऐसा उपक्रम करके उसने एक एक ऋषिके लिए उपास्य द्युलोकादि एक एकको सुनाकर 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (यह तो वैश्वानर आत्माका मस्तक है, ऐसा कहा) इत्यादिसे श्रुति उन द्युलोकादिका मूर्धा आदिरूपसे विधान करती है। 'मूर्धा ते व्यप-तिष्य०' (जो तुम मेरे पास न आते, तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता) इत्यादिसे व्यस्त उपासनाकी निन्दा करती है। फिरसे व्यस्त उपासनाकी व्यावृत्ति करके और समस्त उपासनाकी ही अनुवृत्ति करके 'स सर्वेषु लोकेषु०'

रत्नप्रभा

समस्तोपास्त्यन्तर्भावेन प्रयाजदर्शवदेकप्रयोगत्वे सिद्धे प्रधानतदङ्गफलानां अर्थ-वादगतानाम् एकप्रधानफलतया उपसंहाराद् वाक्यभेदो न युक्त इति सिद्धान्त्याशयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंगोंका जो फल है, उसका एकप्रधानके फलरूपसे उपसंहार है, इसलिए वाक्यभेद युक्त नहीं है, ऐसा सिद्धान्तीका आशय है। एकदेशीकी व्याख्याका अनुवाद करके उसे दूषित

भाष्य

इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति। यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणम्, तदेवं सत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम्। तथा 'उपास्से' इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थम्, न व्यस्तोपासनविधानार्थम्। तस्मात् समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति।

केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनपक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यते इति कल्पयन्ति; तदयुक्तम्, एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्याऽन्याय्यत्वात्। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१२।२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात्। स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

(वह सब लोकोंमें, सब भूतोंमें, सब आत्माओंमें अन्न खाता है) इस प्रकार भूमाश्रित ही फल दिखलाती है। सुतेजा आदि प्रत्येक अङ्गमें जो फलभेदकी श्रुति है, ऐसा होनेपर उस अङ्गफलका प्रधानमें ही स्वीकार किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। और 'उपास्से' (तुम उपासना करते हो) यह भी प्रत्येक अवयवमें जो क्रियापदका श्रवण है, वह भी दूसरेके अभिप्रायका अनुवाद करनेके लिए है, व्यस्त उपासनाका विधान करनेके लिए नहीं है। इससे समस्त उपासनाका पक्ष ही अधिक श्रेष्ठ है।

कितने ही वेदान्तैकदेशी तो इस अधिकरणमें समस्त उपासनाका पक्ष अधिक श्रेष्ठ है, ऐसा स्थापन करके ज्यायस्त्वकथनसे ही व्यस्त उपासनाका पक्ष भी सूत्रकारको अनुमत है, ऐसा कहते हैं, वह अयुक्त है, क्योंकि एकवाक्यता होनेपर वाक्यभेदकी कल्पना करना ठीक नहीं है। उसी प्रकार 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (तेरा मस्तक गिर जाता) इत्यादि निन्दावचनका विरोध भी होता है। उपसंहारमें समस्त उपासनाका बोध स्पष्ट होता है, ऐसी अवस्थामें

रत्नप्रभा

एकदेशिव्याख्यामनूद्य दूषयति—केचिदिति। यदि उभयथा उपासनं सिद्धान्तः, कथं तर्हि व्यस्तोपासनमेवेति पूर्वपक्षो वक्तव्यः। स च न सम्भवती-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—"केचित्" इत्यादिसे। यदि उभयथा उपासना है, ऐसा सिद्धान्त हो, तो व्यस्त उपासना ही है, ऐसा पूर्वपक्ष कहना चाहिए, परन्तु उसका सम्भव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"स्पष्टे च"

भाष्य

सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥५७॥

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षमें उसका अभाव नहीं कहा जा सकता और सूत्रमें ज्यायस्त्वका वचन प्रमाणवत्त्वके अभिप्रायसे भी उपपन्न होता है ॥ ५७ ॥

रत्नप्रभा

त्याह—स्पष्टे चेति । कथम् तर्हि सूत्रे ज्यायस्त्वोक्तिः ? तत्राह—सौत्रस्येति । व्यस्तोपास्तीनामप्रामाणिकत्वद्योतनार्थं तदुक्तिरिति भावः ॥ ५७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । तब सूत्रमें ज्यायस्त्वकी उक्ति किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—"सौत्रस्य" इत्यादिसे । व्यस्त उपासनाएँ अप्रमामाणिक हैं, यह सूचित करनेके लिए उसकी उक्ति है, ऐसा भाव है ॥ ५७ ॥

[३३ शब्दादिभेदाधिकरण सू० ५८]

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः ।
समस्तोपासनश्रैष्ठ्याद् ब्रह्मैक्यादप्यभिन्नता ॥१॥
कृत्स्नोपास्तेरशक्यत्वाद् गुणैर्ब्रह्म पृथक् कृतम् ।
*दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात् * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—*शाण्डिल्य दहर आदि उपासनाएँ, अभिन्न हैं ? या भिन्न हैं ?*

पूर्वपक्ष—समस्तोपासनाके श्रेष्ठ होनेसे और ब्रह्मका ऐक्य होनेसे वे उपासनाएँ अभिन्न हैं ।

सिद्धान्त—प्रकृतमें समस्तोपासनाका असम्भव होनेसे और गुणसे ब्रह्मका भेद होनेसे, इस प्रकार अलग अलग उपक्रम करनेसे दहरादि उपासनाएँ भिन्न भिन्न हैं ।

---

* सारांश यह है कि छान्दोग्यमें शाण्डिल्य विद्या और मधुविद्या आदिका पाठ है, वैसे ही अन्य शाखाओंमें भी है । तब पूर्व अधिकरणके समान समस्तोपासनाकी श्रेष्ठता होनेसे और वेद्य ब्रह्मके एक होनेसे सभी विद्याएँ अभिन्न हैं, यह सिद्ध है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि अनन्त विद्याओंका एकीकरण करके अनुष्ठान करना सर्वथा अशक्य है, इसलिए विद्याका भेद ही मानना उत्तम है । गुण भेदसे ब्रह्मके भेदके भी स्वीकृत होनेसे 'वेद्य ब्रह्म एक है, इस उक्तिको लेकर दोष नहीं आ सकता है । और एक एक विद्याकी इयत्ताका—परिमाणका निश्चय नहीं हो सकता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि *उपक्रम और उपसंहारसे विद्याकी इयत्ताका ज्ञान हो सकता है । इससे विद्याएँ नाना—अनेक हैं,* यह ठीक प्रतीत होता है ।

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

पदच्छेद—नाना, शब्दादिभेदात् ।

पदार्थोक्ति—नाना—एका विद्या नास्ति [अपि तु भिन्नैव, कुतः ?] शब्दादिभेदात्—'वेद' 'उपासीत' इत्यादिशब्दादिभेदात् [आदिना उपास्यगुणभेदात्, इत्यपि बोध्यम्] ।

भाषार्थ—विद्या एक नहीं है, परन्तु अनेक हैं, क्योंकि 'वेद' 'उपासीत' इत्यादि शब्दोंका भेद है, आदिशब्दसे उपास्यगुणके भेदका ग्रहण होता है।

भाष्य

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्, अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि च भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपासिष्यन्ते इति । अपि च नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते । वेद्यं हि रूपं विद्यायाः द्रव्यदैवतमिव यागस्य, वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं

भाष्यका अनुवाद

पूर्व अधिकरणमें सुतेजा आदिमें भिन्न फलकी श्रुतिके विद्यमान होनेपर भी समस्त उपासना श्रेष्ठ है, ऐसा कहा गया है, इससे जिनकी श्रुति भिन्न है, ऐसी अन्य उपासनाएँ भी समस्तरूपसे होंगी, ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है। और वेद्यका अभेद होनेपर विद्याका भेद नहीं जाना जा सकता; क्योंकि जैसे द्रव्य और देवता ये यागके रूप हैं, वैसे ही विद्याका रूप वेद्य है श्रुतिका भेद होनेपर भी वेद्य एक ही ईश्वर अवगत होता है—'मनोमयः प्राणशरीरः' (मनोमय है और प्राण—लिंगात्मा जिसका शरीर है),

रत्नप्रभा

नाना शब्दादिभेदात् । शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्या एका नाना वा, तथा संवर्गादिप्राणविद्या एका नाना वेति रूपैक्यभावाभावाभ्यां संशये दृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वपक्षमाह—पूर्वस्मिन्निति । रूपैक्याच विद्यैक्यमित्याह—अपि चेति। विद्यैक्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"नाना शब्दादिभेदात्" । शाण्डिल्य आदि ब्रह्मविद्या एक है या भिन्न ? और संवर्ग आदि प्राणविद्या एक है या भिन्न ? उसमें एकरूपके भाव और अभावसे संशय होनेपर दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—"पूर्वस्मिन्" इत्यादिसे । एकरूपसे एक विद्या है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

ब्रह्म खं ब्रह्म (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमादिषु। तथा 'एक एव प्राणः' 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३), 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१), 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७।१५।१) इत्येवमादिषु। वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वं श्रुतम्। श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन् पक्षे गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम्। तस्मात् स्वपरशाखाविहितमेकवेद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकात्स्न्यायेति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—नानेति। वेद्याऽभेदेऽप्येवञ्जातीयका विद्या भिन्ना

भाष्यका अनुवाद

'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (ईश्वर सत्यकाम, सत्यसंकल्प है) इत्यादि श्रुतियोंमें। और 'एक एव प्राणः' (प्राण एक ही है)—'प्राणो वाव संवर्गः' (प्राण ही संवर्ग है—संग्रसन करनेवाला है) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है—प्राण वाक् आदिसे ज्येष्ठ है, क्योंकि गर्भस्थ पुरुषमें प्राणकी वृत्ति वाक् आदिसे पहले प्राप्त होती है और प्राण इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ है), 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (प्राण पिता है, प्राण माता है) इत्यादि श्रुतियोंमें। वेद्यके एक होनेसे विद्या भी एक है। और श्रुतिका भेद भी इस पक्षमें अन्य गुणोंका प्रतिपादन करनेके लिए है, अतः निरर्थक नहीं है। इसलिए अपनी शाखा और अन्य शाखाओंमें विहित एक वेद्य—आश्रयमें स्थित गुणसमूहका विद्याकी पूर्णताके लिए उपसंहार करना युक्त है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'नाना' इत्यादि। वेद्यका

रत्नप्रभा

चेत् एकश्रुत्युक्तविद्यायाः श्रुत्यन्तरेऽप्युक्तिः वृथा इत्यत आह—श्रुतिनानात्वमपीति। पूर्वपक्षफलमाह—तस्मादिति।

सिद्धान्ते तु गुणानुपसंहार इति मत्वा सूत्रं योजयति—वेद्याऽभेदेऽपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे। विद्याका यदि अभेद हो तो एक श्रुतिमें उक्त विद्याका अन्य श्रुतिमें कथन व्यर्थ हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"श्रुतिनानात्वमपि" इत्यादिसे। पूर्वपक्षका फल कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे।

सिद्धान्तमें गुणोंका अनुपसंहार है, ऐसा मानकर सूत्रकी योजना करते हैं—"वेद्याभेदेऽपि"

भाष्य

भवितुमर्हति। कुतः? शब्दादिभेदात्। भवति हि शब्दभेदः 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिः। शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्तात्‌शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' इति। आदिग्रहणाद् गुणादयोऽपि यथासम्भवं भेदहेतवो योजयितव्याः। ननु

भाष्यका अनुवाद

अभेद होनेपर भी इस प्रकारकी विद्याका भेद ही होना युक्त है। किससे? शब्द आदिके भेदसे, क्योंकि 'वेद' (वह जानता है), 'उपासीत' (उपासना करे), 'स क्रतुं कुर्वीत' (वह क्रतु करे) इत्यादि शब्दभेद है। और शब्द-भेद कर्मभेदका हेतु—निमित्त है, ऐसा पूर्वकाण्डमें—'शब्दान्तरे कर्मभेदः, कृतानुबन्धत्वात्' (शब्दान्तर होनेपर क्रियाका—भावनाका भी भेद है, क्योंकि भावनाका प्रत्येक धातुके साथ सम्बन्ध है, अतः विधिका भेद होता है) इस प्रकार [इस सूत्रमें] अवगत होता है। आदिका ग्रहण होनेसे गुणादिकी भी यथासम्भव भेदहेतुरूपसे योजना करनी चाहिए। परन्तु

रत्नप्रभा

ननु भिन्नभावार्थवाचकशब्दः शब्दान्तरम्, यथा 'यजति' 'ददाति' 'जुहोति' इति। तस्मिन् शब्दभेदे कर्मशब्दितविध्यर्थभावनाया भेदो युक्तः, तस्याः कृताऽनुबन्धत्वात्—भेदेन स्वीकृतविषयत्वात्—भावार्थभेदात् इति यावत्। प्रकृते तु 'वेद' 'उपासीत' इत्यादिशब्दार्थोपास्तेर्यागदानहोमवत् स्वतो भेदाभावात् सिद्धगुणकब्रह्मण एकत्वेन विषयतोऽपि भेदाभावात् कथम् उपास्तिभेद इति शङ्कते—नन्विति। अत्र सूत्रे शब्दभेदोऽभ्युच्चयमात्रतया उक्तः, विद्यानानात्वे सम्यक् हेतवस्त्वादिपदोपात्तगुणादय एव। तथा हि—सिद्धस्यापि गुणस्य कार्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। भिन्न भावार्थवाचक शब्द अर्थात् जिनका भावार्थ भिन्न है, ऐसा शब्द—शब्दान्तर है, जैसे कि 'यजति', 'ददाति' और 'जुहोति' है। शब्दभेद होनेपर कर्मशब्दित विध्यर्थ-भावनाका भेद होना ठीक है, क्योंकि यह भावना कृतसम्बन्ध है—भावनाके भेदसे अपना विषय स्वीकृत है अर्थात् भावार्थका भेद है। प्रकृतमें तो 'वेद' 'उपासीत' इत्यादि शब्दोंका अर्थ जो उपासना है, उसका याग, दान और होमके समान अपनेसे भेद न होनेसे और सिद्ध गुणवाले ब्रह्मके एक होनेसे विषयपरत्वसे भी भेद न होनेसे, उपासनाका भेद किस प्रकार है, ऐसी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। यहांपर सूत्रमें शब्दभेद केवल अभ्युच्चयसे कहा गया है, विद्याके भेदमें सम्यक् हेतु तो आदिपदसे उक्त गुणादि ही है, क्योंकि यदि गुण

भाष्य

वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवाऽवगम्यते, न यजतीत्यादिवदर्थभेदः, सर्वेषामेवैषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात्, अर्थान्तरासम्भवाच्च । तत् कथं शब्दभेदाद् विद्याभेद इति । नैष दोषः । मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदोपपत्तेः । एकस्याऽपि हीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते । तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याऽभेदेऽप्यन्यादृग्गुणोऽन्यत्रोपासितव्योऽन्यादृग्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद् वेद्य-

भाष्यका अनुवाद

'वेद' 'उपासीत' इत्यादि उदाहरणोंमें शब्दभेद ही अवगत होता है, (यजति, ददाति, जुहोति) इत्यादिके समान अर्थभेद अवगत नहीं होता है, क्योंकि 'वेद' 'उपासीत' आदि इन सभी शब्दोंका मनोवृत्तिरूप एक ही अर्थ है और उनके अन्य—ज्ञान आदि अर्थका सम्भव नहीं है। तो शब्दभेदसे विद्याभेद किस प्रकार होगा ? ऐसा आक्षेप होता है। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि मनोवृत्तिरूप अर्थका अभेद होनेपर भी अनुबन्धके भेदसे वेद्यका भेद होनेपर विद्याभेदकी उपपत्ति होती है। उपास्य ईश्वर यद्यपि एक है, तो भी उसके गुण प्रत्येक प्रकरणमें भिन्न कहे जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि एक ही प्राण तत्-तत् स्थलमें उपास्यरूपसे अभिन्न है, तो भी एक प्रकारके गुणोंसे युक्त एक जगहमें उपासनीय है और अन्य प्रकारके गुणोंसे युक्त अन्यत्र उपासनीय है।

रत्नप्रभा

न्वयितया कार्यत्वमस्ति । यथा आरुण्यादिगुणानां क्रयणभावनान्वयितया कार्यत्वम् । तथा च तत्तत्प्रकरणेषु उत्पत्तिशिष्टैरुपास्तिभावनान्वयितया साध्यैस्तत्तद्गुणैर्विशिष्टतयोपास्यरूपभेदात् उपासनाभेदः। यथा छत्रचामरादिगुणभेदेन राजोपास्तिभेदः, यथा वा आमिक्षावाजिनगुणभेदेन यागभेदः, तद्वत् । तथा प्रतिविद्यं फलसंयोगभेदात् दहरशाण्डिल्यादिसमाख्याभेदाद् भेद इति समाधत्ते—नैष दोष

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध हो, तो भी उसका कार्यके साथ अन्वय होनेसे वह कार्य है। जैसे क्रयणभावनाके साथ अन्वय होनेसे आरुण्य आदि गुण कार्य हैं। उसी प्रकार तत्-तत् प्रकरणोंमें उत्पत्तिशिष्ट, उपासनाभावनाके साथ अन्वय होनेसे साध्यके तत्-तत् गुणोंसे विशिष्ट होनेसे उपास्यके रूपमें भेद है, अतः उपासनामें भेद है। जैसे छत्र, चामर आदि गुणोंके भेदसे राजाकी उपासनामें भेद है। अथवा जैसे आमिक्षा, वाजिन गुणोंके भेदसे यागमें भेद है, वैसे ही यहांपर भी भेद समझना चाहिए। उसी प्रकार प्रत्येक विद्यामें फलसंयोगका भेद होनेसे दहर, शाण्डिल्य आदि समाख्याका भेद होनेसे भेद है, ऐसा समाधान करते हैं—"नैष दोषः" इत्यादिसे। श्रुतिका

भाष्य

भेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते । न चाऽत्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम्, विनिगमनायां हेत्वभावात् । अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन गुणविधानानुपपत्तेः । न चाऽस्मिन् पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रावयितव्याः । प्रतिप्रकरणं च इदंका-

भाष्यका अनुवाद

अनुबन्धके भेदसे वेद्यका भेद होनेपर विद्याका भेद ज्ञात होता है । यहां एक विधाविधि है और अन्य गुणविधियां हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकारकी व्यवस्थामें कोई हेतु नहीं है । और प्रत्येक प्रकरणमें गुणोंके अनेक होनेसे प्राप्त विद्याके अनुवादसे गुणोंके विधानकी अनुपपत्ति है । और इस पक्षमें समान होनेसे सत्यकामादि गुणोंका अनेक बार श्रवण कराना युक्त नहीं है । प्रत्येक प्रकरणमें इस फलकी इच्छा हो तो इस उपास्यकी उपासना करनी

रत्नप्रभा

इत्यादिना । यदुक्तं श्रुतिनानात्वं गुणान्तरविध्यर्थमिति, तन्नेत्याह—न चाऽत्रैक इति । किञ्च, प्राप्तविद्यानुवादेन अप्राप्तानेकगुणविधाने वाक्यभेदः स्यादित्याह—अनेकत्वाच्चेति । किञ्च, विद्यैक्यपक्षे गुणानां पुनरुक्तिर्वृथा । न च प्रत्यभिज्ञानार्था, ब्रह्मैक्यादेव तत्सिद्धेः । विधानानात्वपक्षे तु गुणानामप्राप्तेः सा प्राप्त्यर्थेत्याह—न चाऽस्मिन् पक्षे इति । फलभेदात् चोदनैक्याभावात्, सर्वगुणध्यानस्य अशक्यत्वाच्च विद्या नाना इत्याह—प्रतिप्रकरणं चेत्यादिना । दहरध्यातुः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, वैश्वानरध्याता सर्वत्र 'अन्नमत्ति' इत्यादिफलभेद इत्यर्थः । ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

भेद अन्य गुणोंके विधानके लिए है, ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चात्रैक" इत्यादिसे । और प्राप्त विद्याके अनुवादसे अप्राप्त अनेक गुणोंका विधान करनेसे वाक्यभेद हो जायगा, ऐसा कहते हैं—"अनेकत्वाच्च" इत्यादिसे । और विद्याके एकत्वपक्षमें गुणोंकी पुनरुक्ति निरर्थक होगी और वह प्रत्यभिज्ञानके लिए भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान तो ब्रह्मके ऐक्यसे ही सिद्ध है । परन्तु विद्याके भेदपक्षमें तो गुणोंके प्राप्त न होनेसे वह पुनरुक्ति गुणोंकी प्राप्तिके लिए है ऐसा कहते हैं—"न चास्मिन् पक्षे" इत्यादिसे । फलका भेद होनेसे, चोदनाके एक न होनेसे और सब गुणोंके ध्यानके अशक्य होनेसे विद्या भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं—"प्रतिप्रकरणं च" इत्यादिसे । दहरका ध्यान करनेवालोंका सब लोकोंमें स्वेच्छासे गमन होता है । वैश्वानरका ध्यान करनेवाला सर्वत्र अन्न खाता है, इत्यादि फलभेद है, ऐसा अर्थ

भाष्य

मेनेदमुपासितव्यम् इदङ्कामेन चेदम् इति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नैकवाक्यतापत्तिः। न चाऽत्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनाऽपराऽस्ति यद्बलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामियुः। वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत। तस्मात् सुष्ठूच्यते—नाना शब्दादिभेदादिति। स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

भाष्यका अनुवाद

चाहिए, और दूसरे फलकी इच्छा हो तो दूसरे उपास्यकी उपासना करनी चाहिए, ऐसी उन उपासनाओंमें निराकांक्षता ज्ञात होनेसे एकवाक्यता नहीं हो सकती। और वैश्वानरविद्यामें जैसे दूसरी—समस्त उपासनाविधि है वैसे प्रकृत शाण्डिल्य आदि उपासनामें अन्य समस्त उपासनाविधि नहीं है, जिसके बलसे प्रत्येक प्रकरणमें आई हुई अवयवोपासनाएँ एकवाक्यताको प्राप्त हों। वेद्यके एक होनेसे विद्या एक है, ऐसी सब विद्याओंमें बेरोक टोक प्रतिज्ञा की जाय, तो समस्त गुणोंका उपसंहार जो अशक्य है उसकी प्रतिज्ञा की जायगी। इसलिए 'नानाशब्दादिभेदात्' ऐसा ठीक कहा है। इस अधिकरणके स्थित होनेपर 'सर्ववेदान्तप्रत्ययम्' इत्यादि अधिकरण देखना चाहिए ॥ ५८ ॥

रत्नप्रभा

विद्यानानात्वे सिद्धे पश्चात् दहरादिविद्या प्रतिवेदान्तमेका, अनेका वेति चिन्ता उचिता, तत्कथमादौ सा कृता इत्यत आह—स्थिते चेति। विद्यानानात्वाधिकरणं पादादावेव सङ्गतम्, अत्र प्रासङ्गिकमिति भावः ॥ ५८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। परन्तु विद्याके भेदके सिद्ध होनेपर दहरादिविद्या प्रतिवेदान्तमें एक है या अनेक है, ऐसा विचार पीछे करना उचित था, वह विचार आरम्भमें क्यों किया है, इसपर कहते हैं—"स्थिते च" इत्यादिसे। विद्यानानात्वका अधिकरण पादके आरम्भमें ही संगत है, यहां प्रासङ्गिक है, ऐसा अभिप्राय है ॥ ५८ ॥

[३४ विकल्पाधिकरण सू० ५९]

अहंग्रेहष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा ।
नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥ १ ॥
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः ।
अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अहंग्रह उपासनामें अनियम है अर्थात् यथेष्ट उपासना करनी चाहिए अथवा विकल्प है ?

पूर्वपक्ष—कोई नियामक न होनेसे अहंग्रह उपासनाओंमें अनियम है—इच्छाके अनुसार अहंग्रहोपासना करनी चाहिए ।

सिद्धान्त—एक विद्यासे ही ईश्वरका साक्षात्कार होता है, यह प्रसिद्ध है इसलिए अन्यकी-अन्य उपासनाकी निरर्थकता और विक्षेप, ये दोनों विकल्पके नियामक हैं, अतः अहंग्रह उपासनाओंमें विकल्प है, यथाकाम अनुष्ठान नहीं है ।

---

* भाव यह है कि उपासनाएँ दो प्रकारकी होती हैं, एक अहंग्रह उपासना और अन्य प्रतीक उपासना । आत्माकी सगुण उपासनामें चतुर्थाध्यायमें उपासनाएँ जो कही जायंगी, वे अहंग्रह उपासनाएँ हैं । और अनात्मवस्तुमें देवतादृष्टिसे संस्कार द्वारा जो उपासनाएँ होती हैं वे सब प्रतीक उपासनाके नामसे प्रसिद्ध हैं । इसपर पूर्वपक्षीका कथन है—शाण्डिल्य विद्या आदि अहंग्रह उपासनाओंमें किसी नियामकके न रहनेसे इच्छाके अनुसार एक, दो, या अनेक उपासनाएँ करनी चाहिएँ, क्योंकि शाण्डिल्य उपासना, दहर उपासना या अन्य उपासना आदिमें से एक ही की उपासना करे, इस प्रकार विकल्पके नियममें कोई प्रमाण नहीं है । इससे अनियम ही प्राप्त होता है ।

इस प्रकार आक्षेप होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—विकल्पमें नियामक नहीं है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम 'आनर्थक्य' नामका एक नियामक दृष्टिगोचर होता है । देखिए, उपासनाका प्रयोजन ईश्वरका साक्षात्कार करना है और यह जब एक ही उपासनासे हो सकता है तो अन्य उपासनाओंका प्रयोजन ही क्या होगा अर्थात् कुछ नहीं होगा—वे व्यर्थ हैं । और भी नियामक सुनिए, उपासनाओंमें प्रमाणजन्य साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु निरन्तर भावना करते करते ध्येय वस्तुमें तादात्म्याभिमान होता है, वह अभिमान यदि एक उपासनाका अनुष्ठान करनेके समय उसका परित्याग करके अन्य उपासनामें प्रवृत्त होगा तो उस पुरुषका चित्त दृढीभूत कैसे होगा ? अर्थात् कभी नहीं होगा । इससे—आनर्थक्य और विक्षेपरूप नियामकके होनेसे विकल्पका ही नियम है ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

पदच्छेद—विकल्पः, अविशिष्टफलत्वात् ।

पदार्थोक्ति—विकल्पः—सगुणविद्यानां विकल्पः [एव युक्तः, कुतः ?] अविशिष्टफलत्वात्—वेद्यसाक्षात्कारलक्षणाभिन्नफलत्वात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—सगुण विद्याओंका विकल्प ही युक्त है, किससे ? वेद्य वस्तु के साक्षात्काररूप अभिन्न फल होनेसे, ऐसा अर्थ है ।

भाष्य

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात्, अथवा विकल्प एव नियमेनेति । तत्र स्थितत्वात् तावद् विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचित् कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रद-

भाष्यका अनुवाद

इस तरह विद्याभेदके सिद्ध होनेपर इन विद्याओंका उपासककी इच्छासे समुच्चय है या विकल्प है या नियमसे विकल्प ही है ? ऐसा विचार प्राप्त होनेपर—

पूर्वपक्षी—विद्याभेदके सिद्ध होनेसे समुच्चयनियममें कोई कारण नहीं है ।

रत्नप्रभा

विकल्पः० । विद्यानां स्वरूपमुक्त्वा अनुष्ठानप्रकारोऽत्र निरूप्यते इत्युपजीव्यत्वसङ्गतिमाह—**स्थित इति** । विद्यास्त्रिविधाः—अहङ्ग्रहाः, तटस्थाः, अङ्गाश्रिताश्चेति । तत्राऽहङ्ग्रहविद्यासु याथाकाम्यविकल्पयोर्विद्यानानात्वसाम्यात् संशयमाह—**किमिति** । पूर्वपक्षे यथेच्छमनुष्ठानमित्यनियमः, सिद्धान्ते विकल्पेन अनुष्ठानमिति नियम इति फलभेदः । तत्राऽनियमं साधयति—**तत्र स्थितत्वादित्यादिना** ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विकल्पः" इत्यादि । विद्याओंका स्वरूप कहकर यहांपर उनके अनुष्ठानके प्रकारका निरूपण किया जाता है । इस प्रकार पूर्व अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी उपजीव्य-उपजीवक-भाव संगति है, ऐसा कहते हैं—"स्थिते" इत्यादिसे । विद्या तीन प्रकारकी हैं, अहंग्रह (उपास्यके साक्षात्कारसे जिसका फल होता है, जिसमें 'मैं' का ज्ञान है), तटस्थ और अंगाश्रित । उनमेंसे 'अहंग्रह' विद्याओंमें इच्छानुसार और विकल्प इन दोनोंका विद्या नानात्वके साथ साम्य होनेसे संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें इच्छानुसार अनुष्ठान है, ऐसा अनियम है और सिद्धान्तमें विकल्पसे अनुष्ठान है, ऐसा नियम है, यह पूर्वपक्षका और सिद्धान्तका फलभेद है । उसमें अनियम सिद्ध करते हैं—"तत्र स्थितत्वात्" इत्यादिसे ।

भाष्य

र्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति, तस्मान्न समुच्चयनियमः । नापि विकल्पनियमः, विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात् । पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते । नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः, तथा हि—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ८।१।५) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते । नैष दोषः । समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात् ।

तस्मात् याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते—विकल्प एवासां भवितुमर्हति न

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास आदिके भिन्न होनेपर भी उनके समुच्चयका नियम दिखाई देता है। यह दोष नहीं है, क्योंकि दर्श आदि नित्य हैं, ऐसी श्रुति उनके समुच्चयमें हेतु है, विद्या नित्य हैं, ऐसी कोई श्रुति नहीं है, अतः विद्याओंका समुच्चय नहीं है। उसी प्रकार विकल्पका नियम भी नियम नहीं है, क्योंकि एक विद्यामें जिसे अधिकार प्राप्त है उसके लिए अन्य विद्याका प्रतिषेध नहीं किया गया है। परिशेषसे स्वेच्छापक्ष प्राप्त होता है। परन्तु इनका (विद्याओंका) फल समान है, अतः इनका विकल्प ही उचित है, क्योंकि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (मनोमय प्राणशरीर), 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (जिसकी कामना सत्य है, जिसका संकल्प सत्य है) इत्यादि उपासनाएँ तुल्य रीतिसे ईश्वर प्राप्ति जिनका फल है, ऐसी दीखती हैं। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि जिनका फल समान है, ऐसे स्वर्गादिके साधनीभूत कर्मोंमें भी याथाकाम्यका—इच्छाका समुच्चय दिखाई देता है।

सिद्धान्ती—यथाकाम्य पक्षके प्राप्त होनेपर कहते हैं—इन विद्याओंका

रत्नप्रभा

एकपुरोडाशफलत्वात् यथा व्रीहियवयोर्विकल्पः, तथा विकल्पनियम एव आसां विद्यानां न्याय्यः, तुल्यफलत्वात् । न च फलभूयस्त्वार्थिनः काम्यकर्मसमुच्चयोऽपि दृष्ट इति वाच्यम् । ईश्वरसाक्षात्कारात् परं फलभेदेऽपि आसामहंग्रहोपास्तीनां साक्षा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे पुरोडाशरूप एक फल होनेसे व्रीहि और यवका विकल्प है, वैसे ही इन विद्याओंका विकल्प ही ठीक है, क्योंकि इनका फल तुल्य है। और अधिक फल चाहनेवालेके लिए काम्यकर्मका समुच्चय भी देखा जाता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ईश्वरके साक्षात्कारके

भाष्य

समुच्चयः । कस्मात् ? अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम्, एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम् । अपि चाऽसंभव एव साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे, चित्तविक्षेपहेतुत्वात् । साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' (छा० ३।१४।४) इति 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४।१।२) इति चैवमाद्याः । स्मृतयश्च 'सदा तद्भाव-

भाष्यका अनुवाद

विकल्प ही होना युक्त है—समुच्चय युक्त नहीं है । किससे ? इससे कि उनका समान फल है, क्योंकि इन उपासनाओंका उपास्यका साक्षात्कार करना ही एक फल है और एक ही उपासनासे उपास्य ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर अन्य उपासनाएँ निरर्थक हैं । समुच्चयपक्षमें साक्षात्कारका असम्भव होगा, क्योंकि वह चित्त-विक्षेपका हेतु है । और श्रुतियां विद्याफल साक्षात्कारसे साध्य है, ऐसा दिखलाती हैं—'यस्य स्यादद्धा०' (जिस उपासकको उपास्यका साक्षात्कार होनेपर सन्देह नहीं होता), 'देवो भूत्वा देवानप्येति'(देव होकर शरीरपात होनेपर देवताओंको प्राप्त होता है), इत्यादि श्रुतियां और 'सदा तद्भावभावितः' (सदा उसके भावसे भावित)

रत्नप्रभा

त्कारात्मकफलस्य तुल्यत्वात्, तस्य च एकया कृतत्वे अन्यस्याः कृत्याभावात् चित्त-विक्षेपकतया तद्विघातकत्वाच्चेति सिद्धान्तभाष्यार्थः । मास्तु साक्षात्कार इत्यत आह—साक्षात्करणसाध्यं चेति । यस्य पुंसः, अद्धा ईश्वरोऽहमिति साक्षात्कारः स्यात् विचिकित्सा च नास्ति 'अहमीश्वरो न वेति' तस्यैवेश्वरप्राप्तिरित्यर्थः । जीवत्येव भावनया देवत्वं साक्षात्कृत्य देहपातोत्तरकालं देवान् आप्नोतीति श्रुत्यन्तरार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनन्तर फलभेद होनेपर भी इन अहंग्रहोपासनाओंका साक्षात्काररूप फल तुल्य है और ब्रह्म-साक्षात्काररूप फलके एक उपासनासे सिद्ध होनेपर अन्य उपासनाका कुछ कृत्य नहीं है । वे केवल चित्तविक्षेपके कारण होनेसे साक्षात्कारका विघात करती हैं, ऐसा सिद्धान्तभाष्यका अर्थ है । साक्षात्कार मत हो, इसपर कहते हैं—"साक्षात्करणसाध्यं च" इत्यादिसे । यस्य पुंसः अद्धा०—जिस पुरुषको मैं ईश्वर हूँ, ऐसा साक्षात्कार हो जाता है और मैं ईश्वर हूँ या नहीं, ऐसा सन्देह नहीं रहता, वही ईश्वरको प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है । देवो भूत्वा देवानप्येति—जीतेजी ही भावनासे देवत्वका साक्षात्कार करके अर्थात् साक्षात्कारसे देवभावका अनुभव करके देहपात होनेके पश्चात् देवोंको प्राप्त करता है, ऐसा दूसरी श्रुतिका अर्थ है । अहंग्रह

भाष्य

भावितः' । इत्येवमाद्याः । तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद् यावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि स्मृतियां भी साक्षात्कारसाध्य विद्याफल दिखलाती हैं। इससे जिनका फल समान है, ऐसी विद्याओंमें से एकको लेकर जबतक उपास्य विषयके साक्षात्कारसे उसका फल प्राप्त हो, तबतक उसमें तत्पर रहे ॥ ५९ ॥

रत्नप्रभा

अहंग्रहाणामनुष्ठानप्रकारम् उपसंहरति—तस्मादिति ॥ ५९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासनाओंके अनुष्ठान प्रकारका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे ॥ ५९ ॥

[३५ काम्याधिकरण सू० ६०]

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्याथाकाम्येन वा मतिः ।
अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥ १ ॥
देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः ॥
याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्रतीक उपासनाओंमे विकल्प है अथवा यथेष्टता है ?

पूर्वपक्ष—अहंग्रह उपासनाओंके समान साक्षात्कार प्रयोजन होनेसे यहाँ भी विकल्प ही है।

सिद्धान्त—अहंग्रहोपासनाओंमें 'देवो भूत्वा' इत्यादि साक्षात्कारके लिए जैसे प्रमाण है, वैसे प्रकृतमें कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए इच्छाके अनुसार प्रतीकोपासनाओंका विकल्प या समुच्चय ही युक्ततर है।

---

* भाव यह है कि प्रतीकोपासनाओंमें भी विकल्पाधिकरणके अनुसार विकल्प ही होगा समुच्चय नहीं होगा।

इस प्रकार शङ्का होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि अहंग्रहोपासनाओं और प्रतीकोपासनाओंमें अत्यन्त वैलक्षण्य है, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (देव होकर देवताओंको प्राप्त करता है) 'जीवन्नेव भावनाप्रकर्षवशाद् देवसाक्षात्कारं प्राप्य मृतो देवत्वमुपैति' (जीवनदशामें ही भावनाके प्रकर्षसे देवका साक्षात्कार करके मरनेपर देवभावको प्राप्त होता है) इस प्रकार अहंग्रह उपासनामें

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

पदच्छेद—काम्याः, तु, यथाकामम्, समुच्चीयेरन्, न, वा, पूर्वहेत्वभावात्।

पदार्थोक्ति—काम्यास्तु—अदृष्टद्वारा फलहेतवो विद्यास्तु, यथाकामम्-स्वेच्छानुसारम्, समुच्चीयेरन्—समुच्चित्य अनुष्ठीयेरन्, वा—अथवा न—न समुच्चीयेरन्, [कुतः ?] पूर्वहेत्वभावात्—पूर्वहेतोः—अविशिष्टफलस्य विकल्पप्रयोजकस्य अभावात्—असत्त्वात्।

भाषार्थ—अदृष्ट द्वारा फलकी हेतुभूत काम्य विद्याओंका यथेष्ट अनुष्ठान करना चाहिए, अथवा नहीं भी करना चाहिए, क्योंकि ? विकल्पप्रयोजक हेतुका अभाव है।

भाष्य

'अविशिष्टफलत्वात्' इत्यस्य प्रत्युदाहरणम्। यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेव वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति'

भाष्यका अनुवाद

समान फल होनेसे इस पूर्वोक्त हेतुका यह प्रत्युदाहरण है। परन्तु 'स य एतमेव०' वह जो कोई पुत्रका दीर्घ जीवन चाहनेवाला, ऐसे यथोक्त गुण वायुको गोरूपसे कल्पित दिशाओंका वत्स जानता है, वह पुत्र मरणसे रोदन

रत्नप्रभा

काम्यास्तु०। तटस्थोपास्तयोऽत्र विषयाः, तासु किं विकल्पः उत यथाकामम् अनुष्ठानम्? इति पूर्ववत् संशये सति उपास्तित्वाविशेषात् अहंग्रहवत् विकल्प इति प्राप्तौ अपवादं सिद्धान्तयति—अविशिष्टेति। स यः कश्चित् एतं वायुमेव गोत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"काम्यास्तु०" इत्यादि। तटस्थ उपासनाएँ—प्रतीकोपासनाएँ इस अधिकरणकी विषय हैं। उन उपासनाओंमें विकल्प है या स्वेच्छासे अनुष्ठान है ऐसा पूर्वके समान संशय होनेपर दोनोंमें—अहंग्रह और तटस्थ उपासनाओंमें उपासनात्वरूप समानधर्म होनेसे अहंग्रहोपासनाके समान विकल्प है, ऐसा प्राप्त होनेपर अपवादको सिद्धान्तरूपसे कहते हैं—"अविशिष्ट"

जैसे प्रतीत होता है, वैसे ही प्रतीक उपासनासे ईश्वरसाक्षात्कार होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जब साक्षात्काररूप प्रयोजन नहीं है तो उस उस स्थलमें कही गई भोग्यवस्तुकी प्राप्तिरूप फल मानना चाहिए, इसलिए पृथक् फल होनेसे आनर्थक्य नहीं है। विक्षेपशङ्का भी नहीं हो सकती, क्योंकि कुछ क्षण एक प्रतीककी उपासना करके अन्य प्रतीककी उपासना करनेपर भी पूर्व प्रतीकोपासनाजन्य अपूर्वका नाश नहीं होता है। इससे विकल्प और समुच्चय इच्छाके अनुसार हो सकते हैं।

भाष्य

(छा० ३।१५।२) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनाऽऽत्मनाऽऽत्मीयं तत्तत् फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति । ता यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा समुच्चीयेरन् पूर्वहेत्वभावात् । पूर्वस्याऽविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥ ६० ॥

भाष्यका अनुवाद

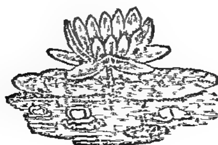
नहीं करता—उसका पुत्र नहीं मरता), 'स यो नाम०' (वह जो कोई नाम ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है, उसका, जैसे राजाका स्वविषयमें—अपने देशमें अधिकार होता है, वैसे ही नामके सब विषयोंमें यथाकाम संचार होता है) इत्यादि काम्य विद्याओंमें जो क्रियाके समान अदृष्ट आत्मासे अपना फल सिद्ध करती हैं। जिनमें साक्षात्कारकी अपेक्षा नहीं है, वे यथाकाम समुच्चित हों, या न हों, क्योंकि पूर्व हेतुका अभाव है अर्थात् 'समान फल होनेसे' इस पूर्वोक्त हेतुका अभाव है ॥ ६० ॥

रत्नप्रभा

कल्पितानां दिशां वत्सं वेद—उपास्ते नासौ पुत्रमरणनिमित्तं रोदनं रोदिति—लभते, नित्यमेव जीवत्पुत्रो भवतीत्यर्थः । अहंग्रहदृष्टान्ते साक्षात्कारद्वारत्वमुपाधिरिति भावः ॥ ६० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । 'स यः०'—वह जो कोई इस वायुको ही गोरूपसे कल्पित दिशाओंका बछड़ा जानता है—उपासना करता है, वह पुत्रमरणजन्य रोदन नहीं करता—उसका पुत्र सदा जीता रहता है, ऐसा अर्थ है । अहंग्रह दृष्टान्तमें साक्षात्कारका द्वार होना, यह उपाधि है, ऐसा आशय है ॥ ६० ॥



[२६ यथाश्रयभावाधिकरण सू० ६१–६६]

समुच्चयोऽङ्गवद्धेषु याथाकाम्येन वा मतिः ।
समुच्चितत्वादङ्गानां तद्वद्धेषु समुच्चयः ॥ १ ॥
ग्रहं गृहीत्वा स्तोत्रस्यारम्भ इत्यादिवन्नहि ।
श्रूयते सहभावोऽत्र याथाकाम्यं ततो भवेत् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—कर्माश्रित प्रतीकोपासनाओंका समुच्चय है अथवा अनियम है ?

पूर्वपक्ष—कर्माङ्गोंका समुच्चय होनेसे कर्माङ्गाश्रित प्रतीकोपासनाका भी समुच्चय प्राप्त होता है ।

सिद्धान्त—'ग्रहं गृहीत्वा' (ग्रह—यज्ञपात्रविशेषका ग्रहण करके) इत्यादिके समान प्रकृतमें सहभावका श्रवण न होनेसे स्वेच्छानुसार विकल्प या समुच्चय कर सकते हैं ।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

पदच्छेद—अङ्गेषु, यथा, आश्रयभावः ।

पदार्थोक्ति—अङ्गेषु—कर्माङ्गोद्गीथाश्रितासु विद्यासु, यथाश्रयभावः—यथा क्रतुषु आश्रितानामङ्गानां समुच्चित्य अनुष्ठाननियमः तथा प्रकृतेऽपि यथाश्रयभावः—समुच्चित्य अनुष्ठाननियमः ।

भाषार्थ—कर्माङ्गोद्गीथाश्रित विद्याओंमें समुच्चयसे अनुष्ठानका नियम है, जैसे क्रतुओंमें आश्रित अङ्गोंके अनुष्ठानका नियम है ।

---

* सारांश यह है कि लौकिक और कर्माङ्गभेदसे प्रतीक दो प्रकारका होता है । उसमें लौकिक प्रतीकके विषयमें जो निर्णय है वह पूर्वमें कहा गया है । अब कर्माङ्गमें समुच्चय या अनियमका विचार किया जाता है । इस परिस्थितिमें प्रयोगविधिसे कर्म या कर्माङ्गका समुच्चयसे ही अनुष्ठान प्राप्त है, इसलिए अङ्गाधीन होनेसे अङ्गाश्रित उपासना समुच्चयरूपसे ही प्राप्त होगी ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'ग्रहं गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकुर्यात् स्तुतमनुशंसति' (ग्रह–पात्रका ग्रहण करके अथवा चमस पात्रका उन्नयन करके स्तोत्रका आरम्भ कर, तथा स्तुतका शंसन कर) इत्यादिमें जिस प्रकार ग्रह, स्तोत्र और शंसनका नियमसे पौर्वापर्यरूपसे सहभाव सुना जाता है, वैसा उपासनाओंमें नहीं सुना जाता । इसलिए विकल्प या समुच्चय ऐच्छिक ही है ।

भाष्य

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं ते समुच्चीयेरन् किं वा यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव इत्याह। यथैवैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्त्येवं प्रत्यया अपि, आश्रयतन्त्रत्वात् प्रत्ययानाम् ॥ ६१ ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्मांग उद्गीथादिके आश्रित तीनों वेदोंमें विहित जो उपासनाएँ हैं, उनका समुच्चय करना चाहिए या यथाकाम—स्वेच्छासे उनका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा संशय होनेपर आश्रयके अनुसार उनका भाव-स्थिति है, ऐसा कहते हैं। जैसे इनके आश्रय स्तोत्र आदि समुच्चयसे होते हैं, वैसे ही उपासनाएँ भी समुच्चयसे होती हैं, क्योंकि उपासनाएँ आश्रयके अधीन हैं ॥ ६१ ॥

रत्नप्रभा

सम्प्रति अङ्गावबद्धोपास्तीनाम् अनुष्ठानक्रमं वक्तुं पूर्वपक्षयति—अङ्गेष्विति। अङ्गाश्रितत्वात् सफलत्वाच्च, संशयमाह—किमिति। यथा क्रत्वनुष्ठाने तदाश्रिताङ्गानां समुच्चित्य अनुष्ठाननियमः, तथाऽङ्गानुष्ठाने तदाश्रितोपास्तीनां तन्नियम इति सूत्रार्थः। ननु तन्निर्धारणानियम इत्यत्र अङ्गाश्रितानां गोदोहनवदनङ्गत्वमुक्तम्, तत् कथमनङ्गानामङ्गवत् समुच्चयं शङ्केत इति। उच्यते—अङ्गानि अनुष्ठापयन् प्रयोगविधिः यद्युपासनानि न अनुष्ठापयेत्, तर्हि तेषां तदाश्रितत्वं व्यर्थमिति मन्वानस्य शङ्केति भावः ॥ ६१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अब अंगोंसे सम्बद्ध उपासनाओंके अनुष्ठानक्रमको कहनेके लिए पूर्वपक्ष करते हैं—"अङ्गेषु" इत्यादिसे। अंगके आश्रित होनेसे और फलयुक्त होनेसे संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। जैसे क्रतुके अनुष्ठानमें उसके आश्रित अंगोंको एकत्र करके उनके अनुष्ठानका नियम है, वैसे ही अंगानुष्ठानमें उनके आश्रित उपासनाओंका वह नियम है, ऐसा सूत्रार्थ है। यदि कोई कहे कि 'तन्निर्धारणानियम.' यहांपर अंगके आश्रित उपासनाएँ गोदोहनके समान अनङ्ग कही गई हैं, तो जो अंग नहीं हैं उनकी अंगोंके समान समुच्चयकी शंका कैसे की जाती है। अंगोंका अनुष्ठान कराता हुआ प्रयोगविधि यदि उपासनाओंका अनुष्ठान न करावे तो उपासनाओंका प्रयोगविधिमें आश्रित होना व्यर्थ होगा, ऐसा समझनेवालेकी शंका है, ऐसा तात्पर्य है ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

पदच्छेद—शिष्टेः, च,

पदार्थोक्ति—च—अपि शिष्टेः—शासनात्—विधानात्—विहितत्वाविशेषात् [अङ्गवत् समुच्चयः]।

भाषार्थ—विधान होनेसे भी अङ्गके समान समुच्चय है।

भाष्य

यथा चाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु शिष्यन्ते, एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः। नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद् विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥ ६२ ॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे स्तोत्र आदि आश्रय तीनों वेदोंमें कहे जाते हैं, वैसे आश्रित उपासनाएँ भी कही जाती हैं। अगोंका और उनके आश्रित उपासनाओंका उपदेशसे किया हुआ कोई भी विशेष नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ ६२ ॥

रत्नप्रभा

तर्हि गोदोहनस्यापि समुच्चयः स्यात् इत्यत आह—शिष्टेश्चेति। शिष्टिः—शासनम्, विधानमिति यावत्। विहितत्वाविशेषात् समुच्चयोऽङ्गवदित्यर्थः। गोदोहनस्य तु नानुष्ठाननियमः, चमसस्थाने विहितत्वात्, तन्नियमे चमसविधिवैयर्थ्यात्, उपासनानां तु न कस्यचिदङ्गस्य स्थाने विहितत्वम् इति समुच्चयनियमो न विरुध्यते इति भावः ॥ ६२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तब गोदोहनका भी समुचय होगा, इसपर कहते हैं—"शिष्टेश्चेति"। शिष्टि—शासन अर्थात् विधान। विधानके समान होनेसे उपासनाओंका अंगकी भांति समुचय है, ऐसा अर्थ है। गोदोहनके अनुष्ठानका नियम नहीं है, क्योंकि उसका चमसके स्थानमें विधान है। उसके अनुष्ठानका नियम होनेपर चमसविधान व्यर्थ हो जायगा। उपासनाएँ तो किसी अंगके स्थानमें विहित नहीं हैं, इसलिए उनके समुचय नियममें विरोध नहीं है, ऐसा भाव है ॥ ६२ ॥

(१) भाव यह है कि चमस स्थानापन्न होकर गोदोहन आदि फलविशेषके उत्पादक होते हैं, अतः उनको यदि नित्य माना जाय, तो 'चमसेनापः प्रणयेत्' यह शास्त्र अत्यन्त बाधित हो जायगा, इसलिए गोदोहन आदिका नित्यत्व स्वीकार नहीं करना चाहिये, रसतमत्व आदि दृष्टियोंका तो किसी स्थानविशेषकी अपेक्षा करके विधान नहीं किया गया है, किन्तु वे ऐसे ही कहे गये हैं, अतः उनके नित्यत्वमें कोई बाधा नहीं है।

समाहारात् ॥ ६३ ॥

पदार्थोक्ति—समाहारात्—वेदान्तरोदितस्य प्रणवस्य वेदान्तरे उपसंहारकरणात् [अपि अङ्गानां समुच्चयः] ।

भाषार्थ—अन्य वेद उक्त प्रणवका अन्यत्र समाहार होनेसे भी अङ्गोंका समुच्चय है ।

भाष्य

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरति' (छा० १।५।५) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात् कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन् वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदितपदार्थ-

भाष्यका अनुवाद

होतृषदनाद्धैवापि०' (स्वर, व्यञ्जन आदिके प्रमादसे दुष्ट किये गये उद्गीथको भी उद्गाता सम्यक्कृत होताके शंसनसे निर्दोष करता है) यह श्रुतिवाक्य प्रणव और उद्गीथके एकत्वविज्ञानके माहात्म्यसे उद्गाता अपने कर्ममें उत्पन्न हुए दोषका हौत्र कर्मसे प्रतिसमाधान करता है, ऐसा कहता हुआ अन्य

रत्नप्रभा

समुच्चये लिङ्गमाह—समाहारादिति । 'ऋग्वेदिनां यः प्रणवः सः' सामवेदिनाम् 'उद्गीथः' (छा० १ । ५) इति छान्दोग्ये प्रणवोद्गीथयोः ऐक्यध्यानविधिरस्ति, तस्य फलार्थवादो होतृषदनादित्यादिः । होतुः शंसनस्थलवाचिना होतृषदनशब्देन शंसनं लक्ष्यते, उद्गाता स्वरादिप्रमादात् दुष्टमप्युद्गीथं सम्यक्कृताद् होतृशंसनाद् अनुसमाहरत्येव—निर्दोषं करोत्येव किल । शंस्यमानप्रणवेन स्वीयोद्गीथस्य ऐक्यध्यानबलादित्यर्थः । ततः किं तत्राह—इति ब्रुवन्निति । सामवे-

रत्नप्रभाका अनुवाद

समुच्चयमें हेतु कहते हैं—"समाहारात्" इत्यादिसे । ऋग्वेदियोंका जो प्रणव है वह सामवेदियोंका उद्गीथ है, इस प्रकार छान्दोग्यमें प्रणव और उद्गीथकी ऐक्यध्यानविधि है, उसका 'होतृषदनात्' इत्यादि फलार्थवाद है । होताके शंसनस्थलको कहनेवाले होतृषदनसे शंसन लक्षित होता है । उद्गाता स्वर, व्यञ्जन आदिसे दुष्ट हुए उद्गानका भली भांति अनुष्ठित होताके शंसनसे प्रतिसमाधान करता ही है—उसे निर्दोष ही करता है । शंस्यमान प्रणवके साथ अपना उद्गीथ एक है, ऐसे ऐक्यध्यानके बलसे निर्दोष करता है, ऐसा अर्थ है । उससे क्या हुआ ? इसपर कहते हैं—"इति ब्रुवन्" इत्यादिसे । सामवेदस्थ उद्गीथध्यानका ऋग्वेदमें कहे

भाष्य

सम्बन्धसामान्यात् सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥६३॥

भाष्यका अनुवाद

वेदमें कही गई उपासनाओंका अन्य वेदमें कहे गये पदार्थके साथ समान सम्बन्ध होनेसे सब वेदोंमें कही गई उपासनाओंके उपसंहारका सूचन करता है, ऐसा लिंगदर्शन है ॥ ६३ ॥

रत्नप्रभा

दस्थोद्गीथध्यानस्य ऋग्वेदोक्तप्रणवसम्बन्धो यो दृष्टः, स एव अङ्गानां सर्ववेदान्तविहितोपास्तिसमुच्चये लिङ्गम् , प्रणवरूपपदार्थस्योपास्तीनां च वेदान्तरोक्तत्वसादृश्याद् वेदान्तरोक्ताङ्गसम्बन्धस्यापि समानत्वादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गये प्रणवके साथ जो सम्बन्ध दीखता है, वही सब वेदान्तोंमें विहित उपासनाओंमें अङ्गोंके समुच्चयमें लिङ्ग है, क्योंकि प्रणवरूप पदार्थ और उपासनाओंका अन्य वेदोक्तत्वरूप सादृश्यसे—अन्य वेदमें उक्त है, ऐसा सादृश्य होनेसे—अन्य वेदमें कहा हुआ अंगसम्बन्ध भी समान है, ऐसा अर्थ है ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

पदच्छेद—गुणसाधारण्यश्रुतेः, च ।

पदार्थोक्ति—गुणसाधारण्यश्रुतेः—'तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते' इत्युद्गीथोपास्तौ गुणभूतस्योङ्कारस्य सर्वकर्मणि साधारण्यश्रवणात्—साम्यप्रतिपादनात् च—अपि [अङ्गाश्रितोपास्तीनां समुच्चयः] ।

भाषार्थ—'तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते' (उस ओंकारसे तीनों वेदोंमें उक्त कर्म होते हैं) इत्यादि उद्गीथ उपासनामें गुणभूत ओंकारके सब कर्मोंमें साम्यका प्रतिपादन होनेसे भी समुच्चय है ।

भाष्य

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोङ्कारं वेदत्रयसाधारणं श्रावयति '*तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति*'

भाष्यका अनुवाद

'तेनेयं त्रयी०' (उस प्रकृत अक्षरसे इन ऋग्वेदादि तीन विद्याओंमें विहित कर्म प्रवृत्त होते हैं, ओम्से अध्वर्यु श्रवण कराता है, ओम्से होता शंसन करता है, ओम्से उद्गाता उद्गान करता है) यह श्रुति विद्याके गुण—विद्याके

भाष्य

छा० १।१।९) इति च । ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव । अथ वा गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति । यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युः, न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः । ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्गग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते । ततश्चाऽऽश्रयसहभावात् प्रत्ययसहभाव इति ॥ ६४ ॥

भाष्यका अनुवाद

आश्रय ओंकारको तीनों वेदोंमें साधारण कहती है। इसलिए आश्रय—ओंकारके साधारण होनेसे आश्रित विद्याएँ साधारण हैं, ऐसा लिंगदर्शन है ही। अथवा 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च'। यदि उद्गीथ आदि ये सब कर्मगुण सब प्रयोगोंमें साधारण—समान न होते, तो उनके आश्रित उपासनाओंका सर्वत्र सहभाव नहीं होता। परन्तु ये उद्गीथ आदि सब प्रयोगोंमें साधारण हैं। ऐसा सर्वाङ्गग्राही प्रयोगविधि श्रवण कराती है। इससे आश्रयका सहभाव होनेसे आश्रित उपासनाओंका सहभाव है, ऐसा निर्णय होता है ॥ ६४ ॥

रत्नप्रभा

ॐकारस्य ध्येयस्य साधारण्यादपि तदाश्रितध्यानानां समुचित्याऽनुष्ठानं गम्यते इति लिङ्गान्तरमाह—गुणेति। तेन ओङ्कारेण, वेदत्रयोक्तं कर्म प्रवर्तते इत्यर्थः। अन्वयमुखेन उक्तमेवार्थं व्यतिरेकतोऽपि व्याचष्टे—अथवेति ॥ ६४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपास्य ओंकारके साधारण होनेसे भी उसके आश्रित उपासनाओंका समुच्चयसे अनुष्ठान प्रतीत होता है, ऐसा अन्य हेतु कहते हैं—"गुण" इत्यादिसे। तेन—उस अक्षरसे—ओंकारसे। तीनों वेदोंमें उक्त कर्म प्रवृत्त होता है, ऐसा अर्थ है। अन्वयमुखसे उक्त अर्थका व्यतिरेकसे व्याख्यान करते हैं—"अथवा" इत्यादिसे ॥ ६४ ॥

---

(१) आश्रयके साधारण होनेसे आश्रित उपासनाएँ भी साधारण ही होती हैं, इस प्रकार लिङ्गप्रदर्शनरूपसे सूत्रका व्याख्यान करना युक्त नहीं है, क्योंकि उद्गीथावयवके आश्रयीभूत प्रणवकी तीनों वेदोंमें समानता नहीं है, क्योंकि 'ओमित्याश्रावयति' इत्यादि वाक्यसे आश्रयीभूत साधारण प्रणवका प्रतिपादन नहीं होता। अन्यथा 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यादि उपक्रमका विरोध होगा। इसलिए सामान्य प्रणवके साधारण्यसे प्रकृत प्रणवविशेषकी स्तुति की जाती है, ऐसा स्वीकार करना होगा अथवा आश्रयके साधारण्यसे उपासनाओंमें भी तीनों वेदोंका साधारण्य भले रहे, परन्तु इससे सभी वेदविहित प्रयोगोंमें नियम नहीं हो सकता, यथाकाममें भी तीनों वेदोंके साधारण्यकी उपपत्ति हो सकती है, इस प्रकार आशङ्का करके प्रकारान्तर कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

पदच्छेद—न, वा, तत्सहभावाश्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—तुशब्दापरपर्यायी वाशब्दः शङ्काविच्छेदनार्थः । न—नास्ति [अङ्गाश्रितोपास्तीनामङ्गवत् समुच्चयनियमः, कुतः ?] तत्सहभावाश्रुतेः—'ग्रहं वा गृहीत्वा' इत्यादिना यथाङ्गानां सहभावः श्रूयते, तद्वत् तासामुपासनानां सहभावस्य समुच्चयस्य अश्रुतेः—अश्रवणात् ।

भाषार्थ—तुशब्दार्थक वाशब्द पूर्वपक्षके निरासके लिए है । अङ्गाश्रित उपासनाएँ समुच्चित नहीं हैं, क्योंकि 'ग्रहं गृहीत्वा' इत्यादिसे अङ्गोंका जैसे सहभाव सुना जाता है, वैसे उन उपासनाओंका सहभाव नहीं सुना जाता ।

भाष्य

न वेति पक्षव्यावर्तनम् । न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवितुमर्हति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः । यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रादीनां सहभावः श्रूयते—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेतद्यज' इत्यादिना, नैवमुपासनानां सहभावश्रुतिरस्ति । ननु प्रयोगवचन एवाऽऽसां सहभावं

भाष्यका अनुवाद

'न वा' ये शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृति करते हैं । आश्रित उपासनाओंका आश्रयके अनुसार समुच्चय होना युक्त नहीं है । किससे ? उनके सहभावका श्रवण न होनेसे, क्योंकि जैसे तीनों वेदोंमें विहित स्तोत्रादि अंगोंका सहभाव 'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय०' (ग्रह—पात्रविशेषका ग्रहण करके या चमसको ऊँचा करके यह स्तोत्रका आरम्भ करता है, स्तोत्र का अनुशंसन करता है हे प्रस्तोता ! तुम सामका गान करो, हे होता ! इसका याग करो) इत्यादि श्रुति कहती है, वैसे उपासनाओंका सहभाव नहीं कहती । परन्तु प्रयोगवचन—विधि

रत्नप्रभा

फलेच्छाया अनियमादुपास्त्यनियम एव युक्तः, अङ्गवत् समुच्चयनियमे माना-भावात् इति सिद्धान्तयति—न वेति । प्रयोगविधिः खलु साङ्गप्रधानानुष्ठाननियामकः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

फलकी इच्छाका नियम न होनेसे उपासनाका अनियम ही ठीक है, अङ्गके समान सब उपासनाओंके समुच्चयमें प्रमाण नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"न वा" इत्यादिसे ।

भाष्य

प्रापयेत् । नेति ब्रूमः, पुरुषार्थत्वादुपासनानाम् । प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयेत् । उद्गीथाद्युपासनानि क्रत्वर्थाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३।३।४२) इत्यत्र । अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति । परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य, श्रुतिन्यायाभावात् । न च प्रतिप्रयोगमाश्रयका-

भाष्यका अनुवाद

ही इन उपासनाओंका सहभाव प्राप्त करावेगा। इसपर नहीं, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि उपासनाएँ पुरुषार्थ हैं। प्रयोगविधि क्रत्वर्थ उद्गीथादिका सहभाव प्राप्त करावे परन्तु क्रत्वर्थके आश्रित उद्गीथादि उपासनाएँ गोदोहन आदिके समान पुरुषार्थ हैं, ऐसा 'पृथगृघ्यप्रतिबन्धः फलम्' इस सूत्रमें हमने कहा है। अंग और उनके आश्रित उपासनाओंका उपदेशके आधारपर स्थित यही विशेष है कि इनमेंसे एक क्रत्वर्थ हैं और दूसरे पुरुषार्थ हैं। और दूसरे दो लिंग उपासना सहभावके कारण नहीं हैं, क्योंकि श्रुति और न्यायका अभाव है। और प्रत्येक प्रयोगमें सम्पूर्ण आश्रयोंका उपसंहार होनेसे आश्रितोंका

रत्नप्रभा

न त्वनङ्गानां सङ्ग्राहक इत्याह—नेति ब्रूम इति। विमतोपास्तयः क्रतौ न समुच्चित्याऽनुष्ठेयाः, भिन्नफलत्वाद्, गोदोहनवदिति भावः। 'शिष्टेश्च' (ब्र० सू० ३।३।६२) इत्युक्तं निरस्यति—अयमेति। 'समाहाराद्' (ब्र० ३।३।६३) 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' (ब्र० सू० ३।३।६४) इत्युक्तं लिङ्गद्वयमपि मानान्तराप्राप्तस्य द्योतकम्, न स्वयंसाधकम्; अर्थवादस्थत्वादित्याह—परञ्चेति। गुणसाधारण्यसूत्रस्य द्वितीयां व्याख्यां दूषयति—न चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रयोगविधि सांगप्रधानके अनुष्ठानकी नियामिका है। परन्तु अङ्ग भिन्नकी संग्राहिका नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नेति ब्रूमः" इत्यादिसे। विमत उपासनाएँ क्रतुमें समुच्चयसे अनुष्ठेय नहीं है, भिन्नफलवाली होनेसे, गोदोहनके समान, ऐसा भाव है। 'शिष्टेश्च' इस सूत्रसे उक्त अर्थका खण्डन करते हैं—"अयमेव" इत्यादिसे। 'समाहारात्' और 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' इन सूत्रोंमें जो दो लिंग कहे गये हैं, वे भी अन्य प्रमाणसे प्राप्त हुए अर्थके द्योतक हैं। अथर्वाद वाक्यमें स्थित होनेके कारण स्वयं साधक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—"परं च" इत्यादिसे। 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' इस सूत्रकी दूसरी व्याख्याको दूषित करते हैं—"न च" इत्यादिसे। यदि

भाष्य

त्स्न्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्, अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम्। आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावे सहभावनियममर्हन्ति, तत्सहभावाश्रुतेरेव। तस्माद् यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

भाष्यका अनुवाद

भी सम्पूर्णरूपसे उपसंहार हो, ऐसा नहीं समझा जाता, क्योंकि उपासनाएँ उनसे प्रयुक्त नहीं हैं। आश्रयके अधारपर स्थित उपासना आश्रयके अभावमें भले ही न हों, परन्तु आश्रयसहभावसे सहभावका नियम नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सहभावकी श्रुति नहीं है। इससे यथाकाम—अपनी इच्छाके अनुसार ही उपासनाओंका अनुष्ठान करना ठीक है ॥ ६५ ॥

रत्नप्रभा

तत्प्रयुक्तत्वाभावे तदाश्रितत्वं कथमित्यत आह—आश्रयेति। इदमेव तेषाम् अङ्गाश्रितत्वं यदङ्गाभावे सति असत्त्वम्, न तु अङ्गव्यापकत्वमित्यर्थः ॥ ६५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासना अङ्गसे प्रयुक्त न हो, तो वह अङ्गके आश्रित कैसे हो सकती है, इसपर कहते हैं—"आश्रय" इत्यादिसे। अङ्गके अभावमें उपासनाका अभाव होना ही उपासनाका अङ्गाश्रितत्व है। उपासनाका अङ्गव्यापकत्व अङ्गाश्रितत्व नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च।

पदार्थोक्ति—['एवंविद्ध वै ब्रह्मा' इत्यादि श्रुतौ अङ्गाश्रितोपास्तीनाम् समुच्चयाभावस्य] दर्शनाच्च—दर्शनादपि [न तासां समुच्चयशङ्कावसरः]।

भाषार्थ—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा' इत्यादि श्रुतिमें अङ्गाश्रित उपासनाओंका समुच्चय नहीं देखा जाता है, अतः उन उपासनाओंके विषयमें समुच्चयकी शङ्काका अवसर नहीं है।

भाष्य

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' (छा० ४।१७।१०) इति । सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि, सर्वे सर्वविदः इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत । तस्माद् यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

भाष्यका अनुवाद

'एवं विद्ध वै०' (ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञका, यजमानका और सब ऋत्विजोंका रक्षण करता है) यह श्रुति उपासनाओंका असहभाव दिखलाती है, क्योंकि उपासनाओंका उपसंहार होनेपर सबके सर्वज्ञ होनेसे विज्ञानवाले ब्रह्मासे अन्य परिपाल्य हैं, ऐसा न कहा जाता । उससे उपासनाओंका यथाकाम—इच्छानुसार समुच्चय है अथवा विकल्प है, ऐसा निर्णय होता है ॥ ६६ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचित शाङ्करभाष्यके अनुवादमें तृतीय अध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

किञ्च, विदुषा ब्रह्मणा अन्येषामृत्विजां पाल्यत्ववचनान्न सर्वोपास्तीनां सहप्रयोग इत्याह—दर्शनाच्चेति । ऋग्वेदादिविहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्तादिविज्ञानवत्त्वम् एवंवित्त्वं ब्रह्मण इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ६६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनव्याख्यायां रत्नप्रभायां तृतीयायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥३॥३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और विद्वान् ब्रह्मासे अन्य ऋत्विजोंका रक्षण होता है, ऐसा वचन होनेसे सब उपासनाओंका साथमें प्रयोग नहीं है, ऐसा कहते हैं—"दर्शनाच्च" इत्यादिसे । ऋग्वेद आदिमें विहित अङ्गोंका लोप होनेपर व्याहृतिहोमप्रायश्चित्त आदिका जानना ही ब्रह्माका 'एवंवित्त्व' है, यह अर्थ है ॥ ६६ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबारचित रत्नप्रभाभाषानुवादमें तृतीय अध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥ ३ ॥

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः ।]

[१ पुरुषार्थाधिकरण सू० १—१७]

क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वात्मनो यतः ।
देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात् क्रतुगं ततः ॥
नाऽद्वैतधीः कर्महेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा ।
आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—आत्मज्ञान क्रत्वर्थ है अथवा स्वतन्त्र है ।

पूर्वपक्ष—'देहसे अतिरिक्त आत्मा है' इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त किये बिना क्रतुमें किसी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए आत्मविज्ञान क्रतुका अङ्ग ही है ।

सिद्धान्त—अद्वैत आत्मतत्त्वज्ञान कर्महेतु नहीं है, प्रत्युत वह कर्मका विरोधी है, जनक प्रभृति तत्त्वज्ञानियोंका आचार लोकसंग्रहके लिए है, इसलिए आत्म-विज्ञान स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ साधन है, क्रतुद्वारा नहीं है ।

---

* इस अधिकरणका साराश यह है कि 'आत्मा देहसे अतिरिक्त है' इस प्रकार ज्ञानके बिना परलोकगामित्वका निश्चय न होनेके कारण ज्योतिष्टोम आदिमें प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिए क्रतुमें प्रवर्तक होनेके कारण औपनिषद आत्मतत्त्वज्ञान कर्मका अङ्ग है, यह पूर्वपक्षीका मत है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि देहव्यतिरिक्त आत्मतत्त्वविज्ञान दो प्रकार का होता है—एक परलोकगामी कर्तृरूप आत्माका विज्ञान और दूसरा ब्रह्मात्मतत्त्वविज्ञान । उन दोनों में पहला—कर्तृरूप आत्मतत्त्वविज्ञान भले ही प्रवर्तक हो, परन्तु ब्रह्मात्मतत्त्वविज्ञान प्रवर्तक नहीं है, प्रत्युत क्रिया, कारक और फलके निषेधसे कर्मका निवर्तक ही है । यदि ऐसा है, तो तत्त्वविद् जनक आदिकी कर्ममें प्रवृत्ति कैसे हुई ? सत्य है, उनका आचार लोकसंग्रहके लिए ही है, अतः दोष नहीं है । यदि तत्त्वज्ञानियोंको भी मुक्तिके लिए कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़े, तो प्रजा आदिके वैयर्थ्यकी श्रुति कैसे उपपन्न होगी इसीलिए 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इत्यादिसे आत्मतत्त्वस्वरूप लोकके प्रत्यक्ष होनेपर अनात्मरूप लोकसाधनभूत प्रजाका वैयर्थ्य श्रुतिमें कहा गया है । इसी प्रकार 'किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वय यक्ष्यामहे' इत्यादि श्रुतियां उदाहरणीय हैं । इससे आत्मतत्त्वज्ञान स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ है, कर्माङ्ग नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

पदच्छेद—पुरुषार्थः, अतः, शब्दात्, इति, बादरायणः ।

पदार्थोक्ति—अतः—अस्मात् औपनिषदात्मज्ञानात् स्वतन्त्रात्, पुरुषार्थः—मोक्षः [सिद्ध्यति], इति—अनेन प्रकारेण, बादरायणः—आचार्यः [मन्यते कुतः ?] शब्दात्—'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतेः ।

भाषार्थ—आचार्य बादरायणका मत है कि इसी औपनिषद आत्मज्ञानसे मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोकको–दुःखको तरता है) इस प्रकारकी श्रुति है ।

भाष्य

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित् स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव

भाष्यका अनुवाद

इसके अनन्तर उपनिषद्जन्य आत्मज्ञान अधिकारी पुरुषके द्वारा कर्ममें ही प्रवेश करता है अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थका साधन है, ऐसा विचार करते हुए

रत्नप्रभा

ॐ कर्माङ्गविद्याप्रसंगाद् ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमाशङ्क्य आह—पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः । पूर्वपादे परापरविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या स्वरूपं निश्चितम्, अस्मिन् पादे तासां कर्मानङ्गतया पुरुषार्थहेतुत्वं निरूप्यते । ततोऽङ्गाकाङ्क्षायां यज्ञादीनि बहिरङ्गानि, शमादीनि अन्तरङ्गानि च निरूप्यन्ते इति एकविद्याविषयत्वं पादयोः संगतिः । तत्रादौ तत्त्वज्ञानं विषयीकृत्य वादिविप्रतिपत्त्या संशयमाह—अथेति । पूर्वपक्षे ज्ञानकर्मणोरङ्गाङ्गित्वेन समुच्चयः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्माङ्गविद्याके प्रसङ्गसे 'ब्रह्मज्ञान कर्मका अङ्ग है' इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—"पुरुषार्थोऽतः०" इत्यादि सूत्रसे । पूर्वपादमें परविद्या और अपरविद्याके गुणोंका उपसंहार कह कर स्वरूपका निश्चय किया गया । अब इस पादमें उन विद्याओंमें कर्माङ्गत्वका निषेध करते हुए पुरुषार्थ-हेतुताका निरूपण किया जाता है । इसके अनन्तर विद्याके अङ्गों–साधनोंकी आकांक्षा होनेपर यज्ञ आदि उसके बहिरङ्ग साधन हैं और शम आदि अन्तरङ्ग साधन हैं, इस प्रकार निरूपण किया जाता है, इसलिए दोनों पादोंकी एकविद्याविषयत्व सङ्गति है । इस परिस्थितिमें प्रथम तत्त्वज्ञानको विषय करके वादीकी विप्रतिपत्तिसे संशय कहते हैं—"अथ"

भाष्य

तावदुपक्रमते पुरुषार्थोऽत इति । अतः अस्माद् वेदान्तविहितादात्मज्ञानात् स्वतन्त्रात् पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते ? शब्दादित्याह । तथा हि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्युपक्रम्य 'स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४।५।६)

भाष्यका अनुवाद

सूत्रकार पहले सिद्धान्तका ही उपक्रम करते हैं—'पुरुषार्थोऽतः' इत्यादिसे । इस वेदान्तविहित स्वतन्त्र आत्मज्ञानसे पुरुषार्थ सिद्ध होता है, ऐसा आचार्य बादरायणका मत है। किस प्रमाणसे यह ज्ञात होता है ? शब्द प्रमाणसे, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'तरति शोकमा०' (आत्मवेत्ता शोकका अतिक्रमण करता है), 'स यो ह वै०' (जो कोई उस परम ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्मको ही प्राप्त होता है, ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है), 'ब्रह्मवित्०' (ब्रह्मज्ञ परब्रह्मको प्राप्त होता है), 'आचार्यवान्०' (आचार्यवान् पुरुष जानता है, उसके सदात्मस्वरूपकी प्राप्तिमें तभीतक विलम्ब है, जबतक कि उसका देहपात नहीं होता; देहपात होनेके पश्चात् ही वह सत्सम्पन्न हो जाता है), 'य आत्मा०' (जो आत्मा पापरहित है) इस प्रकार उपक्रम करके 'स सर्वांश्च लोकाना०' (जो उस आत्माका शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार अन्वेषण करके उसे जानता है, वह सब लोकोंको प्राप्त करता है और सब भोगोंको प्राप्त करता है), 'आत्मा वा०' (हे मैत्रेयि, आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये) ऐसा

रत्नप्रभा

सिद्धान्ते केवलज्ञानात् मुक्तिः इति फलभेदः । 'य आत्मा' इति प्रजापत्युक्तब्रह्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें ज्ञान और कर्मका अङ्गाङ्गिभावसे समुच्चय है और सिद्धान्तमें केवल ज्ञानसे मुक्ति है, इस प्रकार फलभेद है । 'य आत्मा' इस प्रकार प्रजापति द्वारा कही गई

भाष्य

इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० ४।५।१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥ १ ॥

अथात्र परः प्रत्यवतिष्ठते—

भाष्यका अनुवाद

उपक्रम करके 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (हे मैत्रेयि, यही अमृतत्व है) इत्यादि श्रुतियाँ केवल विद्या—आत्मज्ञान ही पुरुषार्थहेतु है, ऐसा श्रवण कराती हैं ॥१॥

अब उक्त सिद्धान्तपर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है—

रत्नप्रभा

विद्यायां लोकादिकं सगुणविद्याफलं मोक्षानन्देऽन्तर्भावाभिप्रायेणोक्तमिति मन्तव्यम् ॥१॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मविद्यामें सगुण विद्याके फलरूप सब लोक आदिकी प्राप्तिका कथन मोक्षानन्दमें अन्तर्भावके अभिप्रायसे है, इस प्रकार समझना चाहिए ॥ १ ॥

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

पदच्छेद—शेषत्वात्, पुरुषार्थवादः, यथा, अन्येषु, इति, जैमिनिः ।

पदार्थोक्ति—[आत्मनः कर्तृत्वेन आत्मज्ञानस्यापि पर्णतावत् कर्मशेषात्मद्वारा क्रत्वङ्गत्वम्] शेषत्वात्—फलशून्यत्वे सति कर्माङ्गाश्रयत्वात्, [ननु 'तरति' इत्यादिश्रुत्या मोक्षलक्षणफलश्रुतेर्विशेषणासिद्धोऽयं हेतुरित्यत आह—पुरुषेत्यादिना] यथा—यया रीत्या, अन्येषु—द्रव्यसंस्कारकर्मसु, [अपापादिफलश्रुतिरर्थवादस्तथाऽत्रापि तरतीत्यादिफलश्रुतिः] पुरुषार्थवादः, इति जैमिनिराचार्यः [मन्यते] ।

भावार्थ—चूँकि आत्मा कर्ता है, इसलिए उसका ज्ञान भी पर्णताके समान कर्मके अङ्गभूत आत्मा द्वारा क्रतुका अङ्ग है, क्योंकि फलशून्य होकर कर्माङ्गका आश्रयण करता है, विशेषणकी असिद्धिके निरासके लिए पुरुषेत्यादिका पठन है—जैसे अन्य द्रव्यसंस्कार कर्मोंमें अपाप आदि फलश्रुति अर्थवाद है, वैसेही 'तरति' आदि भी पुरुषार्थवाद है, यह जैमिनि आचार्यका मत है ।

भाष्य

कर्तृत्वेनाऽऽत्मनः कर्मशेषत्वात् तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद् विषयद्वारेण कर्मसम्बन्ध्येवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजने आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' 'यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते' 'यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य

भाष्यका अनुवाद

कर्ता होनेसे आत्मा कर्मका अंग है, अतः उसका विज्ञान भी व्रीहिप्रोक्षण आदिके समान विषयद्वारा कर्मसम्बन्धी ही है। इससे उस कर्मके प्रयोजनका ज्ञान होनेपर आत्मज्ञानमें जो फलश्रुति है, वह अर्थवाद है, ऐसा जैमिनि आचार्यका मत है। जैसे अन्य-द्रव्यके संस्कारभूत कर्मोंमे 'यस्य पर्णमयी०' (जिसकी जुहू पर्णमयी-पलाशकी होती है, वह पापश्लोकका श्रवण नहीं करता, वह जो अपनी आँखोंमें अंजन लगाता है, उससे शत्रुके नेत्रोंका नाश करता है, जो प्रयाज और अनुयाज किये जाते हैं, ये यज्ञके कवच किये जाते हैं, शत्रुके अभिभवके लिए ये यजमानके

रत्नप्रभा

एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—शेषत्वादिति। सूत्रेऽर्थवादपदमावर्त्तनीयम्। ज्ञानात् पुरुषार्थवादोऽर्थवाद इत्यर्थ। ज्ञानं कर्माङ्गम्, अफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वात्, प्रोक्षणपर्णमयीत्वादिवत् इति भावः। तत्त्वनिर्णयार्थं गुरुशिष्ययोः कथावादोऽयमिति ज्ञापनार्थं जैमिनिग्रहणम्। अङ्गिफलेन अङ्गभूत आत्मा अवगतप्रयोजनः, तदाश्रये तत्संस्कारके ज्ञाने फलश्रुतिः अर्थवाद इत्यत्र दृष्टान्तः—यथेति। पर्णमयी द्रव्यम्, यजमानस्य अञ्जनं संस्कारः। प्रयाजादीनि कर्माणि तेष्वित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार सिद्धान्तका उपक्रम करके पूर्वपक्ष करते हैं—"शेषत्वात्" इत्यादिसे। सूत्रमें 'अर्थवाद' पदकी आवृत्ति करनी चाहिए। ज्ञानसे पुरुषार्थ होता है, इस प्रकारका वाद अर्थवाद है। ज्ञान कर्मका अङ्ग है, निष्फल होकर कर्मशेषका आश्रय होनेसे, प्रोक्षण, पर्णमयीत्व आदिके समान, ऐसा भाव है। तत्त्वके निश्चयके लिए गुरु और शिष्यकी वादात्मक कथा है, ऐसा बोध करानेके लिए जैमिनिका ग्रहण किया गया है। क्रियारूप अङ्गीके फलका ज्ञान होनेसे अङ्गभूत आत्माका प्रयोजन भी ज्ञात ही है, इसलिए आत्मामें रहनेवाले उसके संस्कारभूत ज्ञानमें जो फलश्रुति है, वह अर्थवाद है, इसमें दृष्टान्त है—"यथा" इत्यादिसे। उसमें पर्णमयी द्रव्य है, यजमानका अञ्जन संस्कार है, प्रयाज आदि कर्म हैं, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः, तद्वत् । कथं पुनरस्याऽनारभ्याऽधीतस्याऽऽत्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनाऽपि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते । कर्तृद्वारेण वाक्यात् तद्विज्ञानस्य क्रतुसम्बन्ध इति चेत्, न; वाक्यात् विनियोगानुपपत्तेः । अव्यभिचारिणा हि केनचिद् द्वारेणाऽनारभ्याऽधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसम्बन्धोऽवकल्पते । कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्, तस्मान्न

भाष्यका अनुवाद

कवच होते हैं) इस प्रकारकी फलश्रुति अर्थवाद है, वैसे ही आत्मज्ञानमें फलश्रुति भी अर्थवाद है। परन्तु यह आत्मज्ञान, किसी भी यज्ञका आरम्भ कर पठित नहीं है, अतः प्रकरण आदिमें से किसी एक हेतुके विना क्रतुमें उसके प्रवेशकी किस प्रकार आशङ्का की जाती है ? कर्ता द्वारा वाक्यसे उसके विज्ञानका क्रतुके साथ सम्बन्ध है, ऐसा यदि कहो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वाक्यसे विनियोग नहीं हो सकता। किसी एक अव्यभिचारी—नित्यसम्बद्ध क्रतुके द्वारसे अनारभ्य-अप्रकरणमें पठितोंका वाक्यनिमित्तक क्रतुसम्बन्ध हो सकता है। किन्तु वैदिक और लौकिक कर्मोंमें साधारण होनेसे कर्ता तो

रत्नप्रभा

वर्म—कवचम् । आत्मज्ञानं न कर्माङ्गम्, मानाभावात्, इति सिद्धान्ती शङ्कते—कथमिति । पूर्वपक्ष्याह—कर्त्रिति । युक्तो ह्यनारभ्याधीतायाः पर्णताया जुहूद्वारेण वाक्यात् क्रत्वङ्गभावः, जुह्वाः क्रतुव्याप्यतया क्रतूपस्थापकत्वात्, न तथा आत्मविज्ञानस्य 'आत्मा द्रष्टव्यः' इति वाक्यात् क्रतुसबन्ध उपपद्यते, आत्मनः क्रतुव्याप्त्यभावात्, इति सिद्धान्ती दूषयति—नेति । देहभिन्नत्वेन ज्ञातात्मनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म—कवच । आत्मज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं है, प्रमाणका अभाव होनेसे, इस प्रकार सिद्धान्ती शङ्का करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे । पूर्वपक्षी कहता है—"कर्तृ" इत्यादिसे । अनारभ्याधीत अर्थात् क्रतुके प्रकरणमें अनधीत पर्णताका वाक्यप्रमाणसे क्रत्वङ्ग होना युक्तियुक्त है, क्योंकि जैसे क्रतुकी व्याप्य होनेसे जुहू क्रतुकी उपस्थापिका है, वैसे आत्मविज्ञानका 'आत्मा द्रष्टव्यः' (आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिए) इस वाक्यसे क्रतुसम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मामें क्रतुकी व्याप्ति नहीं है, इस प्रकार सिद्धान्ती दूषण देते हैं—"न" इत्यादिसे । देहभिन्नत्वरूपसे ज्ञात आत्मा क्रतुव्याप्य है, इस प्रकार पूर्वपक्षी समाधान

भाष्य

तद्द्वारेणाऽऽत्मज्ञानस्य क्रतुसम्बन्धसिद्धिरिति, न; व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात् । नहि देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते, सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः । वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम् । नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात् । न, प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण

भाष्यका अनुवाद

व्यभिचारी द्वार है। इसलिए उसके द्वारा आत्मज्ञानका क्रतुसम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा देहसे अतिरिक्त है इस विज्ञानका वैदिक कर्मोंको छोड़कर अन्य कर्मोंमें उपयोग नहीं है, कारण कि आत्मा देहसे अतिरिक्त है, इस आत्मज्ञानका लौकिक कर्मोंमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि आत्मा देहसे पृथक् है, ऐसा ज्ञान रहे चाहे न रहे, जिनका प्रयोजन दृष्ट—प्रत्यक्ष है ऐसे कर्मोंमें प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु वैदिक कर्मोंमें, जिनका फल देहपातके पश्चात् होता है, आत्मा देहसे अतिरिक्त है, ऐसे आत्मज्ञानके बिना, प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः मरणके अनन्तर फल देनेवाले वैदिक कर्मोंमें 'देह व्यतिरिक्त आत्मा है' यह ज्ञान उपयोगी होता है। परन्तु अपहतपाप्मत्व आदि विशेषणोंसे असंसारी आत्माका उपनिषद्‌जन्य ज्ञान वैदिककर्ममें प्रवृत्तिका अंग नहीं होगा। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता,

रत्नप्रभा

क्रतुव्याप्यत्वमस्तीति पूर्वपक्षी समाधत्ते—न व्यतिरेकेति। सर्वथेति। देहात्मत्वेनाऽपीत्यर्थः। देहभिन्नकर्तृज्ञानस्य अङ्गत्वेऽपि अकर्तृब्रह्मात्मज्ञानस्य न अङ्गत्वमिति शङ्कते—नन्वपहतेति। यस्यार्थे जायादिकं प्रियं भोग्यम् स 'आत्मा द्रष्टव्यः' इति भोग्यलिङ्गेन सूचितभोक्तृभिन्नमकर्तृस्वरूपं नास्तीति समाध्यर्थः। जन्मादिसूत्रमारभ्य साधितं स्वरूपं कथं नास्तीति शङ्कते—नन्विति। स्वरूपज्ञानं वेदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करता है—"न व्यतिरेक" इत्यादिसे। "सर्वथा" इति। देहात्मभावसे भी, ऐसा अर्थ है। देहभिन्न कर्ताका ज्ञान यद्यपि क्रतुका अङ्ग है, तो भी अकर्तृ ब्रह्मात्मज्ञान अङ्ग नहीं है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"नन्वपहत" इत्यादिसे। जिस आत्माके लिए जाया आदि प्रिय और भोग्य हैं, उस आत्माको जानना चाहिए, इस प्रकार भोग्यलिङ्गसे सूचित आत्मा भोक्तृभिन्न अकर्तास्वरूप नहीं है, ऐसा समाधानका अभिप्राय है। जन्मादिसूत्रसे लेकर निश्चित किया गया स्वरूप

भाष्य

एवाऽऽत्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादिविशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति। सत्यं प्रसाधितं तस्यैव तु स्थूणानिखननवत् फलद्वारेणाऽऽक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि प्रिय आदिसे सूचित संसारी आत्माका ही द्रष्टव्यरूपसे उपदेश है। अपहतपाप्मत्व आदि विशेषण तो स्तुतिके लिए होंगे। परन्तु जीवसे भिन्न असंसारी ब्रह्म जगत्का कारण है और वही संसारी आत्माका पारमार्थिक स्वरूप है, ऐसा उपनिषदोंमें उपदेश किया जाता है, यह तत्-तत् स्थलमें भली भाँति सिद्ध किया गया है। हां, भली भाँति सिद्ध किया गया है, परन्तु स्थूणानिखननके— खूंटेको हिला हिलाकर दृढ़ करनेके—समान फल द्वारा दृढ़ताके लिए आक्षेप और समाधान किये जाते हैं ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

न्तानां फलम्, तस्य क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वविचारेण दार्ढ्यं क्रियते इत्याह— सत्यमिति ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्यों नहीं है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। स्वरूपज्ञान वेदान्तोंका फल है, उसकी, क्रत्वर्थत्व और पुरुषार्थत्वके विचारसे, दृढ़ता की जाती है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

पदार्थोक्ति—आचारदर्शनात्—'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' इत्यादौ ब्रह्मविदां जनकादीनां विद्यया सह कर्माचारदर्शनात् [विद्यायाः कर्माङ्गत्वमित्यर्थः]।

भाषार्थ—'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (विदेहाधिपति जनकने अधिक दक्षिणावाला यज्ञ किया) इत्यादिसे विदेहाधिपति आदि ब्रह्मज्ञानियोंका विद्याके साथ कर्मका आचरण देखा जाता है, इसलिए भी विद्या कर्मकी अङ्ग है, यह ज्ञात होता है।

भाष्य

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३।१।१) 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५।११।१५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसम्बन्धदर्शनानि भवन्ति । तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद् गार्हस्थ्यसम्बन्धोऽवगम्यते । केवलाच्चेज्ज्ञानात् पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्, किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः, 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात् ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

'जनको ह वैदेहो०' (विदेह देशके अधिपति जनकने बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ किया), 'यक्ष्यमाणो वै०' (हे पूज्य ऋषिवृन्द ! मैं यज्ञ करनेवाला हूँ) इत्यादि ज्ञानपरक वाक्योंमें भी ब्रह्मवेत्ताओंके कर्मसम्बन्ध-दर्शन होते हैं। उद्दालक आदिका भी पुत्रोपदेश आदि उपलब्ध होता है, इससे उनका गार्हस्थ्यके साथ सम्बन्ध ज्ञात होता है। केवल ज्ञानसे यदि पुरुषार्थकी सिद्धि होती, तो विद्वानों द्वारा अनेक आयासयुक्त कर्म क्यों किये जाते, क्योंकि 'अर्के चेन्मधु विन्देत०' यदि समीपमें—घरके कोनेमें मधु मिल जाय, तो पर्वतमें जानेकी क्या आवश्यकता है, ऐसा न्याय है ॥३॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मविदां कर्माचारदर्शनं ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे लिङ्गमित्याह—आचारेति । ईजे—यागं कृतवानित्यर्थः । हे भगवन्त इति ब्राह्मणान् संबोध्य ब्रह्मवित् कैकेयराजो ब्रूते—*अहं यक्ष्यमाणः—यागं करिष्यमाणोऽस्मि वसन्त्वत्र भगवन्त इत्यर्थः ।* अन्यपरेष्विति । विद्याविधिपरेष्वित्यर्थः । अल्पायासं मुक्तेरुपायं ज्ञानं लब्ध्वा बह्वायासं कर्म न कुर्युरित्यत्र दृष्टान्तमाह—अर्के इति । समीपे इत्यर्थः । 'अर्के' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मविद् पुरुषोंका कर्मानुष्ठानदर्शन ही ब्रह्मविद्याके कर्माङ्गत्वमें प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—"आचार" इत्यादिसे । ईजे—याग किया, ऐसा अर्थ है। हे भगवन्तः ! इस प्रकार ब्राह्मणोंका सम्बोधन करके ब्रह्मज्ञानी कैकेय राजा कहता है—मैं याग करनेवाला हूँ, इसलिए आप यहाँ रहें, यह अर्थ है। अन्यपरेषु, इसका अर्थ है—विद्याविधिपरक (वाक्योंमें)। अल्पप्रयत्नसाध्य मुक्तिका उपाय—कारणभूत ज्ञानको पाकर अधिकप्रयाससाध्य कर्म न करे, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"अर्के" इत्यादिसे। समीपमें, ऐसा अर्थ है। 'अर्के' इस पाठमें भी यही अर्थ है ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

पदार्थोक्ति—['यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति तृतीयाश्रुत्या विद्यायाः] तच्छ्रुतेः—तस्य कर्माङ्गत्वस्य श्रुतेः श्रवणात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—'यदेव विद्यया करोति' इत्यादि तृतीयाश्रुतिसे विद्यामें कर्माङ्गत्वका श्रवण होनेसे भी विद्या कर्मकी अङ्ग है, ऐसा प्रतीत होता है ।

भाष्य

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणात् विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

'*यदेव विद्यया०*' (*जिस कर्मको विद्यासे, श्रद्धासे और उपनिषत्से करता है, वही कर्म वीर्यवत्तर होता है, अविद्वान्के कर्मसे अधिकफलवाला होता है*) इस प्रकार कर्मके अंगरूपसे विद्याका श्रवण होनेसे केवल—कर्मरहित विद्या पुरुषार्थकी हेतु नहीं है ॥४॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वे तृतीयाश्रुतिरप्यस्तीत्याह—तच्छ्रुतेरिति ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तृतीयाश्रुतिसे भी ब्रह्मविद्या कर्मकी अङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"तच्छ्रुते." इति ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

पदार्थोक्ति—समन्वारम्भणात्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इत्यनेन विद्याकर्मणोः साहित्यदर्शनाद् [अपि विद्यायाः कर्माङ्गत्वम्] ।

भाषार्थ—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' इत्यादिसे विद्या और कर्मका साहित्य देखा जाता है, इससे भी विद्या कर्मकी अङ्ग है ।

भाष्य

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

'तं विद्याकर्मणी०' (परलोकमें जानेवालेके पीछे विद्या और कर्म जाते हैं) इस प्रकार विद्या और कर्म फलोत्पादनमें सहकारी देखे जाते हैं, इससे ज्ञात होता है कि विद्याका स्वातन्त्र्य नहीं है ॥५॥

रत्नप्रभा

लिङ्गान्तरमाह—समिति । तं परलोकं गच्छन्तं विद्याकर्मणी अनुगच्छत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य लिङ्ग भी कहते हैं—"सम्" इत्यादिसे । परलोक जाते हुए उसके पीछे विद्या और कर्म भी जाते हैं, ऐसा अर्थ है ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—तद्वतः, विधानात् ।

पदार्थोक्ति—तद्वतः—'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' इत्यादिश्रुत्या सम्पूर्णवेदार्थ-ज्ञानयुक्तस्य विधानात्—कर्मविधानात् [अपि कर्माङ्गत्वं विद्यायाः] ।

भाषार्थ—'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' इत्यादि श्रुतिसे सम्पूर्णवेदविद्यासे संपन्न पुरुषके लिए कर्मका विधान किया जाता है, इससे भी विद्या कर्माङ्ग है ।

भाष्य

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' (छा० ८।१५।१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति, तस्मादपि

भाष्यका अनुवाद

'आचार्यकुलाद्वेदम०' (गुरुकी सेवा-शुश्रूषारूप कर्म करता हुआ अवशिष्ट समयमें यथाविधि वेदका अर्थसहित अध्ययन करके तदनन्तर ब्रह्मचर्यसे समावर्तन कर, गृहस्थाश्रममें प्रवेशकर पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता हुआ···) इस प्रकारकी श्रुति समस्त वेदके अर्थका विज्ञान रखनेवालेका कर्ममें अधिकार

भाष्य

न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम् । नन्वत्राऽधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते, नाऽर्थविज्ञानम् । नैष दोषः । दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

दिखलाती है, इससे भी आत्मविज्ञान स्वतन्त्ररीतिसे फलका हेतु नहीं है। परन्तु यहांपर 'अधीत्य' (अध्ययन करके) इस प्रकार वेदके अध्ययनमात्रकी श्रुति है, अर्थ विज्ञानका श्रवण नहीं है। यह दोष नहीं है। वेदाध्ययनके दृष्टार्थ होनेसे अध्ययन शब्दका अर्थ अर्थज्ञानपर्यन्त है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥६॥

रत्नप्रभा

गुरोः शुश्रूषारूपं कर्म कुर्वन् अतिशेषेण अवशिष्टेन कालेन यथाविधानं वेदमधीत्य अनन्तरमाचार्यस्य कुलाद् गृहात्, ब्रह्मचर्यादिति यावत्, अभिसमावर्तनं कृत्वा कुटुम्बे गार्हस्थ्ये स्थितः प्रत्यहं शुचौ देशे स्वाध्यायाअध्ययनं कुर्वन् अन्यांश्च नित्यादिधर्माननुतिष्ठन् ब्रह्म लोकं प्राप्नोतीति श्रुत्यर्थः । यथा अवघातस्तुषविमोकपर्यन्तः, एवमध्ययनमर्थावबोधान्तम् । दृष्टे अर्थावबोधाख्ये फले संभवति अध्ययनस्य अदृष्टार्थत्वायोगादिति पूर्वतन्त्रे स्थितम् । ततश्च ब्रह्मापि वेदार्थ इति तदवबोधवतः कर्मविधानमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गुरुशुश्रूषारूप कर्मको करता हुआ अवशिष्टकालमें यथाविधि वेदका अध्ययन कर अनन्तर आचार्यके कुलसे अर्थात्—गृहसे अर्थात् ब्रह्मचर्यसे समावर्तन करके गार्हस्थ्यमें रहता हुआ शुद्ध प्रदेशमें प्रतिदिन स्वाध्याय—वेदका अध्ययन करते और नित्यादिधर्मका अनुष्ठान करता हुआ ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, यह श्रुतिका अर्थ है। जैसे अवघात धानके छिलके निकलने तक होता है, वैसे अर्थज्ञान तक वेदाध्ययन होता है। अर्थज्ञानरूप दृष्ट फलके रहते अध्ययनका अदृष्ट-पुण्य फल नहीं माना जा सकता है, यह पूर्वमीमांसामें प्रतिपादित है। इसलिए ब्रह्म भी वेदार्थ है, अतः उसके जाननेवालेके लिये कर्मविधान है, ऐसा अर्थ है ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

पदच्छेद—नियमात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि, नियमात्—'कुर्वन्नेवेह' इत्यादिना यावज्जीवकर्माचारनियमात् [विद्यायाः कर्माङ्गत्वम्] ।

भाषार्थ—और भी 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादिसे जीवनपर्यन्त कर्माचरणका नियम होनेसे भी विद्या कर्माङ्ग है ।

भाष्य

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥' (ईशा० २) इति । तथा 'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥ ७ ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

भाष्यका अनुवाद

'कुर्वन्नेवेह०' (इस देहमें अग्निहोत्र आदि कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकार कर्म करते हुए जीनेवाले नरमात्राभिमानी तुममें अशुभ कर्मका लेप नहीं होगा, अर्थात् अशुभ कर्मसे तुम लिप्त नहीं होओगे, इससे दूसरा श्रेयका प्रकार नहीं है) इसी प्रकार 'एतद्वै जरामर्यम्०' (जो अग्निहोत्र है, वही जरा और मरणपर्यन्त पहुँचनेवाला सत्र है इस अग्निहोत्रादिसे पुरुष जरा या मृत्युसे ही छुटकारा पाता है) इस प्रकार नियमसे भी विद्या कर्मशेष ही है ॥ ७ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करते हैं—

रत्नप्रभा

यावज्जीवं कर्मनियमोऽप्यत्र लिङ्गमित्याह—नियमाच्चेति । इह देहे कर्माणि कुर्वन्नेव शतं संवत्सरान् जीवितुम् इच्छेत् । एवं कर्मित्वेन जीवति त्वयि नरे कर्म पापं न लिप्यते । इतः कर्मणः अन्यथा नास्ति—कर्म विना श्रेयो नास्तीत्यर्थः । जरामर्यं—जरामरणावधिकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवनपर्य्यन्त कर्मका जो नियम है, वह भी प्रमाण है, ऐसा कहते हैं—"नियमाच्च" इत्यादिसे। इस देहमें कर्मको करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे, इस प्रकार कर्मानुष्ठान करते हुए शत वर्षतक जीनेपर भी नराभिमानी तुममें कर्मका—पापका सम्बन्ध नहीं होगा। इस कर्मसे अन्य नहीं है अर्थात् कर्मको छोड़कर अन्य कल्याण नहीं है। जरामर्य—जरामरणावधि, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अधिकोपदेशात्, तु, बादरायणस्य, एवम्, तद्दर्शनात्।

पदार्थोक्ति—अत्र सूत्रस्थस्तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः [यदवादि पूर्वपक्षकर्त्रा तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गम्, फलशून्यत्वे सति कर्माङ्गाश्रयत्वात्, इति तन्न युक्तम्, कुतः ? हेतौ विशेष्यस्याऽसिद्धेः, कुतो विशेष्याऽसिद्धिः ?] अधिकोपदेशात्—संसारिणो जीवात् अधिकस्य—अकर्तुरभोक्तुर्ब्रह्मण उपदेशात्—वेदान्तेषु कथनात्, [ततश्च चिन्मात्राश्रयमेव तत्त्वज्ञानमिति भवति विशेष्यासिद्धिः, अत एव तत्त्वज्ञानफलश्रुतिरपि नार्थवादः, तस्मात्] एवम्—तेन प्रकारेण बादरायणस्य—भवगतो बादरायणस्य [यन्मतं तत्तथैवावस्थितम्, न चाऽधिकोपदेशाऽसिद्धिः,] तद्दर्शनात्—तस्य चिन्मात्रब्रह्मणः दर्शनात्—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' इत्यादिश्रुतिसहस्रेषु प्रतिपादनात्।

भाषार्थ—सूत्रस्थ तुशब्द पूर्वपक्षका निरास करनेके लिए है। पूर्वपक्षीने 'तत्त्वज्ञान कर्माङ्ग है, निष्फल होकर कर्माङ्गका आश्रय होनेसे, इस प्रकार जो कहा है, वह युक्त नहीं है, किससे ? हेतुमें विशेष्यकी असिद्धि होनेसे। विशेष्यकी असिद्धि कैसे है ? संसारी जीवसे अन्य चिन्मात्र भोक्तृत्वादिरहित ब्रह्मका कथन होनेसे। चिन्मात्राश्रय ही तत्त्वज्ञान है, अतः विशेष्यासिद्धि है। इस कारण तत्त्वज्ञानकी फलश्रुति भी अर्थवाद नहीं है, और इस प्रकार जो भगवान् बादरायणका मत है, वह ठीक ही है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियोंमें चिन्मात्र ब्रह्मका दर्शन होनेसे अधिकोपदेश व्यर्थ भी नहीं है।

भाष्य

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्—'शेषत्वात् पुरुषार्थवादः' (ब्र०

भाष्यका अनुवाद

तुशब्दसे पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति होती है। 'शेषत्वात् पुरुषार्थवादः' ऐसा जो

रत्नप्रभा

कर्तुरधिकस्य असंसार्यात्मनः कर्मशेषत्वाभावात् तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं नेति सिद्धान्तयति—अधिकेति। 'अस्य महतः' इति वाक्यशेषात् प्रियसंसूचित आत्मा पर

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्तासे अन्य असंसारी आत्मा कर्माङ्ग नहीं है, इससे तत्त्वज्ञान कर्मशेष नहीं है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"अधिक" इत्यादिसे। 'अस्य महत-' (इस महान्‌का) इस प्रकार

भाष्य

सू० ३।४।२) इति, तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? अधिकोपदेशात् । यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्, ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् । अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु । न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' (ब्र० सू० ३।४।१६) इत्यत्र । तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते । तथा हि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' (तै० २।८।१) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्'

भाष्यका अनुवाद

कहा गया है, वह नहीं घट सकता । किससे ? अधिकका उपदेश होनेसे । यदि संसारी ही आत्मा शारीर, कर्ता, भोक्ता, शरीरमात्रसे अतिरिक्त वेदान्तोंमें उपदिष्ट होता, तो पूर्वोक्त रीतिसे फलश्रुति अर्थवाद होती, किन्तु शारीर-जीवात्मासे अधिक—भिन्न असंसारी ईश्वर कर्तृत्व आदि संसारी आत्माके धर्मोंसे रहित अपहतपाप्मत्व आदि विशेषणोंसे युक्त परमात्माका वेद्यरूपसे वेदान्तोंमें उपदेश किया जाता है । और उसका विज्ञान कर्मोंका प्रवर्तक नहीं होता प्रत्युत कर्मोंका उच्छेद करता है ऐसा आगे 'उपमर्दं च' इस सूत्रमें कहेंगे । इससे 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' यह जो भगवान् बादरायणका मत है वह ज्योंका त्यों अवस्थित है, शेषत्व आदि हेत्वाभासोंसे वह विचलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः०' (जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है), 'भीषाऽस्माद्वातः' (इसके भयसे वायु चलता है), 'महद्भयम्०' (महान् भयङ्कर ऊँचा किये हुए वज्रके सदृश), 'एतस्य

रत्नप्रभा

एव द्रष्टव्यः, यः प्राणादि प्रेरयति सोऽप्यशनायाद्यत्ययवाक्यशेषात् पर एव, तथा- अक्षिपुरुषोऽपि अवस्थासाक्षि परं ज्योतिः इति वाक्यशेषात् पर इति विभागः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यशेषसे प्रियशब्दसे सूचित यह आत्मा ही द्रष्टव्य है । जो प्राण आदिकी प्रेरणा करता है, वह भी अशनायात्यय (भोजनादि इच्छासे रहित) रूप वाक्यशेषसे पर ही है । वैसे अक्षिस्थ पुरुष भी 'अवस्थाका साक्षी पर ज्योतिरूप है' इस प्रकार वाक्यशेषसे पर ही है,

भाष्य

(क० ६।२) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृ० ३।८।९) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवमाद्याः । यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवाऽऽत्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (३।४।१) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ८।७।४) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति चैवमादि, तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३।५।१) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः'

भाष्यका अनुवाद

वाक्षरस्य०' (हे गार्गी ! इस अक्षरके अनुशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विधृत—ठिकानेसे रहते हैं) 'तदैक्षत०' (उस सत्ने विचार किया कि मैं बहुत होऊँ—प्रजारूपसे उत्पन्न होऊँ, उसने तेजकी सृष्टि की) इत्यादि श्रुतियां परमात्माको शारीरसे—जीवसे अधिक—भिन्न दिखलाती हैं। और 'आत्मनस्तु कामाय०' (आत्माके लिए सब प्रिय होता है, हे मैत्रेयी ! आत्माका दर्शन—साक्षात्कार करना चाहिए) 'यः प्राणेन प्राणिति०' (मुखनासिका-संचारी प्राणसे जो चेष्टा करता है, वह तुम्हारा आत्मा सबसे अभ्यन्तर है) 'य एषोऽक्षिणि०' (जो यह नेत्रमें पुरुष दीखता है) इस प्रकार उपक्रम करके 'एतं त्वेव ते०' (यद्यपि वह आत्मा पूर्वमें व्याख्यात है, तो भी फिर उसीका व्याख्यान करूँगा) इत्यादि श्रुतिमें प्रिय आदिसे संसूचित संसारी आत्माका ही वेद्यरूपसे जो अनुकर्षण है, वह भी 'अस्य महतो भूतस्य०' (हे मैत्रेयी ! ऋग्वेद इस महान् भूतका निःश्वास है) 'योऽशनायापिपासे०' (जो बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युका उल्लंघन करता है), 'परं ज्योतिरुप-संपद्य०' (जो परम ज्योतिको प्राप्त करके अपने सत्स्वरूपको प्राप्त करता है, वह

रत्नप्रभा

जीवानुकर्षणम् अभेदाभिप्रायमित्यङ्गीकारे न विरोध इति कथम् अभेदे जीवत्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विभाग है। जीवका अनुकर्षण अभेदके अभिप्रायसे है, इस प्रकार स्वीकार करनेपर

भाष्य

(छा० ८।१२।३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षाया-मत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः । पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम्, 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वं चैतद् विस्तरेणाऽस्माभिः पुरस्तात् तत्र तत्र वर्णितम् ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

उत्तम पुरुष है) इत्यादि वाक्यशेषोंसे अधिक—भिन्न ब्रह्मके उपदेशकी इच्छासे ही ब्रह्मसे जीवका अत्यन्त अभेद है, इस अभिप्रायसे है। इससे विरोध नहीं है, क्योंकि परमेश्वरका स्वरूप ही पारमार्थिक स्वरूप है, शारीरत्व तो उपाधिकृत है कारण कि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'नान्यदतोऽस्ति०' (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसा ही प्रतीत होता है। इस सबका पहले तत्-तत् स्थलोंमें हम विस्तारसे वर्णन कर चुके हैं ॥८॥

रत्नप्रभा

विरोधादित्यत आह—पारमेश्वरमिति । ज्ञानं कर्माङ्गम्, अफलत्वे सति कर्मशेषा-श्रयत्वादित्युक्तो हेतुरसिद्ध इति भावः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध क्यों नहीं है, क्योंकि अभेद माननेपर जीवतत्त्वका विरोध है, इसपर कहते हैं—"पारमेश्वरम्" इत्यादिसे । ज्ञान कर्माङ्ग है, निष्फल होकर कर्मशेष होनेसे इस उक्त हेतुकी असिद्धि है, यह भाव है ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

पदच्छेद—तुल्यम्, तु, दर्शनम् ।

पदार्थोक्ति—[तत्त्वज्ञानस्य अकर्मशेषत्वेऽपि] दर्शनम्—आचारदर्शनम्, तुल्यम्—समानम् [एव 'एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे' इत्यादिश्रुतिः दर्शयति । तु-शब्दोऽकर्माङ्गलिङ्गदर्शनस्य प्राबल्यं सूचयति] ।

भाषार्थ—तत्त्वज्ञान कर्मशेष नहीं है, इसमें भी समान ही आचारदर्शन 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे' इत्यादिश्रुति दिखलाती है। तुशब्द अकर्मशेषको बतलानेवाला लिङ्ग बलवान् है, यह सूचन करता है।

भाष्य

यत्तूक्तमाचारदर्शनात् कर्मशेषो विद्येति। अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः। तथा हि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे' 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्येवंजातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते—'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपि च 'यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि'

भाष्यका अनुवाद

आचार देखनेसे विद्या कर्माङ्ग है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर हम कहते हैं—विद्या कर्माङ्ग नहीं है, इसमें भी आचारदर्शन तुल्य है, क्योंकि 'एतद्ध स्म०' (यह जानकर कवषके पुत्र ऋषियोंने कहा हम अध्ययन किसलिए करेंगे, हम यज्ञ किसलिए करेंगे निस्सन्देह इस वाक् और प्राणके परस्पर होमात्मक अग्निहोत्रको जाननेवाले प्राचीन उपासकोंने अग्निहोत्र होम नहीं किया था), 'एवं वै तमात्मानम्०' (इस आत्माको जानकर—मैं परब्रह्म सदा सर्वसंसारविनिर्मुक्त नित्यतृप्त हूं ऐसा जानकर—पुत्रैषणासे वित्तैषणासे और लोकैषणासे उपरत होकर भिक्षाचरण करते हैं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ हैं। याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मवेत्ताओंकी भी कर्मनिष्ठता नहीं देखी जाती है—'एतावदरे०' (हे मैत्रेयि! इतना ही अमृतत्वका साधन है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण किया) इत्यादि श्रुतियां हैं। और 'यक्ष्यमाणो वै०' (हे पूज्य ऋषियो! मैं यज्ञ

रत्नप्रभा

ब्रह्मविदां कर्मवत् संन्यासस्याऽपि दर्शनात् तेषां कर्मदर्शनात्मकं लिङ्गं लोकसंग्रहार्थत्वेनाऽन्यथासिद्धमित्याह—तुल्यं त्विति। किंच, यस्य कर्म स न ब्रह्मविदित्याह—अपि चेति। तर्हि वैश्वानरविद्यायाः कर्माङ्गत्वं स्यादित्यत आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मके समान ब्रह्मज्ञानियोंके संन्यासका भी दर्शन होनेसे कर्मदर्शनात्मक लिङ्ग, लोकसंग्रहके लिए होनेसे अन्यथासिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"तुल्यं तु" इत्यादिसे। किञ्च, जो कर्मठ है, वह ब्रह्मवित् नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। तो वैश्वानरविद्या कर्माङ्ग हो।

भाष्य

(छा० ५।११।५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम् । संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्, न त्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति, प्रकरणाद्यभावात् ॥ ९ ॥

यत् पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।४) इति, अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

करनेवाला हूँ) यह लिङ्गदर्शन वैश्वानरविद्याविषयक है । और सोपाधिक ब्रह्मविद्यामें कर्मसाहित्यका दर्शन हो सकता है, परन्तु यहांपर भी विद्यामें कर्मांगता नहीं है, क्योंकि प्रकरण आदिका अभाव है ॥९॥

जो 'तच्छ्रुतेः' इस सूत्रसे पूर्वपक्षीने कहा है, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

न त्विति । ब्रह्मविदां लोकसंग्रहार्थं क्रियमाणमपि कर्म न भवति, अभिमानाभावेन अनधिकारित्वादिति भावः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसपर कहते हैं—"न तु" इत्यादिसे । ब्रह्मवित् पुरुषों द्वारा लोकसंग्रहके लिए क्रियमाण कर्म भी वस्तुतः कर्म नहीं है, क्योंकि अभिमान न रहनेसे वे अधिकारी नहीं हैं, यह भाव है ॥९॥

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

पदार्थोक्ति—असार्वत्रिकी—'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिश्रुतिः सर्वविद्याविषया न भवति [प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रपरत्वात्] ।

भाषार्थ—'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिश्रुति सब विद्याओंको विषय नहीं करती, क्योंकि वह केवल प्रकृत उद्गीथविद्यापरक है ।

भाष्य

'यदेव विद्यया करोति' (छा० १।१।१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया, प्रकृतविद्याभिसंबन्धात् । प्रकृता चोद्गीथविद्या 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्र ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

'यदेव विद्यया०' (पुरुष विद्यासे युक्त होकर जो कर्म करता है) यह श्रुति सर्वविद्याविषयक नहीं है, क्योंकि इसका प्रकृत विद्यासे सम्बन्ध है । 'ओमित्येतद०' (ओम् इस वर्णात्मक उद्गीथकी उपासना करे) इसमें उद्गीथविद्या प्रकृत है ॥१०॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—विभागः, शतवत् ।

पदार्थोक्ति—विभागः—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते इत्यत्र 'विद्या अन्यं पुरुषम्, कर्म अन्यं पुरुषम्' इत्येवंरूपेण पार्थक्यम् [द्रष्टव्यम्] शतवत्—'आभ्यां शतं दीयताम्' इत्युक्ते पञ्चाशत् पञ्चाशत् विभज्य दीयते, तद्वत् प्रकृतेऽपि ।

भाषार्थ—'तं विद्याकर्मणी' इत्यादिश्रुतिमें विद्या अन्य पुरुषका और कर्म अन्य पुरुषका अनुगमन करते हैं, इस प्रकार विभाग है, जैसे 'इन दो मनुष्योंको सौ रुपये दिये जायँ' ऐसा कहनेपर पचास पचास रुपये बाँटकर दिये जाते हैं, वैसे ही प्रकृतमें भी जानना चाहिए ।

भाष्य

यदप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गम्—इति, तत् प्रत्युच्यते । विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्याऽन्यं पुरुषमन्वारभते कर्माऽन्यमिति । शतवत्, यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै तद्वत् ।

भाष्यका अनुवाद

और 'तं विद्याकर्मणी०' (विद्या और कर्म उसका—परलोक जानेवालेका अनुगमन करते हैं) यह अनुगमनवचन विद्याके अस्वातन्त्र्यमें लिङ्ग है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका निराकरण करते हैं। यहांपर विद्या अन्य पुरुषका अनुगमन करती है और कर्म अन्य पुरुषका अनुगमन करता है, इस प्रकार विभाग समझना चाहिए । शतके समान, जैसे 'शतमाभ्याम्०' (इन दोनोंको सौ रूपये दीजिए) ऐसा कहनेपर विभाग करके पचास रूपये एकको

रत्नप्रभा

समन्वारम्भवचनस्य मुमुक्षुविषयत्वमङ्गीकृत्य विद्या अन्यं मुमुक्षुं मुक्तत्वेन अन्वारभते इति विभाग उक्तः सूत्रकृता, वस्तुतस्तु तन्नास्ति इत्याह—न चेदं

रत्नप्रभाका अनुवाद

समन्वारम्भवचनका विषय मुमुक्षु है, इस प्रकार अङ्गीकार करके विद्या अन्य मुमुक्षुको मुक्तत्वरूपसे अन्वारम्भ करती है, इस प्रकार सूत्रकारने विभाग किया है । वस्तुतः तो वह नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न चेदं समन्वारम्भवचनम्" इत्यादिसे । उसमें यथा आत्मानुवादी संसारीको

भाष्य

न चेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम्, 'इति नु कामयमानः (बृ०' ४।४।६) इति संसारिविषयत्वोपसंहारात्, 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पृथगुपक्रमात्। तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिपिद्धा च परिगृह्यते, विशेषाभावात्। कर्माऽपि विहितं प्रतिपिद्धं च, यथाप्राप्तानुवादित्वात्। एवं सत्यविभागेनाऽपीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥ ११ ॥

यच्चैतत् 'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इति, अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

और पचास रूपये दूसरेको दिये जाते हैं, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए। और यह सहगमनवचन मुमुक्षुविषयक नहीं है, क्योंकि 'इति नु कामयमानः' (इस प्रकार कामना करता हुआ पुरुष ही संसारको प्राप्त होता है) इस प्रकार संसारिविषयत्वका उपसंहार है और 'अथाकामयमानः' (अब जो अकामयमान-अकाम पुरुष है [वह मुक्त होता है]) इस प्रकार मुमुक्षुका पृथक् उपक्रम है। उस संसारिविषयवाक्यमें उद्गीथादिविषयक विहित और नग्नस्त्रीदर्शनरूप प्रतिपिद्ध विद्याका परिग्रहण किया जाता है, क्योंकि विद्याके विशेषका अभाव है। और कर्म भी विहित और प्रतिपिद्ध है, क्योंकि वह वाक्य यथाप्राप्तका अनुवादक है, ऐसा होनेपर यह सहानुगमनवचन अविभागसे भी उपपन्न हो सकता है ॥११॥

और वादीने 'तद्वतो विधानात्' इस सूत्रसे जो कहा है, उसका उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

समन्वारम्भवचनमिति। तत्र संसारिविषये 'तं विद्या०' इत्यादिवाक्ये यथाप्राप्तानुवादिनि विद्यादिपदार्थमाह—तत्रेति। विहिता—उद्गीथादिविद्या। प्रतिपिद्धा—नग्नस्त्रीध्यानादिरूपा ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषय करनेवाले 'तं विद्या०' इत्यादि वाक्यमें विद्या आदि पदके अर्थको कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। उद्गीथ आदि विद्या विहित है और नग्नस्त्रीध्यानरूप विद्या निपिद्ध है ॥११॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

पदार्थोक्ति—अध्ययनमात्रवतः—आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' इत्यादिवाक्ये वेदाध्ययनवत एव [कर्म विधीयते, नौपनिपदात्मज्ञानवतः इत्यर्थः]।

भापार्थ—'आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य' इत्यादिवाक्यसे जिसने वेदका अध्ययन किया है, उसीके लिए कर्मका विधान किया जाता है, औपनिपदात्मज्ञानवालेके लिए नहीं किया जाता।

भाष्य

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१५।१) इत्यत्राऽध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्यनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः। नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत, नैष दोषः। न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्ह्यौपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत् प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यते इत्येतावत् प्रतिपादयामः। यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणाऽपेक्ष्यते, एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥

यदप्युक्तं 'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३।४।७) इति, अत्राऽभिधीयते—

भाष्यका अनुवाद

'आचार्यकुलाद्०' (आचार्यकुलसे वेदका अध्ययन करके) इस श्रुतिमें अध्ययनमात्रका श्रवण है, अतः केवल अध्ययन करनेवालेके लिए ही कर्मविधि है, ऐसा हम निश्चय करते हैं। परन्तु ऐसा होनेपर—केवल अध्ययनवान्के ही उद्देश्यसे कर्मविधि है, ऐसा माननेपर—विद्याहीन होनेसे उसका कर्ममें अनधिकार प्राप्त होगा—यह दोष नहीं है। हम अध्ययनसे उत्पन्न होनेवाले अधिकारके कारणभूत कर्मावबोधनका वारण नहीं करते हैं। तब क्या करते हैं ? स्वतन्त्र रूपसे ही सफल प्रतीत होनेवाला उपनिषद्जन्य आत्मज्ञान कर्माधिकारका कारण नहीं है, केवल इतना ही प्रतिपादन करते हैं। जैसे एक क्रतुके ज्ञानकी दूसरे क्रतुके अधिकारको अपेक्षा नहीं है, वैसे ही यह भी समझना चाहिए ॥१२॥

और 'नियमाच्च' इस सूत्रसे जो कहा गया है उसपर कहा जाता है—

रत्नप्रभा

यच्चैतदिति। उक्तमिति शेष। अविद्यत्वाद्—वेदार्थज्ञानशून्यत्वादित्यर्थः। मात्रपदम् आत्मज्ञानस्य व्यावर्तकम्, न कर्मज्ञानस्येत्याह—नैष दोष इति ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यच्चैतत्" इति। उक्तम् (कहा गया है) यह शेष है। अविद्यत्वात्—वेदार्थज्ञानशून्य होनेसे, ऐसा अर्थ है। मात्रपद आत्मज्ञानका व्यावर्तक है, कर्मज्ञानका व्यावर्तक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नैष दोष." इत्यादिसे ॥१२॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—न, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—न—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादिवाक्यं तत्त्वविद्विषयं न [भवति, कुतः ?] अविशेषात्—'विद्वान्' इति विशेषस्य अभावात् ।

भाषार्थ—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि वाक्य तत्त्वज्ञानी पुरुष को विषय नहीं करता, क्योंकि 'विद्वान्' इस प्रकार विशेष उस वाक्यमें नहीं देखा जाता है ।

भाष्य

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईशा० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति, अविशेषेण नियमविधानात् ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (इस देहमें अग्निहोत्र आदि कर्म करता हुआ जीनेकी इच्छा करे) इत्यादि नियमोंके श्रवणमें विद्वान्‌के लिये यह नियम है, ऐसा विशेष नहीं है, क्योंकि विशेषके बिना नियमका विधान किया है ॥१३॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

पदच्छेद—स्तुतये, अनुमतिः, वा ।

पदार्थोक्ति—वा—अथवा, अनुमतिः—इयं तत्त्वविदः कर्मानुज्ञा, स्तुतये—स्तुत्यै विज्ञेया; [स्तुतिश्च जीवनपर्य्यन्तं कर्मकर्तर्यपि त्वयि विदुषि विद्यासामर्थ्यात् कर्मलेपो न भवतीति] ।

भाषार्थ—अथवा तत्त्ववित्‌के लिए जो कर्मानुज्ञा है, वह केवल स्तुत्यर्थ है अर्थात् विद्वान् होकर यदि जीवनपर्य्यन्त कर्म करोगे, तो भी विद्याके सामर्थ्यसे तुममें कर्मका लेप नहीं होगा, इस प्रकार विद्वान् की स्तुतिके लिए है ।

भाष्य

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते। यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद् विद्वानेव कुर्वन्निति सम्बध्यते, तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद् द्रष्टव्यम्। 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति। एतदुक्तं भवति। यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति, विद्यासामर्थ्यादिति। तदेवं विद्या स्तूयते ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (यहां कर्म करता हुआ ही) इस श्रुतिमें अन्य विशेष कहा जाता है। यद्यपि यहां प्रकरणके सामर्थ्यसे विद्वान् ही करता हुआ, ऐसा सम्बन्ध किया जा सकता है, तो भी विद्याकी स्तुतिके लिए कर्मका अनुज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि 'न कर्म लिप्यते नरे' (नरमें कर्म लिप्त नहीं होता) ऐसा कहेंगे। सारांश यह है कि जन्मपर्यन्त कर्म करते हुए भी विद्वान् पुरुषमें विद्याके सामर्थ्यसे कर्म लिप्त नहीं होता। इससे इस प्रकार विद्याकी स्तुति की जाती है ॥१४॥

रत्नप्रभा

नियमवाक्यम् अज्ञविषयम् इत्युक्तम्, विदुषो ज्ञानस्तुत्यर्थं वेत्याह—स्तुतये इति। एवं कर्म कुर्वत्यपि त्वयि नरे न इतः विद्यालब्धाद् ब्रह्मभावादन्यथास्ति, कर्मणा संसारो नास्तीति यावत्। यतः कर्म न लिप्यते—अपूर्वरूपलेपाय न भवतीत्यर्थः श्रुतेरिति भावः ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियमविधिवाक्य अज्ञविषयक है कहा गया है, अथवा विद्वान्‌के ज्ञानकी स्तुतिके लिए है, ऐसा कहते हैं—"स्तुतये" इत्यादिसे। इस प्रकार कर्म करते हुए भी नराभिमानी तुममें विद्यासे प्राप्त ब्रह्मभावसे अन्य नहीं है अर्थात् तुम्हें कर्मसे संसार नहीं प्राप्त होता है। इसलिए कर्मका लेप नहीं होता है अर्थात् अपूर्व—अदृष्टरूप लेपके लिए नहीं होता है, यह श्रुतिका अर्थ है, ऐसा भाव है ॥१४॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

पदच्छेद—कामकारेण, च, एके।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, एके—केचन तत्त्वज्ञानिनः, कामकारेण—स्वेच्छया प्रजादिकं त्यक्तवन्तः [इति श्रूयते—'एतद्ध स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते' इत्यादिना, सूत्रेणानेन तत्त्वज्ञानस्य कर्माङ्गत्वाभावे तत्त्वविदां स्वेच्छया प्रजादित्यागो लिङ्गं सूचितम्]।

भाषार्थ—और भी कितने ही विद्वानोंने स्वेच्छासे प्रजा आदिका त्याग किया, यह 'एतद्ध स्म वै०' (पूर्वके विद्वान् प्रजा आदिकी इच्छा नहीं करते थे) इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस सूत्रसे तत्त्वज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं है, इसमें विद्वानोंका स्वेच्छासे प्रजा आदिका त्याग लिङ्ग है, ऐसा सूचित होता है।

भाष्य

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात् फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति कामकारेणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४।४।२२) इति। अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत् कालान्तरभावीत्यसकृदवो-

भाष्यका अनुवाद

और इससे भी विद्या कर्माङ्ग नहीं है कि कितने ही विद्वान् जिन्होंने विद्याके फलका प्रत्यक्ष किया है, वे विद्याके आधारसे अन्य फलके साधन प्रजा आदिमें स्वेच्छासे प्रयोजनका अभाव देखते हैं—वे अन्य फलके साधन पुत्र आदिको व्यर्थ समझते हैं। 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे०' (जिन हमारा अपरोक्ष होनेसे आत्मा ही प्रत्यक्ष फल—पुरुषार्थ है, वे हम प्रजासे क्या करेंगे, ऐसा निश्चय करके प्राचीन विद्वान्—आत्मज्ञ प्रजाकी कामना नहीं करते—अग्निहोत्र आदि कर्मोंको नहीं करते) ऐसी वाजसनेयी शाखावालोंकी श्रुति है। और यह विद्याफल अनुभवसे सिद्ध होता है—प्रत्यक्ष है, क्रिया-

---

रत्नप्रभा

स्वेच्छातः कर्मसाधनप्रजादित्यागलिङ्गाच्च विद्या स्वतन्त्रफलेत्याह—कामेति। तद् एतद् ब्रह्म येषां नः अस्माकम् अयम् अपरोक्ष आत्मा अयम् एव लोकः पुरुषार्थः, ते वयं किं प्रजादिना करिष्याम इत्यालोच्य कर्म त्यक्तवन्त इत्यर्थः। ननु 'अयं लोकः' इति ज्ञानफलस्य प्रत्यक्षत्वोक्तिरयुक्ता

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वेच्छासे कर्मसाधनीभूत प्रजा आदिके त्यागरूप लिङ्गसे भी विद्या स्वतन्त्रफलवाली है, ऐसा कहते हैं—"काम" इत्यादिसे। वह यह ब्रह्म जिन हमारा यही लोक अपरोक्ष आत्मा पुरुषार्थ है, वे हम प्रजा आदिसे क्या करेंगे, इस प्रकार आलोचना करके कर्मका त्याग किया, ऐसा अर्थ है। परन्तु 'यह लोक है' इस प्रकार ज्ञानफलमें प्रत्यक्षत्वकी उक्ति

भाष्य

चाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वम्, नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

फलके समान अन्य कालमें होनेवाला नहीं है, ऐसा अनेक वार हम कह चुके हैं। इससे भी विद्या कर्मशेष नहीं है और विद्याविषयक फलश्रुति अयथार्थ है, ऐसा मानना ठीक नहीं है ॥१५॥

रत्नप्रभा

कर्मफलवददृष्टत्वादित्यत आह—अनुभवेति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मफलके समान इसमें अदृष्टत्व है, इसपर कहते हैं—"अनुभव" इत्यादिसे ॥१५॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

पदच्छेद—उपमर्दम्, च ।

पदार्थोक्ति—उपमर्दम्—क्रियानुष्ठानहेतुभूतस्य क्रियाकारकफलविभागस्य कृत्स्नस्याविद्याकल्पितस्य विद्याप्रभावेणाभावं 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादिना समामनन्ति । च—अतः [ब्रह्मविद्यायाः कर्मविरोधित्वाच्च न कर्माङ्गत्वम्]।

भावार्थ—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्' इत्यादिश्रुतिसे कर्मानुष्ठानके हेतुभूत अविद्याकृत क्रियाकारकफलका विद्याके प्रभावसे उपमर्द—अभाव कहा जाता है, इससे भी कर्मकी विरोधिनी होनेसे ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग नहीं है।

भाष्य

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याऽविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात् स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र वा अस्य

भाष्यका अनुवाद

और कर्माधिकारके हेतु क्रियारूप, कारकरूप और फलरूप अविद्याकृत समस्त प्रपञ्चका विद्याके सामर्थ्यसे नाश 'यत्र वा अस्य०' (जिस विद्यावस्थामें

भाष्य

सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' (बृ० २।४।१४) इत्यादिना । वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत, तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१६॥

भाष्यका अनुवाद

इस ब्रह्मवेत्ताका सब नाम, रूप आदि आत्मा ही हो जाता है, उस अवस्थामें स्थित विद्वान् किस करणसे किस विषयको देखे, और किस करणसे किस गन्धको सूँघे ?) इत्यादि वाक्यसे पठित है। वेदान्तमें कहा गया आत्मज्ञान जिसके पूर्वमें है, ऐसी कर्माधिकारसिद्धिकी जो प्रत्याशा रखता है, उसको तो कर्माधिकार का उच्छेद ही प्राप्त होगा। इससे भी विद्याका स्वातन्त्र्य है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

न केवलम् अनुपयोगाद् ज्ञानस्य कर्मानङ्गत्वम्, किन्तु कर्मनाशकत्वाच्च इत्याह—उपमर्दं चेति ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

केवल अनुपयोगसे ही ज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु कर्मका नाशक होनेसे भी कर्मका अनङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"उपमर्दं च" इत्यादिसे ॥१६॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

पदच्छेद—ऊर्ध्वरेतःसु, च, शब्दे, हि।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, ऊर्ध्वरेतःसु—यतिषु [ब्रह्मविद्याऽवगता, अतोऽपि न कर्माङ्गं ब्रह्मविद्या, न च यत्याश्रमो न क्वापि श्रुतः इति वाच्यम्,] शब्दे हि—हि—यतः शब्दे—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यत्र [श्रवणमस्ति यत्याश्रमस्य]।

भाषार्थ—और संन्यासाश्रममें ही ब्रह्मविद्या श्रुत है, इससे भी ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग नहीं है, क्योंकि संन्यासाश्रम 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादिमें श्रुत है। अतः उसकी अप्रसिद्धिकी शङ्का नहीं करनी चाहिए।

भाष्य

ऊर्ध्वरेतःसु चाऽऽश्रमेषु विद्या श्रूयते। न च तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते, कर्माभावात्। नह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति। स्यादेतत्, ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति, तदपि नास्ति। तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।११) 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति'

भाष्यका अनुवाद

संन्यास आश्रमोंमें विद्याका श्रवण है। और वहां विद्या कर्मकी अंग हो, यह नहीं घट सकता, क्योंकि उक्त आश्रमोंमें कर्मका अभाव है—अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म उन आश्रमोंमें नहीं हैं। परन्तु यहां शंका होती है कि, संन्यास आश्रमोंका वेदमें श्रवण नहीं है। यह भी नहीं है, क्योंकि वैदिक शब्दोंमें उनकी भी प्रतीति होती है—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्मके तीन स्कन्ध—प्रविभाग हैं,) 'ये चेमेऽरण्ये०' (जो ज्ञानयुक्त वानप्रस्थ और संन्यासी तप और श्रद्धाकी अरण्यमें उपासना करते हैं), 'एतमेव०' (इसी आत्मलोकको चाहते हुए संन्यासी सब

रत्नप्रभा

किञ्च, कर्मतत्त्वज्ञाने नाऽङ्गाङ्गिभूते, भिन्नाधिकारिस्थत्वाद्, राजसूयबृहस्पतिसववत्, इत्याह—ऊर्ध्वेति। त्रयो धर्मस्कन्धाः—कर्मप्रधाना आश्रमाः, चतुर्थो ब्रह्मसंस्थ इत्यर्थः। 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः' इति श्रुतेः, 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः' इति स्मृतेश्च, प्राप्तगार्हस्थ्यस्यैव निरस्तर्णत्रयस्य पारिव्राज्यमित्यपि शङ्का न कार्या, 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्' इति 'द्वितीयमाश्र-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, कर्म और तत्त्वज्ञान अङ्गाङ्गिभूत नहीं हैं, भिन्न अधिकारियोंमें रहनेसे, राजसूय और बृहस्पतिसवके समान, ऐसा कहते हैं—"ऊर्ध्व" इत्यादिसे। तीन धर्मस्कन्ध—कर्मप्रधान आश्रम हैं, चौथा ब्रह्मसंस्थ है, ऐसा अर्थ है। 'ब्रह्मचर्येण०' (ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषियोंके ऋणसे, यज्ञ द्वारा देवताओंके ऋणसे, प्रजा द्वारा पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर यह अनृण होता है) ऐसी श्रुति है। 'ऋणानि त्रीण्य०' (तीनों ऋणोंका अपाकरण करके मनको मोक्षमें लगावे, ऋणोंका अपाकरण किये बिना मोक्षकी अभिलाषा करनेवाला अधोगामी होता है) इस प्रकार स्मृति है, तीनों ऋणोंसे मुक्त गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हुए, संन्यासमें अधिकार है, इस प्रकारकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ले)

माष्य

(बृ०४।४।२२) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा०४) इत्येवमादिषु। प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

कर्मोंका संन्यास करते हैं), 'ब्रह्मचर्यादेव०' (ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ले) इत्यादि श्रुतियोंमें उनकी प्रतीति होती है। जिन्होंने गृहस्थाश्रम प्राप्त किया है और जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है, एवं जिन्होंने तीन ऋण चुकाये हैं और जिन्होंने नहीं चुकाये हैं, उनका ऊर्ध्वरेतस्त्व श्रुतिमें और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। इससे भी विद्याका स्वातन्त्र्य है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

मभिच्छेत्तमावसेद्' इति च विधिश्रुतिस्मृतिविरोधेन अर्थवादश्रुतिस्मृत्योरविरक्तविषयत्वावगमात् इत्याह—प्रतिपन्नेति। तस्मादिति। संन्यासनिष्ठत्वात् इत्यर्थः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'द्वितीयमाश्रममिच्छेत्तमावसेत् (द्वितीय आश्रमकी इच्छा करे और उसमें रहे) इस प्रकार विधिश्रुति और विधिस्मृतिके साथ विरोध होनेसे अर्थवादश्रुति अविरक्त पुरुषका अवलम्बन करती है, ऐसा कहते हैं—"प्रतिपन्न" इत्यादिसे। उसमे—संन्यासनिष्ठासे, ऐसा अर्थ है ॥१७॥



[२ परामर्शाधिकरण सू० १८–२०]

(प्रथम वर्णक)

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वास्ति नास्त्यसावविधानतः।
वीरघातो विधेः क्लृप्तावन्धपङ्ग्वादिगा स्मृतिः ॥ १ ॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तिर्वीरहानाग्निको गृही।
अन्धादेः पृथगुक्तत्वात् स्वस्थानां श्रूयते विधिः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—अर्ध्वरेता—संन्यासाश्रम है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—नहीं है, क्योंकि उसके लिए विधिवाक्य नहीं है और 'वीरहा' इत्यादि श्रुतिसे गृहस्थाश्रममात्रका विधान है। स्मृति आदिमें कहींपर संन्यासाश्रमका जो श्रवण है, वह अन्ध, पङ्गु आदि व्यक्तियोंके लिए है।

सिद्धान्त—अपूर्वविधि है, इसलिए संन्यासाश्रम है और 'वीरहा' इत्यादि वाक्य आहिताग्नि गृहस्थके लिए हैं, एवं पङ्गु, अन्ध आदिका पृथक् कथन है, इसलिए स्वस्थ पुरुषोंके लिए संन्यास आश्रमका विधान है।

---

* साराश यह है कि पूर्व अधिकरणमें 'स्वतन्त्र आत्मविज्ञान है' ऐसा कहा गया है, वह आत्मविज्ञान ऊर्ध्वरेता आश्रममें ही सुलभ होनेके कारण आश्रमके सद्भावकी चिन्ता की जाती है। ऐसी अवस्थामें पूर्वपक्षी कहता है—अर्ध्वरेता आश्रम नहीं है, क्योंकि विधिवाक्य नहीं है। छान्दोग्यमें 'त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः, इत्यादिसे यज्ञ आदिसे उपलक्षित गार्हस्थ्य, तपशब्दसे लक्षित वानप्रस्थ और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य केवल ज्ञात होता है, परन्तु उनका विधान उपलब्ध नहीं होता है। अपूर्वार्थ होनेके कारण विधिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि 'वीरहा वा एष देवानाम्' इससे अग्निके उद्वासनसे लक्षित गृहस्थाश्रमके परित्यागकी निन्दा है। 'चत्वार आश्रमाः' यह जो स्मृति है, वह तो गार्हस्थ्यधर्ममें अनधिकृत अन्ध, पङ्गु आदिको विषय करेगी, क्योंकि अन्धकी आज्यके अवेक्षण आदिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इससे चक्षुरादि सम्पन्नके लिए आत्मज्ञानोपयुक्त ऊर्ध्वरेता आश्रम नहीं है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—ऊर्ध्वरेता आश्रम है। यद्यपि विधि नहीं है, तथापि अपूर्वार्थसे विधिकी कल्पना की जाती है। वीरघात आदि दोष नहीं है, क्योंकि वह वचन उत्सन्नाग्नि (भार्यामरणसे नष्टाग्नि) गृहस्थाश्रमपरक है। और जो पूर्वपक्षीने स्मृतिको अन्धादिपरक माना है, वह अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि 'अथ पुनरव्रती व्रती वा' इत्यादिसे गार्हस्थ्यमें अनधिकृत जो हैं, उसके लिए संन्यासका विधान है। और चक्षुरादिसे युक्त जो हैं, उनके लिए अन्य आश्रमका विधान है, ऐसा जो कहा है, वह भी उपहासास्पद है, क्योंकि जाबालश्रुतिमें प्रत्यक्ष विधिका उपलम्भ होता है 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' इत्यादि। इससे ऊर्ध्वरेतानामक अन्य आश्रम है, यह स्फुट है।

[२ परामर्शाधिकरण सू० १८–२०]

(द्वितीय वर्णक)

लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा ।
यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ॥ १ ॥
अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठाऽसौ कर्मठे कथम् ।
कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—लोककी—पुण्यलोककी अभिलाषा रखनेवाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—अवकाशके अनुसार वह भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, अतः पुण्यलोककी अभिलाषा रखनेवाला आश्रमी भी ब्रह्मनिष्ठामें अधिकारी है, क्योंकि उसका निषेध नहीं किया गया है ।

सिद्धान्त—अनन्यचित्ततारूप ब्रह्मनिष्ठा कर्मठमें नहीं हो सकती है, अतः कर्मत्यागी ही ब्रह्मनिष्ठामें अधिकारी है, उससे अन्य ब्रह्मनिष्ठाका अधिकारी नहीं है ।

---

* सारांश यह है कि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इस स्थलमें आश्रमोंका अधिकार करके 'सर्वे एत पुण्यलोका भवन्ति' इस प्रकार आश्रमोंका अनुष्ठान करनेवालोंके लिए पुण्यलोकका अभिधान करके 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इससे मोक्षके साधनरूपसे ब्रह्मनिष्ठाका प्रतिपादन किया गया है । और यह ब्रह्मनिष्ठा पुण्यलोकके अभिलाषी आश्रमियोंमें भी हो सकती है, क्योंकि वे भी आश्रमोचित कर्मोंका अनुष्ठान करके अवकाशके अनुसार ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं । और यह निषेध भी कहीं उपलब्ध नहीं होता है कि लोककी अभिलाषा करनेवाला ब्रह्मनिष्ठा न करे । इसलिए सभी आश्रमी ब्रह्मनिष्ठाके अधिकारी हैं ।

इस प्रकार पूर्वपक्षी प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—सब व्यापारोंको छोड़कर एक चित्तसे ब्रह्ममें पर्यवसान होना ब्रह्मनिष्ठा है । यह ब्रह्मनिष्ठा कर्म करनेवालेमें नहीं हो सकती है, क्योंकि कर्मानुष्ठान और कर्मपरित्यागका परस्पर विरोध है, इसलिए कर्मत्यागी ही ब्रह्मनिष्ठामें अधिकृत है ।

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

पदच्छेद—परामर्शम्, जैमिनिः, अचोदना, च, अपवदति, हि ।

पदार्थोक्ति—['ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति वाक्यम्] परामर्शम्—अन्धपरम्परान्यायप्राप्तसंन्यासस्य अनुवादकम्, इति जैमिनिः—आचार्यो जैमिनिः [मन्यते कुतः ?] हि—यतः, अचोदना—अस्मिन् वाक्ये लिङादिकं नास्ति, च—अपि च, अपवदति—'वीरहा वा एष' इत्यादिशास्त्रं संन्यासं प्रतिषेधति, [अतोऽपि नास्ति संन्यासाश्रमः] ।

भाषार्थ—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इत्यादि शास्त्र अन्धपरम्परान्यायसे प्राप्त संन्यासाश्रमका अनुवादक है, किससे ? इससे कि इस वाक्यमें विधायक लिङ् आदि नहीं हैं, यह जैमिनि आचार्य का मत है, और 'वीरहा' इत्यादि श्रुति संन्यासाश्रमका प्रतिषेध भी करती है ।

भाष्य

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः, न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति । यतः परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते, न विधिम् । कुतः ? नह्यत्र लिङादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति । अर्थान्तरपरत्वं चैषु

भाष्यका अनुवाद

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्मके तीन स्कन्ध—प्रविभाग हैं) इत्यादि जो शब्द संन्यास आश्रमोंके सद्भाव के लिए उद्धृत किये गये हैं, वे उनका प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि जैमिनि आचार्य इन शब्दोंमें अन्य आश्रमोंका परामर्श मानते हैं, विधि नहीं मानते। किससे ? इससे कि लिङ् आदिमें से एक भी विधिशब्द यहां नहीं है। और इनमें से प्रत्येकका अन्य अर्थके

रत्नप्रभा

संन्यासो नास्तीत्याक्षिपति—परामर्शं जैमिनिः । ऊर्ध्वरेतःशब्दितं पारिव्राज्यमनुष्ठेयं न वेति मानभ्रान्तिमूलत्वाभ्यां संदेहे भ्रान्तिमूलत्वात् न अनुष्ठेयम् इत्याह—त्रय इति । आश्रमाणामवान्तरभेदापेक्षया बहुवचनम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

संन्यास नहीं है, इस प्रकार आक्षेप करते हैं—"परामर्शं जैमिनिः" इत्यादिसे । ऊर्ध्वरेताशब्दसे कहा जानेवाला पारिव्राज्य—संन्यास अनुष्ठेय है या नहीं, इस प्रकार प्रमाणमूलक और भ्रान्तिमूलक सन्देह होनेपर भ्रान्तिमूलक होनेसे उसका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, ऐसा

रत्नप्रभा

तथा च काण्वायनस्मृतिः अर्थतोऽनुक्रम्यते—'(१) गायत्रः, (२) ब्राह्मः, (३) प्राजापत्यः, (४) बृहन्निति ब्रह्मचारी चतुर्विधः। तत्रोपनयनात् ऊर्ध्वं यस्त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमधीते, स गायत्रः। यस्तु वेदस्य ग्रहणान्तं ब्रह्मचर्यं चरति, स ब्राह्मः। ऋतुकाले स्वदारगामी नित्यं परस्त्रीविमुखः प्राजापत्यः। संवत्सरं वेदव्रतकृत् बटुर्वा प्राजापत्यः। आमरणं गुरुकुलवासी नैष्ठिकः—बृहन् इत्युच्यते। गृहस्थोऽपि चतुर्विधः—(१) वार्ताकः, (२) यायावरः, (३) शालीनः, (४) घोरसंन्यासिकश्चेति। तत्र कृषिगोरक्षादिकया वैश्यादिवृत्त्या जीवन् नित्यादिक्रियापरः वार्ताकवृत्तिः। यायावरस्तु अयाचितवृत्तिः याजनाध्यापनप्रतिग्रहविमुखः। शालीनस्तु षट्कर्मनिरतो याजनादिवृत्तिः संचयी। उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन् प्रत्यहं कृतोञ्छवृत्तिर्ग्रामवासी घोरसंन्यासिक इत्युच्यते, हिंसाविमुखत्वात्। वानप्रस्थोऽपि चतुर्विधः—(१) वैखानसः, (२) औदुम्बरः, (३) बालखिल्यः, (४)—फेनपश्चेति। तत्राऽकृष्टपच्यौषधीभिः ग्रामबहिष्कृताभिः अग्निहोत्रादि कुर्वन् वैखानस उच्यते। यस्तु प्रातरुत्थाय यां दिशं पश्यति, तत्रत्यौदुम्बरबदरीनीवारश्यामाकैः कर्मपरः; स

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"त्रयः" इत्यादिसे। अवान्तर भेदके अभिप्रायसे 'आश्रमाणाम्' यह बहुवचन है, इसलिए काण्वायन स्मृतिसे अर्थतः अनुवृत्ति करते हैं। ब्रह्मचारी गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और बृहन् इन भेदोंसे चार प्रकारका होता है। उनमें उपनयनके बाद तीन रात तक क्षार—लवणका भक्षण न करते हुए गायत्रीका जो अध्ययन करता है, वह गायत्र कहा जाता है। जो वेदाध्ययन तक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह ब्राह्म कहलाता है, जो ऋतुकालमें अपनी स्त्रीसे ही सम्बन्ध करता है और सदा परस्त्रीसे विमुख रहता है, वह प्राजापत्य है, अथवा संवत्सरपर्यन्त वेदव्रत करनेवाला बटु भी प्राजापत्य ब्रह्मचारी कहा जाता है। मरणतक गुरुके घरमें रहनेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी बृहन् कहा जाता है। गृहस्थ भी चार प्रकारका है—वार्ताक, यायावर, शालीन और घोर-संन्यासिक। इनमें कृषि और गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिसे निर्वाह करनेवाला और नित्यादि क्रियाओंका अनुष्ठान करनेवाला गृहस्थ वार्ताकवृत्ति कहा जाता है। यायावर उस गृहस्थको कहते हैं जो सदा अयाचित वृत्ति होकर याजन, अध्यापन और प्रतिग्रहसे विमुख हो। षट्कर्मोंमें रत होकर याजन आदि वृत्तिकरके संचय करनेवाला गृहस्थ शालीन कहलाता है। निकाले गए परिपूत—पवित्र जलसे कार्य करता हुआ प्रतिदिन उञ्छवृत्ति करनेवाला ग्रामवासी घोरसंन्यासिक कहा जाता है, क्योंकि वह हिंसा आदिसे रहित है। वानप्रस्थ भी चार प्रकारका है—वैखानस, औदुम्बर, बालखिल्य और फेनप। उनमें ग्रामसे बाहरकी बिना जोते होनेवाली औषधियोंसे जो अग्निहोत्र करता है, वह वैखानस कहा जाता है। जो प्रातःकाल उठकर जिस दिशाको देखता है, उसी दिशाके औदुम्बर, बेर, नीवार और

भाष्य

प्रत्येकमुपलभ्यते। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यत्र तावत् 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादनमें तात्पर्य उपलब्ध होता है, 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्मके तीन स्कन्ध हैं)

रत्नप्रभा

औदुम्बरः। यस्तु जटावल्कलधारी अष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जनं कृत्वा चातुर्मास्ये संगृहीताशी कार्तिक्यां संगृहीतपुष्पफलत्यागी, स बालखिल्यः। फेनपास्तु शीर्णपर्णफलवृत्तयो यत्र क्वचिद् वसन्तः कर्मपरा इति। तथा परिव्राजकाः चतुर्विधाः—(१) कुटीचकाः, (२) बहूदकाः, (३) हंसाः (४) परमहंसाश्चेति। तत्र स्वपुत्रगृहे भिक्षां चरन्तस्त्रिदण्डिनः कुटीचकाः। बहूदकास्तु त्रिदण्डिनः शिक्यजलपवित्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधरास्तीर्थान्यटन्तो भैक्ष्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसास्तु एकदण्डिनः शिखावर्ज्यं यज्ञोपवीतधराः शिक्यकमण्डलुपाणयः ग्रामैकरात्रवासिनः कृच्छ्रचान्द्रायणपराः। परमहंसास्तु—एकदण्डधरा मुण्डाः अयज्ञोपवीतिनः त्यक्तसर्वकर्माणः आत्मनिष्ठा इति। अत्र पूर्वपक्षे संन्यासाभावात् ज्ञानस्य स्वतन्त्रफलत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तद्भावात् तत्सिद्धिरिति फलभेदः। स्कन्धाः—आश्रमाः। आत्मानं शरीरम् आचार्यस्य कुले गृहे कर्शयन् नैष्ठिक इत्यर्थः। स्कन्धश्रुतौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

सामा से कार्य चलाता है वह औदुम्बर कहा जाता है। और आठ मास तक उपार्जन करके चतुर्मासमें संगृहीतका अशन—भोजन करनेवाला और कार्तिक पुर्णिमामें संगृहीत पुष्प, फल आदिका त्याग करनेवाला बालखिल्य कहा जाता है। फेनप उन लोगोंको कहते हैं जो गिरे हुए पत्र, फल आदिको खाकर कहीं रहकर कर्मपरायण रहते हैं। परिव्राजक चार प्रकारके होते हैं कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। जो अपने पुत्रके गृहमें भिक्षा करते हुए त्रिदण्डको धारण करते हैं, वे कुटीचक कहलाते हैं। झोली, कमण्डलु, पवित्र, पादुका, आसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन और काषाय वस्त्रका परिधान करते हुए तीर्थमें भ्रमण करनेवाले और भिक्षा वृत्तिसे रहकर आत्माके अभिलाषी जो त्रिदण्डी हों वे बहूदक कहे जाते हैं। हंस—शिखाका त्याग कर यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले हाथमें झोली और कमण्डलु को रखनेवाले एवं केवल एक रात्रि गांवमें रहनेवाले और कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत करनेवाले एकदण्डधारी हैं। परमहंस वे कहलाते हैं जो एकदण्डको धारण कर, मुण्डन करावें, यज्ञोपवीत रहित हों और सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागकर आत्मनिष्ठामें रहें। यहाँ पूर्वपक्षमें संन्यासका अभाव होनेसे ज्ञानमें स्वतन्त्र फलकी असिद्धि होती है और सिद्धान्तमें संन्यासकी सिद्धि होनेसे फलकी सिद्धि है, ऐसा भेद है। स्कन्ध—आश्रम। आत्मानम्—शरीरको आचार्यके कुलमें—घरमें कृश करनेवाला

भाष्य

प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २।२३।१) इति। ननु परामर्शेऽप्याश्रमा गम्यन्ते एव। सत्यं गम्यन्ते, स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्ष-

भाष्यका अनुवाद

इसमें 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति०' (यज्ञ, अध्ययन, मांगनेवालोंको यथाशक्ति द्रव्यका दान, यह प्रथम धर्मस्कन्ध है, तप ही द्वितीय धर्मस्कन्ध है, आचार्यकुलमें वास करनेवाला, जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक आचार्यकुलमें देहको क्षीण करनेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी, यह तृतीय धर्मस्कन्ध है। ये सब तीनों आश्रमी यथोक्त धर्मसे पुण्यलोकवाले होते हैं) इस प्रकार परामर्शपूर्वक आश्रमोंकी अनित्यफलता कहकर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (जिसने ब्रह्ममें सम्यक् स्थिति की है, ऐसा परिव्राट् पुण्यलोकसे विलक्षण अमरणभाव—आत्यन्तिक फल प्राप्त करता है) इस प्रकार नित्यफलत्वसे ब्रह्मसंस्थताकी स्तुति की जाती है। परन्तु परामर्शमें भी आश्रमोंकी प्रतीति होती ही है। ठीक है, प्रतीति होती है। परन्तु स्मृति और आचारसे वे प्रसिद्ध हैं, प्रत्यक्ष श्रुतिसे प्रसिद्ध नहीं हैं। इससे प्रत्यक्षश्रुतिका

रत्नप्रभा

आश्रमा न विधीयन्ते, किन्तु ब्रह्मसंस्थतास्तुत्यर्थमनूद्यन्ते इत्युक्ते शङ्कते—ननु परामर्शेऽपीति। अनुवादापेक्षितपुरोवादात् प्रतीतिमङ्गीकरोति—सत्यमिति। प्रत्यक्षा स्कन्धश्रुतिरेव पुरोवादोऽस्तु, नानुवाद इत्यत आह—स्मृतीति। तयोरपि इयमेव श्रुतिर्मूलमस्तु, क्लृप्तश्रुतौ विधिमात्रकल्पनालाघवात्। अस्या अनुवादत्वे तु मूलत्वेन साग्निकानग्निकाश्रमश्रुतिस्तत्र विधिश्चेति द्वयकल्प-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नैष्ठिक, ऐसा अर्थ है। स्कन्धश्रुतिमें आश्रमोंका विधान नहीं है, किन्तु ब्रह्मसंस्थताकी स्तुतिके लिए अनुवाद किया जाता है, ऐसी शङ्का करते हैं—"परामर्शेऽपि" इत्यादिसे। अनुवादमें अपेक्षित पुरोवादसे प्रतीतिका अङ्गीकार करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। प्रत्यक्ष स्कन्धश्रुति ही पुरोवाद हो, अनुवाद मत हो, इसपर कहते हैं—"स्मृति" इत्यादिसे। उन दोनोंमें भी यही श्रुति मूलभूत हो, क्योंकि क्लृप्त श्रुतिमें विधिमात्रकी कल्पनामें लाघव है।

भाष्य

श्रुतेः । अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यानादरणीयास्ते भविष्यन्ति, अनधिकृतविषया वा । ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टम् 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः' इति । सत्यमेवम्, तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम् । तस्मात् स्तुत्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः । अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते,' 'आचार्याय प्रियं

भाष्यका अनुवाद

विरोध होनेसे वे अनादरणीय होंगे, या अनधिकारीके लिए होंगे । परन्तु 'यज्ञोऽध्ययनम्०' (यज्ञ, अध्ययन और दान ये प्रथम हैं) इस प्रकार संन्यास आश्रमोंके साथ ही गार्हस्थ्यका परामर्श है । ठीक है, ऐसा है, तो भी गृहस्थके प्रति ही अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधान होनेसे उसका अस्तित्व श्रुतिप्रसिद्ध ही है । इसलिए परामर्श स्तुत्यर्थ ही है, विधिके लिए नहीं है, और अन्य आश्रमका प्रत्यक्षश्रुति बाध—अपवाद करती है—'वीरहा वा एष०' (जो अग्निका उद्वासन करता है, वह देवताओंका वीरहा—पुत्रघाती होता है), 'आचार्याय

रत्नप्रभा

नागौरवादित्यत आह—अतश्चेति । स्मार्तत्वादाश्रमाः प्रत्यक्षयावज्जीवकर्मविधिश्रुत्यविरुद्धा ग्राह्याः । विरुद्धास्तु अनग्निकाश्रमाः उपेक्ष्याः, कर्मानधिकृतैरन्धादिभिर्वा अनुष्ठेयाः इत्यर्थः । यावज्जीवश्रुतिविरोधात् लाघवं त्याज्यमिति भावः । स्कन्धश्रुतौ अनुवाद्यत्वाविशेषाद् गार्हस्थ्यवदितरेषामनुष्ठेयत्वमाशङ्क्य तस्य श्रौतत्वात् अनुष्ठानम्, नेतरेषामश्रौतत्वात्, अतो ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरमिदं स्कन्धवाक्यमित्याह—नन्वि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

और इसको अनुवाद माननेपर मूलरूपसे साग्निक और अनग्निक आश्रमकी श्रुति और उसमें विधि, इस प्रकार दो कल्पनाओंसे गौरव होगा, इसपर कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे । स्मार्त होनेसे प्रत्यक्ष यावज्जीव कर्मश्रुतिसे अविरुद्ध आश्रमोंका ग्रहण करना चाहिए, और विरुद्ध अनग्निक आश्रमोंकी उपेक्षा करनी चाहिए, अथवा कर्मोंमें अनधिकृत अन्ध आदि उनका अनुष्ठान करें, ऐसा अर्थ है । यावज्जीवश्रुतिके साथ विरोध होनेसे लाघवका भी त्याग करना चाहिए, यह भाव है । अनुवाद्यत्वके अविशेषसे गार्हस्थ्यके समान इतर आश्रमोंका भी अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार शङ्का करके श्रौत होनेसे उसका अनुष्ठान योग्य है और अन्योंका अनुष्ठान योग्य नहीं है, क्योंकि वे अश्रौत हैं, इसलिए यह स्कन्धवाक्य ब्रह्मसंस्थताका स्तावक है,

भाष्य

धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १ । ११ । १) 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या । तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५ । १० । १) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १ । २ । ४४) इति च देवयानोपदेशः, नाश्रमान्तरोपदेशः । सन्दिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु । तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः' (बृ० ४ । ४ । २२) इति लोकसंस्तवोऽयम्, न पारिव्राज्यविधिः । ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम् ।

भाष्यका अनुवाद

प्रियं०' (आचार्यके लिए इष्ट धन लाकर—उसको देकर प्रजासन्तानका उच्छेद न करे), 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति०' (अपुत्रको लोक प्राप्त नहीं होता, ऐसा सब पशु भी जानते हैं) इत्यादि । उसी प्रकार 'ये चेमेऽरण्ये०' (जो ये अरण्यमें श्रद्धा, तपकी उपासना करते हैं), 'तपःश्रद्धे ये०' (जो तप और श्रद्धाका अरण्यमें रहकर सेवन करते हैं) यह भी देवयान मार्गका उपदेश है, अन्य आश्रमोंका उपदेश नहीं है । 'तप एव द्वितीयः' (तप ही द्वितीय है) इत्यादिमें अन्य आश्रमोंका कथन संदिग्ध है । इसी प्रकार एतमेव प्रव्राजिनो०' (इसी आत्मलोकको चाहनेवाले प्रव्राजी सब कामोंका संन्यास करते हैं) यह लोककी स्तुति है, पारिव्राज्यकी विधि नहीं है । परन्तु 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण करे) इस प्रकार जाबालोंका यह स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष पारिव्राज्य-

---

रत्नप्रभा

त्यादिना । तन्तुम्—सन्ततिम् । तथा ये चेति । 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति'(छा०५।१०।१) इति वाक्यशेषात् इत्यर्थः । स्कन्धशब्दस्य आश्रमेष्वरूढत्वाच्चात्र नाश्रमविधिरित्याह—संदिग्धं चेति । तर्हि 'प्रव्रजन्ति' इत्याश्रमविधिरित्यत आह—तथैतमिति । आत्मलोको महीयान्, यदर्थमशक्यां प्रव्रज्यामपि कुर्वन्तीति स्तुतिर्वर्तमाना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे । तन्तु—सन्तति । "तथा ये च" इति । वे अर्चिमार्गको प्राप्त करते हैं, इस प्रकारके वाक्यशेषसे, ऐसा अर्थ है । स्कन्धशब्दके आश्रममें रूढ़ नहीं होनेसे यहाँ आश्रमकी विधि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"संदिग्ध च" इत्यादिसे । तो 'प्रव्रजन्ति' यह आश्रम विधि है, इसपर कहते हैं—"तथैतम्" इत्यादिसे । आत्मलोक बड़ा है, जिसके लिए अशक्य प्रव्रज्याको भी करते हैं, इस प्रकार वर्तमानकालके

भाष्य

सत्यमेवमेतत् । अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

विधान है। ठीक है, इसी प्रकार यह है। परन्तु इस श्रुतिकी अपेक्षा किये विना यह विचार है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

पदेशात् इत्यर्थः। संप्रति पूर्वपक्षमाक्षिप्य इयं श्रुतिर्नास्तीति कृत्वा चिन्त्यते इत्याह—नन्वित्यादिना ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कथनसे स्तुति है, यह अर्थ है। अब पूर्वपक्षका आक्षेप करके यह श्रुति नहीं है, ऐसा मान कर चिन्ता की जाती है, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे ॥१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

पदच्छेद—अनुष्ठेयम्, बादरायणः, साम्यश्रुतेः।

पदार्थोक्ति—पारिव्राज्यस्यानुष्ठानं कार्यम्, [इत्येवं] बादरायणः—आचार्यो बादरायणः [मन्यते, कुतः?] साम्यश्रुतेः—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यत्र श्रुतौ श्रुत्यन्तरविहितानां भिन्नानामाश्रमाणामेतद्वाक्यानुवाद्यगार्हस्थ्येन साम्यश्रवणादित्यर्थः।

भाषार्थ—बादरायण आचार्य मानते हैं कि पारिव्राज्यका अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इस श्रुतिमें अन्य श्रुतिसे विहित दूसरे आश्रमोंका इस वाक्यसे अनुदित गार्हस्थ्यके साथ समानताका श्रवण है।

भाष्य

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते। वेदे श्रवणात्।

भाष्यका अनुवाद

बादरायण आचार्य अन्य आश्रम अनुष्ठेय हैं, ऐसा मानते हैं। वेदमें श्रवण

रत्नप्रभा

स्कन्धश्रुतौ इतराश्रमाः श्रुत्यन्तरविहिता अनूद्यन्ते, एतद्वाक्यानुवाद्यत्वाद्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्कन्धश्रुतिमें अन्य श्रुतिसे विहित इतर आश्रमोंका अनुवाद किया जाता है, इस

भाष्य

अग्निहोत्रादीनां चाऽवश्यानुष्ठेयत्वात् तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमिति हीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यवदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः । कुतः ? साम्यश्रुतेः । समाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २ । २३ । १) इत्याद्या । यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम् । यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः

भाष्यका अनुवाद

न होनेसे और अग्निहोत्रादिके अवश्य अनुष्ठेय होने से उसके विरोधसे अन्य आश्रम अन्ध आदि अनधिकृतसे अनुष्ठेय हैं, इस प्रकारके विचारका—गार्हस्थके समान ही अन्य आश्रमोंकी इच्छा न करनेवालोंको भी स्वीकार करना चाहिए, ऐसा मानते हुए आचार्य बादरायण—निराकरण करते हैं । किससे ? साम्यश्रुति होनेसे । क्योंकि गार्हस्थ्यके समान अन्य आश्रमोंकी परामर्शश्रुति देखी जाती है—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्मके तीन स्कन्ध—प्रविभाग है) इत्यादि । जैसे यहां अन्य श्रुतिमें विहित ही गार्हस्थ्यका परामर्श किया गया है । इसी प्रकार अन्य श्रुतिमें विहित ही अन्य आश्रमका भी परामर्श समझना चाहिए । और जैसे कि उपवीतविधिपरक वाक्यमें शास्त्रोंसे प्राप्त निवीत और प्राचीनावीतका

रत्नप्रभा

गार्हस्थ्यवत्, इति सिद्धान्तयति—अनुष्ठेयमिति । अनुवादस्य क्वचिद्विधिपूर्वकत्वे दृष्टान्तमाह—यथा चेति । 'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणां उपवीतं देवानाम्' इति वाक्ये दैवे कर्मण्युपवीतं विधीयते । तत्स्तुतये द्वयमनूद्यते । मानुषक्रियासु देहार्धवस्त्रबन्धनाख्यनिवीतस्य सौकर्यार्थतया प्राप्तत्वात्, पित्र्ये कर्मणि प्राचीनावीतस्यापि विध्यन्तरप्राप्तत्वात् इत्यर्थः । वाक्यान्तरे च साक्षादेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्यसे अनुवादित होनेसे गार्हस्थ्यके समान, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"अनुष्ठेयम्" इत्यादिसे । अनुवाद कहींकी विधिसे ही होता है, उसमें दृष्टान्त कहते हैं—"यथा च" इत्यादिसे । 'निवीतम्०' (मनुष्योंका निवीत होता है, प्राचीनावीत पितरोंका और उपवीत देवताओंका) इत्यादि वाक्यमें दैवकर्ममें उपवीतका विधान किया जाता है । और उसकी स्तुतिके लिए दोका अनुवाद किया जाता है, क्योंकि मनुष्यकी क्रियामें निवीत—अर्धदेहका वस्त्रसे बन्धन प्राप्त है और पितरोंके कर्ममें अन्य विधिसे प्राचीनावीत भी प्राप्त है, ऐसा अर्थ है । अन्य वाक्यमें साक्षात् ही पारिव्राज्यकी विधि है, क्योंकि विधेयोंके साथ साहित्य है,

भाष्य

परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये। तस्मात् तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाऽऽश्रमान्तरस्य। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया। यत्तूक्तम्—'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धम्—इति। नैष दोषः, निश्चयकारणसद्भावात्। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। न च यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्रा-

भाष्यका अनुवाद

परामर्श होता है। इसलिए गार्हस्थ्यके साथ अन्य आश्रमका अनुष्ठेयत्व समान है। और 'एतमेव प्रव्राजिनो०' (इसी आत्मलोककी इच्छा करनेवाले संन्यासी सब कामोंका संन्यास करते हैं) इसका वेदके अनुवचन आदिके साथ उल्लेख है 'ये चेमेऽरण्ये०' (जो ये अरण्यमें श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं) इसका पंचाग्निविद्याके साथ उल्लेख है। 'तप एव द्वितीयः' (तप ही द्वितीय है) इत्यादिमें अन्य आश्रमका अभिधान संदिग्ध है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि निश्चयका कारण विद्यमान है, कारण कि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्मके तीन स्कन्ध हैं) इसमें धर्मस्कन्ध तीन हैं, ऐसी प्रतिज्ञा की है। और यज्ञादि बहुतसे धर्म, उत्पत्तिभिन्न होकर आश्रम-

रत्नप्रभा

पारिव्राज्यविधिः, विधेयैः साहित्यात् इत्याह—तथैतमेवेति। अस्येति पारिव्राज्योक्तिः। विधेयवेदानुवचनादिसाहित्यात् पारिव्राज्यस्य विधेयतेत्यर्थः। वाक्यान्तरेऽपि साम्यश्रुतिमाह—ये चेति। अस्येति वानप्रस्थोक्तिः। विधेयपञ्चाग्निविद्यया वानप्रस्थस्य सहोक्त्या तदपि विधेयमित्यर्थः। श्रुतत्रित्वान्यथानुपपत्त्या स्कन्धशब्दस्य आश्रम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"तथैतमेव" इत्यादिसे। 'अस्य' इससे पारिव्राज्यका कथन है। वेदानुवचन आदि विधेयोंके साथ सहभाव होनेसे पारिव्राज्यमें भी विधेयता है, यह अर्थ है। अन्य वाक्यमें भी श्रुतिकी समानता कहते हैं—"ये च" इत्यादिसे। 'अस्य' से वानप्रस्थका कथन है। पञ्चाग्निविद्यारूप विधेयके साथ वानप्रस्थका कथन होनेसे वानप्रस्थ भी विधेय है। श्रुतिमें उक्त त्रित्वकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे स्कन्ध शब्दको आश्रमपरक अवश्य मानना चाहिए,

भाष्य

श्रमसम्बन्धास्त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते। तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टः, ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्यते। 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५।१०।१) इति चारण्यलिङ्गात् श्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः। तस्मात् परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

सम्बन्धसे अन्यत्र, त्रित्वमें अन्तर्भूत नहीं कराये जा सकते। उनमें यज्ञादिलिंगक गृहाश्रम यह एक धर्मस्कन्ध निर्दिष्ट है, और 'ब्रह्मचारी' इस प्रकार आश्रमका स्पष्ट ही निर्देश है, तप यह भी तपःप्रधान आश्रमसे कौनसे दूसरे धर्मस्कन्धका स्वीकार किया जाता है। और 'ये चेमेऽरण्ये०' (जो ये अरण्यमें श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं) इसमें भी अरण्यलिंगसे अर्थात् श्रद्धा और तपसे आश्रमका ग्रहण होता है। इससे परामर्श होनेपर भी अन्य आश्रम अनुष्ठेय है ॥१९॥

रत्नप्रभा

परत्वनिश्चय इत्याह—यत्तूक्तमित्यादिना। उत्पत्तिभिन्ना इति। यजेत अध्येतव्यं दद्यादिति पृथगुत्पन्ना इत्यर्थः ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। "उत्पत्तिभिन्न" इत्यादि। 'यजेत' 'अध्येतव्यम्' 'दद्यात्' ये पृथक् उत्पन्न हैं, ऐसा अर्थ है ॥१९॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

पदच्छेद—विधिः, वा, धारणवत्।

पदार्थोक्ति—वा—अथवा विधिः—त्रयो धर्मेत्यादिवाक्ये आश्रमाणां विधिः [एव नानुवादः, न चानेकाश्रमविधाने वाक्यभेदः शङ्कनीयः, आश्रमाणामपूर्वत्वेन विधेरावश्यकत्वेन वाक्यभेदस्येष्टत्वात्, एकवाक्यताप्रतीतावप्यपूर्वार्थविधौ दृष्टान्तः] धारणवत्—'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र स्रुग्दण्डादधस्तात् समिद्धारणविध्येकवाक्यताप्रतीतावप्युपरिधारणस्यापूर्वत्वादेकवाक्यताभङ्गेन विधिर्यथा कल्पितस्तथेहापीत्यर्थः।

भाषार्थ—अथवा 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इस वाक्यमें आश्रमोंकी विधिका ही स्वीकार करना चाहिए, अनुवाद नहीं, आश्रमके विधानमें यद्यपि वाक्यभेद होगा तो भी आश्रमोंके अपूर्व होनेसे वाक्यभेद इष्ट है, एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर भी अपूर्वार्थ विधिमें दृष्टान्त कहते हैं—'धारणवत्—अधस्तात्०' (स्रुक् दण्डके नीचे समिधका धारण करके अनुद्रवण करे देवताओंके लिए ऊपर धारण करे।) इसमें स्रुग्दण्डके अधोभागमें समिध्धारणकी विधिके साथ एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर भी ऊपर धारणके अपूर्व होनेसे एकवाक्यताके भङ्गप्रसङ्गसे भी विधि जैसे मानी गई है, वैसे ही प्रकृतमें भी विधि है।

भाष्य

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम्। ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत, प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलास्त्रयो

भाष्यका अनुवाद

अथवा यह अन्य आश्रमकी विधि है, केवल परामर्श—अनुवाद नहीं है। परन्तु विधि माननेपर एकवाक्यताकी प्रतीतिका बाध होगा और यहां एकवाक्यताकी प्रतीति होती है कि तीन धर्मके स्कन्ध पुण्यलोकरूप फल देनेवाले

रत्नप्रभा

स्कन्धश्रुतेः अनुवादकत्वम् अङ्गीकृत्य विध्यन्तरकल्पनेन आश्रमा अनुष्ठेयाः इत्युक्तम्। इदानीं विधित्वं तस्या एव कल्प्यम्, लाघवात् इत्याह—विधिर्वेति। यावज्जीवादिश्रुतेः अविरक्तविषयत्वान्न लाघवबाधकत्वमिति भावः। अल्पफलत्वेन आश्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरमेकम् इदं वाक्यं भाति। तत्र आश्रमविधिचतुष्टयमयुक्तमिति शङ्कते—नन्विति। आश्रमाणां विध्यन्तरप्राप्त्यभावादनुवादायोगात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्कन्धश्रुतिको अनुवादक मानकर अन्य विधिकी कल्पना करके आश्रमोंका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा कहा गया, अब स्कन्धश्रुतिका ही विधित्व स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि लाघव है, ऐसा कहते हैं—"विधिर्वा" इत्यादिसे। 'यावज्जीवम्०' (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र आदि करना चाहिए) इत्यादि श्रुति अविरक्त पुरुषपरक होनेसे लाघव बाधक नहीं है, यह भाव है। अल्प फल होनेसे तीनों आश्रमोंकी निन्दा होनेसे ब्रह्मसंस्थताकी स्तुतिके लिए यह एक वाक्य दिखता है, उसमें चार आश्रमोंकी विधि मानना अयुक्त है, ऐसी शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। आश्रमोंकी अन्य विधिसे प्राप्ति नहीं होनेसे अनुवादका सम्भव नहीं है,

भाष्य

धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वमृतत्वफलेति। सत्यमेतत्। सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात् विध्यन्तरस्याऽदर्शनात्, विस्पष्टाचाऽऽश्रमान्तरप्रत्ययाद् गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः। धारणवत्। यथा 'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो

भाष्यका अनुवाद

हैं और ब्रह्मसंस्थता अमृतत्वरूप फल देनेवाली है। यह ठीक है। परन्तु यहांपर एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर भी उसका परित्याग करके अपूर्व होनेसे विधिका ही स्वीकार करना युक्त है, क्योंकि आश्रमोंकी दूसरी विधिकी उपलब्धि नहीं होती और अन्य आश्रमोंकी प्रतीति अत्यन्त स्पष्ट होनेसे यहांपर गुणवादकी कल्पनासे एकवाक्यताकी योजना अनुपपन्न है। धारणके समान्। जैसे 'अधस्तात् समिधम्०' (स्रुवामें रक्खे हुए हविके नीचे समिध्को धारण करके

रत्नप्रभा

स्तुतिलक्षणादोषाच्च, वरं विस्पष्टाश्रयविधिभेदकल्पनम्, अपूर्वत्वात् इत्याह—सत्यमित्यादिना। प्रतीतैकवाक्यत्वभङ्गेन विधिभेदकल्पने दृष्टान्तमाह—धारणवदिति। महापितृयज्ञे प्रेताग्निहोत्रे च चि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं प्रति यदा नीयते तदा तस्य हविषः 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेद्' इति विहिताधोधारणस्तावकतया 'उपरि हि' इत्यस्य एकवाक्यत्वसंभवेऽपि दैवे होमे स्रुग्दण्डोपरि समिद्धारणे विधिरेव अपूर्वत्वादिति वाक्यभेदस्तृतीयाध्याये जैमिन्याचार्येण उक्त इत्यर्थः। एवं चत्वार आश्रमा विधीयन्त इति पक्ष उक्तः। संप्रति आश्रमत्रया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

और स्तुतिमें लक्षणारूप दोष है, इससे स्पष्ट आश्रम विधिभेदके अपूर्व होनेसे उसकी कल्पना करना ही ठीक है, ऐसा कहते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। प्रतीत एकवाक्यत्वका भङ्ग करके विधिभेदकी कल्पनामें दृष्टान्त कहते हैं—"धारणवत्" इत्यादिसे। महापितृयज्ञके प्रेताग्निहोत्रमें स्रुवामें प्रक्षिप्त हवि आहवनीय अग्निके प्रति जब ले जाया जाता है, तब उस हविको 'अधस्तात् समिधम्०' (नीचे समिधको धारण करके अनुद्रवण करे) इससे विहित अधोधारणका स्तावक मान करके 'उपरि हि'-इस वाक्यकी एकवाक्यता हो सकती है, तो भी दैवहोममें स्रुग्दण्डके ऊपर समित्के धारणमें ही, अपूर्व होनेसे, विधि है, इस प्रकारका वाक्यभेद तृतीय अध्यायमें जैमिनि आचार्यने कहा है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार चार आश्रमोंका विधान है, यह पक्ष कहा गया, अब तीन आश्रमोंका अनुवाद करके एक

भाष्य

धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवो-परिधारणमपूर्वत्वात्। तथा चोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति। तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते। यदाऽपि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत् संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या। सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित् परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम्। यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्य-मानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषा-

भाष्यका अनुवाद

उसे जानना चाहिए, क्योंकि हविके ऊपरके समिधको उन देवताओंके लिए धारण करता है) इसमें नीचे धारण करनेवालेके साथ एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर भी ऊपर धारणका विधान है ही, अपूर्व होनेसे। जैसा कि शेषलक्षणमें कहा गया है—'विधिस्तु धारणे०' (दैविक हविमें स्रुवाके ऊपर समिधका धारण अपूर्व होनेसे विधि है)। उसी प्रकार यहां भी आश्रमपरामर्शश्रुति विधि ही है, ऐसी कल्पना की जाती है। यद्यपि यह अन्य आश्रमोंका परामर्श ही है, तो भी ब्रह्मसंस्थताका स्तुतिके सामर्थ्यसे विधेयरूपसे स्वीकार किया जाना चाहिए। यह स्तुति क्या चार आश्रमोंमें चाहे जिस किसी आश्रम की है या परिव्राजककी ही है? इसका विवेचन कर देना चाहिए। जिन ब्रह्मचारी पर्यन्त आश्रमोंका परामर्श किया जाता है, उनमें परिव्राजक भी यदि परामृष्ट हो, तो चारों

रत्नप्रभा

नुवादेन पारिव्राज्यमेकमेव विधीयत इति पक्षान्तरमाह—यदाऽपीत्यादिना। ब्रह्मसंस्थताविधौ कथं पारिव्राज्यविधिरित्याशङ्क्य विचारयति—सा चेति। ननु 'त्रयः' इति वाक्ये आश्रमचतुष्टयस्य अप्राप्तेर्निर्बीजोऽयं विचार इत्याशङ्क्य तद्वाक्ये परिव्राजकः परामृष्टो न वेति संदिह्य आद्ये पूर्वपक्षमाप्तिमाह—यदि चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पारिव्राज्यका विधान है, इस तरह अन्य पक्ष कहा जाता है—"यदाऽपि" इत्यादिसे। ब्रह्मसंस्थताकी विधिमें पारिव्राज्यकी विधि कैसे होगी? इस प्रकार शङ्का करके विचार करते हैं—"सा च" इत्यादिसे। परन्तु 'त्रयः' इस वाक्यमें चार आश्रमोंकी प्राप्ति न होनेसे यह विचार निर्बीज है, ऐसी आशङ्का करके उस वाक्यमें परिव्राजक परामृष्ट है या नहीं, इस प्रकार सन्देह करके प्रथम पक्षमें पूर्वपक्षकी प्राप्ति कहते हैं—"यदि च" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि ब्रह्मसंस्थ

भाष्य

दनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वाश्रमेषु ब्रह्मसंस्थो भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति । तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित् । तदयुक्तम् । नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति । यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं

भाष्यका अनुवाद

आश्रमोंका समान रीतिसे परामर्श होनेसे और अनाश्रमित्वके अनुपपन्न होनेसे चारों आश्रमोंमें कोई तो ब्रह्मसंस्थ होगा ही । और यदि परिव्राजकका परामर्श न हो, तो परिव्राजक ही ब्रह्मसंस्थ है, ऐसा सिद्ध होगा। उनमें वैखानसका ग्रहण करानेवाले तपःशब्दसे परिव्राट् भी परामृष्ट होता है, ऐसा कितने लोग कहते हैं, वह अयुक्त है, क्योंकि गति होनेपर वानप्रस्थके विशेषणसे परिव्राजकका ग्रहण युक्त नहीं है। जैसे यहां ब्रह्मचारी और गृहमेधी अपने अपने असाधारण विशेषणसे

रत्नप्रभा

ननु अनाश्रम्येव ब्रह्मसंस्थः किं न स्यादत आह—अनाश्रमित्वेति । 'अनाश्रमी न तिष्ठेत' इति निषेधादिति भावः। द्वितीये—सिद्धान्तप्राप्तिमाह—अथेति । एवं परामर्शतदभावाभ्यां संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षयति—तत्रेति । वनस्थस्य हि असाधारणं कृच्छ्रादिकं तप इति प्रसिद्धम् । तेन एकेन तपःशब्देन उभयग्रहणमन्याय्यम्, भिक्षोः तपस्वित्वप्रसिद्ध्यभावात् च । तथा च यज्ञाद्यसाधारणधर्मद्वारा गृहस्थाद्याश्रमत्रयवद् ब्रह्मसंस्थशब्देनैव ब्रह्मनिष्ठाप्रधानः चतुर्थाश्रमो गृह्यते । स च स्तुतिसामर्थ्यात् सह ब्रह्मसंस्थया विधीयते इति सिद्धान्तयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनाश्रमी ही क्यों न हो ? इसपर कहते हैं—"अनाश्रमित्व" इत्यादिसे । "अनाश्रमी न तिष्ठेत" (आश्रमके विना न रहे) इस प्रकार निषेध होनेसे, ऐसा भाव है। द्वितीय पक्षमें सिद्धान्तकी प्राप्ति कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । इस प्रकार परामर्श और उसके अभावसे संशय कहकर पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे । वानप्रस्थका असाधारण तप कृच्छ्र आदि प्रसिद्ध है। इससे एक तपशब्दसे उभयका ग्रहण अयोग्य है और भिक्षुमें तपस्वित्वकी प्रसिद्धि भी नहीं है। इसलिए यज्ञ आदि असाधारण धर्मद्वारा गृहस्थाश्रम आदि तीनों आश्रमोंके समान 'ब्रह्मसंस्थ' इस शब्दसे ब्रह्मनिष्ठा जिसमें प्रधान है, ऐसे चतुर्थ आश्रमका ग्रहण होता है। स्तुतिकी सामर्थ्यसे इस आश्रमका ब्रह्मसंस्थाके साथ विधान किया जाता है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"तदयुक्तम्" इत्यादिसे । पृथक् कथन होनेसे भी पूर्वोक्त

भाष्य

भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम् । तपश्चाऽसाधारणो धर्मो वानप्रस्थानाम्, कायक्लेशप्रधानत्वात् तपःशब्दस्य तत्र रूढेः, भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते । चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम् । अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति 'यत्र एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति । पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते । नह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति । भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति ।

भाष्यका अनुवाद

विशेषित होते हैं, वैसे ही भिक्षु और वैखानस भी विशेषित हों, यह युक्त है। तप वानप्रस्थका असाधारण धर्म है, क्योंकि उनमें कायक्लेशकी प्रधानता है, तपशब्द कृच्छ्रादिमें रूढ है। परन्तु संन्यासीका जो इन्द्रियसंयमादिरूप धर्म है वह 'तप' शब्दसे कभी भी नहीं कहा जाता। और चाररूपसे प्रसिद्ध आश्रमोंका तीनरूपसे परामर्श किया जाय, यह उचित भी नहीं है। इसके सिवा ये तीन पुण्यलोक पानेवाले हैं और एक अमृतत्व पानेवाला है, ऐसा यहांपर भेदका व्यपदेश भी है, और (वानप्रस्थ और परिव्राजकके) पृथक् होनेपर यह भेदव्यपदेश उपपन्न होता है, क्योंकि 'देवदत्त और यज्ञदत्त मन्दबुद्धि हैं, किन्तु इन दोनोंमेंसे एक महाबुद्धि है' ऐसा कभी नहीं कहा जाता। परन्तु 'देवदत्त और यज्ञदत्त मन्दबुद्धि हैं, पर विष्णुमित्र महाबुद्धि है' ऐसा कहा जाता है। इससे पूर्वके तीन

रत्नप्रभा

तदयुक्तमित्यादिना । पृथग्व्यपदेशाच्च ब्रह्मसंस्थः पूर्वोक्तेभ्यः आश्रमिभ्यः पृथग्भूत इत्याह—अपि चेति । न चाऽवस्थाभेदेन तेषामेव ब्रह्मसंस्था स्यात् इति वाच्यम्, कालभेदेनापि सति मन्दप्रज्ञत्वे प्रज्ञाधिक्यवत्, सति कर्मित्वे तेषां विक्षिप्तचेतसां ब्रह्मसंस्थानुपपत्तेः, कर्मत्यागे च परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इत्यस्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

आश्रमियोंसे ब्रह्मसंस्थ पृथग्भूत है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यदि कोई शङ्का करे कि अवस्थाके भेदसे उन्हींकी—कर्मियोंकी ही ब्रह्मसंस्था हो ? तो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे मन्दप्रज्ञाके होनेपर कालभेदसे भी प्रज्ञाका आधिक्य नहीं होता, वैसे ही कर्मठता होनेपर विक्षिप्त चित्त होनेसे कालभेदसे भी उनकी ब्रह्मसंस्थता नहीं हो सकती है। यदि कर्मका त्याग करे, तो परिव्राड् ही ब्रह्मसंस्थ हुआ, अतः अस्मदीय इष्टसिद्धि है, यह भाव है। इसी अर्थका

भाष्य

तस्मात् पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवाऽमृतत्वभाक्। कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात् प्रवर्तमानः सर्वत्र सम्भवन् परिव्राजक एवाऽवतिष्ठेत, रूढ्यभ्युपगमे वाऽऽश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति। अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते। तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न सम्भवति, स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्, परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात् प्रत्यवायो न सम्भवत्यननुष्ठाननिमित्तः। शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञादीनि चेतरेषाम्। तद्व्यतिक्रमे

भाष्यका अनुवाद

आश्रमवाले पुण्यलोकभाजन होते हैं, परिशिष्यमाण परिव्राजक ही अमृतत्वलाभ करता है, किन्तु योगसे प्रवृत्त होता हुआ ब्रह्मसंस्थशब्द सब आश्रमोंमें लागू हो सकता है, वह परिव्राजकमें ही क्यों सीमित हो ? और रूढिका यदि स्वीकार किया जाय, तो केवल आश्रमसे ही अमृतत्वके प्राप्त होनेसे ज्ञानके निरर्थक होनेकी नौबत आवेगी, इसपर कहते हैं। 'ब्रह्मसंस्थ' शब्दसे ब्रह्ममें परिसमाप्ति अर्थात् अन्य व्यापारशून्यत्वरूप ब्रह्मनिष्ठता कही जाती है। और यह ब्रह्मनिष्ठता तीन आश्रमोंमें नहीं हो सकती, क्योंकि अपने आश्रममें विहित कर्मका अनुष्ठान न करनेसे प्रत्यवाय सुना जाता है। परन्तु परिव्राजकके सब कर्मोंका त्याग होनेसे अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवाय नहीं हो सकता। शम, दम आदि धर्म तो उसके ब्रह्मनिष्ठताके पोषक हैं, विरोधी नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मनिष्ठत्व ही उसका स्वाश्रमविहित कर्म है और यज्ञ आदि अन्य आश्रमोंके कर्म हैं।

रत्नप्रभा

दिष्टसिद्धिः इति भावः। इममेवार्थं स्पष्टयितुं शङ्कते—कथं पुनरिति। यद्यपि ब्रह्मसंस्थशब्दः संन्यासाश्रमे न रूढः, तथापि योगात् तमेवोपस्थापयति, अन्याश्रमेषु यौगिकार्थासमवायात् इत्याह—अत्रोच्यते इति। सर्वकर्मत्यागिनः प्रणवार्थब्रह्मनिष्ठातिरेकेणाऽनुष्ठेयं नास्तीत्यत्र मानमाह—तथा चेति। "न्यासः

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्पष्टीकरण करनेके लिए शङ्का करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। यद्यपि ब्रह्मसंस्थाशब्द संन्यासाश्रममें रूढ नहीं है, तो भी योगसे उसी अर्थकी उपस्थिति करता है, क्योंकि अन्य आश्रमोंमें यौगिक अर्थका सम्भव नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। सम्पूर्ण कर्मोंका जो त्याग करता है उसके लिए प्रणवार्थ ब्रह्ममें निष्ठाको छोड़कर अन्य अनुष्ठेय नहीं है,

भाष्य

च तस्य प्रत्यवायः। तथा च 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८) 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मुण्ड० ३।२।६, नारा० १२।३, कैवल्य० ३) इत्याद्याः श्रुतयः। स्मृतयश्च— 'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५।१७) इत्याद्या ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

और शम, दम आदि स्वाश्रमविहित कर्मका व्यतिक्रम—उल्लङ्घन करनेसे संन्यासीको प्रत्यवाय होता है, क्योंकि 'न्यास इति ब्रह्मा' (संन्यास ब्रह्मा है, क्योंकि ब्रह्मा ही श्रुति और स्मृतिमें पर—श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्रह्म—संन्यास पर—श्रेष्ठ है, जो ये तप हैं वे अवर हैं न्यास ही उनसे अधिक श्रेष्ठ है), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः०' (वेदान्तके विज्ञानका अर्थ—परमात्मा जिनके चित्तमें सुनिश्चित है, सर्वकर्मलक्षणयोगसे यत्नशील और जिनका सत्त्व संन्यासयोगसे शुद्ध हुआ है ऐसे मुक्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ और 'तद्बुद्धयस्तदात्मान०' (उस परब्रह्ममें ही जिनकी बुद्धि है, वह परब्रह्म ही जिनका आत्मा है, उस परब्रह्ममें

रत्नप्रभा

संन्यासो ब्रह्म" इति स्तुतौ हेतुमाह—ब्रह्मा हीति। हिरण्यगर्भो हि पर इति प्रसिद्धः। अतो ब्रह्मत्वेन स्तुतः संन्यासः पर एवेति स्तुत्वा कर्माणि निन्दति—तानीति। ततो न्यास एव ज्ञानद्वारा मोचकत्वादधिक इत्यर्थः। तद्बुद्धयः—ब्रह्मचित्ताः, तदात्मानः—ब्रह्मस्वरूपाः, तन्निष्ठाः—श्रवणादिपराः, तत्परायणाः—ब्रह्मप्रेप्सवः, निष्कामा इति यावत्। एवं ब्रह्मसंस्थशब्दस्य ज्ञानप्रधानाश्रमवाचित्वादमृतत्वकामस्तमाश्रममनुतिष्ठेदिति विधिः परिणम्यते, अतो न ज्ञानानर्थक्यदोष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। 'न्यासः संन्यासो ब्रह्म' इस प्रकारकी स्तुतिमें हेतु कहते हैं—"ब्रह्मा हि" इत्यादिसे। हिरण्यगर्भ पर है, यह प्रसिद्ध है, इससे ब्रह्मरूपसे प्रस्तुत संन्यास भी पर ही है, इस प्रकार स्तुति करके कर्मोंकी निन्दा करते हैं—"तानि" इत्यादिसे। इसलिए न्यास—त्याग ही ज्ञानके द्वारा संसारका मोचन करनेवाला होनेसे ऊँचे दरजेका है, यह अर्थ है। तद्बुद्धयः—ब्रह्मचित्त, तदात्मानः—ब्रह्मस्वरूप, तन्निष्ठ—श्रवण आदिमें तत्पर, तत्परायण—ब्रह्मकी इच्छा करनेवाले अर्थात् निष्काम। इस प्रणालीसे ब्रह्मसंस्थशब्द ज्ञानप्रधान आश्रमका वाचक है, अतः अमृतत्वका अभिलाषी उसका अनुष्ठान करे, इस प्रकार

भाष्य

संस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति। तस्मात् परिव्राजकस्याऽऽश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नाऽवतरति। तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद् ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्यतैव। अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः। विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति। न चेयं श्रुतिरनधिकृत-

भाष्यका अनुवाद

ही जिनकी निष्ठा—अभिनिवेश है, वही परम अयन—गति जिनकी है, वे पुनरावृत्तिरहित मोक्षको प्राप्त होते हैं) इत्यादि स्मृतियां ब्रह्मसंस्थके कर्मका अभाव दिखलाती हैं। इसलिए परिव्राजकको आश्रममात्रसे अमृतत्व प्राप्त होनेसे ज्ञानके अनर्थक होनेकी नौबत आवेगी, यह दोष प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत श्रुतिमें इस प्रकार अन्य आश्रमोंका परामर्श होनेपर ब्रह्मसंस्थतारूप पारिव्राज्य प्राप्त होगा ही। अन्य आश्रमका विधान करनेवाली जाबालश्रुतिकी अपेक्षा किये बिना ही आचार्यने यह विचार प्रवृत्त किया है। परन्तु अन्य आश्रमके विधानकी प्रत्यक्ष श्रुति है ही। 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य०' (ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करे, वानप्रस्थ होकर परिव्राट् हो। अथवा इसके विपरीत ब्रह्मचर्याश्रमसे, गृहस्थाश्रमसे, या

रत्नप्रभा

इत्युपसंहरति—तस्मादिति। संप्रति क्त्वाचिन्तामुद्घाटयति—अनपेक्ष्येति। शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं स्कन्धश्रुतिमादाय चिन्ता कृतेति भावः। यदि वेतरथेति। ब्रह्मचर्ये स्थितस्यैव पूर्वसुकृतपरिपाकाद् वैराग्यं यदि स्यादित्यर्थः। यदुक्तं कर्मानधिकृतान्धादिविषयः संन्यास इति, तन्नेत्याह—न चेति। सामान्यश्रुतेः संकोच-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधि परिणत होनेसे ज्ञानका आनर्थक्य दोष नहीं है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। अब क्त्वाचिन्ताका उद्घाटन करते हैं—"अनपेक्ष्य" इत्यादिसे। शिष्यबुद्धिके विस्तारके लिए स्कन्धश्रुतिका ग्रहण करके विचार किया, यह अभिप्राय है। "यदि वेतरथा" इत्यादि। ब्रह्मचारीको ही यदि पूर्वके पुण्यपरिपाकसे वैराग्य हो, तो, ऐसा अर्थ है। और 'कर्मोंमें अनधिकृत अन्ध आदिविषयक संन्यास है' ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। सामान्यश्रुतिके संकोचमें प्रमाण

भाष्य

विषया शक्या वक्तुम्। अविशेषश्रवणात्, पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादिना। ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नाऽनधिकृतविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽप-

भाष्यका अनुवाद

वानप्रस्थाश्रमसे परिव्राट् हो)। उसी प्रकार यह श्रुति अनधिकारीके लिए है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविशेषश्रुति है और अनधिकृतका पृथक् विधान है—'अथ पुनरेव व्रती०' (व्रती या अव्रती, स्नातक या अस्नातक उत्सन्नाग्नि—जिसकी अग्नि उत्सन्न हुई है, या अग्निरहित पुरुष संन्यासका ग्रहण करे) इत्यादिसे। और पारिव्राज्य, ब्रह्मज्ञान परिपाकका अंग होनेसे, अनधिकारीमें नहीं है, इसे श्रुति दिखाती है—'अथ परिव्राड् विवर्णवासा०' (विवर्ण वस्त्रवाला

रत्नप्रभा

हेत्वभावादिति भावः। पृथगिति। संन्यासस्येति शेषः। व्रती गोदानादिवेदव्रतवान्। गुरुकुलान्निवृत्तिरूपस्नानानन्तरमकृतगार्हस्थ्यो गुरुसेवी स्नातकः, उत्सन्नाग्निः विधुरः, अगृहीताग्निः अनग्निकः,—प्रव्रजेदित्यन्वयः। सकलाङ्गानामेव कथंचित् कर्मानधिकृतानां संन्यासो युक्तः, विकलाङ्गानां त्वन्धादीनां न ज्ञानप्रधाने संन्यासेऽधिकार इत्याह—ब्रह्मेति। दृष्टिपूतसंचारश्रवणादिकं विना ज्ञानानुत्पत्तेः, "शरीरं मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरिविश्रुवम्" इत्यङ्गसा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं है, यह भाव है। "पृथग्" इत्यादि। संन्यासका, यह शेष है। व्रती—गोदान आदि वेदव्रतको करनेवाला गुरुकुलसे निवृत्तिरूप स्नानके अनन्तर गृहस्थाश्रमका स्वीकार न करनेवाला गुरुसेवी—'स्नातक' है। जिसकी अग्नि नष्ट हुई है, वह 'विधुर' है, जिसने अग्निका ग्रहण ही नहीं किया है, वह 'अनग्निक' है। प्रव्रजेत्, इससे अन्वय है। सम्पूर्ण जिनके अङ्ग हैं, ऐसे लोगोंके लिए कथंचित् कर्ममें अनधिकृत होनेसे संन्यास युक्त है, परन्तु विकलाङ्ग अन्ध आदिका ज्ञानप्रधान संन्यासमें अधिकार नहीं है, ऐसा कहते हैं—"ब्रह्म" इत्यादिसे। दृष्टिपूत संचार और श्रवण आदिके विना ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि 'शरीरं मे विचर्षणम्०' (मेरा शरीर योग्य हो, मेरी जिह्वा सुन्दर भाषण करनेवाली हो और कानोंसे खूब श्रवण हो,) इत्यादि अङ्गोंकी अविकलताकी प्रार्थनारूप लिङ्ग है, इससे अन्ध, पङ्गु,

भाष्य

रिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जावा० ५) इति । तस्मात् सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः । सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानात् विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

मुण्ड, परिग्रहरहित, पवित्र, द्रोहरहित, भिक्षा करनेवाला परिव्राट् ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए समर्थ होता है) इसलिए ऊर्ध्वरेताओंके आश्रम सिद्ध हैं और ऊर्ध्वरेताओंके लिए विद्याका विधान होनेसे विद्या स्वतन्त्र है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

कल्प्यप्रार्थनालिङ्गाच्च नान्धपङ्गुमूकबधिरादीनाम् अधिकार इत्यर्थः । तच्चेति । पारिव्राज्यस्य ब्रह्मज्ञानाङ्गत्वं चेत्यर्थः । ब्रह्मभूयाय—ब्रह्मसाक्षात्कारायेति यावत् ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मूक, बधिर आदिका संन्यासमें अधिकार नहीं है, यह अर्थ है। "तच्च" इत्यादि। पारिव्राज्य ब्रह्मज्ञानका अङ्ग है, यह अर्थ है। ब्रह्मभूयाय—ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए, यह अर्थ है ॥ २० ॥



[२ स्तुतिमात्राधिकरण सू० २१–२२]

स्तोत्रं रसतमत्वादि ध्येयं वा गुणवर्णनात् ।
जुहूरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसंस्तुतिः ॥ १ ॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता ।
*उपासीतेति विध्युक्तेर्ध्येयं रसतमादिकम् * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उद्गीथावयव ओंकारमें कथित रसतमत्व आदि गुण स्तुतिके लिए हैं, या ध्यानके लिए हैं ?

पूर्वपक्ष—जैसे 'इयमेव जुहूरादित्यः' (यह पृथिवी ही जुहू है और आदित्य चयनस्थ कूर्म है) इस प्रकार आदित्यरूपसे कर्माङ्ग जुहूकी स्तुति की जाती है, वैसे ही गुणोंका वर्णन होनेसे केवल उद्गीथावयव ओंकारकी स्तुति ही है ।

सिद्धान्त—अन्य प्रकरणस्थ होनेसे अङ्गविधिके साथ एकवाक्यता नहीं है और 'उपासीत' इस प्रकार विधिका कथन होनेसे रसतमत्व आदि गुण ध्यानके लिए ही हैं ।

---

* सारांश यह है कि उद्गीथावयव ओंकारके रसतमत्व आदि गुण सुने जाते हैं—'स एष रसानां रसतमः परमः' (उक्त गुणविशिष्ट यह ओंकार रसोंका भी परम रसतम है) इत्यादि । यहाँपर पूर्वपक्षी कहता है कि रसतमत्व आदि गुण ओंकारकी स्तुतिके लिए हैं, वे ध्यानके लिए नहीं हैं, जैसे 'इयमेव जुहूरादित्यः' इत्यादिमें कर्माङ्ग जुहू आदिकी आदित्यरूपसे स्तुति है, वैसे ही रसतमत्व आदि गुणोंसे ओंकारकी स्तुति है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि तुमने जो दृष्टान्त दिया है, वह विषम है, क्योंकि जुहूविधिके प्रकरणमें पठित होनेसे 'जुहूरादित्यः' इत्यादिके स्तावकत्वमें कोई हरकत नहीं है, परन्तु रसतमत्व आदि तो उपनिषद्में पठित हैं, अतः उनकी कर्मप्रकरणपठित उद्गीथविधिके वाक्यके साथ एकवाक्यता न होनेके कारण वे—रसतमत्व आदि स्तावक नहीं हैं, किन्तु 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस सन्निहित विधिसे एकवाक्यता होनेसे रसतमत्व आदिका ध्यान ही अभीप्सित है ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

पदच्छेद—स्तुतिमात्रम्, उपादानात्, इति, चेत, न, अपूर्वत्वात् ।

पदार्थोक्ति—[उद्गीथाद्युपासनेषु श्रूयमाणं 'स एष रसानां रसतमः परमः' इत्यादिकं सर्वमपि वाक्यजातम्] स्तुतिमात्रम्—कर्माङ्गोद्गीथस्तुतिमात्रम् [बोधयति, कुतः ?] उपादानात्—कर्माङ्गोद्गीथाद्युपादानश्रवणात्, इति चेत् न—इत्यनेन प्रकारेण शङ्का न युक्ता, [कथम् ?] अपूर्वत्वात्—कर्माङ्गोद्गीथाद्युपास्तीनां रसतमत्वादिगुणानाञ्च मानान्तराप्राप्तत्वात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—उद्गीथादि उपासनाओंमें श्रूयमाण 'स एष रसानाम्' इत्यादि सारा वाक्य, कर्माङ्गोद्गीथका उपादान होनेसे, कर्माङ्गोद्गीथकी केवल स्तुति करता है, इस प्रकार शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि कर्माङ्ग उद्गीथोपासनाएँ और रसतमत्वादि गुण अपूर्व हैं—अन्य प्रमाणसे अप्राप्त हैं, अतः उनका विधान है ।

भाष्य

'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः' (छा० १।१।३), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१), 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः । तदि-

भाष्यका अनुवाद

'स एष रसानां०' (यह जो उद्गीथनामका ओंकार भूतादि रसोंमें [भूतोंका पृथिवी रस है, पृथिवीका जल रस है, क्योंकि पृथिवी जलमें ओत-प्रोत है, जलोंका ओषधि रस है, क्योंकि ओषधियाँ जलपरिणाम हैं, ओषधिका पुरुष रस है, क्योंकि पुरुष अन्नका परिणाम है, पुरुषका वाणी रस है, क्योंकि पुरुषके अवयवोंमें वाक् श्रेष्ठ है, वाणीका ऋक् रस—सारतर है, ऋक्का साम रस—सारतर है, उस सामका उद्गीथ—ओंकार रस—सारतर है, इस प्रकार रसोंमें] रसतम—अतिशय सारवान् परमात्माका प्रतीक होनेसे परम, परमात्माके समान उपास्य होनेसे परमात्माके स्थानके योग्य यह उद्गीथ पृथिवी आदि रसोंकी संख्या-में आठवाँ रस है), 'इयमेवर्गग्निः साम' (यह पृथिवी ही ऋक् है—ऋक्में पृथिवी दृष्टि करनी चाहिए, अग्नि साम है—साममें अग्नि दृष्टि करनी चाहिए), 'अयं वाव लोकः' (यही लोक यह चित—सम्पादित अग्नि है), तदिदमे-

भाष्य

दमेवोक्थमियमेव पृथिवी' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन् संशये स्तुत्यर्था इति युक्तम्, उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात्। यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत्, नेत्याह। नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तम्, अपूर्वत्वात्। विध्य-

भाष्यका अनुवाद

वोक्थ०' (वह उक्थ यही है, जो यह पृथिवी दीखती है) इस प्रकारके श्रुतिवाक्य उद्गीथादिकी स्तुतिके लिए हैं या उपासनाविधिके लिए हैं, ऐसा संशय होनेपर स्तुत्यर्थक हैं, ऐसा कहना ठीक है, क्योंकि उद्गीथादि कर्मांगोंको लेकर इनका श्रवण है। 'इयमेव०' (यह पृथिवी ही जुहू है, आदित्य चयनस्थकूर्म है, आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक है) इत्यादि श्रुति जैसे जुहू आदिकी स्तुतिके लिए है, उसी प्रकार यह पूर्वोक्त श्रुति उद्गीथ आदिकी स्तुतिके लिए है, ऐसा यदि कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, ऐसा (सूत्रकार)

रत्नप्रभा

स्तुतिमात्रमिति। पृथिव्यबोषधिपुरुषवागृक्साम्नां सप्तानां रसानां रसतमोऽष्टमः उद्गीथावयव ओङ्कारः परमः, परमात्मप्रतीकत्वात्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं तदर्हतीति परार्ध्य इत्यर्थः। आसु श्रुतिष्वङ्गोपादानादपूर्वार्थत्वाच्च संशयमाह—**किमिति**। यथा अनुष्ठेयगार्हस्थ्यसाम्यश्रुतेः पारिव्राज्यस्य अनुष्ठेयत्वम्, तद्वदासां श्रुतीनां जुह्वादिस्तुतिश्रुतिसाम्यात् स्तुतित्वमिति पूर्वपक्षयति—**स्तुत्यर्था इति**। 'जुहूरियमेव पृथिवी' इति स्तूयते। 'चयनस्थः कूर्म आदित्यः' इति स्तुतिः। 'आहवनीयः स्वर्लोकः' इति स्तुतिः। तथोद्गीथादीनां रसतमत्वादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"स्तुतिमात्रम्" इत्यादि। पृथ्वी, जल, ओषधि, पुरुष, वाक्, ऋक् और साम इन सात रसोंका आठवाँ उद्गीथावयव ओंकार परम रसतम है, क्योंकि परमात्माका प्रतीक है। परके—ब्रह्मके अर्धको—स्थानको पाता है, अतः परार्ध्य है, ऐसा अर्थ है। इन श्रुतियोंमें अङ्गोंका उपादान होनेसे और अपूर्वार्थता होनेसे संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। जैसे अनुष्ठेय गृहस्थाश्रमके साम्यश्रवणसे पारिव्राज्यका अनुष्ठान है, उसके समान इन श्रुतियोंमें जुहू आदिकी स्तुतिश्रुतिके साम्यसे स्तुतित्व ही है, इस प्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"स्तुत्यर्थाः" इत्यादिसे। जैसे जुहूकी 'इयमेव पृथ्वी' (यह जुहू पृथ्वी है) इस प्रकार स्तुति की जाती है और चयनस्थ कूर्म आदित्य है, आहवनीय अग्नि 'स्वर्लोकः' (स्वर्गलोक है) इत्यादि स्तुति है, वैसे ही रसतमत्व आदि गुणोंसे उद्गीथ आदिकी स्तुति है, ऐसा अर्थ है। स्तुतिमें

भाष्य

र्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति, स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात्। विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र। प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानाऽनर्थिकैव स्यात्। इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसंनिधावेवाम्नातमिति वैषम्यम्। तस्मात् विध्यर्था एवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

कहते हैं, इन श्रुतिवाक्योंका केवल स्तुति ही प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि वे अपूर्व हैं। इन श्रुतियोंको विध्यर्थक माननेपर अपूर्व अर्थका विधान होता है। यदि वे स्तुत्यर्थक मानी जायँ, तो निरर्थक होंगी, क्योंकि विध्यर्थकशब्दके वाक्यशेषताको प्राप्त होनेवाली स्तुति उपयुक्त होती है, ऐसा 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' (विधियोंके स्तावकरूपसे विधिवाक्योंके साथ एकवाक्यता होनेसे अर्थवाद वाक्योंकी सार्थकता होती है) इत्यादि सूत्र कहा है। परन्तु एक प्रदेशमें विहित उद्गीथ आदिकी अन्य प्रदेशमें पठित यह स्तुति एकवाक्यता प्राप्त न करनेसे निरर्थक ही होगी। 'इयमेव जुहूः' (यह पृथिवी ही जुहू है) इत्यादि तो विधिकी सन्निधिमें ही कहा गया है, यह वैलक्षण्य है। इसलिए इस प्रकारके श्रुतिवाक्य विध्यर्थक ही हैं ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

गुणैः स्तुतिरित्यर्थः। स्तुतिलक्षणातो वरं विधिकल्पनम्, अनुष्ठानफललाभादिति सिद्धान्तयति—नहि स्तुतीति। पूर्वपक्षे त्वननुष्ठानं फलम्, सिद्धान्ते तु अनुष्ठानं फलमिति मन्तव्यम्। स्तावकत्वेनाऽर्थवत्त्वं किं न स्यादित्यत आह—विधायकस्येति। युक्तम् 'इयमेव जुहूः' इत्यादिश्रुतीनां फलवज्जुह्वादिविधिप्रकरणस्थतया स्तावकत्वेनाऽर्थवत्त्वम्। रसतमादिश्रुतीनां तु क्रत्वङ्गविधिप्रकरणस्थत्वाभावात् फलवदपूर्वोपास्तिविधायकत्वमेव युक्तम्, क्रत्वन्तरश्रुतिवत् इति भावः ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

लक्षणा माननेकी अपेक्षा विधिकी कल्पना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि अनुष्ठानरूप फलकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"नहि स्तुति" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें अननुष्ठान, फल है और सिद्धान्तमें अनुष्ठान फल है, यह जानना चाहिए। स्तावक मानकर अर्थवत्ता क्यों नहीं होगी? इसपर कहते हैं—"विधायकस्य" इत्यादिसे। फलवत् जुहू आदिके प्रकरणमें होनेसे 'इयमेव जुहूः' इत्यादि श्रुतियोंके स्तावकत्वरूपसे अर्थवत्ता युक्तियुक्त है, परन्तु रसतमादि श्रुतियाँ तो क्रत्वङ्ग विधिके प्रकरणमें नहीं होनेसे अन्य क्रतुकी श्रुतिके समान फलवान् अपूर्व उपासनाकी विधायक ही हैं, ऐसा मानना युक्त है, यह भाव है ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

पदच्छेद—भावशब्दात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, भावशब्दात्—'उद्गीथोपासीत' 'सामोपासीत' इत्यादिविधायकशब्दात् [गुणविधायकमेव 'स एष रसानाम्' इत्यादिवाक्यमिति भावः] ।

भाषार्थ—और 'उद्गीथोपासीत' 'सामोपासीत' इत्यादि विधायकशब्दसे भी 'स एष' इत्यादि वाक्य गुणविधायक ही है ।

भाष्य

'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'सामोपासीत' (छा० २।२।१) 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्येरन् । तथा च न्यायविदां स्मरणम्—

भाष्यका अनुवाद

'उद्गीथमुपासीत' (उद्गीथकी उपासना करे), 'सामोपासीत०' (सामकी उपासना करे), 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (मैं उक्थ हूँ, ऐसा ध्यान करे) इत्यादि विस्पष्ट विधिशब्दोंका श्रवण है । और उनका प्रयोजन केवल स्तुति ही

रत्नप्रभा

किं चात्र विधिः कल्प्य इति कृत्वाचिन्तयोक्तम्, वस्तुतस्तु न कल्प्यः, क्लृप्तत्वात् इत्याह—*भावेति* । न चैवमुपासनाविधिस्तावकत्वं रसतमादिश्रुतीनाम् इति सांप्रतम् । विध्यपेक्षितविषयार्थकत्वसंभवे स्तुतिलक्षणायोगादिति भावः । 'देवो मदिष्टं कुर्यात्' इति प्रार्थनादावपि लिङादिप्रयोगात् 'उपासीत' इत्यादिशब्दानां कथं विधिपरत्वनिश्चय इत्यत आह—*तथा चेति* । एतत्—लिङादिकम् वेदेषूत्सर्गतः

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, यहांपर कृत्वाचिन्तासे 'विधिकी कल्पना करनी चाहिए' इस प्रकार कहा गया है । वस्तुतस्तु विधिके क्लृप्त होनेसे वह कल्प्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"भाव" इत्यादिसे । रसतमादि श्रुतियोंको उपासनाविधिकी स्तावक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि विधिमें अपेक्षित विषयार्थकत्वके सम्भव होनेसे स्तुतिमें लक्षणाका असम्भव है, यह भाव है । 'देवो मदिष्टं कुर्यात्' (देव मेरा इष्ट करे) इत्यादि प्रार्थनामें भी लिङ् आदिका प्रयोग होता है, तो 'उपासीत' इत्यादि शब्द विधिपरक हैं, यह निश्चय कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । एतत्—लिङ् आदि वेदोंमें सर्वत्र स्वभावतः नियमसे ही इष्ट-

भाष्य

'कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत् स्यादिति पञ्चमम् ।
एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥' इति ।

लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति । प्रतिप्रकरणं च

भाष्यका अनुवाद

हो, तो उनका व्याघात होगा। इसी प्रकार न्यायवेत्ता स्मरण करते हैं—'कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत्०' (कुर्यात्—करे, क्रियेत–किया जाय, कर्तव्यम्—करना चाहिए, भवेत्—हो और पाँचवाँ स्यात्—हो, सब वेदोंमें यह निश्चित विधिलक्षण है) इस प्रकार लिङ् आदिका अर्थ विधि है, ऐसा मानते हुए वे इस प्रकार

रत्नप्रभा

सर्वतो नियमेनेष्टसाधनत्वाख्यविधेर्लक्षणं ज्ञापकं स्यात् । उपपदादिबाधके त्वन्यार्थपरमित्यर्थः । तदिदमाह—लिङादीति । न च श्लोके 'पञ्चमम्' इत्युक्तेः पञ्चपदानामेव विधिलक्षणत्वम्, नोपासीतेत्यादीनामिति भ्रमितव्यम् । क्रियासामान्यवाचिनां कृभ्वस्तीनामुदाहरणेन सर्वधातूपरक्तलिङादीनां विधिलक्षणत्वस्य विवक्षितत्वात् । पञ्चमपदं तूक्तापेक्षया श्लोकपूरणार्थं 'मृत्युर्धावति पञ्चमः' इतिवत् । यद्यपि 'डुकृञ्' करणे इति धातोरेव करणशब्दितभावनाख्यक्रियासामान्यवाचित्वम्, नेतरयोर्धात्वोः, 'भू' सत्तायाम् 'अस्' भुवि इत्यर्थान्तरोक्तेः । तथापि जन्माख्यभवनस्य तत्फलस्यास्तित्वस्य च प्रयोज्यनिष्ठस्य प्रयोजकव्यापारात्मकभावनाव्याप्तत्वात् तयोः क्रियासामान्यवाचित्वव्यवहारः । तत्र कुर्यादिति प्रकृत्यर्थभावनाख्याते-

रत्नप्रभाका अनुवाद

साधनत्वाख्यविधिके लक्षण—ज्ञापक होंगे, उपपद आदिके बाधक होनेपर तो अन्यार्थपरक होंगे, यह अर्थ है। यही कहते हैं—"लिङादि" इत्यादिसे। परन्तु श्लोकमें 'पञ्चमम्' इस शब्दके कथनसे 'कुर्यात्' आदि पांच पदोंमें ही विधिज्ञापकता है, 'उपासीत' इत्यादिमें नहीं है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि सामान्य क्रियाके वाचक कृ, भू आदिके उदाहरण होनेसे सब धातुओंके साथ सम्बद्ध लिङ् आदि विधिके ज्ञापकत्वरूपसे विवक्षित हैं। 'मृत्युर्धावति पञ्चमः' (पाँचवीं मृत्यु दौड़ती है) इसके समान पञ्चमशब्द उक्तकी अपेक्षासे श्लोककी पूर्तिके लिए है। यद्यपि 'डुकृञ्' करणे इसी धातुमें करण शब्दसे उक्त सामान्य भावनारूप क्रियाकी वाचकता है, इतरमें नहीं, क्योंकि 'भू' सत्तायाम् 'अस्' भुवि इस प्रकार अन्य अर्थका अभिधान है, तथापि प्रयोज्यनिष्ठा—प्रेरितमें रहनेवाला जन्मरूप भवन और उसके फलीभूत अस्तित्व प्रयोजककी व्यापाररूप भावनासे व्याप्त है, इसलिए 'भू' और 'अस्' धातु भी सामान्य क्रियावाचक हैं, यह व्यवहार होता है। उसमें 'कुर्यात्' इस

रत्नप्रभा

नाऽनूद्यते, यथा द्वाविति प्रयोगे प्रकृत्यर्थो द्वित्वं प्रत्ययेनानूद्यते, तद्वत् लिङा च तस्या इष्टसाधनत्वाख्यविधिर्बोध्यते। कर्ता तु तयाऽऽक्षिप्यते. इति आक्षिप्तकर्तृका भावना उदाहृता। तथा क्रियेतेत्यत्रापि प्रकृतिप्रत्ययार्थौ व्याख्यातौ। कर्माऽत्र प्राधान्येनाक्षिप्यते इत्याक्षिप्तकर्मिका भावना उदाहृता। आख्यातानां कर्त्रादिकारके शक्त्यभावात् कर्तृकर्मणोराक्षेप एवेति मीमांसकमतम्। कर्तव्यमिति कृत्यप्रत्ययेन कर्मकारकमुच्यते। तस्योपसर्जनत्वेन प्रकृत्या भावनोक्तेति भेदः। तदा दण्डी भवेत्, भूयेत दण्डिना भवितव्यमित्युदाहर्तव्यम्। तथा स्याद्, भूयेत, भवितव्यमित्यस्तिधातोरप्युदाहरणं द्रष्टव्यम्, अस्तेर्भूरादेशात्। एतद्धातुत्रयोपरक्तलिङादिभिः सर्वधात्वर्थोपरक्तभावनागतेष्टसाधनत्वरूपो विधिरेक एवोच्यते। धातूनां प्रत्ययानां कर्त्रादिकारकाणां च भेदेऽपि विधिभेदो नास्तीति ज्ञापनार्थं प्रतिधातूदाहरणत्रयं दर्शितमिति सर्वमवदातम्। एवं सूत्रे भावो विधिरिति व्याख्याय चशब्दात् फलमिति व्याचष्टे—प्रतिप्रकरणं चेति। एषः ऋत्विगुपासकः कामागानस्य—गानेन फलसंपादनस्य ईष्टे समर्थ इत्यर्थः। एवमङ्गाश्रितविद्या अपि स्वतन्त्रफलाः

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार प्रकृत्यर्थ भावना आख्यातसे अनूदित होती है, जैसे 'द्वौ' इस प्रयोगमें प्रकृत्यर्थद्वित्व प्रत्ययसे अनूदित होता है, इस रीतिसे लिङ्से उसकी इष्टसाधनत्वरूप विधिका बोध होता है। और कर्ता उस भावनासे आक्षिप्त होता है, इस प्रकार आक्षिप्तकर्तृक भावनाका उदाहरण दिया गया। वैसे क्रियेत इसमें भी प्रकृति और प्रत्ययार्थका व्याख्यान किया गया। प्रधानतः यहाँ कर्मका आक्षेप होता है, इस प्रकार आक्षिप्तकर्तृक भावनाका भी कथन हुआ। आख्यातोंकी कर्तृ आदि कारकमें शक्ति नहीं होनेसे कर्ता और कर्मका आक्षेप ही होता है, इस प्रकार मीमांसकोंका मत है। 'कर्तव्यम्' इसमें कृत्य प्रत्ययसे कर्मकारक कहा जाता है। वह उपसर्जन होनेसे प्रकृतिसे भावना उक्त है, इस प्रकार भेद है। वैसे 'दण्डी भवेत्' (दण्डी हो) 'भूयेत' 'दण्डिना भवितव्यम्' इत्यादिका उदाहरण देना चाहिए। इसी प्रकार 'अस्' धातुका भी 'स्यात्' 'भूयेत' 'भवितव्यम्' इस प्रकार उदाहरण देना चाहिए, क्योंकि अस्के स्थानमें भू आदेश होता है इन तीन धातुओंसे उपरक्त लिङ् आदिसे सब धात्वर्थसे उपरक्त भावनागत इष्टसाधनत्वरूप एक विधि कही जाती है। धातु, प्रत्यय और कर्तृ आदि कारकोंका भेद होनेपर भी विधिका भेद नहीं है, इस प्रकार बोधन करनेके लिए प्रत्येक धातुके तीन उदाहरण दिखलाए गए हैं। इस प्रकार सूत्रमें भाव शब्दका अर्थ विधि है, ऐसा व्याख्यान करके चशब्दसे फलकी व्याख्या करते हैं—"प्रतिप्रकरणञ्च" इत्यादिसे। एषः—ऋत्विगुपासक कामागानस्य—गानसे फल सम्पादनमें इष्टे-समर्थ है, यह अर्थ है। इसी प्रकार अङ्गाश्रित विद्याएँ भी स्वतन्त्र फलवाली हैं, तो अनङ्ग

भाष्य

फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) 'एष ह्येव कामागानस्येष्टे' (छा० १।७।९) कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

भाष्यका अनुवाद

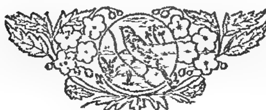
स्मरण करते हैं। और प्रत्येक प्रकरणमें 'आपयिता ह वै०' ([जो विद्वान्—जाननेवाला इस आप्तिगुणविशिष्ट उद्गीथ अक्षरकी उपासना करता है] वह उस उद्गीथ द्वारा यजमानके कामोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है), 'एष ह्येव०' (क्योंकि यह उद्गाता कामोंका सम्पादन करनेमें समर्थ होता है), 'कल्पन्ते हास्मै लोका' (उपासकको ऊर्ध्व और आवृत्त लोक भोग्यरूपसे प्राप्त होते हैं) इत्यादि फलोंका श्रवण कराया जाता है। उससे भी उद्गीथादि श्रुतियां उपासनाका विधान करनेके लिए हैं ॥ २२ ॥

रत्नप्रभा

किमु वक्तव्यमनङ्गात्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति। आत्मविद्यास्वातन्त्र्ये चिन्ताया अस्याः पर्यवसानात् पादसङ्गतिर्बोध्या ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आत्मविद्या स्वतन्त्र है, इसमें कहना ही क्या है। इस विचारका आत्मविद्याके स्वातन्त्र्यमें तात्पर्य होनेसे पादसङ्गति जाननी चाहिए ॥ २२ ॥



[४ पारिप्लवाधिकरण सू० २३–२४]

पारिप्लवार्थमाख्यानं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः ।
ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥ १ ॥
मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात् ।
*अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावात् विद्यास्तुतिर्भवेत् * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आख्यान पारिप्लवके लिए हैं, अथवा विद्यास्तुतिके लिए हैं।

पूर्वपक्ष—विद्यास्तुतिकी अपेक्षासे आख्यानको पारिप्लवनामक कर्मका अङ्ग मानना ही ठीक है।

सिद्धान्त—उस आख्यानमें 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इस प्रकार विशेषण होनेसे और यहाँ विद्याके साथ एकवाक्यता होनेसे विद्याकी स्तुति ही है।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—पारिप्लवार्थाः, इति, चेत्, न, विशेषितत्वात्।

पदार्थोक्ति—पारिप्लवार्थाः—अथ ह याज्ञवल्क्यस्येत्याद्याख्यायिकाः पारिप्लवाऽऽख्यकर्माङ्गानि इति चेत्, न—इत्येवं केनचित् शङ्क्येत तदा तथा नाऽऽशङ्कनीयम् [कुतः ?] विशेषितत्वात्—'पारिप्लवमाचक्षीत' इत्युपक्रम्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्यादिवाक्यशेषे केषाञ्चिदेव पारिप्लवशेषत्वेन विशेषितत्वात् [अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे यन्नानाविधकथाकथनं तत् पारिप्लवाख्यं कर्म]।

भाषार्थ—*'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये'* (याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं) इत्यादि आख्यायिकाएँ पारिप्लवनामक कर्मकी अङ्ग हैं, इस प्रकार यदि कोई आशङ्का करे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'पारिप्लवमाचक्षीत' (पारिप्लव—कथा कहे) इत्यादिसे उपक्रम करके *'मनुर्वैवस्वतो राजा'* (विवस्वान्‌का पुत्र मनु राजा) इत्यादि वाक्यशेषमें कुछ आख्यायिकाओंका विशेषरूपसे उपादान किया गया है। अश्वमेधयज्ञमें पुत्रादिपरिवार युक्त राजाके लिए कथाओंका कहना—यह पारिप्लवनामक कर्म है।

* भाव यह है कि—*'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु'*—*'जनको ह वैदेह आसांचक्रे'* (याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियां थीं, विदेह—जनक बैठते थे) इत्यादि उपनिषद्में जो आख्यान सुना

भाष्य

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' (बृ० ४।५।१) 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' (कौपी० ३ । १) जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' (छा० ४।१।१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वाख्यानेषु संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित् संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति ।

भाष्यका अनुवाद

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य०' (याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियां थीं, मैत्रेयी और और कात्यायनी), 'प्रतर्दनो ह वै०' (दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन इन्द्रके प्रिय स्थान स्वर्गमें गया), 'जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः (जानश्रुतके पुत्रका पौत्र श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणादिको दान देनेवाला, बहुत दान देनेवाला था और उसके यहां प्रतिदिन भोजनार्थियोंके लिए बहुत अन्न पकता था) इत्यादि वेदान्तपठित आख्यानोंमें संशय है कि क्या ये आख्यान पारिप्लवके प्रयोगके लिए हैं या सन्निहित विद्याकी स्तुतिके लिए हैं ?

रत्नप्रभा

पारिप्लवार्थाः० । अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय राज्ञे 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति नानाविधाख्यानकथनात्मकः पारिप्लवप्रयोगो विहितः। तथा च वेदान्तस्थकथानामाख्यानत्वसामान्यात् विद्यासन्निधानाच्च संशयमाह—किमिति । पूर्वं स्तुत्यपेक्षया

रत्नप्रभाका अनुवाद

"पारिप्लवार्थाः०" अश्वमेधमें पुत्र आदिसे युक्त राजासे 'पारिप्लवमाचक्षीत' (पारिप्लव कहे) इससे अनेकविध आख्यानकथनरूप पारिप्लव नामके प्रयोगका विधान किया गया है। वैसे वेदान्तोंमें उक्त कथाएँ भी इन आख्यानोंके समान आख्यान है और विद्याका

जाता है, वह पारिप्लवार्थ होगा। अश्वमेधयागमें कुटुम्ब सहित राजाको बैठाकर रातमें उसके सामने वैदिक उपाख्यान अध्वर्यु कहे, यह पारिप्लव नामक कर्म 'पारिप्लवमाचक्षीत' इस वाक्यसे विहित है। ऐसा होनेपर औपनिषद् आख्यान अनुष्ठानके लिए उपयुक्त होंगे। और विद्यास्तुतिकी अपेक्षासे अनुष्ठान श्रेष्ठ भी है, इससे आख्यान पारिप्लवार्थ हैं—'कथाकथनरूप पारिप्लव के लिए है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—पारिप्लवार्थ जो आख्यान होते हैं उनका प्रथम दिनमें 'मनुर्वैवस्वतो राजा' (विवस्वान्‌का पुत्र मनु राजा) दूसरे दिनमें 'यमो वैवस्वतो राजा' (विवस्वान्‌का पुत्र राजा यम) इस प्रकार विशेषण किया गया है। इससे उपनिषद्‌के आख्यानोंकी पारिप्लवार्थता नहीं है। और सन्निहित विद्याके स्तावकत्वमें तो विद्यावाक्यके साथ एकवाक्यता लक्षित होती है। इससे विद्याके स्तावक ही आख्यान हैं।

भाष्य

पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः, आख्यानसामान्यात्, आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्। ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात्, मन्त्रवत् प्रयोगशेषत्वादिति चेत्, तन्न; कस्मात्? विशेषितत्वात्। तथा हि 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्येवमा-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ये आख्यानश्रुतियां पारिप्लवार्थ हैं, क्योंकि उनमें आख्यानोंका साजात्य है और आख्यानका प्रयोग पारिप्लवमें विहित है। उसी कारण वेदान्तविद्या मन्त्रोंके समान प्रयोगशेष होनेसे प्रधान नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। किससे? विशेषित होनेसे, क्योंकि 'पारिप्लवमाचक्षीत' (पारिप्लवको कहे) ऐसा आरम्भ करके 'मनुर्वैव-

---

रत्नप्रभा

विधिर्ज्यायान्, अनुष्ठानलाभात् इत्युक्तम्। तथैव कथानां न विद्यास्तावकत्वम्, पारिप्लवानुष्ठानलाभात्, इति पूर्वपक्षः। तत्र फलमाह—ततश्चेति। यथा 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्यादिमन्त्रे कस्यचित् पदस्य प्रयोगसमवेतार्थतया शेषस्य प्रयोगाङ्गत्वम्, तथा वेदान्तस्थकथानां प्रयोगशेषत्वम् तदेकवाक्यतया सर्ववेदान्तानां कर्मशेषत्वात्, न विद्याप्राधान्यमित्यर्थः। कथानां गुरुशिष्यसमाचारप्रदर्शनेन बुद्धिसौकर्यद्वारा सन्निहितविद्याशेषत्वात् न पारिप्लवार्थत्वम्, सामर्थ्यलिङ्गात्, अतो विद्याप्राधान्यमिति फलं मत्वा सिद्धान्तयति—तन्नेत्यादिना। अश्वमेधे प्रथमेऽहनि 'मनुर्वैवस्वतः' इति कथां ब्रूयात्, द्वितीयेऽहनि 'यमो वैवस्वतः' इति, तृतीयेऽहनि

रत्नप्रभाका अनुवाद

सन्निधान है, इसलिए संशय कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। पूर्वके अधिकरणमें स्तुतिकी अपेक्षा विधि श्रेष्ठ है, क्योंकि अनुष्ठानका लाभ है, ऐसा कहा गया है, वैसे कथाओंसे विद्याओंकी स्तुति नहीं की जाती है, क्योंकि पारिप्लवानुष्ठानका लाभ है, इस प्रकार पूर्वपक्ष है। उसमें फल कहते हैं—"ततश्च" इत्यादिसे। जैसे 'देवस्य त्वा सवितुः' इत्यादि मन्त्रमें कोई एक ही पद प्रयोग समवेतार्थ है, अतः शेष प्रयोगान्तर है, वैसे वेदान्तोंमें उक्त कथाएँ प्रयोगशेष हैं और उनके साथ एकवाक्यतासे सब वेदान्त कर्मशेष हैं, अतः विद्याका प्राधान्य नहीं है, ऐसा अर्थ है। कथाएँ गुरु और शिष्यके समाचारके प्रदर्शनसे बुद्धिसौकर्य द्वारा सन्निहित विद्याकी अङ्ग हैं, अतः पारिप्लवार्थता नहीं है, क्योंकि सामर्थ्यरूप लिङ्ग है, इसलिए विद्याके प्राधान्यको ही फल मानकर सिद्धान्त करते हैं—"तन्न" इत्यादिसे। अश्वमेधमें प्रथम दिनमें

भाष्य

दीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते । आख्यानसामान्याच्चेत् सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत् । तस्मात् न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्वतो राजा' (विवस्वान्का पुत्र राजा मनु) इत्यादि कितने ही आख्यान श्रुतिमें विशेषित किये जाते हैं। यदि आख्यानत्वरूप समान धर्मसे सब आख्यानोंका ग्रहण हो, तो यह विशेषण निरर्थक ही होगा। इसलिए ये आख्यानश्रुतियां पारिप्लवार्थक नहीं हैं ॥२३॥

रत्नप्रभा

'वरुण आदित्यः' इति च वाक्यशेषे कथानां विशिष्योक्तत्वात् उपक्रमस्य संकोचो युक्त इति भावः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'मनुर्वैवस्वतः' इत्यादि कथा कहे, द्वितीय दिनमें 'यमो वैवस्वतः' इत्यादि कहे और तृतीय दिनमें 'वरुण आदित्यः' इत्यादि कथा कहे, इस प्रकार वाक्यशेषमें विशेषरूपसे कथाओंका कथन होनेसे उपक्रमका संकोच युक्त है, ऐसा भाव है ॥२३॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—तथा, च, एकवाक्यतोपबन्धात् ।

पदार्थोक्ति—तथा च—एवञ्च [उक्तप्रणाल्या पारिप्लवार्थत्वाभावे सति सन्निधिबलात् विद्यास्तुत्यर्थत्वमाख्यायिकानां युक्तम् , कुतः ?] एकवाक्यतोपबन्धात्—सन्निहिततत्तद्विद्यैकवाक्यत्वदर्शनात् ।

भाषार्थ—चूंकि उक्त प्रणालीसे उक्त आख्यायिकाएँ पारिप्लवके लिए नहीं हैं, इससे विद्यास्तुत्यर्थ ही उनको मानना चाहिए, क्योंकि सन्निहित तत्तद्विद्याओंके साथ एकवाक्यताका अवगम होता है।

भाष्य

असति च पारिप्लवार्थत्वे आख्यानानां संनिहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या एकवाक्यतोपबन्धात्, तथा हि तत्र तत्र संनिहिताभि-

भाष्यका अनुवाद

आख्यानोंके पारिप्लवार्थक न होनेपर उनका सन्निहित विद्याके प्रतिपादनमें उपयोगी होना ही योग्य है। क्योंकि एकवाक्यताका उपसम्बन्ध है, कारण कि

भाष्य

विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात् प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च । मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४ । ५ । ६) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते । प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया, जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४ । ३ । १) इत्याद्यया, यथा च 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां संनिहितविधिस्तुत्यर्थता, तद्वत् । तस्मात् न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

भाष्यका अनुवाद

उस प्रदेशमें सन्निहित विद्याओंके साथ उन-उन आख्यानोंकी, प्रीति उत्पन्न करनेके लिए और ज्ञानसौकर्यके लिए उनका उपयोग होनेसे एकवाक्यता दीखती है । मैत्रेयी ब्राह्मणमें 'आत्मा वा अरे०' (हे मैत्रेयी आत्माका दर्शन—अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिए) इत्यादि विद्याके साथ (आख्यानकी) एकवाक्यता दीखती है । प्रातर्दन ब्राह्मणमें भी 'प्राणोऽस्मि०' (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ) इत्यादि विद्याके साथ एकवाक्यता दीखती है, और 'जानश्रुतिः' इस आख्यानमें भी 'वायुर्वाव संवर्गः' (वायु ही संवर्ग है) इत्यादि विद्याके साथ एकवाक्यता दीखती है । जैसे 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' (उस प्रजापतिने होमके लिए अपनी वपाका उद्धरण किया) इत्यादि कर्मश्रुतिमें आये हुए आख्यान समीपवर्ती विधिकी स्तुतिके लिए हैं, वैसे ही ये आख्यान समीपवर्ती विद्याकी स्तुतिके लिए हैं इससे सिद्ध हुआ कि आख्यान पारिप्लवार्थक नहीं हैं ॥२४॥

रत्नप्रभा

क्व तर्हि कथानां विनियोगः इत्याशङ्क्य सन्निधानात् विद्यासु, इत्याह—तथा चेति । प्ररोचनम्—प्रीतिजननम् । 'स प्रजापतिर्वपामुदखिदत्' होमायोद्धृतवानित्यस्य 'प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' इति विधिशेषत्वम् । एवमन्येषां तत्तद्विधिशेषत्वं द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो कथाओंका कहाँ विनियोग है ? इसप्रकार आशङ्का करके सान्निध्यसे विद्याओंमें विनियोग है, ऐसा कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । प्ररोचन—प्रीतिजनन । स.—प्रजापतिने । वपामुदखिदत्—वपाको [होमकेलिए] उद्धृत किया, इसमें 'प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' यह विधिका शेषता है, वैसे अन्य वाक्योंमें भी तत्तद्विधिशेषता है, यह समझना चाहिए ॥२४॥

[५ अग्नीन्धनाद्यधिकरण सू० २५]

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा ह्यपेक्षते ।
अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥ १ ॥
अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः ।
*नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आत्मज्ञान अपने फलके—मोक्षके उत्पादनमें कर्मकी अपेक्षा रखता है, अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—कर्मकी अपेक्षा रखता है, क्योंकि जो अङ्गी है वह अङ्गोंकी अपेक्षा रखता है, यह प्रयाजादिमें देखा जाता है ।

सिद्धान्त—अविद्या और अन्धकारके नाशमें ज्ञान और दीपका नैरपेक्ष्य—स्वातन्त्र्य देखा जाता है, अतः फलोत्पादनमें विद्या भी निरपेक्ष ही कारण होगी ।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च । अत एव—प्रथमाधिकरणोक्तात् स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वादेव [ब्रह्मविद्यायाः] अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा—स्वस्वाश्रमविहितकर्मानपेक्षा ।

भाषार्थ—और प्रथम अधिकरणमें ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र पुरुषार्थहेतु है, यह कहा गया है, इसीलिए अपने अपने आश्रममें विहित कर्मोंकी ब्रह्मविद्या अपेक्षा नहीं रखती है ।

---

* भाव यह है कि ब्रह्मतत्त्वावबोध अपने फलके प्रदानमें अपने अङ्गभूत कर्मकी अपेक्षा करता है, अङ्गी होनेसे, प्रयाजसापेक्ष दर्शपूर्णमास आदिके समान । यद्यपि प्रथमाधिकरणमें विद्याके स्वतन्त्र पुरुषार्थत्वका प्रतिपादन होनेसे कर्माङ्गत्वका निराकरण किया गया है, तथापि अङ्गित्वका निराकरण नहीं किया गया है, इससे हेतु असिद्ध नहीं है, इसलिए आत्मतत्त्वज्ञान कर्मकी अपेक्षा करता है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि विप्रतिपन्न ब्रह्मज्ञान अपने विरोधी पदार्थके निवर्तनमें अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है, प्रकाशस्वरूप होनेसे, दीपके समान अथवा घटज्ञानके समान, और अङ्गित्व प्रयुक्त जो शङ्का की गई है उसपर यह प्रष्टव्य है—कर्ममें कैसा अङ्गत्व अभिप्रेत है ? क्या प्रयाज आदिके समान फलोपकारित्वरूप अङ्गत्व अभीष्ट है अथवा अवघात आदिके समान स्वरूपोपकारित्वरूप अङ्गत्व अभीष्ट है, प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मजन्य होनेसे मुक्ति

भाष्य

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत इति परामृश्यते। अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

'पुरुषार्थोऽतः' (इस औपनिषद आत्मज्ञानसे पुरुषार्थ प्राप्त होता है) यद्यपि यह पुरुषार्थाधिकरण व्यवहित—दूरस्थ है, तो भी सम्भव होनेसे सूत्रमें 'अतः' इस पदसे इसका परामर्श होता है। इसीसे ही—विद्याके पुरुषार्थहेतु होनेसे ही—अग्नीन्धन आदि आश्रमकर्म विद्याकी स्वार्थसिद्धिके लिए अपेक्षित नहीं है, इत्यादि आद्य अधिकरणके फलका, अधिक कहनेकी इच्छासे उपसंहार करते हैं ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

एवमाद्याधिकरणप्रमेयं विद्यास्वातन्त्र्यमधिकरणत्रयेण दृढीकृत्य आद्याधिकरणस्य फलमाह—अत एवेति। ब्रह्मविद्या स्वफले मोक्षे जनयितव्ये सहकारित्वेन कर्माण्यपेक्षते न वेति वादिविवादात् संशये 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसः' इत्यादिश्रुत्या ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षप्राप्तिकथनादपेक्षत इति प्राप्ते विद्याया मुक्तिहेतुत्वादविद्यानिवृत्त्याख्यमुक्तौ न कर्मापेक्षेति सिद्धान्तयति—पुरुषार्थ इति। अग्नीन्धनपदेन तत्साध्यकर्माणि लक्ष्यन्ते। पुण्यकृत्तैजसः—शुद्धसत्त्वो ब्रह्मविद् भूत्वा तेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त प्रकारसे प्रथम अधिकरणका विद्यास्वातन्त्र्यरूप प्रमेयका तीन अधिकरणोंसे दृढीकरण करके आद्य अधिकरणका फल कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। ब्रह्मविद्या मोक्षरूप अपने फलके उत्पादनमें सहकारिरूपसे कर्मोंकी अपेक्षा करती है या नहीं? इस प्रकार वादीके विवादसे संशय होनेपर 'तेनैति' इत्यादिश्रुतिसे ज्ञानकर्मके समुच्चयसे मोक्ष प्राप्तिकी उक्ति होनेसे 'ब्रह्मविद्या कर्मोंकी अपेक्षा करती है' इस प्रकार प्राप्त होनेपर विद्या मोक्षकी हेतु होनेसे अविद्यानिवृत्तिरूप मुक्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करती है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"पुरुषार्थ" इत्यादिसे। अग्नीन्धनपदसे उससे साध्य कर्म लक्षित होते हैं। पुण्यकृत्तैजस—शुद्धसत्त्व ब्रह्मवित् होकर उस वेदनसे ब्रह्मको प्राप्त करता है, इस प्रकार

अनित्य हो जायगी, द्वितीय पक्ष भी दुष्ट है, क्योंकि दृष्टान्तासिद्धि होगी—मद्यपान आदिमें प्रयाजादिका स्वरूपोपकार्यकत्व नहीं है, इससे विद्या—आत्मतत्त्वबोध—स्वकीय फलके उत्पादनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करती है।

रत्नप्रभा

वेदनेन एति ब्रह्म प्राप्नोतीति श्रुतिर्व्याख्येयेति भावः। मुक्तावेव कर्मणामसामर्थ्यादनपेक्षा, विद्यायां त्वस्ति चित्तशुद्धिद्वारा तेषामपेक्षेत्यधिकं वक्तुमयमुपसंहार इति उपसंहारसूत्रस्य फलमाह—अधिकेति ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिकी व्याख्या करनी चाहिए, यह भाव है। मुक्तिमें ही कर्मोंकी सामर्थ्य न होनेसे अनपेक्षा हो, परन्तु विद्यामें, तो चित्तशुद्धि द्वारा कर्मोंकी अपेक्षा है, इस प्रकार अधिक कहनेके लिए यह उपसंहार है, ऐसा उपसंहारसूत्रका फल कहते हैं—"अधिक" इत्यादिसे ॥२५॥



[६ सर्वापेक्षाधिकरण सू० २६–२७]

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते ।
फले यथानपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥ १ ॥
यज्ञशान्त्यादिसापेक्षं विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् ।
हलेऽनपेक्षितोऽप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मतत्त्वावबोध अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा करता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—जैसे ब्रह्मविद्या अपने फलके उत्पादनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करती, वैसे ही अपनी उत्पत्तिमें भी कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करती है।

सिद्धान्त—दो श्रुतियोंके प्रमाणसे यज्ञ, शान्ति आदि की अपेक्षासे ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है, जैसे हल आदिमें अनपेक्षित अश्व रथमें अपेक्षित होता है।

---

* भाव यह है कि ब्रह्मविद्या अपने फलके उत्पादनमें जैसे कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करती है, वैसे ही अपनी उत्पत्तिमें भी वह कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करेगी, यदि ऐसा नहीं माना जाय, तो कहीं अपेक्षा करेगी और कहीं नहीं करेगी, इस प्रकार अर्धजरतीय दोष की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—अर्धजरतीय दोष नहीं है, क्योंकि योग्यताके सामर्थ्यसे एक ही वस्तुकी कार्यविशेषमें अपेक्षा और अनपेक्षा दोनों हो सकती हैं, जैसे लाङ्गल—हलके वहन करनेमें यद्यपि अश्व अनपेक्षित है, तो भी रथके वहनमें अपेक्षित है, वैसे ही विद्याके फलमें अनपेक्षित कर्म उसकी उत्पत्तिमें अपेक्षित हैं। यदि कोई शङ्का करे कि विद्योत्पत्तिमें कर्मकी अपेक्षा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन' (ब्राह्मण इस आत्माको स्वाध्यायसे, यज्ञसे और दान आदिसे जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतिसे प्रवृत्तिरूप वेदानुवचन आदि विविदिषाके उत्पादन द्वारा बहिरङ्ग साधन हैं, ऐसा ज्ञात होता है

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—सर्वापेक्षा, च, यज्ञादिश्रुतेः, अश्ववत् ।

पदार्थोक्ति—[विद्यायाः स्वोत्पत्तौ] सर्वापेक्षा—सर्वेषाम्—आश्रमकर्मणाम् अपेक्षा—आवश्यकता [अस्ति, कुतः ?] च—यतः यज्ञादिश्रुतेः—'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिना यज्ञादिकर्मणां विविदिषाद्वारा ज्ञानसाधनत्वश्रवणात्, [ननु मोक्षे कथं कर्मणामुपयोगो नास्तीत्यत आह—] अश्ववत्—यथा अश्वो योग्यताबलेन रथचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलादिकर्षणे तद्वत् [कर्मणां मोक्षे योग्यत्वाभावान्नापेक्षा इति भावः] ।

भाषार्थ—विद्या अपनी उत्पत्तिमें सभी आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा करती है, किससे ? इससे कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिसे विविदिषा द्वारा यज्ञादिमें ज्ञानसाधनत्वका श्रवण है । मोक्षमें कर्मोकी आवश्यकता क्यों नहीं है ? इसपर कहते हैं—'अश्ववत्' जैसे योग्यतासे घोड़ा रथमें ही जोता जाता है हलमें नहीं जोता जाता, वैसे ही कर्म भी अयोग्य होनेसे मोक्षमें अपेक्षित नहीं हैं ।

भाष्य

इदमिदानीं चिन्त्यते किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति । तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यायाः

भाष्यका अनुवाद

अब यह विचार किया जाता है कि क्या विद्याको आश्रमकर्मोंकी बिलकुल अपेक्षा नहीं है, या कुछ अपेक्षा है ? ऐसे दो पक्षोंके प्राप्त होनेपर इसीसे अग्नी-

---

रत्नप्रभा

अधिकमाह—सर्वापेक्षेति । यथा प्रमाफलत्वादविद्यानिवृत्तौ कर्मानपेक्षा, तथा प्रमात्वाद्विद्यायामपि प्रमाकरणमात्रसाध्यायां नास्ति कर्मापेक्षेति पूर्वपक्षः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधिक कहते हैं—"सर्वापेक्षा" इत्यादिसे । जैसे प्रमाका-विद्याका फल होनेसे अविद्यानिवृत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं है, वैसे प्रमात्व होनेसे प्रमाकरणमात्रसे साध्य विद्यामें भी कर्मोंकी

और 'शान्तो दान्तः' इत्यादिसे निवृत्तिरूप शमादि विद्याके उत्पत्तिकालमें अनुवर्तमान होनेसे अन्तरङ्ग साधन हैं, यह ज्ञात होता है । इससे विद्या अपनी उत्पत्तिमें यज्ञ आदि और शम आदिकी अपेक्षा करती है ।

भाष्य

स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते। एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते--सर्वापेक्षा चेति। अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि, नाऽत्यन्तमनपेक्षैव। ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाऽऽश्रमकर्माणि विद्या, नाऽपेक्षते चेति। नेति

भाष्यका अनुवाद

न्धन आदि आश्रमकर्मोंकी विद्याकी स्वार्थसिद्धिमें अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार अत्यन्त अनपेक्षा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'सर्वापेक्षा च'। विद्या सब आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा करती है; इससे उसको आश्रमकर्मोंकी बिलकुल अनपेक्षा नहीं है। किन्तु विद्याको आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा है और अपेक्षा नहीं है, यह कथन परस्पर विरुद्ध है। हम कहते हैं कि यह विरुद्ध नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

तत्र विद्यार्थं कर्मानुष्ठानासिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। अत्र विविदिषायाम्, इष्यमाणज्ञाने वा यज्ञादीनां कर्मणां हेतुत्वमपूर्वत्वाद् विधीयते। प्रमाया अपि उत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितक्षयाख्यशुद्धिद्वारा कर्मसाध्यत्वसंभवात्। न च पारम्पर्ये तृतीयाश्रुतिविरोधः, ज्वालाद्वारा पारम्पर्येऽपि काष्ठैः पचतीति प्रयोगात्, द्वारस्याऽव्यवधायकत्वात्। न च शुद्धेर्द्वारत्वे मानाभावः। "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते॥" इति स्मृतेः, "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" इत्यादिश्रुत्या कर्मणा पापनिवृत्तौ ज्ञानेन मुक्त्यभिधानाच्चेति सिद्धान्तयति—इदमिति। नन्वत्र "विविदिषन्ति" इति पञ्चमलकारेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

अपेक्षा नहीं है, यह पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें विद्याके लिए कर्मोंके अनुष्ठान की असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें कर्मानुष्ठानकी सिद्धि फल है, इस प्रकार फलभेद है। यहाँपर विविदिषामें अथवा इष्यमाण ज्ञानमें, अपूर्व होनेसे, यज्ञ आदि कर्महेतु हैं, इसका विधान किया जाता है, क्योंकि उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक पापनिवृत्तिरूप शुद्धि द्वारा प्रमा भी कर्मसाध्य हो सकती है। प्रमामें कर्म परम्परासे कारण हो तो 'यज्ञेन' इत्यादि तृतीया श्रुतिका विरोध होगा, यदि कोई इस प्रकार शङ्का करे, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि ज्वाला द्वारा ही काष्ठ पाकमें कारण है, तो भी 'काष्ठसे पकाता है' यह प्रयोग होता है, कारण कि जो द्वार होता है, वह व्यवधायक नहीं होता। शुद्धिके द्वारत्वमें प्रमाण नहीं है? ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसाम्०' (पापके क्षयसे पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है और कर्मोंसे पापके नष्ट होनेपर ज्ञान प्रवृत्त होता है) इत्यादि स्मृति और इसी प्रकार 'अविद्यया०' (कर्मसे मृत्यु—पापका अतिक्रमण करके ज्ञानसे अमृतको प्राप्त करता है) इत्यादिश्रुतिसे कर्मसे पापकी निवृत्ति होनेपर ज्ञानसे मुक्ति होती है, यह कहा गया है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"इदम्" इत्यादिसे। परन्तु 'विविदिषन्ति' इसमें पञ्चम (लेट्) लकारसे 'विविदिषा भावयेयुः'

भाष्य

ब्रूमः । उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षते, उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते । कुतः ? यज्ञादिश्रुतेः । तथा हि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४ । ४ । २२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति । विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते । 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८।५।१) इत्यत्र च विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद् यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते ।

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न हुई विद्या फलसिद्धिके लिए किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखती, परन्तु विद्या अपनी उत्पत्तिके लिए तो कर्मकी अपेक्षा रखती है । किससे ? यज्ञादिश्रुतिसे, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन०' (उस आत्माको ब्राह्मण वेदके नित्य स्वाध्यायसे, यज्ञसे और निष्काम तपसे जाननेकी इच्छा करते हैं) यह श्रुति यज्ञादि को विद्याके साधनरूपसे दिखलाती है । और विविदिषाके साथ इन यज्ञादिका संयोग होनेसे ये उत्पत्तिमें साधन हैं, ऐसा निश्चित होता है । 'अथ यद्यज्ञ०' (लोकमें शिष्ट पुरुष जिसको यज्ञ—परमपुरुषार्थसाधन कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है—यज्ञका फल ब्रह्मचर्यवान्को ही प्राप्त होता है) इसमें विद्याके साधनभूत ब्रह्मचर्यकी यज्ञादिसे स्तुति होनेसे, यज्ञादि भी विद्याके साधन हैं, ऐसा सूचित होता है । और

रत्नप्रभा

विविदिषां भावयेयुरिति सनर्थेच्छैव भाव्यतया भाति । तां विषयसौन्दर्यलभ्यतया उल्लङ्घ्य वेदनं चेद्भाव्यमुच्येत, तर्हि वेदनमप्युल्लङ्घ्य तत्फलं मोक्ष एव कर्मभिर्भाव्यः किं न स्यादित्यत आह—विविदिषासंयोगाच्चेति । इष्यमाणतया विद्यायाः शब्दतः फलत्वभावाद् अश्रुतमोक्षो न फलम्, अन्यथा 'काष्ठैः पचति' इत्यत्रापि काष्ठानां पाकफलतृप्तिहेतुत्वप्रसङ्गादिति भावः । कर्मणां ज्ञानार्थत्वे लिङ्गवाक्यान्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

(विविदिषा उत्पन्न करनी चाहिए) इस प्रकार सनर्थ—सन् प्रत्ययका अर्थ—इच्छा ही भाव्यरूपसे प्रतीत होती है । वह विषयके सौन्दर्यसे प्राप्त है, इसलिए उसका उल्लङ्घन करके वेदन—ज्ञान यदि भाव्यरूपसे कहा जाय, तो उसका भी उल्लङ्घन करके उसका फलीभूत मोक्ष ही कर्मोंसे भाव्य क्यों नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—"विविदिषासंयोगाच्च" इत्यादिसे । इष्यमाणरूपसे विद्या ही शब्दतः फलरूपसे ज्ञात होती है, अतः अश्रुत मोक्ष फल नहीं है । यदि ऐसा न माना जाय, तो 'काष्ठोंसे पकाता है' यहाँपर काष्ठोंमें भी पाकके तृप्तिरूप फल की

भाष्य

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥' (कठ० २।१५)
इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासाधनभावं सूचयति । स्मृतिरपि—

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥'

इत्येवमाद्या । अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम् । यथा च योग्यतावशेनाऽश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते, रथचर्यायां तु युज्यते, एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नाऽपेक्ष्यन्ते, उत्पत्तौ त्वपेक्ष्यन्ते इति ॥ २६ ॥

भाष्यका अनुवाद

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति०' (सब वेद—उपनिषद् जिस पदका—अविरोधसे मिलने योग्य स्थानका—प्रतिपादन करते हैं, और सब तप—कर्म जिसको कहते हैं—जिसकी प्राप्तिमें साधन हैं, जिसको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यका—गुरुकुलवासरूप नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस पद—प्राप्तव्य वस्तुको तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—ओमित्येतत्—वह ओम् है) इत्यादि श्रुति आश्रम कर्म विद्याके साधन हैं, ऐसा सूचित करती है । 'कषायपक्तिः०' (कर्म रागद्वेष आदिकी निवृत्ति करनेवाले हैं, किन्तु ज्ञान परम गति है—मोक्षसाधन है । कर्मोंसे पापका नाश होनेपर तदनन्तर ज्ञान प्रवृत्त होता है) इत्यादि स्मृति भी है । 'अश्वके समान' यह योग्यताके विषयमें दृष्टान्त है । जैसे योग्यताके कारण अश्व हल खींचनेमें नियुक्त नहीं किया जाता, परन्तु रथ खींचनेमें नियुक्त किया जाता है, इसी प्रकार आश्रमकर्म विद्याकी फलसिद्धिके लिए अपेक्षित नहीं हैं, परन्तु उत्पत्तिके लिए उनकी अपेक्षा है ॥ २६ ॥

रत्नप्रभा

अथेत्यादिना । कश्चिद् वेदभागः साक्षाद् ब्रह्माख्यं पदं ब्रूते, कश्चित्तु ज्ञानार्थकर्मद्वारेति मत्वा 'सर्वे वेदाः' इत्युक्तम् । स्पष्टमन्यत् ॥ २६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतुताका प्रसङ्ग होगा, यह भाव है । कर्म ज्ञानार्थक हैं, इसमें लिङ्गवाक्य कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे । कुछ वेदभाग साक्षात् ब्रह्माख्य पदका अभिधान करता है और कुछ भाग ज्ञानार्थक कर्मद्वारा उसका अभिधान करता है, यह मान कर 'सर्वे वेदाः' (सब वेद) ऐसा कहा गया है । अन्य स्पष्ट है ॥ २६ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥ २७ ॥

पदच्छेद—शमदमाद्युपेतः, स्यात्, तथापि, तु, तद्विधेः, तदङ्गतया, तेषाम्, अवश्यानुष्ठेयत्वात्।

पदार्थोक्ति—[यद्यपि 'विविदिषन्ति' इत्यादौ वर्तमानापदेशात् न विधित्वम्] तथापि [ब्रह्मज्ञानार्थी] शमदमाद्युपेतः स्यात्—शमादियुक्तो भवेत्, [कुतः ?]—तदङ्गतया—विद्याङ्गतया, तद्विधेः—'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतः' इत्यादिना तेषाम्—कर्मणां विधानात्। तेषान्तु—विहितानाञ्च अवश्यानुष्ठेयत्वात्—अवश्यानुष्ठातव्यत्वात्।

भाषार्थ—यद्यपि 'विविदिषन्ति' इत्यादिमें वर्तमान कालका प्रयोग होनेसे विधि नहीं है, तथापि ब्रह्मज्ञानके अभिलाषीको शम, दम आदिसे युक्त होना चाहिए, किससे ? इससे कि विद्याके अङ्गरूपसे 'तस्मादेवंवित्' इत्यादि श्रुतिसे शमादिका विधान है और विहित होनेके कारण शमादि अवश्य अनुष्ठेय हैं।

भाष्य

यदि कश्चित् मन्येत यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यः, विध्यभावात्, 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवञ्जातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा न यज्ञादिविधिपरा। इत्थं महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभि-

भाष्यका अनुवाद

यदि कोई ऐसा समझे कि यज्ञादिमें विद्याके साधनत्वका होना उचित नहीं है, क्योंकि विधिका अभाव है। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' (यज्ञ द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं) इस प्रकारकी श्रुति अनुवादरूप है, अतः उसका तात्पर्य विद्याकी स्तुतिमें है, न कि यज्ञादिके विधानमें उसका तात्पर्य है। यह ऐसी महाभागा

रत्नप्रभा

एवं विद्योत्पत्तौ बहिरङ्गानि कर्माण्युक्त्वाऽन्तरङ्गाण्याह—शमेति। विद्यास्तुत्यर्थत्वेनैकवाक्यत्वसंभवे वर्तमानोक्तिभङ्गेन विधिकल्पनमयुक्तम्, विद्यावाक्याद्भेद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विद्याकी उत्पत्तिमें बहिरङ्ग कर्मोंका कथन करके अन्तरङ्ग साधन कहते हैं—"शम" इत्यादिसे। विद्यास्तुत्यर्थक मानकर एकवाक्यताका सम्भव है, तो वर्तमान उक्तिका भङ्ग करके विधिकी कल्पना अयुक्त है, क्योंकि विद्यावाक्यसे भेद प्रसक्त होगा, इससे

भाष्य

रेवैतामवाप्तुमिच्छन्तीति । तथापि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्विद्यार्थी, 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४।४।२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानात्, विहितानां चाऽवश्यानुष्ठेयत्वात् । नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते, न विधिः । नेति ब्रूमः । तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरि-

भाष्यका अनुवाद

विद्या है कि मुमुक्षु लोग यज्ञादिसे उसे प्राप्त करना चाहते हैं। यद्यपि ऐसा है, तो भी ब्रह्मविद्याके अर्थीको शम, दम आदिसे युक्त होना चाहिए, क्योंकि 'तस्मादेवंविच्छान्तो०' (इसलिए ऐसा आपाततः जाननेवाला शान्त—बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारसे उपशान्त, दान्त—अन्तःकरण तृष्णासे निवृत्त, उपरत—सब एषणाओंसे विनिर्मुक्त अर्थात् संन्यासी, तितिक्षुः—द्वन्द्वसहिष्णु, समाहित—इन्द्रिय और अन्तःकरणसे व्यावृत्त होकर एकाग्ररूपसे समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है) इस प्रकार शम, दम आदिका विद्याके साधनरूपसे विधान किया गया है और विहित होनेसे शम, दम आदि अवश्य अनुष्ठेय हैं। परन्तु यहां भी 'शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यति' (शम आदिसे युक्त होकर देखता है) इस प्रकार वर्तमान कालका प्रयोग ही उपलब्ध होता है, विधि उपलब्ध नहीं होती। यहांपर हम कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि

रत्नप्रभा

प्रसङ्गाद्। अतः शब्दमात्रात् लभ्या विद्येति पराभिप्रायमनूद्य अङ्गीकरोति—तथापि त्विति। शमादेरावश्यकत्वात् न शब्दमात्रलभ्या विद्येत्यर्थः। यस्मादेवंविन्न लिप्यते कर्मणा पापकेन तस्माद् विद्यार्थी शमाद्युपेतो भूत्वा विचारयेदिति विधिर्गम्य इत्याह—नेति ब्रूम इति। अत्र उपरतपदेन संन्यासः उक्तः, तस्य श्रवणाङ्गत्वमते शमादिविशिष्टश्रवणमत्र विधीयते। यदि तु 'लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' 'ज्ञानं पुरस्कृत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

'शब्दमात्रसे लभ्य विद्या है' इस प्रकार अन्यके भावका अनुवाद करके अङ्गीकार करते हैं—"तथापि तु" इत्यादिसे। शम आदिकी आवश्यकता होनेसे शब्दमात्र लभ्य विद्या नहीं है, ऐसा अर्थ है। चूंकि आत्माको जानने वाला पापक कर्मसे लिप्त नहीं होता है, इसलिए विद्याके अभिलाषीको शमादि युक्त होकर विचार करना चाहिए, इस प्रकार विधि समझी जाती है, ऐसा कहते हैं—"नेति ब्रूम·" इत्यादिसे। यहाँ 'उपरत' शब्दसे संन्यास कहा गया है, 'वह श्रवणका अङ्ग है' इस मतका यदि स्वीकार किया जाय, तो शमादिविशिष्टश्रवणका यहां

भाष्य

ग्रहात् विधित्वप्रतीतेः। पश्येदिति च माध्यंदिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते। तस्माद् यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि। यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानि, यज्ञादिश्रुतेरेव। ननूक्तं यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीत्यत्र न विधिरुपल-

भाष्यका अनुवाद

'तस्मात्' इस श्रुतिस्थ पदसे प्रकृतकी प्रशंसा की गई है, इससे विधिकी प्रतीति होती है। और माध्यंदिन 'पश्येत्' इस प्रकार स्पष्टरूपसे ही विधिका अध्ययन करते हैं। इससे—शम आदिके विधानकी सिद्धि होनेसे विद्याको फलके लिए यज्ञादिकी अपेक्षा न होनेपर भी शमादिकी अपेक्षा है। परन्तु यज्ञादिकी अपेक्षा होनी चाहिए, क्योंकि यज्ञादिश्रुति है। परन्तु 'यज्ञादिसे जाननेकी इच्छा करते हैं', इसमें विधि उपलब्ध नहीं होती है, ऐसा हमने कहा है। ठीक

रत्नप्रभा

संन्यसेद्' इत्यादि श्रुतिस्मृतिषु फलवत्त्वेनोत्पन्नसंन्यासस्य अङ्गत्वायोगात् 'श्रोतव्यः' इति विहितश्रवणानुवादेन अनेकशमादिविधाने वाक्यभेदापातात् 'पश्येद्' इति च प्रकृत्या श्रवणलक्षणादोषाच्च संन्यासो न श्रवणस्याङ्गम्, किन्तु ततः प्रागनुष्ठेयत्वेऽपि श्रवणवद् ज्ञानार्थ इति मतम्, तदा शमादिसमुच्चयेन ज्ञानं भावयेदिति ज्ञानार्थं शमादिसमुच्चयविधिरिति अनवद्यम्। यः पूर्वं यज्ञादिश्रुतेः स्तुत्यर्थत्वाङ्गीकारः आपाततो गुडजिह्विकान्यायेन शमादिस्वीकारार्थं कृतः, तमिदानीं त्यजति—यज्ञादीन्यपीति। यज्ञादीनां विद्यासाधनत्वरूपसंयोगस्य अपूर्वत्वादवान्तरवाक्यभेदेन विधिः स्वीक्रियते, ब्रह्मविद्यावाक्येन महावाक्यैकवाक्यता चेत्यर्थः। परप्रकरणेऽप्यवान्तरविधिरित्यत्र

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधान है। यदि यह माना जाय कि संन्यास श्रवणका अङ्ग नहीं है, क्योंकि 'लोकमिच्छन्त प्रव्रजन्ति' (ब्रह्मलोककी इच्छा करनेवाले संन्यास लेते हैं) 'ज्ञानं पुरस्कृत्य' (ज्ञानके उद्देशसे संन्यास ग्रहण करे) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें फलरूपसे उत्पन्न संन्यासमें श्रवणके अङ्गत्वका असम्भव है और 'श्रोतव्यः' इससे विहित श्रवणका अनुवाद करके अनेक शमादिके विधानमें वाक्यभेद है, एवं 'पश्येत्' यहींपर प्रकृतिकी श्रवणमें लक्षणा करना दोष है। किन्तु श्रवणके पूर्वमें यद्यपि अनुष्ठेय है, तथापि श्रवणके समान ज्ञानार्थ है, तो भी शमादिके समुच्चयसे ज्ञानको उत्पन्न करे, इस प्रकार ज्ञानार्थ शमादिसमुच्चयविधि माननेमें दोष नहीं है। पूर्वमें यज्ञादि श्रुतिका स्तुत्यर्थरूपसे अङ्गीकार जो आपाततः गुडजिह्विकान्यायसे शमादिके स्वीकारके लिए किया गया है, उसका अब त्याग करते हैं—"यज्ञादीनि" इत्यादिसे। यज्ञ आदिका विद्यासाधनत्वरूपसंयोग अपूर्व है, अतः अवान्तर वाक्यभेदसे विधिका स्वीकार किया जाता

भाष्य

म्यते इति। सत्यमुक्तम् । तथापि त्वपूर्वत्वात् संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते । नह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तः, येनाऽनूद्येत। 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वात् विधिं परिकल्प्य पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः। तथा चोक्तम्—'विधिर्वा धारणवत्' (ब्र० सू० ३।४।२०) इति। स्मृतिष्वपि भगवद्गीतादास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षो-र्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्मात् यज्ञादीनि शमदमादीनि च

भाष्यका अनुवाद

है, कहा है—तो भी संयोगके अपूर्व होनेसे विधिकी कल्पना की जाती है, क्योंकि यज्ञादिका विविदिषाके साथ संयोग पहले अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, जिससे कि उसका अनुवाद किया जाय। 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽ-दन्तको हि' (इससे पूषा देवताके उद्देशसे भली भांति पिष्ट भाग करना चाहिए, क्योंकि वह दन्तरहित है) इत्यादि वाक्योंमें, जिनमें विधिका श्रवण नहीं है, अपूर्व होनेसे विधिकी कल्पना करके पूषा सम्बन्धी पेषण—पिष्टभाग विकृतिमें जानना चाहिए, क्योंकि प्रकृतिमें उसका विधान नहीं है, ऐसा विचार प्रथम तन्त्रमें किया गया है। और वैसा ही 'विधिर्वा धारणवत्' इस सूत्रमें सूत्रकारने कहा है। भगवद्गीता आदि स्मृतियोंमें भी फलके अनुसन्धानके विना अनुष्ठित यज्ञादि मुमुक्षुके ज्ञानसाधन होते हैं, ऐसा विस्तारसे कहा गया है।

रत्नप्रभा

पूर्वतन्त्रसम्मतिमाह—तस्मात् पूषेति। दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रुतम्—'पूषा प्रपिष्टभागः' इति। तत्र पूषा देवता पिष्टभागो वा दर्शपूर्णमासयोर्नास्ति। अतः समासात् प्रती-तस्य कालत्रयानवमृष्टस्य द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य अविनाभावेन यागविध्युपस्था-पकत्वात् प्रयोगज्ञानाय विधिपदमध्याहृत्य प्रकरणात् उत्कर्षेण पूषोद्देशेन पिष्टभागः

रत्नप्रभाका अनुवाद

है और ब्रह्मविद्यावाक्यके साथ महावाक्यकी एकवाक्यता भी मानी जाती है, ऐसा अर्थ है। पर प्रकरणमें भी अवान्तर विधि है, इसमें पूर्वतन्त्रकी सम्मति कहते हैं—"तस्मात्पूषा" इत्यादिसे। दर्शपूर्णमास प्रकरणमें 'पूषा प्रपिष्टभागः' इत्यादि सुना जाता है। परन्तु पूषा देवता या पिष्टभाग-द्रव्य दर्श अथवा पूर्णमासमें नहीं सुना जाता है, अतः समाससे प्रतीत तीनों कालमें अस्पृष्ट द्रव्य देवता सम्बन्धके अविनाभावसे यागविधिका उपस्थापक होनेसे प्रयोगज्ञानके लिए विधिबोधक पदका अध्याहार करके प्रकरणसे उत्कर्ष-अनुवृत्ति कर पूषाके उद्देशसे पिष्ट भाग करना

भाष्य

यथाश्रमं सर्वाण्येवाऽऽश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि। तत्राऽप्येवंविदिति विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यानीतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥ २७ ॥

भाष्यका अनुवाद

इसलिए आश्रमके अनुसार यज्ञ आदि और शम, दम आदि सभी आश्रम कर्मोंकी विद्याकी उत्पत्तिमें अपेक्षा करनी चाहिए। उसमें भी 'एवंवित्' (ऐसा जाननेवाला) इस प्रकार विद्याके साथ संयोग होनेसे शमादि विद्याके अन्तरङ्ग साधन हैं, और 'विविदिषा' (जाननेकी इच्छा) के साथ संयोग होनेसे यज्ञ आदि बहिरङ्ग साधन हैं, इस प्रकार विवेक करना चाहिए ॥२७॥

रत्नप्रभा

कर्तव्य इति विकृतौ सम्बन्धः 'पौष्णं पेषणम्' इति सूत्रे विचारित इत्यर्थः। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्याद्याः स्मृतयः। कर्मणां ज्ञानहेतुत्वे शमादिवत् यावत् ज्ञानोदयमनुवृत्तिः स्यात्, तथा च संन्यासाभाव इत्यत आह— तत्रापीति। दृष्टचित्तविक्षेपनिवृत्तिद्वारा शमादीनां ज्ञानार्थत्वादनुवृत्तिः, न कर्मणाम्, अदृष्टद्वारा ज्ञानार्थत्वादिति भावः ॥ २७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए इस प्रकार विकृतिमें सम्बन्ध है, इसका 'पौष्णं पेषणम्' इस सूत्रमें विचार किया गया है, यह भाव है। 'स्वकर्मणा०' इत्यादि स्मृतियाँ हैं। यदि कर्म ज्ञानके हेतु हों, तो शम आदिके समान ज्ञानोदयपर्य्यन्त उनकी अनुवृत्ति होगी, इसलिए संन्यासका अभाव प्रसक्त होगा? इसपर कहते हैं—"तत्रापि" इत्यादिसे। दृष्टचित्तविक्षेपके निराकरण द्वारा शम आदि ज्ञानार्थक हैं, अतः उनकी अनुवृत्ति होती है, परन्तु कर्मोंकी नहीं होती, क्योंकि वे अदृष्ट द्वारा ज्ञानार्थक हैं, ऐसा भाव है ॥ २७ ॥



[७ सर्वान्नानुमत्यधिकरण सू० २८-३१]

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञाऽथवाऽऽपदि ।
अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिर्ध्यातुर्विधीयते ॥ १ ॥
श्वाद्यन्नभोजनाशक्तेः शास्त्राचाऽभोज्यवारणम् ।
आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—'न ह वा' इत्यादिसे प्राणोपासकके लिए सर्वान्नभक्षणकी विधि है, अथवा आपत्कालमें अनुज्ञामात्र है ?

पूर्वपक्ष—अपूर्व होनेसे सर्वान्नभक्षणकी विधि ही है ।

सिद्धान्त—कुत्ते आदिके भक्ष्य पदार्थके अशनमें अशक्ति होनेसे और शास्त्रसे अभक्ष्य पदार्थका निषेध होनेसे आपत्कालमें प्राणकी रक्षा करनेके लिए सर्वान्नभक्षणकी केवल अनुज्ञा है, विधि नहीं है ।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२८॥

पदच्छेद—सर्वान्नानुमतिः, च, प्राणात्यये, तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—प्राणात्यये च—प्राणनिर्गमनकाले एव सर्वान्नानुमतिः—'न ह वाऽस्यानन्नं जग्धं भवति' इत्यादिना सुरावर्जसकलान्नस्य भक्षणानुज्ञा [कुतः ?] तद्दर्शनात्—चाक्रायणोपाख्याने उपस्तेश्चाक्रायणस्यापत्काल एव हि तस्य हस्तिपकोच्छिष्टकुल्माषभक्षणस्य दर्शनात् ।

भाषार्थ—'न ह वाऽस्य' इत्यादिसे प्राणनिर्गमकालमें ही मद्यको छोड़कर सब अन्न खानेकी अनुज्ञा है, क्योंकि चाक्रायणके उपाख्यानमें आपत्कालमें ही उपस्ति चाक्रायणका हस्तिपकके उच्छिष्ट कुल्माषोंका भक्षण देखा जाता है ।

---

* सारांश यह है कि प्राणविद्यामें सुना जाता है—'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' (प्राणोपासकके लिए भोजन करनेके अयोग्य कुछ भी नहीं है) इसमें किसी अन्य प्रमाणसे सर्वान्न भोजनकी अप्राप्ति होनेसे प्राणोपासकके लिए उसका—सर्वान्नभक्षणका विधान किया जाता है, ऐसा पूर्वपक्षका अभिप्राय है ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—'यदिदं किञ्चाऽऽश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यः तत्तेऽन्नम्' (श्वान, कृमि, कीट पर्यन्त जो कुछ है, सब तुम्हारा अन्न है) इस प्रकार श्वान आदिका भोज्य जो अन्न है, वह उपासकके लिए विधेय होगा, परन्तु उसका विधान नहीं कर सकते हैं, क्योंकि भक्ष्याभक्ष्य विभागरूप शास्त्रका सब अन्नके भक्षणमें बाध होगा । इससे आपत्कालमें जितने अन्नसे

भाष्य

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति, तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (बृ० ६।१।१४) इति, सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः। किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवत् विद्याङ्गं विधीयते, उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये विधिरिति तावत् प्राप्तम्।

भाष्यका अनुवाद

छन्दोगोंके प्राणसंवादमें—'न ह वा एवंविदि०' (यथोक्त प्राणके जाननेवालोंको—मैं प्राण हूँ, सर्वभूतस्थ हूँ, सब अन्नोंका खानेवाला हूँ, ऐसा जाननेवालोंका—कुछ भी अनन्न—अखाद्य नहीं होता अर्थात् सभी अन्न—खाद्य ही होता है) ऐसा श्रुत है। इसी प्रकार वाजसनेयियोंके प्राणसंवादमें 'न वा अस्यानन्नं०' (इस प्राणोपासकका अनन्न—खानेके अयोग्य भक्षित नहीं होता, अर्थात् तत्कृत दोषसे लिप्त नहीं होता है, अनन्न प्रतिगृहीत नहीं होता) इसका सब अदनीय है, ऐसा अर्थ है। क्या इस सर्वान्नके अनुज्ञानकी शमादिके समान विद्याके अंगरूपसे विधि है या स्तुतिके लिए इसका सङ्कीर्तन है, ऐसा संशय होनेपर

रत्नप्रभा

सर्वान्नानुमतिरिति। एवंविदि—'प्राणस्य अन्नं सर्वम्' इति ध्यानवति इत्यर्थः। जग्धम्—भक्षितम्। अपूर्वत्वात् विध्यश्रुतेश्च संशयः। अपूर्वत्वाद् यज्ञादिवद्विधिः कल्प्य इति पूर्वपक्षयति—विधिरिति। अत्र भक्ष्याभक्ष्यनियमत्यागस्य विद्याङ्गत्वसिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तु विद्यास्तुतिरिति विवेकः। 'न कलञ्जं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सर्वान्नानुमतिः" इत्यादि। एवंविदि—प्राणका सब अन्न है, इस प्रकार ध्यान करनेवालेमें ऐसा अर्थ है। जग्ध—भक्षित। अपूर्व है और विधिका श्रवण नहीं है, इससे संशय होता है। अपूर्व होनेसे यज्ञ आदिके समान विधि की कल्पना करनी चाहिए, इस प्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"विधिः" इत्यादिसे। इस पूर्वपक्षमें भक्ष्य और अभक्ष्यके नियमके त्यागका विद्याङ्गत्वकी सिद्धि फल है और सिद्धान्तमें विद्याकी स्तुति फल है, यह भेद है। जैसे प्राम्य

प्राणरक्षा हो सकती है, केवल उतने ही निषिद्ध अन्नकी अभ्यनुज्ञा है। इसलिए चाक्रायण मुनिने प्राणका विनाश प्राप्त होनेपर उच्छिष्ट माषका भक्षण किया था परन्तु चाण्डालके पात्रमें रखा हुआ जल नहीं पिया। ऐसा करनेमें उन्होंने कारण भी बतलाया है—'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' 'कामो म उदपानम्' (जीवनकी निराशा पाकर इन उच्छिष्ट माषोंको मैंने खाया, परन्तु जल पान यथेष्ट कर सकता हूँ) इससे आपत्कालमें सर्वान्नभक्षणकी अभ्यनुज्ञा—आज्ञा है।

भाष्य

तथा हि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणाविद्यासंनिधानात् तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते। नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात्। नैष दोषः। सामान्यविशेषभावात् बाधोपपत्तेः। यथा प्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः। यथा च 'न कांचन स्त्रियं परिहरेत् तद्व्रतम्' (छा० २।१३।२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते। एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति। नह्यत्र विधायकः

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—विधि है, क्योंकि विशेष प्रवृत्ति करनेवाला उपदेश होता है, अतः प्राणविद्याके सन्निधानसे इस नियमनिवृत्तिका उसके अङ्गरूपसे उपदेश किया जाता है। परन्तु ऐसा होनेपर भक्ष्य और अभक्ष्यका विभाग करनेवाले शास्त्रका व्याघात होगा। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेषरूपसे बाध उपपन्न होगा। जैसे प्राणहिंसाके प्रतिषेध शास्त्रका वैध पशुहिंसा आदिसे बाध होता है और जैसे 'न कांचन स्त्रियं परिहरेत्०' (किसी स्त्रीका परिहार नहीं करना चाहिए, यह व्रत है) इस वामदेव्यविद्याविषयक सब स्त्रियोंके अपरिहारवचनसे उसके समानविषयक गम्यागम्य विभागशास्त्रका बाध होता है, इसी प्रकार इस प्राणविषयक सर्वान्नभक्षणवचनसे भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रका बाध होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह सर्वान्नके अनुज्ञानकी

रत्नप्रभा

भक्षयेद्' इति शास्त्रं प्राणविद्व्यतिरिक्तविषयम्, यथा ग्राम्यकर्मणि वामदेव्यसामोपासकव्यतिरिक्तविषयं परस्त्रीनिषेधशास्त्रम्, तद्वद्, इति प्राप्ते सिद्धान्तं सूत्रात् बहिरेव दर्शयति—नेदमिति। प्राणविद्याविधिसन्निधेः अशक्यत्वाच्च स्तुतिरेव,

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्ममें पर स्त्री निषेधशास्त्र वामदेव्यसामके उपासकको लागू नहीं होता है, किन्तु तदतिरिक्त पुरुषको लागू होता है, वैसे ही 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह शास्त्र भी प्राणवित्पुरुषको लागू नहीं होता है, परन्तु उससे भिन्नको लागू होता है, इस प्रकार प्राप्त होनेपर सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त दिखलाते हैं—"नेदम्" इत्यादिसे। प्राणविद्याविधिकी सन्निधि होनेसे और

भाष्य

शब्द उपलभ्यते 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति वर्तमानापदेशात्। न चाऽसत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते। अपि च श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति' इति। न च श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते। शक्यते तु प्राणस्याऽन्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्, तस्मात् प्राणान्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः। तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति। एतदुक्तं

भाष्यका अनुवाद

विधि नहीं की जाती है, क्योंकि यहां विधायक शब्द उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि 'न ह वा एवंविदि' (प्राणोपासकके लिए कुछ भी अनदनीय नहीं है) इस प्रकार वर्तमानका निर्देश है। और विधिकी प्रतीति न होनेपर भी प्रवृत्ति विशेषकरत्वके लोभसे यहांपर विधिका स्वीकार नहीं किया जा सकता है। और श्वा आदि पर्यन्त प्राणका अन्न है, ऐसा कहकर 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति०' (प्राणोपासकका कुछ भी अनदनीय नहीं होता) ऐसा कहा है, और श्वा आदि पर्यन्तके अन्नका मानुषदेहसे उपभोग नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सब प्राणका अन्न है, ऐसा विचार किया जा सकता है। इसलिए प्राणान्नविज्ञानकी प्रशंसा करनेके लिए यह अर्थवाद है, सर्वान्नके अनुज्ञानकी विधि नहीं है। 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इस सूत्रसे उसे दिखलाते हैं।

रत्नप्रभा

न विधिः कल्प्यः, निषेधशास्त्रविरोधात्। क्लृप्तो हि विधिः सामान्यशास्त्रबाधकः, न तु कल्प्य इति भावः। स्वस्थस्य प्राणविदो न सर्वान्नानुमतिरित्यत्र लिङ्गं वदन् सूत्रं योजयति—तद्दर्शयतीति। मटच्यः—रक्ताः क्षुद्रपक्षिणः तैर्हतेषु कुरुदेशस्थसस्येषु दुर्भिक्षे जाते बालया सह जायया मुनिर्देशान्तरं गच्छन्निभ्यग्रामे स्थितवान्। इभ्यः—हस्ति-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अशक्य होनेसे विधिकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, परन्तु स्तुतिकी कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि निषेधशास्त्रके साथ विरोध है। सिद्ध—प्रत्यक्ष विधि ही सामान्य शास्त्रकी बाधक होती है न कि कल्पनीय विधि बाधक होती है, यह भाव है। स्वस्थ जो प्राणवेत्ता है, उसको सर्वान्नकी अनुमति नहीं है, इसमें लिङ्गका कथन करते हुए सूत्रकी योजना करते हैं—"तद्दर्शयति" इत्यादिसे। मटच्यः—रक्त क्षुद्र पक्षी। इन पक्षियों द्वारा कुरुदेशके धान्यका नाश होनेपर दुर्भिक्ष हुआ, तब बाल जायाके साथ अन्य देशमें जाता हुआ मुनि इभ्यग्राममें ठहरा, इभ्य—

भाष्य

भवति—प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाऽभ्यनुज्ञायते, तद्दर्शनात्। तथा हि श्रुतिश्चाक्राणयस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० १।१०।१) इत्यस्मिन् ब्राह्मणे—चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान् कुल्माषांश्चखाद, अनुपानन्तु तदीयमुच्छिष्टदोषात् प्रत्याचचक्षे। कारणं चाऽत्रोवाच—'न वा

भाष्यका अनुवाद

तात्पर्य इस प्रकार है—प्राणनाश उपस्थित होनेपर ही महती आपत्तिमें सब अन्नकी अदनीयरूपसे—भक्षण रूपसे अनुज्ञा है, उसका श्रुतिमें दर्शन होनेसे, क्योंकि 'मटचीहतेषु कुरुषु' (लाल क्षुद्र कीटोंसे कुरुके सस्योंका नाश होनेपर) इस ब्राह्मणमें श्रुति चाक्रायण ऋषिकी दुःखद अवस्थामें अभक्ष्यके भक्षणमें प्रवृत्ति दिखलाती है। इतिवृत्त ऐसा है कि आपत्तिमें पड़े हुए चाक्रायण ऋषिने हस्तिपालकके अर्धभुक्त उड़द खाये, परन्तु उसके अनुपानका—भोजनोत्तर जलपानका, उच्छिष्ट दोषसे, प्रत्याख्यान किया और इसमें कारण कहा—'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (यदि मैं इन उड़दोंको नहीं खाता तो न जीता), और

रत्नप्रभा

पालकः, तेन सामिखादितान्—अर्धभक्षितान् कुत्सितमाषान् याचयित्वा भक्षितवान्। इभ्येन जलं गृहाणेत्युक्ते सत्युच्छिष्टं मे पीतं स्यादिति प्रतिषिध्य माषाः किं नोच्छिष्टा इतीभ्येनोक्ते सति माषभक्षणे जलत्यागे च कारणमुवाच—अन्नांशे मम आपदस्ति, जलपानं तु स्वेच्छातस्तडागादौ लभ्यते इति। माषान् खादित्वाऽवशिष्टान् जायायै दत्तवान्, सा च अनापद्गता पत्युरापदं ज्ञात्वा माषान् संरक्ष्य प्रातस्तस्मै ददौ। स च तान् खादित्वा राज्ञो यज्ञं गत्वा प्रस्तोत्रादीनाक्षिप्य प्राणादिकां प्रस्तावादिदेवताम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

पीलवान। उस समय मुनिने इभ्य द्वारा अर्धखादित कुत्सित माष—उड़द माँग कर खाये। जब इभ्यने 'जल लो' ऐसा कहा तब 'मेरा पान उच्छिष्ट होगा' इस प्रकार प्रतिषेध किया। इसपर इभ्यने यह पूछा कि क्या माष उच्छिष्ट नहीं थे? इस प्रश्नके उत्तरमें मुनिने माषभक्षणमें और जलके त्यागमें कारण कहा—अन्नाशनमें मुझे आपत्तिका—मरणका भय था और जलपान तो यथेष्ट तडाग आदिमें उपलब्ध होता है। माषको खाकर अवशिष्ट माष उसने भार्याको दिये। उसको आपत्ति—मरनेका भय—नहीं थी, इसलिए पतिकी आपत्तिको जानकर, माषोंको बचाकर उसने प्रातःकालमें उन्हें पुनः पतिको दिया। वह उनको खाकर राजाके यज्ञमें गया, वहाँ प्रस्तोता

भाष्य

अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १।१०।४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च। पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान् पर्युषितान् कुल्माषान् भक्षयांबभूवेति। तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते—प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसन्धारणायाऽभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति। स्वस्थावस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानात् गम्यते। तस्माद् अर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छा०५।२।१) इत्येवमादिः॥ २८॥

भाष्यका अनुवाद

'कामो म उदपानम्' (जल मेरे लिए यथेच्छ है) फिर दूसरे दिन उसने अपने और दूसरेके उच्छिष्ट तथा बासी उड़द खाये। इस परोच्छिष्ट, स्वोच्छिष्ट और बासीका भक्षण दिखाती हुई श्रुतिका आशयातिशय ऐसा दीखता है कि प्राणनाश उपस्थित होनेपर प्राणसन्धारणके लिए अभक्ष्यका भी भक्षण करना चाहिए। और स्वस्थ अवस्थामें विद्वान्को भी ऐसा नहीं करना चाहिए, ऐसा अनुपानके प्रत्याख्यानसे समझा जाता है। इससे 'न ह एवंविदि' इत्यादि अर्थवाद है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ २८॥

रत्नप्रभा

उपदिश्य धनं प्राप्य स्थित इति भावः। अत्रोच्छिष्टभक्षणजलत्यागात्मकशिष्टाचारलिङ्गात् श्रौतादनापदि विदुषाप्यभक्ष्यं न भक्षणीयमिति सूच्यते इति भावः॥ २८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिका आक्षेप पुरःसर प्रस्ताव आदिके प्राण आदि देवताका उपदेश कर प्रभूत धनराशिको प्राप्त कर स्थित हुआ, यह भाव है। यहाँ उच्छिष्टभक्षणजलत्यागरूप शिष्टाचारलक्षण श्रौत लिङ्गसे आपत्ति रहित कालमें विद्वान्को अभक्ष्यका भक्षण नहीं करना चाहिए, यह सूचित होता है, ऐसा भाव है॥ २८॥

अबाधाच्च॥ २९॥

पदच्छेद—अबाधात्, च।

पदार्थोक्ति—अबाधात्—भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रस्याबाधात् च—अपि ['न ह वा' इत्यादि शास्त्रमर्थवादमात्रम्]।

भावार्थ—भक्ष्य और अभक्ष्यका विभागशास्त्र अबाधित है, इससे भी 'न ह वा' इत्यादि शास्त्र अर्थवादमात्र है।

भाष्य

एवं च सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥ २९ ॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसी परिस्थितिमें—स्वस्थावस्थामें भक्ष्य और अभक्ष्यका भेद होनेपर 'आहारशुद्धि होनेसे सत्त्वशुद्धि होती है' इत्यादि भक्ष्याभक्ष्य-विभागशास्त्र अबाधित होगा ॥ २९ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—अपि च [आपत्काले विदुषोऽविदुषश्च सर्वान्नभक्षणम्] स्मर्यते–स्मृतावुच्यते—'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' । 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति च ।

भाषार्थ—आपत्तिकालमें विद्वान् और अविद्वान्के लिए सर्वान्नभक्षण स्मृतिमें कहा गया है—'जीवितात्ययमापन्नः०'—जीवनका नाश उपस्थित होनेपर कुछ भी भक्षण करे, तो वह उसके भक्षणसे उत्पन्न हुए पापसे लिप्त नहीं होता है, जैसे कमलका पत्ता पानीसे लिप्त नहीं होता । 'मद्यं नित्यं'—ब्राह्मण मद्य कभी न पीवे ।

भाष्य

अपि चाऽऽपदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाऽविशेषेण—

'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥' इति ।

भाष्यका अनुवाद

और आपत्तिकालमें विद्वान् और अविद्वान् दोनोंके लिए समानरूपसे सर्वान्नभक्षण स्मृतिमें कहा गया है—'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति०' (जीवनके नाशको प्राप्त हुआ पुरुष जहाँ तहाँसे जो कुछ अन्न खाता है, वह पापसे उस प्रकार लिप्त नहीं होता, जैसे कि कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता) इसी प्रकार 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः' (ब्राह्मण नित्य मद्यका त्याग करे), 'सुरापस्य

भाष्य

तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः' 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥३०॥

भाष्यका अनुवाद

ब्राह्मणस्योष्णा०' (सुरापीनेवाले ब्राह्मणके गलेमें अतितप्त सुरा डालनी चाहिए), 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्य०' (अभक्ष्यका भक्षण करनेसे सुरापीनेवाले कृमि होते हैं) इस प्रकार स्मृतिमें अनन्नका वर्जन प्रतिपादित है ॥ ३० ॥

रत्नप्रभा

सुरापानेनाऽपि जीवनमाशङ्क्य कदापि तन्न कार्यमित्याह—**तथा मद्यं नित्यं ब्राह्मण इति** । वर्जयेदिति शेषः । कुतः ? इत्याशङ्क्य मरणान्तप्रायश्चित्तविधानात् इत्याह—**सुरापस्येति** । उष्णाम्—अतितप्ताम्, सुरामिति शेषः । इतश्च सा न पेयेत्याह—**सुरापा इति** ॥ ३० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सुरापानसे जीवनकी आशङ्का—आशा होनेपर भी सुरापान कभी नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"तथा मद्यं नित्यं ब्राह्मणः" इत्यादिसे । त्याग करना चाहिए, इतना शेष है । किससे ? इस प्रकार आशङ्का करके, इससे कि मरणपर्यन्त प्रायश्चित्तका विधान है, ऐसा कहते हैं—"सुरापस्य" इत्यादिसे । उष्ण—अतितप्त । सुराका, इतना शेष है । और इस कारणसे भी सुराका पान नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"सुरापाः" इत्यादिसे ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—शब्दः, च, अतः, अकामकारे ।

पदार्थोक्ति—अकामकारे च—स्वेच्छाकृतप्रवृत्तिनिरास एव, शब्दः—'तस्मात् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इत्येवंरूपः [श्रूयते], अतः—अस्माद्धेतोः [प्राणविदः सर्वान्नानुज्ञानमर्थवादमात्रम् इति भावः] ।

भाषार्थ—स्वेच्छाप्राप्त प्रवृत्तिके निराकरणमें ही 'तस्मात् ब्राह्मणः०' (इससे ब्राह्मण सुराको न पीवे) इत्यादि शब्द—श्रुति है, इसलिए प्राणविद्के लिए सर्वान्नभक्षणकी अनुज्ञा अर्थवादमात्र है ।

भाष्य

शब्दश्चाऽनन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति। सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्याऽर्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति। तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधय इति ॥ ३१ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्वेच्छाप्रवृत्तिकी निवृत्ति जिसका प्रयोजन है, ऐसा अनन्नका प्रतिषेधक—निषेध करनेवाला 'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' (इससे ब्राह्मणको सुरापान नहीं करना चाहिए) इत्यादि शब्द काठकोंकी संहितामें श्रुत है। वह भी 'न ह वा एवंविदि' इसको अर्थवाद माननेसे उपपन्नतर होता है। इससे इस प्रकारके वचन अर्थवाद हैं, विधि नहीं हैं, ऐसा सिद्धान्त होता है॥ ३१ ॥

रत्नप्रभा

उदाहृतस्मृतीनां मूलश्रुतिमाह—शब्दश्चेति। कामकारः—यथेष्टप्रवृत्तिः, सोऽपि—निषेधोऽपि उपपन्नतरो भवति। 'न ह वा एवंविदि' इत्यस्यार्थवादत्वात्। यद्ययमपि विधिः स्यात्, तर्हि विहितप्रतिषिद्धत्वात् षोडशिग्रहणाग्रहणवत् सुरापाने विकल्पः स्यात्, स च सर्वस्मृतिभिः शिष्टाचारेण च विरुद्धः इति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जिन स्मृतियोंका उदाहरण दिया है, उनमें मूलभूत श्रुति कहते हैं—"शब्दश्च" इत्यादिसे। कामकार—यथेष्ट प्रवृत्ति। वह निषेध भी अत्यन्त उपपन्न होता है, क्योंकि 'न ह वा' इत्यादि शास्त्र अर्थवाद है। यदि यह विधि होगी, तो विहित और प्रतिषिद्ध होनेसे षोडशीका ग्रहण और अग्रहणके समान सुरापानमें विकल्प प्रसक्त होगा, परन्तु सब स्मृतियोंसे और शिष्टाचारसे वह विरुद्ध है, यह भावार्थ है ॥ ३१ ॥



[८ आश्रमकर्माधिकरण सू० ३२–३६]

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विः प्रयोगोऽथवा सकृत् ।
प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ॥ १ ॥
श्राद्धार्थभुक्त्या तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाश्रमस्तथा ।
अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादिरे मतः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—*विद्याके लिए और आश्रमके लिए दो बार कर्मोंका अनुष्ठान करना* चाहिए अथवा एक बार अनुष्ठान करना चाहिए ।

पूर्वपक्ष—प्रयोजनका भेद होनेसे प्रयोगका भी भेद होना चाहिए अर्थात् कर्मोंका दो बार अनुष्ठान करना चाहिए ।

सिद्धान्त—*एक बार ही प्रयोग करना चाहिए, जैसे श्राद्धके लिए जो भोजन होता* है, वह तृप्ति भी करता है, वैसेही विद्याके लिए अनुष्ठित कर्म आश्रमके लिए भी होगा, *'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत'* इत्यादिमें नित्यत्व और काम्यत्व स्वीकृत है, वैसे प्रकृतमें भी नित्यत्वानित्यत्वका विरोध नहीं है ।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—विहितत्वात्, च, आश्रमकर्म, अपि ।

पदार्थोक्ति—त्वर्थकचशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । अपि—अमुमुक्षुणाऽपि आश्रमकर्म—आश्रमप्राप्तकर्मजातम् [अवश्यमनुष्ठेयम्, कुतः ?] विहितत्वात्—'यावज्जीवम्' इत्यादिना शास्त्रेण कर्मजातस्य विधानात् ।

भाषार्थ—तुशब्दार्थक चशब्द पूर्वपक्षका निरास करता है । जो मुमुक्षु नहीं है, उसको भी आश्रम सम्बन्धी कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि 'यावज्जीवम्' इत्यादिसे अमुमुक्षुके लिए भी आश्रमकर्मोंका विधान है ।

---

* भाव यह है कि विविदिषावाक्यमें विद्याके हेतुभूत जो कर्म विहित हैं, वे आश्रमके धर्मरूपसे भी पूर्वकाण्डमें विहित हैं, इसलिए उनका प्रयोजन दो प्रकारका होनेसे उनका अनुष्ठान भी दो बार होना चाहिए ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—जैसे श्राद्धके लिए विहित भोजन तृप्तिका भी हेतु होता है, वैसे ही विद्याके लिए विहित कर्म आश्रमार्थ भी हो, इसमें क्या हानि है ? अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है । यदि कोई शङ्का करे कि विद्याके हेतुभूत जो कर्म हैं वे काम्य होते हैं और आश्रमके धर्मभूत कर्म नित्य होते हैं, यदि उनका सकृत् प्रयोग किया जाय, तो

भाष्य

'सर्वापेक्षा च' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राऽऽश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम् । इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्त्यते । तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाऽऽश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वात् विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि । अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्ह्येषां विद्यासाधनत्वम्, नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति ।

भाष्यका अनुवाद

'सर्वापेक्षा च' इस सूत्रमें आश्रमकर्म विद्याके साधन हैं, ऐसा निश्चित किया गया है। अब तो केवल आश्रमकर्मोंमें विद्यमान तथा विद्याकी कामना न करनेवाले अमुमुक्षुसे आश्रमकर्म अनुष्ठेय हैं या नहीं, यह विचार किया जाता है।

पूर्वपक्षी—ऐसा सन्देह होनेपर 'तमेतं वेदानुवचनेन' (इस उपनिषद्गम्य पुरुषको ब्राह्मण वेदके नित्य स्वाध्यायसे जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि वचनसे आश्रमकर्म विद्याके साधनरूपसे विहित हैं, अतः विद्याकी इच्छा न करनेवाले और अन्य फलकी कामना करनेवालेको नित्य कर्मका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। यदि उसके लिए भी नित्य कर्म अनुष्ठेय हों, तो ये विद्याके साधन नहीं होंगे, क्योंकि नित्य और अनित्यके संयोगका विरोध है।

रत्नप्रभा

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । नित्याग्निहोत्रादिकर्मसु विहितत्वात् विनियुक्तविनियोगविरोधाच्च संशये शास्त्रान्तरविरोधात् सर्वान्नत्वोक्तेः स्तुतित्ववन्नित्यविनियुक्तत्वश्रुतिविरोधात् विविदिषायां विनियोगश्रुतेः स्तुतित्वमिति पूर्वपक्षमाह—तत्रेति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि"। नित्य अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें—विहित होने और विनियुक्तविनियोगके साथ विरोध होनेसे—संशय होनेपर जैसे अन्य शास्त्रके साथ विरोध होनेसे सर्वान्नत्वोक्ति स्तुतिमात्र है, वैसे ही नित्य विनियुक्त श्रुतिके साथ विरोध होनेसे विविदिषामें विनियोग श्रुति स्तावक है, इस प्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। ज्ञानकी कामनासे यदि

नित्यत्वानित्यत्वका विरोध होगा ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि दो श्रुतियोंके बलसे एक कर्ममें भी दो आकार रह सकते हैं, जैसे 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' इत्यादि स्थलोंमें वचनभेदसे नित्यत्व और काम्यत्व स्वीकृत है, वैसे ही प्रकृतमें भी हो सकता है। इसलिए उभयविध यज्ञोंका सकृत् प्रयोग ही अभीष्ट है।

भाष्य

अस्यां प्राप्तौ पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात्। नहि वचनस्याऽतिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं—आश्रममात्रनिष्ठ अमुमुक्षुको भी नित्य कर्म कर्त्तव्य ही हैं, क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं०' (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे) इत्यादिसे विहित हैं, क्योंकि वचनका कुछ अतिभार नहीं है ॥ ३२ ॥

और ऐसा जो पीछे कहा गया है कि ऐसा होनेपर कर्म विद्याके साधन नहीं होंगे, इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

ज्ञानकामनयानुष्ठाने कर्मणामनित्यत्वम्, अनावश्यकत्वम्। तस्या अनित्यत्वात्। यावज्जीवादिविधिना तु नित्यत्वं चेति विरुद्धधर्मद्वयापातात् विविदिषाश्रुतेः स्तुतित्वमिति फलं पूर्वपक्षे। सिद्धान्ते तूभयथाऽनुष्ठानं फलम् ॥ ३२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुष्ठान किया जाय, तो कर्म अनित्य होंगे और अनावश्यक होंगे, क्योंकि कामना अनित्य है, और यावज्जीव आदि विधिसे यदि अनुष्ठान हो, तो कर्मोंकी नित्यता होगी, इस प्रकार विरुद्ध धर्मोंकी आपत्ति होनेसे विविदिषाश्रुतिका फल पूर्वपक्षमें स्तुति है, और सिद्धान्तमें तो उभयथा अनुष्ठान फल है ॥ ३२ ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—सहकारित्वेन, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, सहकारित्वेन—कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा विद्योपजनने सहकारिकारणतया विद्यार्थत्वेन [नित्यानि कर्माणि अवश्यमनुष्ठेयानि, 'यज्ञादिश्रुत्या' तदर्थत्वेन तेषां विहितत्वात्]।

भाषार्थ—विद्याके उपजननमें—उत्पादनमें सहकारिरूपसे चित्तशुद्धि द्वारा कर्म कारण हैं, अतः विद्याङ्ग होनेसे नित्य कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यज्ञादिश्रुति विद्याङ्गरूपसे उनका विधान करती है।

भाष्य

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिना। तदुक्तम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति। न चेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवत् विद्याफलविषयं मन्तव्यम्, अविधिलक्षणत्वात् विद्यायाः, असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य। विधिलक्षणं हि

भाष्यका अनुवाद

ये कर्म विद्याके सहकारी हैं, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन०' (ब्राह्मण उस औपनिषद पुरुषको वेदके नित्य स्वाध्यायसे जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतिवचनसे कर्म विहित हैं। यह 'सर्वापेक्षा च०' इत्यादि सूत्रमें कहा गया है। और 'आश्रमकर्म विद्याके सहकारी हैं'—यह वचन प्रयाजादिके समान विद्या फलविषय है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि विद्या विधेय नहीं है और विद्याका फल असाध्य है, इससे जैसे दर्शपूर्णमास आदि विधिरूप साधन

रत्नप्रभा

सह मिलित्वा शुद्धिद्वारा विद्यां कुर्वन्तीति सहकारीणि कर्माणि, तेषां भावः तत्त्वम्, तेनेत्यर्थः। विद्यया सह फलकारित्वं सहकारिपदात् प्राप्तं निरस्यति—**न चेदमिति**। विद्याया अविहितत्वात् न अङ्गापेक्षास्ति, अतो विहितानि कर्माणि अविहिताया विद्याया न सहकार्यङ्गानि, मोक्षस्यासाध्यत्वाच्च न कर्मणां सहकारित्वसंभव इत्यर्थः। तुल्यबलश्रुतिद्वयेन विनियोगपृथक्त्वं संयोगभेदः, ततो न विरोधः। कामनाया अनित्यत्वेऽपि कर्मणां न अनित्यत्वम्। नित्यविधिना प्रयोगस्य नित्यत्वात् सत्यां कामनायां काम्यप्रयोगेणैव नित्यत्वसिद्धेर्न कश्चित् विरोधः। इदं च

रत्नप्रभाका अनुवाद

साथमें मिलकर शुद्धि द्वारा विद्याका उत्पादन करते हैं, अतः कर्म सहकारी हैं, उसका भाव—सहकारित्व है, उससे ऐसा अर्थ है। सहकारीशब्दसे विद्याके साथ फल-मोक्षकारित्व जो प्राप्त है, उसका निरास करते हैं—"न चेदम्" इत्यादिसे। विद्या विहित नहीं है, इससे उसको अङ्गोंकी अपेक्षा नहीं है, अतः विहित कर्म अविहित विद्याके सहकारी—अङ्ग नहीं हैं, और मोक्षके असाध्य होनेसे भी कर्मोंकी सहकारिताका सम्भव नहीं है, ऐसा अर्थ है। समानबलवाली दो श्रुतियोंसे विनियोगपृथक्त्व-संयोगभेद है, इसलिए विरोध नहीं है। कामनाके अनित्य होनेपर भी कर्म अनित्य नहीं है, क्योंकि नित्यविधिसे प्रयोग नित्य है। कामनाके होनेपर काम्य प्रयोगसे ही नित्यत्वकी सिद्धि होनेसे कोई विरोध नहीं है। इसका विचार "एकस्य०

भाष्य

साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते, नैवं विद्या। तथा चोक्तम् 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति। तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववाचोयुक्तिः। न चात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात्। नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम्। अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम्—यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं च, तद्वत् ॥ ३३ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्वर्गरूप फल सिद्ध करनेकी इच्छासे अन्य सहकारी साधनकी अपेक्षा रखते हैं, वैसे विद्या अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखती है। यह 'अत एव चाग्नी०' इत्यादि सूत्रमें कहा गया है। इससे विद्याकी उत्पत्तिके साधनत्वमें ही 'कर्म सहकारी हैं' इस वचनकी उपपत्ति होती है। और यहां नित्य और अनित्यके संयोगके विरोधकी आशंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मके एक होनेपर भी संयोग-भेद है। यावज्जीवादि वाक्यसे कल्पित एक संयोग नित्य है, उसका फल विद्या नहीं है; परन्तु 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि वाक्यसे कल्पित दूसरा संयोग अनित्य है, उसका फल विद्या है। जैसे एक ही खादिर नित्य संयोगसे क्रत्वर्थ है और अनित्य संयोगसे पुरुषार्थ है, वैसे ही यहां भी समझना चाहिए ॥३३॥

रत्नप्रभा

'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (जै० सू० ४।३।६) इति सूत्रे चिन्तितम्। यथा—'खादिरो यूपो भवति' इति श्रुत्या खादिरत्वस्य क्रत्वर्थता, 'खादिरं वीर्यकामस्य' इति श्रुत्या पुरुषार्थता चेति। अतः सति वाक्यद्वये विनियुक्तविनियोगो न विरुध्यते इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इस सूत्रमें किया गया है। जैसे 'खादिरो यूपो भवति' (खादिरवृक्षका यूप होता है) इस श्रुतिसे खादिरत्वमें क्रत्वर्थता है और 'खादिरं वीर्यकामस्य' (वीर्यकी—बलकी अभिलाषा करनेवाला खादिरका यूप करे) इस श्रुतिसे खादिरत्वमें पुरुषार्थता है। इसलिए दो वाक्योंके रहते विनियुक्तविनियोग विरुद्ध नहीं होता, ऐसा अर्थ है ॥ ३३ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

पदच्छेद—सर्वथा, अपि, ते, उभयलिङ्गात् ।

पदार्थोक्ति—त एव—यज्ञादय एव, सर्वथापि—नित्यत्वेन विद्यार्थत्वेन च [अनुष्ठेयाः, कुतः ?] उभयलिङ्गात्—'यज्ञेन विविदिषन्ति' इति श्रुतिलिङ्गात् 'अनाश्रितः' इति स्मृतिलिङ्गाच्च ।

भाषार्थ—नित्य और विद्यार्थ होनेसे उन यज्ञादिकोंका अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि 'यज्ञेन विविदिषन्ति' और 'अनाश्रितः कर्मफलम्' इत्यादि श्रुति और स्मृति उभय लिङ्ग हैं ।

भाष्य

सर्वथाऽप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाऽग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति ? कर्मभेद-शङ्कामिति ब्रूमः । यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात् कर्मान्तरमुपदिश्यते, नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः । कुतः ?

भाष्यका अनुवाद

दोनों पक्षोंमें—आश्रमके कर्म हैं, इस पक्षमें और विद्याके सहकारी हैं, इस पक्षमें वे अग्निहोत्रादि धर्म अनुष्ठेय ही हैं । 'वे ही' इस प्रकार अवधारण करके आचार्य किसकी निवृत्ति करते हैं ? कर्मभेदकी शंकाकी निवृत्ति करते हैं ? ऐसा हम कहते हैं । जैसे कुण्डपायियोंके अयनमें 'मासमग्निहोत्रं०' (वे एक मास तक अग्निहोत्र करते हैं) इस वचनमें नित्य अग्निहोत्रसे अन्य कर्मका उपदेश किया जाता है, वैसे यहां कर्मभेद नहीं है, ऐसा अर्थ है ।

रत्नप्रभा

ननु नित्याग्निहोत्रादिभ्यो भिन्ना एव अपूर्वयज्ञादयो विविदिषायां विनियुज्यन्ते । तत्र कुतो विनियुक्तविनियोगः, तत्राह—सर्वथाऽपीति । नित्यत्वे काम्यत्वे चेत्यर्थः । कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्याख्यातस्य साध्यहोमवाचित्वात् तदेकार्थकाग्निहोत्रपदस्य व्यवहितसिद्धाग्निहोत्रपरामर्शकत्वायोगात् मासगुणवि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु नित्य अग्निहोत्र आदिसे भिन्न ही अपूर्व यज्ञ आदि विविदिषामें विनियुक्त हैं । इस दशामें विनियुक्त विनियोगका प्रसङ्ग कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—"सर्वथाऽपि" इत्यादिसे । नित्यत्व या काम्यत्वके होनेपर ऐसा अर्थ है । कुण्डपायियोंके अयनाख्य कर्ममें 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इस श्रुतिमें आख्यातके साध्यहोमवाची होनेसे उसका एकार्थक अग्निहोत्रपद व्यवहित—व्यवधानयुक्त प्रसिद्ध अग्निहोत्रका परामर्शक नहीं है, अतः मासगुणविशिष्ट कर्मान्तरका

भाष्य

उभयलिङ्गात्—श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्च । श्रुतिलिङ्गं तावत्—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४ । ४ । २२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते, न तु 'जुहोति' इत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति । स्मृतिलिङ्गमपि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति । यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति । तस्मात् साध्विदमभेदावधारणम् ॥ ३४ ॥

भाष्यका अनुवाद

किससे ? उभय लिंगसे—श्रुतिलिंगसे और स्मृतिलिंगसे । 'तमेतं वेदानुवचनेन०' (ब्राह्मण इस औपनिषद पुरुषको वेदके नित्य स्वाध्यायसे जाननेकी इच्छा करते हैं) यह श्रुति सिद्धकी नाईं जिनका रूप उत्पन्न है ऐसे यज्ञ आदिका विविदिषामें विनियोग करती है, और 'जुहोति' (वे होम करते हैं) इत्यादि वचनोंके समान इन यज्ञादिका अपूर्वरूप उत्पन्न नहीं करती । 'अनाश्रितः कर्मफलं०' (कर्मफलकी अपेक्षा न रखकर कार्यरूपसे जो विहित कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है) यह स्मृतिलिंग भी जिनकी कर्त्तव्यता ज्ञात है, ऐसे ही कर्मको विद्याकी उत्पत्तिके लिए दिखलाता है । 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्०' (जिसके ये अड़तालीस संस्कार होते हैं) इत्यादि वैदिक कर्मोंमें संस्कारत्वकी प्रसिद्धि उनसे संस्कृत होनेसे पुरुषकी विद्याकी उत्पत्तिके उद्देशसे स्मृतिमें है । इसलिए यह अभेदका अवधारण उचित है ॥३४॥

रत्नप्रभा

शिष्टं कर्मान्तरं विधीयते इति युक्तम्, इह तु 'यज्ञेन' इत्यादिसुबन्तानामाख्यातेनैकार्थत्वाभावात् सिद्धव्यवहितकर्मानुवादकत्वात् तेषामेव कर्मणां ज्ञानार्थत्वविधिरिति भावः । सिद्धकर्मसु संस्कारत्वप्रसिद्धिरपि शुद्ध्याख्यसंस्कारद्वारा ज्ञानार्थककर्माभेदे लिङ्गमित्याह—यस्यैते इति ॥ ३४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधान किया जाता है, परन्तु यहाँ, तो 'यज्ञेन' इत्यादि सुबन्त आख्यातके साथ समानार्थक नहीं हैं, अतः सिद्ध व्यवहित कर्मोंके अनुवादक हो सकने से वे ही कर्म ज्ञानार्थरूपसे विहित हैं, यह भाव है । सिद्धकर्मोंमें जो संस्कारत्वकी प्रसिद्धि है, वह भी शुद्धिरूप संस्कार द्वारा ज्ञानार्थक कर्मोंके साथ जो अभेद है उसमें लिङ्ग है, ऐसा कहते हैं—"यस्यैते" इत्यादिसे ॥३४॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—अनभिभवम् , च, दर्शयति ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, अनभिभवम्—ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्य रागादि-क्लेशैरनभिभवम्—अपराजयम् ['एष ह्यात्मा न नश्यति' इत्यादिश्रुतिः] दर्शयति—प्रतिपादयति ।

भाषार्थ—और भी ब्रह्मचर्यादि साधनसे सम्पन्न मनुष्य राग आदि क्लेशोंसे पराजित नहीं होते हैं, इसका 'एष ह्यात्मा' इत्यादि श्रुति प्रतिपादन करती है ।

भाष्य

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनम् अनभिभवं च दर्शयति श्रुति-र्ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः—'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा॰ ८।५।३) इत्यादिना । तस्माद् यज्ञादीन्याश्रम-कर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

भाष्यका अनुवाद

(आश्रमकर्म विद्याके) सहकारी हैं, इसका ही समर्थक यह लिंगदर्शन है । 'एष ह्यात्मा॰' (जिस आत्माको ब्रह्मचर्यसे प्राप्त करता है वह आत्मा नष्ट नहीं होता) यह श्रुति ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे सम्पन्न पुरुषका राग आदि क्लेशोंसे अपराभव दिखलाती है । इससे यज्ञ आश्रमकर्म हैं और वे विद्याके सहकारी भी हैं, यह सिद्ध हुआ ॥३५॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मचर्यादिकर्मणां प्रतिबन्धध्वंसद्वारा विद्यार्थत्वे लिङ्गमाह—अनभिभवं चेति ॥ ३५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिबन्धके निरास द्वारा ब्रह्मचर्य आदि कर्म विद्याके लिए हैं, इसमें लिङ्ग कहते हैं—"अनभिभवं च" इत्यादिसे ॥ ३५ ॥



[९ विधुराधिकरण सू० ३६–३९]

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते ।
धीशुद्ध्यर्थाश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ॥ १ ॥
अस्त्येव सर्वसम्बन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः ।
श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आश्रमरहित पुरुषका ज्ञानमें अधिकार है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—उस पुरुषका ज्ञानमें अधिकार नहीं है, क्योंकि ऐसे पुरुषमें बुद्धिकी शुद्धताका हेतुभूत आश्रमित्व नहीं है ।

सिद्धान्त—अनाश्रमी पुरुषका भी ज्ञानमें अधिकार है, क्योंकि चित्तशुद्धिके हेतु जप आदिसे भी बुद्धिकी शुद्धि हो सकती है और यही कारण है कि रैक्व प्रभृति अनाश्रमियोंकी भी जप आदिसे अतिशुद्धता सुनी जाती है ।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—अन्तरा, च, अपि, तु, तद्दृष्टेः ।

पदार्थोक्ति—अन्तरा—आश्रमं विना वर्तमानानाम् अपि, [ब्रह्मविद्यायामस्ति अधिकारः, कुतः ?] तद्दृष्टेः—तस्य—ब्रह्मविद्याधिकारस्याऽनाश्रमिणां रैक्वप्रभृतीनां श्रुतौ स्मृतौ च दर्शनात् ।

भावार्थ—आश्रमरहित पुरुषोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें रैक्व प्रभृति अनाश्रमियोंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार देखा जाता है ।

---

* भाव यह है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्यकी समाप्ति करके किसी कारणवश गृहस्थाश्रम आदिका स्वीकार नहीं किया है, ऐसे स्नातक, विधुर आदि अनाश्रमियोंका ज्ञानमें अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिकी—चित्तकी शुद्धिका कारण आश्रम नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि अनाश्रमियोंका भी ज्ञानमें अधिकार है, क्योंकि जप आदि अनाश्रमीकी बुद्धिको शुद्ध करनेमें समर्थ हैं, इसीलिए 'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः' (ब्राह्मण जप ही से सिद्धि प्राप्त कर सकता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। और ब्रह्मविद्यामें अनाश्रमी रैक्वका अधिकार सुना गया है। इसी प्रकार आश्रमवर्जित गार्गी आदिका दृष्टान्त दे सकते हैं। ऐसा होनेपर आश्रम व्यर्थ है, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि आश्रम शुद्धिके अतिशयका कारण है, इससे अनाश्रमियोंका भी तत्त्वज्ञानमें अधिकार निरवद्य है ।

भाष्य

विधुरादीनां द्रव्यादिसम्पद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति किं वा नास्तीति संशये नास्तीति तावत् प्राप्तम् । आश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वावधारणात् आश्रमकर्मासम्भवाच्चैतेषामिति ।

एवं प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि तु, अनाश्रमित्वेन वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते । कुतः ? तद्दृष्टेः । रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥ ३६ ॥

भाष्यका अनुवाद

विधुर आदिका और द्रव्यादि सम्पत्तिसे रहित किसी आश्रमका स्वीकार न किये हुए अन्तरालवर्ती पुरुषोंका विद्यामें अधिकार है या नहीं, ऐसा संशय होनेपर—

पूर्वपक्षी—उनका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि आश्रमकर्म विद्याके हेतु हैं, ऐसा निश्चय किया है और इनमें आश्रमकर्मोंका सम्भव नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—'अन्तरा चापि' । अनाश्रमी रूपसे स्थित पुरुषका भी विद्यामें अधिकार है । किससे ? इससे कि ऐसी श्रुति देखी जाती है—रैक्व, वाचक्नवी आदि ब्रह्मवेत्ता थे, ऐसी श्रुति उपलब्ध होती है ॥३६॥

रत्नप्रभा

अन्तरा चापि त्विति । अनाश्रमिणां जपादिकर्मसत्त्वाद् निन्दितत्वाच्च संशये सति आश्रमकर्मणामेव विद्याहेतुत्वश्रुतेरनाश्रमस्य निन्दितत्वाच्चाऽनधिकार इति पूर्वपक्षः । तत्र अनाश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् ॥ ३६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः" । जो अनाश्रमी हैं उनके लिए जप आदि कर्म हैं और निन्दा भी है, इसलिए संशय होनेपर आश्रमकर्मोंमें ही विद्याके हेतुत्वका श्रवण होनेसे अनाश्रमकी निन्दा होनेसे अनाश्रमीका विद्यामें अधिकार नहीं है, यह पूर्वपक्ष है । उसमें अर्थात् पूर्वपक्षमें अनाश्रमकर्मोंमें विद्याहेतुत्वकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है ॥३६॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—अपि च—अन्यदपि, स्मर्यते—संवर्तप्रभृतीनां व्यावृत्ताश्रमाणां योगित्वं स्मर्यते ।

भाषार्थ—और भी संवर्त आदिका, जो आश्रमी नहीं हैं, योगीरूपसे यत्र तत्र श्रवण होता है ।

भाष्य

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यते इतिहासे ॥ ३७ ॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तम्; का नु खलु प्राप्तिरिति, साऽभिधीयते—

भाष्यका अनुवाद

नग्नचर्याके योगसे आश्रमकर्मकी अपेक्षा नहीं रखनेवाले संवर्त आदि महायोगी हुए, ऐसा इतिहासमें सुना जाता है ॥ ३७ ॥

परन्तु यहां लिङ्गरूप श्रुति और स्मृतिका तुमने उपन्यास किया है, उसकी प्राप्ति—विधिवाक्य कौन हैं ? उसे कहते हैं—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—विशेषानुग्रहः, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, विशेषानुग्रहः—विशेषैः जपोपवासादिकर्मविशेषैः ज्ञानहेतुभिः रैकादीनामनाश्रमिणां विद्यायामनुग्रहः—अधिकारः [श्रूयते इत्यर्थः] ।

भाषार्थ—और भी रैक्व प्रभृति अनाश्रमियोंका जप आदि ज्ञानहेतुभूत कर्मविशेषोंसे विद्यामें अधिकार सुना जाता है ।

रत्नप्रभा

रैक्वादीनां विद्यावत्त्वलिङ्गस्य जन्मान्तराश्रमकर्मणाऽन्यथासिद्धेरनाश्रमकर्मणो विद्यार्थत्वप्रापकं मानान्तरं वाच्यमिति शङ्कते—**ननु लिङ्गमिति** । अनाश्रमित्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

रैक्व आदिका विद्यारूप लिङ्ग जन्मान्तरीय आश्रमकर्मसे अन्यथासिद्ध है, इसलिए अनाश्रम कर्म विद्यार्थक हैं, इसमें कोई अन्य प्रमाण कहना चाहिए, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"ननु लिङ्गम्" इत्यादिसे । अनाश्रमियोंके अविरुद्ध जो वर्णमात्रको प्राप्त धर्म हैं, वे विद्यार्थक

भाष्य

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति । तथा च स्मृतिः—

'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥'

इत्यसम्भवादाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाऽऽश्रमकर्मभिः सम्भवत्येव विद्याया अनुग्रहः । तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६।४५) इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतॄन् विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था

भाष्यका अनुवाद

उन विधुर आदिको भी अनाश्रमियोंसे विरोध न रखनेवाले पुरुषमात्र सम्बन्धी जप, उपवास, देवाराधन आदि धर्मविशेषोंसे विद्याकी प्राप्ति हो सकती है । इसी प्रकार 'जप्येनैव तु०' (ब्राह्मण जपसे ही संसिद्ध हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, वह अन्य कर्म करे या न करे, ब्राह्मण दयावान् कहलाता है) यह स्मृति जिनमें आश्रमकर्मका सम्भव नहीं है, उनका भी जपमें अधिकार दिखलाती है । और अन्य जन्ममें किये गये आश्रमकर्मोंसे भी विद्याका अनुग्रह हो सकता है । इसी प्रकार 'अनेकजन्म०' (अनेक जन्मके संस्कारके उपचयसे संसिद्ध होकर, उससे—संचित संस्कारसमुदायसे सम्यग् दर्शन प्राप्त करके संन्यासी प्रकृष्टगति—मोक्ष पाता है) यह स्मृति अन्य जन्मोंमें संचित किये गये संस्कारविशेषोंको भी विद्यानुग्राहकरूपसे दिखाती है । जिसका प्रयोजन दृष्ट है, ऐसी विद्या प्रतिषेधके अभावसे ही

रत्नप्रभा

विरुद्धानां वर्णमात्रप्राप्तधर्माणां विद्यार्थत्वे मानमाह—तथा चेति । मैत्रः—दयावानित्यर्थः । ननु अनाश्रमिणां कर्म भवतु विद्याहेतुः, तथापि तेषां न श्रवणादावधिकारः, संन्यासाभावादित्यत आह—दृष्टार्था चेति । बन्धकाज्ञानध्वस्तिफलकविद्याकाम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसमें प्रमाण कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे । मैत्रका अर्थ दयावान् है । परन्तु अनाश्रमियोंके कर्म विद्याके हेतु भले हों, परन्तु संन्यासका अभाव होनेसे श्रवण आदिमें अधिकार नहीं है ? इसपर कहते हैं—"दृष्टार्था च" इत्यादिसे । बन्धके-संसारके हेतुभूत

भाष्य

च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाऽप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु। तस्मात् विधुरादानीमप्यधिकारो न विरुध्यते ॥ ३८ ॥

भाष्यका अनुवाद

विद्यार्थीको श्रवणादिमें अधिकृत करती है। इसलिए विधुर आदिका भी विद्यामें अधिकार विरुद्ध नहीं है ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभा

स्य श्रवणेऽधिकारः। संन्यासोऽपि कदाचित् कृतो ज्ञाने उपकरोति, श्रवणं प्रत्यनङ्गत्वादिति भावः ॥ ३८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अज्ञानका नाश जिसका फल है, ऐसी विद्याके अभिलाषीका श्रवणमें अधिकार है। कादाचित्क संन्यास भी ज्ञानमें उपकार करता है, क्योंकि संन्यास श्रवणके प्रति अङ्ग नहीं है, यह भाव है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—अतः, तु, इतरत्, ज्यायः, लिङ्गात्, च।

पदार्थोक्ति—अतस्तु—अनाश्रमित्वात्तु, इतरत्—आश्रमित्वम्, ज्यायः—शीघ्रमेव विद्यासाधनम् [कुतः?] लिङ्गात् च—'तेनैति ब्रह्मवित्' इत्यादिश्रुतौ पुण्यकृत्त्वविशेषणरूपश्रुतिलिङ्गात् च।

भाषार्थ—अनाश्रमित्वकी अपेक्षा आश्रमित्व शीघ्र विद्याका साधन है, क्योंकि 'तेनैति ब्रह्मवित्' इत्यादि श्रुतिमें पुण्यकृत्त्व विशेषणरूप श्रुति लिङ्ग है।

भाष्य

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम्, श्रुतिस्मृतिसंदृष्टत्वात्। श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४।४।९) इति।

भाष्यका अनुवाद

परन्तु इससे—अन्तरालमें रहनेसे—अनाश्रमी रहनेसे, अन्य अर्थात् आश्रममें रहना श्रेष्ठ—विद्यासाधन है, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें ऐसा देखा जाता है। 'तेनैति ब्रह्मवित्०' (शुद्धसत्त्व ब्रह्मवेत्ता उस

भाष्य

'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ।
संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' ॥
इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥

भाष्यका अनुवाद

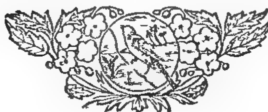
मार्गसे जाता है, ब्रह्मको प्राप्त करता है) ऐसी श्रुति लिंग है और 'अनाश्रमी न तिष्ठेत०' (द्विज एक दिन भी अनाश्रमी न रहे, एक वर्ष तक अनाश्रमी रहकर उसे एक कृच्छ्र करना चाहिए) ऐसी स्मृति भी लिंग है। इससे प्रतीत होता है कि आश्रमित्व श्रेष्ठ है ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभा

तर्ह्याश्रमित्वं वृथेत्यत आह—अतस्त्विति । पुण्यकृत्तैजसः—शुद्धसत्त्वः तेन ज्ञानमार्गेण एति—ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र पुण्यकृत्त्वलिङ्गादाश्रमित्वं ज्यायः, पुण्योपचये शीघ्रं विद्यालाभात् अनाश्रमस्य निन्दितत्वाच्चैवमिति भावः ॥ ३९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो आश्रम व्यर्थ है, इसपर कहते हैं—"अतस्तु" इत्यादिसे । पुण्यकृत्तैजस —शुद्धसत्त्व उससे—ज्ञानमार्गसे एति—ब्रह्मको प्राप्त करता है, ऐसा अर्थ है । यहाँ पुण्यकृत्त्वरूप लिङ्गसे आश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि पुण्यके उपचयसे शीघ्र विद्याकी प्राप्ति होती है और अनाश्रमीकी निन्दा भी है, यह भाव है ॥ ३९ ॥



[१० तद्भूताधिकरण सू० ४०]

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा रागात् स विद्यते ।
पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथारोहस्तथैच्छिकः ॥ १ ॥
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मतः ।
आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रतः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आश्रमोंका अवरोह—प्रच्युति हो सकता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—आश्रमोंका अवरोह रागसे या पूर्वाश्रमधर्ममें श्रद्धासे हो सकता है जैसे ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंके आरोहमें इच्छा ही कारण होती है, वैसे अवरोहमें भी उक्त दो कारण हो सकते हैं ।

सिद्धान्त—राग अतिनिषिद्ध है और जो विहित है, वही धर्म होता है, इसलिए आरोहनियमादिके कथनसे अशास्त्रीय अवरोह नहीं है ।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—तद्भूतस्य, तु, न, अतद्भावः, जैमिनेः, अपि, नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।

पदार्थोक्ति—तद्भूतस्य—प्राप्तोत्तमाश्रमस्य अतद्भावः—उत्तमाश्रमात् प्रच्युतिः, न—न भवितुमर्हति, इति जैमिनेः अपि—आचार्यस्य जैमिनेः अपि [सम्मतम्, कुतः ?] नियमातद्रूपाभावेभ्यः—नियमः—'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयात्' इति नियमः, अतद्रूपम्—प्रत्यवरोहबोधिकायाः श्रुतेरभावः, अभावः—शिष्टाचारस्याभावः, इत्येतेभ्यो हेतुभ्यः ।

भाषार्थ—जिसने उत्तम आश्रम प्राप्त किया है, उसकी उत्तम आश्रमसे प्रच्युति—निवृत्ति नहीं हो सकती है, यह जैमिनि आचार्यको भी सम्मत है, क्योंकि नियम, अतद्रूप और अभाव, ये कारण हैं, वनमें जावे और फिर वहांसे लौटे नहीं, यह नियम है प्रत्यवरोहबोधकश्रुति का अभाव अतद्रूप है और शिष्टाचारका अभाव—अभाव है ।

---

* सारांश यह है कि 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (ब्रह्मचर्यकी समाप्ति करके गृहस्थाश्रमी बने) 'गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' (गृहस्थसे वनी होकर सन्यास ले) इस प्रकार

भाष्य

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम्। तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः। पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्यात् विशेषाभावादिति।

एवं प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथं-

भाष्यका अनुवाद

संन्यासीके आश्रम हैं, ऐसा पहले सिद्ध किया जा चुका है। परन्तु उन आश्रमोंको प्राप्त हुए पुरुषोंकी किसी भी कारणसे उनसे प्रच्युति होती है या नहीं, ऐसा संशय होता है।

पूर्वपक्षी—पूर्व आश्रममें कहे गये याग आदि धर्म सुखपूर्वक अनुष्ठेय हैं ऐसी भावनासे—कर्मोंका अनुष्ठान करनेकी इच्छासे अथवा रागादिके वशीभूत होनेसे उनसे प्रच्युति भी होगी, क्योंकि विशेषका अभाव है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—तद्भूतको अर्थात् जिसने

रत्नप्रभा

तद्भूतस्य त्विति। उत्तमाश्रमात् पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य प्रच्युतस्य कर्मापि विद्याहेतुः, अनाश्रमिकर्मवदिति सङ्गतिः, पूर्वपक्षफलं चैतत्। सिद्धान्ते तु भ्रष्टस्य कर्म न हेतुरिति फलम्। रागादिप्राबल्यात् प्रच्युतिनिषेधाच्च प्रच्युतिः प्रामाणिकी न वेति

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तद्भूतस्य तु" इत्यादि। उत्तम आश्रमसे भ्रष्ट होकर पूर्वाश्रमको जो प्राप्त हुआ हो, उसका कर्म भी विद्याका हेतु है, अनाश्रमियोंके कर्मके समान, यह संगति है और यही पूर्वपक्षका फल है। सिद्धान्तमें भ्रष्टका कर्म विद्याहेतु नहीं होता, यह फल है। राग आदिके प्रबल होनेसे और प्रच्युतिका निषेध होनेसे प्रच्युति प्रमाणिकी है या नहीं, इस प्रकार संशय है।

आश्रमोंका आरोह जैसे इच्छाधीन है, वैसे संन्याससे पुनः वानप्रस्थ हो सकता है, क्योंकि कहीं राग होगा और कहीं पूर्वाश्रमधर्ममें श्रद्धातिशय होगा।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—पदार्थमें जो राग होता है, वह मिथ्याज्ञानसे होता है, अतः राग अत्यन्त निषिद्ध है। और पूर्वाश्रमधर्ममें श्रद्धा भी नहीं हो सकती है, क्योंकि उत्तर आश्रमीके प्रति अविहित होनेसे धर्म नहीं है। और जिसका अनुष्ठान हो सकता है और जिसमें श्रद्धा करता है, वह उसका धर्म नहीं हो सकता, परन्तु जो जिसके प्रति विहित है, वही उसका धर्म है। और 'ततो न पुनरेयात्' (उससे पुनः भ्रष्ट न हो) इस प्रकार अवरोहके निषेधसे आरोहका नियमन होता है। और आरोहके समान अवरोहमें शिष्टाचार भी नहीं देखा जाता है, इससे अवरोह नहीं है।

भाष्य

चिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात्। कुतः? नियमातद्रूपाभावेभ्यः। तथा हि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २ २३।१) इति 'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति।

'आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम्।
आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि॥'

इति चैवंजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति। यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति

भाष्यका अनुवाद

ऊर्ध्वरेतोभाव प्राप्त किया है, उसका किसी भी प्रकारसे अतद्भाव नहीं हो सकता—उससे प्रच्युति नहीं हो सकती। किससे? नियमसे, अतद्रूपसे और अभावसे, क्योंकि 'अत्यन्तमात्मानमा० (आचार्यके कुलमें यावज्जीव अपनेको नियमोंसे अत्यन्त क्षीण करता हुआ), 'अरण्यमियादिति पदं०' (अरण्य अर्थात् पारिव्राज्य प्राप्त करे, यह पद—शास्त्रमार्ग है, उस पारिव्राज्यसे पीछे न हो—प्रच्युत न हो, यह उपनिषद्—रहस्य है), 'आचार्येणाभ्यनुज्ञातः०' (आचार्यसे अनुज्ञा पाकर शरीरके विमोक्षपर्यन्त चारों आश्रमोंमें से एक आश्रमका यथाविधि पालन करे) इस प्रकारका नियम प्रच्युतिका अभाव दिखलाता है। और जैसे 'ब्रह्मचर्यं समाप्य० (ब्रह्मचर्यकी समाप्ति करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे), 'ब्रह्मचर्यादेव०' (ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ले)

रत्नप्रभा

संशयः। सिद्धान्तसूत्रे नियमं व्याचष्टे—तथा हीति। अत्यन्तमिति नैष्ठिकत्वनियमः। अरण्यमिति एकान्तोपलक्षितं पारिव्राज्यं गृह्यते। तद् इयाद्—गच्छेत् इति पदं शास्त्रमार्गः, ततः तस्मात् पारिव्राज्यात् न पुनरेयात्—न प्रच्यवेद् इत्युपनिषद्रहस्यमित्यर्थः। अतद्रूपं प्रच्युतौ प्रमाणाभावं व्याचष्टे—तथा चेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तसूत्रमें नियमकी व्याख्या करते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे। 'अत्यन्तम्'से नैष्ठिकत्वक नियम है अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी विवक्षित है। 'अरण्यम्' शब्दसे एकान्तोपलक्षित पारिव्राज्यका ग्रहण होता है। इयात्—गच्छेत्—जावे। पद—शास्त्रमार्ग। ततः—उस पारिव्राज्यसे। न पुनरेयात्—फिर भ्रष्ट न हो। उपनिषत्—रहस्य, यह अर्थ है। प्रत्यागमनरूप प्रच्युतिमें प्रमाणके अभावका कथन करते हैं—"तथा च" इत्यादिसे। शिष्टाचारके अभावको

भाष्य

चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते, नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि। न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते। यत्तु पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति, तदसत् 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (३।३५) इति स्मरणात्, न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते, स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य। न च रागादिवशात् प्रच्युतिः। नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। जैमिनेरपीत्यपि शब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय ॥ ४० ॥

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकारके आरोहरूप वचन उपलब्ध होते हैं, वैसे प्रत्यववरोहरूप वचन उपलब्ध नहीं होते। और ऐसा आचरण करनेवाले शिष्ट भी नहीं हैं। पूर्वाश्रमके याग आदि धर्म सुखपूर्वक अनुष्ठेय हैं इससे उनका अनुष्ठान करनेकी इच्छासे प्रत्यवरोहण होता है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह असत् है, क्योंकि 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' (भली भाँति अनुष्ठान किये गये परधर्मसे विगुण भी स्वकीय धर्म श्रेष्ठतर है) ऐसी स्मृति है और न्याय भी है, क्योंकि जिसका जिसके प्रति विधान किया गया है वह उसका धर्म है, और जिससे भली भाँति जिसका अनुष्ठान किया जा सके उसका वह धर्म नहीं है, क्योंकि धर्मका लक्षण चोदना है। और रागादिके वश होनेसे उससे च्युति नहीं होती, क्योंकि नियमशास्त्र विशेष बलवान् है। 'जैमिनेरपि' (जैमिनिकी भी) इस प्रकार अपि शब्दसे इस विषयमें प्रतिपत्ति दृढ़ करनेके लिए जैमिनि और बादरायणकी सम्प्रतिपत्तिका उपदेश करते हैं ॥ ४० ॥

रत्नप्रभा

शिष्टाचाराभावमाह—न चैवमिति। 'चाण्डालाः प्रत्यवसिताः' इति स्मृतेश्च पतितानां कर्म निष्फलमिति भावः ॥ ४० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"न चवैम्" इत्यादिसे। 'चाण्डालाः प्रत्यवसिताः' (चाण्डाल हुए) इस स्मृतिसे पतितोंका कर्म निष्फल है, यह भाव है ॥ ४० ॥

[११ अधिकाराधिकरण सू० ४१–४२]

भ्रष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा ।
अदर्शनोक्तेरस्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ॥१॥
उपपातकमेवैतद् व्रतिनो मधुमांसवत् ।
प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः * ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ऊर्ध्वरेतसे भ्रष्ट अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचर्याश्रमसे भ्रष्ट जो होता है, उसका प्रायश्चित्त है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—प्रायश्चित्त नहीं है, प्रायश्चित्तके अभावका वचन है और जो प्रायश्चित्त–गर्दभपशुका आलम्भन है वह व्रतीके—उपकुर्वाण ब्रह्मचर्याश्रमीके लिए है ।

सिद्धान्त—व्रतीका मधुमांसभक्षण जैसे उपपातक है, वैसे यह भी उपपातक ही है महापातक नहीं है, इसलिए प्रायश्चित्तरूप संस्कारसे उसकी शुद्धि हो सकती है । और प्रायश्चित्तका अभाव बोधक वचन है वह यत्नपर है अर्थात् स्वल्प यत्न साध्य प्रायश्चित्त नहीं है, किन्तु अधिक प्रयत्न साध्य है ।

---

* सारांश यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे ऊर्ध्वरेतस्त्वको जो प्राप्त हुआ है और वह कदाचित् स्त्रीप्रसङ्गसे भ्रष्ट हो, तो उसके लिए प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि—

'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महा ॥'

भावार्थ यह है कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको प्राप्त करके यदि भ्रष्ट हो, तो उसका प्रायश्चित्त देखनेमें नहीं आता है, जिससे वह आत्मघात करनेवाला शुद्ध हो, इस प्रकार प्रायश्चित्तके अदर्शनका बोधक वाक्य है । यदि कोई शङ्का करे कि 'अथ यो ब्रह्मचारी स्त्रीमुपेयात्, स गर्दभं पशुमालभेत' (जो ब्रह्मचारी स्त्रीका प्रसङ्ग करे वह गर्दभ पशुका आलंभन करे) इस प्रकार प्रायश्चित्त सुना जाता है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह व्रती-परक है अर्थात् वेदाध्ययनका अङ्गभूत जो उपकुर्वाणनामक ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान करता है, उसके लिए यह प्रायश्चित्त है, इसलिए ऊर्ध्वरेतस्त्वसे जो भ्रष्ट है उसके लिए प्रायश्चित्त नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—जैसे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी यदि मद्यमांस-भक्षण करे तो उपपातक है, और उसका प्रायश्चित्तरूप संस्कार है, वैसे ऊर्ध्वरेता यदि गुरुदारासे अन्यत्र प्रवृत्त हो, तो वह उपपातक है महापातक नहीं है, इसलिए उसकी प्रायश्चित्तरूप संस्कारसे शुद्धि हो सकती है । यदि कोई शङ्का करे कि महापातकोंमें परिगणन न होनेसे उपपातकत्वका प्रायश्चित्त कहते हो, तो अदर्शन वाक्यकी क्या व्यवस्था होगी ? तो यह शङ्का योग्य नहीं है, क्योंकि अदर्शन वाक्य यत्नपरक है, यह कहते हैं, इसीलिए 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' यह कहते हैं 'नहीं

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—न, च, आधिकारिकम्, अपि, पतनानुमानात्, तदयोगात्।

पदार्थोक्ति—आधिकारिकमपि—अधिकारलक्षणसिद्धं गर्दभालम्भनरूपं प्रायश्चित्तमपि [नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिणः] न च—नास्ति, [कुतः] पतनानुमानात्—'आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्' इत्यादिनाऽनिवर्त्यपातित्यश्रुत्यनुमापकस्मरणात्, तदयोगात्—तस्य—प्रायश्चित्तस्य अयोगात्—असम्भवादिति [पूर्वपक्षः]।

भाषार्थ—अधिकार शास्त्रसे प्राप्त आधिकारिक प्रायश्चित्त—गर्दभालम्भन-रूप नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिए नहीं है, क्योंकि 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्' इत्यादिसे अनिवर्त्य-पातित्य-श्रुत्यनुमापक स्मृति है, अतः प्रायश्चित्तका अयोग—असम्भव है, यह पूर्वपक्ष है।

भाष्य

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति। नेत्युच्यते। यद-प्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याऽ-

भाष्यका अनुवाद

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमादसे ब्रह्मचर्यव्रतसे भ्रष्ट हो, तो उसका 'ब्रह्म-चार्यवकीर्णी' (ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुए ब्रह्मचारीको नैर्ऋत गर्दभका आलंभन करना चाहिए) यह प्रायश्चित्त होगा या नहीं होगा ? इसपर कहते हैं। अधिकार लक्षणमें 'अवकीर्णिपशुश्च' (जैसे उपनयनकालमें लौकिक अग्निमें

रत्नप्रभा

न चाधिकारिकमिति। अवकीर्येत व्यभिचरेद् इत्यर्थः। अवकीर्णं योनौ निषिक्तं रेतोऽस्यास्तीति अवकीर्णी। अत्र प्रच्युतस्य प्रायश्चित्तं स्यात् न वेत्युपपात-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न चाधिकारिकम्" इत्यादि। 'अवकीर्येत' का व्यभिचार करे, ऐसा अर्थ है। अवकीर्ण अर्थात् योनिमें निषिक्त वीर्य जिसका है, वह अवकीर्णी है। व्यभिचारके उपपातकरूप होनेसे—महापातक न होनेसे और स्मृतिमें पातित्यका कथन होनेसे प्रच्युतका प्रायश्चित्त है या नहीं है ?

है' ऐसा नहीं कहा। प्रायश्चित्त तो गर्दभ पशु ही है। क्योंकि दोनोंका ब्रह्मचारित्व समान है। वैसे वनस्थ और परिव्राजकके लिए भ्रष्ट होनेपर प्रायश्चित्त सुना जाता है—'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादश-रात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत् भिक्षुर्वनस्थवत् सोमवृद्धिवर्जम्' (वानप्रस्थ दीक्षासे भ्रष्ट होनेपर द्वादशरात्र कृच्छ्रका अनुष्ठान कर महाकक्षका बहुतृणकाष्ठ देशका जलप्रदानसे वर्धन करे। भिक्षु भी वनस्थके समान सोमलताको छोड़ कर वृद्धि करे) इत्यादि स्मृतिमें।

भाष्य

प्राप्तकालत्वात्' (जै० सू०६।८।२१) इति, तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति। किं कारणम् ?

'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्धयेत् स आत्महा ॥'

इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः। उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत् प्रायश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

भाष्यका अनुवाद

होम किया जाता है, वैसे ही अवकीर्णिपशुका भी लौकिक अग्निमें ही होम करना चाहिए, क्योंकि आधान अप्राप्तकाल है) ऐसा जो प्रायश्चित्तका निर्णय किया है, वह भी नैष्ठिकका नहीं होना चाहिए। उसका क्या कारण है ? 'आरूढो नैष्ठिकं०' (नैष्ठिक धर्ममें आरूढ होकर जो पीछे उससे भ्रष्ट होता है, उस आत्मघातीकी जिससे शुद्धि हो ऐसा प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता) इस प्रकार स्मृतिमें अप्रतिकार्य पतन कहा गया है, अतः जैसे कटे हुए सिरका पुनः प्रतिसन्धान नहीं किया जा सकता, वैसे ही इस पातकका प्रतिकार नहीं हो सकता। उपकुर्वाणका ऐसा अप्रतिकार्य पतन नहीं कहा गया है। इसलिए उसका प्रायश्चित्त हो सकता है ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभा

कत्वात् पतनस्मृतेश्च संशयः। प्रच्युतस्य यज्ञादिकं निष्फलमित्युक्तम्, तद्वत् प्रायश्चित्तमपि निष्फलमिति पूर्वपक्षयति—नेत्युच्यते इति। अत्र कृतप्रायश्चित्तस्य कर्म ज्ञानहेतुर्न भवतीति फलम्, सिद्धान्ते तु भवतीति भेदः। यथा उपनयनकाले होमो लौकिकाग्नावेव कार्यः, दारसंबन्धोत्तरकालविहिताधानस्य संप्रत्यप्राप्तकालत्वेनाऽऽहवनीयाभावात्, तद्वत् अवकीर्णिनो ब्रह्मचारिणः प्रायश्चित्तपशुर्गर्दभो लौकि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार यहांपर संशय होता है। प्रच्युतके यज्ञ आदि निष्फल हैं, ऐसा कहा गया है। जैसे उसके यज्ञादि निष्फल हैं, वैसे ही प्रायश्चित्त भी निष्फल है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे। यहां जिसने प्रायश्चित्त किया है, उसका कर्म ज्ञानका हेतु नहीं होता, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है और जिसने प्रायश्चित्त किया है, उसका कर्म ज्ञानका हेतु होता है, ऐसा सिद्धान्तमें फल है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तके फलमें भेद है। जैसे उपनयनकालमें लौकिक अग्निमें ही होम करना चाहिए, क्योंकि विवाहके अनन्तर विहित अग्न्याधानके उपनयन समयमें अप्राप्तकाल होनेसे आहवनीय अग्निका अभाव है,

रत्नप्रभा

कारनौ होतव्य इत्यधिकारलक्षणे षष्ठाध्याये निर्णीतम् । प्रायश्चित्तमाधिकारिकं तदु-पकुर्वाणस्यैव न नैष्ठिकस्य ॥ ४१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैसे ही व्यभिचारी ब्रह्मचारीको प्रायश्चित्त-पशु गर्दभका लौकिक अग्निमें होम करना चाहिए, ऐसा अधिकारलक्षणमें—मीमांसाके छठे अध्यायमें निर्णय किया गया है। आधिकारिक प्रायश्चित्त उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके लिए ही है, नैष्ठिकके लिए नहीं है ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेद—उपपूर्वम्, अपि, तु, एके, भावम्, अशनवत्, तदुक्तम् ।

पदार्थोक्ति—[इदं न महापातकं येन तदर्थं प्रायश्चित्तं न स्यात्] अपि तु एके—केचन आचार्याः उपपूर्वम्—उपोपसर्गपूर्वकमुपपातकम् [मन्यन्ते, अतः उपकुर्वाणब्रह्मचारिण इव नैष्ठिकस्यापि उक्तस्य प्रायश्चित्तस्य भावम्—सद्भावम् इच्छन्ति, तत्र दृष्टान्तः] अशनवत्—यथा मधुमांसभक्षिणो ब्रह्मचारिणो व्रतलोपः, पुनः संस्कारश्च तद्वत् [अतः प्रायश्चित्तस्य सद्भावो युक्ततर एव] तदुक्तम्—तदेतत्—प्रमाणलक्षणे—पूर्वमीमांसायां 'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' इत्यत्र उक्तम्—प्रतिपादितम् ।

भाषार्थ—यह महापातक नहीं है जिससे कि इसके लिए प्रायश्चित्त न हो, परन्तु उपपातक है, इसलिये उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके समान नैष्ठिक ब्रह्मचारीका भी प्रायश्चित्त है—जैसे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी यदि मद्य मांस खाय, तो उसका व्रतलोप और पुनः संस्कार होता है, वैसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी यदि कदाचित् अपने व्रतसे भ्रष्ट हो, तो उसका प्रायश्चित्त है। इस सबका विचार पूर्वमीमांसामें 'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' इत्यादि सूत्रमें किया गया है।

भाष्य

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते। यन्नैष्ठिकस्य गुरु-दारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत, न तन्महापातकं भवति; गुरुतल्पादिषु

भाष्यका अनुवाद

परन्तु कितने ही आचार्य नैष्ठिक ब्रह्मचारीका गुरुपत्नीसे अन्यत्र ब्रह्मचर्य विशीर्ण होना उपपातक ही है, वह महापातक नहीं है, क्योंकि गुरुतल्प आदि

भाष्य

महापातकेष्वपरिगणनात् । तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च अशनवत् । यथा

भाष्यका अनुवाद

महापातकोंमें उसकी गणना नहीं है, ऐसा मानते हैं। इसलिए वे उपकुर्वाणके समान नैष्ठिकके भी प्रायश्चित्तका अस्तित्व मानते हैं, क्योंकि ब्रह्मचारित्व और अवकीर्णित्वका दोनोंमें विशेष नहीं है—दोनों समानरूपसे ब्रह्मचारी और अवकीर्णी हैं। अशनके समान। जैसे कि मधु, मांसके अशनसे ब्रह्मचारीके

रत्नप्रभा

इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—उपपूर्वमिति। उपपदं पूर्वं यस्य पातकस्य तदुपपातकमित्यर्थः। 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इति दर्शनाभावस्मृतेः प्रायश्चित्ताभावपरत्वं कल्पयित्वा तन्मूलश्रुतिकल्पनात् प्रागेव क्लृप्तसाधारणश्रुत्या प्रायश्चित्तसद्भावसिद्धेः कल्पनं नोदेति क्लृप्तश्रुतिविरोधादिति भावः। प्रायश्चित्तस्य भावाभावप्रसिद्धयोः समत्वेऽपि भावप्रसिद्धिः श्रुतिमूलत्वादादर्त्तव्या इत्यत्र संमतिमाह—तदुक्तमिति। 'यवमयश्चरुः' इत्यत्र यवशब्दं केचिद्दीर्घशूके प्रयुञ्जते, केचिद्देशविशेषे प्रियङ्गुषु, अतः कस्य चरुः कार्य इति संदेहे वृद्धप्रयोगसाम्यात् समा तुल्या विकल्पेन प्रतिपत्तिः स्याद् इति प्राप्ते सिद्धान्तः। शास्त्रमूला प्रतिपत्तिर्ग्राह्या, शास्त्रनिमित्तत्वात् धर्मादिशानस्य। तथा च 'यदान्या ओषधयो म्लायन्त्यथैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति' इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"उपपूर्वम्" इत्यादिसे। 'उप' पद जिस पातकके पूर्वमें है, वह उपपातक है, ऐसा अर्थ है। 'प्रायश्चित्त न पश्यामि' यह प्रायश्चित्ताभाव दर्शन स्मृति प्रायश्चित्तके अभावका प्रतिपादन करती है, ऐसी कल्पना करके उसकी मूलभूत श्रुतिकी कल्पना करनेसे पहले ही प्रसिद्ध साधारण श्रुतिसे प्रायश्चित्तके सद्भावके सिद्ध होनेसे प्रायश्चित्तकी कल्पनाका उदय नहीं होता, क्योंकि क्लृप्त श्रुतिसे उसका विरोध होता है, ऐसा भाव है। यद्यपि प्रायश्चित्तके भाव और अभावकी सिद्धि समान है, तो भी श्रुतिमूलक होनेसे भावकी सिद्धि आदरणीय है, इस विषयमें सम्मति कहते हैं—"तदुक्तम्" इत्यादिसे। 'यवमयश्चरु', इसमें यवशब्दका कोई दीर्घशूकरूप अर्थमें प्रयोग करते हैं और कितने ही देशविशेषमें प्रियंगुरूप अर्थमें प्रयोग करते हैं। अतः 'यवमयश्चरुः' इसमें किसका चरु करना चाहिए, ऐसा सन्देह होनेपर वृद्धप्रयोगके दोनों अर्थोंमें समान होनेसे विकल्पसे तुल्य प्रतिपत्ति होगी, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त है—शास्त्रमूलक प्रतिपत्तिका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि धर्मादिशान शास्त्रमूलक है, इसलिए 'यदान्या ओषधयो०' (जब अन्य

भाष्य

ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनः संस्कारश्चैवमिति। ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते, ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम्। तस्माद् भावो युक्ततरः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १।३।८) 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।३।९) इति। प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम्। एवं

भाष्यका अनुवाद

व्रतका लोप होता है और पुनः संस्कार भी होता है, वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिए। जो प्रायश्चित्तका अभाव मानते हैं, उनके मतका मूल उपलब्ध नहीं होता। परन्तु जो प्रायश्चित्तका अस्तित्व मानते हैं उनके मतमें 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी' यह अविशिष्ट श्रुति मूल है। इसलिए प्रायश्चित्तका अस्तित्व विशेषतया युक्त है। वह प्रमाणलक्षणमें कहा गया है—'समा विप्रतिपत्तिः' 'शास्त्रस्था वा' (कुछ लोग यवशब्दकी दीर्घशूक—'जौ' अर्थमें योजना करते हैं और कुछ लोग 'प्रियंगु' अर्थमें उसकी योजना करते हैं, यहां पर लोक व्यवहारसे शब्दार्थ निर्णय करें, तो आर्यों और म्लेच्छोंकी प्रसिद्धि समानबलवाली होनेसे तुल्य विप्रतिपत्ति—अविशिष्ट शक्तिका अवगम हो—दोनों अर्थ विकल्पसे स्वीकार्य हों, ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं कि शास्त्रीय प्रतिपत्ति ही अधिक बलवती है, क्योंकि धर्मादिज्ञान शास्त्रनिमित्त है। ऐसा होनेपर प्रायश्चित्तका अभाव कहनेवाली स्मृति तो (नैष्ठिकमें) यत्नगौरव उत्पन्न करनेके लिए है, ऐसा व्याख्यान

रत्नप्रभा

शास्त्रमूलत्वाद्दीर्घशूकप्रयोगस्यैवादर इत्यर्थः। स्मृतेर्गतिमाह—प्रायश्चित्तेति। ब्रह्मचर्यरक्षार्थं यत्नाधिक्यं कार्यमिति ज्ञापनार्थं प्रायश्चित्तं स्पष्टमपि 'न पश्यामि' इत्युक्तं भगवदत्रिणेत्यर्थः। नैष्ठिकवत् यतिवनस्थयोरपि प्रमादाद् ब्रह्मचर्यभङ्गे प्रायश्चित्तमस्तीत्याह—एवमिति। कृच्छ्रम्—प्राजापत्यम्, महाकक्षम्—बहुतृणकाष्ठदेशं जल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ओषधियां म्लान होती हैं, तब ये यव मोदमान—हरे भरे रहते हैं) ऐसा शास्त्रमूलक होनेसे दीर्घशूकरूप अर्थमें जो प्रयोग है, वही आदरणीय है, ऐसा अर्थ है। स्मृतिकी गति कहते हैं—"प्रायश्चित्त" इत्यादिसे। ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए अधिक यत्न करना चाहिए, ऐसा ज्ञापन करनेके लिए यद्यपि प्रायश्चित्त स्पष्ट है, तो भी ऐसा भगवान् अत्रिने कहा है कि 'मैं नहीं देखता' ऐसा अर्थ है। नैष्ठिकके समान संन्यासी और वानप्रस्थका भी प्रमादसे ब्रह्मचर्यका भंग होनेपर प्रायश्चित्त है, ऐसा कहते हैं—"एवम्" इत्यादि। 'वानप्रस्थ' इत्यादि—कृच्छ्रम्—

भाष्य

भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्' 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम् ॥ ४२ ॥

भाष्यका अनुवाद

करना चाहिए। इसी प्रकार 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे०' (वानप्रस्थ व्रतका लोप होनेपर बारह रात्रि तक प्राजापत्य करके बहुत तृण और वृक्षवाले प्रदेशकी जलदान आदिसे वृद्धि करे), 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्' (भिक्षु वानप्रस्थके समान सोमलताको छोड़कर बहुत तृण और वृक्षवाले प्रदेशकी जलदान आदिसे वृद्धि करे और स्वशास्त्रविहित संस्कार—ध्यान, प्राणायाम आदि भी करे) इत्यादि भिक्षु और वैखानसके लिए प्रायश्चित्तकी स्मृतिका अनुस्मरण करना चाहिए ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभा

दानादिना वर्धयेत्। यतिस्तु सोमलतावर्जं वर्धयेत्। 'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्। भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन एव च। उपपातकसङ्घेषु पातकेषु महत्सु च। प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेद्' इत्यादिस्वशास्त्रविहितध्यानप्राणायामादिसंस्कारोऽपि भिक्षुणा कार्य इत्यर्थः। आदिपदात्—'मनोवाक्कायजान् दोषानज्ञानोत्थान् प्रमादजान्। सर्वान् दहति योगाग्निस्तूलराशिमिवाऽनलः। नित्यमेव तु कुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश। अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृता।' इत्याद्यानि वाक्यानि गृह्यन्ते ॥ ४२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राजापत्य। महाकक्षम्—बहुत तृण और काष्ठ—हरेतरुसे युक्त प्रदेशकी जलदान आदिसे वृद्धि करे। यति सोमलताको छोड़कर बहुत तृण और काष्ठ—हरेतरुसे युक्त प्रदेशकी वृद्धि करे। 'सर्वपापप्रसक्तोऽपि०' (सब पापोंमें आसक्त होनेपर भी भगवान् अच्युतका ध्यान करनेवाला पुरुष पुन पवित्र और पङ्क्तिपावन हो जाता है। उपपातकोंमें और महापातकोंमें रात्रिके चौथे प्रहरमें ब्रह्मध्यान करना चाहिए) इत्यादि स्वशास्त्रविहित—यतिधर्मप्रतिपादक शास्त्रमें कहे गये ध्यान, प्राणायाम संस्कार भी भिक्षुको करना चाहिए, ऐसा अर्थ है। आदिपदसे 'मनोवाक्कायजान्०' (जैसे अग्नि तूलराशिको भस्म कर देती है, वैसे ही अज्ञानसे और प्रमादसे हुए मन, वाणी और शरीरसे हुए सब दोषोंको योगाग्नि जला देती है, नित्य सोलह प्राणायाम करने चाहिए, एक मास तक प्रतिदिन किये गये प्राणायाम भ्रूणहत्या करनेवालेको भी पावन कर देते हैं) इत्यादि वाक्योंका ग्रहण करना चाहिए ॥ ४२ ॥



[१२ बहिरधिकरण सू० ४३]

शुद्धः शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः ।
उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा ॥ १ ॥
आमुष्मिके च शुद्धिः स्यात्ततः शिष्टास्त्यजन्ति तम् ।
*प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यादशुद्धिस्त्वैहिकीष्यते * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—शिष्टों द्वारा प्रायश्चित्तसे शुद्ध हुए ब्रह्मचारी आदिका ग्रहण होता है या त्याग होता है।

पूर्वपक्ष—दोषकी निवृत्ति होनेसे उसका ग्रहण होता है अन्यथा प्रायश्चित्तकृत शुद्धि ही व्यर्थ होगी।

सिद्धान्त—उसकी शुद्धि परलोकके लिए होती है, अतः शिष्ट लोग उसका त्याग करते हैं, इस लोकके लिए उसकी शुद्धि नहीं है, क्योंकि 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' इस प्रकार वाक्य है।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—बहिः, तु, उभयथा, अपि, स्मृतेः, आचारात्, च।

पदार्थोक्ति—उभयथा अपि—कृतप्रायश्चित्ता अपि ते शिष्टैः बहिस्तु—बहिरेव [कार्याः, कुतः ?] स्मृतेः—'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' 'आरूढपतितं दृष्ट्वा' इत्यादिनिन्दास्मृतेः, च—अपि च, आचारात् —शिष्टाचारात्।

भाषार्थ—'प्रायश्चित्तके करनेपर भी शिष्टजनोंको उनका बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' 'आरूढपतितं दृष्ट्वा' इत्यादि निन्दाकी स्मृति है और शिष्टाचार भी है।

---

* भाव यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि पूर्वोक्त प्रायश्चित्त द्वारा जो शुद्ध हुआ है उसका शिष्टोंके साथ व्यवहार हो सकता है।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि परलोकके लिए उसकी शुद्धि होनेपर भी प्रायश्चित्तके अदर्शन वाक्यसे ऐहिक शुद्धि न होनेके कारण शिष्ट पुरुष उसके साथ व्यवहार नहीं करते हैं।

भाष्य

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं यदि वोपपातकमुभ-
यथापि शिष्टैस्ते बहिष्कर्तव्याः,

'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा ॥' इति,
'आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम् ।
उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥'

इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः । शिष्टाचाराच्च । नहि यज्ञाध्य-
यनविवाहादीनि तैः सहाऽऽचरन्ति शिष्टाः ॥ ४३ ॥

भाष्यका अनुवाद

ऊर्ध्वरेताका अपने आश्रमसे प्रच्युत होना चाहे महापातक हो, चाहे उपपातक हो, दोनों ही अवस्थाओंमें शिष्टोंको उनका बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं०' (जो नैष्ठिक धर्ममें आरूढ होकर पुनः भ्रष्ट होता है उस आत्मघाती पुरुषकी जिससे शुद्धि हो, ऐसा प्रायश्चित्त मैं नहीं देखता), 'आरूढपतितं०' (आश्रममें आरूढ होकर उससे भ्रष्ट हुए ब्राह्मणको या मण्डलमेंसे निकले हुए ब्राह्मणको या बांधकर ऊलटे लटकाये गये ब्राह्मणको, या कृमियोंसे दष्ट ब्राह्मणको छूँ कर चान्द्रायणव्रत करे) इत्यादि अतिशय निन्दा करनेवाली स्मृतियां हैं और शिष्टोंका आचार भी है, क्योंकि शिष्ट उनके साथ यज्ञ, अध्ययन, विवाह आदि नहीं करते ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभा

बहिस्तूभयथापि । कृतप्रायश्चित्तैः तैः सह कृतश्रवणादिकं ज्ञानसाधनं न वेति सन्देहे तेषां शुद्धत्वात् साधनमिति प्राप्ते प्रायश्चित्तात् परलोके तेषां शुद्धत्वेऽप्यत्र शुध्यभावान्न साधनमिति सिद्धान्तयति—यद्यूर्ध्वेति । सुगमं भाष्यम् ॥ ४३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"बहिस्तूभयथाऽपि" इत्यादि । जिन्होंने प्रायश्चित्त किया है, उनके साथ किये गये श्रवण आदि ज्ञानके साधन हैं या नहीं ? ऐसा सन्देह होनेपर उनके शुद्ध होनेसे उनके साथ किये गये श्रवण आदि ज्ञानके साधन हैं, ऐसा प्राप्त होनेपर प्रायश्चित्तसे परलोकमें उनके शुद्ध होनेपर भी यहां उनकी शुद्धि नहीं होती, इसलिए उनके साथ किये गये श्रवण आदि ज्ञानके साधन नहीं हैं, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"यद्यूर्ध्वेति" इत्यादिसे । भाष्य सरल है ॥ ४३ ॥

[१३ स्वाम्यधिकरण सू० ४४-४६]

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम् ।
ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥१॥
ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विज्यत्वं स्फुटं श्रुतम् ।
*क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अङ्गोपासनाका अनुष्ठानकर्ता यजमान है या ऋत्विक् है ।

पूर्वपक्ष—उसका अनुष्ठाता यजमान है, क्योंकि तज्जन्य फल ध्यान करनेवालेको ही होता है, ऐसा सुना जाता है ।

सिद्धान्त—'एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' इस वाक्यमें स्पष्टरूपसे अङ्गोपासनाओंका कर्ता ऋत्विक् कहा गया है, और ऋत्विक् दक्षिणासे खरीदा गया है, इसलिए उसने जो अनुष्ठान किया है इसका फल स्वामीको—यजमानको होगा ।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—स्वामिनः, फलश्रुतेः, इति, आत्रेयः ।

पदार्थोक्ति—स्वामिनः—यजमानस्यैव [साङ्ग प्रधानोपासनेषु कर्तृत्वम्] इति आत्रेयः—आचार्य आत्रेयः [मन्यते, कुतः ?] फलश्रुतेः—उपासकस्यैव 'वर्षति हास्मै' इत्यादिफलश्रवणात् ।

भाषार्थ—साङ्ग प्रधान उपासनाका कर्ता यजमान ही है, यह आचार्य आत्रेयका मत है, क्योंकि 'वर्षति हास्मै' इत्यादि फल उपासकके लिए ही सुना जाता है ।

---

* सारांश यह है कि अङ्गाश्रित उपासनाओंका अनुष्ठान करनेवाला यजमान ही होगा ऋत्विक् नहीं होगा, क्योंकि ध्याताके फलका श्रवण है, और फल यजमान ही को हो सकता है, क्योंकि उसका स्वामी यजमान है । इससे फलाश्रय यजमान ही अनुष्ठाता है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'एवंविदुद्गाता ब्रूयात्' (इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता कहे) इस प्रकारके वाक्यशेषमें उपासकरूपसे उद्गाताका स्पष्ट रीतिसे श्रवण है । और यह ठीक भी है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिए यजमानने ऋत्विक् लोगोंका परिक्रयण किया है, इससे जो ऋत्विक्ने किया है वह यजमानने ही किया है, इस प्रकार फलाश्रयरूपसे यजमानकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिए उपासनारूप कर्म ऋत्विजोंका ही है यजमानका नहीं है ।

भाष्य

अङ्गेपूपासनेषु संशयः । किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति । किं तावत् प्राप्तम् ? यजमानकर्माणीति । कुतः ? फलश्रुतेः, फलं हि श्रूयते—'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामो-

भाष्यका अनुवाद

अङ्गसम्बद्ध उपासनाओंमें क्या वे यजमानके कर्म हैं या ऋत्विक्के कर्म हैं, ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है ?

पूर्वपक्षी—वे यजमानके कर्म हैं, ऐसा प्राप्त होता है। किससे ? फलकी श्रुति होनेसे, क्योंकि 'वर्षति हास्मै वर्षयति' (जो इस प्रकार जानकर वृष्टिमें पंचविध सामकी उपासना करता है, उसके लिए इच्छानुसार वृष्टि होती है और अधिक क्या कहें वह मेघोंसे वृष्टि करवाता है) इत्यादि फल

रत्नप्रभा

स्वामिनः फलश्रुतेरिति । अङ्गाश्रितोपास्तिषूभयकर्तृकत्वसंभवात् संशयः । यः कृतप्रायश्चित्तः, स संव्यवहार्य इत्युत्सर्गस्य निन्दातिशयस्मृत्या नैष्ठिकादिषु बाधवद् यो यदङ्गकर्ता, स तदाश्रितस्य कर्तेत्युत्सर्गस्य कर्तुः फलश्रुत्या बाध इति पूर्वपक्षमाह—किमिति । अत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यं फलम्, सिद्धान्ते त्वङ्गाश्रिताः ऋत्विक्कर्तृका अप्युपास्तयो यजमानगामिस्वतन्त्रफलाः, किमु वाच्यं स्वनिष्ठब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति फलं विवेक्तव्यम् । अतः पादसङ्गतिः हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारनिधनाख्यपञ्चप्रकारे साम्नि वृष्टिध्यातुर्वर्षसमृद्धिः फलमिति श्रुत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"स्वामिनः फलश्रुतेः" इत्यादि । अंगाश्रित उपासनाओंमें यजमान और ऋत्विक् दोनोंके कर्तृत्वका सम्भव होनेसे संशय होता है। जिसने प्रायश्चित्त किया है, वह संव्यवहार्य है, इस उत्सर्गका 'आरूढपतित विप्रम्' इत्यादि अतिनिन्दाका प्रतिपादन करनेवाली स्मृतिसे जैसे नैष्ठिक आदिमें बाध है, वैसे प्रकार जो जिस अंगका कर्ता है, वह अंगाश्रित उपासनाओंका कर्ता है, इस उत्सर्गका कर्ताके फलका श्रवण होनेसे बाध है, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"किम्" इत्यादि । कर्तृत्व और भोक्तृत्व एकनिष्ठ ही है, ऐसा पूर्वपक्षका फल है, सिद्धान्तमें तो ऐसा है कि अंगाश्रित, ऋत्विक्कर्तृक भी उपासनाएँ यजमानगामी स्वतन्त्र फलके लिए हैं, तो स्वनिष्ठ ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र फलके लिए है, इसमें कहना ही क्या है ! इस प्रकार फलका विवेक करना चाहिए, इसलिए पादकी संगति है । 'वर्षति हास्मै' हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन नामक साममें वृष्टिध्याताको वृष्टिकी समृद्धिरूप फल होता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । यह श्रुतफल

भाष्य

पास्ते (छा० २।३।२) इत्यादि । तच्च स्वामिगामि न्याय्यम्, तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात्, अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य । फलं च कर्तुरु पासनानां श्रूयते-'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' (छा० उ०) इत्यादि । नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम् 'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति (बृ० १।३।२८) इति । न, तस्य वाचनिकत्वात् । तस्मात् स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥ ४४ ॥

भाष्यका अनुवाद

सुना जाता है । वह फल स्वामीको प्राप्त हो, यह उचित है, क्योंकि साङ्ग प्रयोगमें वह अधिकारी है और इस प्रकारकी उपासना अधिकृतके अधिकारमें है । और 'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' (जो उपासना करता है, उसके लिए मेघ यथेष्ट वृष्टि करता है) इत्यादि उपासनाओंका फल कर्तामें सुना जाता है । परन्तु 'आत्मने वा यजमानाय०' (अपने लिए या यजमानके लिए जिस कामनाकी—मनोरथकी वह उद्गाता इच्छा करता है, उसे आगानसे सिद्ध करता है) इस प्रकार ऋत्विक्का भी फल दीखता है । नहीं, क्योंकि वह वाचनिक है । इससे फलवती उपासनाओंका स्वामी ही कर्ता है, ऐसा आचार्य आत्रेयका मत है ॥४४॥

रत्नप्रभा

श्रुतं फलम् ऋत्विग्गतं किं न स्यादित्यत आह—तच्चेति । यथा—साङ्गक्रत्वधिकृताधिकारत्वात् गोदोहनस्य फलं क्रत्वधिकारिगतम्, तद्वद् अङ्गोपासनस्यापि फलं तद्गतमेवेत्यर्थः । अस्तु तस्य फलं तद्गतम्, कर्ता त्वन्यः किं न स्यादित्यत आह—फलं चेति । यदुक्तं यजमानगामि फलमिति, तस्यापवादं शङ्कते—नन्विति । उद्गानेन साधयतीत्यर्थः । याजमानं फलमित्युत्सर्गस्य असति बाधकवचने सिद्धिरिति समाध्यर्थः । तस्मादिति । फलभोक्तृत्वादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऋत्विग्गामी क्यों न हो, इसपर कहते हैं—"तच्च" इत्यादिसे । जैसे सांग क्रतुमें अधिकृतका अधिकार होनेसे गोदोहन आदिका फल क्रतुके अधिकारीको प्राप्त होता है, वैसे ही अंगोपासनाका फल उसको—यजमानको ही होता है, ऐसा अर्थ है । भले ही उस उपासनाका फल यजमानको हो, परन्तु कर्ता अन्य क्यों न होगा, इसपर कहते हैं—"फलं च" इत्यादिसे । यजमानगामी फल है, ऐसा जो कहा गया है, उसके अपवादकी शंका करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । 'आगायति'—उद्गानसे सिद्ध करता है, ऐसा अर्थ है । यजमानको फल प्राप्त होता है, यह उत्सर्ग बाधक वचनके अभावमें सिद्ध होता है, ऐसा समाधानका अर्थ है । "तस्मात्" इति । फलका भोक्ता होनेसे, ऐसा अर्थ है ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

पदच्छेद—आर्त्विज्यम्, इति, औडुलोमिः, तस्मै, हि, परिक्रीयते ।

पदार्थोक्ति—[अङ्गोपासनम्] आर्त्विज्यम्—ऋत्विक्कर्तृकम्, इति औडुलोमिः—औडुलोमिराचार्यः [मन्यते,] हि—यतः, तस्मै—साङ्गाय कर्मणे, परिक्रीयते—ऋत्विक् परिक्रीतो भवति ।

भाषार्थ—औडुलोमि आचार्यका मत है कि अङ्ग कर्मका कर्ता ऋत्विक् है, क्योंकि दक्षिणा आदिसे ऋत्विक् खरीदा जाता है ।

भाष्य

नैतदस्ति—स्वामिकर्माण्युपासनानीति । ऋत्विक्कर्माण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । किं कारणं ? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक् परिक्रीयते । तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात् । तस्मात् गोदोहनादिनियमवदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन् । तथा च 'तं ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव'

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—उपासनाएँ स्वामिकर्म हैं, यह कथन ठीक नहीं है । ये ऋत्विक्कर्म हैं, ऐसा औडुलोमि आचार्यका मत है । क्योंकि उस सांग कर्मके लिए यजमानने ऋत्विक्का परिक्रयण किया है और उद्गीथादिकी उपासनाएँ उसके प्रयोगमें अन्तर्भूत होनेवाली हैं, क्योंकि वे अधिकृतके अधिकारमें हैं । इसलिए गोदोहन आदि नियमके समान ही वे अङ्गावबद्ध उपासनाएँ ऋत्विक्से की जानी चाहिएँ । उसी प्रकार 'तं ह बको दाल्भ्यो०' (उस प्राणादिदृष्टिविशिष्ट उद्गीथ नामक प्रणवको बक नामक दल्भके पुत्रने जाना, उसे जानकर वह नैमिषीय सत्रियोंका उद्गाता हुआ) ऐसी श्रुति विज्ञानका कर्ता उद्गाता

रत्नप्रभा

उपासनमार्त्विज्यम् ऋत्विकर्तृकमित्यत्र श्रौतं लिङ्गमाह—तथा चेति । तम्—उद्गीथाख्यं प्रणवं प्राणदृष्ट्या ध्यातवान्, ध्यात्वा च नैमिषीयाणां सत्रिणामुद्गातासी-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपासना आर्त्विज्य—ऋत्विक्कर्तृक है, इसमें श्रौत लिंग कहते—"तथा च" इत्यादिसे । उसको—उद्गीथनामक प्रणवको प्राणदृष्टिसे ध्यान किया । ध्यान करके यज्ञ करनेवाले नैमिषीयोंका उद्गाता हुआ, ऐसा अर्थ है । यजमान, जिसका फल अपनेको प्राप्त होनेवाला है, ऐसे सांग

भाष्य

(छा० १।२।१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति। यत्तूक्तम्—कर्त्राश्रयं फलं श्रूयते—इति। नैष दोषः। परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात् फलसम्बन्धानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा दिखलाती है। कर्ताके आश्रित फलको श्रुति कहती है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि वचनसे अन्यत्र फलके साथ ऋत्विक्का सम्बन्ध अनुपपन्न है, कारण कि वह—ऋत्विक् परके—यजमानके लिए है ॥४५॥

रत्नप्रभा

दित्यर्थः। यजमानेन स्वगामिफलकसाङ्गप्रयोगकरणाय ऋत्विजां क्रीतत्वात् कर्तृत्वेऽपि न तत्फलभाक्त्वम्, उत्सर्गस्य बाधकाभावादित्युक्तत्वात्, क्रयणद्वारा कर्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यं चोपपद्यते, भृत्यकर्तृके युद्धे राजा युध्यते जयति चेतिवदिति भावः ॥ ४५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रयोग करनेके लिए ऋत्विकोंको खरीद लेता है, अत एव ऋत्विक् यद्यपि कर्ता हैं, तो भी वे यज्ञफलके भाजन नहीं होते हैं, क्योंकि उत्सर्ग शास्त्रका कोई बाधक नहीं है, ऐसा कहा गया है। जैसे भृत्यों द्वारा किये गये युद्धमें राजा युद्ध करता है और जीतता है, ऐसा प्रयोग होता है, वैसे ही क्रयण द्वारा कर्तृत्व और भोक्तृत्वका सामानाधिकरण्य हो सकता है अर्थात् क्रयण द्वारा ऋत्विकोंसे किये गये यज्ञमें यजमान कर्ता और यज्ञफल भोक्ता दोनों हो सकता है ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

पदच्छेद—श्रुतेः, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, श्रुतेः—'यां वै काञ्चन' इत्यादिश्रुतेः, [ऋत्विक्कर्तृकस्योपासनस्य यजमानगामिफलत्वश्रवणात् अङ्गकर्मणाम् ऋत्विगेव कर्ता]।

भाषार्थ—'यां वै काञ्चन' (यज्ञमें जो कुछ आशीर्वाद ऋत्विक् लोग देते हैं, वे सब यजमानको ही प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे ऋत्विक्कर्तृक उपासनाका फल यजमानगामी है, इस प्रकार श्रवण होनेसे अङ्गकर्मोंका कर्ता ऋत्विक् है, ऐसा ज्ञात होता है।

भाष्य

'यां वै कांचन यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाचेति' 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छा० १।७।८–९) इति । तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥४६॥

भाष्यका अनुवाद

'यां वै कांचन यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाचेति' (यज्ञमें ऋत्विक् जिस किसी कामकी प्रार्थना करते हैं, यजमानके लिए ही उसकी प्रार्थना करते हैं, ऐसा उसने कहा), 'तस्माद् हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि०' (इसलिए ऐसा जाननेवाला उद्गाता यजमानसे कहे कि मैं तुम्हारे किस इष्ट कामका उद्गान करूँ) ये श्रुतियां ऋत्विक्कर्तृक विज्ञानका फल यजमानगामी है, ऐसा दिखलाती हैं। इससे अंगोपासनाएँ ऋत्विक्कर्म हैं, ऐसा सिद्ध होता है ॥४६॥



[१४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरण ४७-४९]

अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते ।

प्राप्तं पाण्डित्यतो मौन ज्ञानवाच्युभयं यतः ॥ १ ॥

निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् ।

विधेयं तद्भेददृष्टिप्राबल्ये तन्निवृत्तये ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—मौनका विधान है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—मौनका विधान नहीं है, क्योंकि पाण्डित्यसे वह प्राप्त ही है कारण कि पाण्डित्य और मौन दोनों ही ज्ञानवाची हैं ।

सिद्धान्त—निरन्तरज्ञाननिष्ठारूप मौन पाण्डित्यसे पृथक् है, इसलिए प्रबल भेदवासनाकी निवृत्तिके लिए उसका विधान करना आवश्यक है ।

---

* इस अधिकरणका सारांश यह है कि कहोलब्राह्मणमें सुना जाता है—'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनि ' इत्यादि । यह इसका भाव है—चूंकि ब्रह्मभाव परम पुरुषार्थ है इसलिए ब्रह्मरूप होनेकी इच्छावाला उपनिषद्के तात्पर्यका निर्णयरूप—पाण्डित्यका सर्वथा सम्पादन करके बालकके सामान रागद्वेषशून्य होता हुआ, असम्भावनाके निराकरणके लिए युक्तियोंका अनुचिन्तन करता हुआ अपना अवस्थान चाहे, अनन्तर बाल्य और पाण्डित्यका सम्पादन करके मुनि—इसमें 'भवेत्' (हो) इस प्रकार विधिका श्रवण नहीं होनेसे मुनित्वका विधान प्रतीत नहीं होता है, और विधिकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पाण्डित्यशब्दसे मौन प्राप्त ही है, अत अपूर्व नहीं है, पण्डितका भाव पाण्डित्य है अत. वह ज्ञानवाचक प्रतीत होता है, और (मन ज्ञाने) धातुसे बना हुआ मुनि भी तदर्थक [illegible] है, इससे मौनकी प्राप्ति होनेसे उसकी विधेयताकी कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रथमउक्त पाण्डित्यके पश्चात् मुनिशब्दसे कथन करनेमें किसी प्रयोजनविशेषका अभाव होनेसे निरन्तर ज्ञाननिष्ठारूप अपूर्व अर्थके वाचकरूपसे यहाँ मुनिशब्दकी विवक्षा प्रतीत होती है, इसलिए 'तिष्ठासेत्'(स्थित होनेकी इच्छा करे) इस पदकी अनुवृत्तिसे विधिकी प्राप्ति होती है । ज्ञानके नैरन्तर्यसे प्रयोजन भी है, क्योंकि प्रबलभेदवासनावासित जो पुरुष है, उसकी प्रबलभेदवासना निरन्तरज्ञानसे ही निवृत्त हो सकती है । अत. निदिध्यासनात्मक मौन अवश्य विधेय है ।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

पदच्छेद—सहकार्यन्तरविधिः, पक्षेण, तृतीयम् , तद्वतः, विध्यादिवत् ।

पदार्थोक्ति—[फलभूतसाक्षात्कारे] सहकार्यन्तरविधिः—सहकार्यन्तरस्य निदिध्यासनाख्यस्य मौनस्यापूर्वत्वात् विधिः [आश्रयितव्यः, ननु 'मौनं वानप्रस्थम्' इत्यादौ पारिव्राज्ये मौनशब्दवृत्तिदर्शनात् कथमत्र मौनं निदिध्यासनमित्याह—] तृतीयम्—श्रवणाद्यपेक्षया तृतीयं निदिध्यासनम् [एव विवक्षितम्, स्मृतौ भिन्नाश्रमसमभिव्याहारात् निदिध्यासनप्रधानं पारिव्राज्यं मौनशब्देन लक्ष्यते इत्यविरोधः, ननु कस्य मौनविधिः ? इत्यत आह]—तद्वतः—विद्यावतः 'विदित्वा' इति परोक्षज्ञानवतः संन्यासिनः प्रकृतत्वात् [ननु सूक्ष्मवस्तुसाक्षात्कारे निदिध्यासनस्य लोकतः प्राप्तत्वात् विधिः निरर्थकः ? इत्यत आह—] पक्षेण—यस्मिन् पक्षे भेददर्शनप्राप्तिस्तेन पक्षेण [प्राप्त्यभावात् विधिरर्थवान् एव, ननु ब्रह्मपरवाक्ये कथं विधिः ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—] विध्यादिवत्—विधेः आदिः विध्यादिः—प्रधानविधिः, तद्वत्—यथा दर्शपूर्णमासप्रधानपरे वाक्ये अन्वाधानादेरङ्गजातस्य विधिस्तद्वन्मौनस्येति भावः ।

भाषार्थ—फलभूत साक्षात्कारमें अपूर्व होनेसे मौनकी—निदिध्यासनकी विधि माननी चाहिए, यद्यपि 'मौन वानप्रस्थम्' इससे वानप्रस्थमें मौन शब्दका प्रयोग देखा जाता है, तथापि श्रवण आदिकी अपेक्षा से तृतीय निदिध्यासन ही प्रकृतमें विवक्षित है, क्योंकि स्मृतिमें अन्य आश्रमोंके समभिव्याहारसे निदिध्यासनप्रधान पारिव्राज्य ही मौनशब्दसे लक्षित होता है, अतः विरोध नहीं है, और मौनविधि 'विदित्वा' (जान कर) इससे परोक्षज्ञानवान् संन्यासीके प्रकृत होनेसे विद्यावान्‌के लिये ही है। यदि कोई शङ्का करे कि सूक्ष्मवस्तुके साक्षात्कारमें निदिध्यासन तो लोकसे ही प्राप्त है, तो विधिकी क्या आवश्यकता है ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस पक्षमें भेददर्शनकी प्राप्ति है, उस पक्षसे प्राप्ति न होनेसे विधि अर्थयुक्त ही है, परन्तु ब्रह्मपरक वाक्यमें विधि कैसे होगी ? इसपर दृष्टान्त कहते हैं—जैसे दर्शपूर्णमासप्रधानका बोधक जो वाक्य है, उसमें अन्वाधान आदि अङ्गोंकी विधि मानी जाती है, वैसे ही प्रकृतमें ब्रह्मप्रधान वाक्यमें निदिध्यासन आदि अङ्गोंकी विधि माननेमें क्या हानि है ?

भाष्य

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (बृ० ३।५।१)

भाष्यका अनुवाद

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं०' (जिससे प्राचीन ब्राह्मण आत्मज्ञान प्राप्तकर एषणाओंसे उत्थान करके भिक्षाटन करते थे, उससे आधुनिक ब्राह्मण आत्मज्ञानका निःशेष लाभ कर असंभावनानिरसनरूप मननसे अर्थात् शुद्ध बुद्धिसे रहनेकी इच्छा करे, बाल्य और पाण्डित्यका निःशेष लाभ कर पीछे मुनि—मननसे योगी हो, अमौन और मौनका निःशेष लाभ कर पीछे ब्रह्मवेत्ता कृतकृत्य होता है)

रत्नप्रभा

सहकार्यन्तरविधिः०। यस्मात् पूर्वे ब्राह्मणाः आत्मानं विदित्वा संन्यस्य भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्माद् अधुनातनोऽपि ब्राह्मणः आपातज्ञानरूपपण्डावान् पण्डितः तस्य कृत्यम् पाण्डित्यम्—श्रवणम् तत् निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन श्रवणजज्ञानस्य बालभावेन मननेन असंभावनानिरासेन बालस्य भावेन वा शुद्धचित्तत्वेन स्थातुमिच्छेद्, एवं मननश्रवणे कृत्वा अथ—अनन्तरं मुनिः—निदिध्यासनकृत् स्यादेवं अमौनं मौनादन्यद्—बाल्यपाण्डित्यद्वयं मौनं च निदिध्यासनं लब्ध्वा अथ ज्ञानसामग्रीपौष्कल्यानन्तरं ब्रह्माहमिति साक्षात्कारवान् ब्राह्मणः भवतीत्यर्थः। मौनशब्दस्य सिद्धरूपे अनुष्ठेये च ध्याने प्रयोगात् संशय। यथा—'तं ह बक' इत्यादिवाक्यशेषादुद्गीथाद्युपासनस्यार्त्विज्यत्वनिर्णय, तद्वद् 'अथ ब्राह्मणः' इति विधिहीन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सहकार्यन्तरविधि" इत्यादि। 'तस्माद् ब्राह्मण' इत्यादि। जिस कारणसे प्राचीन ब्राह्मण आत्माको जानकर संन्यास धारण करके भिक्षाचर्या करते थे, इसीसे आधुनिक ब्राह्मण भी पाण्डित्य—आपातत ज्ञानरूप पण्डासे युक्त पण्डित उसके कृत्य—पाण्डित्य—वेदान्तविचार अर्थात् श्रवण उसको निश्चयसे प्राप्त करके बाल्य द्वारा—श्रवणजन्य ज्ञानके बलसे अर्थात् मननसे असंभव आदिके निराकरण द्वारा बालभाव (बालकपने) अथवा शुद्धचित्तवाले रहनेकी इच्छा करे इस प्रकार मनन और चिन्तन करके तदनन्तर मुनि—निदिध्यासन करनेवाला हो, इस प्रकार अमौनको—मौनसे अन्य बाल्य और पाण्डित्य—इन दोनोंको और मौनको—निदिध्यासनको प्राप्त करके पुष्कल ज्ञानसामग्री होनेके बाद 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार साक्षात्कारवाला—ब्राह्मण होता है, ऐसा अर्थ है। मौनशब्दका सिद्धरूप पारिमाज्यमें और अनुष्ठेय ध्यानमें प्रयोग होता है, इससे संशय होता है। जैसे 'तं ह बको दाल्भ्य' इत्यादि वाक्यशेषसे उद्गीथादि उपासनाओंका ऋत्विक् कर्ता है, ऐसा निर्णय किया गया है, वैसे ही 'अथ ब्राह्मण' इस प्रकारके विधिहीन वाक्यशेषसे मौन भी अविधेय नहीं

भाष्य

इति बृहदारण्यके श्रूयते । तत्र संशयः—मौनं विधीयते न वेति ? न विधीयत इति तावत् प्राप्तम् । बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात् । न ह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते तस्मादयमनुवादो युक्तः । कुतः प्राप्तिरिति चेत् । मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात् पाण्डित्यं निर्विद्येत्यत्र प्राप्तं मौनम् । अपि चाऽमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते प्रागेव प्राप्तत्वात् । तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति समाननिर्देशत्वादिति ।

भाष्यका अनुवाद

ऐसी बृहदारण्यकमें श्रुति है। यहांपर संशय होता है कि मौनका विधान है या नहीं ?

पूर्वपक्षी—मौनका विधान नहीं है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'बाल्येन तिष्ठासेत्' यहींपर विधि समाप्त हो जाती है, क्योंकि 'अथ मुनिः०' इसमें विधिका प्रतिपादन करनेवाली विभक्तिकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए इसका अनुवाद होना ही युक्त है। मौनकी कहाँसे प्राप्ति हुई, ऐसा यदि विचार किया जाय, तो मुनि और पण्डित शब्दोंके ज्ञानार्थक होनेसे 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इन शब्दोंसे ही मौन प्राप्त होता है। और 'अमौनं च मौनं च' (अमौन और मौनको निःशेष जानकर पीछे ब्रह्मवेत्ता कृतकृत्य होता है) इसमें ब्राह्मणत्वका विधान नहीं है, क्योंकि वह पूर्वसे ही प्राप्त है। इसलिए 'अथ ब्राह्मणः' यह प्रशंसावाद ही है। इसी प्रकार 'अथ मुनिः' यह भी प्रशंसावाद ही हो सकता है, क्योंकि समान निर्देश है।

रत्नप्रभा

वाक्यशेषात् मौनस्याऽप्यविधेयत्वनिश्चय इति पूर्वपक्षमाह—न विधीयते इति । अत्र ध्यानस्याऽननुष्ठानम्, सिद्धान्ते त्वनुष्ठानमिति फलम् ।

यदि मौनं पारिव्राज्यम्, तदा वाक्यान्तरप्राप्तमनूद्यते बाल्यविधिप्रशंसार्थम् । यदि ज्ञानम्, तदा पाण्डित्यशब्दात् प्राप्तमिति पूर्वपक्षग्रन्थार्थः । मुनिशब्दाद् विज्ञाना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह निश्चय होता है, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"न विधीयते" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें ध्यानका अननुष्ठान (अनुष्ठान न करना फल है और सिद्धान्तमें ध्यानका अनुष्ठान फल है। यदि मौनका अर्थ पारिव्राज्य माना जाय, तो अन्य वाक्यसे प्राप्त हुए पारिव्राज्यका बाल्यविधिकी स्तुतिके लिए अनुवाद है। और यदि मौनका अर्थ ज्ञान माना जाय, तो वह पाण्डित्यशब्दसे प्राप्त होता है, ऐसा पूर्वपक्षग्रन्थका अर्थ है। मौनशब्दसे अतिशयविज्ञानकी प्रतीति

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिरिति। विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाऽऽश्रयितव्यः, अपूर्वत्वात्। ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्याऽवगतत्वमुक्तम्। नैष दोषः, मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात्, मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०।३७) इति च प्रयोगदर्शनात्। ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र। न, 'वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात्। इतराश्रमसंनिधानाच्च पारिशेष्यात् तत्रोत्तमाश्रमोपादानं

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'सहकार्यन्तरविधिः'। बाल्य और पाण्डित्यके समान विद्याके सहकारी मौनकी विधि ही माननी चाहिए, क्योंकि वह अपूर्व है। परन्तु पाडित्यशब्दसे ही 'मौन' अवगत है, ऐसा पीछे कहा गया है ? नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि मुनिशब्दका अतिशय ज्ञान अर्थ है और मननसे 'मुनि' इस व्युत्पत्तिका सम्भव है और 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (मुनियोंमें भी मैं व्यास हूँ) ऐसा प्रयोग दिखाई देता है। परन्तु 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलम्' (गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन और वानप्रस्थ) इस श्रुतिमें मुनिशब्द उत्तमाश्रमका वाचक भी है। नहीं, क्योंकि 'वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः' (वाल्मीकि, मुनिश्रेष्ठ) इत्यादिमें व्यभिचार दीखता है। परन्तु अन्य आश्रमोंका सन्निधान होनेसे, पारिशेष्यसे उस वचनमें उत्तम आश्रमका ग्रहण है,

रत्नप्रभा

तिशयः प्रतीयते, तस्य ज्ञानमात्रवाचिपाण्डित्यशब्दात् न प्राप्तिः। नापि मुनिशब्दः परिव्राड्वाचकः, वाल्मीक्यादिषु प्रयुज्यमानत्वात्। तस्मादप्राप्तं मौनमपूर्वत्वाद् विधिं कल्पयतीति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना। आपस्तम्बप्रयोगस्य गतिमाह—इतराश्रमेति। किञ्च, 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य' इति श्रवण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होती है और ज्ञानमात्रवाचक पाण्डित्यशब्दसे इस विज्ञानातिशयकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और मुनिशब्द परिव्राड्वाचक भी नहीं है, क्योंकि वाल्मीकि आदिमें उसका प्रयोग होता है। इसलिए अप्राप्त हुआ मौन अपूर्व होनेसे विधिकी कल्पना कराता है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। आपस्तम्बप्रयोगकी गति कहते हैं—"इतराश्रम" इत्यादिसे। किंच, 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य' इस प्रकार श्रवण और मननके समान मौन अनुष्ठेय है, ऐसा

भाष्य

ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य। तस्माद् बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते। यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति, तथाऽप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते—मुनिः स्यादिति। निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम्, तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः। कथं विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते, तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति। ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्राऽतिशयः, किं मौनविधिनेत्यत आह—

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि उत्तम आश्रममें ज्ञान प्रधान है। इससे बाल्य और पाडित्यकी अपेक्षासे इस तीसरे ज्ञानातिशयरूप मौनका विधान है। परन्तु बाल्यमें ही विधिकी समाप्ति है। यद्यपि ऐसा पीछे कहा गया है, तो भी मुनित्वके अपूर्व होनेसे उसके विधानका 'मुनिः स्यात्' (मुनि हो) इस प्रकार आश्रयण किया जाता है—मौनका निर्वेदनीयरूपसे निर्देश होनेसे भी बाल्य और पाण्डित्यके समान मौनके विधेयत्वका आश्रयण है। तद्वान्—विद्यावान् संन्यासीका। विद्वान् संन्यासीका ऐसा किससे समझा जाता है? इससे कि 'आत्मानं विदित्वा०' (आत्माको जानकर, पुत्रादि एषणाका त्याग करके, पीछे भिक्षाचर्य करते हैं) इस प्रकार संन्यासीका अधिकार है। परन्तु विद्यावत्त्व होनेसे उसमें अतिशय प्राप्त होता ही है। मौनविधिका क्या प्रयोजन है, इसपर कहते

रत्नप्रभा

मननवदनुष्ठेयत्वोक्तेर्मौनस्य विधेयतेत्याह—निर्वेदनीयत्वेति। न च त्रयाणां विधाने वाक्यभेदो दोषः। उपरि धारणवदिष्टत्वात् तद्वाक्यभेदस्येति भावः। कस्येदं ध्यानं विधीयते इत्यत्राह—तद्वत इति। 'आत्मानं विदित्वा' इति परोक्षज्ञानवतः संन्यासिनः प्रकृतत्वादित्यर्थः। सूक्ष्मार्थसाक्षात्कारसाधनत्वेन

रत्नप्रभाका अनुवाद

कथन होनेसे वह (मौन) विधेय है, ऐसा कहते हैं—"निर्वेदनीयत्व" इत्यादिसे। और तीनका विधान करनेपर वाक्यका भेदरूप दोष होगा, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि वह वाक्यभेद उपरिधारणके समान इष्ट ही है, ऐसा भाव है। किसके लिए इस ध्यानका विधान है, वह कहते हैं—"तद्वत" इत्यादिसे। 'आत्मानं विदित्वा०' (आत्माको जानकर) इस प्रकार परोक्षज्ञानवाले संन्यासीका प्रकरण होनेसे, ऐसा अर्थ है। सूक्ष्मार्थके साक्षात्कारके साधन होनेसे ध्यानादिकी यज्ञादिमें लोकसे प्राप्तिकी शङ्का करके नियम विधि कहते हैं—

भाष्य

क्षेणेति। एतदुक्तं भवति—यस्मिन् पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति, ास्मिन्नेष विधिरिति। विध्यादिवत्। यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाऽग्न्यन्वाधानादिकाङ्गजातं विधीयते एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन् विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः॥ ४७॥

भाष्यका अनुवाद

ई—'पक्षेण'। सार यह है कि जिस पक्षमें भेददर्शनके प्रबल होनेसे (विद्यातिशय) प्राप्त नहीं होता, उस पक्षमें यह विधि है। विध्यादिके समान। जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गकी कामना करनेवाला पुरुष दर्श और पूर्णमास याग करे) आदि विधिमें सहकारीरूपसे, अग्निके आधान आदि अङ्गसमूहका विधान होता है, इस प्रकार अविधि जिसमें प्रधान है, ऐसे भी इस विद्यावाक्यमें मौनविधि है ऐसा अर्थ है॥ ४७॥

रत्नप्रभा

ध्यानादे. पङ्क्त्यादौ लोकतः प्राप्ति शङ्कित्वा नियमविधिमाह—नन्वित्यादिना। ननु ब्रह्मविद्यापरे वाक्ये कथं ज्ञानाङ्गविधिरिति चेत् सफलक्रतुपरवाक्येऽङ्गविधिवदित्याह—विध्यादिवदिति। प्रधानमारभ्याऽङ्गपर्यन्तो विधिः। तत्र प्रधानः क्रतुः–विध्यादिः, अत एव अङ्गं विध्यन्त इत्युच्यते इत्यर्थ'। एतत्सूत्रभाष्यभावानभिज्ञाः संन्यासाश्रमधर्मश्रवणादौ विधिर्नास्तीति वदन्ति। विधौ ह्यप्राप्तिमात्रमपेक्षितम्, तच्च भेददर्शनप्राबल्याद्दर्शितमिति संप्रदायविदः॥ ४७॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ननु" इत्यादिसे। परन्तु ब्रह्मविद्यापरक वाक्यमें ज्ञानके अंगकी विधि किस प्रकार है, ऐसा यदि कोई कहे तो सफल क्रतुपर वाक्यमें अंगविधिके समान यह है, ऐसा कहते हैं—"विध्यादिवत्" इत्यादिसे। प्रधानसे लेकर अंगपर्यन्त विधि है। उसमें प्रधान क्रतु विध्यादि है समिदादि इसीलिए विध्यन्त कहे जाते हैं। इस सूत्रभाष्यके भावको न समझनेवाले संन्यासाश्रमधर्म श्रवणादिमें विधि नहीं है, ऐसा कहते हैं। विधिमें अप्राप्तिमात्रकी अपेक्षा है और वह भेददर्शनके प्रबल होनेसे दिखलाई गई है, ऐसा सम्प्रदायवेत्ता कहते हैं॥ ४७॥

भाष्य

एवं बाल्यादिविशिष्टे कैवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१५।१) इत्यत्र, तेन ह्युपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार बाल्यादिविशिष्ट श्रुतिप्रतिपादित कैवल्याश्रमके रहते छान्दोग्योपनिषद्में 'अभिसमावृत्य०' (धर्मजिज्ञासा समाप्त करके कुटुम्बमें गृहस्थाश्रममें अध्ययन आदि धर्मका आचरण करता हुआ रहे) इस वाक्यमें गृहीसे किस प्रकार उपसंहार किया जाता है ? क्योंकि इस गृहस्थाश्रमसे उपसंहार करनेवाला वेद उसमें आदर दिखलाता है । इससे उत्तर पढ़ते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥४८॥

पदच्छेद—कृत्स्नभावात्, तु, गृहिणा, उपसंहारः ।

पदार्थोक्ति—[यज्ञादीनाम्, आश्रमान्तरविहितानां वा शमादीनाम्] कृत्स्नभावात्—गृहस्थाश्रम एव कार्त्स्न्येन विद्यमानत्वात्' गृहिणा—गृहस्थाश्रमेण उपसंहारः—उपसंहरणम् [कृतम्, न तु 'संन्यासो, नास्ति' इत्येतावता, संन्यासाश्रमप्रतिपादकवाक्यानां भूयसां सत्त्वात्, इति भावः] ।

भाषार्थ—गृहस्थाश्रममें विशेषरूपसे विद्यमान हैं, अतः यज्ञ आदि और आश्रमान्तर विहित शम आदिका गृहस्थाश्रमसे उपसंहार किया गया है, संन्यास आश्रम नहीं है इस कारण गृहस्थाश्रमसे उपसंहार नहीं किया गया, क्योंकि संन्यासके प्रतिपादक अनेक वाक्य विद्यमान हैं ।

भाष्य

तुशब्दो विशेषणार्थः । कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते । बहुलायासानि

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द विशेषणार्थक है । उससे गृहस्थकी पूर्णता विशेषणविशिष्टकी जाती

रत्नप्रभा

कृत्स्नभावात्त्विति । समावर्तनानन्तरं कुटुम्बे स्थितो ब्रह्मलोकं प्राप्नोति

रत्नप्रभाका अनुवाद

समावर्तनके अनन्तर गृहस्थाश्रममें रहकर ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है और पुनः

भाष्य

हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभवमहिंसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते । तस्माद् गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥ ४८ ॥

भाष्यका अनुवाद

है, क्योंकि गृहस्थके प्रति बहुत आयासयुक्त बहुतसे यज्ञादि आश्रमकर्म कर्त्तव्यरूपसे उपदिष्ट हैं और अहिंसा, इन्द्रियसंयम आदि अन्य आश्रमके कर्म यथासंभव विद्यमान हैं । इसलिए गृहमेधीसे उपसंहार विरुद्ध नहीं है ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभा

न च पुनरावर्तते इत्युपसंहारात् संन्यासो नास्तीति शङ्कार्थः । आयासविशिष्टकर्मबाहुल्याद् गृहिणोपसंहारः कृतो न संन्यासाभावादिति समाध्यर्थः ॥ ४८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

संसारमें नहीं आता । छान्दोग्यमें ऐसा उपसंहार होनेसे संन्यास नहीं है, यह शंकाका अर्थ है । समाधान ऐसा है कि आयास विशिष्ट बहुतसे कर्म गृहस्थाश्रममें होते हैं अतः गृहस्थाश्रमसे उपसंहार किया है । संन्यासका अभाव होनेसे गृहस्थाश्रमसे उपसंहार नहीं किया है ॥४८॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥४९॥

पदच्छेद—मौनवत्, इतरेषाम्, अपि, उपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—*मौनवत्—मौनस्य गार्हस्थ्यस्य च यथा श्रुतिमत्त्वं तद्वत्*, इतरेषामपि—ब्रह्मचारिवानप्रस्थाश्रमयोरपि, उपदेशात्—श्रुतिषु उपदेशात् [ताभ्यां सह चत्वार आश्रमा उक्ताः, बहुवचनन्तु व्यक्तिभेदाभिप्रायम्] ।

भावार्थ—मौन और गृहस्थाश्रम जैसे श्रुतिसम्मत हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी और *वानप्रस्थ भी श्रुतिसम्मत हैं,* अतः उन दो आश्रमोंको लेकर चार आश्रम हैं, 'इतरेषाम्' यह बहुवचन व्यक्तियोंके आनन्त्यके अभिप्रायसे है ।

भाष्य

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिसंमतावेवमितरावपि वानप्रस्थ-

भाष्यका अनुवाद

जैसे मौन और गार्हस्थ्य ये दो आश्रम श्रुतिप्रतिपादित हैं, वैसे ही वानप्रस्थ

भाष्य

गुरुकुलवासौ। दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः—'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात् तुल्यवद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः। इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

भाष्यका अनुवाद

और गुरुकुलवास ये दो आश्रम भी श्रुतिपादित है, क्योंकि 'तप एव द्वितीयो०' (तप ही दूसरा धर्मस्कन्ध है, ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी, यह तृतीय धर्मस्कन्ध है) इत्यादि श्रुति पीछे दिखलाई गई है। इसलिए चार आश्रमोंका विशिष्ट उपदेश होनेसे विकल्प और समुच्चयसे उनकी तुल्यवत् प्रतिपत्ति है। 'इतरेषाम्' (दूसरोंका) इस प्रकार दो आश्रमोंके लिए बहुवचन वृत्ति भेदसे या अनुष्ठाताके भेदसे है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४९ ॥

रत्नप्रभा

संन्यासगार्हस्थ्यद्वयमत्र सूत्रकृतोक्तम्। ततोऽन्यदाश्रमद्वयं नास्तीति कस्यचिद् भ्रमः स्यात्, तं निरस्यति—मौनवदिति। आश्रमद्वयवदित्यर्थः। इतरयोरपीति वाच्ये बहूक्तिरवान्तरभेदमपेक्ष्य। स चाऽस्माभिः प्राग् दर्शितः ॥ ४९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सूत्रकारने संन्यास और गार्हस्थ्य ये दो आश्रम यहांपर कहे हैं, इससे दो अन्य आश्रम नहीं हैं, ऐसा यदि किसीको भ्रम हो, तो उसका निरसन करते हैं—"मौनवत्" इत्यादिसे। अर्थात् दोनों आश्रमोंके समान। 'इतरयोः' कहनेके बदले 'इतरेषाम्' यह बहुवचन अवान्तर भेदसे या अनुष्ठाताके भेदसे है। ये चार-चार भेद पूर्वमें हम दिखा चुके हैं ॥४९॥



[१५ अनाविष्काराधिकरण सू० ५०]

बाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः ।
वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोऽस्तु नेतरा ॥ १ ॥
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता ।
*अत्यन्तानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—बाल्यशब्दसे वयका ग्रहण होता है, या कामचारका या धीकी—अन्तःकरणकी शुद्धिका ग्रहण होता है ?

पूर्वपक्ष—बालका भाव बाल्य यह प्रसिद्ध है, अतः बाल्यशब्दसे अवस्थाका ही ग्रहण है, यदि अवस्थाको अविधेय माना जाय, तो कामचारका—यथेष्ट प्रवृत्तिका ही ग्रहण करना उचित है, परन्तु बुद्धिकी शुद्धिका ग्रहण नहीं हो सकता है।

सिद्धान्त—बाल्यशब्दसे बुद्धिकी शुद्धि ही लेनी चाहिए, क्योंकि वही मननके लिए उपयुक्त है, अवस्था और कामचारका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे दोनों अत्यन्त अनुपयुक्त और विरुद्ध हैं।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

पदच्छेद—अनाविष्कुर्वन्, अन्वयात् ।

पदार्थोक्ति—अनाविष्कुर्वन्—बालकवत् स्वस्य ज्ञानवैराग्यादिकं लोकानामप्रकटयन् ['भावशुद्धो भवेत्' इत्येतावन्मात्रं 'अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्तचाराः' इत्यादिश्रुतेः विधीयते, कुतः ?] अन्वयात्—तावन्मात्रस्य प्रधाने ज्ञानाभ्यासेऽन्वयात् ।

भाषार्थ—बालकके समान अपने ज्ञान और वैराग्यको लोगोंमें प्रकट नहीं करता हुआ 'केवल शुद्धभाव हो' इतना ही 'अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्तचारा' इत्यादि श्रुतिसे विधान किया जाता है, क्योंकि तावन्मात्र ही प्रधानीभूत ज्ञानके अभ्यासमें अनुगत है।

---

* सारांश यह कि 'बाल्येन तिष्ठासेत्' (बालभावसे रहे) यह श्रुतिमें सुना जाता है। इसमें बाल्यशब्दसे 'बालका भाव—वयका ही ग्रहण होना युक्त है, क्योंकि बाल्यशब्द अवस्थामें लोकमें प्रसिद्ध है। यदि मान लिया जाय कि अवस्थाका विधान नहीं हो सकता है, तो कामचारका ही बाल्यशब्दसे ग्रहण करनेमें कोई हानि नहीं है, परन्तु भावशुद्धि बाल्य—शब्दका अर्थ नहीं हो सकता है।

भाष्य

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३।५।१) इति बाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते। तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्य-

भाष्यका अनुवाद

'तस्माद् ब्राह्मणः०' (इसलिए ब्राह्मणको पाण्डित्यका—आत्मविज्ञानका निःशेष सम्पादन कर बाल्यसे—ज्ञानबलभावसे रहना चाहिए) इसमें बाल्यका अनुष्ठेयरूपसे श्रवण है। यहांपर बालका भाव या कर्म बाल्य—इस तरह तद्धित प्रत्यय होनेसे बालभावका अर्थात् वयोविशेषका इच्छासे सम्पादन नहीं किया

रत्नप्रभा

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्। तत्र बाल्ये विषये तद्धितस्य भावार्थत्वासम्भवात् कर्मार्थत्वं गृहीत्वा तिष्ठन्मूत्रत्वादिकर्मणोऽप्ररूढेन्द्रियत्वादिरूपभावशुद्धेश्च बालकर्मत्वाविशेषात् संशयमाह—तत्रेति। पूर्वपक्षे विद्याङ्गत्वेन तिष्ठन्मूत्रत्वादेरप्यनुष्ठानं सिद्धान्ते भावशुद्धेरेवेति फलम्। पूर्वत्र मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये ध्याने प्रसिद्धत्वाद् ध्यानं विधेयमित्युक्तम्। तद्वद् बाल्यशब्दस्य कामचारादौ प्रसिद्धेस्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्" इति। इसमें बाल्य इस शब्दमें तद्धितके भावार्थत्वका संभव न होनेसे कर्मार्थत्व मानकर खड़े-खड़े मूत्र, पुरीषत्याग आदि कर्म और इन्द्रियोंका प्ररूढ न होना रूप भावशुद्धि इन दोनोंके समानरूपसे बालकर्म होनेके कारण संशय कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें खड़े होकर मूत्र और पुरीषका त्याग करना रूप कामचारादिका विद्याके अंगरूपसे अनुष्ठान फल है और सिद्धान्तमें विद्याके अंगरूपसे भावशुद्धि ही फल है। मौनशब्दके ज्ञानातिशय ध्यानमें प्रसिद्ध होनेसे ध्यान विधेय है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। इसी प्रकार बाल्यशब्दके कामचार आदिमें प्रसिद्ध होनेसे उसकी विधिका ग्रहण

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रवणरूप और मननरूप पाण्डित्य और निदिध्यासनके मध्यमें मननकी विधेयरूपसे विवक्षाकी है। और उस मननके लिए भावशुद्धि अपेक्षित है, क्योंकि रागादि दोषग्रस्त बाह्य प्रवृत्तिके परित्यागके बिना मनन हो ही नहीं सकता है। 'बालस्य कर्म' (बालकका कर्म) इस प्रकारकी व्युत्पत्ति यथेच्छाचार और भावशुद्धिमें समान ही है। अवस्था और कामचार तो मननमें अत्यन्त अनुपयुक्त है, इतना ही नहीं प्रत्युत विरोधी भी है, कारण कि मूढ या बहिःप्रवृत्त मन मननका विनाशक है, इससे भावशुद्धि ही बाल्यशब्दका अर्थ है, अन्य उभय अवस्थाएँ और कामचार नहीं है।

भाष्य

थोपपादमूत्रपुरीपत्वादि बालचरितमन्तर्गता वा भावविशुद्धिर्दम्भदर्पप्ररूढेन्द्रियत्वादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्? कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीपत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम्। ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम्। न, विद्यावतः संन्यासिनो वचनसामर्थ्यात् दोषनिवृत्तेः पशुहिंसादिष्विवेति।

भाष्यका अनुवाद

जा सकता, अतः जिसमें मूत्र, पुरीष आदिका नियम नहीं है, ऐसा बालचरित बाल्य है या अन्तर्गत भावशुद्धि या जिसमें इन्द्रियां प्ररूढ़ नहीं हुईं और जो दंभ, दर्प आदिसे रहित है, ऐसा बाल्य है, ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—कामचार—इच्छानुसार वर्तन-वदन, भक्षण, यथासम्भव मूत्र, पुरीषादि जिसमें होता है, ऐसा बाल्य लोकमें प्रसिद्धतर है, उसका ग्रहण करना युक्त है। परन्तु पतितत्व आदि दोषकी प्राप्ति होनेसे कामचारता आदि लेना युक्त नहीं है, ऐसा नहीं, क्योंकि विद्यावान् संन्यासीका वचनके सामर्थ्यसे दोष निवृत्त हो जाता है। जैसे विधिप्राप्त पशुहिंसा आदिमें दोष नहीं होता है।

रत्नप्रभा

द्विविधग्रहणमित्याह—किं तावदिति। कामतः चरणवदनभक्षणानि यस्य स कामचारवादभक्षणः तस्य भावः—तत्तेत्यर्थः। यथोपपादम्—यथासंभवं मूत्रादि यस्य तद्भावः—तत्त्वम्, बाल्यविधिबलात् पातित्यशास्त्रम् अन्यविषयमिति भावः। 'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति' इत्यादिशौचभिक्षादिनियमविधिशास्त्राविरुद्धस्य भावशुद्ध्याख्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—'किं तावत्' इत्यादिसे। जिसका इच्छानुसार चलन, कथन, और भोजन होता है वह 'कामचारवादभक्षण' कहलाता है, उसमें रहनेवाला धर्म 'कामचारवादभक्षणता' है, ऐसा अर्थ है। चाहे जिस प्रकार खड़े हो या बैठकर जिस किसी स्थानमें मूत्र, पुरीष करना, 'यथोपपादमूत्रपुरीपत्व' है। बाल्यकी विधि होनेसे पातित्यशास्त्र उसमें लागू नहीं है, किन्तु उससे अतिरिक्त विषयमें लागू होता है, ऐसा भाव है। 'यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः' (जो मनुष्य विज्ञानयुक्त नहीं है, स्थिरचित्त नहीं है और सदा अपवित्र रहता है, वह उस ब्रह्मलोकको प्राप्त नहीं होता, किन्तु संसारको प्राप्त होता है) इत्यादि शौच, भिक्षा आदिकी नियमविधि करनेवाले शास्त्रसे अविरुद्ध भावशुद्धिसंज्ञक बाल्य-

भाष्य

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न, वचनस्य गत्यन्तरसम्भवात्। अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन् बाल्यशब्दाभिलप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता। प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते। ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्। न च सकलायां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः सम्भाव्यते। तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति। ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत्, यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेष्वात्मानमाविष्कर्तुमीहते, तद्वत्। एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। तथा चोक्तं स्मृतिकारैः—

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—नहीं, अन्य शास्त्रसे विरोध होनेके कारण विद्वान्‌की कामचारता विधेय नहीं है, क्योंकि बाल्यशब्दवाच्य अन्य अविरुद्ध अर्थके प्रतीत होनेपर अन्य विधिके व्याघातकी कल्पना करना युक्त नहीं है। प्रधानके उपकारके लिए अंगका विधान किया जाता है। यहां पर ज्ञानाभ्यास यतियोंका प्रधान अनुष्ठेय है। और सकल बालचर्याका अङ्गीकार किया जाय, तो उससे ज्ञानाभ्यास सम्भव नहीं होगा। इसलिए जिसमें इन्द्रियाँ प्ररूढ़ नहीं हुई हैं, ऐसे बालका आन्तर भावविशेष 'बाल्य' इस वाक्यमें लिया जाता है, उसे कहते हैं—'अनाविष्कुर्वन्' ज्ञान, अध्ययन और धार्मिकत्व आदिसे अपनी ख्याति न करता हुआ, दम्भ, दर्प आदिसे रहित हो, जैसे इन्द्रियके प्ररूढ़ न होनेसे बालक अन्यके आगे अपनेको प्रकट करना नहीं चाहता, वैसे ही विद्वान् दूसरेके सामने अपना आविष्करण न करे, क्योंकि इस प्रकार इस वाक्यका प्रधानका उपकारक

रत्नप्रभा

बाल्यस्य विधिसंभवान्न यथेष्टचेष्टाविधिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति। प्रधानविरोधित्वाच्च न तद्विधिरित्याह—प्रधानेति। भावशुद्धेर्विद्योपकारकत्वेन अन्वयात्-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधिका संभव होनेसे यथेष्टचेष्टाविधि नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। प्रधानशास्त्रसे विरोध होनेसे भी कामचार आदिकी विधि नहीं है, ऐसा कहते हैं—"प्रधान"

भाष्य

'यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥'
'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः ॥' इति चैवमादि ॥ ५० ॥

भाष्यका अनुवाद

अर्थ उपपन्न होता है। उसी प्रकार स्मृतिकारोंने कहा है—'यं न सन्तं न चासन्तं०' (जिसको कोई सत् या असत्, अश्रुत या बहुश्रुत, सुवृत्त या दुर्वृत्त नहीं जानता, वह ब्राह्मण है । गूढधर्मका पालन करता हुआ विद्वान् दूसरोंसे अज्ञातचरित रहे, अन्धेके समान, जड़के समान और मूकके समान पृथिवीमें विचरण करे), और 'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' (जिसका चिह्न व्यक्त नहीं है, आचार व्यक्त नहीं है, ऐसा रहे) इत्यादि ॥ ५० ॥

रत्नप्रभा

अनाविष्कुर्वन् भवेत् इति वाक्यविध्यर्थ इति सूत्रयोजना ॥ ५० ॥

भाष्यका अनुवाद

इत्यादिसे । भावशुद्धिका विद्याके उपकारकरूपसे अन्वय होनेके कारण 'अनाविष्कुर्वन् भवेत्' (अपनेको प्रकट न करता हुआ विचरण करे) यह वाक्य विधिके लिए है, ऐसी सूत्रकी योजना है ॥ ५० ॥



[१६ ऐहिकाधिकरण सू० ५१]

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते ।
तथाभिसन्धेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ॥ १ ॥
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा ।
श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—श्रवण आदिके अनुष्ठान करनेपर नियमसे इसी जन्ममें ज्ञान होता है, या इस जन्ममें या जन्मान्तरमें ज्ञान होता है, इस प्रकार विकल्प है ?

पूर्वपक्ष—इसी जन्ममें ज्ञान होगा, क्योंकि 'इसी जन्ममें मुझे ज्ञान हो' इस प्रकार अभिलाषा करके पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, और यज्ञ आदि विविदिषाके उत्पादनमें ही चरितार्थ है, अतः उनसे अदृष्ट द्वारा शरीरान्तरमें ज्ञानकी प्रसक्ति नहीं होगी ।

सिद्धान्त—यदि प्रतिबन्ध न हो तो इसी जन्ममें ज्ञान हो सकता है, अन्यथा जन्मान्तरका भी ग्रहण करना होगा, क्योंकि 'श्रवणाय' इत्यादि शास्त्र है और वामदेवका दृष्टान्त भी है, अतः विकल्प है ।

---

* इस अधिकरणका भाव यह है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन होनेपर इसी जन्ममें ज्ञान होता है, इस प्रकार नियम ही है । और इस जन्ममें या, जन्मान्तरमें ज्ञान होगा, इस प्रकार विकल्प नहीं है, क्योंकि श्रवण आदिमें जो प्रवृत्त होता है, उसकी ज्ञानेच्छा ऐहिक ज्ञानको ही विषय करती है, क्योंकि 'इसी जन्ममें मुझे विद्या हो' इस प्रकारका अभिसन्धान, करके पुरुष श्रवण आदिमें प्रवृत्त होता है । अदृष्टफलवाले यज्ञ आदिके तत्साधक होनेसे स्वर्गके समान जन्मान्तरमें ज्ञानोत्पत्ति होगी ? यदि इस प्रकार शङ्का की जाय, तो युक्त नहीं है, क्योंकि श्रवण आदि की प्रवृत्तिके पूर्वमें ही विविदिषाका उत्पादन करके यज्ञ आदि चरितार्थ होंगे । इसलिए इसी जन्ममें ज्ञान होता है, इस प्रकार अवश्य नियम होगा ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि कोई प्रतिबन्धक न हो, तो इसी जन्ममें ज्ञान होता है और यदि प्रतिबन्धक हो, तो इस जन्ममें अनुष्ठित श्रवणादिसे जन्मान्तरमें ज्ञान उत्पन्न होगा । और ज्ञानोत्पत्तिमें बाधक अनेकविध प्रतिबन्ध सुने भी जाते हैं—

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।'
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

(अनेक प्रतिबन्ध होनेसे कुछ लोग तो श्रवण भी नहीं कर सकते हैं, यदि कदाचित् श्रवण हुआ भी तो आत्माको जानना ही दुष्कर है, और आत्माके विषयमें प्रवचन करनेवाला कोई अद्भुत व्यक्ति होता है, कदाचित् दैववशसे कुशल वक्ता मिला तो इसका साक्षात्कर्ता [illegible] दुर्लभ होता है, अधिक क्या कहा जाय, कुशल—अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाला तो दूर रहा परोक्ष साक्षात्कर्ता भी नहीं मिलता) यदि यह शङ्का हो कि पूर्वजन्ममें अनुष्ठित कर्मोंसे कहीपर भी साक्षात्कार है

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

पदच्छेद—ऐहिकम्, अपि, अप्रस्तुतप्रतिबन्धे, तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—अप्रस्तुतप्रतिबन्धे—प्रस्तुतेन—फलोन्मुखेन विद्याऽविरुद्ध-फलकेन कर्मणा प्रतिबन्धाभावे सति, ऐहिकम् अपि—साम्प्रतिकम् अपि [विद्या-जन्म भवत्येव, सति तु प्रतिबन्धे अमुत्रापि इत्यनियम एव, न तु इहैवेति नियमः, कुतः ?] तद्दर्शनात्—'गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच' इत्यादिश्रुतिषु तस्य अनियमस्य दर्शनात् ।

भाषार्थ—फलोन्मुख विद्यासे अविरुद्ध फलवाले कर्मसे प्रतिबन्धका अभाव होनेपर इस जन्ममें भी विद्याकी उत्पत्ति हो सकती है और प्रतिबन्ध रहनेपर तो जन्मान्तरमें भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, विद्या यहीं होती है, इस प्रकार नियम नहीं है, क्योंकि 'गर्भे एव' इत्यादि श्रुतियोंमें इस प्रकार अनियम देखा जाता है ।

भाष्य

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासाधनमवधारितं, तत्फलं विद्या सिद्ध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिद्ध्यत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते । किं तावत् प्राप्तम् ? इहै-

भाष्यका अनुवाद

'सर्वापेक्षा च' इस सूत्रसे आरम्भ करके नाना प्रकारके विद्यासाधनका अवधारण किया गया है, उनके फलरूपसे सिद्ध होनेवाली विद्या क्या इसी जन्ममें सिद्ध होती है या कदाचित् अन्य जन्ममें भी सिद्ध होती है ? इसपर विचार किया जाता है । तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

ऐहिकमपि० । संन्यासादि बाल्यान्तं साधनजातम् उक्त्वा तत्साध्यविद्याजन्मवि-चार्यते इति सङ्गतिं वदन् साधनस्य द्विधा फलसंभवात् संशयमाह—सर्वेत्यादिना ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ऐहिकमपि" इत्यादि । इस प्रकार संन्याससे लेकर बाल्यपर्यन्त बहुतसे ऐहिक साधनोंको कहकर इन साधनोंसे साध्य विद्याजन्मका विचार किया जाता है । इस प्रकार हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति कहते हुए दो प्रकारसे साधनोंके फलका सम्भव होनेसे संशय कहते हैं—"सर्वा"

नहीं है ? तो यह अयुक्त है, क्योंकि वामदेव आदि गर्भस्थ पुरुषोंकी ज्ञानोत्पत्ति सुनी जाती है—'गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच' (गर्भमें ही रहा हुआ वामदेव इस प्रकार बोला) इसलिए इस जन्ममें या जन्मान्तरमें ज्ञानोत्पत्ति होती है, इस प्रकार विकल्प है ।

भाष्य

वेति। किं कारणम्? श्रवणादिपूर्विका हि विद्या। न च कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसन्धाय श्रवणादिषु प्रवर्तते। समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसन्धायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते। यज्ञादीन्यपि श्रवणादि-द्वारेणैव विद्यां जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वात् विद्यायाः। तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—इसी जन्ममें विद्यासिद्धि होती है, ऐसा प्राप्त होता है। इसका क्या कारण है? क्योंकि विद्या श्रवणादिपूर्वक है अर्थात् श्रवण आदि कारणोंसे उत्पन्न होती है। और अन्य जन्ममें मुझे विद्या प्राप्त हो, ऐसा संकल्प करके कोई भी श्रवणादिमें प्रवृत्त नहीं होता। परन्तु वर्तमान जन्ममें ही विद्याप्राप्तिके उद्देशसे श्रवणादिमें प्रवृत्त होता दीखता है। यज्ञादि भी श्रवणादि द्वारा ही विद्याको उत्पन्न करते हैं, क्योंकि विद्या प्रमाणजन्य है। इसलिए विद्याजन्म ऐहिक ही है।

रत्नप्रभा

कारीरीष्टिवदैहिकफलत्वनियमः श्रवणादीनामिति पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। ननु अमुष्मिकफलकयज्ञादिसाध्यविद्यायाः कथमैहिकत्वनियमः इत्यत आह—यज्ञादीन्यपीति। शुद्धिद्वारा यज्ञादिभिः श्रवणादिषु साक्षाद्विद्याहेतुषु घटितेषु विद्याविलम्बो न न युक्तः, दृश्यते च विलम्बः, अतः श्रवणादेर्विद्याहेतुत्वमसिद्धमिति पूर्वपक्षे फलम्, प्रतिबन्धकवशात् विलम्बेऽपि हेतुत्वसिद्धिरिति सिद्धान्ते फलं मत्वा चित्रादिवदनियतफलं श्रवणादिकमिति सिद्धान्तयति—एवमिति। ननु प्रारब्धकर्मविशेषेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। श्रवणादि साधनोंका कारीरि इष्टिके समान ऐहिक फल हो, ऐसा पूर्वपक्ष कहते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे। यदि कोई शङ्का करे कि जिनका फल अन्य जन्ममें होता है, ऐसे यज्ञादिके साध्य विद्याका फल ऐहिक हो, यह नियम किस प्रकार हो सकता है, इसपर कहते हैं—"यज्ञादीन्यपि" इत्यादिसे। श्रवण आदिके रहते शुद्धिद्वारा यज्ञादिसे विद्यामें विलम्ब होना युक्त नहीं है, परन्तु विलम्ब दीखता है। इसलिए श्रवणादि विद्याके हेतु नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षमें फल है। प्रतिबन्धकके कारण विलम्ब होनेपर भी श्रवणादि विद्या-हेतु हैं, यह सिद्ध है, ऐसा सिद्धान्तमें फल मानकर श्रवणादि चित्रादिके समान अनियत फलवाले हैं, इसी जन्ममें फल उत्पन्न करते हों, ऐसा इनका फल नियत नहीं है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। यदि कोई कहे कि प्रारब्धकर्मविशेषसे श्रवणादिके

भाष्य

एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति प्रस्तुतप्रतिबन्ध इति। एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित् प्रतिबन्धो न क्रियते उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण, तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदाऽमुत्रेति। उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद् भवति। यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते, यतो विरुद्ध-फलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्ये-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रस्तुत प्रतिबन्ध न हो, तो इसी लोकमें विद्या उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि जब प्रक्रान्त विद्यासाधनका, जिसका परिणाम पास हो ऐसे अन्य कर्मसे, प्रतिबन्ध नहीं किया जाता, तब इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है। परन्तु जब उसका प्रतिबन्ध किया जाता है तब अन्य जन्ममें उत्पन्न होती है। कर्मका विपाक उपस्थित होना देश, काल और निमित्त की अनुकूलतासे होता है। और जो देश, काल और निमित्त एक कर्मका विपाक उत्पन्न करनेवाले हैं, वे ही अन्यके हों, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्म परस्पर विरुद्ध फल-देनेवाले भी होते हैं। शास्त्र भी इस कर्मका यह फल होता है इस कथनमें

रत्नप्रभा

श्रवणादिफलप्रतिबन्धः किमिति क्रियते श्रवणादिनैव, कर्मविपाकप्रतिबन्धः किं न स्यादित्यत आह—उपस्थितविपाकत्वम् चेति। देशादिमहिम्ना कर्माणि विपच्यन्ते इत्यर्थः। तेन श्रवणादिकमेव किमिति न विपच्यते, तत्राह—यानि चेति। विपाचकत्वं फलोन्मुख्यहेतुत्वम्। ननु तर्हि श्रवणादिविपाचकदेशादिकं कीदृशमित्यत आह—शास्त्रमपीति। फलबलाद् देशादिज्ञानमिति भावः। तथापि

रत्नप्रभाका अनुवाद

फलका प्रतिबन्ध क्यों करते हो, श्रवणादिसे ही कर्मविपाकका प्रतिबन्ध क्यों न होगा, इसपर कहते हैं—"उपस्थितविपाकत्व च" इत्यादिसे। देश आदिकी महिमासे कर्मोंका विपाक होता है, ऐसा अर्थ है। देश आदिसे श्रवणादिक ही विपाकको क्यों नहीं प्राप्त होते, इसपर कहते हैं—"यानि च" इत्यादिसे। विपाचकत्व है फलोन्मुख होनेमें हेतु होना। तब देश आदि श्रवणादिके विपाचक कैसे हैं, इसपर कहते हैं—"शास्त्रमपि" इत्यादिसे।

भाष्य

तावति पर्यवसितम्, न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति । साधनवीर्यविशेषात् त्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति । न चाऽविशेषेण विद्यायामभिसन्धिर्नोत्पद्यते, इहाऽमुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसन्धेर्निरङ्कुशत्वात् । श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते । तथा च श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥'

(क० २।७) इति गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति

भाष्यका अनुवाद

परिसमाप्त होता है, विशिष्ट देश, काल और निमित्तका संकीर्तन नहीं करता, परन्तु साधनके सामर्थ्यविशेषसे किसी एककी अतीन्द्रियशक्ति आविर्भूत होती है और अन्यकी उससे प्रतिबद्ध रहती है। और विद्यामें समानरूपसे अभिसंधि उत्पन्न नहीं होती, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस लोकमें या परलोकमें मुझे विद्या उत्पन्न हो, ऐसी अभिसंधि निरंकुश है। श्रवणादि द्वारा भी उत्पन्न होनेवाली विद्या प्रतिबन्धके क्षयकी अपेक्षासे उत्पन्न होती है। इसी प्रकार श्रुति आत्मा दुर्बोध है, ऐसा दिखलाती है—'श्रवणायापि बहुभिर्यो०' (श्रवणके लिए भी जो आत्मा बहुतोंको प्राप्त नहीं होता, बहुतसे श्रवण करते हुए भी, जिस आत्माको नहीं जानते, इसका वक्ता भी आश्चर्य है—अनेकोंमें कोई एक आध ही होता है, इसी प्रकार श्रवण करके भी इस आत्माका निपुण लब्धा कोई एक ही होता है, क्योंकि इसका ज्ञाता आश्चर्य है, कुशल आचार्यसे अनुशिष्ट हुआ कोई एक आध ही है)। और गर्भमें ही स्थित वामदेवने ब्रह्मभाव

रत्नप्रभा

कर्मणैव श्रवणादिप्रतिबन्धः, न वैपरीत्यमित्यत्र को हेतुः, तमाह—साधनेति । प्रतिबन्धकत्वशक्तिरपि फलबलाद् ज्ञातव्येति भावः । प्रतिबन्धकसद्भावे श्रौतं स्मार्तं च लिङ्गमाह—तथा चेत्यादिना । "शृण्वन्तोऽपि न विद्युः" इत्युक्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

फलके बलसे देश आदिका ज्ञान होता है, ऐसा भाव है। तो भी कर्मसे ही श्रवणादिका प्रतिबन्ध होता है, श्रवणादिसे कर्मका प्रतिबन्ध नहीं होता, इसमें क्या हेतु है उसे कहते हैं—"साधन" इत्यादिसे। प्रतिबन्धकत्वशक्ति भी फलबलसे ही समझनी चाहिए, ऐसा भाव है। प्रतिबन्धके अस्तित्वमें श्रुति और स्मृतिरूप लिंग कहते हैं—"तथा च" इत्यादिसे।

भाष्य

वदन्ती जन्मान्तरसंचितात् साधनादपि जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति। नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किंचित् साधनं सम्भाव्यते। स्मृतावपि–'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति' (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान् वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'(गी०६।४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले सम्भूतिं चाऽभिधायाऽनन्तरम् 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' (गी० ६।४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६।४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम् ॥ ५१ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्राप्त किया, ऐसा कहती हुई श्रुति अन्य जन्ममें संचित साधनोंसे अन्य जन्ममें विद्याकी उत्पत्ति दिखलाती है, क्योंकि गर्भमें ही स्थित किसी जीवका कोई ऐहिक साधन नहीं हो सकता। स्मृतिमें भी 'अप्राप्य योगसंसिद्धिं०' (हे कृष्ण, योगकी संसिद्धिको—योगफल-सम्यग्दर्शनको प्राप्त किये बिना मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है) इस प्रकार अर्जुन द्वारा पूछे गये भगवान् वासुदेव 'नहि कल्याणकृत्०' (हे प्रिय शिष्य, पुत्रतुल्य, कल्याण—शुभकर्म करनेवाला कोई भी कुत्सित गति नहीं पाता) ऐसा कहकर फिर उसकी पुण्यलोकप्राप्ति और साधुकुलमें जन्म कहकर 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं (उसमें—योगियोंके कुलमें पूर्वदेहमें स्थित बुद्धिसंयोगको प्राप्त करता है) इत्यादिसे, 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो०' (अनेक जन्मोंमें उपचित हुए संस्कारसे संसिद्ध—सम्यग् ज्ञानी होकर श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है) इत्यन्तसे यही बात दिखलाते हैं। इससे प्रतिबन्धके क्षयकी अपेक्षासे इस जन्ममें या अन्य जन्ममें विद्याजन्म होता है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ ५१ ॥

रत्नप्रभा

प्रतिबन्धसिद्धिः। आत्मनो यथावद्वक्तापि आश्चर्यः अद्भुतवत् कश्चिदेव भवति। तिष्ठतु लब्धा–साक्षात्कारवान्, परोक्षतो ज्ञाताऽपि आश्चर्यः, कुशलेन आचार्येण अनुशिष्टोऽपीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'शृण्वन्तोऽपि न विदुः' (बहुतसे लोग सुनते हुए भी उसे नहीं जानते हैं) इस कथनसे प्रतिबन्धकी सिद्धि होती है। आत्माका यथार्थवक्ता भी आश्चर्यकी नाईं कोई एक आध ही होता है। आत्माकी प्राप्ति—साक्षात्कार करनेवाला तो दूर रहा। परोक्षज्ञान प्राप्त करनेवाले भी विरले ही हैं। कुशल आचार्यसे शिक्षित भी आश्चर्यकी नाईं विरला ही है, ऐसा अर्थ है ॥५१॥

[१७ मुक्तिफलाधिकरण सू० ५२]

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद् ब्रह्मलोकवत् ।
स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयैव हि ॥ १ ॥
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् ।
अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—मुक्ति सातिशय है अथवा निरतिशय है ?

पूर्वपक्ष—फल होनेसे ब्रह्मलोक तथा स्वर्ग के समान मनुष्यभेदसे सातिशय ही मुक्ति होती है ।

सिद्धान्त—ब्रह्म ही मुक्ति है, और सातिशय ब्रह्मका कहींपर भी श्रवण नहीं है, इससे ब्रह्माकी और मनुष्यकी मुक्ति एक प्रकारकी ही होती है ।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५२॥

पदच्छेद—एवम्, मुक्तिफलानियमः, तदवस्थावधृतेः, तदवस्थावधृतेः ।

पदार्थोक्ति—एवम्—ब्रह्मसाक्षात्कारवत्, मुक्तिफलानियमः—मुक्तिफलस्य—मुक्तिरूपफलस्यापि अनियमः—अस्मिन्नेव जन्मनि मोक्षोदय इति नियमो नास्त्येव, [कुतः ?] तदवस्थावधृतेः—तस्याः अवस्थायाः—मोक्षावस्थायाः अवधृतेः—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरकालीनत्वनिश्चयादित्यर्थः, [पदाभ्यासः अध्यायसमाप्त्यर्थः] ।

भाषार्थ—ब्रह्मसाक्षात्कारके समान मुक्तिफलका भी अनियम है अर्थात् इसी जन्ममें मोक्षकी उत्पत्ति हो यह नियम नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि श्रुतियोंमें साक्षात्कारके बाद मोक्षावस्थाका अवधारण है। दो वार पदका उच्चारण अध्यायकी परिसमाप्तिका सूचक है ।

---

* सारांश यह कि जैसे ब्रह्मलोकनामका फल, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सार्ष्टि भेदसे चार प्रकारका होता है—उसमें सार्ष्टिभाव चतुर्मुख ब्रह्माके समान ऐश्वर्यत्व है या जैसे 'कर्माधिक्यसे फलाधिक्य होता है' इस न्यायसे स्वर्ग अनेकविध है, वैसे ही मुक्ति भी फल होनेसे सातिशय—अनेकविध न्यूनाधिक्ययुक्त होगी ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि मुक्ति स्वतःसिद्ध ब्रह्मस्वरूप ही है, वह स्वर्ग आदिके समान आगन्तुक नहीं है, इस प्रकार ब्रह्म एक प्रकारका

भाष्य

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फले ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः, एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफला-

भाष्यका अनुवाद

जैसे विद्यासाधनका अवलम्बन करनेवाले मुमुक्षुका साधनके सामर्थ्य-विशेषसे विद्यालक्षण फलमें ऐहिकफलत्व और आमुष्मिकफलत्व से कृत विशेष-नियम देखा जाता है अर्थात् साधनसामर्थ्यकी अधिकता या न्यूनतासे विद्याकी उत्पत्ति इस जन्ममें हो या अन्य जन्ममें हो, इस प्रकार विशेष नियम है, वैसे ही मुक्तिलक्षणमें भी उत्कर्ष और अपकर्षसे किया गया किसी प्रकारका विशेष नियम होगा, ऐसी शंका करके कहते हैं—"एवं मुक्तिफलानियमः"।

रत्नप्रभा

असति प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धे श्रवणादिना इहैव विद्योदयः यज्ञादिभिः, संचित-पापप्रतिबन्धस्य निरस्तत्वात्। सति तु भोगेन तन्निरासादमुत्रेति विद्यायाः ऐहि-कामुष्मिकत्वविशेषनियमः उक्तः, तद्वत्तत्फलेऽपि मोक्षे कश्चिदुत्कर्षादिविशेषः स्यादित्यत आह—एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति। मुक्तिरत्र विषयः। तस्यां विद्यावद् विशेषनियमोऽस्ति न वेति फलस्योभयथासम्भवा-त्संशये पूर्वपक्षमाह—यथेति। मुक्तिः सविशेषा, फलत्वाद्, विद्यावत्। अतः कर्म-साध्या मुक्तिरिति फलम्। सिद्धान्ते तु निर्विशेषत्वावधारणश्रुतिबाधितमनुमानम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्धकके न रहनेपर श्रवणादिसे इसी जन्ममें विद्याका उदय होता है, क्योंकि संचित पापरूप प्रतिबन्धकका यज्ञादिसे निरास हो चुका है। यदि प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्ध हो, तो भोगसे उसका निरसन होनेपर अन्य जन्ममें विद्याका उदय होता है, इस प्रकार विद्याका ऐहिकत्व और आमुष्मिकत्वरूप विशेष नियम कहा गया है, उसी प्रकार विद्याके फल मोक्षमें भी कोई उत्कर्षादि विशेष होगा, इसपर कहते हैं—"एवं मुक्तिफला-नियमः" इत्यादिसे। यहाँ मुक्ति विषय है। उसमें विद्याके समान विशेष नियम है या नहीं, इस प्रकार फलका उभयथा सम्भव होनेसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"यथा" इत्यादिसे। मुक्ति सविशेष है, फल होनेसे, विद्याके समान, इससे कर्मसाध्य मुक्ति है, ऐसा पूर्वपक्षका फल है।

ही श्रुतिमें कहा गया है और निर्णीत भी है। इससे फलतः यह प्राप्त होता है कि ब्रह्मा और मनुष्यकी एकसी ही मुक्ति है, सालोक्य आदि तो जन्य होनेसे उपासनाके तारतम्यसे सातिशय हो सकते हैं, परन्तु मुक्ति वैसी नहीं हो सकती है, यह सिद्ध है।

भाष्य

नियम इति । न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः । कुतः ? तदवस्थावधृतेः । मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवाऽवधार्यते, ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति । एकलिङ्गत्वावधारणात्—'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमृतोऽमरोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन

भाष्यका अनुवाद

मुक्तिफलमें इस प्रकारके किसी भी विशेष-नियम की आशंका नहीं करनी चाहिए। किससे ? इससे कि उसी अवस्थाका अवधारण किया गया है, कारण कि मुक्ति अवस्था सब वेदान्तोंमें एकरूप ही निश्चित की गई है। ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है और ब्रह्मके अनेक आकार नहीं हो सकते, क्योंकि उसका एक ही स्वरूप निश्चित किया गया है—'अस्थूलमनणु०' (स्थूल नहीं, अणु नहीं), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (यह आत्मा ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इस प्रकार मधुकाण्डमें निर्दिष्ट है), 'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिस भूमन् तत्त्वमें अन्य द्रष्टव्यको अन्य करणसे अन्य द्रष्टा नहीं देखता), 'ब्रह्मैवेदममृतं०' (यह उक्तलक्षण अमृत ब्रह्म ही पूर्वमें है), 'इदं सर्वं यदयमात्मा०' (यह सब ब्रह्म ही है, जो यह आत्मा द्रष्टव्य श्रोतव्यरूपसे प्रकृत है), 'स वा एष महानज०' (यह महान् अज आत्मा अजर है—जीर्ण नहीं होता, विपरिणाम नहीं पाता—इसीसे अमृत है, अविनाशी है, इसीसे अभय है—अविद्याकार्यसे वर्जित है), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्' (जहां उसका सब आत्मा ही हो गया, वहां किससे किसको देखे)

रत्नप्रभा

अतो ज्ञानैकव्यङ्ग्या मुक्तिरिति फलम् । किञ्च, श्रवणादितारतम्याद् विद्यायां कश्चिद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्तमें तो मुक्ति निर्विशेष है, ऐसा अवधारण करनेवाला अनुमान श्रुतिसे बाधित होता है, इससे मुक्ति केवल ज्ञानसे ही व्यक्त होती है, ऐसा फल है। और श्रवणादि तारतम्यसे विद्यामें किसी एक अतिशयका अङ्गीकार करके विद्यालभ्य मुक्तिमें अतिशय नहीं है, ऐसा

भाष्य

कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपि च विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात् स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ, तद्धयसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावमेव विद्ययाऽधिगम्यत इत्यसकृद-

भाष्यका अनुवाद

इत्यादि श्रुतियोंसे। और विद्याका साधन अपने वीर्यविशेषसे अपने फल विद्यामें ही किसी एक अतिशयका आधान करेगा, विद्याफल मुक्तिमें अतिशयका आधान नहीं करेगा, क्योंकि मुक्तिफल साध्य नहीं है और नित्यसिद्धस्वभाव ही विद्यासे प्राप्त किया जाता है, ऐसा हमने अनेक बार कहा है। उसमें भी

रत्नप्रभा

तिशयमङ्गीकृत्य विद्यालभ्यमुक्तौ नाऽतिशय इत्याह—अपि च विद्यासाधनमिति। ननु ब्रह्मणो नित्यसिद्धत्वादविद्यानिवृत्तेश्च अन्यत्वे द्वैतापत्तेः, अनन्यत्वे च असाध्यत्वात् किं विद्याफलमित्यत आह—तद्धीति। विद्यया अभिव्यक्तत्वेन ब्रह्मानन्द एव मुख्यं फलम्, अभिव्यक्तिः अविद्यानिवृत्तिः आनन्दस्वरूपस्फूर्तिप्रतिबन्धकाभावतया विद्यया साध्यते, सा च अनिर्वाच्येति न द्वैतापत्तिः। अन्ये तु सा ब्रह्मानन्येत्याहुः। न च साध्यत्वानुपपत्तेस्तत्र विद्यावैयर्थ्यमिति वाच्यम्। यद्भावे यदभावः, तत्तत्साध्यमिति ज्ञानात् सर्वो लोकः प्रवर्तते। तथा च विद्यायाः अभावे ब्रह्मस्वरूपमुक्तेरभावः, अनर्थरूपा अविद्यैवास्ति। अस्या अविद्याया एव मुक्तिर्नास्तीति व्यवहारविषयत्वेन मुक्त्यभावत्वात्। तथा च विद्यां विना मुक्तिर्नास्तीति निश्चयाद् विद्यामुपादत्ते।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—"अपि च विद्यासाधनम्" इत्यादिसे। परन्तु ब्रह्मके नित्य सिद्ध होनेसे वह अविद्याकी निवृत्ति यदि उससे अन्य हो, तो इससे द्वैतकी प्राप्ति होगी, और अविद्याकी निवृत्तिको ब्रह्मसे अनन्य माननेपर तो उसके असाध्य होनेसे विद्याका फल क्या होगा? इस शङ्काका निरसन करनेके लिए कहते हैं—"तद्धि" इत्यादिसे। विद्यासे अभिव्यक्त होनेसे ब्रह्मानन्द ही मुख्य फल है। अभिव्यक्ति अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति, आनन्दस्वरूप स्फूर्तिमें प्रतिबन्धके अभावरूप होनेसे, विद्यासे साध्य होती है, वह अनिर्वाच्य है, इसलिए द्वैत प्राप्त नहीं होता। अन्य विद्वान् तो वह ब्रह्मसे अभिन्न है, ऐसा कहते हैं। अविद्यानिवृत्तिमें साध्यत्वके अनुपपन्न होनेसे विद्या व्यर्थ हो जायगी, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिसके अभावमें जिसका अभाव होता है वह उससे साध्य होता है, ऐसे ज्ञानसे सब लोक प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार विद्याके अभावमें ब्रह्मस्वरूप मुक्तिका अभाव अनर्थरूप अविद्या ही है। इस अविद्यासे ही मुक्ति नहीं है, ऐसे व्यवहार-

भाष्य

वादिष्म। न च तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते निकृष्टाया विद्यात्वाभावादुत्कृष्टैव हि विद्या भवति, तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्, न तु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति। विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत्, नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति। सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः

भाष्यका अनुवाद

उत्कर्षात्मक या निकर्षात्मक कोई अतिशय नहीं हो सकता, क्योंकि निकृष्टमें विद्यात्व नहीं है, किन्तु उत्कृष्ट ही विद्या है, इसलिए उसमें—विद्यामें चिरकालमें या अचिरकालमें उत्पत्तिरूप अतिशय होता हुआ भले ही हो, परन्तु मुक्तिमें किसी भी अतिशयका सम्भव नहीं है। और विद्याके भेदका अभाव है, इससे भी उसके फलमें भेदनियमका अभाव है, कर्मके फलके समान। मुक्तिकी साधनभूता विद्यामें कर्मोंके समान भेद नहीं है। परन्तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' (मनोमय

रत्नप्रभा

विद्योदये च स्वतःसिद्धनित्यनिवृत्तानर्थस्वप्रकाशब्रह्मानन्दात्मना अवतिष्ठते इत्यनवद्यम्। संप्रति विद्यायामतिशयाङ्गीकारं त्यजति—न चेति। एकरूपे विषये प्रमायां तारतम्यानुपपत्तेरित्यर्थः। कथं तर्हि पूर्वाधिकरणे विद्याया विशेष उक्तः, तत्राह—तस्मादिति। सत्यामपि सामग्र्यां ज्ञाने विलम्ब उक्तः, न तारतम्यम् इत्यर्थः। तर्हि सत्यपि ज्ञाने मुक्तौ विलम्बः किं न स्यादित्यत आह—न त्विति। वाय्वादिप्रतिबन्धाद् दीपोत्पत्तिविलम्बेऽपि उत्पन्ने तमोनिवृत्तिविलम्बादर्शनात्, सति ज्ञाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

विषयत्वमें मुक्तिका अभाव है। इसलिए विद्याके विना मुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा निश्चय होनेसे विद्याका ग्रहण करते हैं और विद्याका उदय होनेपर स्वतःसिद्ध, नित्यनिवृत्तानर्थ, स्वप्रकाश, ब्रह्मानन्द स्वरूपमें अवस्थित होता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं है। अब विद्यामें स्वीकार किये गये अतिशयका त्याग करते हैं—"न च" इत्यादिसे। एकरूप विषय प्रमामें तारतम्य अनुपपन्न है, ऐसा अर्थ है। तब पूर्व अधिकरणमें विद्याका विशेष कैसे कहा गया है, इसपर कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। सामग्री होनेपर भी ज्ञानमें विलम्ब कहा गया है, तारतम्य नहीं कहा गया है, ऐसा अर्थ है। तब ज्ञान होनेपर मुक्तिमें विलम्ब क्यों न हो, इसपर कहते हैं—" न तु" इत्यादिसे। वायु आदिके प्रतिबन्धसे

भाष्य

प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापदर्शनाद् भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत्। तथा च लिङ्गदर्शनम्—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति। नैवं निर्गुणायां विद्यायाम्, गुणाभावात्। तथा च स्मृतिः—

'नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित् सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्।' इति।

तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

है, प्राणशरीर है) इत्यादि सगुण विद्याओंमें गुणोंके आवाप और उद्वापके दर्शनसे भेद उपपन्न होता है, इसलिए उस भेदके अनुसार फलमें भेदनियम होता है जैसे कि कर्मके फलमें होता है। उसी प्रकार 'तं यथा यथोपासते०' (उसकी जिस जिस प्रकारसे उपासना करता है वही होता है) ऐसा लिंगदर्शन है। इस प्रकार निर्गुण विद्यामें फलभेद नियम नहीं है, क्योंकि वहां गुणोंका अभाव है। इसी प्रकार स्मृति भी है—'नहि गतिरधिकास्ति०' (किसीकी—निर्गुणवेत्ताकी भी अधिक गति नहीं है, क्योंकि गुणके रहनेपर ही अतुल्यता कहते हैं)। 'तदवस्थावधृतेः०' इस पदकी पुनरुक्ति अध्यायकी समाप्तिका द्योतन करती है ॥ ५२ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्यके भाषानुवादमें तृतीय अध्यायका चतुर्थपाद समाप्त।

रत्नप्रभा

नाऽज्ञाननिवृत्तौ विलम्ब इति भावः। किञ्च, कर्मणामुपासनानां च गुणभेदेन तारतम्यात् फलतारतम्यं युक्तम्। निर्गुणविद्यायास्त्वेकरूपत्वात् तत्फलैकरूप्यमित्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

दीपकी उत्पत्तिमें विलम्ब होनेपर भी उसके उत्पन्न होनेपर अन्धकारकी निवृत्तिमें विलम्ब नहीं दीखता। इसी प्रकार ज्ञान होनेपर अज्ञानकी निवृत्तिमें विलम्ब नहीं होता, ऐसा भाव है। और कर्म और उपासनाओंमें गुणोंके भेदसे तारतम्य है, इसलिए फलका तारतम्य युक्त है। परन्तु निर्गुण विद्या तो एकरूप है, इसलिए उसका फल एकरूप है, ऐसा कहते

रत्नप्रभा

विद्याभेदेत्यादिना । स्मृतौ कस्यचित्–निर्गुणविद इत्यर्थः । तस्माद् विद्यासमकालैव मुक्तिरिति सिद्धम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शन-
भाष्यव्याख्यायां रत्नप्रभायां तृतीयस्याध्यायस्य
चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं—"विद्याभेद" इत्यादिसे । स्मृतिमें स्थित 'कस्यचित्' पदका अर्थ निर्गुणवेत्ता है, इसलिए विद्यासमकालमें मुक्ति है, ऐसा सिद्ध होता है ॥ ५२ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित तृतीय अध्यायके चतुर्थपादका रत्नप्रभाभाषानुवाद समाप्त ।

तृतीयाध्याय समाप्त ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

[अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम्]

[१ आवृत्त्यधिकरण सू० १–२]

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः ।
शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥ १ ॥
आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् ।
दृष्टेऽत्र सम्भवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—श्रवण आदि एक बार ही करने चाहिएँ या अनेक बार करने चाहिएँ।

पूर्वपक्ष—श्रवण आदि एक ही बार करने चाहिएँ, क्योंकि तावन्मात्रसे ही शास्त्रकी अर्थवत्ताकी उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि प्रयाज आदि एक ही बार किये जाते हैं।

सिद्धान्त—आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त श्रवण आदिकी आवृत्ति करनी चाहिए जैसे कि तण्डुलकी निष्पत्ति होने तक अवघात किया जाता है, यहाँ साक्षात्काररूप दृष्टफलकी इसलिए कल्पना की जाती है कि जब तक दृष्टफलकी कल्पना हो सकती हो, तब तक अदृष्ट फलकी कल्पना पण्डित लोग नहीं करते हैं।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—आवृत्तिः, असकृत्, उपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—आवृत्तिः,—षड्जादिस्वरसाक्षात्कारवद् दुर्विज्ञेयात्मसाक्षात्कारस्याऽऽवृत्तिविशिष्टश्रवणादिसाध्यतया तदावृत्तिः [कर्तव्या, कुतः] असकृदुपदेशात्—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्याद्यसकृदुपदेशात् । [एवं 'वेद' 'उपासीत' इत्यादिश्रवणादुपास्यसाक्षात्कारफलहेतुषु–उपासनेषु आवृत्तिर्बोध्या]।

* भावार्थ यह है कि 'सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः' (एक बार करनेसे शास्त्रार्थ—शास्त्रप्रयोजन सिद्ध हो जाता है) इस न्यायसे प्रयाज आदिके समान एक बार ही श्रवण आदिका अनुष्ठान करना चाहिए।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—उक्त न्याय जहाँ फल अदृष्ट हो उस स्थलके लिए है, और प्रकृत स्थलमें ब्रह्मसाक्षात्काररूप दृष्टफलका सम्भव होनेपर अदृष्टफलकी कल्पना असङ्गत होनेसे अवघातके समान फलकी सिद्धि होने तक श्रवणादिकी आवृत्ति करनी चाहिए।

भाषार्थ—षड्ज आदि स्वर के साक्षात्कार के समान दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कारके आवृत्तिविशिष्ट श्रवणादिसे साध्य होनेके कारण उसकी आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' आदि श्रुतियोंमें उसका बार बार उपदेश है। इसी प्रकार 'वेद' 'उपासीत' इत्यादिके श्रवणसे उपास्यके साक्षात्काररूप फलकी हेतुभूत उपासनाओंमें आवृत्ति जाननी चाहिए।

भाष्य

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणाऽत्यगात्। अथेह चतुर्थेऽध्याये फलाश्रय आगमिष्यति। प्रसङ्गागतं चाऽन्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्यते। प्रथमं तावत् कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचार-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय अध्यायमें पर और अपर विद्याओंमें साधनसम्बन्धी विचार प्रायः किया जा चुका है, अब इस चतुर्थ अध्यायमें फलसम्बन्धी विचार होगा और प्रसंगतः कुछ अन्य विषयोंका—मार्ग आदि का भी विचार किया जायगा। पहले कुछ अधिकरणोंसे हम साधनसम्बन्धी अवशिष्ट विचार ही करते

रत्नप्रभा

ॐ रामचन्द्राय नमः।

यज्ज्ञानाज्जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तिगतिवर्जिता।
लभ्यते तत्परं ब्रह्म रामनामाऽस्मि निर्भयम्॥ १॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्। साधनं निरूप्य फलं निरूप्यते इत्यध्याययोर्हेतुफलभावं सङ्गतिमाह—**तृतीय इति।** फलप्रसङ्गेनोत्क्रान्तिरर्चिरादिमार्गश्च विचार्यते इत्याह—**प्रसङ्गेति।** पूर्वं साक्षादेव श्रुत्युक्तं संन्यासादिसाधनं चिन्तितम्। सम्प्रति फलार्थापत्तिगम्यम् आवृत्त्यादिकम् अघाश्लेषाधिकरणात् प्राक् चिन्त्यते।

रत्नप्रभाका अनुवाद

ॐ रामचन्द्राय नमः। जिसके ज्ञानसे उत्क्रान्ति और गतिसे वर्जित जीव-मुक्ति प्राप्त होती है, वह रामनामक निर्भय परब्रह्म मैं ही हूँ॥१॥

"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"। तृतीय अध्यायमें साधनका निरूपण करके अब चतुर्थ अध्यायमें फलका निरूपण करते हैं। इस प्रकार दो अध्यायोंमें हेतुहेतुमद्भाव संगति है, ऐसा कहते हैं—"तृतीय" इत्यादिसे। फलके प्रसङ्गसे उत्क्रान्ति और अर्चिरादि-मार्गका विचार होगा, ऐसा कहते हैं—"प्रसंग" इत्यादिसे। पहले साक्षात् श्रुतिमें कहे गये संन्यास आदि साधनोंका विचार किया जा चुका है। अब अघाश्लेष अधिकरणके पूर्वतक फलार्था-

भाष्य

शेषमेवाऽनुसरामः । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहोस्विदावृत्त्येति । किं

भाष्यका अनुवाद

हैं। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (अरे मैत्रेयि ! आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिए, उसके हेतु श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने चाहिएँ), 'तमेव धीरो विज्ञाय०' (धीमान् पुरुष उपदेश और शास्त्रसे उसी आत्माका परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर प्रज्ञा—साक्षात्कारके साधनका अनुष्ठान करे), 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (उसका अन्वेषण करना चाहिए और जिज्ञासा करनी चाहिए) इत्यादि श्रवणोंमें एक ही बार प्रत्यय करना चाहिए या आवृत्तिसे—इन श्रवण आदि साधनोंका एक ही बार अनुष्ठान करना चाहिए अथवा साक्षात्कार होने तक उनकी पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिए, ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है ?

रत्नप्रभा

तदारभ्य जीवन्मुक्तिः, ततो द्वितीयपादे उत्क्रान्तिः, तृतीये अर्चिरादिमार्गस्य गन्तव्यस्य च निर्णयः, चतुर्थे ज्ञानोपासनयोः फलनिर्णय इति पादार्थविवेकः । आद्याधिकरणस्य श्रवणादिसाधनं विषयमनूद्य द्वेधाऽनुष्ठानदर्शनात् संशयमाह—आत्मा वेति । श्रौतात्मधीसाधनफलविचारात्मकत्वात् सर्वाधिकरणानां श्रुतिशास्त्राध्यायसङ्गतयः उक्ताः । तत्तत्पदार्थसम्बन्धात् तत्तत्पादसङ्गतिः । मोक्षे विशेषाभाववत् श्रवणादावावृत्तिविशेषो नास्तीति दृष्टान्तलक्षणावान्तरसङ्गत्या

रत्नप्रभाका अनुवाद

पत्तिसे गम्य आवृत्ति आदिका विचार किया जाता है। अधाश्लेषाधिकरणसे लेकर जीवन्मुक्तिका, तदनन्तर द्वितीयपादमें उत्क्रान्तिका, तृतीय पादमें अर्चिरादि गन्तव्य मार्गके निर्णयका और चतुर्थ पादमें ज्ञान और उपासनाके फलके निर्णयका विचार किया गया है, इस प्रकार पादार्थका विवेक है। प्रथम अधिकरणके श्रवणादि साधनरूप विषयका अनुवाद करके दो रीतिसे अनुष्ठानके दिखाई देनेसे संशय कहते हैं—"आत्मा वा" इत्यादिसे। श्रुतिप्रतिपादित आत्मज्ञानके साधन और फलके विचाररूप होनेके कारण सब अधिकरणोंकी श्रुति, शास्त्र और अध्याय संगतियाँ कही गई हैं। उन-उन पदार्थोंके सम्बन्धसे उन-उन पादोंकी संगति है। पूर्व अधिकरणमें "मोक्षमें विशेषका अभाव कहा गया है—मोक्षमें विशेष नहीं है, ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार श्रवणादिमें आवृत्तिरूप

भाष्य

तावत् प्राप्तम् ? सकृत्प्रत्ययः स्यात् प्रयाजादिवत्, तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात्। अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत्। नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवमादयः। एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत् सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति नाऽतिरिक्तम्, सकृदुपदेशेषु तु 'वेद' 'उपासीत' इत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—एक ही वार प्रत्यय करना चाहिए, प्रयाजादिके समान, क्योंकि इतनेसे शास्त्र कृतार्थ होता है। आवृत्तिके श्रुत न होनेपर यदि आवृत्ति की जाय, तो शास्त्रविरुद्ध किया जायगा। परन्तु 'श्रोतव्यो मन्तव्यो०' (श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य हैं) इत्यादि असकृत् उपदेश कहा है, ऐसा होनेपर भी जिसका शब्द है उसीकी आवृत्ति करनी चाहिए। एक वार श्रवण करना, एक वार मनन करना, एक वार निदिध्यासन करना, इससे अधिक नहीं। 'वेद' (वह जानता है), 'उपासीत' (उपासना करे) इत्यादि सकृत् उपदेशोंमें आवृत्ति नहीं है।

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षमाह—किं तावदिति। अत्र पूर्वपक्षे श्रवणादेः प्रयाजवददृष्टार्थत्वात् सकृदनुष्ठानं फलम्, सिद्धान्ते त्ववघातवद् दृष्टार्थत्वाद् यावत्फलमावृत्तिरिति भेदः। असकृदुपदेशान्यथानुपपत्त्या साधनावृत्तौ शास्त्रस्य तात्पर्यमिति शङ्कते—नन्वसकृदिति। श्रवणादीनां समुच्चयसिद्धार्थत्वेन असकृदुक्तेरन्यथोपपत्तेर्नावृत्तौ तात्पर्यमित्याह—एवमपीति। सगुणसाक्षात्कारसाधनेष्वप्यनावृत्तिमाह—सकृदिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेष नहीं है, इस प्रकार दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"किं तावत्" इत्यादिसे। यहापर पूर्वपक्षमें प्रयाजके समान अदृष्टार्थ होनेसे श्रवणादिका सकृत् अनुष्ठान फल है, सिद्धान्तमें तो श्रवणादिके दृष्टार्थ होनेसे फलपर्यन्त आवृत्ति फल है, इस प्रकार दोनोंमें फलभेद है। परन्तु असकृत् उपदेशके अन्यथा अनुपपन्न होनेसे साधनकी आवृत्तिमें शास्त्रका तात्पर्य है, ऐसी शंका करते हैं—"नन्वसकृत्" इत्यादिसे। श्रवणादिके समुच्चयकी सिद्धिके लिए असकृत् उक्तिकी अन्यथा भी उपपत्ति है, अतः इसका आवृत्तिमें तात्पर्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"एवमपि" इत्यादिसे। सगुणसाक्षात्कारके साधनोंमें भी अनावृत्ति कहते हैं—"सकृत्"

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः ? प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या । कुतः ? असकृदुपदेशात्—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति । ननूक्तं यावच्छब्दमेवाऽऽवर्तयेन्नाऽधिकमिति । न, दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम् । दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति, यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि, तद्वत् । अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभि-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए। किससे ? इससे कि अनेक बार उपदेश है, क्योंकि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो०' (श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य हैं) इस प्रकार अनेक बार उपदेश प्रत्ययकी आवृत्ति सूचित करता है। परन्तु ऐसा कहा है कि श्रुतिके अनुसार ही आवृत्ति करनी चाहिए, अधिककी नहीं। नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इन प्रत्ययोंका पर्यवसान साक्षात्कार है, साक्षात्कार पर्यवसान होनेसे आवृत्त किये जानेवाले श्रवण आदि साधन दृष्टार्थ—दृष्टफल होते हैं, जैसे कि अवघातादिका पर्यवसान तण्डुलकी निष्पत्ति होनेपर होता है, इससे वह दृष्टार्थ होता है, उसके समान। और उपासन और निदिध्यासन-शब्दसे जिसमें प्रविष्ट आवृत्ति गुण है, ऐसी क्रियाका ही अभिधान होता है।

रत्नप्रभा

यद्यपि असकृदुपदेश आवृत्तिसमुच्चययोरन्यतरसूचकत्वेनाऽन्यथासिद्धः, तथाऽपि दृष्टे सम्भवति अदृष्टमात्रकल्पनानुपपत्तेः श्रवणादेरावृत्तिद्वारा साक्षात्कारफलस्य पङ्कजादौ दृष्टत्वादसकृदुक्तिरावृत्तिं सूचयति, दृष्टार्थत्वादिति न्यायानुग्रहादित्याह—न दर्शनपर्यवसानत्वादिति। ध्यानस्य त्वावृत्तेः 'वेद' 'उपासीत' इतिशब्दे श्रुतत्वात् न केवलार्थिकत्वमित्याह—अपि चेति। अस्त्युपा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। यद्यपि असकृत् उपदेश आवृत्ति और समुच्चय इन दोनोंमेंसे एकका सूचक होनेसे अन्यथासिद्ध है, तो भी दृष्टके सम्भव होनेपर अदृष्टमात्रकी कल्पनाके अनुपपन्न होनेसे श्रवणादिकी आवृत्ति द्वारा पङ्कज आदिमें साक्षात्काररूप फल देखा जाता है, अतः असकृत् उक्ति आवृत्तिका सूचन करती है, दृष्टार्थ होनेसे, इस न्यायके अनुग्रहसे, ऐसा कहते हैं—"न दर्शनपर्यवसानत्वात्" इत्यादिसे। ध्यानकी आवृत्ति तो 'वेद' 'उपासीत' इस प्रकार श्रुतिमें श्रवण होनेसे केवल आर्थिक नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। यद्यपि उपास्तिशब्द आवृत्तिवाचक

भाष्य

धीयते। तथा हि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्ते इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सैवमभिधीयते। विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहरति, यथा 'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ४।१।४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ५।२।२)

भाष्यका अनुवाद

जैसे कि लोकमें 'गुरुमुपास्ते०' (गुरुकी उपासना करता है) 'राजानमुपास्ते०' (राजाकी उपासना करता है) जो तत्परतासे गुरु आदिका अनुवर्त्तन करता है, उसमें ही ऐसा कहा जाता है। वैसे 'ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम्०' (जिसका पति परदेश गया है वह स्त्री पतिका ध्यान करती है) पतिके प्रति उत्कण्ठित होकर जो उसीका निरन्तर स्मरण करती है उसके लिए ऐसा कहा जाता है। विद् और उपास् धातु का वेदान्तोंमें समान अर्थमें प्रयोग दिखाई देता है। कहींपर विद् धातुसे उपक्रम करके उपास्से उपसंहार करते हैं। जैसे कि 'यस्तद्वेद यत्०' (जिसे रैक्व जानता है, उसे जो जानता है, वह मैंने जैसे कहा है वैसे ही रैक्वसदृश होता है) इसमें 'अनु म एतां भगवो देवतां०' (हे भगवन् रैक्व, जिस देवताकी तुम उपासना करते हो उस देवताका मुझे अनुशासन

रत्नप्रभा

स्तिशब्दस्य आवृत्तिवाचित्वम्, तथापि वेदेतिशब्दोक्तवेदनेष्वहङ्ग्रहेषु कथमावृत्तिसिद्धिरित्यत आह—विद्युपास्त्योश्चेति। शब्दयोरेकार्थत्वमुदाहरति—क्वचिदिति। सः रैक्वः यद्वेद, तत् प्राणतत्त्वं रैक्वादन्योऽपि यः कश्चिद्वेद तत्फले सर्वमन्तर्भवतीत्येतद् उक्ते इत्थं मयोत्कृष्टत्वेन सः रैक्वः उक्तः इति हंसं प्रति हंसान्तरवचनम्। तच्छ्रुत्वा रैक्वं गत्वोवाच जानश्रुतिः—हे २ भगवः, एतां रैक्वविदितां

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, तथापि 'वेद' इस शब्दोक्त वेदनमें अर्थात् अहंग्रहमें किस प्रकार आवृत्ति सिद्ध होती है, इसपर कहते हैं—"विद्युपास्त्योश्च" इत्यादिसे। ये दोनों शब्द एकार्थक हैं, ऐसा उदाहरण देते हैं—"क्वचित्" इत्यादिसे। वह रैक्व जानता है, उस रैक्ववेद्य प्राणतत्त्वको रैक्वसे अन्य भी जो कोई जानता है उसके भी धर्ममें सब लोकोंके धर्म अन्तर्गत होते हैं, ऐसा कहनेपर मैंने इस प्रकार रैक्वको उत्कृष्टरूपसे कहा है, ऐसा हंसके प्रति अन्य हंस कहता है। उसे सुनकर जानश्रुतिने रैक्वके पास जाकर कहा—हे भगवन् रैक्व। जिस देवताकी उपासना

भाष्य

इति । क्वचिच्चोपास्तिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३।१८।३) इति । तस्मात् सकृदुपदेशेऽप्यावृत्तिसिद्धिः । असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

करो)। कहींपर उपास्तिसे उपक्रम करके विद्से उपसंहार करते हैं, जैसे कि 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (मनकी—जिसके द्वारा मनन करते हैं उसकी—अन्तःकरणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे) इसमें 'भाति च तपति च कीर्त्या०' (जो ऐसा जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मचर्यरूपसे प्रकाशित होता है और तपता है)। इससे सकृत् उपदेशोंमें भी आवृत्ति सिद्ध होती है, असकृत् उपदेश तो आवृत्तिके सूचक हैं ही ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

देवतां मेऽनुशाधि—मह्यमुपदिशेत्यर्थः । सगुणनिर्गुणसाक्षात्कारसाधनध्यानस्यावृत्तिः श्रौती च अर्थसिद्धा च, दृष्टार्थत्वात्, श्रवणमननयोस्त्वसकृदुपदेशादर्थसिद्धैव आवृत्तिरिति विशेषः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हो, उस देवताका मुझे उपदेश करो, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार सगुण साक्षात्कार और निर्गुण साक्षात्कारके साधनभूत ध्यानकी आवृत्ति श्रौती है, और सफल है, दृष्टार्थ होनेसे, श्रवण और मननकी तो आवृत्ति असकृत् उपदेशसे अर्थसिद्ध ही है, ऐसा विशेष है ॥१॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

पदच्छेद—लिङ्गात्, च ।

पदार्थोक्ति—['रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' इति रश्मिबहुत्वोपासनं विदधद् वाक्यं प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति, अतः] लिङ्गात्—न्यायात् [साक्षात्कारसाधनेषु आवृत्तिः कर्तव्या]।

भाषार्थ—'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' यह श्रुतिवाक्य बहुत सी किरणोंकी उपासनाका विधान करता हुआ ज्ञानकी आवृत्ति दिखलाता है, इसलिए इस न्यायसे साक्षात्कारके साधनोंमें आवृत्ति करनी चाहिए।

भाष्य

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति। तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः' (छा० १।५।१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणाऽपोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १।५।२) इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत् सिद्धवत् प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति। तस्मात् तत्सामान्यात् सर्वप्रत्ययेष्वावृत्ति-

भाष्यका अनुवाद

लिंग भी प्रत्ययोंकी आवृत्तिका ज्ञान कराता है, क्योंकि उद्गीथ विज्ञानका 'आदित्य उद्गीथः' (उद्गीथ आदित्य है) इस प्रकार आरम्भ कर एक पुत्रताके दोषसे उसका निषेध करके 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (हे पुत्र, तू सूर्य-रश्मियोंकी और सूर्यकी भेदसे उपासना कर) इस प्रकार बहुत पुत्रोंकी प्राप्तिके लिए बहुत रश्मियोंके विज्ञानका विधान करनेवाला लिंग सिद्धवत् प्रत्ययोंकी आवृत्तिको दिखलाता है। प्रकृत उद्गीथ प्रत्ययके साथ सब प्रत्ययोंकी साक्षात्का-रहेतुत्वसे या ध्यानत्वसे समानता होनेके कारण अहंग्रहोपासना और श्रवण

रत्नप्रभा

आदित्यस्यैकस्यैवोद्गीथे सम्पाद्य उपासनात् मम त्वमेक एव पुत्रोऽसीति कौषीतकिः पुत्रमुवाच। अतस्त्वं तथा मा कृथाः, किन्तु बहून् रश्मीनादित्यं च पर्यावर्तयतात् पृथगावर्तयस्वेत्यर्थः। तलोपश्छान्दसः। अत्र पर्यावृत्तिशब्दात् सिद्धवदुद्गीथध्यानस्य आवृत्तिरुक्ता, ततो ध्यानत्वसामान्यात् फलपर्यन्तत्वसामान्यात् वा लिङ्गात् सर्वत्र श्रवणमननध्यानेष्वावृत्तिसिद्धिरित्याह—लिङ्गाच्चेति। एवं तावत् सगुणनिर्गुणसाक्षात्कारसाधनेष्वावृत्तिरुक्ता। तत्र सगुणध्यानादेरावृत्तिमङ्गीकृत्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

एक ही सूर्यकी उद्गीथमें सम्पत्ति—एकता करके उपासना करनेसे मेरे तुम एक पुत्र हो, ऐसा कौषीतकीने पुत्रसे कहा, इस कारण तुम ऐसा मत करो, किन्तु बहुत किरणोंकी और आदित्यकी उद्गीथसे सम्पत्ति करके पृथक् पृथक् आवृत्ति करो, इससे तुम्हारे बहुत पुत्र होंगे। 'पर्यावर्तयात्' यह 'पर्यावर्तयतात्' के स्थानमें छान्दस प्रयोग है। इसमें तलोप छान्दस है। इसमें पर्यावृत्तिशब्दसे उद्गीथध्यानकी सिद्धवत् आवृत्ति कही गई है। तदनन्तर जैसे श्रवण, मननके ध्यानमें ध्यानत्व है, वैसे ही उद्गीथध्यानमें भी है, इस समानधर्मसे या फल-पर्यन्तत्वरूप सामान्य लिंगसे सर्वत्र श्रवण, मनन और ध्यानमें भी आवृत्ति सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"लिङ्गाच्च" इत्यादिसे। इस प्रकार सगुणके साक्षात्कारके और निर्गुणके साक्षा-त्कारके साधनोंमें आवृत्ति कही गई है, उसमें सगुणके ध्यानादिकी आवृत्तिका अंगीकार करके

भाष्य

सिद्धिः। अत्राऽऽह—भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः, तेष्वावृत्ति-साध्यस्याऽतिशयस्य सम्भवात्। यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति, तत्र किमर्थावृत्तिरिति। सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत्, न; आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः। यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवं-जातीयकं वाक्यं सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्, ततस्तदेवाऽऽ-वर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात्। अथोच्येत—न केवलं

भाष्यका अनुवाद

आदि सब प्रत्ययोंमें आवृत्तिकी सिद्धि होती है। यहांपर कहते हैं—जिनका फल साध्य है ऐसे प्रत्ययोंमें आवृत्ति भले ही हो, क्योंकि उनमें आवृत्तिसे होनेवाले अतिशयका संभव है। परन्तु जो परब्रह्मविषयक प्रत्यय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाववाले आत्मभूत परब्रह्मका ही बोध कराता है, उसमें आवृत्तिका क्या प्रयोजन है? केवल एक बार श्रवण होनेपर ब्रह्मात्मत्व प्रतीति उपपन्न नहीं होती, अत एव आवृत्तिका स्वीकार किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आवृत्ति होनेपर भी उसकी उपपत्ति नहीं होती। यदि 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि वाक्य एक बारके श्रवणसे ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिको उत्पन्न न करे, तो वही आवृत्ति करनेसे उस प्रतीतिको उत्पन्न करे इसकी क्या आशा हो सकती है? यदि ऐसा कहा जाय कि केवल वाक्य किसी अर्थका साक्षात्कार करानेकी शक्ति नहीं रखता, इसलिए

रत्नप्रभा

निर्गुणश्रवणादिष्वावृत्तिमाक्षिपति—अत्राऽऽहेत्यादिना। वाक्यं निर्गुणसाक्षात्कार-जनने शक्तं न वा? आद्ये सकृच्छ्रुतवाक्यात् साक्षात्कारसिद्धेरावृत्तिर्वृथेति उक्त्वा द्वितीयं शङ्कते—सकृदिति। अशक्तस्य आवृत्तावपि फलानुपपत्तिरित्याह—नेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्गुणके श्रवणादिमें आवृत्तिका आक्षेप करते हैं—"अत्राऽऽह" इत्यादिसे। निर्गुणका साक्षात्कार उत्पन्न करनेकी वाक्यमें शक्ति है या नहीं? यदि शक्ति है, तो सकृत् श्रुत वाक्यसे साक्षात्कार सिद्ध होनेसे आवृत्ति वृथा होती है, ऐसा कहकर द्वितीय पक्षकी—वाक्यमें साक्षात्कार उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, इस पक्षकी शंका करते हैं—"सकृत्" इत्यादिसे। निर्गुणका साक्षात्कार करानेमें असमर्थ वाक्यकी आवृत्ति होनेपर भी फलकी अनुपपत्ति है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। तथापि—स्वतः अशक्तकी युक्तिसाहित्यसे शक्ति होनेपर

भाष्य

वाक्यं कश्चिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति । तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव । साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति । अथाऽपि स्याद् युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते, न विशेषविषयम्, यथाऽस्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद् गात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते, न विशेषमनुभवति, यथा स एव शूली । विशेषानुभवश्चाऽविद्याया निवर्तकः, ततस्तदर्थाऽऽवृत्तिरिति चेत्, न; असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो

भाष्यका अनुवाद

युक्तिकी अपेक्षा रखनेवाला वाक्य ब्रह्मात्मताका अनुभव करावेगा, तो भी आवृत्ति निरर्थक ही है, क्योंकि वह युक्ति भी एक ही बार प्रवृत्त होकर अपने अर्थका बोध करावेगी। और यदि ऐसी शंका करो कि युक्तिसे और वाक्यसे सामान्य विषयका ही विज्ञान किया जाता है, विशेष विषयका नहीं किया जाता, जैसे मेरे हृदयमें शूल है इस वाक्यसे और गात्रकम्प आदि लिंगसे शूलके अस्तित्वका ही अन्यको ज्ञान होता है, जैसा उसी शूलवान् पुरुषको शूलविशेषका अनुभव होता है, वैसा उसके वाक्य आदिसे दूसरेको उस शूलका अनुभव नहीं होता। और विशेष अनुभव अविद्याका निवर्तक है, अतः उसके लिए आवृत्ति है, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि कितना ही श्रवण असकृत् किया जाय, तो भी विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं है, कारण कि सकृत् प्रयुक्त शास्त्र और युक्तिसे अज्ञात विशेष सौ बार प्रयुक्त

रत्नप्रभा

तथापीति । स्वतोऽशक्तस्य युक्तिसाहित्यात् शक्तावपीत्यर्थः । वाक्ययुक्तिभ्यां परोक्षज्ञाने जातेऽप्यपरोक्षज्ञानार्थमावृत्तिरिति शङ्कते—अथापि स्यादिति । तयोः परोक्षज्ञानहेतुत्वस्वाभाव्यात् आवृत्तावपि न साक्षात्कारः स्यादिति परिहरति—न; असकृदपीति । यदि तयोः साक्षात्कारसामर्थ्यं यदि वा परोक्षज्ञानसामर्थ्यम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी, ऐसा अर्थ है। वाक्य और युक्तिसे परोक्षज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी अपरोक्ष ज्ञानके लिए आवृत्ति है, ऐसी शंका करते हैं—"अथापि" इत्यादिसे। वाक्य और युक्ति अपरोक्ष ज्ञानके हेतु हैं, ऐसा उनका स्वभाव होनेसे आवृत्ति होनेपर भी साक्षात्कार नहीं होता, इस प्रकार शंकाका परिहार करते हैं—"न; असकृदपि" इत्यादिसे। यदि वाक्य और युक्ति साक्षात्कार

भाष्य

विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते । तस्माद् यदि शास्त्र-युक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्यते यदि वा सामान्यमेवोभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः । न च सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुम्, विचित्रप्रज्ञत्वात् प्रतिपत्तॄणाम् । अपि चाऽनेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेष-वत्येकेनाऽवधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो

भाष्यका अनुवाद

शास्त्र और युक्तिसे भी नहीं समझा जा सकता। इसलिए शास्त्र और युक्तिसे विशेष ज्ञात होता है, ऐसा यदि कहो, अथवा उनके योगसे सामान्य ही ज्ञात होता है, ऐसा यदि कहो तो भी दोनों ही प्रकारसे सकृत् प्रवृत्त हुए ही वे (शास्त्र और युक्ति) स्वकार्य करते हैं, इसलिए आवृत्तिका उपयोग नहीं है । और सकृत्-प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति किसीके भी अनुभवको उत्पन्न नहीं करते, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुभव करनेवालोंकी बुद्धि विचित्र है अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारकी है, एकसी नहीं है। उसी प्रकार अनेक अंशोंसे युक्त सामान्य और विशेषवाले लौकिक पदार्थमें एक अवधानसे एक अंशका और दूसरे अवधानसे दूसरे अंशका अवधारण करनेवालेमें अभ्यासका उपयोग भले ही हो, जैसे कि दीर्घ प्रपाठकके ग्रहण आदिमें अभ्यासका उपयोग होता है।

रत्नप्रभा

उभयथा आवृत्त्यनपेक्षेत्याह—तस्मादिति । प्रमातृवैचित्र्याद्प्यावृत्त्यनियम इत्याह—न चेति । प्रमेयस्याऽनंशत्वाच्च तथेत्याह—अपि चेति । द्विविधो ह्यधिकारी स्यात् कश्चित् जन्मान्तराभ्यासात् निरस्तसमस्तासम्भावनादिप्रतिबन्धः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

करानेमें समर्थ हों, या परोक्ष ज्ञान करानेमें समर्थ हों, तो उभयथा भी आवृत्तिकी अनपेक्षा है, ऐसा कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। प्रमातामें वैचित्र्य—भिन्नता होनेसे भी आवृत्तिका नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। प्रमेय ब्रह्मके अंशरहित होनेसे भी आवृत्तिका नियम नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। अधिकारी दो प्रकारके हैं। किसीका अन्य जन्मके अभ्याससे समस्त असंभावना आदि प्रतिबन्धोंका निरसन हुआ रहता है, और कोई इस प्रकारके प्रतिबन्धोंसे युक्त होता है। उनमें पहिलेके प्रति आवृत्ति

भाष्य

यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु, न तु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति।

अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात्। यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवाऽऽवृत्तिः। तथा हि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य 'तत्त्वमसि' इत्येवाऽसकृदुपदिशति। तथा च 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम्। ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं

भाष्यका अनुवाद

परन्तु सामान्यविशेष-रहित, चैतन्यमात्रस्वरूप, निर्विशेष ब्रह्ममें प्रमाकी उत्पत्तिके लिए अभ्यासकी अपेक्षा युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—जो पुरुष 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार एक बार कहनेपर ब्रह्मात्मताका अनुभव करनेमें समर्थ है, उसके प्रति आवृत्ति भले ही निरर्थक हो। परन्तु जो ऐसी सामर्थ्य नहीं रखता, उसके प्रति आवृत्ति उपयुक्त ही है, क्योंकि छान्दोग्यमें 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (हे श्वेतकेतो, वह तू है) इस प्रकार उपदेश करके 'भूय एव मा भगवान्' (फिर आप मुझे समझावें) इस प्रकार पुनः पुनः प्रेरित होते हुए उस उस आशंकाके कारणका निराकरण करके 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इस प्रकार अनेक बार उपदेश करते हैं। इसी प्रकार 'श्रोतव्यो मन्तव्यो०' (ब्रह्मका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए) इत्यादि दिखलाया गया है। परन्तु एक बार श्रुत 'तत्त्वमसि' (वह तू है) यह वाक्य अपने अर्थका अनुभव करानेमें समर्थ नहीं है, तो

रत्नप्रभा

कश्चित्तु प्रतिबन्धवानिति। अत्र आद्यं प्रति आवृत्तेः आनर्थक्यमिष्टम्, द्वितीयस्य तु प्रतिबन्धनिरासाय तदपेक्षेति समाधत्ते—अत्रोच्यते इति। आवृत्तेः प्रतिबन्धनिरासार्थत्वे लिङ्गमाह—तथा हीति। यथा षड्जादिस्वरभेदसाक्षात्कारशक्तमपि श्रोत्रम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निरर्थक है, यह हमें इष्ट है, दूसरोंको तो प्रतिबन्धके निराकरणके लिए आवृत्तिकी अपेक्षा है, ऐसा समाधान करते हैं—"अत्रोच्यते" इत्यादिसे। आवृत्ति प्रतिबन्धका निरसन करती है, इस विषयमें प्रमाण कहते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे। जैसे षड्ज आदि स्वरभेदके

भाष्य

न शक्नोति, तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्ष्यतीति । नैष दोषः, नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद् वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः । अपि च तत्त्वमसीत्येतद् वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे, तत्पदेन च प्रकृतं सद् ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०२ । १ । १) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३ । ८ । ११) 'अदृष्टं द्रष्टृ' 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३ । ८ । ११) 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमन-

भाष्यका अनुवाद

आवृत्ति करनेपर भी वह अपने अर्थका अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होगा। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि दृष्ट होनेपर—अनुभवमें आनेपर कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। एक बार श्रुत वाक्यसे मन्द ज्ञात—सामान्यतः ज्ञात होनेपर वाक्यार्थकी आवृत्ति करनेवाले उन उन अर्थाभासोंका निरसन करके अर्थका ज्ञान प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं। और 'तत्त्वमसि' (वह तू है) यह वाक्य त्वम् पदार्थका तत् पदार्थभाव कहता है और 'तत्' पदसे प्रकृत ईक्षितृ—ईक्षण करनेवाला सत् ब्रह्म जगत्के जन्म आदिका कारण कहा जाता है, जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं०' (सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है [विषय-विज्ञानके समान दुःखव्याप्त नहीं है, परन्तु] आनन्द स्वरूप है), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (ब्रह्म किसीसे दृष्ट नहीं है [अविषय होनेसे] स्वयं द्रष्टा है [दृष्टिस्वरूप होनेसे]), 'अविज्ञातं विज्ञातृ०' ([बुद्धिका विषय न होनेसे] ब्रह्म अविज्ञात है [विज्ञानस्वरूप होनेसे] स्वयं विज्ञाता है),

रत्नप्रभा

भ्यासमपेक्षते, तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारशक्तं वाक्यं तदपेक्षमित्यनुभवमाश्रित्याऽऽह—**नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति** । तत्त्वम्पदलक्ष्यार्थस्य दुर्बोधत्वादज्ञानप्रयुक्तसंशयादिप्रतिबन्धसम्भवात् तद्ध्वंसाय आवृत्तिरिष्टव्येति वाच्यलक्ष्यविवेकपूर्वक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

साक्षात्कारके लिए श्रोत्र समर्थ है, तो भी उसको अभ्यासकी अपेक्षा है, वैसे ही ब्रह्म साक्षात्कार करानेके लिए वाक्यके समर्थ होनेपर भी अभ्यासकी अपेक्षा है, इस अनुभवका आश्रय लेकर कहते हैं—"नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम" इत्यादिसे । तत्पद और त्वम्पदसे लक्ष्य अर्थके दुर्बोध होनेसे अज्ञानसे प्रयुक्त संशय आदि प्रतिबन्धका संभव होनेसे उसके नाशके लिए आवृत्ति आवश्यक है, ऐसा वाच्य और लक्ष्यका विवेक कर कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । प्रमेय ब्रह्मके

भाष्य

ण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३ । ८ । ८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम् । तत्राऽजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः, अस्थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः, विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम् । एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः, तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोतुः देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनाऽवधारितः । तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ, तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं

भाष्यका अनुवाद

'अजमजरममरम्०' (ब्रह्म अज है, अजर है और अमर है—अविनाशी है), 'अस्थूलमनण्व०' (ब्रह्म स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है इस प्रकार परिमाणके प्रतिषेधसे द्रव्यधर्म प्रतिषिद्ध किया है वह द्रव्य नहीं—अक्षर है, ऐसा अर्थ है) इत्यादि वाक्योंसे शास्त्रप्रसिद्ध ब्रह्म कहा जाता है। यहांपर अज आदि शब्दोंसे जन्मादि भावविकारोंकी निवृत्ति की गई है। अस्थूल आदि शब्दोंसे स्थौल्य आदि द्रव्यधर्मोंकी निवृत्ति की गई है। विज्ञान आदि शब्दोंसे ब्रह्म चैतन्य प्रकाशात्मक है, ऐसा कहा गया है। जिससे सब संसार धर्म व्यावृत्त हुए हैं ऐसा अनुभवात्मक तत्पदका वाच्य ब्रह्म वेदान्तियोंमें प्रसिद्ध है। उसी प्रकार त्वम्पदार्थ भी प्रत्यक् आत्मा, श्रोताके देहसे आरम्भ करके प्रत्यगात्मरूपसे संभाव्यमान होनेसे चैतन्यावधित्वसे निश्चित किया गया है, ऐसी अवस्थामें जिनको ये दोनों पदार्थ अज्ञान, संशय और विपर्ययसे प्रतिबद्ध होते हैं, उनके प्रति 'तत्त्वमसि' यह वाक्य स्वार्थमें प्रमा उत्पन्न करनेके

रत्नप्रभा

माह—अपि चेत्यादिना । यदुक्तमनंशत्वात् प्रमेयस्याऽऽवृत्त्यानर्थक्यमिति तत्राह—यद्यपीति । आरोपितांशनिरासाय 'न मे देहः' 'नेन्द्रियम्' इत्यभ्यासो युक्त इत्यर्थः । वाक्यार्थज्ञाने सति कथमभ्यासनियमः प्रमाणज्ञानस्याऽभ्यासायोगात्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अंशरहित होनेसे आवृत्ति निरर्थक ही है, ऐसा जो कहा है उसपर कहते हैं—"यद्यपि" इत्यादिसे। आरोपित अंशका निरसन करनेके लिए 'मेरा शरीर नहीं है' इन्द्रियाँ नहीं हैं यह अभ्यास उचित है, ऐसा अर्थ है। वाक्यार्थका ज्ञान होनेपर अभ्यासका नियम किस प्रकार है, क्योंकि प्रमाणज्ञानका अभ्यास नहीं हो सकता है और ज्ञानीके लिए श्रवणादिनियम

भाष्य

शक्नोति, पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद् वाक्यार्थज्ञानस्येत्यतस्तान् प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः। यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन् बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं तत्रैकेनाऽवधानेनैकमंशमपोहत्याऽपरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवाऽऽत्मप्रतिपत्तेः। येषां पुनर्निपुणमतीनां नाऽज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान् प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव। सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते। सत्यमेवं

भाष्यका अनुवाद

लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थज्ञान पदार्थज्ञानके पीछे होता है। इसलिए उनके प्रति पदार्थोंको विविक्त करनेवाले शास्त्र और युक्तिका अभ्यास अपेक्षित है। यद्यपि ज्ञेय आत्मा निरंश है, तो भी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषयज्ञान आदिरूप बहुतसे अंश जो उसमें अध्यारोपित हैं, उनमें एक अवधानसे एक अंशका निषेध करता है और अन्य अवधानसे अन्य अंशका निषेध करता है इस प्रकार उसमें क्रमिक ज्ञान युक्त है। परन्तु वह क्रमसे होनेवाला ज्ञान आत्मसाक्षात्कारका कारण ही है। परन्तु निपुण मतिवाले जिनको अज्ञान, संशय, या विपर्ययरूप 'तत्' 'त्वम्' पदार्थविषयक प्रतिबन्ध नहीं है, वे एक वा कहे गये 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका अर्थ अनुभव करनेमें शक्तिमान् होते हैं, इसलिए उनके प्रति आवृत्तिकी निरर्थकता इष्ट ही है। एक बार उत्पन्न हुआ ही आत्मज्ञान अविद्याकी निवृत्ति करता है इसलिए उसमें किसी क्रमका स्वीकार नहीं किया जाता। ठीक है, यदि किसी एक आधको इस प्रकारसे ज्ञान हो, तो आवृत्तिका निरर्थक

रत्नप्रभा

ज्ञानिनः श्रवणादिनियमायोगाच्च, इत्यत आह—तत्त्विति। ज्ञानात् प्रागेव श्रवणादिव्यापारनियमनं क्रियते इत्यर्थः। अधिकं शङ्कितुमुक्तमनुवदति—येषामिति। अधिकं शङ्कते—सत्यमिति। दुःखित्वप्रत्यक्षविरोधात् वाक्यादैक्यधीः

रत्नप्रभाका अनुवाद

युक्त नहीं है, इसपर कहते हैं—"तत्तु" इत्यादिसे। ज्ञानके पूर्वमें ही श्रवणादिव्यापारका नियम किया जाता है, ऐसा अर्थ है और अधिक शंका करनेके लिए उक्तका अनुवाद करते हैं—"येषाम्" इत्यादिसे। अधिक शंका करते हैं—"सत्यम्" इत्यादिसे। इस प्रकार दु खित्वके

भाष्य

युज्येत, यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत्। बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः, अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित् प्रतिपद्यत इति चेत्, न; देहाद्यभिमानवद् दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभिमानत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्ये इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः, तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः, तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात्। देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरुपलभ्यमानत्वाद् दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः। चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ०

रत्नप्रभाका अनुवाद

होना युक्त हो। मेरी आत्मा दुःखी है, यह ज्ञान बलवान् है अतः दुःखित्वके अभावका ज्ञान किसीको नहीं हो सकता है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें देहादिके अभिमानके समान दुःखित्व आदिका अभिमान मिथ्या अभिमान है, ऐसा उपपन्न होता है। निश्चय, जब देह छेदा जाता है या जलता है, तब मैं छेदा जाता हूँ, मैं जलता हूँ, ऐसा मिथ्या अभिमान देखनेमें आता है। उसी प्रकार देहसे अधिक बाह्य भी पुत्र, मित्र आदि संतप्त होते हैं, तो मैं ही संतप्त होता हूँ, ऐसा अध्यारोप देखनेमें आता है। इसी प्रकार दुःखित्व आदिका अभिमान भी मिथ्या है, क्योंकि देहादिके समान ही दुःखित्व आदि चैतन्यरूपसे पृथक् उपलब्ध होते हैं, क्योंकि सुषुप्ति आदिमें वे अनुवृत्त नहीं होते। परन्तु 'यद्वै तन्न पश्यति' (सुषुप्तिमें वह जो नहीं देखता, तो देखता हुआ

रत्नप्रभा

नोदेतीत्यर्थः। प्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वादविरोध इत्याह—नेत्यादिना। दुःखादयः नात्मधर्माः, दृश्यत्वात्, देहादिवत्। नाऽप्यात्मस्वरूपाः, आत्मनि सत्यप्यननुवृत्तित्वात्, व्यतिरेकेण चैतन्यवदित्यर्थः। निर्दुःखचिदात्मनि दुःखादिधियो भ्रान्तित्वाद्

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यक्ष विरोधसे 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे तत् और त्वम् पदार्थोंमें ऐक्यबुद्धि उत्पन्न नहीं होती, ऐसा अर्थ है। परन्तु प्रत्यक्ष जो होता है, वह भ्रान्ति है, इसलिए अविरोध है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। दुःख आदि आत्मधर्म नहीं हैं, दृश्य होनेसे, देहादिके समान। उसी प्रकार दुःखादि आत्मस्वरूप भी नहीं है, आत्माके होनेपर भी अनुवृत्ति न होनेसे, व्यतिरेकसे चैतन्यके समान, ऐसा अर्थ है। निर्दुःख चिदात्मामें दुःखादिबुद्धि भ्रान्ति ही है, इसलिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्यार्थका अनुभव विरुद्ध नहीं, ऐसा कहते

भाष्य

४ । ३ । २३) इत्यादिना । तस्मात् सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽह-मित्येष आत्मानुभवः । न चैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत् कृत्यमव-शिष्यते । तथा च श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४ । ४ । २२) इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्शयति । स्मृतिरपि—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥'
(गी० ३ । १७) इति ।

यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते, तं प्रत्यनुभवार्थ एवाऽऽवृत्त्यभ्यु-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही नहीं देखता) इत्यादि श्रुतिवचनसे चैतन्यकी अनुवृत्ति सुषुप्तिमें भी कहते हैं । इसलिए सब दुःखोंसे विनिर्मुक्त एक चैतन्य स्वरूप मैं हूँ, यह आत्मानुभव है और ऐसे आत्माका अनुभव करनेवालेके लिए कुछ अन्य कृत्य अवशिष्ट नहीं रहता । इसी प्रकार 'किं प्रजया करिष्यामो येषां०' (परमार्थ-दर्शी जिन हम लोगोंका यह आत्मा ही लोक है, वे हम प्रजासे—सन्ततिसे क्या करेंगे) इस प्रकार श्रुति आत्मवेत्ताके कर्तव्यका अभाव दिखलाती है । स्मृति भी कहती है कि 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः०' (परन्तु जिसको आत्मामें ही रति है, विषयमें नहीं, जो आत्मामें ही तृप्त है अन्न रसादिसे नहीं, जिसको आत्मामें ही सन्तोष है, बाह्य अर्थलाभसे नहीं, उस मानवके लिए कुछ कर्तव्य नहीं है) परन्तु जिसको यह अनुभव जल्दी उत्पन्न नहीं होता, उसके प्रति अनुभवके लिए आवृत्तिका स्वीकार है । उसमें

रत्नप्रभा

वाक्यार्थानुभवो न विरुध्यते इत्याह—तस्मादिति । अनुभवे जातेऽप्या-वृत्त्याद्यनुष्ठानं किं न स्यादित्यत आह—न चैवमिति । रतिः—कामः, आत्मका-मतया तृप्तिः—विषयतृष्णाक्षयः, तेन सन्तोष आत्मानन्दानुभवः—इति भेदः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"तस्मात्" इत्यादिसे । अनुभव होते हुए भी आवृत्ति आदिका अनुष्ठान क्यों न होगा ? इसपर कहते हैं—"न चैवम्" इत्यादिसे । रति—काम, आत्मकामताके कारणसे तृप्ति है—विषयतृष्णाका क्षय है, उससे सन्तोष होनेपर आत्मानन्दका अनुभव होता है, ऐसा भेद

भाष्य

पगमः। तत्राऽपि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात् प्रच्याव्याऽऽवृत्तौ प्रवर्तयेत्, नहि वरघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति। नियुक्तस्य चाऽस्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययात् विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते। यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात् तं वाक्यार्थं जिहासेत् तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याऽभ्युपेयते, तस्मात् परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

भी उसको 'तत्त्वमसि' इस वाक्यार्थसे प्रच्युत करके आवृत्तिमें प्रवृत्त नहीं कराना चाहिए, क्योंकि वरके नाशके लिए कन्याका विवाह नहीं करते। इसमें अधिकृत हुआ मैं कर्ता हूँ, मेरा यह कर्त्तव्य है, ऐसे नियुक्त हुए को ब्रह्मज्ञानसे विपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जो आप ही मन्दमति है और प्रतिभान न होनेसे उस वाक्यार्थका त्याग करनेकी तैयारीमें है उसको उसी वाक्यार्थमें आवृत्ति आदि वाचोयुक्तिसे स्थिर करनेका स्वीकार है। इसलिए परब्रह्म विषयक ज्ञानमें उसके उपायके उपदेशोंमें आवृत्ति सिद्ध होती है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

नन्वावृत्तौ नियोगात् प्रवृत्तिर्वाच्या, तथा च नियुक्तत्वबुद्धेरकर्त्रात्मधीर्न स्यादित्यत आह—तत्राऽपीति। आवृत्त्यभ्युपगमेऽप्यकर्ताहमित्यनुभवात् प्रच्याव्य गुरुरन्यो वा नियोगात् न प्रवर्तयेद्, उक्तदोषादित्यर्थः। कथं तर्हि प्रवृत्तिः, इत्यत आह—यस्त्विति। अप्रतिभानाद् असम्भावनादिनेत्यर्थः। शिष्यबुद्ध्यनुसारेण श्रोतव्यादिवचोभिः प्रधानसिद्ध्यर्थमावृत्त्यादौ प्रवर्तयेदित्यर्थः॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। शंका होती है कि आवृत्तिमें नियोग होनेसे प्रवृत्ति कहनी चाहिए, उससे नियुक्तत्वबुद्धि—आत्मा अकर्त्ता है, ऐसी बुद्धि न होगी, इसपर कहते हैं—"तत्राऽपि" इत्यादिसे। आवृत्तिका स्वीकार होनेपर भी 'मैं अकर्त्ता हूँ' ऐसे अनुभवसे प्रच्युत करके गुरु या अन्य, उसको नियोगसे प्रवृत्त नहीं करेगा, क्योंकि उक्त दोष है, ऐसा अर्थ है। तब प्रवृत्ति किसी प्रकार नहीं है, इसपर कहते हैं—"यस्तु" इत्यादिसे। असम्भावना आदिसे, प्रतिभान न होनेके कारण ऐसा अर्थ है। शिष्यबुद्धिके अनुसार श्रोतव्यः आदि वचनोंसे प्रधानकी सिद्धिके लिए आवृत्ति आदिमें शिष्य आदिकी प्रवृत्ति करानी चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥२॥

[२ आत्मत्वोपासनाधिकरण सू० ३]

ज्ञात्रा स्वान्यतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽथवा ।
अन्यत्वेन विजानीयाद् दुःख्यदुःखिविरोधतः ॥ १ ॥
औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् ।
गृह्णन्त्येव महावाक्यैः स्वशिष्यान् ग्राहयन्ति च* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ज्ञाताने स्वभिन्नरूपसे ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए अथवा स्वस्वरूपसे ग्रहण करना चाहिए ।

पूर्वपक्ष—भिन्नरूपसे ही ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दुःखी और सुखी अत्यन्त विरुद्ध हैं ।

सिद्धान्त—सुखित्व और दुःखित्वरूपसे ब्रह्म और जीवका जो विरोध है वह औपाधिक है, इसलिए आत्मरूपसे ही ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, और यही कारण है कि तत्त्ववेत्ता महावाक्योंसे आत्मत्वेन ब्रह्मका ग्रहण करते हैं और उसी प्रकार शिष्योंको भी बोध कराते हैं ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—आत्मा, इति, तु, उपगच्छन्ति, ग्राहयन्ति, च ।

पदार्थोक्ति—आत्मेति—आत्मेत्येव [ब्रह्म ध्यातव्यम्] तु—यतः उपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' इत्यादिना आत्मत्वेन जाबालाः ब्रह्माऽभ्युपगच्छन्ति, च—तथा, ग्राहयन्ति—'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यानि ग्राहयन्ति । [न च तेषां 'मनो ब्रह्म' इत्यादिवद् गौणार्थत्वम्, सति मुख्यार्थत्वे गौणार्थत्वायोगात्, न च प्रत्यक्षविरोधः, तस्य मिथ्यागोचरत्वेन पारमार्थिका-भेदागोचरत्वात् ।

* सारांश यह है कि जो शास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्म है, उसका जीवने भिन्नरूपसे ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि दुःखी और सुखी जो जीव और ब्रह्म हैं, वे परस्पर विरुद्ध हैं । इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—वियदधिकरणके जीवविचारमें इस बातका भली भाँति विचार किया जा चुका है कि वस्तुतः ब्रह्मरूप ही जीव है, तथापि अन्तःकरणरूप उपाधिसे ही दुःखित्वादि संसारधर्म है, इसलिए वास्तविक विरोध न होनेसे आत्मरूपसे ही ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए । इसीलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि महावाक्योंसे तत्त्ववित् आत्मरूपसे ब्रह्मका ग्रहण करते हैं । और 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंसे अपने शिष्योंको ब्रह्मका बोध कराते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मका आत्मरूपसे ही ग्रहण करना चाहिए ।

भावार्थ—'ब्रह्म आत्मा है' इस प्रकार ब्रह्मका ध्यान करना चाहिए क्योंकि जाबाल 'त्वं वा अहमस्मि' इत्यादि श्रुतिसे आत्मरूपसे ब्रह्मका अङ्गीकार करते हैं और इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका ज्ञान कराते हैं। और 'मनो ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंके समान उन्हें गौणार्थक नहीं समझना चाहिए, क्योंकि मुख्यार्थ के रहते गौणार्थ मानना उचित नहीं है। प्रत्यक्षके साथ विरोध भी नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष मिथ्यागोचर होनेसे पारमार्थिक अभेदका अवगाहन नहीं करता है।

भाष्य

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः, किं वा मदन्य इत्येतद्विचारयति। कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति। उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं . सति

भाष्यका अनुवाद

शास्त्रमें कहे गये विशेषणोंसे विशिष्ट जो परमात्मा है, उसका क्या 'मैं ही परमात्मा हूँ' इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए या 'वह मुझसे अन्य है' इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए, इसका विचार करते हैं। परन्तु प्रत्यक् आत्मरूप अर्थमें आत्मशब्दके श्रुत होनेपर संशय कैसे ? कहते हैं—

रत्नप्रभा

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च। पूर्वत्र ध्यानादेरावृत्तिरुक्ता, तामुपजीव्य तत्त्वज्ञानार्थं ध्यानावृत्तिकाले किमहं ब्रह्मेति ध्यातव्यम् उत मत्स्वामी ईश्वरः इत्यैक्यभेदमानाभ्यां संशयमाह—य इति। 'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र० सू० १।३।२३) इत्यादौ, 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९). इत्यादिश्रुतिभिरैक्यनिर्णयात् संशयमाक्षिपति—कथमिति। भेदश्रुत्यनुग्रहाद् भेदप्रत्यक्षादिप्राबल्यमालम्ब्य संशय इत्याह—उच्यते इति। अभेदश्रुतीनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"। पूर्व अधिकरणमें ध्यानादिकी आवृत्ति कही गई है, उसके आधारपर तत्त्वज्ञानके लिए ध्यानकी आवृत्तिके समय 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ध्यान करना चाहिए, या 'मेरा स्वामी ईश्वर है' ऐसा ध्यान करना चाहिए, इस प्रकार ऐक्य और भेद दोनोंके प्रमाण होनेसे संशय कहते हैं—"य." इत्यादिसे। 'शब्दादेव प्रमितः' इत्यादिमें यह आत्मा ब्रह्म है, इस प्रकार अभेदश्रुतियों द्वारा ऐक्यका निर्णय किया गया है, तो संशय कैसा, इस प्रकार संशयका आक्षेप करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। भेदश्रुतिसे अनुगृहीत भेदप्रत्यक्षकी प्रबलताका अवलम्बन करके सन्देह होता है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते"

भाष्य

जीवेश्वरयोरभेदसंभवे, इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते। किं तावत् प्राप्तम्? नाऽहमिति ग्राह्यः, नह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुम्, विपरीतगुणो वाऽपहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन। अपहतपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः। ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्वे ईश्वराभावप्रसङ्गः, ततः शास्त्रानर्थक्यम्। संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिका-

भाष्यका अनुवाद

यह आत्मशब्द मुख्य है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, यदि जीव और ईश्वरका अभेद सम्भव हो, अन्यथा यह आत्मशब्द गौण है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, ऐसा सूत्रकार मानते हैं। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—'ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार ग्रहण करना योग्य नहीं है, क्योंकि पाप्मत्व आदि गुण जिसके नष्ट हो गये हैं, ऐसे उस परमात्माका विपरीतगुणत्वेन ग्रहण नहीं किया जा सकता। और विपरीत गुणोंसे—पाप, जरा, मरण आदिसे युक्तका अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। परमेश्वर अपहतपाप्मत्वादि गुणसे युक्त है, किन्तु जीव उससे विपरीत गुणवाला है। और ईश्वर संसारिस्वरूप हो, तो ईश्वरके अभावका प्रसंग आवेगा और उसमें शास्त्रकी निरर्थकता प्राप्त होगी। इसी प्रकार संसारी जीव भी ईश्वररूप माना जाय, तो अधिकारीके अभावसे शास्त्र अनर्थक ही होगा, और इस

रत्नप्रभा

गौणत्वमुख्यत्वे उभयत्र फलम्। यद्यप्ययं प्रत्यक्षादिविरोधपरिहारो द्वितीयाध्यायसङ्गतः, तथाप्यैक्यश्रुतेरविरुद्धत्वनिश्चयस्य समाधावन्तरङ्गत्वात् इह सङ्गतिः। विरुद्धयोरैक्यदृष्टिरसिद्धेत्याह—नाऽहमिति। किञ्च, किमीश्वरस्य जीवमात्रत्वमैक्यं जीवस्येश्वरमात्रत्वं वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—ईश्वरस्य चेत्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें अभेदश्रुति गौणार्थक है और सिद्धान्त में मुख्यार्थक है, ऐसा फलमें भेद है। यद्यपि इस प्रत्यक्ष आदिके विरोध परिहारकी संगति द्वितीय अध्यायमें. है, तो भी ऐक्यश्रुतिके अविरुद्धत्वनिश्चयके समाधिमें अन्तरंग होनेसे यहां संगति है। विरुद्धकी ऐक्यदृष्टि असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—"नाऽहम्" इत्यादिसे। ईश्वर जीवमात्र है, ऐसा ऐक्य है, या जीव ईश्वरमें है, ऐसा ऐक्य है, इस प्रकार विकल्प करके उसे दूषित करते हैं—"ईश्वरस्य च" इत्यादिसे। एकत्वश्रुतिका प्रामाण्यसूचन करनेके लिए ऐक्यध्यान

भाष्य

र्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव, प्रत्यक्षादिविरोधश्च। अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात् कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादिदर्शनमिति चेत्, काममेवं भवतु, न तु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथा हि परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि भगवो देवते' इति। तथाऽन्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि'

भाष्यका अनुवाद

अभेद पक्षमें प्रत्यक्ष आदिका विरोध भी प्राप्त होता है। यदि जीव और ईश्वरका भेद माना जाय, तो भी प्रतिमा आदिमें विष्णु आदिके दर्शनकी नाईं शास्त्रप्रामाण्यसे तादात्म्यदर्शन करना चाहिए, ऐसा यदि कहो, तो भले ऐसा हो, परन्तु संसारीका मुख्य आत्मा ईश्वर है, ऐसा हमको प्राप्त कराना युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आत्मरूपसे परमेश्वरका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि परमेश्वरके प्रकरणमें 'त्वं वा अहमस्मि' (हे भगवति देवते, तू ही मैं हूँ, और मैं ही तू है) 'इस प्रकार जाबाल आत्मरूपसे इसका स्वीकार करते हैं। वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि और

रत्नप्रभा

दिना। एकत्वश्रुतिप्रामाण्यायैक्यध्यानं कार्यमिति शङ्कते—अन्यत्वेऽपीति। एकत्वध्यानम् अस्मदिष्टमेव, एकत्वं तु नास्तीत्याह—काममिति।

अभेदश्रुतीनां फलवदपूर्वार्थतात्पर्येण गौणत्वायोगाद् भेदश्रुतीनां कल्पितभेदानुवादित्वात् प्रत्यक्षादेरपि तद्विषयत्वाद् विम्बप्रतिविम्बयोरिव विरुद्धधर्माणां मिथ्यात्वात् मुख्यमैक्यमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना। ईश्वरस्य जीवत्वं न प्रतिपाद्यम्, येनेश्वराभावः स्यात्, किन्तु जीवस्येश्वरत्वम्। न

रत्नप्रभाका अनुवाद

करना चाहिए, ऐसी शंका करते हैं—"अन्यत्वेऽपि" इत्यादिसे। एकत्वध्यान हमको इष्ट है, परन्तु एकत्व ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—"कामम्" इत्यादिसे। सिद्धान्त करते हैं कि अभेदश्रुतियोंका फलवत् अपूर्व अर्थमें तात्पर्य है, अतः ये श्रुतियां गौण हों, यह युक्त नहीं है और भेदश्रुतियां कल्पित भेदका अनुवाद करती हैं, प्रत्यक्षादि भी उनमें हैं और विरुद्ध धर्म विम्ब और प्रतिबिम्बके समान मिथ्या है, इसलिए ऐक्य मुख्य है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। ईश्वरका जीवत्व प्रतिपाद्य नहीं है—ईश्वर जीव है, ऐसा प्रतिपादन करना हमें इष्ट नहीं है, जिससे कि ईश्वरका अभाव हो, परन्तु जीवका ईश्वरत्व हमें प्रतिपाद्य है। और इस प्रकार अधिकारीका अभाव होगा, यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि एकत्व है,

भाष्य

इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः । ग्राहयन्ति चाऽऽत्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३ । ४ । १) 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३ । ७ । ३) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि । यदुक्तं प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यति इति तदयुक्तम्, गौणत्वप्रसङ्गात् वाक्यवैरूप्याच्च । यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते सकृदेव तत्र वचनं भवति यथा—'मनो ब्रह्म' (छा० ३।१८।१), 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३।१९।१) इत्यादि । इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेदप्रतिपत्तिः । भेददृष्ट्यपवादाच्च । तथा हि—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ० १।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९, कठ० ४।१०), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४।५।७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेद-

भाष्यका अनुवाद

भी आत्मत्वका स्वीकार जानना चाहिए । और वेदान्तवाक्य ईश्वरका आत्मरूपसे ही ग्रहण कराते हैं—'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (यह तो आत्मा सबके अभ्यन्तर है), एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी है, अमृत है), 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (वह सत्यस्वरूप है, वह आत्मा है, वह तू है) इत्यादि । विष्णुप्रतिमान्यायसे यह प्रतीकदर्शन होगा, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर गौणत्वका प्रसंग आवेगा और वाक्यके विरूप होनेसे भी यहांपर प्रतीकदृष्टि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि जहां प्रतीकदृष्टि अभिप्रेत होती है, वहां एक ही बार वचन होता है, जैसे कि 'मनो ब्रह्म' (मन ब्रह्म है), 'आदित्यो ब्रह्म' (आदित्य ब्रह्म है) इत्यादि । परन्तु यहां तो 'तू मैं हूं और मैं तू है' ऐसा कहते हैं, इसलिए प्रतीकश्रुतिके विरूप होनेसे अभेदकी प्रतिपत्ति होती है । और भेददृष्टिका निषेध होनेसे अभेदकी प्रतिपत्ति होती है । और भेददृष्टिका निषेध होनेसे भी अभेद ही प्रतिपाद्य है, जैसे कि 'अथ योऽन्यां०' (जो कोई अब्रह्मवेत्ता आत्मासे भिन्न देवताकी उपासना करता है, यह देवता अन्य है, मैं अन्य हूं, ऐसा समझकर वह तत्त्व नहीं जानता), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति०' (जो इस तत्त्वमें अभेद देखता है अविद्यासे नानात्वका अध्यारोप करता है—वह मरणसे मरणको—मृत्युपरम्पराको प्राप्त होता है), 'सर्वं तं परादाद् यो०' (जो सबको

भाष्य

दर्शनमपवदति । यत्तूक्तम्—न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसंभव इति, नाऽयं दोषः, विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः । यत् पुनरुक्तम्—ईश्वराभावप्रसङ्ग इति । तदसत् । शास्त्रप्रमाण्यादनभ्युपगमाच्च । नहीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यते इत्यभ्युपगच्छामः, किं तर्हि ? संसारिणः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति । एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्याऽपहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते । यदप्युक्तमधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति । तदप्यसत्, प्राक्प्रबोधात् संसारित्वाभ्युपगमात्, तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्य-

भाष्यका अनुवाद

आत्मासे अभिन्न जानता है, उसको वे सब पुरुषार्थसे दूर करते हैं—श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट करते हैं) इत्यादि बहुत श्रुतियाँ भेददर्शनका निषेध करती हैं। विरुद्धधर्मोंसे युक्त होनेके कारण जीव और ब्रह्मके अन्योऽन्यात्मकत्व—ऐक्यका सम्भव नहीं है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह अनुपपन्न है, शास्त्ररूपके प्रामाण्य होनेसे और स्वीकार न होनेसे । ईश्वरकी संसार्यात्मताका प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा हम स्वीकार नहीं करते । तब क्या स्वीकार करते हैं संसारी जीव संसारित्वका निरास करके ईश्वररूप होता है, ऐसा हमको विवक्षित है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं । ऐसा होनेपर अद्वैत ईश्वरमें अपहतपाप्मत्वादिगुणता है, अन्य—जीवकी जो विपरीतगुणता वह मिथ्या है, ऐसा व्यवस्थित होता है । और अधिकारीका अभाव है और प्रत्यक्ष आदिका विरोध होता है, ऐसा जो कहा गया है वह भी असत् है, क्योंकि प्रबोधके पहले जीवके संसारित्वका स्वीकार है और प्रत्यक्ष आदि व्यवहार तद्विषयक है— प्रबोधावस्थासे पूर्व अवस्थाको विषय करता है । 'यत्र त्वस्य' (जहां इसका सब आत्मा ही हो गया, वहां किस करणसे किस विषयको देखे) इत्यादिसे प्रबोध होनेपर प्रत्यक्ष आदिका अभाव श्रुति दिखलाती है । प्रत्यक्षा-

रत्नप्रभा

चैवमधिकार्यभावः, एकत्वप्रबोधात् प्रागधिकारिभेदाङ्गीकारादित्याह—यत्पुन-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा बोध होनेसे पहले अधिकारीका भेद स्वीकार किया गया है, ऐसा कहते हैं—"यत्पुनरुक्तम्"

भाष्य

भावं दर्शयति । प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत्, न; इष्टत्वात् । 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४।३।२२) इत्युपक्रम्य 'वेदा अवेदाः' (बृ० ४।३।२२) इति वचनादिष्यत एवाऽस्माभिः श्रुतेरप्यभावः प्रबोधे । कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत् । यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः । नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या, यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि नास्ति

भाष्यका अनुवाद

दिका अभाव होनेपर श्रुतिके भी अभाव होनेका प्रसंग आयेगा, ऐसा यदि कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है, इष्ट होनेसे, क्योंकि 'अत्र पिताऽपिता भवति' (इस ज्ञानकी स्थितिमें पिता अपिता हो जाता है) ऐसा उपक्रम करके 'वेदा अवेदाः' (वेद अवेद होते हैं) ऐसा वचन है, अतः श्रुतिका भी अभाव हमको इष्ट ही है। तब यह अज्ञान किसका है, ऐसा यदि पूछो, तो जो तुम पूछते हो उस तुम्हारा ही है, ऐसा हम कहते हैं। परन्तु मैं ईश्वर ही हूं, ऐसा श्रुतिने कहा है। यदि इस

रत्नप्रभा

रुक्तमित्यादिना । वेदसत्यत्वश्रद्धालुः शङ्कते—प्रत्यक्षाद्यभाव इति । वर्णेषु क्रमस्वरयोरभावादुपलब्धध्वनिस्थयोरारोपो वाच्यः, तथा चाऽऽरोपितक्रमस्वरविशिष्ट-वर्णात्मकवेदस्य मिथ्यात्वं दुर्वारम्, वादिनां सत्यत्वाग्रहस्त्वविद्याविजृम्भित इति वेदसत्यत्वाभावो न दोष इत्याह—नेति । अविद्यामाक्षिपति—कस्येति । प्रश्न-लिङ्गेन त्वय्येव तस्याः सिद्धत्वादाक्षेपानुपपत्तिरित्याह—यस्त्विति । अज्ञान-मूलत्वात् प्रश्नादेरिति भावः । सर्वज्ञाभिन्ने मयि कथमज्ञानमिति शङ्कते—नन्विति । अभेदज्ञानात् प्राक् चिन्मात्रस्य तवैव अज्ञानाश्रयत्वम्, अनुभवसिद्धा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । वेदके सत्यत्वमें श्रद्धा रखनेवाला पुरुष शंका करता है—"प्रत्यक्षाद्यभाव" इत्यादिसे । वर्णोंमें क्रम और स्वरके न होनेसे श्रुत ध्वनिमें स्थित क्रम और स्वरका उन वर्णोंमें आरोप कहना चाहिए, इस प्रकार आरोपित क्रम और स्वरसे विशिष्ट वर्णात्मक वेदका मिथ्यात्व दुर्वार है । वादीका, वेद सत्य है, ऐसा आग्रह अविद्याजनित है, इस लिए वेदकी सत्यताका अभाव, यह दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे । अविद्याका आक्षेप करते हैं—"कस्य" इत्यादिसे । प्रश्नलिंगसे तुम्हींमें अविद्या सिद्ध होती है, अत: तुम्हारे द्वारा किया गया आक्षेप अनुपपन्न है, ऐसा कहते हैं—"यस्तु" इत्यादिसे । क्योंकि प्रश्नादि अज्ञान मूलक हैं, ऐसा भाव है । मैं सर्वज्ञसे अभिन्न हूँ, तब मुझमें अज्ञान कैसे रह सकता है, ऐसी शंका करता है "ननु" इत्यादिसे । अभेदज्ञानसे पूर्वमें चिन्मात्र जो तुम

भाष्य

कस्यचिदप्रबोधः । योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चित्—अविद्यया किलात्मनः सद्वितीयत्वाददैतानुपपत्तिः—इति, सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः, तस्मात् आत्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रकार तुम प्रतिबद्ध हुए हो, तो किसीका अज्ञान नहीं है । और कितने ही जो कि आत्माके अविद्यासे सद्वितीय होनेसे अद्वैत अनुपपन्न है, ऐसे दोषकी शंका करते हैं, उस शंकाका भी इससे प्रत्याख्यान हुआ । इससे मेरी आत्मा ईश्वर ही है, ऐसी ईश्वरमें दृढ़ भावना करे ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

ज्ञानस्य अपलापायोगात् । ज्ञाने त्वनिर्वाच्यस्य तस्य बाधात् नाश्रयापेक्षेत्याह—यद्येवमिति । अनिर्वाच्यत्वे दोषान्तरमपि निरस्तमित्याह—योऽपीति ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो, तुम्हीं अज्ञानाश्रय हो—तुम्हीं अज्ञ हो, क्योंकि अनुभवसिद्ध अज्ञानका निषेध करना युक्त नहीं है । परन्तु ज्ञान होनेपर अनिर्वचनीय अज्ञान के बाधसे उसको आश्रयकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"यद्येवम्" इत्यादिसे । अनिर्वाच्य होनेसे अन्य दोष भी निरस्त होता है, ऐसा कहते हैं—"योऽपि" इत्यादिसे ॥ ३ ॥



[३ प्रतीकाधिकरण सू० ४]

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति न वा ब्रह्माऽविभेदतः ।
जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराहंदृष्टिरिष्यते ॥ १ ॥
प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे ।
अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्रतीकमें अहंदृष्टि है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मके साथ सब वस्तुका अभेद होनेसे जीव और प्रतीकमें ब्रह्म द्वारा अहंदृष्टि करनी चाहिए।

सिद्धान्त—ब्रह्मैक्यके वीक्षण—ज्ञानकालमें प्रतीकत्व और उपासकत्वकी हानि है और अवीक्षण—अज्ञानकालमें भिन्न होनेके कारण अहंदृष्टियोग्यता नहीं है।

न प्रतीके नहि सः ॥ ४ ॥

पदच्छेद—न, प्रतीके, नहि, सः।

पदार्थोक्ति—प्रतीके—प्रतीकोपासनासु, न—अहङ्ग्रहो न कर्तव्यः [कुतः विकल्पासहत्वात्। तथा हि—किं प्रतीके आत्मत्वानुभवबलादहंग्रहः, उत श्रुतत्वात्, उताहो स्वाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वात्। न तावदाद्यः, तथानुभवाभावात्] नहि, सः—उपासकः [आत्मत्वेन प्रतीकमनुभवति। न द्वितीयः, अश्रवणात्, नापि तृतीयः, प्रतीकस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वायोगात्। अतः प्रतीकेऽहंग्रहो न कर्तव्यः, इति सिद्धम्]।

---

* सारांश यह है कि 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादिमें ब्रह्मदृष्टिसे सत्कृत मन, आदित्य आदि प्रतीक उपास्यरूपसे सुने जाते हैं, और उपासकको उस प्रतीकका स्वात्मरूपसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि प्रतीक ब्रह्मकार्य हैं, अतः ब्रह्मके साथ उनका अभेद है, और जीव भी ब्रह्मके साथ अभिन्न है, अतः ब्रह्म द्वारा उपास्य—प्रतीक और उपासक—जीवका परस्पर भेदाभाव होनेसे, एकत्वका सम्भव है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि ब्रह्मकार्य प्रतीकका ब्रह्मके साथ ऐक्य माना जाय, तो प्रतीकस्वरूप ही विलीन हो जायगा, क्योंकि लोकमें घट यदि मृद्रूपसे एकताको प्राप्त करे, तो उसका विलय देखा जाता है, और यदि जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य देखा जाय, तो जीवत्वका नाश होनेपर उपासकत्वका नाश होगा। यदि उपास्योपासकके स्वरूपके लोभसे जीव और ब्रह्मका एकत्वपर्य्यालोचित न हो, तो गोमहिषके समान अत्यन्त भिन्न प्रतीक और उपासकमें एकत्वकी योग्यता ही नहीं है, इससे प्रतीकमें अहंदृष्टि नहीं है।

भावार्थ—प्रतीकोपासनाओंमें अहंग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि निम्न-लिखित विकल्पोंका वहां सहन नहीं होता, देखिये क्या प्रतीकमें आत्मतत्त्वके अनुभवके बलसे अहंग्रह होता है या श्रुतिप्रतिपादित होनेसे या जीव से अभिन्न जो ब्रह्म उससे अभिन्न होनेसे होता है। इन विकल्पोंमें प्रथम विकल्प नहीं घट सकता, क्योंकि उपासक आत्मरूपसे प्रतीकका अनुभव नहीं करता। दूसरा भी नहीं घटता, क्योंकि उसका श्रवण नहीं है, तीसरा भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतीक स्वरूपतः ब्रह्मसे अभिन्न नहीं हो सकता, अतः सिद्ध हुआ कि प्रतीकमें अहंग्रह नहीं करना चाहिए।

भाष्य

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (छा० ३।१८।१), तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१।५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः—किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति। किं तावत् प्राप्तम्? तेष्वप्यात्मग्रह

भाष्यका अनुवाद

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत०' (मन अर्थात् जिससे मनन करते हैं वह अन्तःकरण परब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिए, यह अध्यात्म है; आकाश ब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिए, यह अधिदैवत है) इसी प्रकार 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है), 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (वह जो नामकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता है) इस प्रकारकी प्रतीकोपासनाओंमें संशय होता है कि क्या उनमें भी आत्माका ग्रहण करना युक्त है या नहीं? तब क्या प्राप्त होता है?

रत्नप्रभा

न प्रतीके नहि सः। उभयथा ध्यानसम्भवात् संशयः, यथा ब्रह्मण्यभेद-सत्त्वादहंग्रह उक्तः, एवं प्रतीकेष्वपि ब्रह्मविकारितया जीवाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वाद् जीवाभेदसत्त्वेन अहंग्रहः कार्य इति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः। अत्र प्रतीकोपास्ती-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"न प्रतीके नहि सः" इति। उभयथा ध्यानका सम्भव होनेसे संशय होता है। जैसे ब्रह्ममें जीवका अभेद होनेसे अहंग्रह कहा गया है, वैसे ही प्रतीकोंके भी ब्रह्मविकार होनेसे जीवसे अभिन्न जो ब्रह्म है उससे अभिन्न होनेसे जीवसे अभिन्न हैं, इसलिए उनमें भी अहंग्रह करना चाहिए, इस प्रकार दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें प्रतीकोपासनाका

भाष्य

एव युक्तः। कस्मात्? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात् प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। नहि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। यत् पुनर्ब्रह्मविकारत्वात् प्रतीकानां

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—उनमें भी आत्माका ग्रहण करना युक्त है। किससे? इससे कि श्रुतियोंमें ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है। प्रतीकोंमें भी ब्रह्मके विकार होनेसे ब्रह्मत्व है, ऐसा सिद्ध होनेपर उनमें आत्मत्व का संभव है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रतीकोंमे आत्मरूपसे बुद्धि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह अर्थात् उपासक व्यस्त प्रतीकोंके प्रत्येक प्रतीकका आत्मरूपसे ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। ब्रह्मका विकार होनेसे प्रतीक ब्रह्म हैं और ब्रह्म होनेसे आत्मा हैं, ऐसा जो कहा गया है यह

रत्नप्रभा

नामहंग्रहोपास्तिभिरविशेषः, सिद्धान्ते तु विशेषसिद्धिरिति फलम्। एतदारभ्याधिकरणत्रयस्य प्रासङ्गिकी पादसङ्गतिः। ब्रह्मैक्यध्यानप्रसङ्गागतत्वादिति विवेकः। किं प्रतीकेष्वात्मत्वानुभवबलादहंग्रह उत वस्तुतः जीवाभेदसत्त्वात्, नाद्य इत्याह—**नहि स इति।** नानुभवति इत्यर्थः। द्वितीयमप्यसिद्ध्या दूषयति—**यत् पुनरित्यादिना।** विकारस्य ब्रह्मणा स्वरूपैक्यायोगाद् बाधेनैक्यं वाच्यम्, प्रतीकबाधे चोपास्तिविधिर्न स्यादित्यर्थः। किञ्च, कर्तृत्वाद्यबाधेनोपास्तिविधि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अहंग्रहोपासनासे कुछ विशेष नहीं है, सिद्धान्तमें विशेष सिद्ध है, ऐसा दोनोंके फलमें विशेष है। यहांसे लेकर तीन अधिकरणोंकी प्रासंगिकी पादसंगति है, क्योंकि वे ब्रह्मैक्यध्यानके प्रसंगमें हैं, ऐसा विवेक है। प्रतीकोंमें यह आत्मा है, ऐसे अनुभवके बलसे अहंग्रह होता है, या वस्तुतः जीवसे प्रतीकके अभिन्न होनेसे अहंग्रह होता है? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"नहि सः" इत्यादिसे। अनुभव नहीं करता है, ऐसा अर्थ है। दूसरे पक्षको भी असिद्धिसे दूषित करते हैं—"यत्पुनः" इत्यादिसे। विकारका ब्रह्मके साथ स्वरूपसे ऐक्य न होनेसे बाध होनेपर ऐक्य कहना पड़ेगा, और प्रतीकका बाध होनेपर उपासनाविधि नहीं होगी, ऐसा अर्थ है। और कर्तृत्व आदिका बाध हुए बिना उपास्तिविधिमें प्रवृत्ति

भाष्य

ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति। तदसत्। प्रतीकाभावप्रसङ्गात्। विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति। स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा। न च ब्रह्मण आत्मत्वाद्ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या, कर्तृत्वाद्यनिराकरणात्। कर्तृत्वादि सर्वसंसारधर्मनिराकरणेन हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः, तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्, अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते,

भाष्यका अनुवाद

अयुक्त है, क्योंकि प्रतीकके अभावका प्रसंग आता है, क्योंकि विकारके स्वरूपका नाश होनेपर ही नामादिसमूह ब्रह्म है ऐसा स्वीकार किया जाता है। और नामादिके स्वरूपका नाश होनेपर उनमें प्रतीकत्व कैसे रह सकता है? या आत्मरूपसे उनका ग्रहण कैसे हो सकता है? और ब्रह्मके आत्मा होनेसे ब्रह्मदृष्टिके उपदेशोंमें आत्मदृष्टिकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कर्तृत्व आदिका निराकरण नहीं होता। कर्तृत्व आदि सब संसारधर्मोंका निराकरण होनेपर ब्रह्म आत्मा है, ऐसा उपदेश है और उसके अनिराकरणसे उपासनाका विधान है। इसलिए उपासककी प्रतीकोंके साथ समानता होनेसे प्रतीकोंमें आत्माका

रत्नप्रभा

प्रवृत्तिर्वाच्या, बाधे तदयोगात्। तथा च बाधमूलब्रह्मैक्यज्ञानं द्वारीकृत्य प्रतीकेष्वहंग्रहोपास्तिकल्पना न युक्ता, बाधविरोधादित्याह—न च ब्रह्मण इति। अतो जीवप्रतीकयोः स्वरूपभेदादहंग्रहे विध्यश्रवणाच्च नाहंग्रह इति फलितमाह—अतश्चेति। यथा—रुचकस्वस्तिकयोः सुवर्णात्मनैक्येऽपि मिथो नैक्यम् तथा जीवप्रतीकयोः ब्रह्मात्मनैक्येऽपि भेदः समः। यदि च धर्मिव्यतिरेकेण तयोरभावनिश्चयाद् वस्त्वैक्यम्, तदोपासनोच्छेद उक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहनी चाहिए, बाध होनेपर तो वह अयुक्त है। इस प्रकार बाधमूलक ब्रह्मैक्य ज्ञानको द्वार करके प्रतीकोंमें अहंग्रहोपासनाकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि बाधके साथ विरोध होता है, ऐसा कहते हैं—"न च ब्रह्मणः" इत्यादि से। इस प्रकार जीव और प्रतीक इन दोनोंका स्वरूपसे भेद होनेसे और अहंग्रहमें विधिकी श्रुति न होनेसे अहंग्रह नहीं है, ऐसा फलित कहते हैं—"अतश्च" इत्यादिसे। जैसे रुचक और स्वस्तिक सुवर्णरूपसे एक हैं, तो भी परस्पर एक नहीं है, वैसे ही जीव और प्रतीकके ब्रह्मरूपसे एक होनेपर भी उनका भेद समान है। यदि धर्मिब्रह्मसे अतिरिक्त उनका अभाव है, ऐसा निश्चय होनेपर वस्तुका ऐक्य हो, तो उपासनाका उच्छेद कहा जायगा, ऐसा अर्थ है ॥ ४ ॥

भाष्य

नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति, सुवर्णात्मनेव तु ब्रह्मात्मनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

ग्रहण उपपन्न नहीं होता। रुचक और स्वस्तिक ये अन्योन्यात्मक नहीं हैं, और जैसे ये दोनों सुवर्णात्मक होनेसे एक हैं, वैसे ही प्रतीक और उपासकके ब्रह्मात्मक होनेसे एक होनेपर प्रतीकके अभावका प्रसंग आवेगा, ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए प्रतीकोंमें आत्मदृष्टि नहीं की जाती है ॥४॥



[४ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरण सू० ५]

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन् ब्रह्मधीरुत ।
अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥१॥
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्यान्यचिन्तनम् ।
*अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्माऽतिथ्याद्युपास्तिवत् * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या ब्रह्ममें अन्य—आदित्य आदिकी बुद्धि करनी चाहिए या अन्य वस्तुमें—आदित्य आदिमें ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए ?

पूर्वपक्ष—अन्यदृष्टिसे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म ही फलका प्रदाता है।

सिद्धान्त—उत्कर्ष और इतिपरक होनेसे ब्रह्मदृष्टिसे अन्यका चिन्तन करना चाहिए अतिथि आदिकी उपासनाके समान अन्यकी उपासना करनेसे भी ब्रह्म फल देगा।

* सारांश यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—अब्रह्मस्वरूप मनोदृष्टिसे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, क्योंकि फलका दाता ब्रह्म ही है, अतः वह उपासनाके योग्य है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—ब्रह्म उत्कृष्ट है, अतः उससे निकृष्ट मनमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए। लोकमें भी दृष्ट है कि निकृष्ट कर्मचारीमें राजबुद्धि करके राजाके समान सत्कार किया जाता है। किञ्च, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (मनकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करे) इस श्रुतिमें ब्रह्मशब्द इतिशब्दपरक होनेसे दृष्टिका लक्षक होगा। मनशब्द इतिपरक न होनेसे मुख्यार्थवाची है। जैसे 'स्थाणुं चौर इति प्रत्येति' (स्थाणुको चोर सा जानता है) इसमें मुख्य अर्थका अभिधान करनेवाला स्थाणुशब्द है और चोरशब्द दृष्टिका लक्षक है, वैसे प्रकृतमें भी समझना

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—ब्रह्मदृष्टिः, उत्कर्षात् ।

पदार्थोक्ति—ब्रह्मदृष्टिः—प्रतीके एव ब्रह्मदृष्टिः कर्तव्या, [कुतः ? ब्रह्मणः] उत्कर्षात्—उत्कृष्टत्वात्, [उत्कृष्टदृष्टौ हि निकृष्टे क्रियमाणायां निकृष्टस्योत्कृष्टता भवति, राजदृष्ट्यामात्यस्येव] ।

भावार्थ—प्रतीकमें ही ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म उत्कृष्ट है। निकृष्टमें उत्कृष्टदृष्टि करनेपर निकृष्टकी उत्कृष्टता होती है, जैसे कि मन्त्रीमें राजाकी दृष्टि करनेसे मन्त्रीका उत्कर्ष होता है।

भाष्य

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः, किं वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । कुतः संशयः ? सामानाधिकरण्ये

भाष्यका अनुवाद

उन्हीं उदाहरणोंमें—क्या आदित्य आदि दृष्टिका ब्रह्ममें अध्यास करना चाहिए या ब्रह्मदृष्टिका आदित्य आदिमें ? इस प्रकार अन्य संशय होता है। किससे संशय होता है ? इससे कि सामानाधिकरण्यमें कारणका अवधारण नहीं होता,

---

रत्नप्रभा

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । एकविषयत्वं सङ्गतिः । प्रश्नपूर्वकं संशयबीजमाह—कुत इत्यादिना । सामानाधिकरण्यं श्रुतम्, तन्न तावन्मुख्यम्, ब्रह्मविकारयोर्गवाश्वयोरिवाभेदायोगात् । नापि प्रकृतिविकारभावनिबन्धनम्, वाक्यस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" । पूर्व अधिकरणसे इस अधिकरणकी एकविषयत्व संगति है। प्रश्नपूर्वक संशयका बीज कहते हैं—"कुतः" इत्यादिसे । ब्रह्म और आदित्यादिमें 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिमें जो सामानाधिकरण्य है वह मुख्य नहीं है, क्योंकि जैसे गाय और अश्वमें अभेद अयुक्त है, वैसे ही ब्रह्म और विकार इन दोनोंमें अभेद अयुक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिविकृतिभावके आधारपर यह सामानाधिकरण्य है, यह कहना युक्त नहीं है,

---

चाहिए। यदि शङ्का की जाय, कि अब्रह्मस्वरूप मन उपास्य माना जाय, तो ब्रह्म फलका प्रदाता नहीं होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अब्रह्मस्वरूप अतिथिकी उपासना करनेसे भी कर्माध्यक्ष होनेसे जैसे ईश्वर फल देता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए। इससे अब्रह्म प्रतीकमें ब्रह्मबुद्धि करनी चाहिए ।

भाष्य

कारणानवधारणात्। अत्र हि ब्रह्मशब्दस्याऽऽदित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते, 'आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म विद्युद् ब्रह्म' इत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात्। न चाऽत्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते, अर्थान्तरवचनत्वाद् ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम्। नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम्। ननु प्रकृतिविकारभावाद् ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत् सामानाधिकरण्यं स्यात्। नेत्युच्यते। विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात् स्यात्। ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्, ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत। परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम्। तस्माद् ब्राह्मणोऽ-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि 'आदित्यो ब्रह्म' (आदित्य ब्रह्म है), 'प्राणो ब्रह्म' (प्राण ब्रह्म है), 'विद्युद् ब्रह्म' (विद्युत् ब्रह्म है) इस प्रकार समानविभक्तिका निर्देश है। और यहां तात्त्विक सामानाधिकरण्य उपपन्न नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म और आदित्य शब्द भिन्न-भिन्न अर्थके वाचक हैं। 'गौरश्वः' (गाय अश्व है) ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं होता। परन्तु मृत्तिका और शराव आदिके समान ब्रह्म और आदित्य आदिमें प्रकृतिविकारभावसे सामानाधिकरण्य होगा। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि इस प्रकार प्रकृतिके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे विकारका सर्वथा विलय होगा और उससे प्रतीकके अभावका प्रसंग होगा, ऐसा हम कह चुके हैं। और ऐसा माननेपर यह परमात्मवाक्य होगा। और इससे उपासनाका अधिकार बाधित होगा। परिमित विकारका ग्रहण भी व्यर्थ है। इसलिए 'ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानरः' (ब्राह्मण वैश्वानर अग्नि है) इत्यादिके समान

रत्नप्रभा

विकारबाधेन ब्रह्मपरत्वापातात्। न चेष्टापत्तिः, 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इति विधिश्रुतिविरोधात्, परिमितनामग्रहणानर्थक्यापाताच्च। ब्रह्मपरत्वे सर्वं ब्रह्मेति वक्तव्यत्वाद्, अतः परिशेषात् अध्यास एव सामानाधिकरण्यम्, अध्यासे च

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्योंकि वाक्य विकारके बाधसे ब्रह्मपरक हो जायगा। यह वाक्य ब्रह्मपरक ही है, ऐसी इष्टापत्ति नहीं कह सकते हो, क्योंकि 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इस विधिश्रुतिका विरोध होता है, और परिमित आदित्यादि नामका ग्रहण निरर्थक होता है, क्योंकि ब्रह्मपरक मानो, तो 'सर्वं ब्रह्म' ऐसा कहना पड़ेगा। इससे परिशेषसे अध्यास ही सामानाधिकरण्यका कारण है, और अध्यासमें कोई नियामक न होनेसे संशय होता है,

भाष्य

ग्निर्वैश्वानर इत्यादिवत् अन्यतरत्राऽन्यदृष्टयध्यासे सति क्व किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः। तत्राऽनियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याऽभावादित्येवं प्राप्तम्। अथवाऽऽदित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येवं प्राप्तम्। एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति, ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा। तस्मात् न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति।

भाष्यका अनुवाद

अन्यत्र अन्य दृष्टिका अध्यास प्राप्त होनेसे कहां किस दृष्टिका अध्यास करना चाहिए, ऐसा संशय होता है।

पूर्वपक्षी—इस विषयमें कोई नियम नहीं है, क्योंकि नियम करनेवाले शास्त्रका अभाव है, ऐसा प्राप्त होता है। अथवा आदित्यादि दृष्टि ही ब्रह्ममें करनी चाहिए, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि इस प्रकार आदित्यादिदृष्टिसे ब्रह्म उपासित होता है और ब्रह्मकी उपासना प्रयोजनवती होती है, ऐसी शास्त्रकी मर्यादा है। इसलिए आदित्यादिमें ब्रह्मदृष्टि नहीं है।

रत्नप्रभा

नियामकाभावात् संशय इत्यर्थः। उत्कृष्टनिकृष्टयोर्निकृष्टमप्युपास्यं फलवत्त्वादिति न्यायो नियामक इत्यरुचेराह—अथवेति।

अत्र विकारदृष्टिभिर्ब्रह्मोपास्तिसिद्धिः फलम्, सिद्धान्ते तु विकारदृष्टया ब्रह्मण उपास्यत्वे निकर्षप्राप्तौ सत्यां फलवत्त्वासिद्धेर्विकारा एवोत्कृष्टब्रह्मदृष्टयोपास्या इति फलम्। किञ्च, लौकिकन्यायाविरुद्धार्थसम्भवे विरुद्धार्थो न ग्राह्यः, प्रत्यवायप्रसङ्गात्। किञ्च, प्रथमश्रुतानामादित्यादिपदानामसञ्जातविरोधितया मुख्यार्थत्वग्रहो न्याय्यः, ब्रह्मशब्दे च दृष्टिलक्षणाग्रहः, तथा चादित्यादयो ब्रह्मदृष्ट्योपास्या इत्येव

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है। उत्कृष्ट और निकृष्टमें निकृष्ट भी उपास्य होता है, फलवत् होनेसे, यह न्याय नियामक है, इस अरुचिसे कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें विकारदृष्टिसे ब्रह्मकी उपासनाकी सिद्धि फल है। सिद्धान्तमें तो विकारदृष्टिसे ब्रह्मके उपास्य होनेपर उसमें निकर्षकी प्राप्ति होनेसे फलवत्त्वकी सिद्धि नहीं होती है, इसलिए विकार ही उत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टिसे उपास्य हैं, यह फल है। और लौकिक न्यायसे अविरुद्ध अर्थका संभव हो, तो विरुद्ध अर्थ ग्राह्य नहीं होता है, प्रत्यवायका प्रसंग आनेसे। और 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादिमें आदित्यादि प्रथम श्रुत हैं, इनका विरोधी उत्पन्न न होनेसे उनको मुख्य अर्थमें लेना ही उचित है और ब्रह्मशब्दकी

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति। कस्मात्? उत्कर्षात्। एवमुत्कर्षेणाऽऽदित्यादयो दृष्टा भवन्ति, उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात्। तथा च लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति। उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः। यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि, स चानुसर्तव्यः, विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात्। नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात्। ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गः, न च लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति। अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात्। संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते, तेन चोत्कृष्टदृष्टयध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन्प्रत्यवेयादिति श्लिष्यते।

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आदित्यादिमें ब्रह्मदृष्टि ही है। किससे? उत्कर्षसे। इस प्रकार उत्कर्षसे आदित्यादि दृष्ट होते हैं, क्योंकि उत्कृष्ट दृष्टिका उनमें अध्यास है। इस प्रकार लौकिक न्याय अनुसृत होता है, क्योंकि उत्कृष्ट दृष्टिका निकृष्टमें अध्यास करना चाहिए, ऐसा लौकिक न्याय है। जैसे कि सारथिमें राजदृष्टि की जाती है, इसी लौकिक न्यायका यहां अनुसरण करना चाहिए, उसके विपर्ययमें प्रत्यवायका प्रसंग आता है। सारथिदृष्टिसे परिगृहीत अत एव निकृष्टताको प्राप्त राजा श्रेयस्कर नहीं होता। परन्तु यहां शास्त्रप्रामाण्यसे प्रत्यवायके प्रसंगकी शंका नहीं करनी चाहिए, और लौकिक न्यायसे शास्त्रीयदृष्टिका नियमन करना युक्त नहीं है। इसपर कहते हैं—शास्त्रके अर्थके निर्धारित होनेपर लौकिक न्यायसे शास्त्रदृष्टिका नियमन करना युक्त नहीं है, ऐसा कथन उपपन्न होगा। परन्तु यह शास्त्रार्थ यदि संदिग्ध हो, तो उसका निर्णय करनेके लिए आश्रित लौकिक न्याय भी विरुद्ध नहीं होगा। इसलिए उत्कृष्ट दृष्टिके अध्यासरूप शास्त्रार्थका अवधारण होनेपर निकृष्ट दृष्टिका अध्यास करनेवाला प्रत्यवाय युक्त होता

भाष्य

प्राथम्याच्चाऽऽदित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद् ग्रहीतव्यम्। तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासम्भवाद् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवाऽवतिष्ठते। इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवाऽर्थो न्याय्यः। तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः' 'ब्रह्मेत्युपासीत' ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेतिपरं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान्। ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः, प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति, न तु तत्र रजतमस्ति, एवमत्राप्यादित्यादीन् ब्रह्मेति प्रतीयादिति

भाष्यका अनुवाद

है, ऐसा घटता है। और आदित्यादि शब्दोंके प्रथम निर्दिष्ट होनेसे भी वे मुख्यार्थमें हैं, ऐसा ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि उसमें विरोध नहीं है। स्वार्थमें—मुख्यार्थमें जिनकी वृत्ति है, ऐसे उन शब्दोंसे बुद्धिके अवरुद्ध होनेपर—रुकनेपर उस बुद्धिमें पीछेसे उतरते हुए ब्रह्मशब्दका मुख्यवृत्तिसे मुख्य अर्थमें सामानाधिकरण्य न होनेसे ब्रह्मदृष्टिका विधान करना यही अर्थ स्थित होता है। और ब्रह्मशब्दके आगे इति शब्द होनेसे भी ब्रह्मशब्दका यही अर्थ उचित है। जैसे कि 'ब्रह्मेत्यादेशः' (ब्रह्मरूपसे उपदेश है), 'ब्रह्मेत्युपासीत' (ब्रह्मरूपसे उपासना करनी चाहिए), 'ब्रह्मेत्युपास्ते' (ब्रह्मरूपसे उपासना करता है) इस प्रकार सर्वत्र इतिपरक ब्रह्मशब्दका उच्चारण करते हैं—ब्रह्मशब्दसे पर इतिशब्द कहते हैं। और आदित्यादिशब्दोंका शुद्ध उच्चारण करते हैं। इसलिए जैसे 'शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येति' (सीपको रजतरूपसे जानता है) इसमें शुक्तिशब्द शुक्तिवाचक है, परन्तु रजतशब्दका रजतप्रतीतिरूप अर्थ है, क्योंकि यह रजत है, ऐसी केवल प्रतीति ही करता है, उसमें रजत नहीं है, इस

रत्नप्रभा

वाक्यार्थ इत्याह—प्राथम्याच्चेति। ब्रह्मशब्दस्यैव दृष्ट्यर्थत्वे हेत्वन्तरमाह—इतिपरत्वादिति। इतिशब्दशिरस्कः शब्दः समभिव्याहृतक्रियालक्षक इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

दृष्टिमें लक्षणा ही मानना ठीक है, इसलिए आदित्यादि ब्रह्मदृष्टिसे उपास्य हैं, ऐसा ही वाक्यार्थ है, ऐसा कहते हैं—"प्राथम्याच्च" इत्यादिसे। ब्रह्मशब्द ही ब्रह्मदृष्टिरूप अर्थमें है, इसमें अन्य हेतु कहते हैं—"इतिपरत्वात्" इत्यादिसे। जिसके आगे इतिशब्द आया हो, ऐसा

भाष्य

गम्यते। वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनाऽऽदित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान् दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३। १९। ४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७। २। २), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७। ४। ३) इति च। यत्तूक्तं ब्रह्मोपासनमेवाऽत्रादरणीयं फलवत्त्वायेति। तदयुक्तम्, उक्तेन न्यायेनाऽऽदित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात्। फलं त्वतिथ्याद्युपासने इवाऽऽदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति, सर्वाध्यक्षत्वात्। वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र०

भाष्यका अनुवाद

प्रकार उदाहरणोंमें आदित्यादिको ब्रह्मरूपसे जाने, ऐसा समझा जाता है। वाक्यशेष भी द्वितीयाका निर्देश होनेसे उपासनाक्रियासे आदित्यादि ही व्याप्त किये जाते हैं, ऐसा दिखलाता है—'स य एवमेव०' (वह जो कोई इस ऐसे यथोक्त महिमावालेको जानकर आदित्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता है, वह तद्भाव प्राप्त करता है), 'यो वाचं०' (जो वाणीकी ब्रह्मरूपसे उपासना करता है) और 'यः संकल्पं०' (जो संकल्पकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता है)। यहां ब्रह्मोपासनाका ही आदर करना चाहिए, फलवत्त्वके लिए, ऐसा जो कहा गया है, वह अयुक्त है, क्योंकि उक्त न्यायसे आदित्यादि ही उपास्य हैं, ऐसा समझा जाता है। फल तो अतिथि आदिकी उपासनाके समान आदित्यादिकी उपासनामें ब्रह्म ही देगा, सर्वाध्यक्ष होनेसे।

रत्नप्रभा

लोके प्रसिद्धमित्यर्थः। द्वितीयाश्रुतेश्चादित्यादीनामेवोपास्तिकर्मत्वमित्याह—वाक्यशेषोऽपीति। उत्कृष्टमेवोपास्यमिति न्यायमुक्तमनुवदति—यत्तूक्तमिति। द्वितीयेतिश्रुतिभ्यां लौकिकन्यायाच्चोक्तन्यायबाध इत्याह—तदिति। ब्रह्मणोऽनुपास्यत्वे कथं फलदातृत्वम्, तत्राह—फलं त्विति। किञ्च, यद्दृष्ट्या विकारस्योत्कर्षः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

शब्द समभिव्याहृत क्रियाका लक्षक होता है, ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है, ऐसा अर्थ है। और द्वितीयाविभक्तिका श्रवण होनेसे भी आदित्य आदि ही उपासनाके कर्म हैं, ऐसा कहते हैं—"वाक्यशेषोऽपि" इत्यादिसे। उत्कृष्ट ही उपास्य है, इस उक्त न्यायका अनुवाद करते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। द्वितीयाश्रवण, इतिशब्द और लौकिक न्यायसे उक्त न्यायका बाध है, ऐसा कहते हैं—"तद्" इत्यादिसे। और जिसकी दृष्टिसे विकारका उत्कर्ष होता है,

भाष्य

सू० ३ । २ । ३८) इत्यत्र । ईदृशं चाऽत्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम् ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

और इसका 'फलमत उपपत्तेः' इस सूत्रमें वर्णन किया गया है । यहां ब्रह्मका ऐसा उपास्यत्व है, जो प्रतिमा आदिमें विष्णु आदिके अध्यारोपणके समान प्रतीकोंमें ब्रह्मदृष्टिका अध्यारोपण है ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा

तस्य ब्रह्मण उपासनाविशेषणत्वेऽप्युपास्यत्वं चास्तीत्याह—ईदृशञ्चेति । ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वह ब्रह्म विलक्षण होनेसे भी उपास्य है, ऐसा कहते हैं—"ईदृशं च" इत्यादिसे ॥ ५ ॥



[५ आदित्यादिमत्यधिकरण सू० ६]

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत ।
नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ॥ १ ॥
आदित्यादिधियाऽङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले ।
युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आदित्य आदिमें अङ्गदृष्टि करनी चाहिए अथवा अङ्गोंमें आदित्य-दृष्टि करनी चाहिए ।

पूर्वपक्ष—दोनोंमें कोई अतिशय न होनेसे यथाभिमत दृष्टि कर सकते हैं ।

सिद्धान्त—आदित्यदृष्टिसे अङ्गोंमें संस्कार होनेपर कर्मके फलमें अतिशय हो सकता है, इससे अङ्गोंमें आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिए ।

* सारांश यह है कि 'य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत' इत्यादिमें आदित्य देवताको प्रतीक करके कर्मांङ्गभूत उद्गीथदृष्टि करनी चाहिए अथवा कर्माङ्गमें आदित्यदृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि आदित्य और उद्गीथ दोनोंके ब्रह्मकार्य होनेसे पूर्व अधिकरणमें उक्त उत्कर्षन्यायके प्रवृत्त न होनेसे कोई नियामक नहीं है ।

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं कि आदित्यदृष्टिसे कर्माङ्गका संस्कार करना चाहिए । ऐसा होनेपर दृष्टियोंसे संस्कृत कर्मका फलातिशय हो सकता है । विपर्ययमें तो कर्माङ्गोंसे आदित्य देवताका संस्कार होनेपर तुम्हें क्या फल होगा ? क्योंकि अक्रियात्मक देवता फलके साधन नहीं

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—आदित्यादिमतयः, च, अङ्गे, उपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—अङ्गे—उद्गीथादिषु कर्माङ्गेषु, आदित्यादिमतयः—आदित्यादिबुद्धयः [एव कर्तव्याः, कुतः ?] उपपत्तेः—कर्मसमृद्धिरूपफलोपपत्तेः ।

भाषार्थ—उद्गीथ आदि कर्माङ्गोंमें आदित्यादि मति ही करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मसमृद्धिरूप फलकी उपपत्ति होती है ।

भाष्य

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १ । ३ । १), लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २ । २ । १), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २ । ८ । १), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १ । ६ । १) इत्येवमादिष्वङ्गाऽवबद्धेषूपासनेषु संशयः—किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते

भाष्यका अनुवाद

'य एवासौ तपति०' (जो यह आदित्य तपता है, उसकी उद्गीथरूपसे उपासना करनी चाहिए), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (लोकोंमें—पृथिवी आदिमें पंचभक्तिभेदसे पांच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए), 'वाचि सप्तविधं०' (वाणीमें सात प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए), 'इयमेवर्गग्निः साम' (यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि साम है) इत्यादि अंगोंके साथ जुटी हुई उपासनाओंमें क्या आदित्यादिमें उद्गीथादि दृष्टिका विधान है या

रत्नप्रभा

आदित्यादीति । पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षादित्यद्युसंज्ञेषु लोकेषु हिंकारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारनिधनैरंशैः पञ्चांशं साम, तैरेव आदिरिति उपद्रव इति च भक्तिद्वयाधिकैः सप्तांशं सामेति भेदः । अत्र विशेषाज्ञानात् संशयः । पूर्ववदुत्कर्षानवधारणादनियम

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आदित्यादि०" इत्यादि । पृथिवी, अग्नि अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युनामके लोकोंमें हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार और निधन इन अंशोंसे पांच अंशवाला साम है। इन पांच भेदोंसे तथा आदि और उपद्रव इन दो सामभेदोंसे साथ सात प्रकारका साम है, ऐसा भेद है । यहां विशेषका ज्ञान न होनेसे संशय होता है । पूर्व अधिकरणके समान उत्कर्षका अवधारण

बन सकते अन्यथा देवताके साधारण होनेसे यज्ञ करनेवाले और यज्ञ न करनेवालेको फल समान होगा । इससे अङ्गोंमें आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिए ।

भाष्य

किं वोद्गीथादिष्वेवाऽऽदित्यादिदृष्टय—इति। तत्राऽनियमो नियमकारणाभावादिति प्राप्तम्। नह्यत्र ब्रह्मण इव कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते 'ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादिगुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुम्, न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाऽविशेषात् किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारण मस्ति। अथवा नियमेनैवोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्। कस्मात्? कर्मात्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः, उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति। तथा च 'इयमेवर्गग्निः साम' (छ० १। ६। १)

भाष्यका अनुवाद

उद्गीथादिमें आदित्यादि दृष्टिका विधान है? इस प्रकार संशय होता है।

पूर्वपक्षी—उसमें अनियम है, नियमका कारण न होनेसे, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि यहां ब्रह्मके समान किसीके उत्कर्षका अवधारण नहीं किया जाता है। ब्रह्म समस्त जगत्का कारण होने और अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे युक्त होनेसे आदित्य आदिसे उत्कृष्ट है ऐसा अवधारण किया जा सकता है। परन्तु आदित्य, उद्गीथ आदि इन सबमें विकारत्वके समान होनेसे उत्कर्ष विशेषका अवधारण करनेमें कोई कारण नहीं है। अथवा उद्गीथादि बुद्धिका आदित्यादिमें नियमसे आरोप करना चाहिए। किससे? इससे कि उद्गीथादि कर्मात्मक हैं और कर्मसे फलप्राप्ति प्रसिद्ध है। उद्गीथादि बुद्धिसे उपासित आदित्यादि कमात्मक होनेसे फलके हेतु होंगे। इसी प्रकार 'इयमेवर्गग्निः' (यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि साम है)

रत्नप्रभा

इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षमाह—तत्रेति। सिद्धरूपादित्यादिभ्यः कर्मरूपोद्गीथादीनां फलसन्निकर्षेणोत्कर्षाद् ब्रह्मवद्विशेषणत्वनियम इति दृष्टान्तेन मुख्यं पूर्वपक्षमाह—अथवेति। तत्तत्पक्षसिद्धिरेव पूर्वोत्तरपक्षफलं मन्तव्यम्। किञ्च, अनङ्गेष्वेवाङ्गदृष्टिरित्यत्र तेष्वङ्गवाचिपदप्रयोगं लिङ्गमाह—तथा चेयमेवेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

न होनेसे अनियम है, इस प्रकार प्रत्युदाहरणसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। सिद्धरूप आदित्यादिसे कर्मरूप उद्गीथादिके फलका सन्निकर्ष होनेसे उद्गीथादिका आदित्यादिसे उत्कर्ष है, ऐसा उत्कर्षमानका स्वीकार करके मुख्य पूर्वपक्ष कहते हैं—"अथवा" इत्यादिसे। उस उस पक्षकी सिद्धि ही पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षका फल समझना चाहिए। और अनङ्ग आदित्यादिमें अङ्गदृष्टि करनी चाहिए, इस अंगवाचक पदका प्रयोग लिंग है,—पृथिवी और अग्निमें ऋक् और साम शब्दोंका प्रयोग लिंग है, ऐसा कहते हैं—"तथा चेयमेव"

भाष्य

इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १ । ६ । १) इत्यृक्शब्देन पृथिवीं निर्दिशति, सामशब्देनाऽग्निम् । तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते, न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम् । क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद् राजशब्द उपचर्यते न राजनि क्षत्तृशब्दः । अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २ । २ । १) इत्यधिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामाऽध्यसितव्यमिति प्रतीयते । 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्'

भाष्यका अनुवाद

इसमें 'तदेतदेतस्या०' (वह यह अग्निरूप साम इस पृथिवीरूप ऋक्में अध्यूढ—ऊपर स्थित है) इस प्रकार श्रुति ऋक्शब्दसे पृथिवीका निर्देश करती है, और सामशब्दसे अग्निका निर्देश करती है । और यह निर्देश क्रमसे पृथिवी और अग्निमें ऋक्दृष्टि और सामदृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर उपपन्न होता है । ऋक् और साममें पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर उपपन्न नहीं होता । सारथिमें राजदृष्टि करनेसे सारथिरूप अर्थमें राजशब्द गौणी वृत्तिसे प्रयुक्त होता है, राजरूप अर्थमें सारथिशब्द गौणी वृत्तिसे प्रयुक्त नहीं होता । और 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (लोकोंमें—पृथिवी आदिमें पांच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए) इस प्रकार अधिकरणका निर्देश होनेसे लोकोंमें सामका अध्यास करना युक्त है, ऐसा प्रतीत होता है । 'एतद्गायत्रं

रत्नप्रभा

तदेतद् अग्न्याख्यं साम एतस्यां पृथिवीरूपायाम् ऋचि अध्यूढम्—उपरिस्थितमित्यर्थः । ऋचि सामवत् पृथिव्यामग्निर्दृश्यते, अतः साम्यात् पृथिव्येव ऋक् अग्निः सामेति ध्यानं विहितम् । तत्र यदि ऋक्सामात्मकयोः पृथिव्यग्निदृष्टिः स्यात्, तदा पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामपदप्रयोगो न स्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—क्षत्तरीति । अतः प्रयोगान्यथानुपपत्त्या पृथिव्यग्न्योः ऋक्सामदृष्टिरित्यर्थः । विषयसप्तम्या चैवमेवेत्याह—अपि चेति । गायत्रसंज्ञं साम । किञ्च, पूर्वाधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाऽप्येवमित्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । तदेतदग्न्याख्यम्—वह यह अग्निसंज्ञक साम, इस पृथिवीरूप ऋक्में अध्यूढ—ऊपर स्थित है । ऋक्में सामके समान पृथिवीमें अग्नि दीखती है, इस साम्यसे पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि ही साम है, ऐसा ध्यान विहित है । यहांपर यदि ऋक्सामात्मक कर्माङ्गमें पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टि न हो, तो पृथिवी और अग्निमें ऋक्पद और सामपदका प्रयोग न होगा, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"क्षत्तरि" इत्यादिसे । अत एव—प्रयोगके अन्यथा उपलब्ध न होनेसे पृथिवी और अग्निमें ऋक्दृष्टि और सामदृष्टि है, ऐसा अर्थ है । विषयसप्तमीसे

भाष्य

(छा० २ । ११ । १) इति चैतदेवं दर्शयति । प्रथमनिर्दिष्टेषु चाऽऽदित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माऽध्यस्तम् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३ । १९ । १) इत्यादि । प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २ । २ । १) इत्यादिश्रुतिषु । अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमतिनिक्षेप इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन् । कुतः ? उपपत्तेः । उपपद्यते ह्येवमपूर्वसन्निकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमा-

भाष्यका अनुवाद

प्राणेषु प्रोतम्' (वह गायत्र साम प्राणोंमें ओत-प्रोत है) यह श्रुति भी यही दिखलाती है । और 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है) इत्यादिमें प्रथम निर्दिष्ट आदित्य आदिमें चरम निर्दिष्ट ब्रह्मका अध्यास किया है । और 'पृथिवी हिंकारः' (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि श्रुतियोंमें पृथिवी प्रथम निर्दिष्ट है और हिंकार आदि चरम निर्दिष्ट हैं । इसलिए अनंग आदित्यादिमें अंगबुद्धिका निक्षेप है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं कि उद्गीथादि अंगोंमें आदित्यादि बुद्धि ही करनी चाहिए । किससे ? उपपत्ति होनेसे । क्योंकि इस प्रकार अपूर्वके सन्निकर्षसे आदित्यादिबुद्धिसे संस्कृत उद्गीथादिमें कर्मकी समृद्धि उप-

---

रत्नप्रभा

प्रथमेति । अनङ्गबुद्ध्याऽङ्गानि उपास्यानीति सिद्धान्तयति—एवमिति । उपास्तीनां हि कर्मसमृद्धिः फलं श्रूयते, सा च ताभिरङ्गेषु संस्क्रियमाणेषु उपपद्यते, अङ्गानां समृद्ध्यनुकूलप्रकृतकर्मापूर्वजनकत्वादित्यर्थः । ननु यत्रोपास्तीनां प्रकृतकर्मापूर्वसन्निकृष्टाङ्गद्वारापेक्षं फलं श्रुतम्, तत्र फलोपपत्तये अङ्गानामुपास्यत्वं भवतु,

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी ऐसा है, यह कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । साम गायत्रसंज्ञक है । और पूर्व अधिकरणमें सिद्धान्तमें दर्शित न्यायसे भी ऐसा है, यह कहते हैं—"प्रथम" इत्यादिसे । अनङ्गबुद्धिसे अङ्ग उपास्य हैं, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । उपासनाओंका कर्मसमृद्धिरूप फल श्रुति कहती है और वह कर्मसमृद्धि उपासनासे अंगोंके संस्कृत होनेपर उपपन्न होती है, क्योंकि अङ्ग समृद्धिके अनुकूल प्रकृत कर्ममें अपूर्व उत्पन्न करते हैं, ऐसा अर्थ है । जहां उपासनाओंका प्रकृत कर्मके अपूर्व सन्निकृष्ट अङ्गोंकी अपेक्षा करनेवाला फल श्रुतिमें कहा गया है, वहां फलकी उपपत्तिके लिए अंग भले ही उपास्य हों,

भाष्य

यमाणेष्पूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धि-हेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवम्, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् 'य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिषु। तेष्वप्यधिकृताधिकारात् प्रकृतापूर्वसन्निकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता, गोदोह-

भाष्यका अनुवाद

पन्न होती है। 'यदेव विद्यया करोति०' (विज्ञानसे युक्त होकर श्रद्धा रखकर उपनिषद्से—योगसे युक्त होकर जो कर्म करता है वही कर्म अविद्वान्के कर्मसे अधिक फलवाला होता है) इस प्रकार श्रुति विद्या कर्मसमृद्धिकी हेतु है, ऐसा दिखलाती है। कर्मसमृद्धि जिनका फल है, ऐसी उपासनाओंमें भले ही ऐसा हो, परन्तु 'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु०' (जो इस प्रकार जानकर लोकोंमें पांच प्रकारके सामकी उपासना करता है, उसके लिए [ऊर्ध्व और आवृत्त लोक—गति और आगतिके लोक भोगरूपसे व्यवस्थित होते हैं]) इत्यादि स्वतन्त्र फलवाली उपासनाओंमें तो अंगोंमें अनङ्ग बुद्धिका अध्यास कैसे होगा? उन उपासनाओंमें भी अधिकृतका अधिकार होनेसे प्रकृत अपूर्वके सन्निकर्षसे ही गोदोहन आदि नियमके समान फलकी कल्पना युक्त है। और आदि-

रत्नप्रभा

तदनपेक्षलोकादिफलेषु तूपासनेषु कथमुपास्यविवेक इति शङ्कते—भवत्विति। यथा स्वतन्त्रपशुफलस्यापि गोदोहनस्य अङ्गद्वारापेक्षयैव फलमिष्टम्, तद्वद् लोकादिफलेषु उपासनेष्वपि कर्मापूर्वाङ्गद्वारैव फलकल्पना युक्ता, कर्माधिकृतस्यैवाऽङ्गाश्रितोपासनेषु अधिकाराद् अतोऽङ्गानामेवोपास्यत्वमिति समाधत्ते—तेष्वपीति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु उसकी अपेक्षा न करनेवाले लोकादि फलसे युक्त उपासनाओंमें उपास्यका विवेक किस प्रकार होगा, ऐसी शङ्का करते हैं—"भवतु" इत्यादिसे। जैसे स्वतन्त्र पशु फलवाले गोदोहनका अङ्गोंकी अपेक्षासे ही फल इष्ट है, वैसे ही लोकादि फलवाली उपासनाओंमें भी कर्मके अपूर्वरूप अङ्ग द्वारा ही फलकी अपेक्षासे ही फल इष्ट है, क्योंकि कर्ममें अधिकृतका ही अङ्गाश्रित उपासनाओंमें अधिकार है, इसलिए अङ्ग ही उपास्य है, ऐसा समाधान करते हैं—"तेष्वपि" इत्यादिसे। उत्कर्षका अवधारण न होनेसे

भाष्य

नादिनियमवत् । फलात्मकत्वाच्चाऽऽदित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः । आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु । अपि च 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १ । १ । १) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १ । १ । १०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्याऽऽदित्यादिमतीर्विदधाति । यच्चूद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं गत्वा फलं करिष्यन्तीति, तदयुक्तम्; स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात् फलवत्त्वोपपत्तेः । आदित्यादिभावेनाऽपि च दृश्यमानानामुद्गीथादीनां कर्मात्मकत्वानपायात् । 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं

भाष्यका अनुवाद

त्यादिके फलात्मक होनेसे कर्मात्मक उद्गीथादिसे उनका उत्कृष्टत्व उपपन्न होता है, क्योंकि श्रुतियोंमें आदित्यादिकी प्राप्ति ही इस कर्मका फल कहा गया है। और 'ओमित्येतदक्षर०' ('ओम्' इस वर्णात्मक उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए), 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्य' (इसी उद्गीथसंज्ञक अक्षरका उपव्याख्यान है) इस प्रकार श्रुति उद्गीथका ही उपास्यरूपसे उपक्रम करके आदित्यादि बुद्धिका विधान करती है। उद्गीथादि बुद्धिसे उपासना किये गये आदित्यादि कर्मात्मक होकर फल करेंगे, ऐसा जो कहा गया है, वह अयुक्त है, क्योंकि उपासना कर्म होनेसे आप ही फलवती हो सकती है। उसी प्रकार आदित्यादिभावसे देखे जानेवाले उद्गीथादिका कर्मात्मकत्व नष्ट नहीं होता।

रत्नप्रभा

उत्कर्षानवधारणादनियम इत्युक्तं निरस्यति—फलात्मेति । उपक्रमबलाच्चाऽङ्गमुपास्यमित्याह—अपि चेति । रसतमत्वादिगुणाद्युपसंख्यानमित्यर्थः द्वितीयं पूर्वपक्षं दूषयति—यत्तूक्तमित्यादिना । कर्मभूयं कर्मात्मकत्वं प्राप्येत्यर्थः । सिद्धादित्याद्यात्मना कर्मणां दृष्टौ कर्मत्वहानिः स्यादित्यत आह—आदित्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनियम है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसका निरसन करते हैं—"फलात्मक" इत्यादिसे। उसी प्रकार उपक्रमके बलसे भी अङ्ग उपास्य है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। रसतमत्व आदि गुणोंका कथन, ऐसा अर्थ है। द्वितीय पूर्वपक्षको दूषित करते हैं—"यत्तूक्तम्" इत्यादिसे। कर्मभूय—कर्मात्मकताको प्राप्त होकर, ऐसा अर्थ है। सिद्ध आदित्यादिस्वरूपसे कर्मोंकी दृष्टिमें कर्मत्वकी हानि होगी, इस शंकाका निराकरण करते हैं—"आदित्यादिभावेन" इत्यादिसे। माणवकमें अग्निदृष्टिके समान उद्गीथादिमें आदित्यबुद्धिके

भाष्य

साम' (छा० १ । ६ । १) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्साम-शब्दप्रयोगः । लक्षणा च यथासम्भवं संनिकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसम्बन्धेन प्रवर्तते । तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा तथापि प्रसि-

भाष्यका अनुवाद

'तदेतदेतस्या०' (वह यह अग्निनामक साम पृथिवीरूप ऋक्के ऊपर स्थित है) यह तो पृथिवी और अग्निमें ऋक् और साम शब्दोंका प्रयोग लाक्षणिक ही है। लक्षणा यथासंभव संनिकृष्ट या विप्रकृष्ट स्वार्थके साथ सम्बन्ध होनेसे प्रवृत्त होती है। उसमें यद्यपि ऋक् और साममें पृथिवीदृष्टि

रत्नप्रभा

दिभावेनेति । माणवकेऽग्निदृष्टिवद् उद्गीथादिषु आदित्यादिधियां गौणत्वात् न कर्मत्वाभिभावकत्वम् इति अङ्गेषु अनङ्गत्वधीः अविरुद्धेत्याशयः । प्रयोगानुपपत्ति-मुक्तां निरस्यति—तदेतदिति । लक्षणाबीजं सम्बन्धमाह—लक्षणा चेति । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र सन्निकृष्टसंयोगसम्बन्धेन तीरलक्षणा, अग्निर्माणवक इत्यत्र अग्नि-निष्ठशुचित्वादिगुणवत्त्वरूपपरम्परासम्बन्धेन लक्षणा दृष्टा, तथा चाऽत्र ऋक्सा-मयोः पृथिव्यग्निदृष्टिपक्षेऽपि ऋक्सामपदाभ्यां स्ववाच्यार्थे द्रष्टव्यताख्यपरम्परा-सम्बन्धेन पृथिव्यग्निलक्षणा युक्तेत्यर्थः । ननु प्रतीकवाचिपदस्य ध्येये अर्थे लक्षणा न युक्ता, क्षत्तृपदस्य राजनि अप्रयोगादिति शङ्कते—तत्र यद्यपीति । तथापि ऋक्सामसम्बन्धात् पृथिव्यग्न्योरेव "एतस्यामृच्यध्यूढं साम" इत्येष ऋक्सामपद-प्रयोग इत्यन्वयः । ननु मुख्यार्थ एव न कुतो गृह्यते, तत्राऽऽह—प्रसिद्धयोरिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

गौण होनेसे कर्मत्वका अभिभव नहीं होगा, इसलिए अंगोंमें अनङ्गबुद्धि अविरुद्ध है, ऐसा आशय है। प्रयोगकी अनुपपत्ति जो कही गई है उसका निरसन करते हैं—"तदेतत्" इत्यादिसे। लक्षणाका बीज जो सम्बन्ध है उसे कहते हैं—"लक्षणा च" इत्यादिसे। 'गङ्गायां घोषः' (गंगामें अहीर की झोपड़ी है) यहांपर सन्निकृष्ट संयोगरूप सम्बन्धसे तीररूप अर्थमें लक्षणा होती है। "अग्निर्माणवकः" (माणवक अग्नि है) यहांपर अग्निमें स्थित शुचित्वादि गुणवत्त्वरूप परम्परासम्बन्धसे लक्षणा देखी जाती है। इसी प्रकार यहां ऋक् और साममें पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टिके पक्षमें भी ऋक्पदसे और सामपदसे अपने वाच्यार्थमें द्रष्टव्यतानामक परम्परा सम्बन्धसे पृथिवीरूप अर्थमें और अग्निरूप अर्थमें लक्षणा युक्त है, ऐसा अर्थ है। परन्तु प्रतीकवाचक पदकी ध्येयरूप अर्थमें लक्षणा युक्त नहीं है, क्योंकि सारथिशब्द राजरूप अर्थमें प्रयुक्त नहीं होता, ऐसी शंका करते हैं—"तत्र यद्यपि" इत्यादिसे। तो भी ऋक् और सामके सम्बन्धसे पृथिवी और अग्निमें ही 'इस ऋक्में साम अध्यूढ है, इस प्रकार इन ऋक्सामपदोंका प्रयोग है, ऐसा अन्वय है, परन्तु मुख्यार्थ ही क्यों नहीं लेते, इस शंकाका निराकरण करते हैं—"प्रसिद्धयोः" इत्यादिसे। 'तस्यामृच्यध्यूढं

भाष्य

द्वयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनाऽनुकीर्तनात् पृथिव्यग्न्योश्च संनिधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसम्बन्धादिति निश्चीयते। क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद् राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते। 'इयमेवर्क्' (छा० १।६।१) इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमधारयति। पृथि-

भाष्यका अनुवाद

और अग्निदृष्टि करनेकी इच्छा है, तो भी प्रसिद्ध ऋक् और सामका भेदसे अनुकीर्तन होने एवं पृथिवी और अग्निका सन्निधान होनेसे ऋक् और साम शब्दोंका यह प्रयोग पृथिवी और अग्निमें ही है, ऋक् और सामके साथ सम्बन्ध होनेसे ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि सारथिशब्द भी किसी एक कारणसे राजगामी होता हो, तो उसका निवारण नहीं किया जा सकता। 'इयमेवर्क्०' (यही ऋक् है) यह श्रुति अक्षरोंके न्यासके अनुसार ऋक् ही पृथिवी है, ऐसा अवधारण करती है, क्योंकि पृथिवी ऋक् है,

---

रत्नप्रभा

तस्माद्दच्यध्यूढं सामेति मुख्ययोः पृथगुक्तेः "तदेतदेतस्याम्" इत्यत्रापि तयोर्ग्रहे पुनरुक्तिः स्यात्, अतः प्रतीकाभेददृष्ट्या पृथिव्यग्न्योः प्रतीकसन्निधानात् तयोरेव प्रतीकपदप्रयोगः कृतस्तदभेददार्ढ्यायेत्यर्थः। तर्हि क्षत्तृशब्दोऽपि राजनि स्यादित्यत आह—क्षत्रिति। स्थितप्रयोगस्य निमित्तं किमपि वाच्यम्, न तु निमित्तमस्तीति प्रयोग आपाद्य इति भावः। क्षत्ता सूतः तस्य कार्यं रथचर्यादि यदा राजैव करोति तदा क्षत्तृशब्दो राजन्यप्यस्तीति अक्षरार्थः ऋगादावेव पृथिव्यादिदृष्टिः इत्यत्र हेत्वन्तरमाह—इयमिति। सप्तम्या लोकानामुपास्यत्वमुक्तं निरस्यति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

साम' (इस ऋक्‌में साम ऊपर स्थित है) इससे ऋक् और साम दोनोंकी मुख्य अर्थमें पृथक् उक्ति होनेसे 'तदेतदेतस्याम्' इसमें भी दोनोंके ही मुख्य अर्थोंका ग्रहण करनेसे पुनरुक्ति होगी। इसलिए प्रतीकभेददृष्टिसे पृथिवी और अग्निमें प्रतीकपदका प्रयोग किया है, उनके अभेदको दृढ करनेके लिए, ऐसा अर्थ है। तब सारथि शब्द भी राजरूप अर्थमें होगा, इसपर कहते हैं—"क्षत्तृ" इत्यादिसे। जो प्रयोग पहलेसे वर्तमान हो, उसका कुछ निमित्त कहना चाहिए परन्तु निमित्त है इससे प्रयोगका आपादन करना ठीक नहीं है, ऐसा भाव है। क्षत्ता—सारथि। सारथिका कार्य रथचर्या आदि, जब राजा करता है तब सारथिशब्द राजामें भी प्रयुक्त हो जाता है, ऐसा अक्षरार्थ है। ऋक् आदिमें भी पृथिव्यादिदृष्टि है, इसमें अन्य हेतु कहते हैं—"इयम्" इत्यादिसे। सप्तमीसे लोक उपास्य हैं, ऐसा जो कहा गया है, उसका निरसन करते

भाष्य

न्या हि ऋक्त्वेऽवधार्यमाणे इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात्। 'य एवं विद्वान् साम गायति' (छा० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम्। तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साम्न्येव तेऽध्यस्येरन् द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात्। सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति, अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः। एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इत्यादि व्याख्यातम्। यत्रापि तुल्यो द्वितीयानिर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामो-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा अवधारण कराना हो, तो यह ऋक् ही है, ऐसा अक्षरोंका न्यास होगा। 'य एवं विद्वान्०' (जो इस प्रकार जानकर सामका गान करता है) यह वाक्य अंगाश्रित विज्ञानका ही उपसंहार करता है, पृथिवी आदिके आश्रित विज्ञानका उपसंहार नहीं करता। इसी प्रकार 'लोकेषु पञ्चविधं०' (लोकोंमें पांच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए) इसमें यद्यपि सप्तमीसे लोकोंका निर्देश किया गया है, तो भी साममें ही उनका अध्यास करना युक्त है, क्योंकि सामशब्दका द्वितीयामें निर्देश होनेसे वही उपास्य है, ऐसा समझा जाता है। साममें लोकोंका अध्यास होनेसे सामकी लोकरूपसे उपासना होती है, नहीं तो लोकोंकी सामरूपसे उपासना होती। इससे 'एतद्गायत्रं' (यह गायत्र साम प्राणोंमें ओतप्रोत है) इत्यादिका व्याख्यान हुआ। यहां द्वितीयाका निर्देश तुल्य है—'अथ खल्वमुमादित्यं

रत्नप्रभा

तथा लोकेष्विति। सामात्मना लोकानुपासीतेति द्वितीयासप्तम्योर्भङ्गस्त्वया कार्यः, ततो वरं लोकात्मना सामोपासीतेति सप्तमीमात्रभङ्ग इत्यर्थः। एतेनेति। एकविभक्तिभङ्गलाघवेन प्राणात्मना गायत्रं सामोपास्यमिति व्याख्यातमित्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है—"तथा लोकेषु" इत्यादिसे। सामात्मासे—सामरूपसे लोकोंकी उपासना करनी चाहिए, इस प्रकार द्वितीया और सप्तमी दोनोंका भंग तुमको करना पड़ता है, इससे लोकात्मासे सामकी उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार केवल सप्तमीका भंग अधिक श्रेष्ठ है, ऐसा अर्थ है। इससे—एक विभक्तिका भंग जिसमें है, ऐसे लाघवसे प्राणरूपसे गायत्र साम उपास्य है, ऐसा व्याख्यान हुआ ऐसा अर्थ है, परन्तु जहां विभक्ति समान है वहां निर्णय

भाष्य

पासीत' (छा० २।९।१) इति, तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्चविधस्य' (छा० २।७।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।८।१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात् तस्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः। एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वावगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २ । २ । १) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव

भाष्यका अनुवाद

सप्तविधं सामोपासीत' (अथ इस आदित्यकी, सप्तविध साममें अध्यास करके, उपासना करनी चाहिए) वहांपर भी 'समस्तस्य खलु०' (समस्त सामकी उपासना श्रेष्ठ है), 'इति तु पञ्चविधस्य' (यह तो पांच प्रकारके सामकी), 'अथ सप्तविधस्य' (अब सात प्रकारके सामकी) इस प्रकार सामका ही उपास्यरूपसे उपक्रम होनेसे उसमें भी आदित्यादिका अध्यास है। और साम उपास्य है, ऐसा यह अवगमन होता है। इसीसे 'पृथिवी हिंकारः' (पृथिवी हिंकार है) इत्यादिमें निर्देशका विपर्यय है, तो भी हिंकार आदिमें

रत्नप्रभा

ननु विभक्तिसाम्ये कथं निर्णयः, तत्राह—यत्रापीति। "साम्न उपासनं साधु" (छा० २।१।१) इत्युपक्रम्य "पृथिवी हिंकारः" इत्यादिना हिंकारादिपञ्चावयवस्य साम्नः उपासनम् उक्त्वा "इति तु पञ्चविधस्य उपासनम्" इत्युपसंहृत्य, "अथ" इति सप्तविधस्य साम्न उपासनं प्रक्रम्य प्रपञ्चितम्, अतः साम्न एवोपास्यत्वमित्यर्थः। यदुक्तं प्राथम्यात् पृथिव्यादेरुपास्यत्वमिति, तत्राह—एतस्मादेवेति। यद्यपि हिङ्कारोद्देशेन पृथिवीत्वविधेरुद्देश्यस्य प्रथमनिर्देशो वाच्यः, तथाप्युक्तन्यायबलात् व्यत्ययो ग्राह्य इत्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

किस प्रकार होगा, उसपर कहते हैं—"यत्रापि" इत्यादिसे। 'साम्न उपासनं साधु' (सामकी उपासना श्रेष्ठ है) ऐसा उपक्रम करके 'पृथिवी हिंकारः' (पृथिवी हिंकार है) इत्यादिसे हिंकारादि पांच अवयववाले सामकी उपासना करके 'इति तु पञ्चविधस्योपासनम्' (यह पांच प्रकारके सामकी उपासना है) ऐसा उपसंहार करके 'अथ' इस प्रकार सात प्रकारके सामकी उपासनाका उपक्रम करके प्रपञ्च किया गया है इससे साम ही उपासनीय है, ऐसा अर्थ है। प्रथम निर्दिष्ट होनेसे पृथिवी आदि उपास्य हैं, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"एतस्मादेव" इत्यादिसे। यद्यपि हिंकारके उद्देश्यसे पृथिवीत्वका विधान है, उससे उद्देश्यका प्रथम निर्देश करना उचित था, तो भी उक्त न्यायके बलसे क्रमका व्यत्यय ग्राह्य है, ऐसा अर्थ है ॥ ६ ॥

भाष्य

पृथिव्यादिदृष्टिः । तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही पृथिव्यादिदृष्टि है। इससे अनंगके आश्रित आदित्यादिबुद्धि उद्‌गीथादि अंगोंमें करनी चाहिए, ऐसा सिद्ध हुआ ॥६॥

[६ आसीनाधिकरण सू० ७-१०]

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते ।
न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो नहि ॥ १ ॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्याऽनिवारणात् ।
धीसमाधानहेतुत्वात् परिशिष्यत आसनम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उपासनामें आसनका नियम है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—मन देहकी अवस्थितिकी अपेक्षा नहीं रखता है, अतः आसनकी उपासनामें अपेक्षा नहीं है ।

सिद्धान्त—शयन, उत्थान और गमनसे विक्षेपका निवारण न होनेके कारण—विक्षेप होनेके कारण अन्तःकरणकी स्थिरताके हेतु आसनका परिशेषसे उपासनामें नियम होता है ।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—आसीनः, सम्भवात् ।

पदार्थोक्ति—आसीनः—आसीन एव उपासनानि कुर्वीत, [कुतः ?] सम्भवात्—गमनादीनां चित्तविक्षेपकरतया आसीनस्यैव उपासनानां सम्भवात् ।

भाषार्थ—बैठ कर ही उपासनाएँ करे, क्योंकि गमन आदि चित्तके विक्षेपक हैं, अतः बैठ कर ही उपासनाएँ निर्विघ्न हो सकती हैं ।

---

* सारांश यह है कि पूर्वपक्षी कहता है 'बैठकर ही उपासना करनी चाहिए' इस प्रकारका नियम नहीं है, क्योंकि मानसव्यापारमें देहस्थितिकी अपेक्षा नहीं है । इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि परिशेषसे आसनका नियम होता है, क्योंकि सोनेवाला उपासना नहीं कर सकता, क्योंकि अकस्मात् निद्रा आ जानेपर निद्राका आक्रमण होगा । खड़े होकर या चलकर भी उपासना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि देहधारणादि व्यापारसे चित्तका विक्षेप हो सकता है । इससे आसीन ही उपासना कर सकता है, इस प्रकार परिशेषसे आसनका नियम है ।

भाष्य

कर्माङ्गसम्बद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नासनादिचिन्ता, नापि सम्यग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वाद् विज्ञानस्य। इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतोत नियमेनाऽऽसीन एवेति चिन्तयति। तत्र मानसत्वादुपासनस्याऽनियमः शरीरस्थितेरिति।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति। कुतः? सम्भवात्। उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्, न च तद्गच्छतो धावतो वा सम्भवति, गत्यादीनां चित्तविक्षेपकरत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो

भाष्यका अनुवाद

कर्माङ्गके साथ सम्बद्ध उपासनाएँ कर्मके अधीन हैं, अतः उनमें आसनादिका विचार नहीं है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनमें भी यह विचार नहीं है, क्योंकि विज्ञान वस्तुके अधीन है। परन्तु अन्य उपासनाओंमें तो क्या अनियमसे अर्थात् खड़े होकर बैठकर या सोकर पुरुष उपासनामें प्रवृत्त होता है या नियमसे अर्थात् बैठकर ही, ऐसा विचार करते हैं।

पूर्वपक्षी—उपासनाके मानसिक होनेसे शरीरस्थितिका अनियम है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—बैठ कर ही उपासना करनी चाहिए। किससे? संभव होनेसे, एक ही प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना है, और उसका चलते या दौड़ते पुरुषमें संभव नहीं है, क्योंकि गति आदि चित्तमे विक्षेप

रत्नप्रभा

आसीनः सम्भवात्। कर्मण उत्थितेन उपविष्टेन वा अनेकधाऽनुष्ठानदर्शनात् संशयः, कर्माङ्गाश्रितोपासनानाम् आसननियमानपेक्षाणाम् अनुष्ठानप्रकारः उक्तः, तद्वदङ्गानाश्रितोपासनेष्वपि अनियमः इति पूर्वपक्षयति—तत्रेति। अत्र आसनाभ्यासासिद्धिः, सिद्धान्ते तु मनोदेहयोर्भिन्नत्वेऽपि देहचाञ्चल्ये मनसोऽनव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आसीन सम्भवात्"। कर्मका अनुष्ठान खड़े होकर, या बैठकर इत्यादि अनेक प्रकारसे देखा जाता है। इससे संशय होता है। पूर्व अधिकरणमें जिनको उपासनाके नियमकी अपेक्षा नहीं है ऐसी कर्माङ्गके आश्रित उपासनाओंका अनुष्ठानप्रकार कहा गया है। उसी प्रकार अङ्गके अनाश्रित उपासनाओंमें भी अनियम है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं—"तत्र" इत्यादिसे। पूर्वपक्षमें आसनके अभ्यासकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें तो अभ्यासकी सिद्धि फल है। मन और देह भिन्न हैं, तो भी देहका चाञ्चल्य होनेपर मन भी अनवस्थित—

भाष्य

न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति। शयानस्याऽप्यकस्मादेव निद्रयाऽभिभूयते। आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान् दोषः सुपरिहर इति सम्भवति तस्योपासनम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

करनेवाले हैं। खड़े रहनेवालेका भी मन देहके धारण करनेमें व्यग्र रहता है, इसलिए वह सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षण करनेमें समर्थ नहीं होता। सोते हुएका मन भी सम्भव है कि अकस्मात् ही निद्रासे विवश हो जाय, किन्तु बैठा हुआ पुरुष इस प्रकारके बहुत दोषोंका परिहार भली भाँति कर सकता है, इसलिए उसकी उपासनाका सम्भव है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

स्थानस्य अनुभवसिद्धत्वात् मनोव्यापारेषु उपासनेषु देहस्थैर्यार्थमासननियमापेक्षेति फलभेदः। तिष्ठतः—उत्थितस्य ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अव्यवस्थित होता है, ऐसा अनुभवसिद्ध होनेसे मनोव्यापाररूप उपासनाओंमें देहके स्थैर्यके लिए आसनके नियमकी अपेक्षा है, ऐसा सिद्धान्तका फल है। तिष्ठत—खड़े हुएका ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—ध्यानात्, च।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, ध्यानात्—उपासनानां ध्यायत्यर्थध्यानरूपत्वात् [ध्यानस्य चासीनेषु बकादिष्वेकविषयदृष्टिषु प्रसिद्धत्वादासीन एवोपासीत इत्यर्थः]।

भाषार्थ—उपासनाओंके ध्यानरूप होनेसे और ध्यानकी एक ही विषयमें जिनकी दृष्टि है, ऐसे आसीन बक आदिमें प्रसिद्धि होनेसे आसीन ही उपासना करे, यह प्राप्त होता है।

भाष्य

अपि च ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्। ध्यायतिश्च

भाष्यका अनुवाद

और एक प्रत्ययकाप्रवाह करना ही 'ध्यायति' (ध्यै धातु) का अर्थ है,

भाष्य

प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते, ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति, आसीनश्चाऽनायासो भवति। तस्मादप्यासीनकर्म उपासनम् ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

और 'ध्यायति' शब्द, जिनकी अंगचेष्टाएँ प्रशिथिल हों, दृष्टि स्थिर हो और चित्त एक ही विषयमें आसक्त हो, उनमें उपचारसे योजित होता दिखाई देता है, जैसे कि बगुला ध्यान करता है, जिसका प्रिय परदेशमें गया है वह स्त्री ध्यान करती है। बैठा हुआ पुरुष आयासरहित होता है। इससे भी उपासना बैठे हुएका कर्म है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

किञ्च, ध्यातार आसीना एव स्युः, ध्यायतिशब्दार्हत्वाद्, बकादिवदित्याह— ध्यानाच्चेति ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

और ध्यान करनेवाले बैठे हुए ही हों, ध्यायतिशब्दके योग्य होनेसे, बगुले आदिके समान, ऐसा कहते हैं—"ध्यानाच्च" इत्यादिसे ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

पदच्छेद—अचलत्वम्, च, अपेक्ष्य।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, अचलत्वम्—'ध्यायतीव पृथिवी' इत्यत्र पृथिव्या अचलत्वम्, अपेक्ष्य—अपेक्षीकृत्य [ध्यानत्वोपचारो दृष्टः, अतोऽपि आसीनस्यैवोपासनेति गम्यते।]

भाषार्थ—'ध्यायतीव पृथिवी' (मानो पृथ्वी ध्यान करती है) इत्यादिमें पृथ्वीकी अचलताकी अपेक्षा करके ध्यानका उपचार किया है, इससे भी ज्ञात होता है कि आसीनकी ही उपासना है।

भाष्य

अपि च 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७।६।१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवाऽपेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति, तच्च लिङ्गमुपासनस्याऽऽसीनकर्मत्वे ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

और 'ध्यायतीव पृथिवी' (पृथिवी मानो ध्यान करती है) इस श्रुतिमें पृथिवी आदिमें अचलत्वकी अपेक्षासे ही 'ध्यायति' शब्दका प्रयोग होता है और वह उपासना बैठे हुए का कर्म है—इसमें लिंग है ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

अत्रैव श्रौतं दृष्टान्तमाह—अचलत्वञ्चेति ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसीमें वैदिक दृष्टान्त कहते हैं—"अचलत्वं च" इत्यादिसे ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, स्मरन्ति—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इत्यादिश्लोकेन गीतायां शिष्टा उपासनार्थे आसनं स्मरन्ति ।

भाषार्थ—और 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इत्यादि गीताके वचनसे शिष्ट लोग उपासनाके लिए आसनका ही प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्य

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनाऽऽसनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६।११) इत्यादिना । अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

'शुचौ देशे' (पवित्र देशमें अपना स्थिर आसन स्थापित करके) इत्यादि स्मृतिवचनसे शिष्ट लोग उपासनाके अंगरूपसे आसनका विधान करते हैं। इसीसे योगशास्त्रमें पद्मक आदि आसनोंका उपदेश है ॥१०॥

रत्नप्रभा

बाह्यस्य शारीरस्य वा आसनस्य स्मरणात् नियम इत्याह—स्मरन्ति चेति ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बाह्य और शारीर आसनका स्मृतिमें विधान होनेसे भी नियम है, ऐसा कहते हैं—"स्मरन्ति च" इत्यादिसे ॥१०॥

[७ एकाग्रताधिकरण सू० ११]

दिग्देशकालनियमो विद्यतेऽथ न विद्यते ।
विद्यते वैदिकत्वेन कर्मस्वेतस्य दर्शनात् ॥ १ ॥
एकाग्र्यस्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते ।
'मनोनुकूल' इत्युक्तेर्दृष्टार्थं देशभाषणम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उपासनाओंमें दिक्, देश और कालका नियम है अथवा नहीं है ?

पूर्वपक्ष—दिगादिका नियम वैदिक कर्मोंमें देखा जाता है, अतः वैदिकत्व-सामान्यसे उपासनाओंमें भी दिगादिका नियम है ।

सिद्धान्त—उपासनाओंमें सामान्यतः ऐकाग्र्यकी अपेक्षा होनेसे दिगादिका नियम नहीं है । 'मनोनुकूल' इस उक्तिसे देशविशेषका कथन केवल दृष्टार्थ है ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—यत्र, एकाग्रता, तत्र, अविशेषात् ।

पदार्थोक्ति—यत्र—यस्मिन् देशे काले वा, एकाग्रता—चित्तस्यैक-विषयप्रवाहः, तत्र—तस्मिन् देशे [उपासीत, कुतः ?], अविशेषात्—दिगादिदेशविशेषस्य श्रवणाभावात् ।

भाषार्थ—जिस देश और कालमें मनकी एकाग्रता—स्थिरता हो, उस देशमें उपासना करनी चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें कहींपर भी देशविशेषका श्रवण नहीं है ।

---

* सारांश यह है कि कर्मोंमें दिशा, देश और कालका विशेष नियम देखा जाता है, क्योंकि 'ब्रह्म यज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि' (पूर्व दिशामें ब्रह्मयज्ञ करे) 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' (पूर्व दिशामें क्रमशः निम्न स्थलमें वैश्वदेव करे) 'अथ यदपराह्ने पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' (अपराह्नमें पिण्डपितृ यज्ञ करे) इन श्रुतियोंसे क्रमशः ब्रह्मयज्ञ, वैश्वदेव और पिण्डपितृयज्ञमें पूर्वदिशा, निम्नदेश और अपराह्न कालका विशेषतया नियम देखा जाता है, इसी प्रकार उपासनाओंमें वैदिकत्वसामान्यसे दिगादिका नियम क्यों नहीं माना जाय ? इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर,

सिद्धान्ती—कहते हैं कि एकाग्रता ध्यानका प्रधान साधन है, उसका यदि दिगादि नियम किया जाय, तो कोई अतिशय प्रतीत नहीं होता है, इसलिए दिगादिनियम उपासनाओंमें अप्रयोजक है, यही कारण है कि भगवती श्रुति योगाभ्यासके लिए प्रदेशविशेषका निर्देश करती हुई 'मनोऽनुकूल' इतना ही कहती है अर्थात् जिस किसी देशमें मनकी स्थिरता हो, उसी देशमें

भाष्य

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति। प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात् स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह—दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवाऽस्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत, प्राचीदिक्पूर्वाह्ण-

भाष्यका अनुवाद

दिशा, देश और काल इनके विषयमें कोई नियम है या नहीं, ऐसा सन्देह होता है। प्रायः वैदिक आरम्भोंमें दिक् आदिका नियम देखा जाता है। अतः यहांपर भी कोई नियम हो, ऐसा जिसका विचार है उनके प्रति कहते हैं कि दिशा, देश और कालमें अर्थलक्षण ही नियम है। जिस दिशा, देश या कालमें उपासकका मन सहजमें ही एकाग्र हो, उसी दिशा आदिमें उपासना

रत्नप्रभा

यत्रैकाग्रता तत्राऽविशेषात्। तेष्वेवाङ्गानाश्रितोपासनेषु प्राच्यादिदिशि तीर्थादिदेशे प्रदोषादिकाले नियमोऽस्ति न वेत्युभयथा सम्भवात् संशयः। एक-विषयत्वं संगतिः। उपास्तीनां विहितत्वात् यागादिवदस्ति दिगादिनियम इति पूर्वपक्षः। अत्र दिगादिषु आदरः फलम्, सिद्धान्ते त्वनादरः। ध्येये चित्तै-काग्र्यस्य प्रधानाक्षिप्तदेशादिग्रहणस्य उचितत्वादिति विवेकः। अर्थलक्षण एवेति। ऐकाग्र्यफललिङ्गक एवेत्यर्थः। 'प्राचीनप्रवणे प्राग्देशे निम्नस्थाने वैश्वदेवं कुर्याद्' इतिवदत्र दिगादिविशेषो न श्रूयते, अतोऽनुमानमप्रयोजक-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्"। अंगके अनाश्रित उन्हीं उपासनाओंमें प्राची आदि दिशामें, तीर्थ आदि देशमें, प्रदोष आदि कालमें ऐसा नियम है या नहीं, उसमें उभयथा सम्भव होनेसे संशय होता है। पूर्व और इस अधिकरणका एक ही विषय है, ऐसी दोनोंकी संगति है। उपासनाओंके विहित होनेसे यागादिके समान उसमें दिशा आदिका नियम है, ऐसा पूर्वपक्ष है। यहां—पूर्वपक्षमें दिशादिमें आदर फल है। सिद्धान्तमें अनादर फल है। ध्येयमें चित्तकी एकाग्रताके प्रधान होनेसे प्रधानसे आक्षिप्त देशादिका ग्रहण उचित है, ऐसा विवेक है "अर्थलक्षण एव" इत्यादि। ऐकाग्र्य जिसका फल है तल्लिंगक ही ऐसा अर्थ है। प्राचीनप्रवणमें—पूर्वकी दिशामें निम्नस्थानमें वैश्वदेव करना चाहिए, इसके समान

मनकी स्थिरता करो, परन्तु शास्त्र द्वारा नियमित कोई देश नहीं है। 'समे शुचौ' इत्यादि प्रमाणोंसे सम और पवित्र देशविशेषका नियम सा यद्यपि प्रतीत होता है, तथापि दृष्ट सौकर्यके लिए उस प्रकारका कथन है, इस प्रकार वाक्यशेषमें मनोऽनुकूलत्वरूप विशेषणसे ज्ञात होता है।

भाष्य

प्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्, एकाग्रतायाः सर्वत्राऽविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥'

(श्वे० २।१०) इति यथेति। उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः। सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद् भूत्वाऽऽचार्य आचष्टे। 'मनोनुकूले' इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति॥ ११॥

भाष्यका अनुवाद

करनी चाहिए, क्योंकि प्राचीन दिशा, पूर्वाह्न, पूर्वदेशकी तरफ, निम्न स्थान आदिके समान यहां विशेषका श्रवण नहीं है, क्योंकि अभीष्ट एकाग्रता सर्वत्र तुल्य है। परन्तु कितने ही विशेष भी कहते हैं—'समे शुचौ०' (सम और पवित्र, सूक्ष्मपाषाण, वह्नि और रेतीसे वर्जित, शब्द और जलाशय आदिसे वर्जित, मनके अनुकूल मशकादिसे रहित गुहासदृश निर्वात या एकान्त प्रदेशमें बैठ कर चित्तको परमात्मामें युक्त करना चाहिए) इसपर कहते हैं—ठीक है, इस प्रकारका नियम है। परन्तु ऐसे नियमके रहनेपर भी विशेषमें नियम नहीं है, ऐसा सुहृद् होकर आचार्य कहते हैं। 'मनोऽनुकूले०' (मनके अनुकूल) यह श्रुति, जहां एकाग्रता है, वहीं, ऐसा, इतना ही दिखलाती है॥११॥

रत्नप्रभा

मिति भावः। विशेषाश्रवणमसिद्धमिति शङ्कते—ननु विशेषमपीति। शर्कराः—सूक्ष्मपाषाणाः। जलाश्रयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम्। चक्षुःपीडनः—मशकः। वाचनिकं समदेशादिनियममङ्गीकृत्य चित्तैकाग्र्यविरुद्धेषु देशादिगतेषु प्राचीनप्रवणत्वादिष्वनादर इति सुहृद्भावेन सूत्रकृदुपदिशति। देशाद्याग्रहे चित्तविक्षेपात् समाधिभङ्गः स्यात्, स मा भूदिति॥ ११॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिशादि विशेषके श्रुत न होनेसे अनुमान अप्रयोजक है, ऐसा भाव है। अब शंका करते हैं कि विशेषका श्रवण नहीं है, यह असिद्ध है—"ननु विशेषमपि" इत्यादिसे। शर्कराः—छोटे पत्थरके टुकड़े। जलाश्रयका वर्जन शीतनिवृत्तिके लिए है। चक्षुःपीडन—मशक। वाचनिक समदेशादि नियमका अंगीकार करके चित्तकी एकाग्रताके विरुद्ध देशादिगत प्राचीनप्रवणत्व आदि गुणोंमें अनादर है, ऐसा सुहृद्भावसे सूत्रकार उपदेश करते हैं कि देशादिके आग्रहमें चित्तका विक्षेप होनेसे समाधिका भंग होगा, वह न हो॥११॥

[८ आप्रायणाधिकरण सू० १२]

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्यादुताऽऽमृति ।
उपास्त्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं न तूपरि ॥ १ ॥
अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाव्यतस्तत्प्रसिद्धये ।
आमृत्यावर्तनं न्याय्यं सदा तद्भावभावितः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उपासनाओंकी आवृत्ति इच्छाके अनुसार करनी चाहिए, अथवा मरण-पर्यन्त करनी चाहिए ?

पूर्वपक्ष—उपासनाके अर्थकी अभिनिष्पत्तिसे ज्ञात होता है कि इच्छाके अनुसार आवृत्ति करनी चाहिए, उसके ऊपर अर्थात् मरणपर्यन्त नहीं करनी चाहिए ।

सिद्धान्त—'सदा तद्भावभावितः' इस प्रमाणसे अन्त्य प्रत्ययसे ही भावी जन्म होता है, अतः उसकी उपपत्तिके लिए अवश्य मरणपर्यन्त आवृत्ति करनी चाहिए ।

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—आ, प्रायणात्, तत्र, अपि, हि, दृष्टम् ।

पदार्थोक्ति—आ प्रायणात्—मरणपर्य्यन्तम् [उपासीत], हि—यतः, तत्रापि—मरणकालेऽपि, 'स यावत्क्रतु०' इत्यादिनोपास्यप्रत्ययानुवर्तनं दृष्टम्—प्रतीतम्, [अतः अहङ्ग्रहोपासनं मरणपर्यन्तं कार्यम्] ।

भाषार्थ—मरणपर्य्यन्त उपासना करनी चाहिए, क्योंकि 'स यावत्क्रतु०' इत्यादिसे उपास्यके प्रत्ययकी अनुवृत्ति देखी जाती है । अतः मरणपर्य्यन्त अहङ्ग्रहोपासना करनी चाहिए, यह निर्विवाद है ।

---

* सारांश यह है कि उपासनाशब्दका अर्थ है—विजातीय प्रत्ययसे अव्यवहित—व्यवधान-रहित सजातीय प्रत्ययोंका प्रवाह, इस अर्थकी उपपत्ति अल्प कालसे भी हो सकती है, तो मरण-पर्यन्त इसकी—उपासनाकी आवृत्ति करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि भावी जन्मका हेतु अन्त्य प्रत्यय मरणपर्य्यन्त आवृत्तिके बिना नहीं हो सकता अर्थात् सुलभ नहीं है, इसीलिए स्मृति भी 'सदा तद्भावभावितः'—सर्वदा उसके भावसे भावित, इस प्रकार कहती है । तो ज्योतिष्टोमादि कर्म द्वारा स्वर्गमें जानेवालेका अन्त्य प्रत्यय कैसे होगा ? कर्मजन्य—कर्मसे उत्पन्न अपूर्व—अदृष्ट द्वारा, ऐसा कहते हैं । यदि शङ्का की जाय कि उपासनासे भी अपूर्व होता है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि एतावता निरन्तर प्रवृत्तिस्वरूप दृष्ट उपाय परित्यक्त होता है, यदि इस प्रकारके स्वीकारमें

भाष्य

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे। तत्र यानि तावत् सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत् कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम्, नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किंचिच्छासितुं शक्यम्, अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याऽविषयत्वात् यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता—किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति। किं तावत् प्राप्तम्? कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वादिति।

भाष्यका अनुवाद

सब उपासनाओंमें आवृत्ति आदरणीय है, ऐसा पहले अधिकरणमें निश्चित किया जा चुका है। उनमें जो उपासनाएँ सम्यग्दर्शनके लिए हैं, वे अवघातादिके समान कार्य की प्राप्ति तक हैं, उन उपासनाओंकी आवृत्तिका परिमाण ज्ञात ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन—साक्षात्काररूप कार्यके निष्पन्न होनेपर किसी भी अन्य यत्नका शासन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनियोज्य ब्रह्ममें आत्मरूपसे जिसकी प्रतिपत्ति है, वह शास्त्रका अविषय है। परन्तु जिन उपासनाओंका फल अभ्युदय है, उनमें यह विचार होता है कि क्या कितने ही समय प्रत्ययकी आवृत्ति करके रुक जाना चाहिए या जीवनपर्यन्त आवृत्ति करनी चाहिए? क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—कुछ काल आवृत्ति क के छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उसीसे आवृत्तिविशिष्ट उपासनाशब्दका अर्थ गतार्थ है।

रत्नप्रभा

आ प्रायणात्। व्यवहितेनाऽस्य सम्बन्धमाह—आवृत्तिरिति। अनियोज्ये ब्रह्मणि आत्मत्वप्रतिपत्तिर्यस्य तस्य विदुष इत्यर्थः। अहंग्रहोपासनेषु अनुष्ठानस्य उभयथा दृष्टेः संशयमाह—यानि पुनरिति। यथा दिगादिनियमस्य विधेरनादरः, तद्वदामरणमुपास्यावृत्तेः अविधानादनियम इति पूर्वपक्षः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आ प्रायणात्"। व्यवहितके—दूरस्थशब्दके साथ इसका सम्बन्ध कहते हैं—"आवृत्तिः" इत्यादिसे। अनियोज्य—अधिकाररहित ब्रह्ममें आत्मरूपसे ज्ञान है जिसका, उस विद्वान्का, ऐसा अर्थ है। अहंग्रहोपासनाओंमें अनुष्ठानका उभयथा ज्ञान होनेसे संशय कहते हैं—"यानि पुन." इत्यादिसे। जैसे दिशाकी विधिमें आदर नहीं है, ठीक वैसे ही मरणतक उपासनाकी आवृत्तिका नियम नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्ष है।

गड़बड़ी करो, तो सभी सुख-दुःख अदृष्टसे ही होते हैं, इसलिए भोजनार्थ दृष्ट प्रयत्न क्यों न छोड़ा जाय? इससे दृष्टार्थोपाय होनेसे मरणपर्यन्त आवर्तन करना चाहिए।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आप्रायणादेवावर्तयेत् प्रत्ययम्, अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः। कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाले आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः, तृणजलू-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—मरण तक उपासनाओंकी आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि अन्त्य प्रत्ययसे अदृष्ट फल प्राप्त होता है। अन्य जन्ममें उपभोग्य फलको उत्पन्न करते हुए कर्म—उसके अनुरूप भावनाविज्ञानका मरणकालमें—आक्षेप करते हैं—'सविज्ञानो भवति०' (भावनामय विज्ञानसे—फलके स्फुरणसे—युक्त होता है, विज्ञानसहित फलका ही अनुगमन करता है), 'यच्चित्तस्तेनैष' (मरणकालमें जैसा चित्तवाला होता है, उसी चित्तसे—संकल्पसे इन्द्रियोंके साथ मुख्य प्राणवृत्ति प्राप्त करता है [मरणकालमें इन्द्रियवृत्ति क्षीण होकर मुख्य प्राणवृत्तिसे ही रहती है, तब बान्धव कहते हैं कि वह उच्छ्वास लेता है, जीता है] वह प्राण तेजद्वारा तेजसे अनुगृहीत उदान-वृत्तिसे युक्त होकर, आत्मा भोक्ताके साथ, उस भोक्ताको पुण्यपापकर्मसे संकल्पित

रत्नप्रभा

मरणपर्यन्तमावृत्तिरिति सिद्धान्तयति—एवमिति। उपास्तीनां कर्मणाञ्चाऽन्त्यकाले प्राप्तव्यफलस्फूर्तिद्वारा फलहेतुत्वे मानमाह—सविज्ञान इति। भावनामयं विज्ञानं फलस्फुरणम्, तेन सहितः सविज्ञानः, विज्ञानस्फुरितफलम्—सविज्ञानम् इत्यर्थः। यस्मिन् लोके चित्तं सङ्कल्पोऽस्येति यच्चित्तः, तेन सङ्कल्पितेन लोकेन सह फलस्फूर्त्यनन्तरं मनः प्राणे लीयते इति यावत्। तेजः—उदानः, आत्मा—जीवः। जलूकादृष्टान्तश्रुतेश्च भाविफलस्फूर्तिरस्तीत्यर्थः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मरणपर्यन्त आवृत्ति है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। मरणकालमें (भावी जन्ममें) प्राप्तव्य फलके स्फुरण द्वारा उपासनाएँ और कर्म फलहेतु हैं, उसमें प्रमाण कहते हैं—"सविज्ञान" इत्यादिसे। भावनासे ओतप्रोत जो विज्ञान है, वह फलका स्फुरण है, उससे युक्त सविज्ञान अर्थात् विज्ञानसे स्फुरित फल सविज्ञान, यह अर्थ है। जिस लोकमें जिसका चित्त—सङ्कल्प हो वह यच्चित्त कहलाता है, अर्थात् उस संकल्पित लोकके साथ फलस्फूर्तिके अनन्तर मन प्राणमें लीन होता है। तेज—उदान। आत्मा—जीव। कर्मोंके समान जलूकाके—जोंकके दृष्टान्तकी श्रुतिसे भावी फलकी स्फूर्ति है, ऐसा अर्थ है।

भाष्य

कानिदर्शनाच्च । प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत् प्रायणकालभाविभावनाविज्ञानमपेक्षेरन् । तस्माद् ये प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः । तथा च श्रुतिः—'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति । स्मृतिरपि—

'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥' (गी० ८ । ६)

इति 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८ । १०) इति च । 'सो-

भाष्यका अनुवाद

लोकमें ले जाता है) इत्यादि श्रुतियोंसे और तृणजलूकाके दृष्टान्तसे भी ये प्रत्यय तो स्वरूपकी अनुवृत्तिके बिना प्रायणकालमें होनेवाले किस दूसरे भावनाविज्ञानकी अपेक्षा करें ? इसलिए प्राप्त करने योग्य फलके भावनारूप जो प्रत्यय हैं, उनमें प्रायणपर्यन्त आवृत्ति है । इसी प्रकार 'स यावत्क्रतु०' (वह जैसे सङ्कल्प विशेषवाला इस लोकसे प्रयाण करता है) यह श्रुति भी प्रयाणकालमें भी प्रत्ययकी अनुवृत्ति दिखलाती है । स्मृति भी 'यं यं वाऽपि स्मरन् भावं०' (हे अर्जुन, यह पुरुष मरण समयमें जिस जिस भावका—देवताविशेषका स्मरण करता हुआ अन्तमें—प्राणवियोगकालमें कलेवरका परित्याग करता है, उसी देवताविशेषका सदा स्मरण करता हुआ उसी देवता विशेषको प्राप्त होता है), 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (मरणकालमें अचल मनसे) । 'सोऽन्तवेलायामेतत्'

रत्नप्रभा

अस्तु इदमन्त्यफलविज्ञानं कर्मणामिवाऽदृष्टद्वारोपास्तीनाम्, ततः कुत आमरणमावृत्तिरित्यत आह—प्रत्ययास्त्विति । उपास्तिप्रत्ययानां धारावाहिकतया स्वरूपानुवृत्तिरेवाऽन्त्यं विज्ञानम्, न त्वदृष्टद्वारकमन्यदपेक्षितम् । सर्वभावानामेव स्वसमानजातीयद्वारानपेक्षतया प्रत्ययानां प्रत्ययान्तरापेक्षायोगात्, कर्मणां तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

अदृष्टद्वारा ही उपासनाएँ अन्त्य फलके विज्ञानमें कारण होंगी, इससे आमरण आवृत्तिका क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार कहते हैं—"प्रत्ययास्तु" इत्यादिसे । धारावाहिकरूपसे उपासना प्रत्ययोंका स्वरूपतः अनुवर्तन ही अन्त्य विज्ञान है, न कि अदृष्टद्वारक अन्य अपेक्षित है । क्योंकि सभी भाव समान जातीय भावोंकी द्वाररूपसे अपेक्षा नहीं करते हैं, इसलिए उपासना

भाष्य

ऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्यते' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

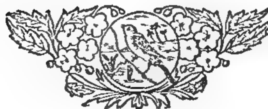
(वह उपासक अन्त समयमें इन तीनोंका स्मरण करे) ऐसी श्रुति मरणकालमें भी कर्त्तव्यविशेषका श्रवण कराती है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

दृष्टद्वाराऽन्त्यधीफलत्वानुपपत्तेः अदृष्टद्वारकल्पनेति भावः । क्रतुः—ध्यानम्, सः—उपासकः, एतत्त्रयम्—अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि,—इति मन्त्रत्रयम्, मरणकालेऽपि स्मरेदित्यर्थः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रत्यय भी अन्य प्रत्ययकी अपेक्षा नहीं करेगा, और कर्म तो दृष्टद्वारा अन्त्य ज्ञानरूप फलमें कारण नहीं हो सकते हैं, इसलिए अगत्या उनका द्वारीभूत अदृष्ट मानना पड़ता है, यह भाव है । क्रतु—ध्यान, वह—उपासक । ये तीन—अक्षितमसि, अच्युतमसि और प्राणसंशितमसि, इन तीन मन्त्रोंका मरणकालमें भी स्मरण करे, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥



[९ तदधिगमाधिकरण सू० १३]

ज्ञानिनः पापलेशोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगतः ।
अनाश इति शास्त्रेषु घोषात्लोपोऽस्य विद्यते ॥ १ ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नैव न लिप्यते ।
अश्लेषनाशावप्युक्तावज्ञे घोषस्तु सार्थकः ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ज्ञानियोंको पापका लेप होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—ज्ञानीको भी पापका लेप होता है, क्योंकि शास्त्रोंमें इस प्रकारकी घोषणा है कि भोगके बिना पापादिका नाश नहीं होता है ।

सिद्धान्त—अकर्ता आत्मा है, इस प्रकार बुद्धि होनेसे अकर्त्रात्मक वस्तुके सामर्थ्यसे ही पापका लेप नहीं है और शास्त्रका जो उक्त घोष है, वह अनभिज्ञ पुरुषोंके लिए है, ज्ञानी पुरुषोंके लिए नहीं है ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—तदधिगमे, उत्तरपूर्वाघयोः, अश्लेषविनाशौ, तद्व्यपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—तदधिगमे—तस्य ब्रह्मणः अधिगमे—साक्षात्कारे सति, उत्तरपूर्वाघयोः—ज्ञानोत्तरं देहेन्द्रियादिवशात् सम्भावितं पापमुत्तराघम्, ज्ञानात्पूर्वं जन्मान्तरे इह जन्मनि वा संचितं पापं पूर्वाघम्, तयोः, अश्लेषविनाशौ—ध्वंसासम्पर्कौ [भवत एव, कुतः ?] तद्व्यपदेशात्—'यथा पुष्करपलाश' 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ' इत्यादिश्रुतिभ्यां तयोः—पूर्वोत्तराघाश्लेषविनाशयोः व्यपदेशात्—कथनात् ।

* सारांश यह है कि 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि, (जिन कर्मोंका उपभोग नहीं किया गया है, ऐसे कर्मोंका सौ कल्पकोटिसे भी क्षय नहीं होता है) इस प्रकार पापके अविनाशका शास्त्रमें प्रतिपादन होनेसे ब्रह्मज्ञानियोंको भी पापका लेप होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—इसमें यह शङ्का ही नहीं हो सकती है कि ब्रह्मतत्त्ववित्को पापका लेप होता है । क्योंकि 'न किया, न करता हूँ और न करूँगा' इस प्रकार तीनों कालोंमें अकर्त्रात्मक ब्रह्मका स्वरूप निश्चित है । और जो कर्ता नहीं है, उसके विषयमें मन्दको भी शङ्का नहीं हो सकती है कि—उसको पापका लेप होता है । सगुण ब्रह्मज्ञानीको भी पुण्य और पापका लेप नहीं है, क्योंकि अश्लेष और विनाश सुने जाते हैं । ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद देहेन्द्रिय व्यवहारके बलसे कदाचित्

भाषार्थ—ब्रह्मके साक्षात्कारके बाद उत्तर और पूर्व पापोंके असंश्लेष और विनाश होते हैं उत्तराघ उसको कहते हैं कि जिस पापका ज्ञानके बाद देहादिसे उद्भव हुआ हो और ज्ञानके पूर्व इस जन्ममें या जन्मान्तरमें सञ्चित पापका का नाम पूर्वाघ है, इन दोनोंका अश्लेष और विनाश होता है, क्योंकि 'यथा पुष्करपलाश' और 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ' इत्यादिश्रुतियोंसे, उत्तर और पूर्वके पापोंके अश्लेष और विनाशका प्रतिपादन किया गया है।

भाष्य

गतस्तृतीयशेषः। अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते। ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्? फलार्थत्वात् कर्मण फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षयः। फलदा-

भाष्यका अनुवाद

तृतीय अध्यायका शेषभाग पूरा हुआ। अब ब्रह्मविद्याके फलका विचार किया जाता है। ब्रह्मज्ञानके प्राप्त होनेपर उससे विपरीत फलवाला पाप क्षीण होता है या नहीं, ऐसा संशय है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—कर्मके फलार्थक होनेसे फल प्राप्त कराये विना उसका क्षय

रत्नप्रभा

यथोपासकानां यावज्जीवं कर्तव्यमस्ति न तथाऽऽत्मविदामिति कर्मक्षयलक्षणां जीवन्मुक्तिमाह—**तदधिगम** इति। ज्ञानसाधनेषु यत्नाधिक्यार्थं फलाध्यायेऽपि साधनविचारः कृतः, सम्प्रति फलाध्यायस्था फलचिन्ता क्रियते इत्याह—**गत** इति। कर्मणां फलान्तत्वशास्त्रात् ज्ञाननाश्यत्वशास्त्राच्च संशयः। पूर्वपक्षे

रत्नप्रभाका अनुवाद

जैसे उपासकोंका जीवनपर्यन्त कर्तव्य है, वैसे आत्मज्ञानियोंका जीवनपर्यन्तकर्तव्य नहीं है, अतः कर्मक्षयरूप ही जीवन्मुक्ति है, उसे कहते हैं—"*तदधिगम*" इत्यादिसे। ज्ञानके साधनोंमें अधिक यत्न हो, इसलिए फलाध्यायमें भी उन साधनोंका विचार अबतक किया गया है, सम्प्रति फलाध्यायकी उपयुक्त फलचिन्ता अर्थात् फलसम्बन्धी विचार करते हैं—"*गत*" इत्यादिसे। कर्मोंके फलान्तत्वशास्त्रसे अर्थात् कर्म

पापादिका सम्भव हो, तो भी उसका संश्लेष नहीं सुना जाता है। क्योंकि 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न लिप्यते' (जैसे पुष्करपलाशमें अर्थात् कमलके पत्रमें जलका स्पर्श नहीं होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानीको भी पापकर्मका स्पर्श नहीं होता है), 'नाभुक्तम्' इत्यादि शास्त्र अज्ञपुरुषपरक है। इससे ज्ञानीको पापका लेप नहीं है।

भाष्य

यिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता। यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृ-ज्येत, श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। स्मरन्ति च 'नहि कर्माणि क्षीयन्ते' इति। नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति। नैष दोषः। प्रायश्चित्ता-

भाष्यका अनुवाद

नहीं हो सकता, क्योंकि फल देनेवाली उसकी शक्ति श्रुतिसे ज्ञात होती है। यदि कर्मफल उपभोगके बिना ही नष्ट हो, तो श्रुति अनर्थक हो जायगी और स्मृतिकार भी कहते हैं—''नहि कर्माणि क्षीयन्ते' (कर्म क्षीण नहीं होते) परन्तु ऐसा होनेपर प्रायश्चित्तका उपदेश निरर्थक होगा ? नहीं—यह दोष नहीं है, क्योंकि गृहदाह

रत्नप्रभा

ज्ञानिनोऽपि सञ्चितपापभोगानन्तरं मुक्तिः, सिद्धान्ते तु ज्ञानसमकालं पापनाशा-ज्जीवन्मुक्तिरिति फलम्। 'न हिंस्याद्' इत्यादिनिषेधश्रुत्या दुरितादृष्टस्य दुःखदायिनी शक्तिरधिगता, 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति च स्मरन्ति, अतः फलान्तमेव पापं न मध्ये नश्यतीति पूर्वपक्षः। ननु तर्हि तन्नाशार्थं प्रायश्चित्त-विधिर्न स्यादिति चेत्, न; यथा आहिताग्नेर्गृहदाहे निमित्ते सति 'अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्' इति इष्टिविधिः, तद्वद्दोषे निमित्तमात्रे सति प्रायश्चित्तविधेर्दोषनाशार्थत्वासिद्धेः। ननु विषम उपन्यासः, युक्तं गृहदाहस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवश्य फल देते हैं और उनके फलका जबतक भोग न किया जाय, तब तक कर्मोंका नाश नहीं होता है, इस शास्त्रसे और कर्म ज्ञानसे नष्ट होते हैं, इस शास्त्रसे संशय होता है। पूर्वपक्षमें सञ्चित पापके फलका उपभोग करनेपर ही ज्ञानीकी मुक्ति होगी, और सिद्धान्तमें ज्ञानके साथ ही पापका नाश होनेसे जीवन्मुक्ति होगी, यह फल है। 'न हिंस्यात्' (हिंसा न करे) इस निषेधश्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि पापसे उत्पन्न हुए अदृष्टमें दुःख देनेवाली शक्ति है। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' (बिना उपभोग किये कर्म नष्ट नहीं होता है) इस प्रकार स्मृति भी है। इससे फलसे नष्ट होनेवाला पाप मध्यमें नष्ट नहीं होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष है। शङ्का करते हैं कि यदि ऐसी बात है, तो पापके नाशके लिए जो प्रायश्चित्तविधि है, वह निरर्थक होगी ? नहीं, क्योंकि जैसे गृहदाहरूप निमित्तके रहते आहिताग्निकी 'अग्नये क्षामवते' (अग्निके लिए आठकपालवाले पुरोडाशका होम करना चाहिए) इससे क्षामवती इष्टिका विधान है, वैसे दोषके निमित्तमात्रसे प्रायश्चित्तका विधान है, अतः प्रायश्चित्त दोषका विघातक है यह सिद्ध नहीं होता। परन्तु दृष्टान्त विषम

भाष्य

नां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्गृहदाहेष्ट्यादिवत्। अपि च प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद् भवेदपि दोषक्षपणार्थता, न त्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति। नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्याऽवश्यं भोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात्। नेत्युच्यते। देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद् भविष्यति। तस्मान्न ब्रह्माधिगमाधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति।

भाष्यका अनुवाद

इष्टि आदिके समान प्रायश्चित्त नैमित्तिक हैं, ऐसा उपपन्न होता है। इससे प्रायश्चित्तका उपदेश व्यर्थ नहीं है, और दोषके संयोगसे प्रायश्चित्तोंका विधान होनेसे दोषका नाश करना उनका प्रयोजन भले ही हो, परन्तु ब्रह्मविद्यामें इस प्रकार दोषसंयोगसे ज्ञानका विधान नहीं है। परन्तु यदि ब्रह्मवेत्ताके कर्मके क्षयका स्वीकार न किया जाय, तो फलके अवश्य भोक्तव्य होनेसे मोक्ष नहीं होगा। नहीं, ऐसा कहते हैं। देश, काल और निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाला मोक्ष कर्मफलके समान होगा। इससे ब्रह्म प्राप्त होनेपर पापकी निवृत्ति नहीं होती है।

रत्नप्रभा

सिद्धत्वादयोग्यत्वाच्च फलतया निमित्तमात्रत्वम्, 'दोषवान् प्रायश्चित्तं कुर्याद्' इत्यत्र तु 'मलिनः स्नायाद्' इतिवद् दोषपदस्य निवृत्तिद्वारा फलपरत्वसम्भवात् 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति प्रायश्चित्तात् पापनिवृत्तिश्रुतेश्चाऽयुक्तं प्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकत्वमित्यत आह—अपि चेति। ज्ञानस्य दोषनाशार्थतया विधानं नास्ति, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २।२।८) इत्यादेर्ज्ञानस्तावकमात्रत्वादित्यर्थः। कर्मभोगानन्तरं देशकालान्तरे मोक्षो भविष्यति शास्त्रप्रामाण्यादित्याह—नेत्युच्यते इति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, क्योंकि सिद्ध होनेसे और फलरूपसे अयोग्य होनेसे गृहदाह निमित्त हो सकता है। परन्तु 'दोषवान् प्रायश्चित्तं कुर्यात्' (दोषयुक्त प्रायश्चित्त करे) इसमें तो 'मलिनः स्नायात्' (मलिन स्नान करे) इसके समान दोषपदके निवृत्ति द्वारा फलपरक हो सकनेसे 'तरति ब्रह्महत्याम्' (जो अश्वमेध याग करता है वह ब्रह्महत्याको तैरता है) इस प्रायश्चित्तसे और पापनिवृत्तिकी श्रुति होनेसे प्रायश्चित्तको नैमित्तिक मानना अयुक्त है? इसपर कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। ज्ञानका दोषनाशके लिए विधान नहीं है, क्योंकि 'क्षीयन्ते' (इसके शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं जब कि यह परमात्माका दर्शन करता है) इत्यादि वाक्य ज्ञानके स्तावक हैं। ऐसा अर्थ है। कर्मभोगके बाद किसी अन्य देश या कालमें मोक्ष होगा, 'ज्ञानसे कर्मक्षय होता है' इस शास्त्रप्रमाणसे, ऐसा कहते हैं—"नेत्युच्यते" इत्यादिसे।

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः, उत्तरस्याऽश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः । कस्मात् ? तद्व्यपदेशात् । तथा हि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्याऽऽगामिनो दुरितस्याऽनभिसंबन्धं विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४। ३) इति तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५ । २४ । ३) इति । अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' (मु० २।२।८) इति ।

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर उत्तर और पूर्व पापोंका अश्लेष और विनाश होता है। उत्तर पापोंका अश्लेष—असम्बन्ध और पूर्वपापोंका विनाश होता है। किससे ? इससे कि उसका कथन है, क्योंकि 'यथा पुष्करपलाश आपो०' (जैसे कमलके पत्तोंको जल नहीं लगता, इसी प्रकार ऐसा जाननेवालेमें पापकर्म श्लिष्ट नहीं होता) यह श्रुति ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें, जिसके सम्बन्धका सम्भव है, ऐसे आगामी पापका विद्वान्से सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहती है। इसी प्रकार 'तद् यथेषीकातूलमग्नौ०' (इसलिए जैसे इषीकाका—मुञ्जमध्यवर्ती तृणका अग्रभाग अग्निमें प्राक्षिप्त होनेपर जल जाता है, इसी प्रकार इस विद्वान्के सब पाप जल जाते हैं) यह श्रुति पूर्वमें उपचित पापका विनाश भी कहती है। यह दूसरा कर्मक्षयका व्यपदेश है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते०' (उस सर्वज्ञ, असंसारी, पर

रत्नप्रभा

ज्ञानात् कर्मक्षयस्याऽपूर्वत्वाद् मानान्तराविरुद्धत्वाच्च तत्परानेकवाक्यानां स्तावकत्वायोगात् तस्याऽस्तित्वमिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना । पापक्रिया-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थके बोधक अनेक वाक्योंको स्तुतिपरक मानना अयुक्त है, क्योंकि ज्ञानसे जो कर्मक्षय होता है, वह अपूर्व है और किसी प्रमाणान्तरसे विरुद्ध नहीं है, इससे कर्मक्षय है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । अश्लेष—पापक्रियासे पापके अपूर्वकी अनुत्पत्ति।

भाष्य

यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मण क्षयकल्पनायां शास्त्रं कदर्थितं स्यादिति। नैष दोषः। नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रियेत, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि। 'नहि कर्म क्षीयते' इत्येतदपि स्मरणमौत्सर्गिकम्—नहि भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति। इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना दुरितस्य क्षयः 'सर्वं पाप्मानं तरति' 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इत्यादि-

भाष्यका अनुवाद

(कारणस्वरूप) और अवर (कार्यस्वरूप) परमात्माका साक्षात्कार होनेपर इसके हृदयकी ग्रन्थियां टूट जाती हैं, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं)। और जिसके फलका उपभोग नहीं हुआ है, ऐसे कर्मके क्षयकी कल्पना करनेसे शास्त्र कदर्थित होगा, ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि हम फल देनेवाली कर्मकी शक्तिकी अवज्ञा नहीं करते, कर्मोंमें वह फलदायिनी शक्ति है ही। परन्तु वह शक्ति विद्या आदि अन्य कारणोंसे प्रतिबद्ध होती है, ऐसा हम कहते हैं। कर्ममें फल देनेकी शक्ति है, केवल इस कथनमें शास्त्रका व्यापार है, फलदायिनी शक्तिके प्रतिबन्ध या अप्रतिबन्धमें शास्त्रका व्यापार नहीं है। 'नहि कर्म क्षीयते' (कर्म क्षीण नहीं होता) यह स्मृति भी औत्सर्गिक—सामान्य नियमरूप है, कारण—भोग ही कर्मका प्रयोजन है, अतः भोगके विना कर्मका क्षय नहीं होता। क्योंकि 'सर्वं पाप्मानं तरति' (सब पापको तैरता है), 'तरति ब्रह्महत्यां०' (जो अश्वमेध यज्ञ करता है और जो इसको इस प्रकार जानता है, वह ब्रह्महत्याको

रत्नप्रभा

तोऽपूर्वानुत्पत्तिः अश्लेषः। सगुणब्रह्मविद्यायां व्यपदेशमुक्त्वा निर्गुणायां तमाह—अयमपर इति। पूर्वोक्तं दूषयति—यदुक्तमित्यादिना। विधिनिषेधशास्त्रं 'ना भुक्तं क्षीयते' इत्यादिस्मृतिश्च कर्मणः फलशक्तौ प्रमाणम्, अतः शक्तस्याऽपि

रत्नप्रभाका अनुवाद

सगुण ब्रह्मविद्यामें व्यपदेश कहकर निर्गुण ब्रह्मविद्यामें व्यपदेश कहते हैं—"अयमपरः" इत्यादिसे। अन्य द्वारा जो कथित है उसे दूषित करते हैं—"यदुक्तम्" इत्यादिसे। 'नाभुक्तं क्षीयते' (अभुक्त कर्म नष्ट नहीं होता है) इत्यादि विधिनिषेधशास्त्र और स्मृति कर्मकी फलशक्तिमें प्रमाण हैं, अतः यदि शक्तिका भी किसी कारणवशसे नाश माना जाय, तो

भाष्य

श्रुतिस्मृतिभ्यः। यत्तूक्तं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति। तदसत्, दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः। यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तवद्दोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति। अत्र ब्रूमः—सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यत एव विधानम्, तासु च वाक्यशेषे ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते, तयोश्चाऽविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति, तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात् कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेष इति चाऽऽगामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति

भाष्यका अनुवाद

तैर जाता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे प्रायश्चित्त आदिसे उसका क्षय होना इष्ट ही है। प्रायश्चित्त नैमित्तिक होंगे, ऐसा जो वादीने कहा है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि दोषके संयोगके कारण शास्त्रसे विहित प्रायश्चित्तोंका दोषनाशरूप फलके संभव होनेपर अन्य फलकी कल्पना अनुपपन्न है। प्रायश्चित्तके समान दोषक्षयके उद्देशसे विद्याका विधान नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—सगुण विद्याओंमें तो विधान है ही। क्योंकि उन सगुण विद्याओंके वाक्यशेषमें विद्यावान् की ऐश्वर्यप्राप्ति और पापनिवृत्ति कही जाती है और उन दोनोंकी अविवक्षाका कारण नहीं है, अतः पापनाशपूर्वक ऐश्वर्यप्राप्ति उनका फल है, ऐसा निश्चय होता है। निर्गुण विद्याओंमें तो यद्यपि विधान नहीं है, तो भी अकर्त्ता आत्माके ज्ञानसे कर्मप्रदाह सिद्ध होता है। 'अश्लेषः' (अश्लेष) यह शब्द आगामी कर्मोंमें ब्रह्मवेत्ता कर्तृत्वको ही प्राप्त

रत्नप्रभा

कुतश्चित् नाशाङ्गीकारे न शास्त्रविरोध इत्यर्थः। तत्त्वज्ञानम् आत्मनि अशेषदुरितनाशकम्, तन्मूलाध्यासबाधकत्वात्, स्वप्नदुरितमूलकर्तृत्वाध्यासबाधकजाग्रद्बोधवत्, इत्याह—तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधादिति। श्रुतार्थमेव युक्त्या द्रढयति—अश्लेष इति। मूलाध्यासानुपपत्तेः पापस्याऽश्लेषः—तन्नाशात् तद्विनाश इत्यर्थः। अध्यासाभावे

रत्नप्रभाका अनुवाद

शास्त्रके साथ विरोध होगा, यह अर्थ है। तत्त्वज्ञान आत्मामें रहनेवाले सम्पूर्ण दुरितोंका नाशक है, क्योंकि वह दुरितके मूलभूत अध्यासका बाधक है। स्वप्न दुरितके मूलभूत कर्तृत्व अध्यासका बाधक जो जाग्रदवस्थाका बोध, उसके समान, ऐसा कहते हैं—"तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्" इत्यादिसे। श्रुत अर्थको युक्तिसे दृढ़ करते हैं—"अश्लेष"

भाष्य

दर्शयति । अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात् कर्तृत्वं प्रतिपेद इव तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्ते इत्याह—विनाश इति । पूर्वसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाऽहमासम्, नेदानीम्, नापि भविष्यत्काल—इति ब्रह्मविदवगच्छति । एवमेव च मोक्ष उपपद्यते । अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात् । न च देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद् भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य । तस्माद् ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थितम् ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं करता, ऐसा दिखलाता है । अतिक्रान्त—प्राचीन कर्मोंमें यद्यपि मिथ्याज्ञानसे कर्तृत्व मानो प्राप्त हुआ है, तो भी विद्याके सामर्थ्यसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे वे कर्म भी प्रविलीन होते हैं, ऐसा 'विनाशः' इस शब्दसे कहते हैं । पूर्वसिद्ध कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे विपरीत, तीनों कालमें अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, इससे पूर्वमें भी कर्ता या भोक्ता मैं नहीं था; अब भी नहीं हूँ । उसी प्रकार भविष्य कालमें भी नहीं होऊँगा, ऐसा ब्रह्मवेत्ता जानता है । और इस ज्ञानसे मोक्ष उपपन्न होता है, क्योंकि नहीं तो, अनादिकालसे प्रवृत्त हुए कर्मोंके क्षयका अभाव होनेपर मोक्षका अभाव हो जायगा । मोक्ष कर्मफलके समान देश, काल और निमित्तकी अपेक्षावाला हो—यह युक्त नहीं है, क्योंकि इससे उसके अनित्य होनेका प्रसङ्ग आवेगा और ज्ञानका फल परोक्ष हो, यह भी उपपन्न नहीं है । इससे ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर पापका क्षय होता है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

विद्वदनुभवमाह—पूर्वेति । मोक्षशास्त्रबलाच्च ज्ञानात् कर्मक्षयसिद्धिरित्याह—एवमेवेति । ज्ञानात् कर्मक्षये सत्येवेत्यर्थः । मोक्षस्य कर्मफलसाम्यमुक्तं निरस्यति—न चेति ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे । मूलाध्यासकी अनुत्पत्तिसे पापका असम्बन्ध है अर्थात् अध्यासके नाशसे पापका विनाश होता है, ऐसा अर्थ है । अध्यासके अभावमें विद्वानोंका अनुभव कहते हैं—"पूर्व" इत्यादिसे । ज्ञानसे कर्मक्षय होनेपर ही, यह अर्थ है । कर्मफलके समान ही मोक्ष है, ऐसा जो कहा गया है, उसका निरसन करते हैं—"न च" इत्यादिसे ॥ १३ ॥

[१० इतरासंश्लेषाधिकरण सू० १४]

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः ।
नहि श्रौतेन पुण्येन श्रौतं ज्ञानं विरुध्यते ॥ १ ॥
अलेपो वस्तुसामर्थ्यात् समानः पुण्यपापयोः ।
श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम्* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—तत्त्वज्ञानी पुण्यसे लिप्त होता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—तत्त्ववेत्ता पुण्यसे लिप्त होता है, क्योंकि श्रौतपुण्यका श्रौत ज्ञानके साथ विरोध नहीं है।

सिद्धान्त—अकर्त्रात्मक वस्तुसामर्थ्यसे पापके समान पुण्यका लेप नहीं होता है। और श्रुति पुण्यको पापरूपसे भी कहती है, इसी प्रकार श्रुति पुण्य और पापका तरण भी समानरूपसे कहती है।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पदच्छेद—इतरस्य, अपि, एवम्, असंश्लेषः, पाते, तु ।

पदार्थोक्ति—इतरस्यापि—पूर्वोत्तरस्य पुण्यस्यापि, एवम्—पूर्वोत्तराघवत्, असंश्लेषः—संश्लेषाभावो विनाशश्च भवतः, पाते तु—ब्रह्मविदः पुरुषधौरेयस्य पुण्यपापयोर्बन्धहेत्वोरभावाद् देहपाते तु [मुक्तिरवश्यंभाविनीत्यर्थः] ।

भाषार्थ—पूर्व और उत्तर पुण्यका पूर्व और उत्तर पापके समान असम्बन्ध और विनाश होता है, और ब्रह्मविद्के बन्धहेतु पुण्य और पापका अभाव होनेसे मुक्ति अवश्य होगी यह भाव है।

---

* इस अधिकरणका सारांश यह है कि ज्ञानीको पापका सम्पर्क भले ही न हो परन्तु पुण्यका सम्बन्ध होनेमें कुछ क्षति नहीं है। कारण कि श्रुति प्रतिपादित पुण्यका श्रुत्युक्त ब्रह्मके साथ विरोध नहीं है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्माके अकर्ता होनेसे जैसे उसमें पापका लेप नहीं है वैसे ही पुण्यका भी लेप नहीं है, सगुणज्ञानीका उपासनासे अतिरिक्त काम्य पुण्य पापके समान अधर्मका कारण होनेसे पापके समान ही है, ऐसा मान कर पापरूपसे ही दहरविद्याके वाक्यशेषमें श्रुति उसका परामर्श करती है—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' इसका अर्थ यह है कि सुकृत, दुष्कृत और उनका फल जो पूर्व वाक्यमें उक्त है, वे सब पाप्माशब्दसे गृहीत हैं, ये सब इस उपासकसे हट जाते हैं। किञ्च, 'उभे उ हैवैष तरति' (यह उपासक पुण्य और पापको तैरता है) यह श्रुति भी पुण्य और पाप दोनोंसे ज्ञानी लोग उत्तीर्ण होते हैं, इस प्रकार स्पष्ट बतलाती है। इससे पापके समान पुण्यसे भी ज्ञानी लिप्त नहीं होता, यह सिद्ध हुआ।

भाष्य

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरघस्य स्वाभाविकस्याऽश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौ। धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाऽविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते। इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। कुतः? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात्। 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत् सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात्। अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य

भाष्यका अनुवाद

पूर्व अधिकरणमें बन्धके हेतु स्वाभाविक पापके ज्ञानजन्य अश्लेष और विनाश शास्त्रव्यपदेशसे कहे गये हैं। धर्म तो शास्त्रीय है, अतः शास्त्रीय ज्ञानके साथ उसका विरोध नहीं है, ऐसी आशंका करके उसका निराकरण करनेके लिए पूर्व अधिकरणके न्यायका अतिदेश करते हैं। ज्ञानवान्के अन्यका भी—पुण्य कर्मका इसी प्रकार—पापके समान अश्लेष और विनाश होता है। किससे, इससे कि उसके भी अपने फलका हेतु होनेसे ज्ञानके प्रतिबन्धक होनेका प्रसंग आवेगा। 'उभे उ हैवैषः' (यह ब्रह्मवेत्ता इन दोनोंको—पुण्यलक्षण और पापलक्षण कर्मोंको तैर जाता है) इत्यादि श्रुतियोंमें दुष्कृतके समान सुकृतका भी प्रणाश कहा गया है, आत्मा अकर्त्ता है, ऐसे बोधसे होने-

रत्नप्रभा

इतरस्याऽपि तु इत्यादि। अतिदेशत्वात् न सङ्गत्याद्यपेक्षा। ज्ञानात् पुण्यं क्षीयते न वेति पूर्ववत् सन्देहे ज्ञानं तु न पुण्यनाशकम्, शास्त्रीयत्वात्, पुण्यवदित्यधिकाशङ्कामुक्त्वाऽतिदेशं व्याचष्टे—धर्मस्येत्यादिना। ज्ञानं पुण्यनाशकं तन्मूलाविद्याघातित्वादिति न्यायोपेतागमबाधितमनुमानमिति भावः। ननु "क्षीयन्ते च" इत्यविशेषश्रुतिः पापविषया। "सर्वं पाप्मानं तरति" इति विशेषश्रुतेरित्यत आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

''इतरस्यापि तु'' इत्यादि यहाँ सङ्गतिकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अतिदेश है। ज्ञानसे पुण्यका क्षय होता है या नहीं, इस प्रकार पूर्वकी नाईं सन्देह होनेपर 'ज्ञान तो पुण्यका विनाशक नहीं है, शास्त्रप्रतिपाद्य होनेसे, पुण्यके समान' इस प्रकार अधिक शङ्काको कहकर अतिदेशका व्याख्यान करते हैं—"धर्मस्य" इत्यादिसे। ज्ञान पुण्यका नाशक है, समूल विद्याका घाती होनेसे, इस युक्तिसे परिपुष्ट आगमसे अनुमान बाधित है, यह भाव है। परन्तु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि जो सामान्य श्रुति है ? वह पापविषयक है, क्योंकि 'सर्वं पाप्मानं

भाष्य

सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि' (मु० २ । २ । ८) इति चाऽविशेषश्रुतेः । यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते, तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम् , ज्ञानफलापेक्षया निकृष्टफलत्वात् । अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८ । ४ । १) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात् । पाते त्विति । तुशब्दोऽवधारणार्थः । एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेपविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

वाला कर्मक्षय सुकृत और दुष्कृतमें समान है, और 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि' (इसके कर्म क्षीण होते हैं) ऐसी अविशेष श्रुति है । जहांपर केवल पाप्मशब्द दीखता है, वहांपर भी उसीसे पुण्यका भी ग्रहण हुआ है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि ज्ञानके फलसे पुण्यका फल निकृष्ट है । श्रुतिमें पुण्यके लिए भी पाप्मशब्द है, क्योंकि 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (दिन और रात इस सेतुरूप आत्माको परिच्छिन्न नहीं करते) इसमें दुष्कृतके साथ सुकृतको भी कहकर 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते०' (इस आत्मरूप सेतुसे सब पाप निवृत्त होते हैं) ऐसे अविशेषसे ही प्रकृत पुण्यमें पाप्मशब्दका प्रयोग है । 'पाते तु' इसमें तुशब्द अवधारणके अर्थमें है । इस प्रकार विद्याकी सामर्थ्यसे बन्धके हेतु धर्म और अधर्मके अश्लेप और विनाश की सिद्धि होनेसे विद्वान्‌के शरीरका नाश होनेपर मुक्ति अवश्य होती है, ऐसा अवधारण करते हैं ॥ १४ ॥

रत्नप्रभा

यत्रापि केवल इति । पापपुण्यक्षयपराधिकरणद्वयस्य फलमाह—पाते त्विति ॥१४॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तरति' इत्यादि विशेष श्रुति है इसपर कहते हैं—"यत्राऽपि केवल." इत्यादिसे । पापक्षय और पुण्यक्षय परक दोनों अधिकरणोंका फल कहते हैं—"पाते तु" इत्यादिसे ॥ १४ ॥



[११ अनारब्धाधिकरण सू० १५]

आरब्धे नश्यतो नो वा संचिते इव नश्यतः ।
उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधौ सदृशौ खलु ॥ १ ॥
आदेहपातं संसारश्रुतेरनुभवादपि ।
इषुचक्रादिदृष्टान्तात् नैवारब्धे विनश्यतः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—आरब्ध पुण्य और पाप नष्ट होते हैं अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—सञ्चित पुण्य और पापके समान उनका भी नाश होता है, क्योंकि दोनों स्थलोंमें अकर्तृत्व और उसका बोध समान है ।

सिद्धान्त—देहके विनाशपर्यन्त संसारके अस्तित्वकी श्रुति होनेसे, अनुभवसे और इषु, चक्र आदिके दृष्टान्तसे आरब्ध कर्म नष्ट नहीं होते हैं ।

---

* साराश यह है कि ज्ञानके पूर्वमें सञ्चित पुण्य और पाप दो प्रकारके हैं—आरब्ध और अनारब्ध । उन दोनोंके रहते भी आत्माका अकर्तृत्व समान है, और उसका ज्ञान भी समान है, इससे आरब्धका भी ज्ञानोदयके समयमें ही विनाश होता है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—श्रुति, अनुभव और युक्तिसे मालूम होता है कि आरब्ध पुण्य और पापका विनाश नहीं होता है । सर्वप्रथम श्रुति ही लीजिए । *'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'* इसका भाव यह है—उस तत्त्वज्ञानीकी मुक्तिमें विलम्ब होते हुए भी अधिक विलम्ब नहीं है, किन्तु गर्भाधानके समय निश्चित आयुष्यका क्षय न होनेके कारण जबतक शरीर प्राणसे वियुक्त नहीं होता तबतक ही देर है, अनन्तर प्राणके वियोगके बाद ब्रह्मके साथ सम्पन्न—एक होता है । इसी प्रकार विद्वान्का अनुभव भी है । युक्ति भी सुनिए, जैसे व्यवहारमें तूणीरमें स्थित बाणोंके स्वीकार या परित्यागमें धनुर्धारी स्वतन्त्र है, तो भी बाणके छोड़नेपर उस बाणमें फिर वह स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु वह बाण वेगके क्षीण होनेपर स्वयं गिर जाता है, इसी प्रकार कुलालचक्रके भ्रमणका उदाहरण देना चाहिए । वैसे ही दार्ष्टान्तिक ब्रह्मज्ञान अनारब्धके विनाशमें यद्यपि स्वतन्त्र है, परन्तु आरब्धका विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि आरब्ध कर्मका फल प्रवृत्त है । यदि इन श्रुति आदिसे आरब्ध कर्मकी स्थिति नहीं मानो, तो उपदेष्टाके अभावसे विद्याका सम्प्रदाय ही उच्छिन्न हो जायगा । अविद्वान् उपदेशकर्ता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है । और विद्वान् तो ज्ञान होते ही मुक्त हो जायगा तो उपदेश कौन करेगा । इससे आरब्ध कर्मका विनाश नहीं होता है यह अतिस्फुट है ।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

पदच्छेद—अनारब्धकार्ये, एव, तु, पूर्वे, तदवधेः ।

पदार्थोक्ति—अनारब्धकार्ये एव—ययोः फलं नारब्धं ते एव पूर्वे—सञ्चिते पुण्यपापे [ज्ञानान्नश्यतः, कुतः ?] तदवधेः—'तस्य तावदेव' इत्यादिश्रुत्या देहपातावधिश्रवणात् ।

भाषार्थ—जिनका फल आरब्ध नहीं है, ऐसे सञ्चित पुण्य और पाप ज्ञानसे नष्ट होते हैं, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि श्रुतिसे देहविनाश-रूप अवधि श्रुत है ।

भाष्य

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः, स किमविशेषेणाऽऽरब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणाऽनारब्ध-कार्ययोरेवेति विचार्यते । तत्र 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति ।

भाष्यका अनुवाद

पिछले दो अधिकरणोंमें ज्ञानसे सुकृत और दुष्कृतका विनाश निश्चित किया जा चुका है । यह सुकृत और दुष्कृतका विनाश जिनके कार्यका आरम्भ हो गया है और जिनके कार्यका आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे पुण्य-पापका अविशेष—समान रीतिसे होता है या विशेषसे अनारब्ध कार्यका ही होता है, इसपर विचार किया जाता है ।

पूर्वपक्षी—उसमें 'उभे उ हैवैष एते०' (यह ब्रह्मवेत्ता इन दोनोंको—पुण्य-लक्षण और पापलक्षण कर्मोंको तैर जाता है) इत्यादि श्रुतियोंमें समानरूपसे श्रवण होनेके कारण अविशेषसे ही क्षय होता है ।

रत्नप्रभा

अनारब्धकार्ये एव तु । उक्तकर्मक्षयं विषयीकृत्य "क्षीयन्ते चास्य" इत्य-विशेषश्रुतेः "तस्य तावदेव चिरम्" इति श्रुतेश्च संशयमाह—पूर्वयोरिति । जीवन्मुक्त्यसिद्धिः, तत्सिद्धिश्चेति उभयत्र फलम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अनारब्धकार्ये एव तु०" उक्त कर्मक्षयका अवलम्बन करके 'क्षीयन्ते चास्य' इस अविशेष श्रुति-का और 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि श्रुतिका संशय कहते हैं—"पूर्वयोः" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें जीवन्मुक्तिकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें जीवन्मुक्तिकी सिद्धि फल है । पूर्वसिद्धान्तके

भाष्य

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अनारब्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयेते न त्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्। कुत एतत्? 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिकरणात् क्षेमप्राप्तेः। इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत, तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत। ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोधः कर्माणि क्षपयन्कथं कानिचित् क्षपयेत् कानि-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'अनारब्ध कार्ये एव'। पूर्व जन्ममें संचित किये गये, इस जन्ममें भी ज्ञानकी उत्पत्तिके पूर्वतक संचित किये गये और जिनका फल प्रवृत्त नहीं हुआ है, ऐसे पूर्व सुकृत और दुष्कृत ज्ञानकी प्राप्तिसे क्षीण होते हैं, परन्तु आरब्ध कार्य, जिनका आधा फल उपभुक्त हो गया है, जिन पुण्य और पापोंसे इस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका अधिष्ठानभूत यह जन्म निर्मित हुआ है, वे क्षीण नहीं होते। यह किससे ज्ञात हुआ? इससे कि 'तस्य तावदेव चिरम्' (उस आचार्यवान् पुरुषको सदात्मस्वरूप सम्पत्तिमें तभीतक विलम्ब है जबतक देहपात नहीं होता। देहपात होनेपर तुरन्त ही वह सत्सम्पन्न हो जाता है) इस प्रकार शरीरपात क्षेमप्राप्तिका अवधि किया गया है। यदि ऐसा न हो, तो ज्ञानसे अशेष कर्मोंका क्षय होनेपर देहस्थितिके हेतुका अभाव होनेसे ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर ही उसी क्षणमें विद्वान्‌को क्षेमका उपभोग प्राप्त होगा, उसके लिए शरीरपातकी बाट न देखनी पड़ेगी। परन्तु आत्मा अकर्ता है, ऐसा यह बोध वस्तुसामर्थ्यसे ही कर्मका नाश करता है, तो उनमेंसे कितने ही कर्मोंका नाश करे और कितनोंकी उपेक्षा करे, ऐसा

रत्नप्रभा

पूर्वसिद्धान्तन्यायेन पूर्वपक्षप्राप्तौ उक्तोत्सर्गतः कर्मक्षतिः प्रारब्धान्यकर्मविषयेत्यपवादं सिद्धान्तयति—एवमिति। सामिशब्दः अर्धवाचकः, प्रारब्धाद्यावन्न

रत्नप्रभाका अनुवाद

न्यायसे पूर्वपक्षकी प्राप्ति होनेपर कथित उत्सर्गसे कर्मक्षय आरब्ध कर्मसे भिन्न कर्मपरक है, इस प्रकार अपवादको सिद्धान्तरूपसे कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। सामिशब्द अर्धवाचक है, प्रारब्धसे

भाष्य

चिन्नोपेक्षेत। नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद्बीजशक्तिः क्षीयते केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति। उच्यते—न तावदनाश्रित्याऽऽरब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्याऽन्तराले प्रतिबन्धासंभवाद् भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्। अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति, बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत् संस्कारवशात् कंचित् कालमनुवर्तत एव। अपि

भाष्यका अनुवाद

किस प्रकार होगा ? अग्नि और बीजोंका संसर्ग समानरूपसे हो, तो उनमेंसे कुछकी बीजशक्ति क्षीण हो और कुछकी न हो, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसपर कहते हैं—जिसके कार्यका आरम्भ हुआ है, ऐसे कर्माशयका आश्रयण किये बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। और उसका आश्रय करनेपर कुम्हारके चक्रके समान जिसका वेग उत्पन्न हो गया है उसके वेगका बीचमें प्रतिबन्ध न हो सकनेसे जबतक वेगका क्षय न हो, तब तक प्रतीक्षा करनी होगी। निश्चय, आत्मा अकर्ता है, ऐसा आत्मबोध ही मिथ्याज्ञानका बाध कराकर कर्मोंका उच्छेद करता है। बाधित हुआ भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रके ज्ञानके समान संस्कारके कारणसे थोड़े समय तक अनुवृत्त होता है और ब्रह्मवेत्ता थोड़े समय तक शरीर धारण करता है या नहीं, इस विषयमें विवाद

रत्नप्रभा

विमुच्यते, तावानेव विलम्बः, तन्मोक्षे ब्रह्म सम्पद्यते इति श्रुत्यर्थः। देहपातावधिलिङ्गात्, तत्त्वविदां याज्ञवल्क्यादीनां देहधारणश्रुतिस्मृतिलिङ्गाच्च प्रारब्धकर्मणस्तत्त्वज्ञानं प्रति हेतुत्वेनोपजीव्यत्वाच्च, प्राबल्यसिद्धेस्तत्प्रतिबद्धं तत्त्वज्ञानं तत्सिद्ध्यर्थम् अविद्यांशं विक्षेपशक्त्याख्यं विहायाऽऽवरकाविद्यांशं नाशयतीत्याह—उच्यते

रत्नप्रभाका अनुवाद

जबतक मुक्त नहीं होता है तबतक ही उसके मोक्षमें विलम्ब है अर्थात् अनन्तर ब्रह्मके साथ सम्पन्न होता है, यह ['तस्य तावदेव' इत्यादि] श्रुतिका अर्थ है। देहनाशकी अवधिरूप लिङ्गसे याज्ञवल्क्य आदि तत्त्ववेत्ताओंके देहधारणकी श्रुति और स्मृतिके प्रामाण्यसे एवं तत्त्वज्ञानके प्रति हेतुरूपसे उपजीव्य आरब्ध कर्मोंकी प्रबलता होनेसे उस प्रारब्ध कर्मसे प्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान जीवन्मुक्तिकी सिद्धिके लिए विक्षेपशक्ति नामक अविद्याके अंशका नाशकर आवरक अविद्यांशका भी नाश करता है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते न तावत्" इत्यादिसे। विक्षेपक अविद्याका लेश ही

भाष्य

च नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते, न वा ध्रियत इति । कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चाऽपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत । श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते । तस्माद्-नारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात् क्षय इति निर्णयः ॥१५॥

भाष्यका अनुवाद

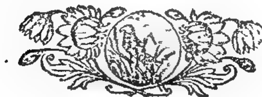
नहीं ही करना चाहिए, क्योंकि एक पुरुषको अपने अपने हृदयसे जिसकी प्रतीति हो सकती है, ऐसे ब्रह्मविज्ञान और देहधारणका अन्य पुरुषसे आक्षेप नहीं किया जा सकता ? श्रुतिमें और स्मृतिमें स्थितप्रज्ञके लक्षणके निर्देशसे यही कहा जाता है । इससे अनारब्धकार्य सुकृत और दुष्कृतका ही विद्या-सामर्थ्यसे क्षय होता है, ऐसा निर्णय है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

न तावदिति । विक्षेपकाविद्यालेश एव तत्संस्कारः । शिष्यान् प्रति जीवन्मुक्तौ स्वानुभवमाह—अपि च नैवेति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका संस्कार है । शिष्योंके प्रति जीवन्मुक्तिके विषयमें अपना अनुभव कहते हैं—"अपि च नैव" इत्यादिसे ॥ १५ ॥



[१२ अग्निहोत्राद्यधिकरण सू० १६–१७]

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्म विनश्यति ।
यतोऽयं वस्तुमहिमा न क्वचित् प्रतिहन्यते ॥१॥
अनुपक्तफलांशस्य नाशेऽप्यन्यो न नश्यति ।
विद्यायामुपयुक्तत्वात् भाव्यश्लेपस्तु काम्यवत् ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मोंका ज्ञानसे नाश होता है ? या नहीं ?

पूर्वपक्ष—उक्त कर्म नष्ट होते हैं, क्योंकि अकर्त्रात्मक वस्तुकी महिमा—सामर्थ्य सर्वत्र अप्रतिहत है ।

सिद्धान्त—नित्य कर्मोंके अनुपक्तफलांशका नाश होनेपर भी अन्य चित्तशुद्धिप्रद अंश नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह विद्यामें उपयोगी है और उसका असम्बन्ध तो काम्य कर्मके समान ही है ।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

पदच्छेद—अग्निहोत्रादि, तु, तत्कार्याय, एव, तद्दर्शनात् ।

पदार्थोक्ति—अग्निहोत्रादि तु—नित्यनैमित्तिकाग्निहोत्रादिकर्मजातं तु, तत्कार्याय एव—तस्य ज्ञानस्य यत्कार्यं मोक्षरूपं तस्मै, एव [कुतः ?] तद्दर्शनात्—यज्ञादिश्रुतौ तस्य ज्ञानहेतुत्वस्य दर्शनात्, इति भावः ।

भापार्थ—अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक कर्मसमूह तत्त्वज्ञानसाध्यमोक्षरूप कार्यके लिए हैं, क्योंकि यज्ञादिश्रुतिमें कर्मादिकी ज्ञानहेतुताका प्रतिपादन किया गया है ।

---

* सारांश यह है कि ज्ञानके पूर्वमें इस जन्म या जन्मान्तरमें अनुष्ठित जो अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म है, उसका भी काम्यकर्मके समान अकर्त्रात्मक वस्तुकी अर्थात् निर्गुण आत्माकी सामर्थ्यसे नाश मानना चाहिए ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि नित्यकर्मके दो अंश हैं—एक तो प्रधान चित्तशुद्धिप्रद अंश अर्थात् चित्तकी शुद्धि करनेवाला अंश और द्वितीय आनुषङ्गिक स्वर्गप्रद अंश माने स्वर्गरूप फल देनेवाला द्वितीय अंश । उसमें द्वितीय अंशका भले ही नाश मानो, परन्तु चित्तशुद्धिप्रद जो अंश है उसका नाश नहीं कह सकते, क्योंकि वह विद्यामें उपयुक्त है । लोकमें भोगसे क्षीण होनेवाले मीठादि अन्नका नाश नहीं कहते हैं, और तत्त्वज्ञानके बाद जो नित्यादि कर्म है, उसका काम्यके समान अश्लेष—असम्बन्ध है । इसलिए उक्त व्यवस्था युक्त है ।

भाष्य

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्टः । सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति—अग्निहोत्रादि त्विति । तुशब्द आशङ्कामपनुदति यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः । कुतः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिदर्शनात् । ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात् कार्यैकत्वानुपपत्तिः । नैष दोषः । ज्वरमरणकार्ययोरपि

भाष्यका अनुवाद

पुण्यके भी अश्लेष और विनाशमें पापके न्यायका अतिदेश किया है। वह अतिदेश सब पुण्योंमें लागू होता है, ऐसी शंका करके उसका निराकरण करते हैं—'अग्निहोत्रादि तु' इत्यादि सूत्रसे। तुशब्द आशंकाका निरसन करता है जो वैदिक अग्निहोत्रादि नित्य कर्म हैं, वे उस कार्यके लिए ही होते हैं। ज्ञानका जो कार्य है वही इनका कार्य है, ऐसा अर्थ है। किससे? 'तमेतं वेदानुवचनेन०' (वेदके अध्ययनसे, यज्ञसे और दानसे ब्राह्मण उस उपनिषद्गम्य पुरुषको जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतिमें देखा जाता है। परन्तु ज्ञान और कर्मके कार्य भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनका एक कार्य होना अनु-

रत्नप्रभा

अग्निहोत्रादि तु० । नित्यं नैमित्तिकं कर्म ज्ञानात् नश्यति न वेति सन्देहे 'उभे पुण्यपापे तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यविशेषश्रुतेर्नश्यति इत्याशङ्क्य उत्तरस्याऽपीत्युक्तातिदेशस्य नित्याद्यतिरिक्तकाम्यपुण्यविषयत्वेन अत्राऽपवादं सिद्धान्तयति—पुण्यस्येत्यादिना । अत्र पूर्वपक्षे ज्ञानार्थं नित्याद्यनुष्ठानासिद्धिः पङ्कक्षालनन्यायात्, सिद्धान्ते तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात् तत्सिद्धिरिति विवेकः । अत्र भाष्ये ज्ञानकर्मणोः साक्षादेककार्यत्वं परमतेनोक्त्वा, साक्षात्पारम्पर्याभ्यां मोक्षहेतुत्वं स्वम-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अग्निहोत्रादि तु०" इत्यादि । नित्य और नैमित्तिक कर्म ज्ञानसे नष्ट होते हैं अथवा नहीं, इस प्रकार सन्देह होनेपर 'उभे पुण्यपापे तरति' (दोनों अर्थात् पुण्य और पापको तैरता है) इस प्रकार अविशेष श्रुतिसे नष्ट होते हैं, इस प्रकार आशङ्का करके 'उत्तरस्याऽपि' इससे उक्त अतिदेशके नित्यादिसे अतिरिक्त अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कर्मसे अतिरिक्त काम्यपुण्यविषयक होनेसे अपवादका यहाँ सिद्धान्त करते हैं—"पुण्यस्य" इत्यादिसे । इस पूर्वपक्षमें पङ्कक्षालनन्यायसे ज्ञानके लिए नित्यका अनुष्ठान असिद्ध है, सिद्धान्तमें तो ज्ञानोत्पत्ति प्रयोजन होनेसे नित्यादिका अनुष्ठान सिद्ध है, इस प्रकार विवेक है । इस भाष्यमें ज्ञान और

भाष्य

दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्। तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञान-संयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः। नन्वनारभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्य-त्वमुच्यते। नैष दोषः; आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अत एव चातिक्रान्तविषयमेव-त्कार्यैकत्वाभिधानम्। नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति। अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याऽविषयत्वात्। सगुणासु तु विद्यासु

भाष्यका अनुवाद

पपन्न है। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि ज्वर और मरण जिनके कार्य हैं, ऐसे दधि और विष भी गुड और मन्त्रसे संयुक्त होनेपर तृप्ति और पुष्टि-रूपी कार्य करते देखे जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञानसंयुक्त कर्मका भी मोक्षरूपी कार्य हो सकता है। परन्तु मोक्ष अनारभ्य—किसी साधनसे साध्य नहीं है अर्थात् नित्य है। वह कर्मका कार्य है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? नहीं, अनारभ्य मोक्ष कर्मका कार्य नहीं हो सकता, यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म आरादुपकारक है, ज्ञानका ही प्रापक—प्राप्त करानेवाला होकर कर्मपरम्परासे मोक्षका कारण है, ऐसा उपचार किया जाता है। इसलिए यह एककार्यत्वका कथन अतिक्रान्त कर्मोंके लिए है। कारण कि ब्रह्मवेत्ताके आगामी—ज्ञानके पश्चात् होनेवाले अग्निहोत्रादिका सम्भव नहीं है, क्योंकि अनियोज्य ब्रह्मा-त्मत्वज्ञान शास्त्रका विषय नहीं है। सगुणविद्यामे तो कर्तृत्वकी निवृत्ति नहीं

रत्नप्रभा

तमुक्तमिति मन्तव्यम्। अत एवेति। ज्ञानादूर्ध्वं कर्माभावात् पूर्वकर्मविषयमित्यर्थः। निर्गुणविद्यायाः कर्मसाहित्यं तृप्तिं प्रति भोजनस्य लाङ्गलेनेव दर्शितम्, सम्प्रति सगुणविद्यापरत्वेन सूत्रस्याऽऽञ्जस्यमाह—सगुणास्विति ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मका साक्षात् एक कार्य ही है, ऐसा परमत कहकर साक्षात् परम्परासे मोक्ष हेतु है, इस प्रकार स्वमतका प्रतिपादन किया, यह जानना चाहिए। अत एव—यह ज्ञानके बाद कर्मोंका अभाव होनेसे पूर्व कर्मपरक है। निर्गुण विद्याके साथ कर्मका साहित्य तृप्तिके प्रति भोजनके साथ लाङ्गलके समान बतलाया गया है, अब सगुण विद्यापरक मानकर सूत्रका सामञ्जस्य कहते हैं—"सगुणासु" इत्यादिसे ॥ १६ ॥

भाष्य

कर्तृत्वानिवृत्तेः सम्भवत्याराम्यप्यग्निहोत्रादि। तस्याऽपि निरभिसन्धिनः कार्यान्तराभावात् विद्यासङ्गत्युपपत्तिः ॥ १६ ॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेपविनाशवचनं किंविषयं वाऽदो विनियोगवचनमेषां शाखिनाम् 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

होती, इसलिए सगुणज्ञानके पश्चात् अग्निहोत्रादि हो सकते हैं। फलकी इच्छासे रहित होनेसे उस कर्मका भी दूसरा फल न होनेसे विद्याकी सङ्गति उपपन्न होती है ॥ १६ ॥

तब यह पूर्वोक्त अश्लेप और विनाशका वचन किसके लिए है, इसी प्रकार कुछ शाखावालोंका 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति०' (उसके पुत्र दाय पाते हैं, मित्र साधुकृत्य और शत्रु पापकृत्य) यह विनियोग वचन किसके लिए है, ऐसा प्रश्न होनेसे 'अतोऽन्यापि' यह उत्तर सूत्र कहते हैं—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

पदच्छेद—अतः, अन्या, अपि, हि, एकेषाम्, उभयोः।

पदार्थोक्ति—एकेषाम्—काण्वानां शाखायाम्, अतः—अग्निहोत्रादेः अन्या—पृथग्भूता स्वर्गादिसाधनीभूता क्रियापि, उभयोः जैमिनिबादरायणयोः [सम्मता, साऽपि ब्रह्मज्ञानेन नश्यति, इति भावः]।

भाषार्थ—काण्वोंकी शाखामें अग्निहोत्रादिसे अन्य स्वर्गादिसाधनीभूत क्रिया है और वह क्रिया जैमिनि और बादरायण दोनोंको अभीष्ट है, परन्तु इसका ब्रह्मज्ञानसे नाश भी है।

भाष्य

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात् कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या, या फलम-

भाष्यका अनुवाद

इससे—अग्निहोत्रादि नित्य कर्मसे—अन्य भी साधु कृत्य है, जो फलके

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रार्थं गृह्णाति—किमित्यादिना। यत् प्रारब्धादन्यत् काम्यं पुण्यं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्तर सूत्रके लिए ग्रहण—अवतरण करते हैं—"किम्" इत्यादिसे। जो प्रारब्धसे अन्य

भाष्य

भिसन्धाय क्रियते, तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति। तस्या एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति। एवंजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे सम्प्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

उद्देश्यसे किया जाता है। उसी कृत्यका कुछ शाखावालोंने विनियोग कहा है—'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' (इसके मित्र इसके साधुकृत्य पाते हैं)। उसीका पापके समान अश्लेष और विनाश है, ऐसा 'इतरस्याप्येवमश्लेषः' इस सूत्रमें निरूपण है। इस प्रकारके काम्यकर्मोंके विद्याके प्रति अनुपकारक होनेमें जैमिनि और बादरायण दोनों आचार्योंकी सम्मति है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

पापञ्च तदेव विद्वत्सुहृद्द्विषतोः स्वसमानजातीयं कर्म जनयति, स्वयञ्च ज्ञानात् नश्यतीति भावः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

काम्य पुण्य या पाप है वह तत्त्ववेत्ताके मित्र और शत्रुके लिए अपने समानजातीय कर्मकी उत्पत्ति करता है और स्वयं ज्ञानसे नष्ट होता है, ऐसा भाव है ॥ १७ ॥

[१३ विद्याज्ञानसाधनाधिकरण सू० १८]

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत।
केवलं वा, प्रशस्तत्वात् सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥ १ ॥
केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम्।
इति श्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या उपासनाविशिष्ट नित्यकर्म विद्याका उपयोगी है अथवा उपासनासे रहित—केवल नित्यकर्म विद्याका उपयोगी है ?

पूर्वपक्ष—उपासनाविशिष्ट कर्म ही विद्याका उपयोगी है, क्योंकि वही विद्याके साधनमें प्रशस्त होनेसे उपयुक्त होता है।

सिद्धान्त—केवल कर्म वीर्यवत् है और उपासनाविशिष्ट वीर्यवत्तर है, इस अर्थकी बोधिका श्रुतिसे तारतम्यसे दोनों कर्म विद्याके साधन हैं।

* भाव यह है कि विद्याका साधनीभूत नित्यकर्म दो प्रकारसे विभाजित किया जा सकता है,

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

पदच्छेद—यद्, एव, विद्यया, इति, हि ।

पदार्थोक्ति—यत्–कर्म, विद्यया—अङ्गावबद्धोपासनया [सहकृतं तद्] एव हि [कर्म अस्मिन् जन्मनि ब्रह्मज्ञानसाधनम्, कुतः ? 'यदेव विद्यया' इति उपासनासहकृतस्यैव कर्मणः अविलम्बेन ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनात् ।

भाषार्थ—अङ्गाश्रित उपासनासे जो कर्म सहकृत है, वही इस जन्ममें ब्रह्मज्ञानका साधन हो सकता है, क्योंकि 'यदेव विद्यया' इत्यादि श्रुति उपासना-सहकृत कर्मको ही ज्ञानका साधन कहती है ।

भाष्य

सुसमधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्याग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं

भाष्यका अनुवाद

मुमुक्षु द्वारा मोक्षके उद्देश्यसे किये गये नित्य अग्निहोत्रादि कर्म संचित पापके क्षयहेतु द्वारा सत्त्वशुद्धिके कारण होकर मोक्षप्रयोजन जो ब्रह्मका ज्ञान है, उसके निमित्तरूपसे ब्रह्मविद्याके साथ एक कार्य उत्पन्न करनेवाले होते हैं, ऐसा पिछले अधिकरणमें ज्ञात हुआ है। उसमें अग्निहोत्रादि

रत्नप्रभा

यदेव विद्ययेति हि । उक्तनित्यादिकं विषयमुपजीव्य सबीजं संशयमुक्त्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

"यदेव विद्ययेति हि" । कहे हुए नित्य आदि कर्मरूप विषयका अवलम्बन करके सकारण

एक तो अङ्गाश्रित उपासनाविशिष्ट नित्यकर्म और दूसरा उससे रहित केवल—शुद्ध नित्यकर्म । इस परिस्थितिमें उपासनाविशिष्ट कर्मके प्रशस्त होनेके कारण वही विद्याका साधन है, उपासना-रहित विद्याका साधन नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (उपासनाविशिष्ट कर्म वीर्यवत्तर होता है) यह श्रुति उपासना युक्त कर्मको वीर्यवत्तर—अधिकशक्तिशाली कहती है, इससे ज्ञात होता है कि केवल शुद्ध कर्म याने उपासनासे रहित कर्म बलवान् तो है ही। इतरथा तरप् प्रत्ययका प्रयोग निरर्थक होगा। इससे सोपासन और निरुपासन कर्म तारतम्यसे विद्याके साधन हैं, यह ज्ञात होता है ।

भाष्य

भवतीति। तत्राऽग्निहोत्रादिकर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति—'य एवं विद्वान् यजति' 'य एवं विद्वाञ्जुहोति' 'य एवं विद्वाञ्छंसति' 'य एवं विद्वानुद्गायति' 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४।१७।१०) 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति केवलमप्यस्ति। तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाऽग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते, न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाऽविशेषेणेति। कुतः संशयः ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणाऽऽत्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्, विद्यासंयुक्तस्य चाऽग्निहोत्रादे-

भाष्यका अनुवाद

कर्म, अङ्गके साथ जुटी हुई विद्याके सहकृत भी हैं और केवल—असहकृत भी हैं—'य एवं विद्वान् यजति' (जो ऐसा जानकर याग करता है), 'य एवं विद्वान् जुहोति' (जो ऐसा जानकर होम करता है), 'य एवं विद्वान् गायति' (जो इस प्रकार जानकर गाता है), 'तस्मादेवं विदमेव' (इससे, ऐसा जाननेवालेको ही ब्रह्मा करे, ऐसा न जाननेवालेको न करे), 'तेनोभौ कुरुतो०' (उससे दोनों कर्म करते हैं, जो इसको इस प्रकार जानता) इत्यादि वचनोंसे अग्निहोत्रादि कर्म विद्यासंयुक्त और केवल भी हैं। इसमें यह विचार किया जाता है कि क्या विद्यासंयुक्त ही अग्निहोत्रादि कर्म मुमुक्षुकी विद्याके हेतुरूपसे विद्याके साथ एक कार्य उत्पन्न करते हैं, केवल (अग्निहोत्रादि कर्म) नहीं करते, या विद्यासंयुक्त (कर्म) और केवल (कर्म) अविशेषसे—विद्याके साथ एक कार्य उत्पन्न करते हैं। किससे संशय होता है ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन०' (उस इस उपनिषद्गम्य आत्माको यज्ञ द्वारा जानना चाहते हैं) इस

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षमाह—विद्यासंयुक्तमेवेति। अत्र पूर्वपक्षे कर्माङ्गोपास्तिहीनकर्मणो ज्ञानार्थत्वासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः। भवतु विद्याविशिष्टस्य कर्मणो ज्ञानं

रत्नप्रभाका अनुवाद

संशय कहकर पूर्वपक्ष कहते हैं—"विद्यासंयुक्तमेव" इत्यादिसे। इस पूर्वपक्षमें कर्माङ्ग उपासनासे रहित कर्मके ज्ञानार्थत्वकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है, ऐसा फलभेद है। विद्यायुक्त कर्ममें ज्ञानके प्रति शीघ्रकारित्वरूप कोई अतिशय भले ही हो, विद्याके

भाष्य

विशिष्टत्वावगमात्। किं तावत् प्राप्तं? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते, न विद्याहीनम्, विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद् विद्याविहीनात्, 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २। ३९) 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २। ४९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—यदेव विद्ययेति हि। सत्यमेतत्। विद्यासंयुक्तं कर्माऽग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात् कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टम्, विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद् ब्राह्मणात्। तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माऽग्निहोत्रादिकम्। कस्मात्? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्य-

भाष्यका अनुवाद

प्रकार यज्ञादिके अविशेषसे आत्मज्ञानके अङ्गरूपसे श्रुतिमें कथित होनेसे और विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि विशिष्ट हैं, ऐसा ज्ञात होनेसे। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—विद्यासंयुक्त ही अग्निहोत्रादि कर्म आत्मविद्याके अंग होते हैं, विद्याहीन नहीं होते, क्योंकि विद्यासे युक्त कर्म विद्यासे रहित कर्मसे विशिष्ट है, ऐसा अवगत होता है, कारण कि 'यदहरेव जुहोति' (ऐसा जाननेवाला जिसी दिन होम करता है, उसी दिन मृत्युको जीतता है) इत्यादि श्रुति है, और 'बुद्ध्या युक्तो यया०' (जिस योगविषयक बुद्धिसे युक्त होकर, हे अर्जुन, तू कर्मरूपी बन्धनका त्याग करेगा), 'दूरेण ह्यवरं कर्म' (कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें समत्वबुद्धिसे युक्त ईश्वरके आराधनार्थ किये गये कर्मसे फलोद्देशसे किया गया कर्म अत्यन्त अपकृष्ट है) इत्यादि स्मृतिवचन हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर उत्तर देते हैं—'यदेव विद्ययेति हि'। यह ठीक है। विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म विद्याविहीन अग्निहोत्रादि कर्मसे विशिष्ट हैं, जैसे विद्वान् ब्राह्मण विद्याहीन ब्राह्मणसे विशिष्ट है, वैसे ही। तो भी विद्याविहीन अग्निहोत्रादि अत्यन्त अनपेक्षित नहीं हैं। किससे? 'तमेत-

रत्नप्रभा

प्रति शीघ्रकारित्वाख्यः कश्चिदतिशयः विद्यासामर्थ्यात्। नैतावता केवलस्य वैयर्थ्यम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रभावसे, परन्तु इससे केवल कर्म निरर्थक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ऐसा माननेपर

भाष्य

विशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात् । ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम् । नैतदेवम् । विद्यासहायस्याऽग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम्, न तु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राऽविशेषेणाऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरङ्गनत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्। तथा हि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १ । १ । १०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति । कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं

भाष्यका अनुवाद

मात्मानं०' (इस उपनिषद्गम्य आत्माको यज्ञ द्वारा जानना चाहते हैं) इस प्रकार अविशेषसे अग्निहोत्रादि विद्याका हेतु श्रुतिमें कहा गया है। परन्तु विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि विद्याविहीन अग्निहोत्रादिसे विशिष्ट हैं, ऐसा श्रुतिसे ज्ञात होता है, इससे विद्याहीन अग्निहोत्रादि आत्मविद्याके हेतुरूपसे अनपेक्ष ही हैं, यह युक्त है। नहीं, यह ऐसा नहीं। विद्यासहित अग्निहोत्रादिका, विद्यासे उत्पन्न हुई अतिशयसामर्थ्यसे आत्मज्ञानके प्रति किसी एक कारणरूपसे अतिशय होगा। विद्याविहीन अग्निहोत्रादिका ऐसा अतिशय नहीं होगा, ऐसी कल्पना करना युक्त है, परन्तु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' (यज्ञसे जानना चाहते हैं) इसमें अविशेषसे आत्मज्ञानके अंगरूपसे कहे गये अग्निहोत्रादि विद्याके अनंग हैं, ऐसा स्वीकार युक्त नहीं है, क्योंकि 'यदेव विद्यया करोति' (विद्यासे युक्त होकर श्रद्धा और योगसे युक्त होकर जो कर्म करता है वह वीर्यवत्तर—अविद्वान्के कर्मसे अधिक फलवाला होता है) यह श्रुति विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म अधिक वीर्यवाले हैं, ऐसा कहकर स्वकार्यके प्रति इस कर्मका कुछ अतिशय कहकर विद्याविहीन वही कर्म उस प्रयोजनके प्रति वीर्यवाला है, ऐसा दिखलाती है, और कर्मका वीर्यवत्त्व अपना प्रयोजन सिद्ध करनेकी

रत्नप्रभा

विविदिषाश्रुतिविरोधात् । न च तत्र श्रुतौ यज्ञादिशब्दानां विद्योपेतकर्मपरतया

रत्नप्रभाका अनुवाद

विविदिषा श्रुतिका विरोध होगा। यदि शङ्का हो कि उस श्रुतिमें यज्ञादिशब्दोंको विद्यायुक्त

भाष्य

सद्यस्त्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम् । तस्माद् विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धातात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम् ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

शक्ति है। इसलिए विद्यासंयुक्त नित्य अग्निहोत्रादि और विद्याविहीन दोनों मुमुक्षुसे मोक्षरूपी प्रयोजनके उद्देशसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें ज्ञानोत्पत्तिके पूर्वमें किये गये अपनी सामर्थ्यके अनुसार ब्रह्मज्ञानके प्रतिबन्धके कारण उपात्त दुरितके क्षयके हेतु द्वारा ब्रह्मज्ञानके कारण होकर श्रवण, मनन, श्रद्धा, तात्पर्य आदि अन्तरंग कारणोंकी अपेक्षासे ब्रह्मविद्याके साथ एक कार्य उत्पन्न करते हैं, यह सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

संकोचो युक्तः । हि यतः । 'यदेव विद्यया' इति श्रुतिः केवलस्याऽपि वीर्यवत्त्वं गमयतीति सिद्धान्तग्रन्थार्थः ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कर्मपरक मानकर संकोच हो सकता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'यदेव विद्यया' इत्यादि श्रुति केवल कर्मकी भी बलवत्ताका बोधन करती है, इस प्रकार सिद्धान्तग्रन्थका रहस्य है ॥ १८ ॥



[१४ इतरक्षपणाधिकरण सू० १९]

बहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् ।
विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं तेन नास्ति मुक् ॥ १ ॥
प्रारब्धं भोजयेदेव न तु विद्यां विलोपयेत् ।
*सुप्तबुद्धवदश्लेशतादवस्थ्यात् कुतो न मुक्** ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अनेक जन्मप्रद आरब्ध कर्मोंसे युक्त अधिकारी पुरुषोंकी मुक्ति होती है अथवा नहीं होती ?

पूर्वपक्ष—किया गया कर्म फल देनेवाला होता है, अतः उससे विद्याका लोप होनेपर उन पुरुषोंकी मुक्ति नहीं होती ।

सिद्धान्त—आरब्ध कर्म भोग कराता है न कि विद्याका लोप करता है, अतः सोकर जागे हुएके समान कर्मोंका असम्बन्ध तदवस्थ होनेके कारण मुक्ति क्यों नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

पदच्छेद—भोगेन, तु, इतरे, क्षपयित्वा, सम्पद्यते ।

पदार्थोक्ति—इतरे तु—अन्ये तु अनारब्धे पुण्यपापे, भोगेन—भोगद्वारा क्षपयित्वा—नाशयित्वा, सम्पद्यते—विद्वान् भवति ।

भाषार्थ—अन्य अनारब्ध पुण्य और पापोंका भोगसे नाश करके विद्याको प्राप्त करता है ।

---

* सारांश यह है कि अधिकारी पुरुषोंकी मुक्ति नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध कर्मोंके भोगके लिए अनेक जन्मोंके स्वीकार करनेपर उसमें पूर्वार्जित विद्यामें जो कर्म किया जायगा उसके फलप्रद होनेसे उत्तरोत्तर जन्मपरम्परा अवश्यंभावी है ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि आरब्धकर्म अपना सुख-दुःखात्मक जो फल है, उसीका उपभोग कराता है, क्योंकि वह उसीके लिए प्रवृत्त है । विद्याके लोपके लिए कर्म पूर्वमें अनुष्ठित नहीं है, जिससे कि कर्मके कारण विद्याका लोप प्रसक्त हो और इसकी आशंका की जाय । मरणके व्यवधानसे भी विद्याका लोप प्रसक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिके व्यवधानसे विद्याका लोप नहीं देखा जाता है । अतः विद्याके रहते अनेक क्रियमाण कर्मोंसे असम्बन्ध होनेसे अधिकारियोंकी मुक्ति है । यद्यपि इसका ऊहापोह गुणोपसंहारपादमें किया गया है, तथापि उसीके आक्षेप और समाधान किये गये हैं ।

भाष्य

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात् क्षय उक्तः, इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६ । १४ । २) इति 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः। ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग् देहपाताद् भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनाऽनुवृत्तम्, एवं पश्चादप्यनुवर्तेत । न; निमित्ताभावात् । उपभोगशेषक्षपणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तम्, न च तादृशमत्र

भाष्यका अनुवाद

अनारब्धकार्य पुण्य और पापका विद्यासामर्थ्यसे क्षय कहा जा चुका है। अन्य आरब्धकार्य—जिनके कार्यका आरम्भ हो चुका है, ऐसे पुण्य पापका उपभोगसे क्षय करके पुरुष ब्रह्मसम्पन्न होता है, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न०' (उस आचार्यवान् पुरुषको उतने ही काल तक [सदात्मस्वरूपसम्पत्तिमें] विलम्ब होता है जबतक कि उसका देहपात नहीं होता, देहपात होते ही वह तुरन्त सत्स्वरूपमें सम्पन्न हो जाता है), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर ब्रह्ममें लीन होता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। परन्तु सम्यग्दर्शन होनेपर भी जैसे देहपातके पूर्वमें भेदका दर्शन द्विचन्द्रदर्शन न्यायसे—दो चन्द्रमाओंके दर्शनके न्यायसे अनुवृत्त होता है, वैसे ही देहपातके पीछे भी अनुवृत्त होगा। नहीं—देहपातके अनन्तर भेददर्शन अनुवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसके निमित्तका अभाव है। भोक्तव्य प्रारब्धशेषका क्षपण—भोग, देहपातके पूर्व कालमें जिसे ब्रह्मज्ञान हुआ है, उसके भेददर्शनकी अनुवृत्तिमें निमित्त है।

रत्नप्रभा

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते । तत्त्वविदत्र विषयः । स किं प्रारब्धक्षयानन्तरं संसरति, उत नेति निमित्तभावाभावाभ्यां संशये सिद्धान्तमुपक्रमते—अनारब्धेति । अनारब्धकर्मणः क्षयोक्तौ आरब्धस्य कथं क्षय इत्याकाङ्क्षायामस्योत्थानात् सङ्गतिः । पूर्वपक्षे विदेहकैवल्यासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति भेदः । देहपातोत्तरमपि तत्त्ववित् संसरति, संसारयोग्यत्वात्, यथा देहपातात् पूर्वम्, इत्यनार-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते"। इस अधिकरणका तत्त्ववेत्ता विषय है। वह तत्त्वज्ञानी क्या प्रारब्धक्षयके बाद संसारी होता है या नहीं? इस प्रकार निमित्तके अस्तित्व और अभावसे सन्देह होनेपर सिद्धान्तका आरम्भ करते हैं—"अनारब्ध" इत्यादिसे। अनारब्ध कर्म क्षीण होता है, इस प्रकारकी उक्ति होनेपर आरब्धकर्मका क्षय किस प्रकार होगा? ऐसी आकांक्षामें इसका उत्थान होनेसे सङ्गति है। पूर्वपक्षमें विदेह कैवल्यकी असिद्धि है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है, यह भेद है। देहपातके बाद भी तत्त्ववेत्ता संसारमें रहता है, क्योंकि वह संसारके योग्य है, देहपातकी पूर्वावस्थाके समान, इस प्रकार अनारब्धाधिकरणके दृष्टान्तसे

भाष्य

किंचिदस्ति। नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते—न, तस्य दग्धबीजत्वात्। मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपाते उपभोगान्तरमारभते। तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

किन्तु देहपातके अनन्तर जिसे तत्त्वज्ञान हुआ है, उसमें उस प्रकारका कोई अनुवृत्तिका निमित्त नहीं है। परन्तु दूसरा कर्माशय नूतन उपभोगको उत्पन्न करेगा, नहीं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसका बीज जल गया है। मिथ्या ज्ञान जिसका आधार है ऐसा अन्य कर्म देहपात होनेपर अन्य उपभोग उत्पन्न करता है और वह मिथ्याज्ञान सम्यग् ज्ञानसे जल गया है, इसलिए आरब्ध कार्यका क्षय होनेपर विद्वान्को कैवल्य अवश्य होता है, यह ठीक है ॥ १९ ॥

श्री यतिवर भोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्य भाषानुवादके चतुर्थ अध्यायका प्रथम पाद समाप्त।

रत्नप्रभा

ब्धाधिकरणदृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—नन्विति। भोगनिमित्तकर्माभावाद्धेत्वसिद्धिः। यत्तु सञ्चितं कर्मान्तरं तन्न निमित्तं फलस्य, दग्धमूलत्वात्। अविद्यादयो हि क्लेशाः कर्मणस्तत्फलस्य च मूलम्। तदुक्तं योगशास्त्रे—"क्लेशमूलः कर्माशयः" (पा० यो० सू० २।१२) "सति मूले तद्विपाकः" (पा० यो० सू० २।१३) इति। तच्च मूलं ज्ञानाग्निना दग्धमिति कुतः पुनः संसारः। तस्माद् देहपाते कैवल्यमिति सिद्धम् ॥१९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्यव्याख्यायां (भाष्य) रत्नप्रभायां चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्ष कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। भोगनिमित्त कर्मका अभाव होनेसे हेतुकी असिद्धि है। जो सञ्चित अन्य कर्म है, वह फलका निमित्त नहीं है, क्योंकि वह दग्धमूल है, अविद्या आदि क्लेश कर्मके और उसके फलके मूल हैं। यह योगशास्त्रमें कहा गया है—'क्लेशमूलः कर्माशयः' (कर्माशय क्लेशमूलक है) और 'सति मूले तद्विपाकः' (मूल होनेपर उसका विपाक-फल होता है)। और वह मूल ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो गया है, तो फिर संसार कैसे हो? इससे यह सिद्ध हुआ कि देहपात होनेपर कैवल्य होता है ॥ १९ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित रत्नप्रभाके भाषानुवादमें चतुर्थाध्यायका प्रथम पाद समाप्त।

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्]

[१ वागधिकरण सू० १—२]

वागादीनां स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लयः ।
श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपे विलयस्ततः ॥ १ ॥
न लीयतेऽनुपादाने कार्यवृत्तिस्तु लीयते ।
वह्निवृत्तेर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षकः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—वाग् आदि इन्द्रियोंका जो मनमें लय सुना जाता है, वह स्वरूपसे होता है या वृत्तिसे होता है ?

पूर्वपक्ष—स्वरूपसे ही लय होता है, क्योंकि श्रुतिमें केवल 'वाङ्मनसि' इतना ही कहा गया है, वृत्तिशब्द नहीं है ।

सिद्धान्त—जो उपादान कारण नहीं है, उसमें कार्यका लय नहीं होता है । इससे वाग् आदिका लय वृत्तिरूपसे ही है, जैसे वह्निवृत्तिका जलमें शमन होता है, वैसे, और वाक्शब्द लक्षणावृत्तिसे वृत्तिरूप अर्थका प्रतिपादक है, इसलिए वृत्तिवाचक शब्द नहीं है, इस प्रकार शङ्का भी नहीं हो सकती है ।

---

* सारांश यह है कि छान्दोग्यमें उत्क्रान्तिका क्रम इस प्रकार सुना जाता है—'अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्' (हे सोम्य, मरते हुए इस पुरुषकी वाक् मनमें सम्पन्न होती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज पर देवतामें सम्पन्न—लीन होता है) तात्पर्य यह है कि मरणोन्मुख पुरुषकी वाग् आदि दश इन्द्रियाँ मनमें विलीन होती हैं, यह उक्त श्रुतिसे ज्ञात होता है । इसमें संशय यह होता है कि वह वाक् आदिका विलय स्वरूपसे होता है या वृत्तिसे होता है ? पूर्वपक्षी कहता है कि स्वरूपसे लय होता है, क्योंकि श्रुतिमें 'वाङ्मनसि' इतना ही श्रुत है, वृत्तिशब्दका श्रवण नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—मिट्टीके घड़ेमें इस प्रकारकी व्याप्ति गृहीत है कि उपादानमें ही कार्यका विलय होता है, इसलिए मनके वागादियोंके प्रति उपादान न होनेसे उसमें वाक् आदिका स्वरूपसे विलय नहीं होता है । और वृत्तिका तो अनुपादानमें भी लय हो सकता है, श्रुतिमें वाक् शब्दसे वृत्ति लक्षित होती है, इससे वृत्ति और वृत्तिमान्के साथ अभेदका उपचार होनेसे वाग् आदिकी वृत्तिका मनमें लय होता है ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

पदच्छेद—वाक्, मनसि, दर्शनात्, शब्दात्, च ।

पदार्थोक्ति—वाक्,—वाग्वृत्तिः, मनसि—अन्तःकरणे [लीयते, कुतः] दर्शनात्—मनोवृत्तौ सत्यामेव वाग्वृत्तेर्लयसंदर्शनात्, [ननु तर्हि वाक्छब्दस्य का गतिः ? तत्राह]—शब्दाच्च—वाक्शब्दस्य वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारेण भावव्युत्पत्त्या वा वृत्तिपरत्वेन नयनादित्यर्थः ।

भाषार्थ—अन्तःकरणमें वाग्वृत्तिका ही लय होता है, क्योंकि व्यवहारमें मनकी वृत्तिके विद्यमान रहते ही वाग्वृत्तिका लय देखा जाता है और वृत्ति और वृत्तिमान्‌के अभेदकी विवक्षासे या (उक्तिर्वाक्) इस प्रकारकी भावव्युत्पत्तिसे वाक्शब्द वृत्तिपरक माना जा सकता है, इसलिए प्रयुक्त वाक्शब्दकी अनुपपत्ति भी नहीं है ।

भाष्य

अथाऽपरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन् प्रथमं तावद्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे, समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रा-

भाष्यका अनुवाद

निर्गुण ज्ञानके फलकथनके अनन्तर अपर विद्यामें फलप्राप्तिके लिए देवयान मार्गकी प्रवृत्ति करानेवाले सूत्रकार पहले शास्त्रानुसार उत्क्रान्तिका क्रम कहते हैं । विद्वान्‌की और अविद्वान्‌की उत्क्रान्ति एक-सी होती है, ऐसा आगे

रत्नप्रभा

ॐ ब्रह्मणे नमः ॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । ज्ञानफलोक्त्यनन्तरमुपासनफलं ब्रह्मलोकस्थं वक्तव्यम् । तच्चाऽर्चिरादिमार्गप्राप्यम्, मार्गप्राप्तिश्चोत्क्रान्तिसाध्या । तस्मादुपास्तिफलाक्षिप्तोत्क्रान्तिपादस्याऽस्त्यध्यायसंगतिः । युक्तं चाऽस्य पूर्वपादानन्तर्यं ज्ञानफलोक्त्यनन्तरं वक्तव्योपास्तिफलेनाऽऽक्षिप्तत्वाद् इत्याह—**अथेति** । ज्ञानिन

रत्नप्रभाका अनुवाद

"वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च" । ज्ञानके फलके कथनके बाद उपासनाका ब्रह्मलोकस्थ फल कहना चाहिए । वह अर्चिः आदि मार्गसे प्राप्त होता है और अर्चिः आदि मार्गकी प्राप्ति उत्क्रान्तिसे होती है, इससे उपासनासे आक्षिप्त उत्क्रान्तिपादकी अध्यायके साथ सङ्गति है । और इस पादका पूर्वपादके अनन्तर होना युक्त है, क्योंकि ज्ञानफलके कथनके बाद वक्तव्य जो उपासनाका

भाष्य

न्तिरिति वक्ष्यति। अस्ति प्रायणविषया श्रुतिः 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इति। किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि संपत्तिरुच्यते, उत वाग्वृत्तेरिति विशयः। तत्र वागेव तावन्मनसि सम्पद्यते इति प्राप्तम्। तथा हि श्रुतिरनुगृहीता भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तस्माद् वाच एवायं मनसि प्रलय इति।

भाष्यका अनुवाद

कहेंगे। 'अस्य सोम्य पुरुषस्य०' (हे सोम्य, म्रियमाण पुरुषकी वाणी मनमें लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, तेज पर देवतामें लीन होता है) ऐसी प्रायणविषयक श्रुति है। क्या यहाँ वृत्तिवाली वाणीका ही मनमें लय कहा जाता है या वाणीकी वृत्तिका, ऐसा सन्देह होता है।

पूर्वपक्षी—वाणी ही मनमें लीन होती है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसा माननेसे ही श्रुति अनुगृहीत होती है, अन्यथा लक्षणा माननी होगी। और श्रुति और लक्षणा इन दोनोंमें संशय होनेसे श्रुति ही न्याय्य है, लक्षणा न्याय्य नहीं है। इसलिए वाणीका ही मनमें प्रविलय है।

रत्नप्रभा

इव उपासकस्यापि उत्क्रान्तिः न इत्यत आह—समानेति। विद्वान्—उपासकः, तस्य अनुपासकवत् उत्क्रान्तिः अस्ति, अज्ञत्वाद् इति वक्ष्यते इत्यर्थः। प्रयतः—म्रियमाणस्येत्यर्थः। वाक्पदस्य करणभावव्युत्पत्तिभ्यां करणतद्वृत्त्योर्लयभानात् संशयः, पूर्वपक्षे करणानां स्वरूपलयात् मृतमात्रस्य मुक्तिः, सिद्धान्ते तु संसारसिद्धिः। अनुपादाने मनसि वाचस्तत्स्वरूपलयायोगेन व्यापारमात्रोपशमादिति विवेकः। सूत्रे वृत्तिपदा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

फल है, उससे आक्षिप्त है, ऐसा कहते हैं—"अथ" इत्यादिसे। ज्ञानीके समान उपासककी भी उत्क्रान्ति नहीं है, इसपर कहते हैं—"समान" इत्यादिसे। विद्वान्—उपासक। उसकी उत्क्रान्ति अनुपासककी नाईं है, अज्ञ होनेसे, इस प्रकार आगे कहेंगे, ऐसा अर्थ है। प्रयाण करने वालेका—म्रियमाणका, ऐसा अर्थ है। वाक्शब्दकी करणव्युत्पत्तिसे और भावव्युत्पत्तिसे करण या उसकी वृत्तिके विलयका भान होनेसे संशय होता है [उच्यते अनेन—जिससे कहा जाय इस प्रकार करण व्युत्पत्ति है और उक्तिः वाक्, यह भाव व्युत्पत्ति है] पूर्वपक्षमें करणमात्रोंका स्वरूपलय होनेके कारण जितने मरनेवाले हैं, उन सबकी मुक्ति होगी, और सिद्धान्तमें तो संसारकी सिद्धि

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यते इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते, यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्। पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात् किं परत्रैव विशिंष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षायां वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः। कस्मात्? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्, न तु वाच एव वृत्तिमत्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद् वाच एवाऽयं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम्।

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं कि वाणीकी वृत्तिका मनमें लय होता है। परन्तु जब कि आचार्य 'वाङ्मनसि' (वाणी मनमें) ऐसा पढ़ते हैं, तब वाणीकी वृत्ति, ऐसा व्याख्यान किस प्रकार करते हो? यह बात ठीक है, परन्तु आगे 'अविभागो वचनात्' ऐसा कहेंगे। इससे यहाँ वृत्तिके उपशममात्रकी विवक्षा है, ऐसा समझा जाता है; क्योंकि यदि तत्त्वके प्रलयकी विवक्षा हो, तो सर्वत्र अविभागके समान होनेसे परत्र ही 'अविभाग' ऐसा विशेषण किसलिए देते हैं। इसलिए यहां वृत्तिके उपसंहारकी विवक्षा है। मनोवृत्तिके रहते वाग्वृत्तिका उसमें उपसंहार होता है, ऐसा अर्थ है। किससे? दर्शन होनेसे, क्योंकि मनोवृत्तिके विद्यमान रहते उसमें वाणीकी वृत्तिका प्रथम उपसंहार देखा जाता है। परन्तु वृत्तिवाली वाणीका ही मनमें उपसंहार किसीसे भी नहीं देखा जाता। परन्तु श्रुतिके सामर्थ्यसे

रत्नप्रभा

ध्याहारः कथमिति शङ्कते—कथमिति। उत्तरत्र हि सूत्रकृत् तत्त्वविद इन्द्रियाणां स्वरूपलयं वक्ष्यति। तद्बलाद् इहाऽध्याहार उचितः, अज्ञस्याऽपि इन्द्रियलयसाम्ये वक्ष्यमाणविशेषोक्त्ययोगादिति समाध्यर्थः। प्रकृतावेव विकारलय इति न्याय-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। जो मन उपादान कारण नहीं है, उस मनमें वाक्का स्वरूपसे विलय नहीं हो सकता है, इसलिए केवल व्यापारका लय होता है, इस प्रकार विवेक है। सूत्रमें वृत्तिपदका आक्षेप क्यों किया जाता है? इस प्रकार आशङ्का करते हैं—"कथम्" इत्यादिसे। आगे सूत्रकार तत्त्ववेत्ताओंकी इन्द्रियोंका उपशम स्वरूपतः कहेंगे, इसलिए यहाँ भी अध्याहार करना समुचित है। यदि अज्ञकी इन्द्रियोंका विलय भी ज्ञानियोंके समान ही

भाष्य

नेत्याह, अतत्प्रकृतित्वात्। यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य। न च मनसो वागुत्पद्यते इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन् पक्षे शब्दो वाङ्मनसि सम्पद्यते इति, अत आह—शब्दाच्चेति। शब्दोऽप्यस्मिन् पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

वाणीका ही मनमें प्रलय युक्त है, ऐसा कहा गया है। कहते हैं कि नहीं, वह (मन) उसकी (वाणीकी) प्रकृति नहीं है। जिसकी जिससे उत्पत्ति होती है, उसका उसमें लय होना उचित है, जैसे कि शरावका (शिकोरेका) मृत्तिकामें लय होता है, वैसे। और मनसे वाणी उत्पन्न होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वृत्तिके उद्भव और अभिभव तो अप्रकृतिमें—अनुपादानमें भी दिखाई देते हैं, क्योंकि पार्थिव इन्धनसे तैजस अग्निकी वृत्तिका उद्भव होता है और वह जलमें उपशान्त होती है। तब इस पक्षमें 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (वाणी मनमें सम्पन्न होती है) यह श्रुति किस प्रकार उपपन्न होगी ? इसपर कहते हैं—'शब्दाच्च' इति। शब्दका भी इस पक्षमें संभव है, क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान्में अभेदका उपचार है, ऐसा अर्थ है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

विरुद्धार्थं श्रुतिरपि न ब्रूते इति सिद्धान्तयति—अतत्प्रकृतित्वादिति। न्यायस्य निरवकाशत्वाद् बलीयस्त्वम्, शब्दस्य तु उक्तिर्वागिति व्युत्पत्त्या लक्षणया वा सावकाशत्वमिति द्योतयितुम् 'शब्दाच्च' इत्युक्तम् ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हो तो आगे कहा जानेवाला विशेष कथन असमञ्जस होगा, इस प्रकार समाधिका-समाधानका अर्थ है। 'प्रकृतिमें'—उपादानमें ही विकारका लय होता है, इस प्रकार जो लोकप्रसिद्ध न्याय है, उससे विरुद्ध अर्थको श्रुति भी नहीं कहती है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"अतत्प्रकृतित्वात्" इत्यादिसे। निरवकाश होनेके कारण न्याय बलवान् है और शब्दका तो अर्थात् वाक्शब्द तो 'उक्तिः वाग्' इस प्रकार भावव्युत्पत्ति करनेसे या लक्षणासे सावकाश है, यह द्योतन करनेके लिए "शब्दाच्च" यह कहा गया है ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, सर्वाणि, अनु ।

पदार्थोक्ति—अत एव—उक्तदर्शनादिहेतोरेव, सर्वाणि—चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि, च—अपि [सवृत्तिके मनसि वृत्तिलयमात्रेण अनुवर्तन्ते—लीयन्ते, [न तु स्वरूपमात्रेणेत्यर्थः] ।

भाषार्थ—उक्त दर्शनादि हेतुओंसे ही सभी चक्षु आदि इन्द्रियाँ वृत्ति-विशिष्ट मनमें वृत्तिमात्रके लयसे लीन होती हैं, स्वरूपसे लीन नहीं होतीं ।

भाष्य

'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' (प्र० ३।९) इत्यत्राऽविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिः श्रूयते। तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात् तत्त्वप्रलयासम्भवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः

भाष्यका अनुवाद

'तस्मादुपशान्ततेजाः' (उत्क्रमणके अनन्तर स्वाभाविक तेज जिसका उपशान्त हो गया हो, वह मनमें लीन होनेवाले इन्द्रियोंके साथ अन्य शरीर प्राप्त करता है) इसमें सब इन्द्रियोंका समानरूपसे मनमें लय सुना जाता है। वहां भी इसीसे—वाणीके समान चक्षु आदिका भी सवृत्तिक मनके रहते उसमें वृत्तिलोप दिखाई देता है, स्वरूप प्रलयका असम्भव होनेसे और शब्दकी उपपत्ति होनेसे सब इन्द्रियाँ वृत्ति द्वारा ही मनका अनुवर्तन करती हैं—मनमें लीन होती हैं। सब इन्द्रियोंका

रत्नप्रभा

वाच्युक्तं न्यायं चक्षुरादिषु अतिदिशति—अत एवेति । उपशान्तदेहौष्ण्यस्तस्माद् उत्क्रमणादूर्ध्वं पुनर्भवं प्रतिपद्यते इति श्रुत्यर्थः। इन्द्रियशब्दस्य श्रुतिस्थस्य वृत्तिपरतयोपपत्तेः। सर्वेन्द्रियवृत्तिलयश्चेदिष्टस्तर्हि "वाङ्मनसि" इति पृथक्

रत्नप्रभाका अनुवाद

वाक्‌में जो न्याय कहा गया है, उसका चक्षु आदिमें भी अतिदेश करते हैं "अत एव" इत्यादिसे। जिसके शरीरकी गर्मी शान्त हुई है, ऐसा पुरुष उत्क्रमणके पश्चात् पुनः जन्म प्राप्त करता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है। श्रुतिस्थ इन्द्रियशब्दकी वृत्त्यर्थतासे

भाष्य

पृथग्ग्रहणं वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

समानरूपसे मनमें उपसंहार होनेपर वाणीका पृथग् ग्रहण 'वाङ्मनसि०' (*वाणी मनमें लीन होती है*) इस उदाहरणके अनुरोधसे है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

सूत्रं किमर्थमित्यत आह—सर्वेषां करणानामिति ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपपत्ति हो सकती है। सब इन्द्रियोंके व्यापारका लय यदि इष्ट है, तो 'वाङ्मनसि' यह सूत्र पृथक्‌रूपसे क्यों किया गया ? इसपर कहते हैं—"सर्वेषां करणानाम्" इत्यादिसे ॥ २ ॥

[२ मनोऽधिकरण सू० ३]

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत स्वयं यतः ।
कारणाद्योदकद्वारा प्राणो हेतुर्मनः प्रति ॥ १ ॥
साक्षात् स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणालिके न तु ।
गौणः प्राणालिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राणमें जो मनका लय होता है, वह स्वरूपसे होता है अथवा वृत्तिसे होता है ।

पूर्वपक्ष—स्वरूपसे लय होता है, क्योंकि अन्न और जलके द्वारा प्राण मनका उपादान है ।

सिद्धान्त—प्राणमें मनका स्वरूपसे लय नहीं होता है, क्योंकि साक्षात् उपादानमें कार्यका लय होता है, प्राणालिक अर्थात् परम्परया अमुख्य उपादानमें लय नहीं होता, प्रकृतमें प्राण भी अन्न और जलके द्वारा मनका अमुख्य ही उपादान है, इससे उसका वृत्तिलय ही है, स्वरूपतः लय नहीं है ।

* सारांश यह है कि जिस मनमें वृत्तिद्वारा वाक् आदि इन्द्रियोंका लय होता है, उस मनका प्राणमें स्वरूपतः ही लय होगा, क्योंकि प्राण मनका उपादान है, कारण कि 'अन्नमय हि सोम्य मनः' (हे सोम्य मन अन्नमय है अर्थात् अन्नका विकार है) इस श्रुतिसे मनका अन्न कारण है, यह प्रतीत होता है, 'आपोमयः प्राणः' (प्राण जलमय है अर्थात् ...

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तत्, मनः, प्राणे, उत्तरात् ।

पदार्थोक्ति—तत्—सर्वेन्द्रियवृत्तिलयाधारभूतम्, मनः—अन्तःकरणम्, प्राणे—असौ [स्ववृत्तिलयद्वारा लीयते, न स्वरूपेण, कुतः ?] उत्तरात्—'मनः प्राणे' इत्युत्तरवाक्यात् ।

भाषार्थ—सम्पूर्ण 'इन्द्रियोंकी वृत्तिके लयका आधारभूत वह मन भी प्राणमें वृत्तिद्वारा लीन होता है, स्वरूपसे लीन नहीं होता, क्योंकि 'मनः प्राणे' (मन प्राणमें) इस प्रकार आगे वाक्य है ।

भाष्य

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (छा० ६।९।६) इत्यत्र वृत्तिसम्पत्तिविवक्षेति । अथ यदुत्तरं वाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६।८।६) इति किमत्रापि वृत्तिसम्पत्तिरेव विवक्षिता उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचि-

भाष्यका अनुवाद

'वाङ्मनसि०' (वाणीके व्यापारका मनमें लय होता है) इस वाक्यमें वृत्तिसम्पत्तिकी विवक्षा है, ऐसा उक्त प्रकारसे ज्ञात हुआ । अब जो आगेका वाक्य है—'मनः प्राणे' (मन प्राणमें लीन होता है) । क्या इसमें भी वृत्ति-सम्पत्तिकी ही विवक्षा है या वृत्तिवालेकी सम्पत्तिकी विवक्षा है, ऐसा संशय होनेपर—

रत्नप्रभा

तन्मनः प्राण उत्तरात् । वाक्यक्रमाद् अर्थक्रमाच्च अधिकरणक्रमः, श्रुतिन्यायाभ्यां

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तन्मनः प्राण उत्तरात्" । वाक्यक्रमसे और अर्थक्रमसे अधिकरणका क्रम होता है ।

इस श्रुतिवाक्यसे प्राणका कारण जल प्रतीत होता है । इस परिस्थितिमें मन और प्राण शब्दकी अन्न और जलमें लक्षणा मानकर 'अन्न जलमें लीन होता है' इस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं, इससे कार्यका अपने उपादानमें लय होगा, अतः मनका प्राणमें लय स्वरूपतः ही है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—उपादान दो प्रकारका है, एक तो मुख्य और दूसरा प्राणालिक याने गौण, प्रकृतमें प्राण और मनका उपादानोपादेयभाव मुख्य नहीं है, किन्तु तुम्हारी उक्तिके अनुसार सम्बन्धपरम्परासे है । और परम्परासे जो उपादान है उसमें कार्यका विलय कहींपर नहीं देखा गया है, इससे मनके साक्षात् अनुपादान प्राणमें वृत्ति द्वारा मनका लय होता है ।

भाष्य

कित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्, श्रुत्यनुग्रहात् तत्प्रकृतित्वोपपत्तेश्च। तथा हि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम्। 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः। अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः, प्रकृतिविकाराभेदादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—वृत्तिवाले मनकी ही प्राणमें सम्पत्ति (लय) होती है, ऐसा प्राप्त होता है, श्रुतिका अनुग्रह होनेसे और वह प्राण मनकी प्रकृति है, ऐसा उपपन्न होनेसे, क्योंकि 'अन्नमयं हि सोम्य०' (हे सोम्य, मन अन्नसे बना हुआ है, प्राण जलसे बना हुआ है) इस प्रकार मन अन्नसे उत्पन्न हुआ और प्राण जलसे उत्पन्न हुआ, ऐसा श्रुतिमें कथित है। 'आपश्चान्नमसृजन्त' (जलने अन्न उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है। इस कारणसे मनका प्राणमें जो लय होता है वह अन्नका ही जलमें लय होता है, क्योंकि मन अन्न है और प्राण जल है, प्रकृति और विकारका भेद न होनेसे।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जिसने बाह्य-इन्द्रियवृत्तियोंका अपनेमें उपसंहार किया है, ऐसा मन वृत्तिद्वारा ही प्राणमें लीन होता है,

रत्नप्रभा

संशयः। पूर्वं प्रबलन्यायविरोधाद् वागिति श्रुतेर्बाधः कृतः। इह त्वबात्मकप्राणस्य अन्नात्मकमनःप्रकृतित्वेन 'प्रकृतौ विकारलयः' इति न्यायानुग्रहात् न मनःश्रुतिर्बाध्येति पूर्वपक्षः। फलं पूर्ववत्, सिद्धान्तस्त्वबन्नयोः प्रकृतिविकृतिभावेऽपि न तद्विकारयोः प्राणमनसोस्तद्भावः, हिमघटयोरपि तद्भावप्रसङ्गात्, अतो न्यायविरोधात् पूर्ववत् श्रुतिर्बाध्येति विवेकः। आगृहीता बाह्येन्द्रियवृत्तयो येन तत्तथा, लीने-

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुति और न्यायसे संशय है। पहले बलवत्तर न्यायके विरोधसे 'वाग्' इत्यादिश्रुतिका बाध किया गया। प्रकृतमें जलात्मक प्राणके अन्नात्मक मनकी प्रकृति होनेसे 'प्रकृतिमें विकारका लय है' इस प्रकार न्यायके अनुग्रहसे मनःश्रुतिका बाध नहीं होता है यह पूर्वपक्ष है। और फल पूर्ववत् है। सिद्धान्त तो यह है कि जल और अन्नका प्रकृति-विकृति-भाव होनेपर भी प्राण और मनका जो उनके विकार हैं, उनका प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है, अन्यथा हिम और घटका भी प्रकृतिविकृतिभाव प्रसक्त होगा। अतः न्यायसे विरोध होनेसे पूर्ववत् श्रुतिका बाध होना ही चाहिए,

भाष्य

प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम्। तथा हि सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते। न च मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति, अतत्प्रकृतित्वात्। ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम्। नैतत्सारम्। नहीदृशेन प्राणाडिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे सम्पत्तुमर्हति। एवमपि ह्यन्ने मनः सम्पद्येताऽप्सु चाऽन्नमप्स्वेव च प्राणः। नह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायते इति किंचन प्रमाणमस्ति, तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः। वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम्॥ ३॥

भाष्यका अनुवाद

ऐसा उत्तर वाक्यसे समझना चाहिए, क्योंकि सुषुप्सु और मुमूर्षु अर्थात् निद्रोन्मुख और मरणोन्मुख पुरुषकी परिस्पन्दात्मक—चलनात्मक प्राणवृत्तियोंके रहते मनकी वृत्तियोंका उपशम देखा जाता है और मनका स्वरूपसे प्राणमें प्रलय नहीं हो सकता, क्योंकि प्राण मनकी प्रकृति नहीं है। परन्तु प्राण मनकी प्रकृति है, ऐसा पीछे दिखलाया गया है, उसमें कोई सार नहीं है, क्योंकि ऐसी परम्परासे प्राणके मनकी प्रकृति होनेसे मनका प्राणमें लीन होना योग्य नहीं है, यदि ऐसा परम्पराप्राप्त सम्बन्ध माना जाय, तो मन अन्नमें सम्पन्न होगा, जलमें अन्न और जलमें ही प्राण सम्पन्न होगा। इस पक्षमें भी प्राणभावमें परिणत जलसे मन उत्पन्न होता है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है, इसलिए मनका प्राणमें स्वरूपप्रलय नहीं होता। परन्तु वृत्तिका प्रलय होता है, इस पक्षमें शब्द उपपन्न होता है, वृत्ति और वृत्तिमान्‌का अभेदोपचार होता है, ऐसा हमने दिखलाया है॥ ३॥

रत्नप्रभा

न्द्रियवृत्तिकं मनोऽपि वृत्तिलयेनैव प्राणे लीयते इत्यर्थः। एवमपीति। प्राणस्याऽब्विकारत्वपक्षेऽपीत्यर्थः। तस्मादिति। प्राणस्य साक्षान्मनःप्रकृतिकत्वाभावाद् मनःशब्दो वृत्तिर्लक्षयतीत्यर्थः॥३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार विवेक है। चारों तरफसे जिसने बाह्येन्द्रियवृत्तियोंका ग्रहण किया है ऐसा अर्थात् जिसमें इन्द्रियवृत्तियाँ लीन हैं, ऐसा मन भी वृत्तिलयके द्वारा ही प्राणमें लीन होता है, ऐसा अर्थ है। "एवमपि" इत्यादि। प्राण जलका विकार है, इस पक्षमें भी, ऐसा अर्थ है। उससे अर्थात् प्राणके साक्षात् मनकी प्रकृति न होनेसे मनशब्दकी वृत्तिमें लक्षणा है, ऐसा अर्थ है॥३॥

[३ अध्यक्षाधिकरण सू० ४—६]

अस्रोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुतेः ।
स प्राणस्तेजसीत्याह न तु जीव इति क्वचित् ॥ १ ॥
एवमेवेममात्मानं प्राणा यन्तीति च श्रुतेः ।
जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते ।* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—प्राणका जीवमें लय होता है ? या भूतोंमें लय होता है ?

पूर्वपक्ष—भूतोंमें लय होता है, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) इस प्रकार श्रुत है और जीवमें उसका लय कहीं नहीं सुना गया है ।

सिद्धान्त—'एवमेवेममात्मानम्' इत्यादि श्रुतिसे जीवात्मामें प्राणका लय जाना जाता है, इसलिए प्रथम प्राण जीवमें लीन होकर उसके साथ पुनः भूतोंमें लीन होता है ।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

पदच्छेद—सः, अध्यक्षे, तदुपगमादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—सः—प्राणः, अध्यक्षे—जीवे [निवृत्तवृत्तिः सन्नवतिष्ठते, कुतः ?] तदुपगमादिभ्यः—तं जीवं प्रति उपगमानुगमनावस्थानेभ्यो हेतुभ्यः ['एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' इत्युपगमः, 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यनुगमनम्, 'सविज्ञानो भवति' इत्यवस्थानम्, एतेभ्यो हेतुभ्यः ।

भाषार्थ—यह प्राण वृत्तिरहित होकर जीवमें रहता है । किससे ? इससे कि जीवमें प्राणका उपगम, अनुगमन और अवस्थान श्रुत है । 'एवमेवेममात्मान०' (इसी प्रकार सभी प्राण अन्तकालमें जीवात्मामें प्रयाण करते हैं) यह उपगम है, तमुत्क्रामन्तम्०' जीवके उत्क्रान्त होनेपर प्राण भी अनूत्क्रान्त होता है) यह अनुगमन है और 'सविज्ञानो भवति' (विज्ञानसहित होता है) यह अवस्थान है, इन हेतुओंसे प्राण जीवमें लीन होता है ।

---

* सारांश यह है कि जिसके अन्दर ग्यारह इन्द्रियाँ लीन हैं ऐसे प्राणका तेज, जल और अन्नरूप भूतोंमें वृत्तिसे लय होता है जीवमें लय नहीं होता, कारण 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें) इस प्रकार श्रुति है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर ।

सिद्धान्ती कहते हैं—'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति' (इसी प्रकार मरण

भाष्य

स्थितमेतद् यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन् वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः ? किं वा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात् प्राणस्य तेजस्येव सम्पत्तिः स्यात्, अश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति ।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—सोऽध्यक्षे इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्या-

भाष्यका अनुवाद

जिसकी जिससे उत्पत्ति नहीं होती उसका उसमें वृत्तिसे प्रलय होता है, स्वरूपप्रलय नहीं होता, ऐसा सिद्ध है । अब 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) इसमें यह विचार किया जाता है कि श्रुतिके अनुसार प्राणका तेजमें ही वृत्तिलय होता है या देह और इन्द्रियरूप पंजरके अध्यक्ष जीवमें होता है ?

पूर्वपक्षी—श्रुतिके विषयमें अतिशंका करना उचित न होनेसे प्राणका तेजमें ही लय होगा, क्योंकि श्रुतिमें जो नहीं है, उसकी कल्पना करना उचित नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'सोऽध्यक्षे०' । वह प्रकृत प्राण

रत्नप्रभा

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । उक्तन्यायसिद्धं प्राणस्याऽपि वृत्तिलयमुपजीव्य "प्राणस्तेजसि" इति श्रुतेरुपगमादिश्रुतेश्च संशयमुक्त्वा जीवे लयं विनापि उपगमादिसम्भव इति पूर्वपक्षयति—**स्थितमित्यादिना**। अत्र तेजःशब्दस्य मुख्यत्वम्, सिद्धान्ते तु भूतोपहितजीवलक्षकत्वमिति मत्वा सूत्रं योजयति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

"सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः" । कथित न्यायसे सिद्ध प्राणकी भी वृत्तिके लयके आधारपर 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें) इस श्रुतिसे और उपगमादि श्रुतियोंसे संशय कहकर जीवमें लयके विना भी उपगम आदिका सम्भव है, इस प्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"स्थितम्" इत्यादिसे पूर्वपक्षमें तेजशब्द मुख्यार्थवाची है और सिद्धान्तमें भूतोपहित जीवका लक्षक है, ऐसा मानकर सूत्रकी योजना करते हैं—"स प्रकृत" इत्यादिसे । अज्ञानकर्मवासनोपाधिक, ऐसा

कालमें सब प्राण जीवात्मामें प्राप्त होते हैं) यह श्रुति जीवमें ही प्राणका लय दिखलाती है—जैसे जाते हुए राजाके पीछे उसके नौकर आते हैं, यह इस श्रुतिका तात्पर्य है । परन्तु 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुतिके साथ विरोध है ? नहीं, क्योंकि जीवके साथ अनन्तर तेज आदि भूतोंमें विलीन होता है, इस प्रकार व्याख्यान कर सकते हैं । इससे पहले प्राणका लय जीवमें होता है, अनन्तर उसके द्वारा भूतोंमें लय होता है ।

भाष्य

कर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान् प्राणानविशेषेण दर्शयति । विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इति । 'सविज्ञानो भवति' इति चाऽध्यक्षस्याऽन्तर्विज्ञानव-

भाष्यका अनुवाद

अविद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा ही जिसकी उपाधि है, ऐसे विज्ञानस्वरूप अध्यक्षमें, अवस्थित होता है। वह अर्थात् अध्यक्ष जिसका प्रधान है, ऐसी प्राणवृत्ति होती है, ऐसा अर्थ है। किससे ? प्राणका उसके प्रति उपगमन आदि होनेसे। 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले०' (इसी प्रकार अन्तकालमें जब वह ऊर्द्ध्व-उच्छ्वासी होता है तब सब प्राण—वाक् आदि इस आत्माके अभिमुख जाते हैं) यह दूसरी श्रुति अविशेषसे सब प्राणोंका अध्यक्षके समीप उपगमन दिखलाती है। और 'तमुत्क्रामन्तं०' (जब विज्ञानात्मा उत्क्रमण करता है—परलोकके प्रति प्रस्थान करता है तब प्राण उसके पीछे उत्क्रमण करता है) इसमें पांच वृत्तिवाला प्राण अध्यक्षका अनुगामी होता है, ऐसा विशेषसे श्रुति दिखलाती है। और 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे' (प्राणके—विज्ञानात्माके पीछे प्राण उत्क्रमण करता है, और उस प्राणके पीछे सब प्राण उत्क्रमण करते हैं) इस प्रकार अन्य प्राण उस प्राणकी अनुवृत्ति करते हैं, ऐसा दिखलाती है। 'सविज्ञानो भवति' (तब यह आत्मा विज्ञानवाला होता है) इस प्रकार

रत्नप्रभा

स प्रकृत इत्यादिना । अज्ञानकर्मवासनोपाधिक इत्यर्थः । तं जीवं प्रति प्राणानामुपगमनानुगमनावस्थानश्रुतिभ्य इति हेत्वर्थः । यथा यात्रेच्छावन्तं राजानं भृत्या उपगच्छन्ति, एवमेव परलोकं जिगमिषुं जीवं सर्वे प्राणा

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है। उस जीवके प्रति प्राणोंका उपगम, अनुगमन और अवस्थान श्रुतियोंसे, ऐसा हेतुका अर्थ है। जिस प्रकार यात्राकी इच्छा करनेवाले राजाके पीछे नौकर जाते हैं, इसी प्रकार परलोकके प्रति जानेकी इच्छा करनेवाले जीवके पीछे सभी प्राण आभिमुख्यसे जाते हैं, इस प्रकार उपगम सुना जाता है। 'तमुत्क्रामन्तम्' इस प्रकार अनुगमन श्रुत है

भाष्य

त्स्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्याऽवस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते, कथं प्राणोऽध्यक्षे इत्यधिकावापः क्रियते ? नैष दोषः; अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भाष्यका अनुवाद

अध्यक्ष अन्तर्विज्ञानवाला है, ऐसा दिखलाकर जिसमें इन्द्रियसमूह लीन हुआ है, ऐसे प्राणका उसमें अवस्थान सूचित करती है। परन्तु 'प्राणस्तेजसि (प्राण तेजमें लीन होता है) ऐसी श्रुति है। तब प्राण अध्यक्षमें लीन होता है, ऐसे अधिकका ग्रहण कैसे करते हो ? नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि उत्क्रमण आदि व्यवहारमें अध्यक्ष प्रधान है और अन्य श्रुतिमें स्थित विशेपकी भी अपेक्षा रखनी चाहिए ॥ ४ ॥

तब 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) यह श्रुति कैसे है, इसपर उत्तर सूत्र कहते हैं—

रत्नप्रभा

आभिमुख्येनाऽऽयान्तीत्युपगमः श्रुतः, तमुत्क्रामन्तमित्यनुगमनं श्रुतम् , जीवे प्राणावस्थानश्रुतिमाह—सविज्ञान इति । जीवस्य प्राप्तव्यफलावगमाय हि विज्ञानसाहित्यश्रुत्या मुख्यप्राणसहितकरणानां जीवे स्थितिर्भातीत्यर्थः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवमें प्राणके अवस्थानकी श्रुति कहते हैं—"सविज्ञान" इत्यादिसे। जीवके प्राप्तव्य फलके अवगमके लिए विज्ञान साहित्यकी श्रुतिसे मुख्य प्राण सहित करणोंकी जीवमें स्थिति प्रतीत होती है ऐसा अर्थ है ॥ ४ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

पदच्छेद—भूतेषु, तच्छ्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—भूतेषु—तेजःप्रभृतिषु देहारम्भकेषु पञ्चमहाभूतेषु [उपहितत्वेन विद्यमाने जीवे प्राणस्य वृत्तिलयः, कुतः ?] तच्छ्रुतेः—'प्राणस्तेजसि' इति तेजःप्रभृतिदेहारम्भकपञ्चमहाभूतोपहितत्वरूपेण वर्तमाने जीवे तस्य—सवृत्तिकस्य लयबोधिकायाः श्रुतेः ।

भाषार्थ—तेज आदि देहारम्भक पाँच भूतोंसे उपहित जीवमें प्राणवृत्तिका लय होता है। किससे? इससे कि देहारम्भक पञ्च महाभूतोंसे उपहित जीवमें उस प्राण-वृत्तिकी लयबोधिका 'प्राणस्तेजसि' यह श्रुति है।

भाष्य

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्व-वतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम्, 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति, न प्राणसंपृक्तस्याऽध्यक्षस्य। नैष दोषः,

भाष्यका अनुवाद

प्राणसंयुक्त वह जीव तेज आदि देहके बीजरूप सूक्ष्म भूतोंमें अवस्थित होता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) ऐसी श्रुति है। परन्तु यह श्रुति प्राणकी तेजमें स्थिति दिखलाती है, न कि प्राणसम्बद्ध जीवकी तेजमें स्थिति दिखलाती है। नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि 'सोऽध्यक्षे'(इस

रत्नप्रभा

यद्यपि प्राणस्य तेजसि अव्यवधानेन लयः श्रुतः, तथापि उभयश्रुत्यनुग्रहाय प्राणो जीवे लीयते, जीवद्वारा च तदुपाधिषु तेजआदिभूतेषु इति श्रुत्यर्थःस्फुटी-करणार्थं सूत्रं गृह्णाति—कथं तर्हीति। न च लयं विनापि जीवं प्रत्युपगमादि-सम्भवात् तेजःश्रुतिर्मुख्याऽस्त्विति वाच्यम्, जीवं प्रत्यागत्य प्राणस्य निर्व्या-पारत्वेन स्थितेरेवाऽत्र लयत्वादिति भावः। भूतेषु जीवस्थितिः किंबलाद् व्याख्यायत इत्याशङ्क्य 'सोऽध्यक्षे' (ब्र० सू० ४।२।४) इति सूत्रोदाहृतश्रुतिबलादित्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि प्राणका लय अव्यवधानसे ही तेजमें सुना जाता है, तो भी दोनों श्रुतियोंके अनुग्रहके लिए 'प्राणका जीवमें लय होता है और जीवद्वारा जीवके उपाधिभूत तेज आदि भूतोंमें भी लय होता है, इस प्रकार श्रुतिके अर्थका स्पष्टीकरण करनेके लिए सूत्रका अवतरण करते हैं—"कथं तर्हि" इत्यादिसे। लयके बिना भी जीवके प्रति प्राणोंका उपगम आदि सम्भव है, अतः तेजःश्रुति मुख्य है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जीवके प्रति आकर प्राणकी व्यापार रहित स्थिति ही यहाँ लयशब्दसे विवक्षित है, यह भाव है। भूतोंमें जीवस्थितिका किसके आधारसे व्याख्यान करते हो, इस प्रकार आशङ्का करके 'सोऽध्यक्षे' (वह प्राण जीवमें) इस प्रकार सूत्रमें उदाहृत श्रुतिके बलसे हम ऐसा करते

भाष्य

'सोऽध्यक्षे' इत्यध्यक्षस्याऽप्यन्तराल उपसंख्यातत्वात्। योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति, सोऽपि स्रुघ्नात् पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम्। तस्मात् प्राणस्तेजसीति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते, यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति, अत आह—

भाष्यका अनुवाद

प्रकार अध्यक्षका भी बीचमें कथन है, कारण कि जो स्रुघ्नसे मथुरा जाकर, मथुरासे पाटलिपुत्र जाता है, वह भी स्रुघ्नसे पाटलिपुत्र जाता है, ऐसा कहा जा सकता है। इससे 'प्राणस्तेजसि' अर्थात् प्राणयुक्त अध्यक्षका ही इन तेज आदि भूतोंमें अवस्थान है ॥ ५ ॥

परन्तु तेज आदि भूतोंमें, यह कैसे कहा है, क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) इस प्रकार एक ही तेजका श्रवण है, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

नन्वित्यादिना। प्राणस्य जीवद्वारा भूतप्राप्तौ दृष्टान्तमाह—योऽपि हीति ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हैं, ऐसा कहते हैं—"ननु" इत्यादिसे। जीव द्वारा प्राण भूतोंमें प्राप्त होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—"योऽपि हि" इत्यादिसे ॥ ५ ॥

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

पदच्छेद—न, एकस्मिन्, दर्शयतः, हि।

पदार्थोक्ति—उत्क्रान्तिकाले एकस्मिन्—तेजस्येकस्मिन्नेव, न—जीवो नावतिष्ठते, [अपि तु देहस्य पाञ्चभौतिकत्वेन पञ्चसु भूतेषु तस्य अवस्थितिः] हि—यतः [अमुमर्थं श्रुतिस्मृती] दर्शयतः—प्रतिपादयतः, [अत एव तेजःपदं श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन पञ्चमहाभूतोपलक्षणार्थमिति मन्तव्यम्]।

भावार्थ—उत्क्रमणकालमें एक ही तेजमें जीवकी स्थिति नहीं है, परन्तु देहके पाञ्चभौतिक होनेसे पांच भूतोंमें उसकी स्थिति है, कारण कि इस अर्थका श्रुति और स्मृति प्रतिपादन करती हैं, इसलिए तेजपद श्रुति और स्मृतिके अनुरोधसे पञ्च महाभूतोंका उपलक्षक है, ऐसा समझना चाहिए।

भाष्य

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते, कार्यस्य शरीरस्याऽनेकात्मकत्वदर्शनात्। दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३।) इति। तद्याख्यातम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र। श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः। श्रुतिः— 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या। स्मृतिरपि—

'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः॥' (मनु०) इत्याद्या॥

भाष्यका अनुवाद

अन्य शरीर प्राप्त करनेकी इच्छाके समय जीव एक ही तेजमें अवस्थित नहीं होता, क्योंकि शरीररूपी कार्य अनेक भूतोंका बना हुआ है, ऐसा दीखता है। 'आपः पुरुषवचसः' (जल पुरुषशब्दवाच्य होता है) प्रश्न और प्रतिवचन इस अर्थको दिखलाते हैं। और 'त्र्यात्मकत्वात्तु' इस सूत्रमें इसका व्याख्यान किया गया है। श्रुति और स्मृति भी इस अर्थको दिखलाती हैं। 'पृथिवीमय आपोमय०' (पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय) इत्यादि श्रुति है। और 'अण्व्यो मात्रा' (मोक्षपर्यन्त पांच भूतोंके सूक्ष्म, अविनाशी जो भाग हैं, उनके साथ यह सब क्रमसे उत्पन्न होता है) इत्यादि

रत्नप्रभा

स्थूलदेहारम्भाय पञ्चीकृतभूतानि आवश्यकानीति रंहत्यधिकरणे व्याख्यातम्। अण्व्यः—सूक्ष्माः, मीयन्त इति मात्राः—परिच्छिन्नाः, प्राङ् मोक्षादविनाशिन्यः, दशार्धानां पञ्चानां भूतानाम्, सूक्ष्मभागा इति यावत्। जीवस्य भूताश्रयत्वं कर्माश्रयत्वश्रुतिविरुद्धमित्याशङ्क्य कर्म निमित्तत्वेनाऽऽश्रयः भूतानि तु देहोपादान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थूल देहकी उत्पत्तिके लिए पंचीकृत भूत आवश्यक हैं, ऐसा रंहत्यधिकरणमें कहा जा चुका है। अण्व्यः—सूक्ष्म। मात्राः—जो मापा जाय, अर्थात् परिच्छिन्न। मोक्षके पूर्व अविनाशी। दशार्धानाम्—पंचभूतोंके सूक्ष्म भाग, ऐसा अर्थ है। जीवके आश्रय भूत हैं, यह जीवका आश्रय कर्म है, इस श्रुतिसे विरुद्ध है, ऐसी आशंका करके निमित्तिरूपसे कर्म आश्रय है और भूत तो देहके उपादानरूपसे आश्रय है, इस प्रकार

भाष्य

ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' (बृ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत् प्रशशंसतुः कर्म हैव तत् प्रशशंसतुः' (बृ० ३।२।१३) इति। अत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता, इह पुनर्भूतोपादानात् देहान्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम्। प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितम्, न त्वाश्रयान्तरं निवारितम्। तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

स्मृति है। परन्तु अन्य शरीर प्राप्त करनेकी इच्छाके समय वागादि इन्द्रियोंका आत्मामें उपसंहार होनेपर 'क्वायं तदा पुरुषो०' (तब यह पुरुष कहां रहता है—किसके आश्रय रहता है) ऐसा उपक्रम करके 'तौ ह यदूचतुः' (उन याज्ञवल्क्य और आर्तभागने विचार करके—सब पूर्वपक्षोंका ऊहापोह करके—जो जीवका आधार कहा उसे सुनो, कर्मको ही आश्रय रूपसे—पुनः पुनः कार्यकरणके उपादान हेतुरूपसे उन्होंने कहा, जिसकी उन्होंने प्रशंसा की, उसको सुनो, कर्मकी ही उन्होंने प्रशंसा की) इस प्रकार दूसरी श्रुति कर्मको ही आत्माका आश्रय कहती है। इसपर कहते हैं—उसमें कर्मप्रयुक्त ग्रह और अतिग्रह नामक इन्द्रिय और विषयरूप बन्धनकी प्रवृत्ति होनेसे कर्म आश्रयरूपसे कहा गया है। और यहां तो भूतोपादानसे अन्य देहकी उत्पत्ति होती है इससे भूताश्रयत्व कहा गया है। प्रशंसाशब्दसे भी वहां कर्मका प्राधान्यमात्र दिखलाया गया है, अन्य आश्रयका निवारण नहीं किया गया है। इससे कोई विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

त्वेनेत्युभयमविरुद्धमित्याह—ननु चेत्यादिना। तौ याज्ञवल्क्यार्तभागौ यत् जीवाधारमूचतुस्तत् कर्मेति श्रुतेर्वचनम् ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दोनों अविरुद्ध हैं ऐसा कहते हैं—"ननु च" इत्यादिसे। 'तौ ह यदूचतुः'—उन दो याज्ञवल्क्य और आर्तभागने जीवके आधाररूपसे जिसको कहा, वह कर्म है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है ॥ ६ ॥

[४ आसृत्युपक्रमाधिकरण सू० ७]

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा नहि सा समा ।
मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः ॥ १ ॥
आसृत्युपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा ।
पश्चात्तु फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ज्ञानी और अज्ञानीकी उत्क्रान्ति समानरूपसे है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—समान नहीं है, क्योंकि दोनोंके मोक्ष और संसाररूप फल पृथक् पृथक् हैं।

सिद्धान्त—मार्गके उपक्रम पर्यन्त अर्थात् अर्चिकी प्राप्ति तक वर्तमान जन्म है, अतः उत्क्रान्ति समान है, पीछे फलके वैषम्यसे उनकी उत्क्रान्ति विषम भले ही हो ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

पदच्छेद—समाना, च, आसृत्युपक्रमात्, अमृतत्वम्, च, अनुपोष्य ।

पदार्थोक्ति—आसृत्युपक्रमात्—देवयानमार्गोपक्रमात् [प्राग् येयमुत्क्रान्तिः, सा विद्वदविदुषोः] समाना—तुल्या [भवितुमर्हति, कुतः ? 'वाङ्मनसि' इत्याद्यविशेषश्रवणात्, ननु कथं तर्हि सगुणविद्यायाममृतत्वश्रवणम् इति, तत्राह— अमृतत्वं चानुपोष्य । अनुपोष्य—अदग्ध्वा [अविद्याक्लेशजातम्] अमृतत्वम्— मृतिराहित्यम् [आपेक्षिकमित्यर्थः] ।

भाषार्थ—देवयानमार्गके उपक्रमसे पूर्व जो उत्क्रान्ति है, वह विद्वान् और अविद्वान् इन दोनोंकी बराबर है, क्योंकि 'वाङ्मनसि' इस प्रकार सामान्यरूपसे कथन है, सगुण विद्यामें अमृतत्वश्रवणकी उपपत्ति कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—अमृतत्वं चानुपोष्य । अर्थात् अविद्या आदि क्लेशसमूहका विनाश न करके यह जो अमृतत्व है, वह अपेक्षाकृत है ।

* भाव यह है कि निर्गुण ब्रह्मज्ञानी की उत्क्रान्ति ही नहीं है, इस प्रकार कहेंगे, परन्तु सगुणब्रह्मज्ञानी की जो उत्क्रान्ति है, वह अज्ञानीकी उत्क्रान्तिके समान नहीं है, क्योंकि ब्रह्मलोकरूप मोक्ष और उससे भिन्न संसाररूप फल अत्यन्त विषम होनेसे उसकी प्राप्ति की द्वार भूत उत्क्रान्तिमें वैषम्य उचित है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि सगुण ज्ञानीका मूर्धन्यनाड़ीप्रवेश— उत्तरमार्गसे उपक्रम है और ज्ञानरहितका अन्य नाड़ीप्रवेश—अन्य मार्गसे उपक्रम है, यही मार्गपर्यन्त वर्तमान जन्म है । इससे ऐहिक सुख-दुःखके समान उत्क्रान्ति भी समान है । मार्गके उपक्रान्त होनेपर तो तुम्हारे कथनके अनुसार फलभेद होनेसे वैषम्य भले रहे, यह तात्पर्य है ।

भाष्य

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना किं वा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत् प्राप्तम्। भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा। पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते। न च विदुषः पुनर्भवः संभवति। 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति श्रुतिः। तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः। ननु विद्याप्रकरणे

भाष्यका अनुवाद

क्या यह उत्क्रान्ति विद्वान् और अविद्वान्‌की समान होती है या किसी विशेषसे युक्त होती है? याने उत्क्रान्तिमें कुछ विशेष वैषम्य है।

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय करनेवालोंके मतमें वह विशेषयुक्त होती है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि यह भूतोंके आश्रयसे विशिष्ट है। पुनः उत्पत्तिके लिए भूतोंका आश्रय होता है और विद्वान्‌की पुनः उत्पत्तिका सम्भव नहीं है। 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' (विद्वान् मोक्ष पाता है) ऐसी श्रुति है। इससे अविद्वान्‌की ही यह उत्क्रान्ति है। परन्तु विद्याके प्रकरणमें उत्क्रान्तिका श्रवण

रत्नप्रभा

एवं बाह्येन्द्रियाणां मनसि प्रथमं वृत्तिलयलाभात् ततो मनोवृत्तेः प्राणे लयः प्राणवृत्तेर्भूतोपहितजीवे लयः इत्युत्क्रान्तिव्यवस्थोक्ता। सा च सर्वप्राणिषु तुल्येत्याह—**समाना चे**त्यादिना। 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि' इत्यविशेषश्रुतेः 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति श्रुतेश्च संशयमाह—**सेयमि**ति। विशयानानां सन्दिहानानामित्यर्थः। पूर्वपक्षे सगुणब्रह्मविदसम्बन्धित्वमुत्क्रान्तेर्विशेषः साध्यते। ततोऽनुत्क्रान्त उपासको मुक्तिमश्नुते इति फलम्, सिद्धान्ते तूत्क्रान्तो ब्रह्मलोकभागीति फलभेदः। पूर्वपक्षमाक्षिप्य समाधत्ते—**ननु विद्ये**त्यादिना।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार बाह्य इन्द्रियोंका प्रथम मनमें वृत्तिलय होता है, पीछे मनोवृत्तिका प्राणमें लय होता है, और प्राणवृत्तिका भूतोंकी उपाधिवाले जीवमें लय होता है, इस प्रकार उत्क्रान्तिकी व्यवस्था कही गई है। वह उत्क्रान्ति सब प्राणियोंमें तुल्य है, ऐसा कहते हैं—"समाना च" इत्यादिसे। 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि' ऐसी अविशेष श्रुति है—विद्वान् और अविद्वान्‌का समानरूपसे प्रतिपादन करनेवाली श्रुति है और 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' ऐसी श्रुति है, उससे संशय कहते हैं—"सेयम्" इत्यादिसे। विशयानानाम्—सन्देह करनेवालोंका, यह अर्थ है। पूर्वपक्षमें सगुणब्रह्मज्ञानवालेको उत्क्रान्तिका असम्बन्ध है, ऐसा विशेष साध्य है। इससे उत्क्रान्त न हुआ उपासक मुक्ति प्राप्त करता है, ऐसा फल है। सिद्धान्तमें तो उत्क्रान्त हुआ ब्रह्मलोक पाता है, ऐसा फलमें भेद है। पूर्वपक्षका आक्षेप

भाष्य

समाम्नानाद्विदुष एवैषा भवेत् । न, स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । तथा हि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम' 'अशिशिषति नाम' 'पिपासति नाम' (छा० ६।८।१,३५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन, न तु विदुषो विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते । एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत् प्रतिपादयितुम् । प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति । तस्मादविदुष एवैषेति ।

भाष्यका अनुवाद

होनेसे विद्वान्की ही उत्क्रान्ति होनी चाहिए। नहीं, कारण कि स्वाप आदिके समान यहांपर यथाप्राप्त का ही अनुकीर्त्तन किया गया है। जैसे कि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम' (जिस समय पुरुष सोता है), 'अशिशिषति नाम' (जब वह भोजनकी इच्छा करता है), 'पिपासति नाम' (जब वह पीनेकी इच्छा करता) इस प्रकार विद्याप्रकरणमें भी प्रतिपादन करनेके लिए इष्ट वस्तुके अनुगुण होनेसे साधारणरूपसे ही सब प्राणियोंके स्वाप आदिका कथन किया गया है। न कि विद्वान्के लिए कुछ विशेषरूपसे विधान करनेके लिए इष्ट है। इसी प्रकार जो पर देवतामें प्रयाण करनेवाले पुरुषका तेज सम्पन्न होता है, वह आत्मा है, वह तू है, यह प्रतिपादन करनेके लिए जनसमूहगत ही विद्वान् और अविद्वान्में साधारण उत्क्रान्तिका अनुकीर्त्तन है, और 'न तस्य प्राणा उत्क्रान्ति' (उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इस प्रकार विद्वान्में इसका प्रतिषेध है। इसलिए अविद्वान्की ही यह उत्क्रान्ति है।

रत्नप्रभा

"विद्ययाऽमृतम्" इति श्रुतिर्निर्गुणविद्यापरा "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" इति प्रतिषेधोऽपि तद्विषयः । अतः सगुणविदोऽप्यज्ञस्यैवोत्क्रान्तिरिति सिद्धान्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके समाधान करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' यह श्रुति तो निर्गुण विद्यावालेके लिए है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते) यह प्रतिषेध भी उसीके लिए है। इसलिए सगुणवेत्ताकी भी अज्ञानीके समान उत्क्रान्ति है, ऐसा

भाष्य

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या, विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति, अविशेषश्रवणात्। अविद्वान् देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति, विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते, तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम्। नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं न च तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति। अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्या-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'वाङ्मनसि (वाणी मनमें लीन होती है) इत्यादि विद्वान् और अविद्वान् दोनोंकी ही यह उत्क्रान्ति दक्षिण अथवा उत्तर मार्गके आरम्भपर्यन्त समान—एकसी होनी चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें उसका अविशेष श्रवण है। अविद्वान् देहके बीजरूप भूतसूक्ष्मोंका आश्रय करके कर्मसे प्रेरित होता हुआ देहधारणका अनुभव करनेके लिए संसारमें आता है। विद्वान् तो ज्ञानसे प्रकाशित हुए मोक्षनाडीद्वारका आश्रयण करता है, यह सूत्रमें 'आसृत्युपक्रमात्' इस सूत्रावयवसे कहा गया है। परन्तु विद्वान्‌को तो अमृतत्व प्राप्त करना है और वह अन्य देशके अधीन नहीं है, उसमें भूतोंका आश्रय या मार्ग का उपक्रम कैसे कहा जाता ? इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

यति—एवमिति। सृतिः—मार्गः, तस्योपक्रमोऽर्चिःप्राप्तिः, ततः प्राक्तना उत्क्रान्तिस्तुल्या, तत उपासको मूर्धन्यनाडीद्वाराऽर्चिरादिमार्गं प्राप्नोति, नान्य इति विशेषः। यत्तु दहरोपासकस्याऽमृतत्वं श्रुतम् "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इति, तदापेक्षिकमेव न मुख्यम्, 'यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति' इति भोगश्रवणादित्याह—अनुपोष्य चेदमिति। 'उष दाहे' इति धातोरिदं रूपम् ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त करते हैं—एवं प्राप्ते" इत्यादिसे। सृतिः—मार्ग। उसका उपक्रम अर्थात् अर्चिरादि प्राप्ति। उसके पूर्व विद्वान्‌की उत्क्रान्ति तुल्य है। पीछे उपासक मूर्धन्यनाडी द्वारा अर्चिरादिमार्ग प्राप्त करता है, अन्य नहीं, ऐसा विशेष है। दहरके उपासकका जो अमृतत्व श्रुतिने कहा है वह आपेक्षिक ही है, मुख्य नहीं है, क्योंकि 'यं कामं कामयते' (जिस कामकी वह कामना करता है वह उसके संकल्पसे ही उत्पन्न हो जाता है) ऐसी भोग की श्रुति है, ऐसा कहते हैं,—"अनुपोष्य चेदम्" इत्यादिसे। दहार्थक 'उष्' धातुका यह रूप है ॥७॥

भाष्य

दीन् क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते, संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च। नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते। तस्माददोषः ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

यह जलाये बिना है। उपासक अविद्या आदि क्लेशोंको अत्यन्त दग्ध न करके अपर विद्याके सामर्थ्यसे जो आपेक्षिक अमृतत्व प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थामें मार्गका उपक्रम और भूतोंका आश्रय हो सकता है, क्योंकि आश्रयरहित प्राणोंकी गति नहीं हो सकती है। इससे सिद्धान्त दोषरहित है ॥ ७ ॥



[५ संसारव्यपदेशाधिकरण सू० ८–११]

स्वरूपेणाथ वृत्त्या वा भूतानां विलयः परे।
स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि ॥ १ ॥
आत्मज्ञस्य तथात्वेऽपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः।
न चेत् कस्याऽपि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित् * *॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—भूतोंका विलय परमात्मामें स्वरूपसे होता है या वृत्तिसे होता है।

पूर्वपक्ष—स्वरूपसे लय होता है, क्योंकि परमात्मा उपादान है, अतः उपादानमें कार्यका स्वरूपसे लय हो सकता है।

सिद्धान्त—आत्मज्ञानीके भूतोंका भले ही स्वरूपसे विलय हो, परन्तु जो आत्मतत्त्वज्ञ नहीं है, उसके भूतोंका वृत्ति द्वारा ही लय होगा, यदि ऐसा न माना जाय, तो किसी भी जीवका जन्मान्तर नहीं होगा।

---

* भाव यह है कि 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (पर देवतामें अर्थात् परमात्मामें तेजका लय होता है) इस श्रुतिसे तेज आदि भूतोंका परमात्मामें लय स्वरूपसे हो सकता है, क्योंकि परमात्मा भूतोंका उपादान है।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मतत्त्वज्ञानियोंके भूतोंका लय तुम्हारे कथनानुसार भले ही स्वरूपसे हो और उसका हम भी निर्णय करेंगे, परन्तु उपासक और कर्मठके भूतोंका लय वृत्तिसे ही मानना पड़ेगा, अन्यथा जन्मान्तरकी सिद्धि नहीं होगी।

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—तद्, आपीतेः, संसारव्यपदेशात् ।

पदार्थोक्ति—तत्—यथोक्तं तेजः, आपीतेः—आमोक्षात् [अवतिष्ठते, कुतः ?] संसारव्यपदेशात्—'योनिमन्ये' इत्यादिना संसारस्य कथनात् ।

भाषार्थ—यह कहा गया तेज मोक्षपर्य्यन्त रहता है, क्योंकि 'योनिमन्ये' इत्यादिसे संसारका कथन है ।

भाष्य

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात् तद्यथाप्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यते इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते। तत्राऽऽत्यन्तिक एव तावत् स्वरूपप्रविलय इति

भाष्यका अनुवाद

'तेजः परस्यां देवतायाम्०' (तेज पर देवतामें लीन होता है) इस वाक्यमें प्रकरणके सामर्थ्यसे उसका अर्थात् प्रायण करनेवाले पुरुषका जो प्रकृत तेज है, वह अध्यक्षसहित प्राणोंके साथ, इन्द्रियसमूहके साथ और अन्य भूतोंके साथ पर देवतामें—परमात्मामें लीन होता है, ऐसा कहा है । परन्तु यह सम्पत्ति (विलय) कैसी है—उसका विचार किया जाता है ।

रत्नप्रभा

तदाऽपीतेः० । पूर्वोदाहृतोत्क्रान्तिवाक्यशेषं व्याख्याय लिङ्गाश्रयपञ्चभूतानां किमात्यन्तिको ब्रह्मणि लयः उत अनात्यन्तिकः ? इति लयस्योभयथा दर्शनात् संशयमाह—कीदृशी पुनरियमिति । पूर्वत्र आपेक्षिकममृतत्वमिति उक्तम् , तदयुक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तदाऽपीते" इत्यादि । पूर्व उदाहृत उत्क्रान्ति-वाक्यके शेषका व्याख्यान करके लिंगाश्रय पांच भूतोंका क्या ब्रह्ममें आत्यन्तिक लय होता है या अनात्यन्तिक लय होता है ? क्योंकि लय दोनों रूपसे दिखाई देता है, अतः संशय कहते हैं—"कीदृशी पुनरियम्"

भाष्य

प्राप्तम्, तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम्। तस्मात् अत्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत् तेजआदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतेरासंसारमोक्षात् सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते।

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥' (क० ५।७)

इत्यादिसंसारव्यपदेशात्। अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्येत, तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्यात् विद्याशास्त्रं

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर आत्यन्तिक ही स्वरूपविलय है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि वह परदेवता उस तेजकी प्रकृति है, यह उपपन्न है। और सब उत्पन्न होनेवाले वस्तुसमूहकी प्रकृति परदेवता है, ऐसा प्रतिष्ठापन किया है। इसलिए इस अविभागकी जो प्राप्ति है, वह आत्यन्तिक है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वह—तेज आदि सूक्ष्म भूत, जो श्रोत्रादि इन्द्रियोंके आश्रय हैं, वे सम्यग् ज्ञानसे जबतक संसारसे मोक्ष—छुटकारा न हो तबतक अवस्थित होते हैं, क्योंकि 'योनिमन्ये०' (अन्य—अविद्यावाले मूढ जीव, शरीरग्रहण करनेके लिए योनियोंमें प्रवेश करते हैं, दूसरे अत्यन्त अधम मरणके बाद कर्म और ज्ञानके अनुसार—जैसा कर्म इस जन्ममें किया हो, उसके अनुसार और जैसा विज्ञान उपार्जन किया हो, उसके अनुरूप वृक्षादि स्थावरभाव पाते हैं) इत्यादि संसारका व्यपदेश है। अन्यथा—यदि स्वरूपतः भूतोंका लय माना जाय, तो प्रायण समयमें ही उपाधिके अस्त होनेसे अनायास ब्रह्मके साथ सम्पन्न हो जायंगे। ऐसा होनेसे विधि-

रत्नप्रभा

मित्याक्षेपात् सङ्गतिः। पूर्वपक्षे मृतमात्रस्य मुक्तिसिद्धिः, सिद्धान्ते तु कर्मविद्याशास्त्रबलात् सावशेषलयसिद्धिरिति विवेकः॥ ८॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इत्यादिसे पहले आपेक्षिक अमृतत्व कहा गया है वह अयुक्त है, इस प्रकार आक्षेपसङ्गति है। पूर्वपक्षमें मृतमात्रकी मुक्तिसिद्धि होती है और सिद्धान्तमें तो कर्म, विद्या और शास्त्रबलसे सावशेष लयसिद्धि होती है, ऐसा विवेक है॥ ८॥

भाष्य

च। मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति। तस्मात् तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद् बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

शास्त्र और विद्याशास्त्र निरर्थक होंगे। और मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुआ बन्ध सम्यग् ज्ञानके बिना नहीं टूट सकता। इसलिए परदेवताके प्रकृति होनेपर भी सुषुप्तिमें प्रलयके समान बीजभाव जिसमें अवशेष रहता है, ऐसी ही यह सत्सम्पत्ति है ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—सूक्ष्मम्, प्रमाणतः, च, तथा, उपलब्धेः।

पदार्थोक्ति—[यथोक्तं तेजः] प्रमाणतः स्वरूपतश्च सूक्ष्मम्—अणुपरिमाणम्, [कुतः ?] तथोपलब्धेः—तस्य नाडीद्वारानिष्क्रमणश्रुत्या तथा सूक्ष्मत्वस्योपलब्धेः इत्यर्थः।

भाषार्थ—यथोक्त वह तेज प्रमाणसे और स्वरूपसे सूक्ष्म है। क्योंकि नाडी द्वारा निष्क्रमणश्रुतिसे सूक्ष्मत्वकी प्रतीति होती है।

भाष्य

तच्चेतरभूतहितं तेजो जीवस्याऽस्माच्छरीरात् प्रवसत आयश्रभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति। तथा हि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य

भाष्यका अनुवाद

इस शरीरसे निकलनेवाले जीवके अन्य भूतके सहित उस आश्रयभूत तेजका स्वरूपसे और परिमाणसे सूक्ष्म होना युक्त है, क्योंकि नाडीमार्गसे उसके

रत्नप्रभा

ननु लिङ्गात्मकस्य तेजसः, कथं सूक्ष्मतमनाडीद्वारा गतिः, कुतो वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

यदि कोई कहे कि लिङ्गात्मक तेजकी सूक्ष्मनाडीद्वारा गति कैसे है, किसी मूर्त पदार्थसे

भाष्य

सौक्ष्म्यमुपलभ्यते । तत्र तनुत्वात् संचारोपपत्तिः, स्वच्छत्वाच्चाप्रतिघातोपपत्तिः । अत एव च देहान्निर्गच्छन् पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

निष्क्रमणका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति आदिसे इसकी सूक्ष्मता उपलब्ध होती है । स्वरूपतः और प्रमाणतः सूक्ष्म होनेसे उसके संचारकी उपपत्ति होती है अर्थात् नाड़ीसे उसके सचारका संभव होता है और स्वच्छ होनेसे इसका प्रतिघात नहीं होता, यह उपपन्न होता है । और उसके स्वरूपतः और परिमाणतः सूक्ष्म होनेसे निकलकर जाता हुआ वह मुमूर्षु पुरुषके समीपमें स्थित लोगोंसे देखा नहीं जाता ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

केनचित् मूर्तेन प्रतिघातो नास्ति, कुतो वा न दृश्यते, इत्यत आह—सूक्ष्ममिति । परिमाणसौक्ष्म्याद् गतिरनुद्भूतस्पर्शरूपवत्त्वाख्यस्वच्छत्वादप्रतिघातानुपलब्धी इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका प्रतिघात कैसे नहीं होता और वह दिखाई क्यों नहीं देता ? इसपर कहते हैं—"सूक्ष्मम्" इत्यादिसे । अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण गति उपपन्न होती है और जिसमें उद्भूत रूप और स्पर्श नहीं है, ऐसी स्वच्छतासे प्रतिघातका अभाव और अदर्शन उपपन्न होता है, ऐसा अर्थ है ॥९॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

पदच्छेद—न, उपमर्देन, अतः ।

पदार्थोक्ति—अतः—सूक्ष्मत्वादेव, उपमर्देन–स्थूल शरीरोपमर्देन, न—स्वयं नोपमृद्यते ।

भाषार्थ—सूक्ष्म होने कारण ही स्थूल शरीरके नाश होनेपर भी यथोक्त तेजका अर्थात् सूक्ष्म शरीरका उपमर्द नहीं होता है ।

भाष्य

अत एव सूक्ष्मत्वात् नाऽस्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत् सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

इसीसे—उस तेजके सूक्ष्म होनेसे ही इस स्थूल शरीरके दाह आदि कारणोंसे होनेवाले नाशसे अन्यका—सूक्ष्म शरीरका नाश नहीं होता ॥१०॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

पदच्छेद—अस्य, एव, च, उपपत्तेः, एष, ऊष्मा ।

पदार्थोक्ति—ऊष्मा—स्थूलशरीरे समुपलभ्यमानमौष्ण्यम्, अस्यैव—सूक्ष्मतेजस एव [धर्मः, कुतः ?] उपपत्तेः—तस्मिन् सत्येव तदुपलब्धेः, तदभावे च तदनुपलब्धेः इति अन्वयव्यतिरेकात्मकोपपत्तेः, इत्यर्थः ।

भाषार्थ—स्थूल शरीरमें प्रतीत होनेवाली गर्मी इसी सूक्ष्म तेजका धर्म है, क्योंकि सूक्ष्म तेजके रहते उसकी प्रतीति होती है और उसके अभावमें उसकी प्रतीति नहीं होती, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकात्मक युक्ति है ।

भाष्य

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैष ऊष्मा यमेतस्मिन् शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति । तथा हि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यते इत्यत उपपद्यते—प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तशरीरव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति । तथा च श्रुतिः—'उष्ण एवैष जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

इसी सूक्ष्म शरीरकी यह गर्मी है जिस गर्मीको इस शरीरमें संस्पर्शसे जानते हैं, क्योंकि मृत अवस्थामें यद्यपि देह रहता है और देहके गुण रूपादि भी रहते हैं, तो भी गर्मी उपलब्ध नहीं होती । जीवदवस्थामें ही उपलब्ध होती है, इससे यह गर्मी प्रसिद्ध-स्थूल शरीरसे अन्यमें ही आश्रित है, ऐसा उपपन्न होता है । वैसी ही श्रुति है—'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' (जीवित रहनेवाला शरीर गर्म होता है, मरनेवाला ठण्डा होता है) ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

लिङ्गसद्भावे चोष्णलिङ्गकानुमानमाह—अस्यैव चेति ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

हेतुके अस्तित्वमें उष्णताहेतुक अनुमान करते हैं—"अस्यैव च" इत्यादिसे ॥ ११ ॥

[६ प्रतिषेधाधिकरण सू० १२–१४]

किं जीवादथवा देहात् प्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते ।
जीवान्निवारणं युक्तं जीवेद्देहोऽन्यथा सदा ॥ १ ॥
तप्ताश्मजलवद्देहे प्राणानां विलयः स्मृतः ।
उच्छ्वयत्येव देहोऽतो देहात् सा विनिवार्यते ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या श्रुतिमें जो प्राणोत्क्रान्तिका निषेध है, वह जीवसे है अथवा शरीरसे।

पूर्वपक्ष—जीवसे प्राणोत्क्रान्तिका निषेध है, अन्यथा सर्वदा शरीर जीता रहेगा।

सिद्धान्त—तपे हुए पाषाणके ऊपर जैसे जलबिन्दु विलीन होता है, ठीक वैसे ही प्राणोंका विलय भी कहा गया है, इसलिए मरनेपर देह फूल जाता है, अतः प्राणोत्क्रान्तिका देहसे ही निवारण किया जाता है, जीवसे नहीं।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—प्रतिषेधात्, इति, चेत्, न, शारीरात्।

पदार्थोक्ति—प्रतिषेधात्—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुत्या निर्गुणब्रह्मविदः शरीरादुत्क्रान्तिनिषेधात् [नास्ति तस्य उत्क्रान्तिः] इति चेन्न, शारीरात्—जीवात् [अयं निषेधः, न शरीरात्, अतः प्राणादियुतस्य जीवस्य ब्रह्मविदश्चाऽस्त्युत्क्रान्तिः इति पूर्वपक्षः]।

भाषार्थ—'न तस्य प्राणा' इत्यादि श्रुतिसे निर्गुण ब्रह्मवेत्ताके शरीरसे उत्क्रमणका प्रतिषेध होनेसे उसकी उत्क्रान्ति नहीं है? नहीं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि यह निषेध जीवसे है, शरीरसे नहीं, इससे प्राणादियुक्त जीव और ब्रह्मविद्‌की उत्क्रान्ति है, यह पूर्वपक्ष है।

---

* सारांश यह है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (तत्त्वविद्‌के प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है) इस प्रकार तत्त्ववित्‌के प्राणोंकी उत्क्रान्तिका निषेध है, उस निषेधका अपादान जीव है, अर्थात् जीवसे प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती है, यदि इस प्रकार स्वीकार न किया जाय, तो मरणके अभावकी प्रसक्ति होगी।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि तपे हुए पत्थरके ऊपर फेंका गया जल जैसे न अन्यत्र जाता है और न दिखाई देता है, परन्तु स्वरूपतः लीन ही हो जाता है, ठीक वैसे ही तत्त्वविद्‌के भी प्राण देहसे अनुत्क्रान्त होते हुए भी देहमें नहीं रहते हैं, परन्तु विलीन ही हो जाते हैं, इसीसे जीवनका अभाव होनेसे 'देह मर गया' इस प्रकार व्यवहार होता है। अनुत्क्रान्त प्राणोंकी देहमें अवस्थिति नहीं है, इसमें देहका उच्छूनत्व लिङ्ग है। इतने प्रयाससे भी जीवावधिक प्राणोत्क्रान्तिका निषेध मानोगे, तो मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि जीवके साथ अवस्थित प्राणोंका देहान्तरग्रहण अवश्य प्राप्त है। इससे उत्क्रान्तिप्रतिषेधका देह ही अपादान है, जीव नहीं है।

भाष्य

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः। तत्राऽपि केनचित् कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४। ४। ६) इति, अतः परविद्याविषयात् प्रतिषेधात् न परब्रह्मविदो देहात् प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्। नेत्युच्यते। यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात्। कथमवगम्यते 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति' इति

भाष्यका अनुवाद

'अमृतत्वं चानुपोष्य' (अविद्या आदि अखिल क्लेशसमूहका अत्यन्त दाह किये बिना जो अमृतत्व प्राप्त होता है, वह आपेक्षिक अमृतत्व है) इस विशेषणसे आत्यन्तिक अमृतत्वमें गति और उत्क्रान्तिके अभावका स्वीकार किया गया है, उसमें भी किसी कारणसे उत्क्रान्तिकी आशंका करके प्रतिषेध करते हैं—'अथाकामयमानो०' (अथ—सकामकी संसारोक्तिके अनन्तर जो अकामयमान—जिसको कामना नहीं है, अकाम—बाह्यविषयोंमें विरक्त, निष्काम—अनन्तर कामवासना रहित, आप्तकाम—जिसे ब्रह्मानन्द प्राप्त हो गया है ऐसा और आत्मकाम—सर्वात्मैकत्वदर्शी होता है उस पुरुषके वाक् आदि प्राण—इन्द्रियाँ देहसे ऊर्ध्व उत्क्रमण नहीं करते, यहीं ब्रह्म ही होकर वह ब्रह्म प्राप्त करता है, शरीरपातके अनन्तर नहीं) इसलिए पर विद्यामें प्रतिषेध होनेसे परब्रह्मवेत्ताकी देहसे प्राणोंकी उत्क्रान्ति नहीं, ऐसा कहो, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि जीवात्मासे प्राणोंकी उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है, शरीरसे नहीं है। किस प्रकार समझा जाता है ? 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति' (उससे

रत्नप्रभा

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्। पूर्वमनुपोष्येतिपदेन दग्धाशेषक्लेशस्य निर्गुणज्ञानिनः उत्क्रान्त्याद्यभावः सूचितः, तस्यात्राक्षिप्य समाधानाद्व्यवहितेनास्य सङ्गतिरित्याह—अमृतत्वं चेति। सकामस्य संसारोक्त्यनन्तरं निष्कामस्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्" पहले 'अनुपोष्य' इस शब्दसे नष्ट हो गये हैं सम्पूर्ण क्लेश जिसके, ऐसे ज्ञानी पुरुषकी उत्क्रान्ति नहीं है, यह सूचन किया गया है, उसीका यहां पुनः आक्षेप करके समाधान किया जाता है, इससे दूरके साथ इसकी सङ्गति है, ऐसा कहते हैं—"अमृतत्वम्" इत्यादिसे। सकामपुरुषकी संसारोक्तिके बाद निष्काम पुरुषकी मुक्तिका प्रकरण,

भाष्य

शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात् । सम्बन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या सम्बन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते । तस्मादिति च प्राधान्याद-भ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही सम्बध्यते, न देहः । न तस्मादुच्चिक्रमिषो-र्जीवात् प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इस प्रकार अन्य शाखामें पंचमीका प्रयोग होनेसे, क्योंकि सम्बन्धसामान्य बतानेवाली षष्ठी अन्य शाखामें आई हुई पंचमीसे विशेष, सम्बन्धमें व्यवस्थापित होती है। 'तस्मात्' (उससे) उसके साथ प्राधान्यसे अभ्युदय और निःश्रेयसमें अधिकारी देहीका सम्बन्ध है, देहका नहीं। उस उत्क्रमणकी इच्छा करनेवाले जीवसे प्राण चले नहीं जाते। उसके साथ ही रहते हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

प्राणसहित प्रवास करनेवाले—शरीरसे निकलकर जानेवाले देहीकी देहसे उत्क्रान्ति होती है, ऐसा प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करते हैं—

रत्नप्रभा

मुक्तिप्रकरणार्थोऽथशब्दः, आत्मकामत्वात् पूर्णानन्दात्मवित्त्वाद् आप्तकामः—प्राप्तपरमानन्दः, अतो निष्कामः—अनभिव्यक्तान्तरवासनात्मककामशून्यः, तस्माद् अकामः—व्यक्तबहिष्कामरहितः ईदृशो योऽकामयमानस्तस्येत्यन्वयः। ज्ञानिनः उत्क्रान्तिरस्ति न वेति पञ्चमीषष्ठीश्रुतिभ्यां सन्देहे सिद्धान्तशङ्कानिरासपूर्वकं पूर्वपक्षयति—**नेत्यादिना** ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह अथशब्दका अर्थ है। आत्मकाम होनेसे और पूर्णानन्दस्वरूप आत्माको जाननेवाला होनेसे आप्तकाम—प्राप्त है परमानन्द जिसको ऐसा, इससे निष्काम—अनभिव्यक्त है भीतरी वासनात्मक काम जिसका, इसीसे अकाम व्यक्त बहिष्कामसे रहित, इस प्रकारका जो अकामयमान उसका, ऐसा अन्वय है। ज्ञानियोंकी उत्क्रान्ति है या नहीं, इस प्रकार पञ्चमी और षष्ठी श्रुतिसे सन्देह होनेपर सिद्धान्तीकी शङ्काका निरास करके पूर्वपक्ष करते हैं—"न" इत्यादिसे ॥१२॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—स्पष्टः, हि, एकेषाम् ।

पदार्थोक्ति—एकेषाम्—काण्वानाम् [शाखायां प्राणानां परब्रह्मविदः देहादुत्क्रान्तिनिषेधः], स्पष्टः—विस्पष्टः, हि—यतः [उपलभ्यते, अतः न तस्य उत्क्रान्तिः, अपि तु अत्रैव लयः इति भावः] ।

भाषार्थ—चूँकि काण्वोंकी शाखामें परब्रह्मविद्के प्राणोंकी उत्क्रान्तिका निषेध उपलब्ध होता है, इसलिए तत्त्ववेत्ताके प्राणोंका देहसे उत्क्रमण नहीं होता है, परन्तु यहींपर लय होता है ।

भाष्य

न तदस्ति, यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिः प्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वादिति । यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते । तथा हि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत

भाष्यका अनुवाद

परब्रह्मवेत्ताकी भी देहसे उत्क्रान्ति होती है, क्योंकि उत्क्रान्तिके प्रतिषेधमें जीव अपादान है, ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि कुछ शाखावालोंका देहसे भी उत्क्रान्तिका प्रतिषेध स्पष्टतया उपलब्ध होता है, क्योंकि 'यत्रायं पुरुषो म्रियते' (जब यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष

रत्नप्रभा

काण्वश्रुतौ तावत् 'तस्य' इति सर्वनाम्ना प्रकृतं ज्ञानिनं परामृश्य सम्बन्धसामान्यमुक्तम्, तत्र माध्यन्दिनशाखायां तस्मादित्यपादानत्वरूपविशेष उक्तो ग्राह्यः, तथा च जीवात् प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधो भाति, न देहात्; तच्छब्देन देहस्यानुक्तेः । तस्मात् ज्ञानिनोऽप्युत्क्रान्तिरस्ति इति ज्ञानवैयर्थ्यमिति पूर्वपक्षफलम् । सिद्धान्ते तस्सार्थक्यमाह—स्पष्टो हीति । अत्र पुरुषशब्दवाच्यो देह एवाऽस्मा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

काण्वश्रुतिमें 'तस्य' इस प्रकार षष्ठ्यन्त सर्वनामसे प्रकृत-ज्ञानवान् पुरुषका परामर्श करके सामान्य सम्बन्ध कहा गया है, उसमें माध्यदिनशाखामें 'तस्मात्' इस प्रकार अपादान-रूप विशेष कहा गया है, उसीका ग्रहण करना चाहिए । इससे यह प्रतीत होता है कि जीवसे प्राणके उत्क्रमणका प्रतिषेध है देहसे प्राणके उत्क्रमणका प्रतिषेध नहीं है, क्योंकि 'तत्' (उस) शब्दसे देहका कथन नहीं है । इसलिए ज्ञानी पुरुषकी भी उत्क्रान्ति है, अतः ज्ञान व्यर्थ है, यह पूर्वपक्षका फल है । सिद्धान्तमें उसकी सार्थकता कहते हैं—"स्पष्टो हि" इत्यादिसे । यहाँ

भाष्य

उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३।२।११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम् 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' (बृ० ३।२।११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति। देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः। तत्सामान्यात् 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचा-

भाष्यका अनुवाद

मृत्युको प्राप्त होता है तब उसके प्राण ऊर्ध्वको जाते हैं या नहीं जाते हैं ?) इस प्रकार आर्तभागका प्रश्न होनेपर 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (याज्ञवल्क्यने कहा कि प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इस प्रकार अनुत्क्रान्तिपक्षका स्वीकार करके प्राणोंके अनुत्क्रान्त होनेपर क्या यह मरता नहीं है, ऐसी आशंका होनेपर 'अत्रैव समवलीयन्ते' (इसमें ही परमात्माके साथ अविभागसे लीन हो जाते हैं) इस प्रकार प्राणके प्रविलयकी प्रतिज्ञा करके उसकी सिद्धिके लिए 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो०' ([तब क्या यह मरा नहीं, नहीं नहीं, मरा है, क्योंकि] वह फूल जाता है—बाह्य वायुसे भर जाता है, मृत्युको प्राप्त होकर सोता है—निश्चेष्ट हो जाता है) इसमें 'सः' (वह) इस शब्दसे परामृष्ट प्रकृत उत्क्रान्तिकी अवधिका उच्छ्वयन—फूलना आदि कार्य श्रुति कहती है। यह उच्छ्वयन देहका होता है, देहीका नहीं होता, विद्याप्रकरणरूप साधर्म्य होनेसे—उक्त श्रुतिके साथ एकार्थक होनेसे 'न तस्मात् प्राणाः' (उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते, इसीमें—पर आत्मामें ही पूर्णरूपसे लीन हो जाते हैं) इसमें भी

रत्नप्रभा

दित्युत्क्रान्त्यवधिरुच्यते। सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्य पुरुषस्योच्छ्वयनादिधर्मकस्य जीवत्वायोगादित्यर्थः। उच्छ्वयति बाह्यवायुपूरणाद् वर्धते, आध्मायति आर्द्रभेरीवत् शब्दं करोतीत्यर्थः। येषां पञ्चमीपाठः, तेषां यद्यपि देहिनः प्राधान्यम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरुषशब्दसे कहलानेवाला देह ही 'तस्मात्' इससे उत्क्रान्तिकी अवधि कही जाती है। तात्पर्य यह है कि 'स'-शब्दसे परामृष्ट जो उच्छ्वास आदि धर्मवाला पुरुष है, वह जीव नहीं हो सकता है। उच्छ्वयति—बाहरके वायुके भर जानेसे बढ़ जाता है। आध्मायति—आर्द्र नगारेके समान शब्द करता है, ऐसा अर्थ है। जिनके मतसे पंचमी पाठ है, उनके मतसे

भाष्य

रेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः। यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः। येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्सम्बन्धिन्युत्क्रांतिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः। अपि च 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्येवमविद्वद्विषयेषु सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमानः'

भाष्यका अनुवाद

अभेदोपचारसे देह जिसमें अपादान है, ऐसे ही उत्क्रमणका प्रतिषेध है। इस प्रकार जिनके पंचमीविभक्त्यन्त पाठ है उनको यद्यपि देहीका प्राधान्य है, तो भी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। परन्तु जिनके मतमें षष्ठीविभक्त्यन्त पाठ है, उनके मतमें विद्वत्सम्बन्धी उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है, इसलिए इस वाक्यका अर्थ प्राप्त हुई उत्क्रान्तिका प्रतिषेध होनेसे जिसमें देह अपादान है, ऐसी ही उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है, क्योंकि देहसे उत्क्रान्ति प्राप्त है, देहीसे प्राप्त नहीं है। और 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा०' (आंख से या मूर्धासे या अन्य शरीरभागोंसे जब जीव उत्क्रमण करता है, तब प्राण उसके पीछे उत्क्रमण करते हैं, उत्क्रमण करते हुए उस प्राणके पीछे सब प्राण (इन्द्रियां) उत्क्रमण करता है) इस प्रकार अविद्वान्के सप्रपंच उत्क्रमण और संसारगमन दिखला कर 'इति नु कामयमानः' (इस प्रकार कामना

रत्नप्रभा

तथापि देहदेहिनोरभेदात् तस्मादिति देहं परामृश्य तदपादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध इति व्याख्येयम्। तत्सामान्यादुक्तश्रुत्याऽस्य पाठस्यैकार्थत्वादिति योजना। इदानी काण्वपाठस्याऽऽनुगुण्यमाह—येषां तु षष्ठीपाठ इति। सम्बन्धविशेषाकाङ्क्षायां भोक्त्रा प्राणानां भोगोपकरणत्वविशेषोऽत्रैव "प्राणमयो मनोमयः"

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि देहीका—जीवका प्राधान्य है, तथापि देह और देहीकी अभेदविवक्षासे 'तस्मात्' इस शब्दसे देहका परामर्श कर देहावधिक ही उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है, इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए। उसी रीतिसे उक्त श्रुतिसे इस पाठकी एकार्थता होनेसे, इस प्रकार योजना है। अब काण्व श्रुतिकी अनुकूलता कहते हैं—"येषान्तु षष्ठीपाठ" इत्यादिसे। भोक्ताके साथ प्राणोंके सम्बन्धविशेषकी आकांक्षा होनेपर भोगोपकरणत्वरूप ही यहाँ सम्बन्धविशेष 'मनोमय. प्राणमय.' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार ग्रहण करना

भाष्य

(बृ० ४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात् । तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयं व्यपदेशार्थवत्त्वाय । न च ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात् । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

करनेवाला संसारको प्राप्त होता है) इस प्रकार अविद्वान्‌की कथाका उपसंहार करके 'अथाकामयमानः' (अब जिसको कामना नहीं है) इस प्रकार विद्वान्‌का निर्देश करके यदि उसके विषयमें भी उत्क्रान्ति ही प्राप्त करावे—उसकी उत्क्रान्ति ही कहे, तो यह व्यपदेश असमंजस—अयुक्त ही होगा । इसलिए अविद्वान्‌के लिए प्राप्त हुई गति और उत्क्रान्तिका विद्वान्‌में प्रतिषेध है, इसी प्रकार व्यपदेशके सार्थक होनेके लिए व्याख्यान करना युक्त है । उसी प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता है, सर्वगत ब्रह्म जिसका आत्मा है, जिसके काम और कर्म प्रक्षीण हुए हैं, उसकी उत्क्रान्ति या गति उपपन्न नहीं होती, क्योंकि निमित्त नहीं है । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (यहां ब्रह्म प्राप्त करता है) इस प्रकारकी श्रुतियां गति और उत्क्रान्तिका अभाव सूचित करती हैं ॥१३॥

रत्नप्रभा

इति पूर्वश्रुत्युक्तो ग्राह्यः, न शाखान्तरस्थमपादानत्वं ग्राह्यम् । जीवादुत्क्रान्तेरप्राप्तायाः प्रतिषेधायोगाद् अतो विद्वत्सम्बन्धिप्राणानाम् उत्क्रान्त्यपादानापेक्षायां "चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा' इत्युक्तदेहप्रदेशा एव ग्राह्याः । तथा चायमर्थः । तस्य विदुषो भोगोपकरणात्मकाः प्राणाः देहप्रदेशेभ्यो नोत्क्रामन्तीति । एवञ्च प्राप्तोत्क्रान्तिनिषेधार्थत्वं वाक्यस्येति सर्वं चतुरस्रम् । अपि चेति स्पष्टार्थम् ॥१३॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए, परन्तु अन्यशाखोक्त अपादानत्वरूपसम्बन्धका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जीवसे उत्क्रान्तिकी प्राप्ति न होनेसे प्रतिषेध नहीं कर सकते हैं, इससे विद्वान्‌के सम्बन्धी प्राणोंके अपादानकी अपेक्षामें (चक्षुष्टो वा, मूर्ध्नो वा) इत्यादिसे कथित चक्षु आदि प्रदेशका ग्रहण करना चाहिए । इसलिए यह अर्थ हुआ—उस विद्वान्‌के भोगोपकरणभूत प्राण देहप्रदेशसे उत्क्रमण नहीं करते हैं । अतः प्राप्त उत्क्रान्तिके प्रतिषेधके लिए उक्त वाक्य है, इससे सब अनवद्य है । "अपि च" इत्यादि स्पष्टार्थक है अर्थात् उसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं ॥१३॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

पदच्छेद—स्मर्यते, च,

पदार्थोक्ति—च—अपि च, स्मर्यते—'देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' इत्यनेन महाभारतवचनेन विदुषः उत्क्रान्त्यभावः स्मर्यते, इत्यर्थः ।

भाषार्थ—और भी 'देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति०' (प्राप्यपदसे रहित अर्थात् जिसको कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, ऐसे ब्रह्मविद्‌के मार्गको देव लोग भी नहीं जानते हैं) इस महाभारतके वचनसे विद्वान् की उत्क्रान्तिका अभाव कहा गया है।

भाष्य

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—

'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ।

देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥' इति । ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादि-

भाष्यका अनुवाद

और महाभारतमें गति और उत्क्रान्तिके अभावकी स्मृति है—'सर्वभूतात्मभूतस्य' (सब भूतोंका जो आत्मरूप है और जिसको भूतोंका सम्यक् अर्थात् आत्मभाव से ज्ञान है, उसके लिए प्राप्य स्थान नहीं है, ऐसे प्राप्य पदरहित ब्रह्मवेत्ताके पदकी इच्छा करनेवाले देवता भी उसके मार्गमें मोह प्राप्त करते हैं—उसके मार्गका अभाव होनेसे देव उसे नहीं जानते) परन्तु सर्वगत ब्रह्म ही जिसका आत्मा है, ऐसे ब्रह्मवेत्ताकी गति भी स्मृतिमें है—'शुकः किल' (कहते हैं कि व्यासजीके पुत्र शुक मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे आदित्यमण्डलकी तरफ गये और उनके पीछे जाकर पिताने उनको बुलाया तब उन्होंने 'ओ' ऐसा उत्तर दिया)।

रत्नप्रभा

सम्यगात्मभावेन भूतानि पश्यतः, अपदस्य—प्राप्यपदरहितस्य, पदैषिणः देवा अपि, मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति तदभावादिति स्मृतियोजना स्मृत्यन्तरविरोधं शङ्कते—**ननु गतिरपीति** । सगुणविद्याबलेनैषा गतिरिति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

यथार्थ आत्मभावसे भूतोंको देखनेवाले प्राप्यपदसे रहित ब्रह्मविद्‌के मार्गको पदाभिलाषी देव भी नहीं जानते हैं, क्योंकि उसका अभाव है, ऐसी योजना है। अन्य स्मृतिके विरोधकी आशङ्का करते हैं—"ननु गतिरपि" इत्यादिसे। सगुण विद्याके सामर्थ्यसे यह गति है, इस

भाष्य

त्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति। न सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम्, सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात्, नह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः। तथा च तत्रैवोपसंहृतम्—

'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत् ॥' इति।

तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः। गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

नहीं योगबलसे सशरीर ही विशिष्ट देश प्राप्त करके शरीरका त्याग करता है, उसका यह शरीरत्याग है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि वह सब प्राणियोंसे दृश्य था, ऐसा उपन्यास है, क्योंकि शरीररहित जाता हो, उसको सब भूत देख नहीं सकते। इसी प्रकार वहीं उपसंहार किया है—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं०' (शुकदेव तो अन्तरिक्षमें जाकर पवनसे विशेष त्वरित गति करके और अपना प्रभाव दिखलाकर सर्वभूतगत हुए)। इसलिए परब्रह्मवेत्ताकी गति और उत्क्रान्तिका अभाव है। गति दिखलानेवाली श्रुतियोंके विषयका हम आगे—तीसरे पादमें व्याख्यान करेंगे ॥१४॥

रत्नप्रभा

सशरीरस्येति। ननु तर्हि 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' 'स एवैतान् ब्रह्म गमयति' इत्यादिश्रुतीनां का गतिः, तत्राह—गतीति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रकार परिहार करते हैं—"सशरीरस्य" इत्यादिसे। परन्तु 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (उस सुषुम्ना नाडीसे ऊर्ध्व जाकर अमृतत्व प्राप्त करता है) 'स एवैतान् ब्रह्म गमयति' (वही इनको ब्रह्म प्राप्त करवाता है) इत्यादि श्रुतियोंकी व्यवस्था क्या होगी? उसपर कहते हैं—"गति" इत्यादिसे ॥ १४ ॥

[७ वागादिलयाधिकरण सू० १५]

ज्ञस्य वागादयः स्वस्वहेतौ लीनाः परेऽथवा ।
'गताः कला' इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु तल्लयः ॥१॥
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्वद्दृष्ट्या लयः परे ।
*अन्यदृष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् * ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—तत्त्वज्ञानीकी वाक् आदि इन्द्रियाँ अपने अपने कारणमें लीन होती हैं अथवा पर ब्रह्ममें लीन होती हैं ?

पूर्वपक्ष—'गताः कलाः पञ्चदश' इत्यादिसे ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञानियोंकी इन्द्रियाँ अपने अपने उपादानमें ही लीन होती हैं, पर ब्रह्ममें लीन नहीं होती।

सिद्धान्त—जैसे नदियोंका समुद्रमें लय होता है, उसी प्रकार परमात्मामें कलाओंका लय होता है, इस प्रकारकी साम्योक्तिसे विद्वान्‌की दृष्टिसे कलाओंका परमात्मा में ही लय होता है और 'गताः कलाः' इत्यादि शास्त्र तो अविद्वानोंकी दृष्टिसे उदाहृत है।

---

*सारांश यह है कि तत्त्वज्ञानियोंके वागादि प्राणोंका अग्नि आदिमें लय होता है, परमात्मामें लय नहीं होता। 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इसमें कलाशब्दवाच्य प्राण आदिके प्रतिष्ठाशब्दवाच्य स्वकारणोंमें—अग्नि आदिमें विलयका प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि 'यत्रास्य पुरुषस्य' इत्यादि वचन प्रमाण है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—इसमें तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिसे परमात्मामें ही उन कलाओंका लय होता है, इस प्रकार अन्य श्रुतिसे निर्णय करते हैं 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (जैसे समुद्रमें आनेपर नदियाँ अपने नाम और रूपको छोड़कर विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् भी नाम और रूपको छोड़कर परमात्मामें लीन हो जाता है) इस प्रकार नदी और समुद्रका दृष्टान्त कहा गया है। यद्यपि दार्ष्टान्तिकमें स्पष्टरूपसे लय नहीं कहा गया है, परन्तु अन्य श्रुतिमें स्पष्टतया भासता है। जैसे—यथेमाः नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते एवमेवाऽस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे 'पुरुष' इत्येवं प्रोच्यते' इसका अर्थ यह है—उक्त नदीसमुद्रके दृष्टान्तसे कलाएँ भी पुरुषको प्राप्त कर अपने नामरूपको छोड़कर पुरुषशब्दसे ही कही जाती हैं। भिद्येते—विलीन होते हैं। 'गताः' इत्यादिशास्त्र तटस्थ पुरुषपरक है, इससे दोनों श्रुतियोंका विरोध नहीं है, इसलिए परमात्मामें ही कलाओंका लय होता है।

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

पदच्छेद—तानि, परे, तथा, हि, आह।

पदार्थोक्ति—तानि—यथोक्तानि प्राणाख्येन्द्रियाणि, परे—परस्मिन् ब्रह्मणि [लीयन्ते] हि—यतः, तथा—उक्तप्रकारेण, आह—'एवमेवास्य' इत्यादिश्रुतिः प्रतिपादयति।

भाषार्थ—यथाकथित प्राणनामक इन्द्रियाँ पर ब्रह्ममें लीन होती हैं, क्योंकि इसी बात को 'एवमेवास्य' इत्यादि श्रुति कहती है।

भाष्य

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते। कस्मात्? तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छ-

भाष्यका अनुवाद

परब्रह्मवेत्ताकी वे प्राणशब्दसे कही गई इन्द्रियां और भूत उसी पर आत्मामें लीन होते हैं। किससे? इससे कि श्रुति ऐसा कहती है—

रत्नप्रभा

तानि परे तथा ह्याह। पूर्वत्र गतिनिषेधेन विद्वत्कलानां प्राणादीनामत्रैव लय उक्तः, तमुपजीव्य स किं तत्तत्कलाप्रकृतिषु पृथिव्यादिषु स्यात्, उत परमात्मनीति श्रुतिद्वयदर्शनात् संशयः कार्यः। तत्र साक्षात् प्रकृतौ विकारलय इति न्यायानुगृहीतया 'गताः कलाः' इति श्रुत्या पूर्वपक्षमग्रे वदन्नादौ सिद्धान्तमाह—तानीति। यथा नद्यः समुद्रं प्राप्य लीयन्ते एवमेवास्य परितः—सर्वत्र ब्रह्मद्रष्टुरिमाः प्राणश्रद्धाद्याः पुरुषायणाः पुरुषे कल्पिताः पुरुषमेव ज्ञेयं प्राप्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तानि परे तथा ह्याह"। पहले गतिका निषेध करनेसे विद्वान्‌की कलाओंका अर्थात् प्राण आदिका यहींपर लय कहा गया है, उसीके आधारपर संशय किया जाता है कि क्या वह लय तत्तत् कलाके प्रकृतिभूत पृथ्वी आदिमें होगा अथवा परमात्मामें? क्योंकि इस प्रकार दोनों श्रुतियोंकी उपलब्धि होती है। इस परिस्थितिमें 'साक्षात् प्रकृतिमें अर्थात् मुख्य उपादानमें विकारका लय होता है' इस न्यायसे अनुगृहीत 'गताः कलाः पञ्चदश' इत्यादि श्रुतिसे पूर्वपक्षको आगेके लिए छोड़ कर प्रथम सिद्धान्त कहते हैं—"तानि" इत्यादिसे। जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें जाकर विलीन हो जाती हैं—उसी प्रकार सभी वस्तुएँ ब्रह्मदृष्टि रखनेवाले इस पुरुषके ये प्राण, श्रद्धा आदि, जो पुरुषमें कल्पित हैं, ज्ञेय पुरुषको प्राप्त कर उसमें लीन हो

भाष्य

न्ति' (प्रश्न० ६ । ५) इति । ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० ३ । २ । ७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म । न । सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति । इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा, कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव सम्पद्यत इति । तस्माददोषः ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः०' (जैसे ये नदियां समुद्रमें प्राप्त होकर विलीन हो जाती हैं—वैसे ही समन्तात् अनवच्छिन्न प्रत्यग् ब्रह्मका दर्शन करनेवाले इस जीवकी स्वानुभवगम्य पुरुषमें कल्पित ये प्राण आदि सोलह कलाएँ परम पुरुषको प्राप्त करके—पुरुषात्मभाव पाकर उसमें विलीन हो जाती हैं)। 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मोक्षकालमें देहारम्भक प्राणादि पन्द्रह कलाएँ अपने-अपने कारणमें लीन हो जाती हैं) इस प्रकार अन्य श्रुति विद्वान्को विषय करके ही पर आत्मासे अन्यत्र भी कलाओंका प्रलय कहती है। नहीं, यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं है, पार्थिवादि कलाएँ पृथिवी आदि स्वप्रकृतिमें लीन होती हैं, वह श्रुति व्यवहारकी अपेक्षासे है अर्थात् विकार पृथिवी आदि स्वप्रकृतिमें लीन होते हैं, इस प्रकार इस श्रुतिद्वारा व्यवहारकी दृष्टिसे कहा गया है। परब्रह्मवेत्ताकी सम्पूर्ण कलाएँ ब्रह्ममें ही सम्पन्न होती हैं, यह दूसरी श्रुति तो विद्वत्प्रतिपत्तिकी—विद्वद्दृष्टिकी अपेक्षा रखती है। इसलिए दोष नहीं है ॥१५॥

रत्नप्रभा

लयं गच्छन्तीत्यर्थः । मनःप्राणयोरेकीकरणेन कलानां पञ्चदशत्वम् । 'प्रतिष्ठाः' इति द्वितीयाबहुवचनम् । स्वस्य प्रकृतीः पृथिव्याद्या इत्यर्थः । वस्तुगत्या विद्वद्दृष्ट्या परमात्मनि कलालयेऽपि लोकदृष्ट्या प्रतिष्ठासु लयोक्तिरविरुद्धा । तथा च कलाः स्वप्रकृतिषु विलाप्य ताभिः सह पुरुषे लीयन्ते इति श्रुतिद्वयतात्पर्यम् ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जाते हैं, ऐसा अर्थ है। मन और प्राणके एकीकरणसे पञ्चदश कलाएँ हैं, 'प्रतिष्ठाः' यह द्वितीयाका बहुवचन है। अपनी प्रकृति—पृथिवी आदि, यह अर्थ है। वस्तुतः विद्वान्की दृष्टिसे परमात्मामें कलाका लय होनेपर भी लोकदृष्टिसे प्रतिष्ठामें लयके कथनका विरोध नहीं है। इससे श्रुतिका यह तात्पर्य हुआ कि अपनी प्रकृतिमें कलाओंका लय करके अनन्तर उनके साथ पुरुषमें लीन होती हैं, यह दोनों श्रुतियोंका तात्पर्य है ॥ १५ ॥

[८ अविभागाधिकरण सू० १६]

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाऽथवात्मनि ।
शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥१॥
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव संक्षयः ।
अज्ञे जन्मान्तरार्थन्तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उन वाग् आदिका जो आत्मामें लय होता है, वह सावशेष होता है ? अथवा निरवशेष होता है ?

पूर्वपक्ष—सावशेष होता है, अर्थात् उनका शेष अवश्य रहता है, क्योंकि अज्ञानियोंमें ऐसी बात देखी जाती है ।

सिद्धान्त—श्रुतिमें नाम और रूपका विलय कहा गया है, इसलिए निःशेष ही प्राणोंका लय होता है । जो अज्ञानी पुरुष हैं, उनका तो जन्मान्तर होता है, इसलिए उनके लिए शक्तिशेषता अभीष्ट है ।

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—अविभागः, वचनात्,

पदार्थोक्ति——अविभागः—विद्वत्कलानां ब्रह्मणा सहात्यन्तमविभाग एव [कुतः ?], वचनात्—कलानां लयोक्त्यनन्तरं 'भिद्येते तासां नामरूपे' 'स एषोऽकलोऽमृतो भवति' इत्यादिश्रुतिवाक्यादित्यर्थः ।

भाषार्थ—विद्वान् की कलाओंका ब्रह्मके साथ अत्यन्त अविभाग ही है, क्योंकि कलाओं के लयके बाद 'भिद्येते तासां नामरूपे' 'स एषोऽकलोऽमृतो भवति' इत्यादि वचन हैं ।

---

* भाव यह है कि पूर्व अधिकरणमें जिस लयका प्रतिपादन किया गया है, वह निःशेष नहीं होता है, सावशेष रहता है, किससे ? वाग् आदिका लय होनेसे, अज्ञानीके वाग् आदिके लयके समान ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—'भिद्येते तासां नामरूपे' इस श्रुतिमें जीवकी जो संसारहेतु कलाएँ हैं उनके नाम और रूपका भेद–लय सुना जाता है । और कलाओंका वाक्यके उपक्रममें अनुक्रम किया है—'स प्राणमसृजत, प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः' (उस ईश्वरने प्राणको बनाया प्राणसे श्रद्धा, आकाश, तेज और जल आदि बनाये) इत्यादि । यदि प्राण आदिके नाम और रूप शक्तिके अवशेषसे लीन हों, तो नाम और रूपके

भाष्य

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति । तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति— अविभागापत्तिरेवेति । कुतः ? वचनात् । तथा हि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति 'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भव-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु विद्वान्‌का वह कलाप्रलय दूसरोंके—अविद्वानोंके कलाप्रलयके समान सावशेष होता है अथवा निरवशेष होता है ?

पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर प्रलयके सादृश्यसे शक्ति सावशेष रहती है, ऐसा प्राप्त होता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं अविभागसे ही प्राप्त होता है। किससे ? वचनसे, क्योंकि श्रुति कलाओंका प्रलय कहकर—'भिद्येते तासां नामरूपे०' (इन कलाओंके नाम और रूपका नाश होता है, जो तत्त्व नष्ट नहीं होता, उस

रत्नप्रभा

अविभागो वचनात् । उक्तलयमुपजीव्य लयस्य द्वेधा दर्शनात् संशयमाह—स पुनरिति । मुक्त्यसिद्धिः, तत्सिद्धिश्चेत्युभयत्र फलम् । अवशेषः मूलकारणे शक्त्यात्मना स्थितिः, पुनर्जन्मयोग्यतेति यावत् । विमतः कलालयः सावशेषः, कलालयत्वात्, सुषुप्तिवदिति पूर्वपक्षः । विमतः निरवशेषः, विद्याकृतत्वाद्, रज्ज्वां विद्यया सर्पलयवदिति युक्त्युपेतश्रुत्या सिद्धान्तयति—ब्रवीतीति । नामरूपे शक्त्यात्मके अपि भिद्येते इत्यर्थः ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अविभागो वचनात्" । कथित लयके आधारपर दो प्रकारके लयके दर्शनसे संशय कहते हैं—"स पुनः" इत्यादिसे । मुक्तिकी असिद्धि और मुक्तिकी सिद्धि उभयत्र—पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें फल है । अवशेष—मूलकारणमें शक्तिरूपसे अवस्थान अर्थात् पुनर्जन्मकी योग्यता । विवादास्पद कलाका विलय सावशेष होता है, कलालय होनेसे सुषुप्तिके लयके समान, इस प्रकार पूर्वपक्ष है । विमतलय निरवशेष है, विद्याजन्य होनेसे, ज्ञानसे रज्जुमें सर्पलयके समान, इस प्रकारकी युक्तिसे युक्त श्रुतिसे सिद्धान्त करते हैं—'ब्रवीति" इत्यादिसे । शक्तिरूपसे भी नाम और रूप विलीन होते हैं, ऐसा अर्थ है ॥ १६ ॥

प्रलय की प्रतिपादिका श्रुति विरुद्ध होगी, क्योंकि शक्तिरूपसे नाम और रूप रह जायँगे । जन्मान्तरके लिए अज्ञानियोंकी तो शक्त्यवशेषता रहती है । इससे तत्त्ववेत्ताओंके वाग् आदिका परमात्मामें निःशेष लय होता है ।

भाष्य

ति' (प्र० ६ । ५) इति । अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः । तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

अनष्ट तत्त्वको ब्रह्मवेत्ता पुरुष कहते हैं, वह कलारहित अमृत है) ऐसा कहती है। अविद्यासे उत्पन्न हुई कलाएँ विद्यानिमित्तक प्रलयमें सावशेष रहें, यह उपपन्न होता है। इसलिए अविभाग ही है ॥ १६ ॥

[९ तदोकोऽधिकरण सू० १७]

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितु. ।
हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात् ॥१॥
मूर्द्धन्ययैव नाड्यासौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात् ।
विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यदर्शनात् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उपासक की उत्क्रान्ति अन्य जनोंकी उत्क्रान्तिके समान है या ओरो की अपेक्षा विशिष्ट है ?

पूर्वपक्ष—हृदयप्रद्योतन — नाडीमुखज्वलनरूप साम्यके कथनसे औरोंकी उत्क्रान्तिसे विद्वान्‌की उत्क्रान्ति विशिष्ट नहीं है।

सिद्धान्त—उपासकका मूर्धन्य नाडीसे ही उत्क्रमण होता है, क्योंकि उससे मूर्धन्य नाड़ीका ही चिन्तन किया जाता है इससे और सगुण ब्रह्मविद्याके सामर्थ्यसे औरोंके उत्क्रमण की अपेक्षा उपासक की उत्क्रान्ति विशिष्ट है।

---

* तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—उपासक की जो यह उत्क्रान्ति है वह मार्गके उपक्रम तक तो अन्य लोगों की उत्क्रान्तिके समान है, ऐसा पहले कहा गया है। मार्गका उपक्रम होनेपर भी वह समान ही होनी चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें हृदयप्रद्योतन आदि समान कहे गये हैं—"तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति श्रूयते, इसका अर्थ यह है कि वाणी मनमें लीन होती है इस क्रमसे शक्ति है शेष जिसमें ऐसा जीवसहित लिङ्गशरीर जब परमात्मामें लीन होता है, तब पूर्वजन्म समाप्त होता। तदनन्तर दूसरे जन्मके लिए वह लिङ्गशरीर फिर हृदयमें प्रादुर्भूत होता है। उस अवसरमें हृदयके अग्रभागमें स्थित लिङ्ग शरीरको प्राप्त होनेवाले भावी जन्मका दर्शक, जिसे लोकमें अन्त्यप्रत्यय कहते हैं, कोई एक प्रद्योत उत्पन्न होता है, उससे युक्त होकर वह आत्मा नाडियोंसे निकलता है। यह सब लोगोंका समान है। इसलिए उपासक की उत्क्रान्तिका अन्य लोगोंसे कोई विशेष नहीं है।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

पदच्छेद—तदोकोग्रज्वलनम्, तत्प्रकाशितद्वारः, विद्यासामर्थ्यात्, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्, च, हार्दानुगृहीतः, शताधिकया।

पदार्थोक्ति—तदोकोग्रज्वलनम्—तस्य लीनवृत्तिकवागादिसमुदायस्योत्क्रमिष्यतो जीवस्य, ओकः—आधारभूतं हृदयम्, तस्य यदग्रम्—ऊर्ध्वभागः तस्य ज्वलनम्—प्रासन्यज्ञानरूपं द्योतनाख्यम्, आदौ भवति, तत्प्रकाशितद्वारः—तेनद्योतनेन प्रकाशितद्वारः—प्रदर्शितदेवयानमार्गः [विद्वान् अविद्वाँश्च भवति, तत्राविद्वान् स्थानान्तरेभ्यो निष्क्रामति, विद्वाँस्तु मूर्धस्थानादेव, कुतः ?] विद्यासामर्थ्यात्—ज्ञानबलात् [यदि नाम सविद्योऽपि विद्यारहितवदितरस्थानेभ्यो विनिष्क्रामेत, नैवोत्कृष्टं फलं लभेत, ननु स्थानान्तरेभ्योऽपि उत्क्रामन्नुत्कृष्टं फलं प्राप्नुयादिति चेन्नेत्याह] तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च—तस्याः सगुणविद्यायाः शेषभूता या गतिः मूर्धन्यनाडीस्मृतिः तस्या अनुस्मृतिर्ध्यानं तद्योगात्—तद्विधानाच्च [यदि स्थानान्तरेभ्योऽपि निष्क्रामतोऽपि विशिष्टफलप्राप्तिः स्यात्, तर्हि विशिष्टगतिचिन्तनविधानं व्यर्थमेव स्यात्, अतः दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैर्दृढमासेवितेन] हार्देन ब्रह्मणा अनुगृहीतः—तद्भावापन्नो विद्वान् शताधिकया—शतादप्यधिकया नाड्या मूर्धन्ययैव निष्क्रामति, इत्यर्थः।

भावार्थ—जिसकी वाग् आदि इन्द्रियाँ लीन हुई हैं, ऐसे उत्क्रमणशील जीवका आधारभूत जो हृदय है, उसका जो ऊर्ध्व भाग है उसका विकास पहले होता है, और उस विकाससे देवयानादिमार्गका प्रकाश विद्वान् और अविद्वान् दोनोंको होता है। इस परिस्थितिमें जो विद्वान् है, वह मूर्धस्थानसे निकलता है और अविद्वान् अन्य मार्गसे जाता है, कारण कि सगुणविद्याकी

सिद्धान्ती कहते हैं—मस्तक की नाड़ीसे उपासकका उत्क्रमण होता है अन्य नाड़ियोंसे और लोगोंका उत्क्रमण होता है, क्योंकि उपासकसे मूर्धन्य नाड़ी चिन्तित है और सगुण विद्याकी ऐसी सामर्थ्य है। अन्य श्रुतियोंमें यह विषय स्पष्टरूपसे प्रतिपादित है—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' अर्थात् हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं उनमेंसे एक नाड़ी मस्तकको प्राप्त हुई है उस नाड़ीसे उत्क्रमण करने वाला अमृतत्व—मोक्षको प्राप्त होता है अन्य नाड़ियाँ उत्क्रमणके लिए उपयोगी होती हैं उनसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि उपासककी उत्क्रान्तिमें अन्य की अपेक्षा विशेष है।

शेषभूत गतिके याने मूर्धन्यनाडीमार्गके ध्यानका विधान है। यदि अन्य मार्गसे जानेवालेकी भी विशिष्टफलप्राप्ति हो, तो विशिष्टमार्गचिन्तनके विधानका वैयर्थ्य प्रसक्त होगा, इससे ब्रह्मसे अनुगृहीत—दीर्घसमय और नैरन्तर्य आदि दृढतासे सेवित हार्द-ब्रह्मसे अनुगृहीत विद्वान् एक सौ एकवीं मूर्धन्यनाडीसे निष्क्रमण करता है।

भाष्य

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता, सम्प्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद् विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तम्, तमिदानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति। तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयम् 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रज्वलनम् तत्पूर्विका चक्षुरा-

भाष्यका अनुवाद

प्रसङ्गप्राप्त परविद्याविषयक विचार समाप्त हुआ। अब सूत्रकार अपरविद्याविषयक विचारका फिर आरम्भ करते हैं। मार्गके उपक्रमतक विद्वान् और अविद्वान्की उत्क्रान्ति समान होती है, ऐसा कहा जा चुका है। अब उस मार्गके उपक्रमको दिखलाते हैं। जिसके अपने वागादिसमूहका उपसंहार हो गया है, उत्क्रमण करनेवाले उस विज्ञानात्माका ओक—स्थान हृदय है, क्योंकि 'स एतास्तेजोमात्राः०' (वह आत्मा इस तेजके अवयव—चक्षुरादि इन्द्रियोंका उपसंहार करता हुआ हृदयमें ही प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है। उस हृदयके अग्रका

रत्नप्रभा

तदोकोऽग्रज्वलनम्०। सृतेः—मार्गस्य, उपक्रमः—नाडीप्रवेशनियमः, तं वक्तुं सूत्रभागव्याख्याद्वारा अधिकरणविषयमाह—तस्येति। सः—मुमूर्षुः, तेजोमात्राः—इन्द्रियाणि। तस्य—हृदयस्य, अग्रम्—नाडीमुखम्, तस्य ज्वलनम्—भाविफलस्फुरणं प्रद्योतनाख्यम्। "चक्षुष्टो वा" इत्यनियमश्रुतेः "तयोर्ध्वमायन्"

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तदोकोऽग्रज्वलनम्" इत्यादि। सृतिके—मार्गके उपक्रम अर्थात् नाडीप्रवेशके नियमको कहनेके लिए सूत्रभागकी व्याख्या द्वारा अधिकरण के विषयको कहते हैं—"तस्य" इत्यादिसे। वह—मुमूर्षु। तेजोमात्रा—इन्द्रियाँ। उस हृदयका अग्र—नाडीमुख, उसका ज्वलन—भावी फलकी द्योतनात्मक स्फूर्ति। 'चक्षुष्टो वा' इस प्रकारकी अनियत श्रुतिसे और 'तयोर्ध्व-

भाष्य

दिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ५ । ४ । २) इति । सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति, स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे । कुतः ? विद्यासामर्थ्यात् । यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवो-

भाष्यका अनुवाद

प्रज्वलन होता है हृदयप्रज्वलनपूर्वक चक्षुरादि स्थानोंसे उसकी उत्क्रान्ति श्रुतिमें है—'तस्य हैतस्य०' (उस हृदयच्छिद्रका अग्र—नाडीमुख, निर्गमन द्वारा प्रकाशित होता है, उस, आत्मज्योति—प्रद्योतद्वारा आत्मा निष्क्रमण करता है । किस मार्गसे ? चक्षुःसे, मूर्धासे या अन्य शरीरप्रदेशोंसे) । वह उत्क्रान्ति क्या अनियमसे ही विद्वान् और अविद्वान्‌की होती है या विद्वान्‌का कुछ विशेष नियम है, ऐसा संशय होनेपर श्रुतिका विशेष न होनेसे अनियम प्राप्त होनेपर कहते हैं—विद्वान् और अविद्वान्‌का हृदयके नाडीमुखका प्रद्योतन और उससे प्रकाशित हुआ द्वार समान है, तो भी विद्वान् मूर्धस्थानसे ही निष्क्रमण करता है और दूसरे अन्य स्थानोंसे निर्गमन करते हैं । किससे ? विद्याके सामर्थ्यसे । यदि विद्वान् भी अन्यके समान चाहे जिस देहभागसे

रत्नप्रभा

इति विशेषश्रुतेश्च संशयः—किमुपासकोऽप्यनुपासकवत् येन केनचिद् द्वारेण निर्गच्छति उत मूर्धन्यनाड्यैवेति । अत्र पूर्वपक्षे विद्याकृतातिशयासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । वचनादविभागवदनियम इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—आचष्ट इति । येन केनचिन्मार्गेण निर्गतस्याऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तौ विद्याशेषत्वेन मार्गानुस्मृतिविधेः केवलादृष्टार्थत्वं स्याद्, अतोऽन्वहं स्मृतेनैव मार्गेण गमनं

रत्नप्रभाका अनुवाद

मायन्' इस विशेषश्रुतिसे संशय कहते हैं—क्या उपासक भी अनुपासकके समान जिस किसी मार्गसे जाता है अथवा मूर्धन्यनाडीसे ही जाता है । इस पूर्वपक्षमें विद्याजन्य अतिशयकी असिद्धि है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है, यह विवेक है । वचनसे जैसा अविभाग है, इसी तरह अनियम है, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं—"आचष्टे" इत्यादिसे । यदि जिस किसी मार्गसे निकलनेवालेकी भी ब्रह्मलोकप्राप्ति मानी जाय, तो विद्याङ्गरूपसे

भाष्य

त्कृष्टं लोकं लभेत। तत्राऽनर्थिकैव विद्या स्यात्, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च। विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसम्बद्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता, तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठते इति युक्तम्। तस्माद्धृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथा हि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—

'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति'॥(छा० ८।६।६)इति

भाष्यका अनुवाद

उत्क्रमण करे, तो वह उत्कृष्ट लोक न प्राप्त करेगा। ऐसी अवस्थामें विद्या निरर्थक ही हो जायगी। उसकी—सगुणविद्याकी शेषभूत जो गति है, उसके ध्यानका विधान होनेसे। विद्याकी अंगभूत मूर्धन्य नाडीके साथ सम्बद्ध गतिका अनुशीलन करना चाहिए, ऐसा विद्याविशेषोंमें विधान है, उस गतिका अभ्यास करता हुआ इसीसे प्रस्थान करता है, यह युक्त है। इसलिए हृदयमें जिसका स्थान है, ऐसे सम्यक् उपासित ब्रह्मसे अनुगृहीत हुआ, तद्भाव पाया हुआ विद्वान् मूर्धस्थानमें स्थित शतसे अधिक—शतसे अतिरिक्त एक सौ एकवीं नाड़ीसे निर्गमन करता है और अन्य नाड़ियोंसे अन्य निर्गमन करते हैं, क्योंकि हार्दविद्याके प्रकरणमें कहते हैं—'शतं चैका च हृदयस्य०, (हृदयकी एक सौ एक मुख्य नाड़ियां हैं, क्योंकि देहकी नाड़ियां अनन्त हैं। उनमेंसे एक मूर्धस्थानमें गई है, उसके द्वारा ऊँचा जाता हुआ अमृतत्व पाता है, सब भिन्न-भिन्न प्रकारकी—गतिवाली अन्य नाड़ियां उत्क्रमणके लिए हैं, परन्तु उन मार्गोंसे जानेवाला अमृतत्व नहीं पाता ॥१७॥

रत्नप्रभा

युक्तमिति भावः। हार्दम्—ब्रह्म। विष्वङ्—नानाविधाः अन्याः नाड्यः अन्येषामित्यर्थः। सुषुम्नाख्या नाडी हृदयात् निर्गता दक्षिणाक्षिताल्वकण्ठाधस्तननासिकामध्यभित्तिद्वारा ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्ता सूर्यरश्मिभिरेकीकृता ब्रह्मलोकमार्ग उपासकस्येति स्थितम् ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो मार्गानुस्मृति विधि है, उसको केवल अदृष्टार्थकत्व ही प्रसक्त होगा, इससे प्रतिदिन स्मृत मार्गसे ही गमनकी कल्पना करनी श्रेष्ठ है, यह भाव है। हार्द—ब्रह्म। विष्वङ्—अनेकविध अन्य नाड़ियाँ, अन्योंकी हैं ऐसा अर्थ है। सुषुम्ना नामकी नाडी हृदयसे निकली है, वही दाहिनी आँख, तालु, कण्ठाध, स्तन, नासिका मध्यभित्तिसे ब्रह्मरन्ध्रको प्राप्त हुई और सूर्यकी किरणसे एकीकृत ब्रह्मलोकका मार्ग उपासक के लिए है ॥ १७ ॥

[१० रश्म्यधिकरण सू० १८]

अहन्येव मृतो रश्मिं याति निश्यपि वा निशि ।
सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥१॥
यावद्देहं रश्मिनाड्योर्युक्तो ग्रीष्मक्षपास्वपि ।
देहदाहात् श्रुतत्वाच्च रश्मीन् निश्यपि यात्यसौ ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—दिनमें मरा हुआ ही पुरुष रश्मियोंको प्राप्त होता है अथवा रात्रिमें मरा हुआ भी ?

पूर्वपक्ष—रात्रिमें सूर्यकी रश्मियोंका अभाव होनेसे दिनमें मरा हुआ ही रश्मिको प्राप्त होता है।

सिद्धान्त—रश्मि और नाडियोंका सम्बन्ध जब तक देह रहता है तब तक रहता है, इसी लिए ग्रीष्म ऋतु की रात्रियोंमें भी देहसंतापका अनुभव होता है और श्रुति भी रश्मि और नाडियोंका अवियोग दिखलाती है इससे निश्चित हुआ कि रात्रिमें मरा हुआ भी रश्मिको प्राप्त होता है।

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

पदार्थोक्ति—[सुषुम्नानाड्या देहाद् बहिर्गत उपासकः] रश्म्यनुसारी—नाडीसंसृष्टसूर्यकिरणावलम्बी [सन् किरणद्वारेण ब्रह्मलोकं गच्छति, इत्यर्थः]।

भावार्थ—सुषुम्नानाडी द्वारा देहसे बाहर निकला हुआ जीव—उपासक नाडीसे सम्बद्ध सूर्यकी किरणोंका अवलम्बन करता हुआ किरण द्वारा ब्रह्मलोकको जाता है।

---

* निष्कर्ष यह है कि पूर्वपक्षी कहता है—'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (इन्हीं रश्मियोंसे ऊपरको उत्क्रमण करता है) इस श्रुतिसे मूर्धन्य नाडीसे निकले हुएका रश्मियोंसे सम्बन्ध सुना जाता है। उक्त सम्बन्ध दिनमें मरे हुएका ही हो सकता है रात्रिमें मरे हुएका नहीं हो सकता, क्योंकि रात्रिमें रश्मियोंका अभाव है।

सिद्धान्ती कहते है—रश्मि और नाडीका सम्बन्ध यावद्देहभावी है अर्थात् जब तक रश्मि रहती है तब तक रहता है, इसीलिए गर्मीकी ऋतुकी रात्रियोंमें देहमें गर्मी लगती है अन्य ऋतुओंमें शीत आदिसे गर्मीके प्रतिहत होनेसे उसकी प्रतीति नहीं होती है। श्रुति भी रश्मि और नाडीके अवियोगका प्रतिपादन करती है—अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः, आभ्यो

भाष्य

अस्ति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छ० ८।१।१) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम् 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति। पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति। तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन् रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणैवाहनि

भाष्यका अनुवाद

'अथ यदिदमस्मिन्०' अब इस ब्रह्मपुरमें जो यह वक्ष्यमाण, अल्प, पुण्डरीकसदृश वेश्म है) ऐसा उपक्रम करके हार्दविद्याका—ब्रह्मविद्याका विधान किया गया है। उसके प्रकरणमें 'अथ या एता०' (अब हृदयकी—पुण्डरीकाकार ब्रह्मोपासनस्थानकी जो ये वक्ष्यमाण नाडियां हैं) ऐसा उपक्रम करके सप्रपंच नाडियोंका रश्मिसे सम्बन्ध कह कर कहा है—'अथ यत्रैतदस्माच्छ०' (अब जब यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, तब इन्हीं यथोक्त रश्मियोंसे ऊर्ध्वको जाता है)। और कहा है—'तयोर्ध्वमायन्नमृता०' ([हृदयमें एक सौ एक नाडियां हैं, उनमें से एक मूर्धस्थानमें जाती है] उसके द्वारा ऊर्ध्व निष्क्रमण करता हुआ रश्मिके अनुसार निष्क्रमण करता है) ऐसा समझा जाता है, इसलिए क्या विशेषके

रत्नप्रभा

रश्म्यनुसारी। प्रकरणशोधनपूर्वकमुपासकस्य रश्म्यनुसारित्वं विषयमाह—अस्तीत्यादिना। अथ प्रारब्धान्ते एतद् उत्क्रमणं यदा स्याद् अथ तदा एतैरेव नाडीसम्बन्धरश्मिभिरुत्क्रामतीत्यर्थः। अत्र सम्बन्धस्य कालविशेषाश्रवणाद् रात्रौ

रत्नप्रभाका अनुवाद

"रश्म्यनुसारी"। प्रकरणके संशोधनपूर्वक उपासकका रश्म्यनुसारित्वरूप विषय कहते हैं—"अस्ति" इत्यादिसे। अथ—प्रारब्धके अनन्तर यह उत्क्रमण जब हो, अथ—तब इन्हीं नाडीसम्बद्ध किरणोंसे उत्क्रमण करता है, यह अर्थ है। प्रकृतमें सम्बन्धके विषयमें कालविशेषका आश्रयण न होनेसे और रात्रिमें रश्मियोंके न रहनेसे संशय कहते हैं—

नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" (उस आदित्यलोकसे जो रश्मियां अविच्छिन्नरूपसे फैली हुई हैं वे इन नाडियोंमें जाती हैं और जो इन नाडियोंसे निकलती हैं, वे आदित्यमें जाती हैं) इससे निश्चित हुआ कि रात्रिमें भी मरा हुआ रश्मियोंको प्राप्त होता है।

भाष्य

रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

बिना ही—समान रीतिसे ही दिन या रातमें मरनेवाला रश्मिका अनुसारी होता है या दिनमें मरनेवाला ही, ऐसा संशय होनेपर अविशेष श्रुति होनेसे अविशेषसे ही रश्मिका अनुसारी होता है, ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है ॥ १८ ॥

रत्नप्रभा

रश्म्यभावाच्च संशयमाह—तत्किमिति । पूर्वोक्तनाडीसम्बद्धरश्मीनामत्रोपजीव्यत्वात् संगतिः । पूर्वपक्षे रात्रौ मृतस्य रश्मिप्राप्त्यर्थं सूर्योदयप्रतीक्षाऽस्ति, सिद्धान्ते नास्तीति मत्वा सिद्धान्तं प्रतिजानीते—अविशेषेणेति ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तत्किम्" इत्यादिसे । पूर्वोक्त नाडियोंसे सम्बद्ध रश्मियाँ ही प्रकृतमें उपजीव्य हैं, अतः सङ्गति है, पूर्वपक्षमें रात्रिमें मृतव्यक्तिको रश्मिकी प्राप्तिके लिये सूर्योदयकी प्रतीक्षाकी आवश्यकता है और सिद्धान्तमें वह नहीं है, ऐसा मानकर सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा करते हैं—"अविशेषेण" इत्यादिसे ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वा-दर्शयति च ॥ १९ ॥

पदच्छेद—निशि, न, इति, चेत्, न, सम्बन्धस्य, यावद्देहभावित्वात्, दर्शयति, च, ।

पदार्थोक्ति—[अहनि सूर्यरश्मिनाडीसम्बन्धस्य वर्तमानत्वात् तत्रैव—अहन्येव मृतो भवतु रश्म्यनुसारी, परन्तु] निशि-रात्रौ मृतः तथा न—न भवति रश्म्यनुसारी, इति चेन्न—यदि कश्चित्तथा शङ्केत, तदा तन्न वरम्, कुतः ? सम्बन्धस्य—रश्मिनाडीसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्—रात्रौ दिवा च वर्तमानत्वात् दर्शयति च—श्रुतिः प्रतिपादयति तदर्थम् 'अमुष्मादादित्यात्' इत्यादिना ।

भावार्थ—दिनमें ही मरनेवाला किरणावलम्बी होता है, क्योंकि करणोंका सम्बन्ध दिनमें ही हो सकता है, रात्रिमें नहीं होता, अतः रात्रिमें मरनेवाला रश्म्यनुसारी नहीं होता है, इस प्रकार यदि कोई आशङ्का करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि किरण और नाडीका सम्बन्ध दिन और रात्रि दोनों समयमें है, और इसी अर्थका श्रुति भी प्रतिपादन करती है 'अमुष्मादादित्यात्' इत्यादिसे ।

भाष्य

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसम्बन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेन्न; नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। यावद्देहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८।६।२) इति। निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते, प्रतापादिकार्यदर्शनात्। स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु।

भाष्यका अनुवाद

दिनमें नाडी और रश्मिका सम्बन्ध है, अतः दिनमें मरा हुआ रश्मिका अनुसारी हो सकता है, परन्तु रातमें मरा हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि रात्रिमें नाडी और रश्मिका सम्बन्ध विच्छिन्न होता है, ऐसा कहो, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि नाडी और रश्मिका सम्बन्ध जबतक देह रहता है, तब तक रहता है। नाड़ी और किरणका सम्पर्क देहपर्यन्त रहता है। और इस अर्थको श्रुति दिखलाती है—'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते०' (रश्मियां उस आदित्यमण्डलसे फैलती हैं और इन नाडियोंमें प्रवेश करती हैं और नाडियोंसे फैलती हैं, वे उस आदित्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं)। ग्रीष्मकालमें रात्रियोंमें भी किरणोंकी अनुवृत्ति उपलब्ध होती है, क्योंकि ताप आदि कार्य देखनेमें आता है। शिशिर ऋतुके दुर्दिनोंके—मेघावृत दिनोंके समान अन्य ऋतुओंकी रात्रियोंमें किरणोंकी थोड़ी अनुवृत्ति होनेसे वे दुर्लक्ष्य हैं। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति'

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षबीजमुपन्यस्य दूषयति—निशीत्यादिना। शिराः—नाड्यः। प्रतायन्ते विस्तृता भवन्ति, सृप्ताः—सम्बद्धाः। श्रुतसम्बन्धस्य रात्रौ सत्त्वे युक्तिमाह—निदाघेति। तर्हि हेमन्तादिरात्रिष्वौष्ण्योपलब्धिः स्यादित्यत आह—स्तोकेति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वपक्षके बीजका उपन्यास करके उसे दूषित करते हैं—"निशि" इत्यादिसे। शिरा—नाडियाँ। प्रतायन्ते—विस्तृत होती हैं। सृप्ताः—सम्बद्ध। श्रुत सम्बन्ध रात्रिमें भी है, इसमें युक्ति कहते हैं—"निदाघ" इत्यादिसे। तो हेमन्त आदि ऋतुओंमें भी रात्रिमें औष्ण्यकी प्रतीति होनी चाहिए, इसपर कहते हैं—"स्तोक" इत्यादिसे। 'सूर्य रातमें भी

भाष्य

'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति। यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत्। नह्येतद्विशिष्याऽधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति। अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात्, मृत्युकालानियमात्। अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत। अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदरश्मिसम्बन्धार्हं शरीरं स्यात् पावकादिसंपर्कात्। 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति'

भाष्यका अनुवाद

(सूर्य ही यह ताप रातमें धारण करता है) यह श्रुति भी यही दिखलाती है। यदि रातमें मरा हुआ रश्मिके अनुसारके बिना ही ऊर्ध्व आक्रमण करे, तो रश्मिका अनुसार निरर्थक हो जायगा, विशेष अभिधान श्रुति नहीं करती। और विद्वान् भी रातमें हुए प्रायणके अपराधसे ही ऊर्ध्व आक्रमण न करे, तो विद्या पाक्षिक फलवाली होगी, इसलिए उसमें अप्रवृत्ति ही होगी, क्योंकि मृत्युके कालका नियम नहीं है। इसी प्रकार यदि रातमें मरा हुआ दिन होनेकी प्रतीक्षा करे, तो दिनका आगम होनेपर भी कदाचित् इसका शरीर अग्नि आदिके सम्पर्कसे रश्मियोंके सम्बन्धके अयोग्य होगा, 'स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्य०' (वह जितने

रत्नप्रभा

सविता रात्रावप्यहर्दधातीति धारणाभिधानं वृत्त्यभिप्रायमेवेत्यर्थः। किञ्च, यदि रात्रौ मृतस्य रश्मियोगं विनैव ऊर्ध्वगतिः स्यात्, तदा रश्मिश्रुतेर्दिवामृतविषयतया संकोचः स्याद्, ऊर्ध्वगत्यभावे च विद्यायामप्रवृत्तिः स्यात्। न च प्रतीक्षयोर्ध्वगतिरिति वाच्यम्। रश्म्युदयात् प्राग्देहदाहे आदित्यप्रतीक्षावैयर्थ्यापातादप्रतीक्षाश्रुतिविरोधाच्च। तस्माद् यदा कदाचित् मृतस्य रश्मिप्राप्त्या झटिति ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति॥ १९॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दिनको धारण करता है' इस प्रकार धारणका जो अभिधान है, वह अल्प रश्मिकी अनुवृत्तिके अभिप्रायसे है, ऐसा अर्थ है। किञ्च, यदि रात्रिमें रश्मिके सम्बन्धके बिना ही मृतकी ऊर्ध्व गति हो, तो रश्मिश्रुतिका दिनमें मृत व्यक्तिको अवलम्बन करनेसे संकोच होगा और ऊर्ध्वगतिके अभावमें विद्याकी अप्रवृत्ति होगी। यदि शङ्का की जाय कि प्रतीक्षासे ऊर्ध्वगति प्रसक्त होगी, तो नहीं कारण कि किरणोदयके पूर्वमें देहके दाह होनेसे आदित्यकी प्रतीक्षा व्यर्थ होगी और प्रतीक्षाश्रुतिके साथ विरोध होगा। इससे जब कभी मरनेसे भी रश्मिका सम्बन्ध होता है और ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है॥ १९॥

भाष्य

(छा० ८।६।५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति। तस्मादविशेषेणैवेदं रात्रिंदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

समयमें मनकी प्रेरणा करता है, उतने ही समयमें आदित्यमें पहुँचता है) यह श्रुति अप्रतीक्षा दिखलाती है। इसलिए अविशेषसे ही यह रात और दिनमें रश्मिका अनुसरण है ॥ १९ ॥



[११ दक्षिणायनाधिकरण सू० २०–२१]

अयने दाक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्यथैति वा।
नैत्युत्तरायणाद्युक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥ १ ॥
आतिवाहिकदेवोक्तेर्वरख्यात्यै प्रतीक्षणात्।
*फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—दक्षिणायनमें मरकर उपासक ब्रह्मप्राप्ति कर सकता है अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—श्रुति और स्मृतिमें उत्तरायण आदिके कथनसे तथा भीष्म पितामह द्वारा उत्तरायणकी प्रतीक्षा होनेसे दक्षिणायनमें मरकर ब्रह्मप्राप्ति नहीं कर सकता।

सिद्धान्त—उत्तरायण शब्दसे आतिवाहिक देवता कहे गये हैं, पिताकी प्रसन्नतासे *प्राप्त स्वेच्छा मरणरूप वरदानकी ख्यातिके लिए भीष्म पितामहने उत्तरायणकी प्रतीक्षा* की और विद्याफल—ब्रह्मप्राप्ति अवश्यभावी—अव्यभिचरित है अतएव उपासक विद्याके फलको—ब्रह्मको प्राप्त करता है।

---

* निष्कर्ष यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि दक्षिणायनमें मरे हुए उपासकको विद्याका फल—ब्रह्मप्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें उत्तरायण ही ब्रह्मलोकका मार्ग कहा गया है। दक्षिणायनमें मरे हुए को भी विद्याफलकी प्राप्ति होती है यदि ऐसा मान लिया जाय, तो भीष्मका उत्तरायणमार्गका प्रतीक्षण निरर्थक हो जायगा।

सिद्धान्ती कहते हैं—यहापर उत्तरायण शब्दसे काल विवक्षित नहीं है, किन्तु आतिवाहिक देवता विवक्षित है ऐसा आगे 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रमें कहेंगे। भीष्मका उत्तरायण प्रतीक्षण तो पिताकी प्रसन्नतासे प्राप्त स्वच्छन्दमरणरूप वरकी ख्यातिके लिए है। यदि कालविशेषमें मरणरूप अपराधसे फल न पावे तो विद्याका फल विकल्पसे होगा अर्थात् कभी होगा और कभी नहीं होगा। इससे दक्षिणायनमें मरा हुआ भी ब्रह्मको प्राप्त होता है, यह सिद्ध हुआ।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

पदच्छेद—अतः, च, अयने, अपि, दक्षिणे ।

पदार्थोक्ति—अतश्च—अत एव कालान्तरप्रतीक्षानुपपत्तेः विद्यायाः नित्यवत्फलसम्बन्धश्रवणाच्च दक्षिणेऽपि अयने—सूर्ये दक्षिणवर्तिन्यपि [मृतः विद्वान् फलं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः [प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया, भीष्मस्य च प्रतीक्षापरिपालनमाचारपरिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वेच्छामरणज्ञापनार्थं चेति द्रष्टव्यम्] ।

भाषार्थ—कालान्तरके प्रतीक्षणकी अनुपपत्ति होनेसे और नित्यके समान विद्याका फलसम्बन्ध श्रुत होने से दक्षिणायनमें मृत व्यक्ति भी अवश्य फल प्राप्त करता है, उत्तरायण और दक्षिणायनमें जो प्राशस्त्य और अप्राशस्त्य है, वह अविद्वद्विषयक है, भीष्मने उत्तरायणकी इसलिए प्रतीक्षा की थी कि शिष्टाचारका परिपालन हो और अपने पिताके प्रसादसे जो स्वेच्छामरण प्राप्त था उसकी ख्याति हो ।

भाष्य

अत एव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान् प्राप्नोत्येव विद्याफलम् ।

भाष्यका अनुवाद

इसी कारणसे अर्थात् प्रतीक्षाके अनुपपन्न होनेसे विद्याके फलके अपाक्षिक होनेसे और मृत्युकालके अनिश्चित होनेसे दक्षिणायनमें भी मरा हुआ विद्वान् विद्याका फल प्राप्त करता ही है । उत्तरायण में मरणकी प्रशस्तताके प्रसिद्ध होनेसे भीष्मसे की गई प्रतीक्षा देखी जाती है और 'आपूर्यमाणपक्षा०'

रत्नप्रभा

एवं दक्षिणायने मृतो विद्वान् विद्याफलमाप्नोति न वेति विद्यायाः नित्यवत्फलश्रुतेरुत्तरायणप्राशस्त्यशास्त्राच्च सन्देहे पूर्वोक्तहेतूनतिदिशति—अतश्चायनेऽपि दक्षिणे इति । पूर्वपक्षमाशङ्क्याऽपनुदति—उत्तरायणेत्यादिना ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार दक्षिणायनमें मरा हुआ विद्वान् विद्याफलको प्राप्त करता है या नहीं ? इस प्रकार विद्याका नित्यके समान फल श्रुत है और उत्तरायणकी प्रशस्तिका शास्त्र है, इससे सन्देह होनेपर पूर्वोक्त हेतुओंका अतिदेश करते हैं—"अतश्चायनेऽपि दक्षिणे" पूर्वपक्षकी

भाष्य

उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्' (छा० ४।१५।५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया। भीष्मस्य तूत्तरायणप्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च। श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४।३।४) इति ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

(शुक्लपक्षसे वे जिन छः मासोंमें सूर्य उत्तर दिशामें जाता है, उन मासोंको वे प्राप्त करते हैं) इस श्रुतिसे भी उत्तरायणकी, अपेक्षा है, यह शंका इस सूत्रसे दूर की जाती है। प्रशस्तताकी प्रसिद्धि अविद्वान्के लिए है। भीष्मकी प्रतीक्षा आचारका पालन करनेके लिए है और पिताके प्रसादसे उनकी स्वेच्छाधीन मृत्यु थी, यह दिखलानेके लिए है। श्रुतिका अर्थ तो 'आतिवाहिका०' इस सूत्रमें कहेंगे ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

अज्ञानामुत्तरायणे दैवान्मरणं चेत् प्रशस्तमित्यभिज्ञाभिवचनरूपाचारपरिपालनार्थं भीष्मस्य प्रतीक्षा। षण्मासानिति श्रुतिस्तूत्तरायणदेवतापरेति वक्ष्यते। तथा च देवतायाः सदा सत्त्वाद् विद्यया दक्षिणायनकालेऽपि तत्प्राप्तिरविरुद्धेति भावः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आशङ्का करके निराकरण करते हैं—"उत्तरायण" इत्यादिसे। अज्ञानियोंका यदि दैवसे उत्तरायणमें मरण हो, तो प्रशस्त है, इस प्रकार अभिज्ञोंके अभिवचनका परिपालन करनेके लिए भीष्मने प्रतीक्षा की है। 'षण्मासा' यह श्रुति उत्तरायणके देवताओंको विषय करती है, ऐसा आगे कहेंगे। इसलिए सर्वदा देवताका अस्तित्व होनेसे विद्यासे दक्षिणायनकालमें भी उसकी प्राप्ति विरुद्ध नहीं है ॥ २० ॥

भाष्य

ननु च—

'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥' (गी० ८।२३) इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं' (हे अर्जुन, जिस कालमें मरे हुए योगी अनावृत्ति—अपुनर्जन्म और आवृत्ति—पुनर्जन्म पाते हैं, वह काल मैं तुमसे कहूँगा) इस प्रकार कालकी प्रधानतासे उपक्रम करके दिवस आदि कालविशेष अपुनर्जन्मके लिए स्मृतिमें नियमित किया है, तो रातमें या दक्षिणायनमें मरा हुआ अनावृत्ति किस प्रकार पायेगा ? इस विषयमें कहते हैं—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

पदच्छेद—योगिनः, प्रति, च, स्मर्यते, स्मार्ते, च, एते ।

पदार्थोक्ति—योगिनः प्रति—स्मार्तविद्योपासकान् प्रति [अयमहरादिकालविशेषः स्मर्यते—कथ्यते, [स्मार्तत्वप्रत्यासत्तेः, न श्रौतदहराद्युपासकान् प्रति, ननु दहराद्युपासकाः योगिनः एव स्मृत्युक्ताः किं न स्युरित्यत आह]— स्मार्ते चैते—एते साङ्ख्ययोगे स्मार्ते एव न श्रौते, तस्मात् श्रुतिस्मृत्योरर्थभेदान्न श्रौतोपास्तिषु कालनियमः, अतः विद्वान् यदा कदापि मृतो विद्याफलमाप्नोति, इति भावः] ।

भावार्थ—दिन आदि कालका जो नियम है वह स्मार्तोपासकके लिए है, श्रौतोपासकोंके लिए नहीं है, कारण कि साङ्ख्य और योगका स्मृतिमें ही कथन है, इसलिए दहरादि उपासना करनेवाले स्मार्त नहीं हो सकते हैं, इससे श्रुति और स्मृतिमें अर्थभेद होनेसे श्रौतोपासनाओंमें कालनियम नहीं है, अतः सर्वदा अर्थात् किसी भी समयमें मृत विद्वान् विद्या-फलको प्राप्त करता ही है ।

भाष्य

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते। स्मार्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते। अतो विषयभेदात् प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः। ननु—

'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्॥' (गी० ८।२४।२५)

भाष्यका अनुवाद

योगीके प्रति दिवस आदि कालका यह विनियोग अनावृत्तिके लिए स्मृतिमें कहा जाता है। और योग और सांख्य स्मृतिवचन हैं, श्रुतिवचन नहीं हैं। इस कारण विषयका भेद होनेसे और प्रमाणविशेष होनेसे यह स्मृतिका कालविनियोग श्रुतिके विज्ञानोंमें प्राप्त नहीं होता। परन्तु 'अग्निर्ज्योतिरहः०' 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः' (अग्नि, ज्योति प्रमाणविशेष, दिवस, शुक्लपक्ष, छः मास उत्तरायण, धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष छः मास दक्षिणायन) ऐसी स्मृतिमें भी श्रुतिके

रत्नप्रभा

स्मृतिबलात् कालप्राधान्यं शङ्कते—ननु चेति। श्रौतदहराद्युपासकस्य अस्माभिः कालानपेक्षोक्ता, स्मार्तयोगिनां तु कालापेक्षा स्मृतावुच्यते इत्यविरोधमाह—योगिन इति। दहराद्युपासक एव स्मृत्युक्तः किं न स्यादित्यत आह—स्मार्ते चेति। भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म योगः 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च' इति स्मृतेः। धारणापूर्वकोऽकर्तृत्वानुभवः सांख्यम्, 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' इति स्मृतेः। ननु श्रुतिस्मृत्योर्भिन्नार्थत्वमयुक्तम्, प्रत्यभिज्ञाविरोधादिति शङ्कते—नन्वग्निरिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्मृतिके आधारपर कालकी प्रधानताके विषयमें शंका करते हैं—"ननु च" इत्यादिसे। हमने कहा है कि श्रौत जो दहरादि उपासनाएँ हैं, उनके उपासकोंको कालकी अपेक्षा नहीं है, परन्तु स्मार्त योगियोंके लिए तो कालकी अपेक्षा स्मृतिमें कही गई है, इस प्रकार अविरोध कहते हैं—"योगिनः" इत्यादिसे। दहरादिका उपासक ही स्मृत्युदित योगी क्यों न हो? इसपर कहते हैं—"स्मार्ते च" इत्यादिसे। भगवान्‌के आराधनके लिए अनुष्ठित कर्म—योग है, क्योंकि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (कर्मफलकी इच्छा न कर जो कर्तव्य कर्म करता है, उसको योगी और संन्यासी कहते हैं, इस प्रकार स्मृति है। धारणापूर्वक जो अकर्तृत्वानुभव है, उसे सांख्य कहते हैं—इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु' इत्यादि स्मृतिसे। परन्तु श्रुति और स्मृतिको भिन्नार्थक मानना अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा विरोध है,

भाष्य

इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति। उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८।२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद् विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः। यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

देवयानकी और पितृयानकी प्रत्यभिज्ञा होती है। कहते हैं—'तं कालं वक्ष्यामि' (उस कालको कहूँगा) इस प्रकार स्मृतिमें भी कालकी प्रतिज्ञा हुई है, इसलिए विरोधकी आशंका करके परिहार किया गया है। परन्तु स्मृतिमें भी आतिवाहिक—लोकान्तरमें पहुँचानेवाले अग्नि आदि देवताओंका ही ग्रहण किया जाता है, तब कोई भी विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्य भाषानुवादमें चतुर्थ अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त ॥

रत्नप्रभा

कालाग्रहिणं प्रति भिन्नार्थत्वमुक्तम्, यदि तु श्रौतार्थप्रत्यभिज्ञया कालशब्दो देवतापरः, तर्हैकार्थ्यमेवेति समाध्यर्थः। तस्मात् विद्यासामर्थ्यात् सर्वदैव दिष्टं गतस्य उपासकस्य फलप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ४ ॥ २ ॥ २१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्यव्याख्यायां (भाष्य) रत्नप्रभायां चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"नन्वग्निः" इत्यादिसे। कालके आग्रहीके प्रति भिन्नार्थता कही गई है। यदि श्रौत अर्थकी प्रत्यभिज्ञासे कालशब्दको देवतापरक मान लें तो एकार्थता ही है, ऐसा समाधानका अर्थ है। इससे विद्याके प्रभावसे सर्वदा दिवंगत उपासकको फलकी प्राप्ति होती है, यह सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित रत्नप्रभाके भाषानुवादमें चतुर्थाध्यायका द्वितीयपाद समाप्त।

चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्र पादे सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानम्]

[१ अर्चिराद्यधिकरण सू० १]

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वार्चिरादिकः ।
नानाविधः स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथाऽन्यथा ॥ १ ॥
एक एवार्चिरादिः स्यान्नानाश्रुत्युक्तपूर्वकः ।
यतः पञ्चाग्निविद्यायां विद्यान्तरवतां श्रुतः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मलोकमें जानेके लिए मार्ग अनेक हैं अथवा अर्चिरादि एक ही मार्ग है ?

पूर्वपक्ष—अनेक हैं, क्योंकि उपासनाओंमें यत्र तत्र नानाविध मार्गका निरूपण है ।

सिद्धान्त—ब्रह्मलोककी प्राप्तिके लिए अनेक श्रुतियोंमें उक्त एक ही अर्चिरादि मार्ग है, *क्योंकि अन्य विद्यावालोंके लिए पंचाग्निविद्यामें उसीका श्रवण है ।*

---

* मतलब यह है कि छान्दोग्य और बृहदारण्यककी पञ्चाग्निविद्यामें अर्चिरादि ब्रह्मलोकका मार्ग कहा गया है—'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति' 'अर्चिषोऽहः' (वे अर्चिको प्राप्त करते हैं, अर्चिसे दिनको प्राप्त करते हैं)। अन्य विद्यामें वायु आदि मार्गका श्रवण है—'स वायुमागच्छति' (वह वायुलोकमें आता है)। कौषीतकियोंकी पर्यङ्कविद्यामें अग्निलोक आदिका कथन है—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति' (वह उपासक इस देवयान मार्गको प्राप्त करके अग्निलोकमें आता है) इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी बहुविध मार्गोंकी भी उक्ति है। इसलिए ब्रह्मलोकप्राप्तिके अनेक मार्ग हैं। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—ब्रह्मलोककी प्राप्तिके लिए अर्चिरादि एक ही मार्ग है, क्योंकि पंचाग्निविद्याके वाक्यशेषमें पंचाग्निविद्यावालोंको और अन्य उपासकोंको उद्देश्य करके अर्चिरादि मार्गका ही केवल पाठ उपलब्ध होता है। श्रुत्यन्तरोक्त वायु आदि मार्गोंका गुणोपसंहारन्यायसे अर्चिरादि-मार्गमें अन्तर्भाव है। इसलिए अस्मदुक्त सिद्धान्त ही सर्वविध दोषपिशाचगणविनिर्मुक्त है अर्थात् निर्दुष्ट है ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

पदच्छेद—अर्चिरादिना, तत्प्रथितेः ।

पदार्थोक्ति—अर्चिरादिना—अचिरादिनैकेन मार्गेणैव [सर्वोऽपि ब्रह्मलोकप्रेप्सुः गन्तुमर्हति, कुतः ?] तत्प्रथितेः—तस्य उक्तार्चिरादिमार्गस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'ये चेमेऽरण्ये' इति पञ्चाग्न्युपासकस्येवेतरस्यापि सगुणब्रह्मोपासकस्य प्रथितेः—श्रुतत्वात् ।

भाषार्थ—ब्रह्मलोक की अभिलाषा करनेवाले सभी अर्चिरादिमार्गसे ही जाते हैं, क्योंकि पञ्चाग्निविद्याके प्रकरण में पञ्चाग्नि के उपासककी नाईं सगुणब्रह्मोपासकके लिए भी उक्त अर्चिरादिमार्ग का श्रवण है ।

भाष्य

आसृत्युपक्रमात् समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम् । सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । नाडीरश्मिसम्बन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वं आक्रमते'

भाष्यका अनुवाद

मार्गके उपक्रम तक उत्क्रान्ति समान है, ऐसा कहा जा चुका है। परन्तु मार्ग तो भिन्न-भिन्न श्रुतियोंमें अनेक प्रकारसे कहा गया है। नाडी और रश्मिके सम्बन्धसे एक श्रुति है—'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वं०' (इन

रत्नप्रभा

एवम् उत्क्रान्तिं निरूप्य तत्साध्यं मार्गं गन्तव्यञ्च निरूपयितुं पादमारभते—अर्चिरादिना तत्प्रथितेरिति । वृत्तानुवादपूर्वकमाद्याधिकरणस्य विषयं मार्गमाह—आसृतीति । विरजाः—विरजसः, निष्पापा इत्यर्थः । श्रुतिविप्रतिपत्त्या संशयः । पूर्वं यदा कदाचिन्मृतस्याऽपि फलप्राप्तिरुक्ता, तद्वद् येन केनचिन्मार्गेण गतिरिति पूर्वपक्षफलं विकल्पः । सिद्धान्ते मार्गैक्यमिति विवेकः । उपासना-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार उत्क्रान्तिका निरूपण करके उत्क्रान्तिसे साध्य और गन्तव्य मार्गका निरूपण करनेके लिए तृतीय पादका आरम्भ करते हैं—"अर्चिरादिना तत्प्रथितेः" इस सूत्रसे । कथितका अनुवाद करके प्रथम अधिकरणके विषयरूप मार्गको कहते हैं—"आसृति" इत्यादिसे । विरजा—निष्पाप अर्थात् पापरहित । श्रुतिकी विप्रतिपत्तिसे संशय है । पहले किसी समयमें मरनेवाले उपासककी फलप्राप्ति कही गई, उसके समान किसी मार्गसे गति भी है, इस प्रकार विकल्प पूर्वपक्षका फल है । सिद्धान्तमें मार्गैक्य फल है, ऐसा पूर्वपक्ष और सिद्धान्तमें फलका विवेक है । उपासनाके भेदसे उसके शेषरूपसे ध्येय मार्गोंका भेद है और एकप्रकारसे भी

भाष्य

(छा० ८।६।५) इति। अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः' (बृ० ६।२।१५) इति। 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ०१३) इत्यन्या। 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१८।१) इत्यपरा। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मुण्ड० १।२।११) इति चाऽपरा। तत्र संशयः—किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः किं वैकैवानेकविशेषणेति। तत्र प्राप्तं तावद्भिन्ना एताः सृतय इति, भिन्नप्रकरणत्वात्, भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च। अपि च 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (छा० ८।६।५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत, त्वरावचनं च पीड्येत 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति। तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति।

भाष्यका अनुवाद

रश्मियोंसे ही ऊर्ध्व आक्रमण करता है)। 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः' (वे अर्चिको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको प्राप्त होते हैं) ऐसे अर्चिरादि दिखलानेवाली दूसरी श्रुति है। 'स एतं देवयानं०' (वह इस देवयान मार्गको प्राप्त करके अग्निलोकमें आता है) ऐसी दूसरी श्रुति है। 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्' (जब विद्वान् पुरुष इस लोकसे प्रयाण करता है, तब वह वायुमें जाता है) ऐसी दूसरी श्रुति है। 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः' ([जो ज्ञानयुक्त वानप्रस्थ और संन्यासी तप—स्वाश्रमविहित कर्म और श्रद्धा—हिरण्यगर्भात्मक विद्या—इन दोनोंका अरण्यमें सेवन करते हैं] वे जिसमें पुण्य और पापकर्म क्षीण हुए हैं, ऐसे सूर्योपलक्षित उत्तरायण मार्गसे प्रयाण करते हैं) ऐसी दूसरी श्रुति है। यहांपर संशय होता है कि क्या ये मार्ग परस्पर भिन्न हैं या एक ही मार्ग है।

पूर्वपक्षी—वे मार्ग भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि अनेक प्रकरणोंके हैं और भिन्न उपासनाओंके अंग हैं। और 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (तब इन रश्मियोंसे ही) इस अवधारणको अर्चिरादिकी अपेक्षा होनेसे बाध होगा, उसी प्रकार 'स यावत्०' (वह जितने समयमें मनको प्रेरित करता है, उतने ही समयमें आदित्यमें जाता है) इस त्वरावचनका बाध होगा। इसलिए ये मार्ग अन्योन्यसे भिन्न ही है।

रत्नप्रभा

भेदात् तच्छेषत्वेन ध्येयानां मार्गाणां भेदः, एवकाराच्च। किञ्च, मार्गभेदे

रत्नप्रभाका अनुवाद

मार्गोंका भेद है और मार्गका भेद होनेपर 'इस मार्गसे यह मार्ग शीघ्रतासे प्रापक है, इस प्रकार

भाष्य

एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—अर्चिरादिनेति। सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे। कुतः? तत्प्रथितेः। प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम्। तथा हि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'येऽचामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यार्चिरादिका सृतिः श्राव्यते। स्यादेतत्। यासु विद्यासु न काचिद्गतिरुच्यते तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठतां यासु त्वन्या श्राव्यते तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति। अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अर्चिरादिना'। ब्रह्मप्राप्ति करनेकी इच्छासे सब अर्चिरादि मार्गसे ही जाते हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। किससे? इससे कि उसकी प्रसिद्धि है, क्योंकि सब विद्वानोंमें इस मार्गकी प्रसिद्धि है, कारण कि पंचाग्निविद्या प्रकरणमें 'ये चामी अरण्ये श्रद्धाम्०, (जो पंचाग्निविद्या जानते हैं और जो वानप्रस्थ परिव्राजक श्रद्धायुक्त होकर सत्य, हिरण्यगर्भस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करते हैं) इस प्रकार अन्य विद्याका परिशीलन करनेवालेके लिए भी अर्चिरादि मार्ग श्रुतिमें कहा गया है। परन्तु यहां शंका होती है कि जिन विद्याओंमें कोई गति नहीं कही गई, उन विद्याओंमें यह अर्चिरादि मार्ग उपस्थित हो, परन्तु जिन विद्याओंमें दूसरी गतिका श्रवण कराया जाता है, उन विद्याओंमें अर्चिरादिका आश्रयण क्यों करना चाहिए? इसपर कहते हैं—यदि ये मार्ग अत्यन्त भिन्न हों, तो ऐसा

रत्नप्रभा

सत्यस्मादयं मार्गस्त्वरया प्रापक इति युक्तम्, न मार्गैक्य इत्यर्थः।

उपासनाभेदेऽप्युपास्यब्रह्मैक्यवत् मार्गैक्यमविरुद्धमिति सिद्धान्तयति—एवमिति। तस्य मार्गस्य प्रसिद्धत्वादिति हेत्वर्थः। ये चेत्यविशेषश्रुतिरश्रुतगतिविद्याविषयेति मार्गभेदं शङ्कते—स्यादेतदिति। एकस्यैव मार्गस्याऽनेकान्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जान सकते हैं, परन्तु एक मार्ग होनेपर नहीं। उपासनाओंके भिन्न होनेपर भी उपास्य ब्रह्मके ऐक्यके समान एक मार्गमें भी विरोध नहीं है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। उस मार्गके प्रसिद्ध होनेसे, ऐसा हेतुका अर्थ है। 'ये च' इत्यादि श्रुति तो जिसकी गति अश्रुत है, ऐसी विद्यापरक है, अतः मार्गका भेद है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। एक ही मार्गके अग्नि आदि अनेक विशेषण हैं,

भाष्य

स्युः । एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी क्वचित् केनचिद् विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः । सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः । प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः । विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथा हि 'तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५), 'तस्मिन् वसन्ति शाश्वतीः समाः' (बृ० ५।१०।१), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां

भाष्यका अनुवाद

हो । परन्तु यह तो ब्रह्मलोक प्राप्त करानेवाला अनेक विशेषणोंसे युक्त एक ही मार्ग है और वह कहींपर किसी एक विशेषणसे उपलक्षित है, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि सर्वत्र एकदेशका प्रत्यभिज्ञान होनेसे अन्योन्य विशेषण-विशेष्यभाव उपपन्न होता है । प्रकरणका भेद होनेपर भी विद्या एक हो, तो अन्योन्यके विशेषणोंके उपसंहारके समान गतिके विशेषणोंका भी उपसंहार होता है । विद्याके भिन्न होनेपर भी गतिके एकदेशका प्रत्यभिज्ञान होनेसे और गन्तव्यका भेद न होनेसे गतिका अभेद ही है, क्योंकि 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु' वे उन ब्रह्मलोकोंमें हिरण्यगर्भके प्रकृष्ट संवत्सर तक वसते हैं—ब्रह्माके अनेक कल्प तक वसते हैं—इस संसारमें उनका पुनरागमन नहीं होता), 'तस्मिन् वसन्ति शाश्वतीः समाः' (उस प्रजापतिलोकमें नित्य संवत्सर—ब्रह्माके बहुत कल्पोंतक वसते हैं), 'सा या ब्रह्मणो, (वह जो

रत्नप्रभा

ग्न्यादीनि विशेषणानीत्युक्ते लाघवात् न मार्गभेदः, प्रत्यभिज्ञानाच्चेति समाध्यर्थः । गन्तव्यैक्यं विवृणोति—तथा हीति । परावतः—दीर्घायुषो हिरण्यगर्भस्य, पराः—दीर्घाः, समाः—संवत्सरान् वसन्ति । कार्यब्रह्मणो या जितिः—सर्वत्र जयः,

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार कहनेपर लाघवसे मार्गभेद सिद्ध नहीं होता है और प्रत्यभिज्ञा भी है, ऐसा समाधानका अर्थ है । गन्तव्यके ऐक्यका स्पष्टीकरण करते हैं—"तथा हि" इत्यादिसे । परावतः—दीर्घायुवाले हिरण्यगर्भके दीर्घ संवत्सर—बड़े वर्षतक रहते हैं, कार्यब्रह्मका जो सर्वत्र जय है और व्युष्टि—व्याप्ति है, उसे प्राप्त करता है, यह अर्थ है । इस प्रकार एक

माष्य

व्युष्टिं व्यश्नुते' (कौषी० १।४) 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८।४।३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते। यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति। नैष दोषः, रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य। नह्येक एवशब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम्। तस्माद् रश्मिसम्बन्ध एवाऽयमवधार्यत इति द्रष्टव्यम्। त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया क्षैप्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते—यथा निमिषमात्रेणाऽत्राऽऽगम्यत इति। अपि च

भाष्यका अनुवाद

ब्रह्मका—हिरण्यगर्भका जो सर्वत्र जय है और जो व्याप्ति है, उस जयको और व्याप्तिको प्राप्त करता है), 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकम्०' (उनमें जो ब्रह्मचर्यसे यह ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं) ऐसे वहां-वहां वही ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप एक फल दिखलाया है। अर्चिरादिका आश्रयण होनेपर तो 'एतैरेव' (इन्हीं रश्मियोंसे) ऐसा अवधारण न होगा, ऐसा जो कहा गया है (उसके लिए कहते हैं कि) वह दोष नहीं है, क्योंकि यह शब्द रश्मिकी प्राप्ति बताता है, क्योंकि एक 'एव' शब्द रश्मिकी प्राप्ति करावे और अर्चिरादिकी व्यावृत्ति करावे, यह योग्य नहीं है, इसलिए यह रश्मिसम्बन्ध ही अवधारित होता है, ऐसा समझना चाहिए, त्वराके वचनका, तो अर्चिरादिकी अपेक्षामें भी अन्य गन्तव्यसे क्षिप्रता बतानेके लिए है, उससे उसका बाध नहीं होता, जैसे

रत्नप्रभा

व्यष्टिः—व्याप्तिः, तां लभते इत्यर्थः। एवं गन्तव्यैक्यवत् प्रत्यभिज्ञाया मार्गैक्यनिश्चयात् प्रकरणभेदोऽप्रयोजक इत्युक्तम्, सम्प्रति एवकारत्वरावचनयोर्गतिमाह—यत्त्वित्यादिना। रात्रौ स्पष्टरश्म्यभावाद् विदुषो रश्म्ययोगप्राप्तौ तन्निरासार्थम् एवकारः, नाऽन्यव्यावृत्त्यर्थः। यथा लौकिकमार्गे विलम्बः, तथा अर्चिरादौ नेति त्वरावचनोपपत्तिरित्यर्थः। मार्गैक्ये लिङ्गमाह—अपि चेति। शुभमार्गबाहुल्ये

रत्नप्रभाका अनुवाद

गन्तव्यके समान प्रत्यभिज्ञासे भी एक मार्गका निश्चय होनेसे प्रकरणभेद प्रयोजक नहीं है, यह कहा जा चुका है। अब एवकार और त्वरावचनका तात्पर्य कहते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। रात्रिमें स्पष्टरूपसे किरणोंके न रहनेसे विद्वान्‌का किरणके साथ असम्बन्ध प्राप्त होनेपर उसकी निवृत्तिके लिए एवकार है, और जैसे लौकिक मार्गमें समय लगता है, वैसे ही अर्चिरादिमें समय नहीं लगता, इस प्रकार त्वराशब्दकी उपपत्ति है, यह भाव है। मार्गके ऐक्यमें लिङ्ग कहते हैं—

भाष्य

'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति। भूयांसि चार्चिरादिसृतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र। भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां च नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ॥ १ ॥

भाष्यका अनुवाद

'निमिषमात्रमें यहां आता है'। उसी प्रकार 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' ([जब विद्या या अनिष्टादि कर्म] दोनोंमें से एकका भी सेवन नहीं करता, तब अर्चिरादिमार्ग और धूममार्ग दोनोंमें से किसी भी मार्ग से नहीं जाता) इन दो मार्गोंसे भ्रष्ट हुएके लिए कष्टकारी तृतीय स्थान कहती हुई श्रुति पितृयाणसे अन्य एक ही देवयान मार्ग [जिसमें अर्चिरादि पर्व हैं] को प्रसिद्ध करती है। अर्चिरादि श्रुतिमें बहुतसे मार्गपर्व हैं और अन्यत्र थोड़े हैं और बहुतोंकी अनुकूलतासे थोड़ोंका अर्थ लेना न्याय्य है, इससे भी 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' यह उक्त है ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

तृतीयस्थानोक्तिर्न स्यादिति भावः। उत्तरमार्गैक्येऽप्यर्चिरादिनेति विशेषणे को हेतुरित्यत आह—भूयांसीति ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अपि च" इत्यादिसे। शुभमार्गके अनेकविध होनेपर तृतीय स्थानकी उक्ति नहीं होगी, यह भाव है। उत्तर मार्गके एक होनेपर भी 'अर्चिरादिना' इस प्रकारके विशेषणमें क्या हेतु है? इसपर कहते हैं—"भूयांसि" इत्यादिसे ॥ १ ॥



[२ वाय्वधिकरण सू०—२]

सन्निवेशयितुं वायुरत्राशक्योऽथ शक्यते ।
न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमाविवर्जनात् ॥ १ ॥
वायुच्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति ।
श्रुतेरर्वाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अर्चिरादि मार्गमें वायुका संनिवेश हो सकता है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—नहीं हो सकता, क्योंकि वायुलोकमें श्रौत क्रमका अभाव है ।

सिद्धान्त—अर्चिरादि मार्गमें वायुका संनिवेश करना चाहिए। क्योंकि 'वायुके छिद्रसे निकलकर वह आदित्यलोकमें जाता है' इस अर्थकी बोधिका श्रुति है, इससे आदित्यलोकके नीचे वायुका और वायु लोकके नीचे देवलोकका भी समावेश है, यह ज्ञात होता है ।

---

* सारांश यह है कि 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरम्, संवत्सरादादित्यम्, आदित्याच्चन्द्रमसम्, चन्द्रमसो विद्युतम्, तत्पुरुषोऽमानवः, स एतान् ब्रह्म गमयति, (वे, पञ्चाग्निके उपासक अर्चिके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनके अभिमानी देवताको और उससे पक्षके अभिमानी देवताको उससे उत्तरायण छः मासोंके अभिमानी देवताको उससे संवत्सराभिमानी देवताको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और उससे विद्युत्को वह अमानव पुरुष है, और वह ब्रह्मको प्राप्त कराता है) इस प्रकार श्रूयमाण अर्चिरादिमार्गमें अन्यशाखाश्रुत वायुका किसी प्रकारसे अन्तर्भाव नहीं कर सकते हैं, क्योंकि 'इसके आगे वायु' इस प्रकार क्रमका श्रवण नहीं है, और कोई अनुमापक हेतु भी देखनेमें नहीं आता, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं कि अन्य श्रुति ही 'वायुका अर्चिरादिमार्गमें सन्निवेश है' इस अर्थकी ज्ञापक है, क्योंकि 'स वायुमागच्छति तस्मै स विजिहीते, यथा रथचक्रस्य खम्, तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यम् गच्छति इति' (इससे निकलकर जब उपासक वायुमें आता है, तब वायुमण्डल सच्छिद्र होता है उस रथके पहियेके समान वायुके छिद्रसे वायुमण्डलको उल्लंघन करके आदित्यमण्डल प्राप्त करता है) इस प्रकार इस श्रुतिका अर्थ है। इसलिए वायुमें आदित्यकी प्रथमता प्रतीत होनेसे क्रमविशेष जाना जाता है—माससे संवत्सरको संवत्सरसे वायुको और वायुसे आदित्यको (प्राप्त होता है) इस प्रकार संनिवेश करना चाहिए। बृहदारण्यकमें मासके बाद संवत्सरको छोड़कर उसके स्थानमें देवलोकका पाठ किया है, उसका संवत्सरके बाद और वायुके पूर्वमें निवेश करना चाहिए, क्योंकि मास और संवत्सरका परस्पर सम्बन्ध होनेसे उनके आनन्तर्यका निवारण नहीं कर सकते हैं। इसलिए संवत्सर और आदित्यके बीचमें देवलोकका और वायुलोकका निवेश करना चाहिए ।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

पदच्छेद—वायुम्, अब्दात्, अविशेषविशेषाभ्याम्।

पदार्थोक्ति—अब्दात्—संवत्सरात् [अनन्तरमादित्यादर्वागेव] वायुम्—वायुलोकम् [अभिसंविशन्ति, कुतः?] अविशेषविशेषाभ्याम्—कौषीतकिश्रुतौ वायोः कुतश्चिदानन्तर्यमर्वाक्त्वं वा विशेषो न ज्ञायते, तद्वाचकपदाभावात्, तथा बृहदारण्यके 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्' इत्यत्र आदित्यादर्वाक्त्वम् विशेषः, आभ्यां हेतुभ्यामित्यर्थः।

भाषार्थ—संवत्सरके बाद आदित्य लोकसे पहले वायुलोकमें प्रवेश करते हैं, क्योंकि कौषीतकीमें सामान्यतः वायुकी उक्ति है अर्थात् वायुमें किसीसे आनन्तर्य या पूर्वत्व नहीं है और बृहदारण्यकमें 'यदा वै पुरुषः' इत्यादिमें आदित्यकी अपेक्षासे वायुमें अर्वाक्त्व—पूर्वत्व प्रतीत होता है।

भाष्य

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत् सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यो ग्रथयति। 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स

भाष्यका अनुवाद

परन्तु किस विशिष्ट सन्निवेशसे गतिविशेषणोंका परस्पर विशेषणविशेष्यभाव है? इसका आचार्य मित्र होकर प्रतिपादन करते हैं। 'स एतं देवयानं०' (इस देवयान मार्गको प्राप्त करके वह अग्निलोकमें जाता है, वह वायुलोकमें जाता है, वह वरुणलोकमें जाता है, वह इन्द्रलोकमें जाता है, वह प्रजापति

रत्नप्रभा

उक्तं मार्गस्यैक्यमुपजीव्य पूर्वक्रममाह—वायुमब्दादिति। अर्चिरादिष्वस्मादयमनन्तर इति क्रमेण विशेषणविशेष्यभाव उच्यते इत्यधिकरणस्य तात्पर्यमुक्त्वा विषयमाह—स एतमिति। अत्राग्न्यनन्तरं पठितो वायुर्विषयः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

मार्गकी कथित एकताके आधारपर पूर्वक्रम कहते हैं—"वायुमब्दात्" इत्यादिसे। अर्चि आदिमें 'यह इससे अनन्तर है' इस प्रकार क्रमशः विशेषणविशेष्यभाव कहा जाता है, ऐसा अधिकरणका तात्पर्य कहकर विषय कहते हैं—"स एतम्" इत्यादिसे। यहाँ

भाष्य

ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौपीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते। तत्राऽर्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नाऽत्र संनिवेशक्रमः कश्चिदन्वेष्यः। वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि कतमस्मिन् स्थाने संनिवेशयितव्य इति उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरात् पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्ति। कस्मात्? अविशेषविशेषाभ्याम्। तथा हि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राऽविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरेण विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माँल्लोकात् प्रैति स वायु-

भाष्यका अनुवाद

लोकमें जाता है और वह ब्रह्मलोकमें जाता है) इस प्रकार कौपीतकी उपनिषत्में देवयानमार्ग कहा गया है। उसमें अर्चि और अग्निलोक ये दो शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं, क्योंकि वे अग्निवाचक हैं, इसलिए इसमें सन्निवेशका कोई भी क्रम अन्वेषणीय-विचारणीय नहीं है, परन्तु अर्चिरादि मार्गमें वायुकी श्रुति नहीं है। उसका किस स्थानमें संनिवेश करना चाहिए? कहते हैं—'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषो०' (वे अर्चि—अर्चिरभिमानिनी देवताको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिवसको, दिवससे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे जिन छः मासोंमें सूर्य उत्तरमें जाता है उन छः मासोंको, मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको प्राप्त होते हैं) इसमें संवत्सरके पीछे और आदित्यके पहले वायुको प्राप्त होता है। किससे? अविशेषसे और विशेषसे, क्योंकि 'स वायुलोकम्' (वह वायुलोकमें जाता है) इसमें अविशेषसे उपदिष्ट वायुका अन्य श्रुतिमें विशेषसे उपदेश देखा जाता है—'यदा वै पुरुषो०' (जब

रत्नप्रभा

स किम् अर्चिरात्मकाग्नेरनन्तरः उत संवत्सरात् पर इति पाठाद् वक्ष्यमाणविशेषश्रुतेश्च संशये सिद्धान्तमेवोपक्रमते—उच्यते इति। पुरुषः—उपासकः, अस्माल्लोकाद्—देहात्, प्रैति—निर्गच्छति, तस्मै—प्राप्ताय पुरुषाय सः—वायुः तत्र—स्वात्मनि

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्निके बाद पठित वायु विषय है, वह क्या अर्चिरूप अग्निसे अनन्तर है या संवत्सरसे पर है? इस प्रकार पाठसे और वक्ष्यमाण विशेषश्रुतिसे संशय होनेपर सिद्धान्तका उपक्रम करते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। पुरुष—उपासक इस लोकसे अर्थात् देहसे निकलता है, उस पुरुषके

भाष्य

मागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व-माक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५ । १० । १) इति । एतस्मा-दादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः । कस्मात् पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद् विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते । नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः । ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी०

भाष्यका अनुवाद

विद्वान् इस लोकसे जाता है—शरीरका त्याग करता है, तब वह वायुमें जाता है, वह वायु उसमें—स्वात्मामें उसके लिए—उसे प्राप्त हुए विद्वान्‌के लिए छिद्र करता है । जैसे रथचक्रका छिद्र है, वैसे, उस छिद्रसे वह विद्वान् ऊपर जाता है, वह आदित्यमें जाता है) । इस आदित्यसे पहले वायुका दर्शन है, इस विशेषसे संवत्सर और आदित्यके बीचमें वायुका निवेश करना चाहिए, परन्तु अग्निसे वायुका पर–पीछे दर्शन है, इस विशेषसे अर्चिके पीछे वायुका निवेश क्यों नहीं करते ? यह विशेष नहीं है, ऐसा हम कहते हैं । परन्तु 'स एतं देवयानम्०' । (इस देवयान मार्गको प्राप्त करके वह अग्निलोकमें जाता है, वह वायुलोकमें जाता है, वह वरुणलोकमें जाता है) इस श्रुतिका

रत्नप्रभा

विजिहीते—छिद्रं करोति, तेन—वायुदत्तेन रथचक्रच्छिद्रतुल्येन द्वारेणोर्ध्वमादित्यं गच्छतीति श्रुत्यर्थः । इदानीं पूर्वपक्षमाह—कस्मात् पुनरिति । पाठबलाद-र्चिषोऽनन्तरो वायुरित्यर्थः । कौषीतकिनां पाठमात्रम्, न क्रमविशेषवाची कश्चि-च्छब्दोऽस्ति । काण्वानां तु 'तेन' इति 'ऊर्ध्वम्' इति च शब्दाभ्यां क्रमनिश्चयात् पाठबाध इति सिद्धान्तार्थः । अस्त्वर्चिरादिमार्गे छान्दोग्यस्थे संवत्सरपाठाद् वायोरब्दात् परत्वम्, वाजिश्रुतिस्थे तु संवत्सरस्याऽश्रुतेः कथमब्दात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

लिए वायु अपनी आत्मामें छिद्र करता है, उस वायुके दिये हुए रथचक्रके तुल्य छिद्रद्वारा ऊपर आदित्यमें जाता है, यह श्रुत्यर्थ है । अब पूर्वपक्ष करते हैं—"कस्मात् पुनः" इत्यादिसे । पाठके बलसे अर्चिके बाद वायु है, ऐसा अर्थ है, कौषीतकियोंका पाठमात्र है, क्रम विशेषवाची कोई शब्द नहीं है । काण्वोंका तो 'तेन' और 'ऊर्ध्वम्' इन दो शब्दोंसे क्रमका निश्चय होनेसे पाठका बाध है, इस प्रकार सिद्धान्तका अर्थ है । छान्दोग्यके अर्चिरादि मार्गमें संवत्सरका पाठ होनेसे अब्दसे–संवत्सरसे वायु पर भले रहे, परन्तु वाजिश्रुतिके

भाष्य

१।२) इति। उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणाऽवस्थितो नाऽत्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति—पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते एतमेतं च स गच्छतीति। इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात् सूक्तम्—अविशेषविशेषाभ्यामिति। वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति, तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकात् वायुमभिसम्भवेयुः। वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः, तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र

भाष्यका अनुवाद

उदाहरण किया है। कहते हैं—इसमें पौर्वापर्यसे अवस्थित पाठ ही केवल है, क्रमवाचक कोई शब्द नहीं है—यहां इस प्रकार पदार्थका उपदर्शनमात्र किया है—इस-इस स्थानमें जाता है। अन्य श्रुतिमें तो वायुके दिये हुए रथचक्र जैसे छिद्रसे ऊर्ध्व आक्रमण करके आदित्यमें जाता है, ऐसा क्रम समझा जाता है। इसलिए अविशेषसे और विशेषसे यह ठीक कहा है। वाजसनेयी तो 'मासेभ्यो .देवलोकम्०' (मासोंसे देवलोकमें और देवलोकसे आदित्यमें) ऐसा कहते हैं। उसमें आदित्यके आनन्तर्यके लिए देवलोकसे वायुमें प्राप्त हों, यह युक्त है। 'वायुमब्दात्' (संवत्सरसे वायुको प्राप्त होता है) ऐसा सूत्रमें छान्दोग्यश्रुतिकी अपेक्षासे कहा जाता है। छान्दोग्य और वाजसनेयकमें से तो एकमें देवलोक नहीं है और दूसरेमें संवत्सर नहीं है, उन दोनों श्रुतियोंमें

रत्नप्रभा

परो वायुरित्यत आह—वाजेति। तर्हि 'देवलोकाद्वायुम्' इति सूत्रं स्यादित्यत आह—वायुमब्दादिति त्विति। संवत्सरस्य मासावयवित्वात् मासानन्तर्यम्, संवत्सरात् परो देवलोकः, ततः परो वायुः, वायोः पर आदित्यः, इति श्रुतिद्वये

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्चिरादि मार्गमें उसका पाठ नहीं होनेसे अब्दसे पर वायु किस प्रकार होगा? इसपर कहते हैं—"वाज" इत्यादिसे। तो 'देवलोकाद्वायुम्' इस प्रकार सूत्र होगा? इसपर कहते हैं—"वायुमब्दादिति तु" इत्यादिसे। मासोंका अवयवी होनेसे संवत्सरमें मासोंका आनन्तर्य है, संवत्सरसे पर देवलोक है, और उससे पर वायु, उससे पर आदित्य, इस प्रकार दोनों श्रुतियोंमें क्रम निष्पन्न है। 'तेन' इस प्रकारकी तृतीयाश्रुतिसे आदित्यसे पहले वायु है,

भाष्य

ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससम्बन्धात् संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रत्यय होनेसे दोनोंका दोनों स्थलोंमें संनिवेश करना चाहिए। उसमें भी मासके साथ सम्बन्ध होनेसे संवत्सरका पहले और देवलोकका पीछे संनिवेश है, ऐसा विवेक करना चाहिए ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

क्रमो निष्पन्नः। तेनेति तृतीयाश्रुत्या वायोरादित्यपूर्वत्वावगमादिति, सूत्रे तु वायुपदं देवलोकपूर्वकवायुपरमिति स्थितम् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह ज्ञात होता है और सूत्रमें जो वायुशब्द है, वह देवलोकपूर्वक वायुपरक है, यह स्थित है ॥ २ ॥



[३ तडिदधिकरण सू० ३]

वरुणादेः सन्निवेशो नास्ति तत्राथ विद्यते ।
नास्ति, वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः ॥ १ ॥
विद्युत्सम्बन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः ।
*वरुणो विद्युतस्तूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अर्चिरादिमार्गमें वरुणादिका सन्निवेश है या नहीं ।

पूर्वपक्ष—वरुणादिका सन्निवेश नहीं हो सकता, क्योंकि वायुके समान इसकी व्यवस्थापिका श्रुति नहीं है ।

सिद्धान्त—वरुणका अर्चिरादि मार्गमें सन्निवेश है, क्योंकि वरुण विद्युत्सम्बन्धी वृष्टिके जलका अधिपति है, अतः विद्युत्से पहले वरुण है और वरुणसे पहले इन्द्र और प्रजापति हैं, इस प्रकार क्रम जानना चाहिए ।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—तडितः, अधि, वरुणः, सम्बन्धात् ।

पदार्थोक्ति—तडितः—विद्युल्लोकात्, अधि—उपरिष्टात्, वरुणः—वरुणलोकः [सम्बध्यते, कुतः ?] सम्बन्धात्—वरुणस्याऽब्दद्वारा विद्युत्सम्बन्धात् ।

भाषार्थ—विद्युत्लोकसे ऊपर वरुणलोकका सम्बन्ध है, किससे ? इससे कि संवत्सर द्वारा वरुणका विद्युत्के साथ सम्बन्ध है ।

---

* भाव यह है कि कौषीतकी शाखावाले पढ़ते हैं—'स वरुणलोकम्, स इन्द्रलोकम्, स प्रजापतिलोकम्' (वह वरुणलोकमें, प्रजापतिलोकमें और इन्द्रलोकमें जाता है) इन तीनों लोकोंका अर्चिरादिमार्गमें समावेश नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पूर्वाधिकरणमें वायुके समान यहाँ कोई नियामक नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—विद्युल्लोकके ऊपर वरुणकी कल्पना करते हैं, क्योंकि वरुणका सम्बन्ध है—विद्युत्पूर्वक होनेवाली वृष्टिके जलका वरुण स्वामी है, इस प्रकार विद्युत् और वरुणका सम्बन्ध प्रतीत होता है । इन्द्र और प्रजापतिका अन्य स्थान नहीं है, तथापि 'आगन्तुकानामन्ते सन्निवेशः' (आगन्तुकोंका आखिरमें समावेश करना चाहिये) इस लोकोक्तिके अनुसार वरुणलोकके ऊपर उन दोनोंका समावेश करना चाहिए । इससे वरुणादिका अर्चिरादि मार्गमें समावेश होनेसे उसकी यथार्थ व्यवस्थिति है, यह भाव है ।

भाष्य

'आदित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स वरुणलोकमित्ययं वरुणः सम्बध्यते। अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयोः यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति, 'विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। वरुणादधीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात् पाठसामर्थ्याच्च

भाष्यका अनुवाद

'आदित्याच्चन्द्रमसम्' (आदित्यसे चन्द्रमें और चन्द्रसे विद्युत्में) इसमें विद्युत्से वह वरुणलोकमें जाता है, ऐसा यह वरुणका सम्बन्ध है, कारण कि तीव्र गर्जनाका जिसमें निर्घोष है ऐसी विद्युत् जब मेघके उदरमें नृत्य करती है तब जल गिरता है। 'विद्योतते स्तनयति' (बिजली चमकती है, मेघकी गर्जना होती है, वृष्टि होगी, इस प्रकार लोग कहते हैं) ऐसा ब्राह्मण है। जलका अधिपति वरुण है, ऐसा श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। वरुणके ऊपर इन्द्र और प्रजापति हैं, क्योंकि उनके लिए अन्य स्थान

रत्नप्रभा

एवं कौषीतकिभिरग्न्यनन्तरं पठितस्य वायोः स्थानमुक्त्वा वाय्वनन्तरं पठितस्य वरुणस्यार्चिरादिमार्गे स्थानमाह—तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धादिति। पठितो वरुणादिर्मार्गपर्वत्वेन सम्बध्यते न वेति सन्देहेऽर्चिषोऽहरित्यादिपञ्चम्याऽर्चिरादीनां क्रमेण मार्गपर्वतया बद्धत्वाद् वायोरिव स्थानविशेषश्रुत्यभावादलब्धस्थानो वरुणादिर्न सम्बध्यते इति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह—आदित्यादिति। अपां विद्युत्कार्यत्वेन सम्बन्धे मानमाह—विद्योतत इति। वरुणस्याऽब्द्वारा विद्युत्सम्ब-

रत्नप्रभाका अनुवाद

उस प्रकार कौषीतकियों द्वारा अग्निके अनन्तर पठित वायुके स्थानका कथन करके वायुके बाद पठित वरुणका अर्चिर् आदि मार्गमें स्थान कहते हैं—"तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्" इति। पठित वरुणादि मार्गके पर्वरूपसे सम्बद्ध होता है या नहीं? इस प्रकार सन्देह होनेपर 'अर्चिसे दिन' इस प्रकार पञ्चमीसे अर्चिरादिके क्रमसे मार्गके पर्वरूपसे सम्बद्ध होनेसे वायुके समान स्थानविशेषकी श्रुति न होनेसे जिसने स्थान प्राप्त नहीं किया, ऐसा वरुणादि सम्बद्ध नहीं होता है, इस प्रकार प्राप्त होनेपर सिद्धान्त कहते हैं—"आदित्यात्" इत्यादिसे। विद्युत्का कार्य होनेसे जलके सम्बन्धमें प्रमाण कहते हैं—"विद्योतते" इत्यादिसे। जलके

भाष्य

आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशः । वैशेषिकस्थानाभावाद् विद्यु-च्चान्त्यार्चिरादौ वर्त्मनि ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

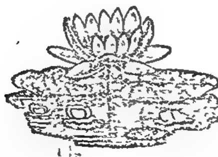
नहीं है और पाठकी सामर्थ्य है। वरुण आदिके आगन्तुक होनेसे भी उनका अन्तमें ही निवेश है, क्योंकि विशिष्ट—असाधारण स्थान नहीं है और अर्चि-रादि मार्गमें बिजली अन्तिम स्थान है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

न्धादागन्तुकानामन्ते निवेश इति न्यायाच्च विद्युदानन्तर्ये सति यथापाठमिन्द्र-प्रजापत्योः क्रम इत्यर्थः ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वारा विद्युत्के साथ वरुणका सम्बन्ध होनेसे और 'आगन्तुकोंका अन्तमें समावेश करना चाहिए' इस न्यायसे विद्युत्का आनन्तर्य होनेपर यथापाठ—पाठके अनुसार इन्द्र और प्रजा-पतिका क्रम है ॥ ३ ॥



[४ आतिवाहिकाधिकरण सू० ४–६]

मार्गचिह्नं भार्गभूर्वा नेतारो वार्चिरादयः ।
आद्यौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दतः ॥ १ ॥
अन्ते गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेदृशः ।
निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान् प्रति ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या आर्चिरादि मार्गके चिह्न हैं, या भोगभूमि हैं, या नेता हैं ?

पूर्वपक्ष—अर्चिरादि मार्गके चिह्नविशेष है अथवा भोगभूमि है, क्योंकि मार्गके चिह्नका सादृश्य है और लोकशब्दका प्रयोग किया गया है।

सिद्धान्त—श्रुतिके अन्तमें 'गमयति' (ले जाता है) इस प्रकारका कथन होनेसे अर्चिरादि नेता हैं यह अनायास समझा जाता है और उनमें इस प्रकारका निर्देश भी हो सकता है, इसी तरह लोकशब्दका प्रयोग तन्निवासी जनोंके आधारपर किया गया है।

---

* सारांश यह है कि जो आर्चि आदि श्रुतिमें कथित हैं, वे मार्गके चिह्नभूत हैं, क्योंकि लौकिक मार्गके चिह्नकी समानतासे उनका निर्देश किया गया है, लोकमार्गके परिज्ञानके लिए उस प्रकारका अक्सर प्रयोग किया करते हैं—'गाँवसे निकलकर नदीमें जाओ, नदीसे पर्वतको और पर्वतसे पर्णकुटीमें जाओ' इसी प्रकार आर्चिसे दिन और दिनसे पक्ष, इत्यादिका निर्देश किया गया है, इससे इस परिणाम को पहुँचते हैं कि ये आर्चि आदि मार्गके चिह्न हैं अथवा ब्रह्मलोकमें जो जानेवाला है, उसके ये आर्चि आदि विश्रामस्थान हैं अर्थात् भोगभूमि है, क्योंकि वायुलोक वरुणलोक, इस प्रकार प्रयुक्त लोकशब्द लोकभूमिमें अधिकतर प्रसिद्ध है, इस प्रकारका पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर—

सिद्धान्ती कहते हैं—'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (वह अमानव विद्युत्पुरुष है और उसको ब्रह्म प्राप्त कराता है) इस प्रकार श्रूयमाण उक्त अमानवपुरुषमें नेतृत्व सुना जाता है, उसके साहचर्यसे आर्चिरादि भी आतिवाहिक देवता हैं यह प्रतीत होता है। जो निर्देशकी समता कही गई है वह आतिवाहिक देवताओंमें भी हो सकती है—यहाँसे तुम बल्वर्माके पास जाओ, उससे जयगुप्तके पास और उससे देवनारायणके पास। और लोकशब्दका व्यवहार तो उनमें भोगके न रहते भी आतिवाहिक देवताओंको लेकर उपपन्न हो सकता है। इससे अर्चि आदि आतिवाहिक—नेता हैं। यह समझ लेना चाहिए।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—आतिवाहिकाः, तल्लिङ्गात् ।

पदार्थोक्ति—आतिवाहिकाः—अर्चिरादयः कार्यब्रह्मगन्तृणां गमयितारः । कुतः ? तल्लिङ्गात्—'अमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति' इत्यमानवपुरुषस्य विद्युल्लोकप्राप्तान् उपासकान् प्रति गमयितृत्वश्रवणात् ।

भाषार्थ—वे अर्चिरादि कार्यब्रह्मके प्रति जानेवालोंके लिए आतिवाहक हैं, क्योंकि 'अमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति' (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म प्राप्त करवाता है) इस प्रकार उपासकोंके प्रति गमयितृत्वका श्रवण है ।

भाष्य

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तॄणामिति । तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्प्राप्तम्, तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथा हि लोके कश्चिद् ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते—गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीति । एवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमा-

भाष्यका अनुवाद

इन अर्चिरादिमें संशय होता है कि क्या ये मार्गचिह्न हैं या भोगभूमि हैं अथवा ब्रह्मलोकको जानेवालोंके नेता—ले जानेवाले हैं ?

पूर्वपक्षी—ऐसा सन्देह होनेपर ये अर्चिरादि मार्गके चिह्नरूप हैं, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि उस स्वरूपका उपदेश है । जैसे लोकमें ग्राम या नगरमें प्रस्थान करने की इच्छा करनेवाले किसीको ऐसा उपदेश किया जाता है कि तुम यहांसे उस वृक्षकी तरफ जाओ, वहांसे नदीकी तरफ जाओ, वहांसे आगे ग्राम या नगर तुम्हें प्राप्त होगा । इसी प्रकार यहां भी अर्चिसे दिवसको और दिवससे शुक्लपक्षको प्राप्त होता है, इत्यादि कहती है ।

रत्नप्रभा

एवमर्चिरादीनां क्रमं निरूप्य स्वरूपं निरूपयति—आतिवाहिकास्तल्लिङ्गादिति । चिह्ननिर्देशसाम्यात् लोकशब्दान्नेतृत्वलिङ्गाच्च संशयः । आद्यपक्षद्वयं पूर्व-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार अर्चिरादिके क्रमका निरूपण करके स्वरूपका निरूपण करते हैं—"आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्" इत्यादिसे । चिह्ननिर्देशके साम्यसे, लोकशब्दसे और नेतृत्वलिंगसे संशय

भाष्य

णपक्षमित्याद्याह। अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम्। तथा हि—लोकशब्दे-नाऽग्न्यादिमुपबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौषी० १।३) इत्यादि। लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १।५।१६) इति च। तथा च ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि। तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः। अचेत-नत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः। चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्याननतिवाहयन्तीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथा हि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति।

भाष्यका अनुवाद

अथवा ये भोग भूमि हैं, ऐसा प्राप्त होता है क्योंकि 'अग्निलोकमागच्छति' (अग्निलोकमें आता है) इत्यादि श्रुति अग्नि आदिके साथ लोकशब्दका सम्बन्ध करती है। 'मनुष्यलोकः, (मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक) इस प्रकार प्राणियोंमें भोगभूमिके लिए कहा जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण भी है— 'अहोरात्रेषु०' (दिवस और रात्रि आदि लोकशब्द जो उक्त हैं, उन भोग-स्थलोंमें वे कर्मी और ज्ञानी भोगका अनुभव करते हैं) इसलिए अर्चिरादि आतिवाहिक—गन्तव्य स्थानमें पहुँचानेवाले नहीं हैं और अचेतन होनेसे भी ये आतिवाहिक हों, यह अनुपपन्न है, क्योंकि लोकमें राजासे नियुक्त हुए चेतन पुरुष दुर्गमार्गोंमें जानेवालेको ले जाते हैं।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ये आतिवाहिक हैं, यही युक्त है। किससे? इससे कि उनका लिङ्ग है, क्योंकि 'चन्द्रमसो विद्युतम्' (चन्द्रसे विद्युत्में वे जाते हैं, अमानव पुरुष उन्हें सत्य लोकस्थ ब्रह्ममें पहुँचाता

रत्नप्रभा

पक्षः। अर्चिरादयो विद्युदन्ताश्चेतना नेतारश्च। अमानवपुरुषेण नेत्रा सह पठित-त्वादिति सिद्धान्तयति—एवमित्यादिना। यथाश्रुति अमानवस्याऽस्तु नेतृत्वम्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

होता है। पहले दो पक्ष पूर्वपक्ष हैं। अर्चिरादि विद्युदन्त चेतन नेता हैं, क्योंकि अमा-नवरूप पुरुष नेताके साथ पढ़े गये हैं, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। श्रुतिके अनुसार अमानव पुरुष ही नेता हो, अर्चिरादि नेता नहीं है, ऐसी शंका करते हैं—

भाष्य

तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत्, नः प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद् विशेषणस्य। यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥ ४ ॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात्। नैष दोषः—

भाष्यका अनुवाद

है) यह श्रुति पूर्वसिद्ध-सा गमयितृत्व दिखलाती है। वह वचन उसके विषयमें ही उपक्षीण होता है, ऐसा कहो, तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि प्राप्त हुए मानवत्वको निवृत्त करना, यह 'अमानवः' विशेषणका तात्पर्य है। यदि अर्चिरादिमें ले जानेवाले प्राप्त हुए हों और वे मानव हों, तो उनकी निवृत्तिके लिए 'अमानवः' यह विशेषण युक्त है ॥ ४ ॥

परन्तु वह लिंगमात्र अगमक है, क्योंकि न्याय नहीं है, नहीं, यह दोष नहीं—

रत्नप्रभा

नार्चिरादीनामिति शङ्कते—तद्वचनमिति। पुरुषस्याऽमानवत्वं नेतृत्वञ्चेत्युभयपरत्वे वाक्यभेदः स्याद् अतोऽर्चिरादिपदैर्नेतार एव मानवाः प्रकृताः। प्रकरणबलात् विद्युदनन्तरं मानवस्य नेतुः प्राप्तौ प्रकरणप्राप्तनेतृत्वानुवादेनाऽमानवत्वमेकमेव प्रतिपाद्यते इति वक्तव्यमित्याह—नेति। नेतृप्रकरणानङ्गीकारेऽमानवः पुरुषो गमयतीति वाक्यं भिद्येत। अमानवत्ववत् नेतृत्वस्याऽप्यप्राप्तेरिति भावः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"तद्वचनम्" इत्यादिसे। पुरुष अमानव और नेता है, इस प्रकार उसे उभयपरक—दोनोंमें जिसका तात्पर्य है ऐसा माननेपर वाक्यभेद होनेसे अर्चिरादिपदोंसे नेता ही मानव प्रकृत है—अर्चिरादिपद मानव नेताओंके प्रतिपादक हैं—ऐसा समझना चाहिए। प्रकरणके बलसे विद्युत्‌के अनन्तर मानव नेताके प्राप्त होनेपर प्रकरण प्राप्त नेतृत्वके अनुवादसे केवल अमानवका ही प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं—"नेति" इत्यादिसे। नेताके प्रकरणका अंगीकार न करें, तो अमानव पुरुष पहुँचाता है, ऐसा वाक्यभेद होगा, क्योंकि अमानवत्वके समान नेतृत्व भी अप्राप्त है (नेताके प्रकरणका अंगीकार नहीं है) ऐसा भाव है ॥ ४ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

पदच्छेद—उभयव्यामोहात्, तत्सिद्धेः ।

पदार्थोक्ति—उभयव्यामोहात्—उभयोः मार्गगन्त्रोः व्यामोहात्—अज्ञत्वात् [ऊर्ध्वगतिर्न स्यात् अतः 'स्वयं प्रयत्नशून्यश्चेतनान्तरेण नेयः' इति न्यायानुगृहीताल्लिङ्गात्] तत्सिद्धेः—नेतृत्वसिद्धेः ।

भाषार्थ—मार्ग और गन्ता दोनोंके अज्ञ होनेसे ऊर्ध्व गति नहीं हो सकती है, इसलिए 'जो स्वयं प्रयत्नशून्य होता है, उसे अन्य चेतन ले जाता है' इस न्यायानुगृहीत लिङ्गसे नेतृत्व की सिद्धि होती है ।

भाष्य

ये तावदर्चिरादिमार्गास्ते देहवियोगात् संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्राः अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते । लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः संपिण्डितकरणग्रामाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति । अनवस्थितः

भाष्यका अनुवाद

जो अर्चिरादि मार्गसे जाते हैं, देहके वियोगसे उनकी इन्द्रियोंके समूहके संपिण्डित—एकाकार हो जानेसे वे अस्वतन्त्र हैं और अर्चिरादिके अचेतन होनेसे वे भी अस्वतन्त्र होनेसे अर्चिरादिके अभिमानी चेतन देवताविशेष अतियात्रामें नियुक्त हैं, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि लोकमें भी मत्त, मूर्च्छित आदि जिनकी इन्द्रियां संपिण्डित हुई हैं, वे अन्यसे प्रयुक्त हुए

रत्नप्रभा

नेतृत्वानुवादलिङ्गस्याऽनुग्राहकस्य न्यायपरं सूत्रं गृह्णाति—नन्विति । यद्यनेतारोऽचेतना एवार्चिरादयः, तर्हि मार्गतद्गन्त्रोरुभयोरपि व्यामोहादज्ञत्वादूर्ध्वगतिर्न स्यात्, अतः 'स्वयं प्रयत्नशून्यश्चेतनान्तरेण नेयः' इति लौकिकन्यायानुग्रहात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

नेतृत्वका अनुवाद है, इस लिंगका अनुग्राहक न्याय दिखलानेवाले सूत्रका अवतरण करते हैं—"ननु" इत्यादिसे । यदि अर्चिरादि अनेता हैं और अचेतन हैं, तो मार्ग और उस मार्गमें जानेवाला, दोनोंके व्यामोहसे—अज्ञानसे ऊर्ध्व गति नहीं होती, इसलिए स्वयं प्रयत्नशून्य पुरुषका अन्य चेतनसे ले जाया जाना युक्त है, इस लौकिकन्यायके अनुग्रहसे सिद्ध होता है—नेतृत्व सिद्ध होता है, इसलिए उक्त लिंग न्याययुक्त है, ऐसा सूत्रका अर्थ

भाष्य

त्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः। नहि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसम्भव उपपद्यते। न च प्रतिपालनमस्तीत्युक्तमधस्तात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नाऽयं दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते। 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१५।५,५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवन्ति अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति। तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते, गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति। अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० ६।२।१५)

भाष्यका अनुवाद

मार्गसे जाते हैं। अर्चिरादिके अनवस्थित होनेसे भी अर्चिरादि मार्गके चिह्न हों, यह उपपन्न नहीं है, क्योंकि रात्रिमें मरा हुआ दिवसका स्वरूप प्राप्त करे, यह उपपन्न नहीं होता। उसी प्रकार प्रतीक्षा नहीं होती है—वे दिवसकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं—यह पीछे कहा गया है। देवतास्वरूपके तो ध्रुव होनेसे यह दोष नहीं होता। अर्चिरादिके अभिमानसे इनमें—अर्चिरादिशब्द उपपन्न होता है। 'अर्चिषोऽहः' (अर्चिसे दिवस प्राप्त करता है) यह निर्देश तो अर्चिरादिके आतिवाहिक होनेपर भी विरुद्ध नहीं होता। अर्चिरूप हेतुद्वारा वे दिवस प्राप्त करते हैं, दिवस हेतुद्वारा शुक्लपक्ष प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार लोकमें प्रसिद्ध आतिवाहिकोंमें भी इस प्रकारका उपदेश देखा जाता है—तू यहांसे

रत्नप्रभा

तत्सिद्धेः नेतृत्वसिद्धेरुक्तलिङ्गं न्यायोपेतमिति सूत्रार्थः, पूर्वपक्षद्वयं दूषयति—अनवस्थितत्वादित्यादिना। अर्चिरहरादीनामस्थिरत्वाद् राज्यादौ मृतस्य प्रतीक्षा नास्तीत्युक्तत्वाच्च न मार्गचिह्नत्वं भोग्यत्वं वा, देवतात्वे त्वस्थिरत्वदोषो नास्तीत्यर्थः। यत्तूपदेशस्वारस्याच्चिह्नत्वं भातीति, तत्राह—अर्चिषोऽहरिति। चिह्नत्वनेतृत्वसंशयाच्च वाक्यशेषान्निर्णय इत्याह—अपि चेति। यदुक्तं लोकशब्दात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

है। दोनों पूर्वपक्षोंको दूषित करते हैं—"अनवस्थितत्वात्" इत्यादिसे। 'अर्चिः' दिवस आदिके अस्थिर होनेसे, इसी प्रकार रात्रि आदिमें मरा हुआ दिवसकी प्रतीक्षा नहीं करता, ऐसा कथित होनेसे अर्चिरादि मार्गचिह्न नहीं हैं, और भोगभूमियां भी नहीं हैं, उन्हें देवता माननेपर तो अस्थिरत्व दोष नहीं होता, ऐसा अर्थ है। और उपदेशके स्वरूपसे अर्चिरादि मार्गचिह्न प्रतीत होते हैं, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—"अर्चिषोऽहः" इत्यादिसे। अर्चिरादि चिह्न हैं या नेता हैं, ऐसा संशय होनेपर वाक्यशेषसे निर्णय होता है,

भाष्य

इति सम्बन्धमात्रमुक्तं न सम्बन्धविशेषः कश्चित्। उपसंहारे तु 'स एतान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। संपिण्डितकरणग्रामत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसम्भवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते, वायुस्वामिकं लोकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्सम्भवः। विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति, अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

बलवर्माके पास जा, उसके पाससे जयसिंहके पास, उसके पाससे कृष्णगुप्तके पास जा। और 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति०' (वे अर्चिको प्राप्त होते हैं) इस उपक्रममें भी सम्बन्धमात्र कहा गया है, कोई सम्बन्धविशेष नहीं कहा गया। उपसंहारमें तो 'स एतान् ब्रह्म गमयति' (वह इनको ब्रह्मके पास पहुँचाता है) इसमें गम्य और गमकका सम्बन्धविशेष कहा गया है, इसलिए उपक्रममें भी वही है, ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार जानेवालोंकी इन्द्रियां संपिंडित हो जाती हैं, इसीसे वहां उपभोगका सम्भव नहीं है। जानेवाले उपभोग न करते हों, तो भी लोकशब्द तो समझा जा सकता है, क्योंकि उस लोकमें रहनेवाले अन्यकी वह भोगभूमि है। इसलिए जिसका स्वामी अग्नि है, ऐसे लोकमें प्राप्त हुएको अग्नि ले जाती है, वायुस्वामीवाले लोकमें प्राप्त हुएको वायु ले जाता है, ऐसी योजना करनी चाहिए ॥५॥

परन्तु आतिवाहिकत्वपक्षमें वरुणादिमें आतिवाहिकत्वका संभव कैसे उपपन्न होता है, क्योंकि विद्युत्‌के ऊपर वरुणादि सन्निविष्ट हैं परन्तु विद्युत्‌के अनन्तर ब्रह्मप्राप्ति पर्यन्त अमानव पुरुष ही प्रापक सुना गया है? इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

भोग्यत्वमिति, तन्नेत्याह—संपिण्डितेति ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे। लोकशब्दसे अर्चिरादि भोगभूमियां हैं, ऐसा जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—संपिण्डित" इत्यादिसे ॥ ५ ॥

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—वैद्युतेन, एव, ततः, तच्छ्रुतेः।

पदार्थोक्ति—वैद्युतेनैव—विद्युल्लोकम् आगतेनाऽमानवपुरुषेण एव, ततः—विद्युत्प्राप्तेः [ऊर्ध्वं नीयमाना उपासकाः कार्यब्रह्म प्राप्नुवन्ति, कुतः ?] तच्छ्रुतेः—'अमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति श्रुतेः।

भाषार्थ—विद्युत्लोकमें आये हुए अमानव पुरुषसे ही विद्युत्प्राप्तिसे ऊपर नीयमान उपासक कार्यब्रह्मको प्राप्त करते हैं, क्योंकि 'अमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' (अमानव पुरुष आकर ब्रह्मलोकको प्राप्त कराता है) इस प्रकार श्रुति है।

भाष्य

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवाऽमानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्। 'तान् वैद्युतात् पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्तु तस्यैवाऽप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केन-

भाष्यका अनुवाद

वहांसे—विद्युत्लोकमें पहुँचनेके पश्चात् ऊर्ध्व विद्युत्के समीपवर्ती अमानव पुरुष द्वारा ही वरुणलोक आदिमें पहुँचाये गये वे ब्रह्ममें जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि 'तान् वैद्युतात्०' (विद्युत्लोकमें गये हुए उन लोगोंको वह अमानव पुरुष आकर विद्युत्लोकसे ब्रह्मलोकमें ले जाता है) यह श्रुति वह अमानव पुरुष ही नेता है, ऐसा कहती है। वरुणादि तो उसके प्रतिबन्ध न करनेसे या किसी प्रकारकी सहायता करनेसे उसके

रत्नप्रभा

सूत्रान्तरं गृह्णाति—कथं पुनरिति। अमानवो विद्युल्लोकमागतो वैद्युतः, तेनेत्यर्थः। श्रुतौ तु वैद्युताल्लोकादित्यर्थः। श्रुत्या वरुणादीनां नेतृत्वाभावेऽप्यनुग्राहकत्वेन मार्गान्तर्भाव इति भावः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य सूत्रका ग्रहण करते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे। विद्युत्लोकमें आया हुआ अमानव वैद्युत है, उसके द्वारा ऐसा अर्थ है, श्रुतिमें वैद्युतात् है, उसका अर्थ है विद्युत्लोकसे। श्रुति यद्यपि वरुणादिको नेता नहीं कहती, तो भी अनुग्राहकरूपसे उनका मार्गमें अन्तर्भाव है, ऐसा भाव है ॥ ६ ॥

भाष्य

चिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम् । तस्मात् साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

अनुग्राहक हैं, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए आर्चिरादि आतिवाहिक देवतारूप हैं, ऐसा ठीक कहा गया है ॥ ६ ॥



[५ कार्याधिकरण सू० ७—१४]

परं ब्रह्माथवा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते ।
मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥ १ ॥
कार्यं स्यात् गतियोग्यत्वात् परस्मिंस्तदसंभवात् ।
*सामीप्याद् ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद् भवेत् * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—उत्तरमार्गसे क्या परब्रह्मकी प्राप्ति होती है अथवा कार्यब्रह्मकी ?

पूर्वपक्ष—परब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है, कारण कि ब्रह्मशब्दका मुख्य अर्थ परब्रह्म अर्थात् शुद्धब्रह्म ही होता है ।

सिद्धान्त—कार्यब्रह्मकी प्राप्ति होती है, क्योंकि वही गतिके योग्य है, निर्गुण ब्रह्ममें गतिका सर्वथा अभाव है ब्रह्मशब्दकी उक्ति तो सान्निध्यसे कही गई है और क्रमशः अमृतत्व प्राप्त होगा ।

* सारांश यह है कि 'स एतान्ब्रह्म गमयति' इस श्रुतिसे श्रूयमाण उत्तरमार्गसे प्राप्य जो वस्तु है वह परब्रह्म ही है। किससे ? इससे कि ब्रह्मशब्द की मुख्यवृत्ति निर्गुण ब्रह्ममें ही है और आगे जाकर 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इस श्रुतिसे अमृतत्व भी कहा गया है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—सत्यलोकाख्य जो कार्यब्रह्म है, वह उपासकसे भिन्न और परिच्छिन्न है, अतः गतिपूर्वक प्राप्तिके योग्य वही है। वैसा परब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वह व्यापक है और उपासकसे अभिन्न भी है—ब्रह्मशब्द तो मुख्यार्थक न होनेसे सन्निधि प्रमाणसे सत्यलोकात्मक ब्रह्मका बोध कराता है, क्योंकि परब्रह्मसे सत्यलोक अत्यन्त समीपवर्ती है' उस लोकमें रहनेवालोंका अवश्यम्भावी तत्त्वज्ञान है, अतः मोक्ष जरूर होगा। इससे स्मृति भी कहती है—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

पदच्छेद—कार्यम्, बादरिः, अस्य, गत्युपपत्तेः ।

पदार्थोक्ति—कार्यम्—कार्यमेव ब्रह्म ['स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यत्र गन्तव्यतयोक्तम्, न परं निर्गुणं ब्रह्म, कस्माद्धेतोः ?] अस्य—परिच्छिन्नस्य कार्यब्रह्मणः गत्युपपत्तेः—गन्तव्यत्वोपपत्तेः [नहि व्यापकस्य गत्यादिक्रियाशून्यस्य गत्यादिकं भवितुमर्हति, अतो नोक्तश्रुत्या परब्रह्मणो गन्तव्यतयोक्तिरपि तु कार्यब्रह्मण एवेति भावः]।

भाषार्थ—'स एनान् ब्रह्म गमयति' इस श्रुतिमें गन्तव्यरूपसे कार्यब्रह्म ही लिया गया है, व्यापक निर्गुण ब्रह्म नहीं लिया गया है, क्योंकि गति आदिकी उपपत्ति परिच्छिन्न कार्यब्रह्ममें ही हो सकती है। सर्वविधिक्रियासे शून्य व्यापक परब्रह्ममें गति आदिकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए उक्त श्रुतिमें कार्यब्रह्मकी ही विवक्षा है।

भाष्य

'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित् परमेवाऽविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति। कुतः

भाष्यका अनुवाद

'स एनान् ब्रह्म गमयति' (वह अमानव पुरुष उपासकोंको सत्यलोकस्थ ब्रह्मके पास पहुँचाता है) यहांपर सन्देह होता है कि क्या कार्यब्रह्म अर्थात् अपरब्रह्मके प्रति ले जाता है अथवा अविकृत, मुख्य परब्रह्मके प्रति ले जाता है ? किससे संशय होता है ? इससे कि ब्रह्मशब्दका प्रयोग है,

---

रत्नप्रभा

एवं मार्गं निरूप्य गन्तव्यं चिन्तयति—कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेरिति। परब्रह्म गन्तव्यमिति पूर्वपक्षे मार्गस्य मुक्त्यर्थता, कार्यं ब्रह्मेति सिद्धान्ते भोगा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार मार्गका निरूपण करके गन्तव्य—प्राप्य स्थानका विचार करते हैं—"कार्यं बादरि." इत्यादिसे। परब्रह्म गन्तव्य है, इस पूर्वपक्षमें मार्ग मुक्त्यर्थक है और कार्यब्रह्म

(महाप्रलय होनेपर हिरण्यगर्भके अन्तमें अर्थात् समष्टिलिङ्गशरीरका अवसान होनेपर ब्रह्मलोकनिवासी शुद्धबुद्धिवाले सभी मुच्यमान ब्रह्मके साथ लीन होते हैं) इससे अमृतत्वशब्द क्रममुक्तिके अभिप्रायसे उदित है, इसलिए उत्तर मार्गसे प्राप्य कार्यब्रह्म ही है, यह भाव है।

भाष्य

संशयः ? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मै-नान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः ? अस्य गत्युपपत्तेः । अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते, प्रदेशवत्त्वात् , न तु परस्मिन् ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते, सर्वगतत्वात् प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तॄणाम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

और गतिकी श्रुति है। ऐसा संशय होनेपर उनको अमानव पुरुष कार्य अर्थात् अपर सगुण ब्रह्ममें ही ले जाता है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं। किससे ? इससे कि इसकी गतिकी—गन्तव्यत्वकी उपपत्ति है, क्योंकि इस कार्यब्रह्मका गन्तव्यत्व—प्राप्तव्यत्व उपपन्न होता है, प्रदेश होनेसे। परन्तु परब्रह्ममें गन्तृत्व, गन्तव्यत्व या गतिकी कल्पना नहीं हो सकती' क्योंकि वह सर्वगत है और गमन करनेवालोंका प्रत्यक् आत्मा है ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

थेंतेति मत्वा प्रथमं सिद्धान्तमाह—तत्र कार्यमेवेति । सर्वगतस्यापि प्रदेशान्तरविशिष्टत्वेनाऽऽकाशस्य गन्तव्यत्वं दृष्टम् , ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्त्वान्न कथमपि गन्तव्यतेत्यर्थः ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

गन्तव्य है, इस सिद्धान्तमें मार्ग भोगार्थक है, ऐसा विचारकर पहले सिद्धान्त करते हैं—"तत्र कार्यमेव" इत्यादिसे । आकाश सर्वगत है, तो भी अन्य प्रदेशसे विशिष्ट होनेसे, वह गन्तव्य है, ऐसा देखा जाता है। ब्रह्म तो प्रत्यक् होनेसे किसी भी प्रकारसे गन्तव्य नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—विशेषितत्वात् , च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च ['ब्रह्मलोकान् गमयति' इत्यत्र श्रुतौ] विशेषितत्वात्—बहुवचनेन गन्तव्यब्रह्मणो विशेषितत्वात् [न परस्य गन्तव्यतयोक्तिरिति भावः] ।

भाषार्थ—और भी 'ब्रह्मलोकान् गमयति' इस प्रकारकी अन्य श्रुतिमें बहुवचनसे गन्तव्यब्रह्मके ही विशेषित होनेसे परब्रह्म गन्तव्य नहीं है, प्रत्युत कार्यब्रह्म ही गन्तव्य है ।

भाष्य

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति' (बृ० ६ । २ । १५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात् कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते । नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन् ब्रह्मण्यवकल्पते । कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम् । लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी, गौणी त्वन्यत्र—'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' इत्यादिषु । अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन् ब्रह्मणि नाऽऽञ्जसः स्यात् । तस्मात् कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति प्रतिष्ठापितमिति, अत्रोच्यते—

भाष्यका अनुवाद

'ब्रह्मलोकान् गमयति०' ([अमानव पुरुष उनको] उपासकोंको ब्रह्मलोकमें ले जाकर पहुँचाता है, वे उन ब्रह्मलोकोंमें हिरण्यगर्भके प्रकृष्ट संवत्सर तक वास करते हैं) ऐसा अन्य श्रुतिमें विशेषित होनेसे कार्यब्रह्ममें ही गति है, ऐसा समझा जाता है, क्योंकि परब्रह्ममें बहुवचनसे विशेषण उपपन्न नहीं होता है। कार्यब्रह्ममें तो अवस्थाके भेदके उपपन्न होनेसे बहुवचन घट सकता है। लोकश्रुति भी विकारविषय, संनिवेशविशिष्ट भोगभूमिमें घटती है। अन्यत्र 'ब्रह्मैव' (हे सम्राट्, यह ब्रह्म ही लोक है) इत्यादिमें तो गौणी है। अधिकरण और अधिकर्तव्यका निर्देश भी परब्रह्ममें युक्त नहीं है। इसलिए उपासकका नयन परब्रह्मविषयक ही है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

ब्रह्मलोकेष्विति बहुवचनलोकशब्दाधारसप्तमीश्रुतिभिर्गन्तव्यस्य परस्माद् व्यावृत्तत्वाच्च न परं गन्तव्यमित्याह—विशेषितत्वाच्चेति। परब्रह्मणि भोग्यत्वोपचाराद् गौणी लोकश्रुतिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

'ब्रह्मलोकेषु' इसमें बहुवचन, लोकशब्द आधारसप्तमीकी श्रुति होनेसे और गन्तव्यके परसे भिन्न होनेसे परब्रह्म गन्तव्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"विशेषितत्वाच्च" इत्यादिसे। परब्रह्ममें भोग्यत्वका उपचार होनेसे लोकश्रुति गौणी है, ऐसा अर्थ है ॥८॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—सामीप्यात्, तु, तद्व्यपदेशः।

पदार्थोक्ति—सामीप्यात्—कार्यब्रह्मणः कारणब्रह्मसान्निध्यात्, तु—एव, तद्व्यपदेशः—तस्य—कारणे मुख्यस्य ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मणि व्यपदेशः—लक्षणया प्रयोगः।

भाषार्थ—कार्यब्रह्म कारणब्रह्मकी सन्निधिमें है, इसीलिए कारणमें मुख्य ब्रह्मशब्दका कार्यब्रह्ममें लक्षणासे प्रयोग है।

भाष्य

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते। परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धात् क्वचित् कैश्चिद् विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

तुशब्द आशंकाकी निवृत्ति करनेके लिए है। अपरब्रह्मके परब्रह्मके समीपमें होनेसे उसमें भी ब्रह्मशब्दका प्रयोग विरुद्ध नहीं होता, क्योंकि सात्त्विक उपाधिविशिष्ट परब्रह्म ही क्वचित् कितने ही मनोमयत्व आदि विकारधर्मोंसे, उपासनाके लिए उपदिष्ट हुआ अपर ब्रह्म होता है, ऐसी स्थिति है॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

नपुंसकब्रह्मशब्देन कारणवाचिना कार्यं लक्ष्यते, गन्तव्यत्वन्यायोपेतबहुवचनाद्यनेकश्रुत्यनुग्रहाय। न चाऽनावृत्तिलिङ्गात् परस्य गन्तव्यता, क्रममुक्त्या लिङ्गस्याऽन्यथासिद्धेरिति भावः॥ ९ ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कारणवाची नपुंसकलिंग ब्रह्मशब्दसे—गन्तव्यत्व न्यायसे युक्त बहुवचन आदि अनेक श्रुतियोंके अनुग्रहके लिए—कार्यब्रह्म लक्षित होता है। अनावृत्तिरूप लिंगसे भी परब्रह्म गन्तव्य नहीं है, क्योंकि क्रममुक्तिसे लिंग अन्यथा सिद्ध है, ऐसा भाव है॥ ९ ॥ १० ॥

भाष्य

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते । नहि परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यतां संभावयन्ति । दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम्—'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति (छा० ८ । ६ । ६) (क० ६ । १६,) इति चेत् । अत्र ब्रूमः—

भाष्यका अनुवाद

परन्तु उपासकको कार्यब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर अनावृत्तिकी श्रुति नहीं घटती है, क्योंकि परब्रह्मसे अन्यत्र कहीं भी नित्यता नहीं हो सकती । और श्रुति देवयानमार्गसे प्रस्थित हुए की अनावृत्ति दिखलाती है—'एतेन प्रतिपद्यमानाः' (इस देवपथसे—अर्चिरादि नेतृसे उपलक्षित मार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेवाले इस मानव आवर्तमें—जिसमें जन्ममरण घटीयन्त्रके समान पुनः पुनः हुआ करता है, उस संसारमें वापिस नहीं आते), उनका यहां पुनः आगमन नहीं होता—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (वह मस्तकसे निकली हुई उस नाडी द्वारा ऊर्ध्व जाकर अमृतभाव पाता है) ऐसी श्रुति है, ऐसा यदि कहो, तो इसपर कहते हैं—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

पदच्छेद—कार्यात्यये, तदध्यक्षेण, सह, अतः, परम्, अभिधानात् ।

पदार्थोक्ति—कार्यात्यये—कार्यस्य कार्यब्रह्मलोकस्य अत्यये—नाशे सति तदध्यक्षेण—तल्लोकस्वामिना हिरण्यगर्भेण सह, अतः—कार्याद्ब्रह्मणः, परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति—कुतः ? अभिधानात्—'उत्पन्नात्मसक्षात्कारा विद्वांसः' इत्यनावृत्तिश्रुत्यभिधानात् ।

भावार्थ—कार्यब्रह्मके लोकका विनाश होनेपर उस लोकके अध्यक्ष हिरण्यगर्भके साथ कार्यब्रह्मसे परब्रह्मको प्राप्त करता है, क्योंकि 'उत्पन्न०' (जिनको आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न है ऐसे विद्वान्) अनावृत्तिश्रुतिमें इस प्रकारका अभिधान है ।

भाष्य

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्त-

भाष्यका अनुवाद

कार्यब्रह्मलोकका प्रलय प्राप्त होने पर उसमें ही जिनको सम्यग् दर्शन

भाष्य

दध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परं पदं प्रतिपद्यन्ते इति । इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । नह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

उत्पन्न हुआ है ऐसे जीव उसके अध्यक्ष कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भके साथ इससे पर—परिशुद्ध विष्णुका परम पद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार क्रममुक्तिका, अनावृत्ति आदि श्रुतिमें अभिधान होनेसे, स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि परब्रह्मकी साक्षात् ही गतिपूर्वक प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा हमने उपपत्तिसे दिखलाया है ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

पदच्छेद—स्मृतेः, च,

पदार्थोक्ति—च—अपि च, स्मृतेः—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति स्मृतेः कार्यब्रह्मलोकं प्राप्ताः क्रमेण मुक्तिं प्राप्नुवन्ति इत्यवगन्तव्यम् ।

भाषार्थ—*'ब्रह्मणा सह' इत्यादि स्मृतिसे भी ज्ञात होता है कि कार्य*-ब्रह्मलोकमें प्राप्त जीव क्रममुक्तिको प्राप्त करते हैं।

भाष्य

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम् ॥' इति ।

भाष्यका अनुवाद

स्मृति भी इस अर्थमें अपनी सम्मति देती है—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' (महाप्रलय प्राप्त होनेपर परका—हिरण्यगर्भका अन्त होनेपर, वे सब शुद्ध-

रत्नप्रभा

प्रतिसञ्चरः—महाप्रलयः, तस्मिन् प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भस्य अन्ते समष्टि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रतिसंचर अर्थात् महाप्रलय। उसकी प्राप्ति होनेपर, पर—हिरण्यगर्भका अन्त-

भाष्य

तस्मात् कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४ । ३ । ७) इत्यादिनेति, स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

भाष्यका अनुवाद

शुद्धिवाले ब्रह्मके साथ पर स्थानमें प्रवेश करते हैं) । इसलिए कार्यब्रह्ममें गतिकी श्रुति है, ऐसा सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

परन्तु किस पूर्वपक्षकी शंका करके 'कार्यं बादरिः' इत्यादिसे इस सिद्धान्तका प्रतिष्ठापन किया गया है । उसे अब सूत्रोंसे ही दिखलाते हैं—

रत्नप्रभा

लिङ्गशरीररूपविकारावसाने ब्रह्मलोकनिवासिनः कृतात्मानः—शुद्धधियः—तत्रोत्पन्न-सम्यग्धियः सर्वे ब्रह्मणा मुच्यमानेन सह परं पदं प्रविशन्तीति योजना ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थात् समष्टिलिंगशरीररूप विकारका अन्त होनेपर, ब्रह्मलोकमें निवास करनेवाले शुद्ध-बुद्धि जन उनमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेसे सब मुक्त होते हुए ब्रह्मके साथ परमपदमें प्रवेश करते हैं ॥ ११ ॥

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—परम्, जैमिनिः, मुख्यत्वात् ।

पदार्थोक्ति—जैमिनिः—जैमिनिराचार्यः परम्—परमेव ब्रह्म गन्तव्यतया [आह, कुतः ?] मुख्यत्वात्—तत्रैव परब्रह्मणि ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वात् ।

भाषार्थ—जैमिनि आचार्य मानते हैं कि परब्रह्म ही गन्तव्यरूपसे है न कि कार्यब्रह्म, क्योंकि ब्रह्मशब्दकी मुख्य वृत्ति व्यापक परब्रह्ममें है ।

भाष्य

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० । १५ । ६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । कुतः ? मुख्यत्वात् । परं हि ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

जैमिनि आचार्य तो 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्ममें ले जाता है) इसमें परब्रह्ममें ही ले जाता है, ऐसा मानते हैं ।

भाष्य

ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरम्, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

किससे? मुख्य होनेसे, क्योंकि परब्रह्म ही ब्रह्मशब्दका मुख्य आलम्बन है, अपर ब्रह्म गौण है और मुख्य और गौणमें मुख्यमें सम्प्रत्यय होता है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

एवं सिद्धान्तमुक्त्वा तेन निरस्तं पूर्वपक्षमाह—कं पुनरित्यादिना ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार सिद्धान्त कहकर सिद्धान्तसे खण्डित पूर्वपक्ष कहते हैं—"कं पुनः" इत्यादिसे ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, दर्शनात्—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इत्यादिश्रुत्या [मुक्तेर्गतिपूर्वकत्वश्रवणादपि परमेव ब्रह्म गमयति इति निश्चितं भवति ।

भाषार्थ—और 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इत्यादिश्रुतिसे गतिपूर्वक मुक्ति सुनी गई है, इससे भी परब्रह्म ही गन्तव्यरूपसे जानना चाहिए ।

भाष्य

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८ । ६ । ६, क० ६ । १६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति । अमृतत्वं च परस्मिन् ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात् कार्यस्य 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७ । २४ । १) इति प्रवचनात् परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते,

भाष्यका अनुवाद

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (उस नाडी द्वारा आक्रमण करके अमृतभाव पाता है) ऐसा गतिपूर्वक अमृतत्व दिखलाती है। और अमृतत्व परब्रह्ममे उपपन्न होता है, कार्यब्रह्ममें नहीं, क्योंकि कार्यब्रह्म विनाशी है। 'अथ यत्रान्यत्०' (अब जिस अविद्या अवस्थामे अन्यसे अन्य को देखता है वह अल्प

भाष्य

नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २ । १४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥ १३ ॥

भाष्यका अनुवाद

है, अविद्याकालमें हुआ होनेसे, वह विनाशी है) ऐसा प्रवचन होनेसे परमें ही यह गति कठवल्लीमें पढ़ी गई है, क्योंकि उसमें अन्य विद्याका प्रक्रम नहीं है, कारण कि 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्०' (धर्मसे—शास्त्रीय धर्मानुष्ठान और उसके फलसे पृथग्भूत और अधर्मसे पृथग्भूत) इस प्रकार पर ब्रह्म ही प्रकान्त है ॥ १३ ॥

रत्नप्रभा

दहरविद्यायां कठवल्लीषु परब्रह्मप्रकरणे च 'तयोर्ध्वमायन्' इति गतिर्दर्शिता ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

दहरविद्यामें और कठवल्लीमें परब्रह्म प्रकरणमें 'तयोर्ध्वमायन्' इससे गति दिखलाई गई है ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

पदच्छेद—न, च, कार्ये, प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, - प्रतिपत्त्यभिसन्धिः—'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' इत्ययं वेश्मप्राप्तिसङ्कल्पः, न कार्ये—कार्यब्रह्मविषयको न भवति अपि तु परब्रह्मविषयकः एव, 'ते यदमन्तरा' इत्यादिना परस्यैव प्रकृतत्वात् इति चेन्न, 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' इति वाक्यश्रुतिभ्यां दुर्बलप्रकरण विच्छेदेन वेश्मप्राप्तिसङ्कल्पस्य कार्यब्रह्मविषयकत्वावगमात्, अतः कार्यब्रह्मैव गन्तव्यम् ।

भाषार्थ—'प्रजातेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (प्रजापतिकी सभामें और मकानमें प्राप्त हुआ) यह जो वेश्म-गृह प्राप्तिरूप सङ्कल्प है, वह कार्यब्रह्मपरक नहीं हो सकता है क्योंकि 'ते यदन्तरा' इस वाक्यसे वह प्रकृत है, इस प्रकारकी जैमिनिकी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि वाक्य और श्रुतिप्रमाणसे दुर्बल प्रकरणका बाध होनेसे वेश्मप्राप्तिरूप सङ्कल्प कार्यब्रह्मविषयक है, इससे कार्य ब्रह्मही गन्तव्य है, परब्रह्म गन्तव्य नहीं है ।

भाष्य

अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८ । १४ । १) इति, नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः, 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८ । ११) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्, 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८ । १४ । १) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमणात्। 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति, यस्य नाम महद्यशः' (श्वे० ४ । १९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा

भाष्यका अनुवाद

'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (मैं प्रजापतिके सभाघरमें जाता हूं) इस प्राप्तिकी अभिसंधि कार्यब्रह्म विषयक है, क्योंकि 'नामरूपयोर्निर्वहिता' वह आकाश अपनेमें स्थित जगद्बीजभूत नाम और रूपका निर्माणकर्ता है, वे नाम और रूप जिस ब्रह्मके भीतर हैं अथवा उन नाम और रूपके मध्यमें स्थित भी जो नाम और रूपसे अस्पृष्ट है, वह, नाम और रूपसे विलक्षण ब्रह्म है) ऐसे कार्यब्रह्मसे विलक्षण परब्रह्म भी प्रकृत है। 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (मैं ब्राह्मणोंका यश—आत्मा होता हूं) इस प्रकार सबके आत्मरूपसे उपक्रमण है, क्योंकि 'न तस्य प्रतिमा' (उसकी—ईश्वरकी प्रतिमा नहीं है, जिसका—जिस ईश्वरका नाम महद्—दिशा आदिसे अनवच्छिन्न, सर्वत्र परिपूर्ण—यश है) ऐसे परब्रह्मका ही 'यश' नाम प्रसिद्ध

रत्नप्रभा

एवं ब्रह्मश्रुत्यमृतत्वलिङ्गाभ्यां प्रकरणाच्च परविषया गतिरित्युक्तम्। सम्प्रति प्रजापतेः सभां वेश्म च प्राप्नुयामिति उपासकस्य मरणकाले कार्यप्राप्तिसङ्कल्पश्रुतेर्न परं गन्तव्यमिति शङ्कां निरस्यति—न च कार्य इति। परस्य प्रकृतत्वात् यशःपदस्य परमात्मनामत्वप्रसिद्ध्या यशःपदेनाऽऽत्मोक्तिः। यशः आत्मा ब्राह्मणानामहं भवामि, तथा राज्ञो यशो विशां यश इति सार्वात्म्यलिङ्गाच्च परमाप्तिसङ्कल्प

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार ब्रह्मश्रुति, अमृतत्वलिंग और प्रकरणसे परब्रह्ममें गति होती है, ऐसा कहा गया है। अब 'मैं प्रजापतिके सभागृहमें जाता हूँ' ऐसा मरणकालमें उपासकका कार्यब्रह्मप्राप्तिके संकल्पकी श्रुति है, अतः परब्रह्म गन्तव्य नहीं है, इस शंकाका निरसन करते हैं—"न च कार्ये" इत्यादिसे। परब्रह्म प्रकृत है और यश, यह पद परमात्माके नामसे प्रसिद्ध है, क्योंकि 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' इस प्रकार यश पदसे आत्मा कहा गया है। यश अर्थात् आत्मा ब्राह्मणोंका मैं होता हूँ, उसी प्रकार क्षत्रियोंका यश, वैश्योंका यश, इस प्रकार

भाष्य

चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छ० ८ । ५ । ३) इत्यत्र । पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षाऽवसीयते । तस्मात् परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम् । तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः । तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं न तु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातः, द्वितीयस्तु पूर्वपक्षः ।

भाष्यका अनुवाद

है। और यह वेश्मप्राप्ति गतिपूर्वक है, ऐसा हार्दविद्यामें कहा गया है— 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः (वह अपराजित नामकी ब्रह्मपुरी है प्रभुसे विशेषरूपसे निर्मित, सुवर्णमय है) इसमें, पद् धातु भी गत्यर्थक होनेसे, उसको मार्गकी अपेक्षा है, ऐसा निश्चय होता है। इसलिए गतिकी श्रुतियां परब्रह्मविषयक हैं, ऐसा पक्षान्तर है। वे ये दोनों पक्ष आचार्यने सूत्रोंसे दिखलाये हैं, एक गतिकी उपपत्ति आदिसे और दूसरा मुख्यत्व आदिसे। उनमें गतिकी उपपत्ति आदि मुख्यत्व आदिको आभासरूपसे प्रतिपादन करनेमें शक्तिमान् हैं परन्तु मुख्यत्व आदि गतिकी उपपत्ति आदिको आभासरूपसे प्रतिपादन करनेमें शक्तिमान् नहीं है, इसलिये आद्यको ही सिद्धान्त कहा है और दूसरेको पूर्वपक्ष,

रत्नप्रभा

एवायमित्यर्थः । अस्तु वेश्मप्रतिपत्तीच्छा परब्रह्मविषया, तथापि सा कथं गतिपूर्विका स्यादित्यत आह—सा चेति । तत्—तत्र ब्रह्मलोके विद्याविहीनैरपराजिता पूरस्ति ब्रह्मणः हिरण्यगर्भस्य तेनैव प्रभुणा विमितं निर्मितं हिरण्मयं वेश्मास्ति तत् प्रतिपद्यते विद्वानिति दहरविद्यायां गतिपूर्विका वेश्मप्राप्तिरुक्ता । तेन परब्रह्मण्यपि वेश्मप्रतिपत्तिशब्दसामान्याद्गतिपूर्वकत्वं तस्याः सिध्यतीत्यर्थः । किञ्च, 'पद् गतौ'

रत्नप्रभाका अनुवाद

सर्वात्माके लिंगसे परब्रह्मकी प्राप्तिका ही यह संकल्प है, ऐसा अर्थ है। भले ही वेश्मप्राप्तिकी इच्छा परब्रह्मके लिये हो परन्तु वह गतिपूर्वक किस प्रकार होगी, इसपर कहते हैं—"सा च" इत्यादिसे। उस ब्रह्मलोकमें ब्रह्मचर्यादिहीन पुरुषोंसे पराजित न हुई, ऐसी अपराजित नगरी इस हिरण्यगर्भ ब्रह्माकी है, उसी हिरण्यगर्भ प्रभुकी बनाई हुई है, वह हिरण्मयवेश्म है, उसको विद्वान् प्राप्त करता है, इस प्रकार दहरविद्यामें गतिपूर्वक वेश्मप्राप्ति कही गई है, इसलिए परब्रह्ममें भी वेश्मप्रतिपत्तिशब्द समान है, इसलिये उसकी भी प्राप्ति गतिपूर्वक है, यह सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है। उसी प्रकार पद गतौ (पद—जाना) ऐसा धातुपाठ

भाष्य

नह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्व-

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि संभव न होनेपर भी मुख्य अर्थका ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा कोई आज्ञा करनेवाला प्रमाण विद्यमान नहीं है, परविद्याके प्रकरणमें भी अन्य विद्याके आश्रयमें रही हुई गतिका जो कीर्तन है, वह पराविद्याकी स्तुतिके लिए उपपन्न

रत्नप्रभा

इति धातुपाठाद् 'वेश्म प्रपद्ये' इत्यत्र मार्गापेक्षा भातीत्याह—**पदेरपीति**। पूर्वपक्ष-मुपसंहरति—**तस्मादिति**। आद्य एव सिद्धान्तपक्ष इति दृढीकर्तुमुपक्रमते—**ताविति**। ब्रह्मशब्दमुख्यत्वादिहेतूनामाभासत्वं स्फुटयति—**नहीति**। गन्तव्य-त्वस्य 'ब्रह्मलोकेषु' इति बहुवचनादेः सङ्कल्पादेव गन्धादिदिव्यभोगश्रुतेश्च परब्रह्मणि असम्भवात् मुख्यार्थत्याग इत्यर्थः। यद्यपि 'एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिषु प्रयोगसाम्याद् ब्रह्मशब्द उभयत्र रूढतया मुख्य एव, तथाऽपि पूर्णे परस्मिन् *अवयवार्थस्य निरतिशयमहत्त्वस्य लाभात् अपरब्रह्मणि अमुख्य इत्यङ्गीकृत*-मिति मन्तव्यम्। यदुक्तं कठवल्लीषु प्रकरणबलाद् गतिः परविषयेति, तत्राह—**परेति**। यथा विद्यासम्बद्धसुषुम्नास्तुत्यर्थं तदसम्बद्धनाड्यन्तरकीर्तनम्, तथा परविद्यास्तुत्यर्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे 'वेश्म प्रपद्ये' इसमें मार्गकी अपेक्षा प्रतीत होती है, ऐसा कहते हैं—"पदेरपि" इत्यादिसे। पूर्वपक्षका उपसंहार करते हैं—"तस्मात्" इत्यादिसे। आद्य ही सिद्धान्तपक्ष है, ऐसा दृढ करनेके लिए उपक्रम करते हैं—"तौ" इत्यादिसे। ब्रह्मशब्दके मुख्य अर्थ आदि हेतु कहे हैं, वे आभास हैं, ऐसा स्पष्ट करते हैं—"नहि" इत्यादिसे। गन्तव्यत्वका परब्रह्ममें असंभव होनेसे, 'ब्रह्मलोकेषु' *इस बहुवचन आदिका भी परब्रह्ममें संभव न होनेसे संकल्पसे भी गंध आदिके भोगका* प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका परब्रह्ममें असंभव होनेसे मुख्य अर्थका त्याग है। यद्यपि 'एतद्वै सत्यकाम' इत्यादि श्रुतियोंमें पर और अपर दोनों अर्थोंमें समानरूपसे ब्रह्मशब्दका प्रयोग होनेसे और ब्रह्मशब्दके दोनोंमें रूढ होनेसे वह दोनों अर्थोंमें मुख्य ही है, तो भी पूर्ण परब्रह्ममें अवयव्यर्थ जो निरतिशय महत्त्व है, उसका लाभ होनेसे अपर ब्रह्ममें ब्रह्मशब्द अमुख्य है, ऐसा अंगीकार किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। और यह जो कहा है कि कठवल्लीमें प्रकरणके बलसे परमें गति है, उसपर कहते हैं—"परा" इत्यादिसे। जैसे विद्याके साथ संबद्ध सुषुम्नाकी स्तुतिके लिये उसके साथ असंबद्ध अन्य नाडियोंका कीर्तन है, उसी प्रकार पर-विद्याकी स्तुतिके लिये उसके *प्रकरणमें भी अपरविद्याके आश्रयमें स्थित* गतिका कीर्तन युक्त है,

भाष्य

ड्डन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छ० ८ । ६ । ६) इतिवत् । 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छ० ८ । १४ । १) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनम् 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिवदवकल्पते । तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः ।

केचित् पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्रा-

भाष्यका अनुवाद

होता है । 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (भिन्न-भिन्न गतिवाली अन्य नाड़ियां उत्क्रान्तिके लिए हैं) इसके समान । 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (मैं प्रजापतिकी सभामें प्रभुनिर्मित घरमें जाता हूं) इसमें तो पूर्ववाक्यसे विच्छेद करके कार्यब्रह्ममें भी प्राप्तिकी अभिसंधि विरुद्ध नहीं होती । सगुण ब्रह्ममें भी, वह सबका आत्मा है, ऐसा संकीर्तन 'सर्वकर्मा सर्वकामः' (सम्पूर्ण विश्व उस ईश्वरका कर्म है सब विश्व उसका काम है) इत्यादिके समान संगत होता है । इसलिए गतिश्रुतियाँ अपर ब्रह्मको ही विषय करती हैं।

कुछ लोग तो ऐसी व्यवस्था करते हैं कि पूर्व सूत्र पूर्वपक्ष सूत्र हैं और उत्तर सूत्र सिद्धान्त सूत्र हैं, ऐसी व्यवस्थाके भरोसेपर 'गतिकी श्रुतियाँ

रत्नप्रभा

तत्प्रकरणेऽपि अपरविद्याश्रयगतिकीर्तनं युज्यते, गतिं विनाऽपि हि परविद्या निरतिशयफला, तस्यां त्वपरविद्याफलं गतिसाध्यम् अन्तर्भवतीति स्तुतिलाभादित्यर्थः । यदप्युक्तं प्राप्तिसङ्कल्पोऽपि प्रकृतपरविषय इति, तन्नेत्याह—प्रजापतेरिति। प्रजापतिसभावेश्मश्रुतिभिः तत्सङ्घातात्मकवाक्येन च प्रकरणं बाध्यम्, यशोऽहमिति सार्वात्म्यं तु उपासनार्थम् अपरब्रह्मणि उपपद्यते इत्यर्थः। स्वपक्षमुक्त्वा परमतं दूषयति—केचिदित्यादिना। सर्वगतस्य स्वात्मभूतस्यापि ब्रह्मणः संसारदेशात् देशान्तरेण

रत्नप्रभाका अनुवाद

गतिके बिना भी परविद्या तो निरतिशय फलवाली है, उसमें तो अपरविद्याका फल जो गतिसाध्य है, उसका अन्तर्भाव होता है, इसलिये स्तुतिका लाभ है, और यह जो कहा है कि प्राप्तिका संकल्प प्रकृत परब्रह्मपरक है, वह युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"प्रजापते." इत्यादिसे । प्रजापति, सभा और वेश्म, इन तीन शब्दात्मक श्रुतियोंसे और उनके संघातात्मक वाक्यसे प्रकरणका बाध करना चाहिए, और 'यशोऽहम्' इत्यादि जो सर्वात्मता है वह उपासनार्थ अपरब्रह्ममें उपयुक्त होती है, यह भाव है । अपने पक्षको कहकर परमतको दूषित करते हैं—"केचित्" इत्यादिसे । सर्वगत और स्वात्मभूत

भाष्य

णीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति । तदनुपपन्नम्—गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः, यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३ । ४ । १) 'य आत्मा सर्वान्तरः'(बृ० ३ । ४ । १) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७ । २५ । २) 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २ । २ । ११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषम्, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते । नहि गतमेव गम्येत, अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके । ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टस्य दृष्टा,

भाष्यका अनुवाद

परब्रह्मविषयक हैं, ऐसा प्रतिष्ठापन करते हैं, परन्तु यह संगत नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममें प्राप्यत्वकी—गन्तव्यत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। कारण कि 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (आकाशके समान सर्वगत और नित्य आत्मा है), 'यत्साक्षात्०' (जो ब्रह्म अव्यवहित है, वह अपरोक्ष होनेसे गौण नहीं है), 'य आत्मा सर्वान्तरः' (जो आत्मा सबके अभ्यन्तर है), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (आत्मा ही यह सब है) इत्यादि श्रुतियोंसे जिस ब्रह्मका सर्वगतत्वरूपसे, सर्वान्तरत्वरूपसे और सर्वात्मकत्वरूपसे विशेष निर्धारण किया गया हो, उसमें गन्तव्यताकी कभी भी उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जो प्राप्त ही है, वह प्राप्य नहीं कहा जा सकता है। और लोकमें यह प्रसिद्ध है कि अन्य अन्यके प्रति जाता है। परन्तु लोकमें जो प्राप्त है, उसमें भी

रत्नप्रभा

तत्कालात् कालान्तरेण विशिष्टतया गन्तव्यत्वं स्यादिति पृथिवीवयोर्दृष्टान्ताभ्यां शङ्कते—नन्विति । यत्नं विनैव प्राप्तत्वम्—अनन्यत्वम् । अवस्थातद्वतोरभेदात् स्वात्मभूतत्वम् । ननु युक्तं भूवयसोः प्राप्तयोरपि देशान्तरकालान्तरविशिष्टत्वेन गन्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्ममें भी संसारदेशसे देशान्तर विशिष्ट होकर और संसारकालसे अन्यकालविशिष्ट होकर गन्तव्यता हो सकती है, इस प्रकार पृथ्वी और अवस्थाके दृष्टान्तसे शङ्का करते हैं—"ननु" इत्यादिसे। यत्नके बिना ही जो प्राप्त है, वह अनन्य है। अवस्था और अवस्थावान्‌के अभेदसे स्वात्मभूतता है। परन्तु यह हो सकता है कि पृथ्वी और अवस्था यद्यपि प्राप्त हैं, तो भी अन्य देश और अन्य कालसे विशिष्ट होकर वे गन्तव्य हो सकती हैं, क्योंकि वे गमनकर्तासे

भाष्य

यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति, तथाऽनन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टम्, तद्वद् ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात् कथंचिद्गन्तव्यता स्यादिति। न, प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद् ब्रह्मणः। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८), 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभ-

भाष्यका अनुवाद

अन्य देशके योगसे गन्तव्यता देखी जाती है, जैसे पृथ्वीमें रहा हुआ ही अन्यदेश द्वारा पृथिवीके प्रति जाता है, उसी प्रकार बालकके अनन्य होनेपर भी अन्यकालसे विशिष्ट स्वात्मभूत ही वार्धक्यके प्रति वह जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्म भी किसी प्रकार गन्तव्य हो सकता है ? नहीं, नहीं हो सकता है, क्योंकि सब विशेषोंका ब्रह्ममें प्रतिषेध है— 'निष्कलं निष्क्रियम्०' (ब्रह्म अवयवरहित है, क्रियारहित है, शान्त है, अनिंद्य है और निर्लेप है), 'अस्थूलम०' (ब्रह्म स्थूल, अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है) 'स बाह्य०' (वह ब्रह्म बाह्य और अभ्यन्तर है) 'स वा एष०' (प्रसिद्ध यह आत्मा महान् और नित्य है, [इसी प्रकार] जरा—बुढ़ौतीसे,

रत्नप्रभा

व्यत्वम्, तयोर्गन्तृभिन्नत्वात्, ब्रह्मणस्तु गन्त्रभिन्नस्य कथं गन्तव्यत्वम्? तत्राह—सर्वशक्त्युपेतेति। या प्राप्ता भूः सा न गन्तव्या, यच्च गन्तव्यं देशान्तरं तत्तु अप्राप्तमिति कुतः प्राप्तस्य गन्तव्यता, वयसोऽपि कालान्तरेऽभिव्यक्तिमात्रम्, न गन्तव्यत्वमिति वस्तुगतिः। अङ्गीकृत्य विशिष्टभूवयसोर्गन्तव्यताम्, परब्रह्मणो देशकालवैशिष्ट्याभावात् न कथञ्चिद् अपि गन्तव्यता इत्याह—नेत्यादिना। 'अनादिमत् परं ब्रह्म' इत्याद्या स्मृतिः। दृश्यविशेषस्य दृशि कल्पितत्वाद् दृगात्मनो निर्विशेषतेति न्यायः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भिन्न हैं, परन्तु ब्रह्म तो गन्तासे भिन्न नहीं है, अतः गन्तव्य कैसे ? उसपर कहते हैं— "सर्वशक्त्युपेत" इत्यादिसे। जो पृथ्वी प्राप्त है वह गन्तव्य नहीं है, और जो अन्य देश गन्तव्य है, वह अप्राप्त है, अतः प्राप्तकी गन्तव्यता किस प्रकार है ? और अवस्थाकी भी अन्य कालमें अभिव्यक्तिमात्र है न कि उसमें गन्तव्यत्व है, इस प्रकार वस्तु-स्थिति है। विशिष्ट भूमिकी और विशिष्ट अवस्थाकी गन्तव्यताका स्वीकार करके परब्रह्ममें किसी प्रकारसे प्राप्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि परब्रह्ममें देश और कालका वैशिष्ट्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। 'अनादिमत् परं ब्रह्म' इत्यादि स्मृति है। दृश्य विशेषकी द्रष्टामें कल्पना होनेसे

भाष्य

यो ब्रह्म' (बृ० १।४।२५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० २।९।२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते। येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनाऽस्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत्, न; विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्, न; तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि

भाष्यका अनुवाद

और मरण-विनाशसे रहित है अतः अमृत है इसीसे भयरहित है) 'स एष०' (नहीं, नहीं, इत्यादिसे मधुकाण्डमें जो निर्दिष्ट है, वही यह आत्मा है) इत्यादि श्रुति, स्मृति और अनुकूल तर्कोंसे परमात्मामें देशकाल आदिके विशेषयोगकी कल्पना नहीं कर सकते हैं, जिससे कि भू—प्रदेश और वयः—अवस्थाके दृष्टान्तसे इसमें गन्तव्यताकी उपपत्ति की जाय। भू—पृथ्वी और वयः—अवस्थामें तो प्रदेश, अवस्था आदिके विशेषयोगसे देशकालसे विशिष्ट गन्तव्यताकी उपपत्ति हो सकती है। परन्तु जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और विध्वंसके बोधक श्रुतिसे ब्रह्ममें अनेकशक्तिमत्त्वका प्रतिपादन किया गया है [इसलिए उक्त व्यवस्था हो सकती है, यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो वह युक्त नहीं है] क्योंकि विशेषताकी निवारिका श्रुतियाँ अनन्यार्थक हैं अर्थात् स्वार्थके प्रतिपादनमें मुख्य हैं। यदि शङ्का हो कि उत्पत्ति आदिके बोधक श्रुतिवाक्योंकी भी अनन्यार्थकता समान है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे श्रुतियाँ एकत्वका ही

रत्नप्रभा

सगुणमेव ब्रह्म सूत्रात्मापेक्षया परं गन्तव्यम्, निर्विशेषं तु नास्त्येवेति शङ्कते—जगदुत्पत्तीति। किं निर्विशेषस्य असत्त्वम्, मानाभावात्; सविशेषश्रुतिविरोधाद्वा ? नाऽऽद्यः, इत्याह—नेति। द्वितीयं शङ्कते—उत्पत्त्यादीति। सविशेषश्रुतीनां निर्विशेषश्रुतिशेषत्वात्, न विरोध इत्याह—नेति। निर्विशेषश्रुतीनामेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

इगात्माकी निर्विशेषता है, ऐसा न्याय है। सगुण ब्रह्म ही सूत्रात्माकी अपेक्षासे पर गन्तव्य है, निर्विशेष तो है ही नहीं, इस प्रकार शंका करते हैं—"जगदुत्पत्ति" इत्यादिसे। क्या निर्विशेषत्वका अभाव प्रमाणाभावसे कहते हो अथवा सविशेष श्रुतिके साथ विरोध होनेसे, [इस प्रकार विकल्प करके] आद्य पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। द्वितीयकी शङ्का करते हैं—"उत्पत्त्यादि" इत्यादिसे। सविशेष श्रुतियाँ निर्विशेष श्रुतियोंकी अङ्ग हैं, अतः

भाष्य

सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चाऽनृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति।

कस्मात् पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति। उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात्। नह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते, पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) 'विद्वान्न बिभेति

भाष्यका अनुवाद

प्रतिपादन करती हैं। मृत्तिका आदिके दृष्टान्तोंसे सत्स्वरूप अद्वितीय ब्रह्मके सत्यत्वका और विकारके अनृतत्वका—असत्यत्वका प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्ति आदिका बोधक कदापि नहीं हो सकता है।

परन्तु यह किस प्रकार समझा जाता है कि उत्पत्ति आदिकी प्रतिपादिका श्रुतियाँ विशेष निराकरण श्रुतियों की अङ्ग हैं और विशेष-निराकरण श्रुतियाँ उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुतियोंकी अङ्ग नहीं हैं। कहते हैं—विशेषके निराकरणके लिए जो श्रुतियाँ प्रवृत्त हैं, वे निराकांक्षार्थक हैं, क्योंकि आत्मामें एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व आदि धर्मोंकी अवगति होनेपर फिर कोई आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती है, कारण कि 'तत्र को मोहः०' (एकत्व देखनेवालेको उस कालमें किस बातका मोह और किस बातका शोक ? अर्थात् शोक और मोह एकत्वदर्शीको नहीं होते हैं) 'अभयं वै०' (हे जनक, तुम अभयको प्राप्त हुए हो) 'विद्वान्न०' (विद्वान् किसीसे

रत्नप्रभा

सविशेषश्रुतिशेषत्वं किं न स्यात् ? इत्याह—कस्मादिति। तासां स्वार्थे फलवत्त्वेन निराकाङ्क्षत्वात् शेषिता, विशेषश्रुतीनां तु अफलत्वात् निषेध्यविशेषसमर्पणादिद्वारेण शेषत्वम्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात् इत्याह—उच्यते

रत्नप्रभाका अनुवाद

विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न" इत्यादिसे। निर्विशेष श्रुतियां ही सविशेष श्रुतियोंकी अङ्ग क्यों न हों ? ऐसा कहते हैं—"कस्मात्" इत्यादिसे। निर्विशेष श्रुतियाँ स्वार्थमें फलवती होनेसे शेषी हैं और सविशेष श्रुतियाँ तो निष्फल होनेसे निषेध्यविशेषके समर्पण द्वारा शेष हैं, क्योंकि फलवान्‌की सन्निधिमें अफल उसका अङ्ग होता है, ऐसा न्याय है, ऐसा कहते हैं—"उच्यते" इत्यादिसे। केवल न्यायसे अङ्गत्व नहीं है प्रत्युत

भाष्य

कुतश्चन । एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तै० २ । ९ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात् । विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति । अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यम् । नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति । प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते । तथा हि 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं

भाष्यका अनुवाद

भय प्राप्त नहीं करता है, मैंने साधु कर्म नहीं किये, असाधु—पाप कर्म मैंने क्यों किये, इस प्रकार उस विद्वान्‌को संताप नहीं होता है), इत्यादि श्रुतियोंसे पुरुषार्थ—पुरुषकी अभीष्ट वस्तुकी—समाप्तिविषयक बुद्धि उत्पन्न होती है। उसी प्रकार विज्ञानीको संतोषका अनुभव देखा जाता है। और विकार एवं अनृतके अभि सन्धानका अपवाद भी किया गया है, क्योंकि 'मृत्योः स०' (जो यहाँ मैं भिन्न हूँ और मुझसे यह अन्य है, इस प्रकार भिन्न-सा देखता है वह जन्ममरणपरम्पराको प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति है। इसलिए विशेष निराकरणार्थक जो श्रुतियाँ हैं, उनका अन्यशेषत्व कल्पित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उत्पत्त्यादि श्रुतियाँ निराकांक्ष अर्थका प्रतिपादन नहीं करती हैं, क्योंकि उनका अन्यार्थत्व प्रत्यक्ष ही है। जैसे कि 'तत्रैतच्छुङ्ग०' (जलके अशितके—भक्षितके प्रति नेता होनेपर यह शरीररूपी शुङ्ग-कार्य वट

रत्नप्रभा

इत्यादिना । न केवलं न्यायात् शेषता, किन्तु श्रुत्याऽपीत्याह—प्रत्यक्षं त्विति । तत्र मूलकारणे ब्रह्मणि एतच्छुङ्गम्—जगदात्मकं कार्यम् उत्पन्नमित्युपक्रम्य तेन 'शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६।८।६) इत्युपसंहारे सत एव ज्ञेयत्वमुक्तं छान्दोग्ये, तथा तैत्तिरीयकेऽपि जगज्जन्माद्यनुवादेन ब्रह्मण एव ज्ञेयत्वं दर्शितम्, अतः सृष्टिश्रुतीनां श्रुत्यैव निर्विशेषधीशेषता भातीत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतिसे भी है, ऐसा कहते हैं—"प्रत्यक्षं तु" इत्यादिसे। उसमें—मूलकारण ब्रह्ममें यह शुङ्ग अर्थात् जगद्रूप कार्य उत्पन्न हुआ, इस प्रकार उपक्रम करके उस मूलसे सन्मूलकी अन्वेषणा कर, इस प्रकारके उपसंहारमें सत् ही छान्दोग्यमें ज्ञेयरूपसे कहा गया है। वैसे तैत्तिरीयकमें भी जगज्जन्मादिके अनुवादसे ब्रह्म ही ज्ञेयरूपसे बतलाया गया है, इसलिए सृष्टि प्रतिपादक

भाष्य

भविष्यति' (छा० ६।८।३) इत्युपन्यस्योदर्के सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै० ३।१।१) इति च। एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः। अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति च परस्मिन् ब्रह्मणि गतिं निवारयति। तद्व्याख्यातम् 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४ । २ । १३) इत्यत्र।

भाष्यका अनुवाद

आदि अङ्कुरके समान उत्पन्न हुआ, हे सोम्य ! ऐसा तुम जानो, इसलिए यह शरीररूप शुङ्ग मूल—कारण रहित नहीं होगा) इस प्रकार उपक्रम करके अन्तमें सद्रूप एक ही जगत्का मूल विज्ञेयरूपसे कहा गया है। और 'यतो वा इमानि०' (जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिसकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुए ये भूत जीते हैं, [प्रलयकालमें] जिसमें प्रयाण करते हैं, उसको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करो, क्योंकि वही ब्रह्म है) इत्यादि भी है। इस प्रणालीसे उत्पत्ति-बोधक श्रुतियोंका एकात्मता-अवगम ही प्रयोजन होनेसे ब्रह्ममें अनेक शक्तिका योग नहीं हो सकता है। इसलिए परब्रह्ममें गन्तव्यकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति०' (उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, ब्रह्म ही होकर ब्रह्ममें लीन होता है) इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्ममें गतिका निवारण करती हैं, उसका 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इस सूत्रमें व्याख्यान किया जा चुका है।

रत्नप्रभा

एवं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वात् न गन्तव्यत्वम्, इति फलितमाह—एवमिति। स्पष्टनिषेधात् च परस्य न गन्तव्यता इत्याह—न तस्येति। एवं गन्तव्यालोचनया गतिं

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रुतियोंकी श्रुतियोंसे ही निर्विशेषज्ञानाङ्गता प्रतीत होती है, ऐसा अर्थ है। इस प्रकार ब्रह्म निर्विशेष है, अतः उसमें गन्तव्यता नहीं है, यह फलित कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। और स्पष्ट निषेध होनेसे भी पर गन्तव्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—"न तस्य" इत्यादिसे। इस प्रकार गन्तव्यकी आलोचनासे गतिका निरास करके गन्ताकी आलोचनासे भी उसका

भाष्य

गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वान्यो वा ततः स्यात्। अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः। यद्येवं ततः किं स्यात्? उच्यते—यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वान्न पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते। एकदेशैकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना, निरवयवत्वप्रसिद्धेः। विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यम्, विकारेणाऽपि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात्। नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्याऽवतिष्ठते, परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः। विकारावयवपक्षयोश्च

भाष्यका अनुवाद

गतिकी यदि कल्पना की जाय, तो गमन करनेवाला जीव गन्तव्य ब्रह्मका अवयव होगा, या विकार होगा अथवा उससे अन्य होगा, क्योंकि अत्यन्त तादात्म्य यदि मानोगे, तो गमनकी उपपत्ति नहीं होगी, यदि ऐसा हो, तो क्या होगा ? कहते हैं—यदि जीव ब्रह्मका एकदेश हो, तो उससे एकदेशीके नित्य प्राप्त होनेसे पुनः ब्रह्मगमन उपपन्न नहीं होगा, और एकदेशत्व और एकदेशित्वकी कल्पना ब्रह्ममें विरुद्ध है, क्योंकि ब्रह्मका निरवयवत्व प्रसिद्ध है, विकारपक्षमें भी यह अनुपपत्ति समान है, कारण कि विकारसे विकारी नित्य प्राप्त है। घट मृदात्मताको छोड़कर नहीं ठहर सकता है, यदि मृदात्मताका परित्याग करेगा, तो अभावकी प्रसक्ति होगी। विकारपक्षमें और अवयवपक्षमें विकारी और

रत्नप्रभा

निरस्य, गन्त्रालोचनयाऽपि निरस्यति—गतिकल्पनायां चेत्यादिना। भेदाभेदेन द्वौ कल्पौ, अत्यन्तभेदः तृतीयः कल्पः। ननु अत्यन्ताभेदकल्पः किमिति नोक्तः? तत्राह—अत्यन्तेति। कल्पत्रये किं दूषणम्? इति पृच्छति—यद्येवमिति। कल्पद्वयेऽपि दोषान्तरमाह—विकारावयवपक्षयोश्चेति। विकारावयवरूपजीवविशिष्टस्य ब्रह्मणः स्थिरत्वाद् जीवानां गत्यागती न स्याताम्। न ह्यचलातिस्थूलपाषाणस्थयोर्मण्डूकपाषाणावयवयोश्चलनमस्तीत्यर्थः। अस्माकं तु अज्ञानात् कल्पि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

निराकरण करते हैं—"गतिकल्पनायाञ्च" इत्यादिसे। भेद और अभेदसे दो कल्प हैं, और अत्यन्त भेद तृतीय कल्प है। परन्तु अत्यन्त अभेद कल्प क्यों नहीं कहा? इसपर कहते हैं—"अत्यन्त" इत्यादिसे। तीनों कल्पोंमें क्या दूषण है, यह पूछते हैं—"यद्येवम्" इत्यादिसे। दोनों कल्पोंमें अन्य दोष कहते हैं—"विकारावयवपक्षयोश्च" इत्यादिसे। विकारावयवरूपजीवविशिष्ट ब्रह्मके स्थिर होनेसे जीवोंकी गति और आगति नहीं होंगी, क्योंकि अचल और अतिस्थूल पाषाणमें रहनेवाले मण्डूक और पाषाणके अवयवका चलन नहीं होता है, यह अर्थ है। और हमारे मतमें, तो अज्ञानसे कल्पित उपाधियोंसे

भाष्य

तद्वतः स्थिरत्वाद् ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवक्लृप्तम् । अथाऽन्य एव जीवो ब्रह्मणः, सोऽणुर्व्यापी मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति । व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः । मध्यमपरिमाणत्वे चाऽनित्यत्वप्रसङ्गः । अणुत्वे कृत्स्न-शरीरवेदनानुपपत्तिः । प्रतिषिद्धे चाऽणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात् । परस्माच्चाऽन्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः । विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः । विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्, न; मुख्यैकत्वानुपपत्तेः । सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः, संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः । निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः, ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमाच्च ।

भाष्यका अनुवाद

अवयवी ब्रह्मके स्थिर होनेसे संसारके गमनका भी असम्भव है। अब यदि जीवको ब्रह्मसे अन्य मानते हैं, तो वह अणु, व्यापी अथवा मध्यमपरिमाणवाला हो सकता है। व्यापी होनेपर गमन अनुपपन्न है, मध्यम परिमाणवाला माना जाय, तो अनित्यत्वका प्रसङ्ग होगा। अणु माननेपर सम्पूर्ण शरीरवृत्ति वेदनाकी उपपत्ति नहीं होगी, अणुत्व और मध्यमपरिमाणत्वका पूर्वमें सविस्तर निराकरण किया गया है। यदि ईश्वरसे जीव अन्य माना जाय, तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्रके बाधका प्रसङ्ग होगा। और यह दोष तो विकार और अवयवपक्षमें भी समान है। परन्तु विकार और अवयव विकारी और अवयवीसे अनन्य हैं, अतः उक्त दोष नहीं है, नहीं, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि मुख्य एकत्वकी अनुपपत्ति होती है। और इन सभी पक्षोंमें अनिर्मोक्षप्रसक्ति तो है ही, क्योंकि संसारी आत्माकी निवृत्ति नहीं होगी अथवा निवृत्ति होनेपर स्वरूपनाश प्राप्त होगा, क्योंकि ब्रह्मात्मताका स्वीकार नहीं है।

रत्नप्रभा

तोपाधिभिः गत्यागतिविभ्रम इति भावः । तृतीयकल्पम् अनूद्य विकल्प्य दूषयति— अथेत्यादिना । अभेदश्रुतिविरोधरूपो दोषो मम नास्तीति भेदाभेदवाद्याह— विकारावयवयोरिति । भिन्नयोः अभेदो मुख्यो न युक्तः, विरोधात्, इति परिहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

गति और आगतिका विभ्रम हो सकता है, यह तात्पर्य है। तृतीय कल्पका अनुवाद करके विकल्प द्वारा परिहार करते हैं—"अथ" इत्यादिसे। अभेदश्रुतिके साथ विरोधरूप दोष मेरे मतमें नहीं है, इस प्रकार भेदाभेदवादी कहते हैं—"विकारावयवयोः" इत्यादिसे। जो भिन्न पदार्थ हैं, उनका अभेद मुख्य नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोध है, इस प्रकार

भाष्य

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते—नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, सांप्रतदेहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसंधानकारणाभावात् स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनाऽपि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यति—इति। तदसत्, प्रमाणाभावात्। नह्येतच्छास्त्रेण केनचित् प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरे-

भाष्यका अनुवाद

और कुछ लोग कहते हैं—नित्य कर्मोंका और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान प्रत्यवाय की अनुत्पत्तिके लिए किया जाता है, काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मोंका परित्याग स्वर्ग और नरककी प्राप्तिके परिहारके लिए है और वर्तमान देहमें उपभोग्य जो कर्म हैं, उनका उपभोगसे ही क्षय होगा, इसलिए वर्तमान शरीरके विनाशके बाद अन्य देहके सम्पादक कारणके न होनेसे स्वरूपावस्थानरूप कैवल्य ब्रह्मात्मताके विना ही उस पुरुषको प्राप्त होगा। यह कथन असत् है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, कारण कि मोक्षार्थीको ऐसा आचरण करना चाहिए ऐसा किसी

रत्नप्रभा

नेति। किञ्च, पक्षत्रयमपि अयुक्तम्, संसारित्वस्य तात्त्विकजीवभावस्य नाशे तात्त्विकजीवस्वरूपनाशप्रसङ्गात्। न चास्माभिरिव त्वया ब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तात्त्विकरूपम् अङ्गीकृतम्, यदस्य संसारनाशेऽपि नाशो न स्यादित्याह—सर्वेष्विति। ननु किं ब्रह्मत्वेन? संसाराभावः किल मोक्षः, स च कर्माभावमात्रेण सेत्स्यतीति कर्मजडानां मतम् उद्भाव्य निरस्यति—यत्त्वित्यादिना। तदिति। एवं वृत्तं मोक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

परिहार करते हैं—"न" इत्यादिसे। किञ्च, तीनों पक्ष असमञ्जस हैं, क्योंकि तात्त्विक जीवात्मक संसारित्वका नाश होनेपर जीवके नाशका प्रसङ्ग होगा। और हमारे सिद्धान्तके समान तुमने जीवकी ब्रह्मात्मता तात्त्विक नहीं मानी है, जिससे कि संसारका नाश होनेपर उसका नाश न हो, ऐसा कहते है—"सर्वेषु" इत्यादिसे। परन्तु ब्रह्मात्मताका प्रयोजन ही क्या है, क्योंकि संसारका अभाव तो मोक्ष है और वह कर्मोंके अभावमात्रसे उपपन्न हो सकता है, इस प्रकार कर्मजडोंके मतका उद्भावन करके निरास करते हैं—"यत्तु" इत्यादिसे। "तदिति"। तत् शब्दका अर्थ है एवं वृत्त अर्थात् उक्त पूर्वपक्षीका कथन, वह मोक्षका हेतु है, इस अर्थमें प्रमाण नहीं है, यह अर्थ है। तर्क ही प्रमाण है?

भाष्य

दिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितम् यस्मात् कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। न चैतत्तर्कयितुमपि शक्यते, निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानीष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः संभाव्यन्ते। तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवात् कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन क्षपणासंभवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम्। कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण'

भाष्यका अनुवाद

शास्त्रने प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु संसारके कर्मनिमित्तक होनेसे निमित्तके अभावमें संसार नहीं रहेगा, ऐसा स्वबुद्धिसे तर्क किया है। और उस प्रकार तर्क भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि निमित्तका अभाव दुर्ज्ञेय है। एक एक प्राणीके अन्य अन्य जन्ममें संचित हुए इष्ट और अनिष्ट विपाकवाले अनेक कर्म सम्भावित हैं। उन कर्मोंका, जिनका फल अत्यन्त विरुद्ध है, एक कालमें उपभोग नहीं हो सकनेसे जिनको अवसर मिला है, ऐसे कुछ कर्म इस जन्मको बनाते हैं और अवशिष्ट कर्म देश, काल और निमित्तकी अपेक्षा करते रहते हैं, इसलिए उन अवशिष्ट कर्मोंका वर्तमान उपभोगसे क्षय न होनेके कारण पूर्वोक्तरीतिसे जिसके चरितका वर्णन किया है, उसको वर्तमान शरीरके नाश होनेपर भी अन्य देहके निमित्तका अभाव निश्चित नहीं हो सकता है। कर्मशेषके सद्भावकी सिद्धि तो 'तद्य इह रमणीयचरणाः' (इसलिए

रत्नप्रभा

हेतुः इत्यस्मिन् अर्थे मानाभावादित्यर्थः। तर्क एव मानमित्यत आह—न चैतत्तर्कयितुमिति। ननु तवापि एतत् तर्कमात्रम्, एकस्मिन् जन्मन्यनेकविरुद्धफलानां कर्मणां भोगायोगादस्त्ववशिष्टं कर्म जन्मान्तरस्य निमित्तम्? इत्याशंक्य तत्र मानमाह—कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्चेति। सन्तु अनारब्धफलानि पुण्यपापानि, तेषां

रत्नप्रभाका अनुवाद

इसपर कहते हैं—"न चैतत्तर्कयितुम्" इत्यादिसे। परन्तु तुमारा भी तो यह केवल तर्क है कि एक जन्ममें अनेक विरुद्धफलवाले कर्मोंका उपभोग नहीं हो सकता है, अतः अवशिष्ट कर्म जन्मान्तरका कारण है, इस प्रकार आशङ्का करके उसमें प्रमाण कहते हैं—"कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च" इत्यादिसे। अनारब्ध फलवाले पुण्य और पाप भले ही रहें, परन्तु उनका

भाष्य

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । स्यादेतत् । नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति, तन्न; विरोधाभावात् । सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति, न च जन्मान्तरसंचितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः, शुद्धिरूपत्वाविशेषात् । दुरितानां त्वशुद्धिरूपत्वात् सति विरोधे भवतु क्षपणम्, न तु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः । सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः । दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात् । न च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात् प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रम्, न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति, फलान्तरस्या-

भाष्यका अनुवाद

जो यहां रमणीय आचरणवाले हैं) 'ततः शेषेण' (पीछे शेषसे) इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे सिद्ध हुआ है। परन्तु यह शंका हो सकती है—नित्य और नैमित्तिक कर्म उसके नाशक हो सकते हैं, नहीं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि उनका विरोध नहीं है, विरोधके होनेपर नाश्यनाशकभाव माना जाता है और अन्य जन्ममें संचित कर्मोंका—सुकृतोंका नित्य और नैमित्तिकके साथ विरोध नहीं है, क्योंकि शुद्धस्वरूपत्व दोनोंमें समान है। दुरितोंका, अशुद्धि-रूपता होनेसे विरोध होनेके कारण भले ही विनाश हो, परन्तु इससे अन्य-देहके निमित्तका अभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सुकृत निमित्त हो, इस प्रकार युक्त है। और दुरितका भी सर्वथा निःशेष विनाश ज्ञात नहीं होता है। इसी प्रकार नित्य और नैमित्तिकके अनुष्ठानसे प्रत्यवायकी अनुत्पत्ति ही होती है और अन्य फलकी उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा माननेमें कोई भी

रत्नप्रभा

नित्याद्यनुष्ठानेन क्षयात् न जन्मान्तरमिति शङ्कते—स्यादेतदिति । पुण्येन पुण्यस्य न नाशः, अविरोधात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, पापस्यापि सर्वात्मना पुण्यनाश्यत्वे मानं नास्तीति सञ्चितपुण्यपापाभ्यां जन्मान्तरं दुर्वारमित्याह—तन्नेत्यादिना । क्रियमाणनित्यादिनापि जन्म स्यात्, 'कर्मणा पितृलोकः'

रत्नप्रभाका अनुवाद

नित्यादिके अनुष्ठानसे विनाश होगा, अतः जन्मान्तर नहीं होगा, इस प्रकार आशङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। पुण्यका नाश नहीं होता है, क्योंकि विरोध नहीं है, अन्यथा—विरोधीको नाशक न माना जाय, तो अतिप्रसङ्ग होगा, पाप सर्वात्मना पुण्यसे विनष्ट होता हो, उसमें भी कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए संचित पुण्य और पापसे जन्मान्तर अवश्य होगा, ऐसा कहते हैं—"तन्न" इत्यादिसे। क्रियमाण नित्यादिसे भी अवश्य जन्म

भाष्य

प्यनुनिष्पादिनः सम्भवात्। स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति। न चाऽसति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित् प्रतिज्ञातुं शक्यम्, सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। संशयितव्यं तु भवति, तथाऽपि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। न चाऽनभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्, अग्न्यौष्ण्यवत् स्वभावस्याऽपरिहार्यत्वात्।

भाष्यका अनुवाद

प्रमाण नहीं है, क्योंकि आपस्तम्ब कहते हैं कि 'तद्यथाम्रे फलार्थे०' (जैसे फलके लिए निर्मित आम्रवृक्षके पीछे छाया और गन्ध उत्पन्न होते हैं, वैसे ही धर्मके अनुष्ठान करनेपर अर्थ उत्पन्न होते हैं)। और सम्यक् ज्ञान जबतक न हो तब तक जन्म और मरणके बीचमें काम्य और प्रतिषिद्धके त्यागकी कोई भी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, क्योंकि बड़े बड़े बुद्धिमान् निपुणोंका भी सूक्ष्म अपराध देखनेमें आता है। यद्यपि संशय हो सकता है, तो भी निमित्ताभावका ज्ञान, तो दूर ही है। इसी प्रकार ज्ञान से गम्य ब्रह्मात्मत्वका स्वीकार न किया जाय, तो कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभाववाली आत्माके कैवल्यकी आकांक्षा ही नहीं होगी, क्योंकि अग्निके औष्ण्यके समान स्वभाव अपरिहार्य्य है।

रत्नप्रभा

इत्यविशेषश्रुतेः, स्मृतेश्चेत्याह—न च नित्येति। प्रत्यवायनिरासार्थे नित्याद्याचारे सति अनु—पश्चात् फलान्तरं निष्पद्यत इत्यत्र दृष्टान्तः—तद्यथेति। निर्मिते—आरोपिते सतीत्यर्थः। तथापि काम्यादिकर्म्मसत्तानिश्चयो नास्ति अत आह—संशयितव्यं त्विति। ज्ञानं विना देहपाते मोक्ष एवेति निश्चयालाभात् त्वत्पक्षे क्षतिरिति भावः। ब्रह्माभिन्नस्य जीवस्य कर्तृत्वादिस्वभावस्य मोक्षाशापि न

रत्नप्रभाका अनुवाद

होगा, क्योंकि 'कर्मणा पितृलोकः' (कर्मसे पितृलोक) इस प्रकार सामान्य श्रुति और स्मृति है, इस प्रकार कहते हैं—"न च नित्य" इत्यादिसे। प्रत्यवायके निरासके लिए नित्यादि अनुष्ठान होनेपर पीछे अन्य फल उत्पन्न होता है, उसमें दृष्टान्त कहते हैं—"तद्यथा" इत्यादिसे। निर्मिते—आरोपित होनेपर यह अर्थ है। तो भी काम्य आदि कर्मोंकी सत्ताका निश्चय नहीं है। इसपर कहते हैं—"संशयितव्यं तु" इत्यादिसे। ज्ञानके बिना देहका विनाश होनेपर 'अवश्य ही मोक्ष होगा' इस प्रकार निश्चय न होनेपर तुम्हारे पक्षमें क्षति—न्यूनता

भाष्य

स्यादेतत्। कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति। तच्च न, शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात्। अथाऽपि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्याऽन्यानि निमित्तानि, अत एकाकिनी सा स्थिताऽपि नाऽपराध्यतीति। तच्च न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन नित्यसम्बद्धत्वात्। तस्मात् कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशाऽस्ति। श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

भाष्यका अनुवाद

और भी शङ्का है—कर्तृत्वभोक्तृत्वका कार्य अनर्थ है, उसकी शक्ति अनर्थ नहीं है। इसलिए शक्तिके स्थित होनेपर भी कार्यका परिहार होनेसे मोक्ष उपपन्न हो सकता है? परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि शक्तिका सद्भाव होने पर कार्यके प्रसवका निराकरण नहीं हो सकता है। एक और भी शङ्का हो सकती है कि केवल शक्ति अन्य कारणोंकी अपेक्षा न करके कार्यका आरम्भ नहीं कर सकती है, इससे वह अकेली स्थित है, तो भी अपराध नहीं करती? परन्तु यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि निमित्त भी शक्तिरूप सम्बन्धके साथ नित्य सम्बद्ध हैं। इसलिए कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभाव होनेसे आत्मामें जब तक विद्यागम्य ब्रह्मात्मत्व न हो, तब तक किसी प्रकार मोक्षकी आशा नहीं करनी चाहिए, 'नान्यः पन्था०' (मोक्षके लिये ज्ञानके बिना और मार्ग

रत्नप्रभा

युक्तेत्याह—न चेति। कर्तृत्वादिरूपं कार्यं न स्वभावः, किन्तु तच्छक्तिरिति शङ्कते—स्यादेतदिति। कार्यगम्यायाः शक्तेः कार्यस्यात्यन्तानुत्पादे सत्त्वमयुक्तम्, अतः शक्तिसत्त्वे तद्विषयस्य कार्यस्यादृष्टदेशकालादिनिमित्तानां चात्मनां शक्तिद्वारा नित्यसम्बद्धत्वात् मोक्षो न स्यादिति परिहरति—तच्चेत्यादिना। मोक्ष-

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, यह भाव है। कर्तृ आदि स्वभावसे युक्त ब्रह्मभिन्न जीवकी मुक्तिकी आशा भी नहीं हो सकती है, ऐसा कहते हैं—"न च" इत्यादिसे। कर्तृत्वादिरूप कार्य स्वभाव नहीं है, परन्तु उसकी शक्ति है, इस प्रकार शङ्का करते हैं—"स्यादेतत्" इत्यादिसे। कार्यगम्य शक्तिका कार्यके आत्यन्तिक अनुत्पादमें अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिए शक्तिके अस्तित्वमें तद्विषय कार्यका और अदृष्ट, देश, काल आदिके निमित्त आत्माओंका शक्ति द्वारा नित्य सम्बन्ध होनेसे मोक्ष नहीं होगा, इस प्रकार परिहार करते हैं—"तच्च" इत्यादिसे। मोक्षकी सिद्धिके लिए

भाष्य

(श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति। परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत्। न। प्राक्प्रबोधात् स्वप्नव्यवहारवत् तदुपपत्तेः। शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४;४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४;४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति। तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वात् न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या।

किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतयः, इति। उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति। तथा हि क्वचित् पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गति-

भाष्यका अनुवाद

नहीं है) इस प्रकारकी श्रुति भी ज्ञानातिरिक्त मोक्षमार्गका प्रतिषेध करती है। ईश्वरसे जीव अनन्य है, इस पक्षमें भी सर्व व्यवहारके लोपका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उस पक्षमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है, नहीं यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि प्रबोधके पूर्वमें स्वप्न आदिके समान व्यवहार उपपन्न हो सकता है। 'यत्र हि द्वैतमिव०' (जिस अविद्यावस्थामें द्वैतसा होता है, उस कालमें अन्य अन्यको देखता है) इत्यादि शास्त्र अप्रबुद्ध विषयमें प्रत्यक्षादि व्यवहारको कह कर फिर प्रबुद्धावस्थामें 'यत्रत्वस्य०' (जिस विद्योदयकालमें इसको सब आत्मा ही हो गया, तब किस करणसे किस विषयको देखे) इत्यादिसे उसके अभावको दिखलाती है। उक्त रीतिसे परब्रह्मज्ञानीके गन्तव्यत्व आदि विज्ञानका बाध होनेसे किसी प्रकार गतिकी उपपत्ति नहीं कर सकते है।

तब गति श्रुतियां किसको विषय करती हैं ? कहते हैं—सगुण विद्याको विषय करेंगी। किस प्रकार उसे देखिए—कहीं पञ्चाग्निविद्याका उपक्रम करके

रत्नप्रभा

सिद्ध्यर्थं जीवस्य ब्रह्मत्वाङ्गीकारे संसारानुपपत्तिम् आशङ्क्य अज्ञानाद् उपपत्तिमसकृदुक्तां स्मारयति—परस्मादित्यादिना। प्रासङ्गिकं परिहृत्य परमं प्रकृतमुपसं-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जीवकी ब्रह्मरूपता माननेपर संसारकी अनुपपत्तिकी आशङ्का करके बारंबार कही हुई अज्ञानसे उपपत्तिका स्मरण दिलाते हैं—"परस्मात्" इत्यादिसे। प्रासङ्गिकका परिहार करके प्रकृत

भाष्य

रुच्यते, क्वचित् पर्यङ्कविद्यां क्वचिद् वैश्वानरविद्याम्। यत्राऽपि ब्रह्म प्रकृत्य गति-रुच्यते यथा—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इति च, तत्राऽपि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात् सम्भवति गतिः। न क्वचित् परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते, यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात् स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविल-यापेक्षयाऽभिधीयते 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।७) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम्। अपि च परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्याद-

भाष्यका अनुवाद

गति कही जाती है, तो कहींपर पर्यङ्कविद्याका और कहींपर वैश्वानरविद्याका उपक्रम करके गति कही जाती है। और जहाँपर ब्रह्मका उपक्रम करके गति कही जाती है —जैसे 'प्राणो ब्रह्म०' (प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है) इत्यादि, और 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे०' (अब इस ब्रह्मपुर—शरीरमें जो अल्प पुंडरीक वेश्म है) इत्यादि, वहाँपर भी वामनीत्व, सत्यकामत्व आदि गुणोंके द्वारा सगुण ब्रह्म ही उपास्य है, अतः गतिका सम्भव है। और जैसे 'न तस्य प्राणा०' (उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इस प्रकार गतिका प्रतिषेध सुनाया गया है, वैसे पर-ब्रह्मविषक गतिका श्रवण नहीं है। 'ब्रह्मविदाप्नोति०, (ब्रह्मवेत्ता परको प्राप्त करता है) इत्यादिमें यद्यपि गत्यर्थक 'आप्' धातु है, तथापि पूर्वोक्त न्यायसे अन्य देशकी प्राप्तिका असम्भव होनेसे अविद्यासे अध्यारोपित नाम-रूपके प्रविलयकी अपेक्षा 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर वह ब्रह्ममें लीन होता है) इत्यादिके समान स्वरूप-प्राप्तिका ही अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए। और परब्रह्ममें गतिका व्याख्या न किया जाय, तो वह प्ररोचनके लिए होगी अथवा अनुचिन्तनके लिए होगी ? उसमें परतत्त्वके अभिज्ञ

रत्नप्रभा

हरति—तदेवमिति। ननु परविद्यायामप्याप्नोतिपदेन गतिः श्रुता इत्यत आह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

परमतत्त्वका उपसंहार करते हैं—"तदेवम्" इत्यादिसे। परन्तु परविद्यामें भी 'आप्नोति' पदसे

भाष्य

नुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचनं तावद् ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते, स्वसंवेद्येनैवाऽव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः । न च नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्याऽसाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते । तस्मात् अपरब्रह्मविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनाऽपरस्मिन् ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन् अध्यारोप्यन्ते । किं द्वे ब्रह्मणी—परमपरं चेति । बाढं द्वे, 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति, उच्यते यत्राऽविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दै-

भाष्यका अनुवाद

पुरुषमें गतिकी उक्तिसे प्ररोचन नहीं किया जाता है, क्योंकि वह तो स्वसंवेद्य विद्यासमर्पित स्वास्थ्यसे ही सिद्ध है। नित्यसिद्ध निश्रेयसका जिसमें निवेदन है और साध्य जिसका फल नहीं है ऐसे विज्ञानकी गतिके अनुचिन्तनमें कोई अपेक्षा उपपन्न नहीं होती। इससे गति अपरब्रह्मविषयक है। उसमें पर और अपर ब्रह्मके परस्पर विवेकका अवधारण न होनेसे अपरब्रह्ममें वर्तमान गतिश्रुतियाँ परब्रह्ममें अध्यारोपित होती हैं। पर और अपर रूप क्या दो ब्रह्म हैं ? हाँ, दो ब्रह्म हैं, क्योंकि 'एतद्वै सत्यकाम०' (हे सत्यकाम, जो ओंकार है, वह परब्रह्म और अपरब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंमें दो प्रकारके ब्रह्म देखनेमें आते हैं। अच्छा तो परब्रह्म किसे कहते हैं और अपरब्रह्म किसे कहते हैं ? कहा जाता है—जहाँ अविद्याप्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेषके प्रतिषेधसे

रत्नप्रभा

ब्रह्मविदाप्नोतीति । वैफल्याच्च गतेर्न परविषयत्वम् इत्याह—अपि चेति । अनुचिन्तनपक्षं प्रत्याह—न च नित्यसिद्धेति । कथं तर्हि कैश्चित् परविषयत्वं गतेः उक्तमित्याशङ्क्य भ्रान्त्या इत्याह—तत्र परापरेति । प्रश्नपूर्वकं परापरब्रह्मविभागं वदन् अपरब्रह्मणि गतेरर्थवत्त्वमाह—किं द्वे इत्यादिना । व्यापिनो

रत्नप्रभाका अनुवाद

गतिका श्रवण है ? इसपर कहते हैं—"ब्रह्मविदाप्नोति" इत्यादिसे । विफलता होनेसे गति परविषयिणी नहीं है, ऐसा कहते हैं—"अपि च" इत्यादिसे । अनुचिन्तनपक्षके प्रति कहते हैं—"न च नित्यसिद्ध" इत्यादिसे । तो कुछ लोगोंने गति परब्रह्मविषयक है ऐसा कैसे कहा ! ऐसी शंका करके भ्रान्तिसे कहा, ऐसा कहते हैं—"तत्र परापर" इत्यादिसे । प्रश्नपूर्वक परापर ब्रह्मके विभागको कहकर अपरब्रह्ममें गतिकी अर्थवत्ता कहते हैं—"किं द्वे" इत्यादिसे ।

भाष्य

ब्रह्मोपदिश्यते तत् परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्ट-मुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वेवं सत्यद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत, न; अविद्याकृत-नामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चाऽपरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादि-जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात् तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्य-वादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।२९) इत्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं

भाष्यका अनुवाद

अस्थूल आदि शब्दोंसे ब्रह्मका उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। और वह जब नाम और रूप आदि किसी विशेषसे विशिष्ट होता हुआ उपासनाके लिए कहा जाता है—'मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः' (मनोमय, प्राणशरीर और प्रकाश-रूप) इत्यादि शब्दोंसे तब वही अपरब्रह्म होता है। परन्तु ऐसा होनेपर अद्वितीय श्रुति विरुद्ध होगी ? नहीं, क्योंकि अविद्याजन्य नाम, रूप आदि उपाधिसे युक्त होनेसे उसका निराकरण किया जा चुका है। और अपरब्रह्मकी उपासनाका फल उसके समीपमें श्रूयमाण 'स यदि पितृलोककामो भवति' (वह यदि पितृलोककी अभिलाषा करता है) इत्यादि श्रुतिसे जगत्का ऐश्वर्य फल जो संसारलक्षण है अर्थात् संसाररूप है, उसे प्राप्त करता है, क्योंकि अभीतक उसकी अविद्या निवृत्त नहीं हुई है। और वह देशविशेषसे अवरुद्ध है, इसलिए उस देशकी प्राप्तिके लिए गमन विरुद्ध नहीं है। यद्यपि यह आत्मा सर्वगत—व्यापक है, तो भी घट आदिके गमनसे जैसे आकाशका गमन होता है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधिके गमनसे उसका भी गमन प्रसिद्ध है, ऐसा 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि सूत्रमें कहा गया है। इसलिए 'कार्यं बादरिः' (बाद-

रत्नप्रभा

जीवस्य कथं गतिः ? तत्राह—सर्वगतत्वेऽपीति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

व्यापी जो जीव है, उसकी गति किस प्रकार सम्पन्न होगी ? उसपर कहते हैं—"सर्वगतत्वेऽपि" इत्यादिसे ॥ १४ ॥

भाष्य

जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

रायण आचार्यके मतसे कार्यब्रह्म ही गम्य है) यही पक्ष स्थिर हुआ। 'परं जैमिनिः' (जैमिनिके मतसे परब्रह्म ही गन्तव्य है) इस प्रकार अन्य पक्षका प्रदर्शन तो केवल बुद्धिकी विशदताके लिए ही है, ऐसा समझना चाहिए ॥१४॥

[६ अप्रतीकालम्बनाधिकरण सू० १५–१६]

प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नयति वा न वा ।
अविशेषश्रुतेरेतान् ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥ १ ॥
ब्रह्मक्रतोरभावेन प्रतीकार्हफलश्रवात् ।
न तन्नयति पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुतेः ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—अमानव पुरुष प्रतीकके उपासकोंको ब्रह्मलोकमें ले जाता है अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें किसी विशेष का कथन न होनेसे ब्रह्मोपासकके समान प्रतीकोपासकको भी अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें ले जाता है।

सिद्धान्त—ब्रह्मक्रतुका अभाव होनेसे और प्रतीकयोग्य फलकी श्रुति होनेसे प्रतीकके उपासकोंको अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें नहीं ले जाता है, परन्तु पञ्चाग्निके उपासकोंको तो ले जाता है, क्योंकि श्रुति है।

* सारांश यह है कि 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इसमें श्रूयमाण अमानव पुरुष ब्रह्मके उपासककी नाईं प्रतीकोपासकोंको भी सत्यलोकमें ले जाता है, क्योंकि कोई विशेषता नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (उस परमात्माकी जैसे-जैसे उपासना करता है, वही हो जाता है) इस प्रकार ब्रह्मभावनारूप जो क्रतु है वह ब्रह्मलोकप्राप्तिका हेतु है, ऐसा प्रतीत होता है, जो प्रतीकके उपासक हैं वे ब्रह्मक्रतु नहीं हैं, अतः वे सत्यलोकमें नहीं जा सकते। किञ्च, प्रतीकके अनुसार उनके फल सुने जाते हैं—'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति'—नाम ब्रह्मकी उपासना करनेवाला शब्दशास्त्र आदि जो नामविशेष है, उनमें स्वतन्त्र होता है। यदि शंका की जाय कि पञ्चाग्निवेत्ता, जो प्रतीकोपासक हैं, उनको सत्यलोककी प्राप्ति क्यों होती है? तो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि उनके लिए खास श्रुति है। इससे प्रतीकोपासक सत्यलोकमें नहीं जाते हैं।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभय-थादोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—अप्रतीकालम्बनान्, नयति, इति, बादरायणः, उभयथा, अदोषात्, तत्क्रतुः, च ।

पदार्थोक्ति—अप्रतीकालम्बनान्—प्रतीकोपासकभिन्नानुपासकान्, नयति—प्रापयति [ब्रह्मलोकममानवः पुरुषः, न सर्वान्] इति बादरायणः—आचार्यो बादरायणः [मन्यते, ननु तर्हि 'अनियमः सर्वासाम्' इति सर्वोपासनेषु कृतो मार्गोपसंहारः पीड्येतेति चेन्न] उभयथा अदोषात्—कांश्चिदुपासकान् नयति कांश्चिन्न नयतीत्युभयथाऽभ्युपगमेऽपि अदोषात्—दोषाभावात् [तथा चोक्तानियमशास्त्रं प्रतीकभिन्नविषयकमिति न दोषः, तत्र नियामकं ब्रूते]—तत्क्रतुश्च—तस्य कार्यब्रह्मणः क्रतुः—उपासनं यस्य स तत्क्रतुः—उपासकः, [एवञ्च यो यद्विषयकोपासकः स तत्प्राप्नोतीति श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् तदुपासकानामेव कार्यब्रह्मप्राप्तिः प्रतीकोपासनेषु प्रतीकस्यैव प्राधान्यात् न तदुपासकानां ब्रह्मप्राप्तिः इति विवेकः] ।

भाषार्थ—अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें उन पुरुषोंको ले जाता है, जो प्रतीकोपासक नहीं है, यह आचार्य बादरायणका मत है, इसपर कुछ लोग शङ्का करते हैं कि ऐसा माननेसे 'अनियमः सर्वासाम्' इस सूत्रमें किया गया मार्गका उपसंहार विरुद्ध होगा ? नहीं, यह शङ्का नहीं हो सकती है, क्योंकि कुछ उपासकोंको ले जाता है और कुछको नहीं ले जाता है, ऐसा माननेपर भी कोई दोष नहीं है, कारण कि जो जिसकी उपासना करता है वह उसको प्राप्त करता है, इसलिए जो ब्रह्मक्रतु होगा वह उसको प्राप्त करेगा। प्रतीकोपासनामें तो प्रतीक ही प्रधान है, इसलिए प्रतीकोपासक ब्रह्मलोकमें नहीं जा सकते हैं ।

रत्नप्रभा

एवं गन्तव्यं निरूप्य गन्तॄन् निर्धारयति—अप्रतीकेति । 'स एवैनान् ब्रह्म

रत्नप्रभाका अनुवाद

पूर्वोक्त प्रणालीसे गन्तव्यका विचार करके अब गमनकर्ताओंका निरूपण करते हैं—

भाष्य

स्थितमेतत् कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं सन्दिह्यते किं सर्वान् विकारालम्बनानविशेषेणैवाऽमानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकम्, उत कांश्चिदेवेति। किं तावत् प्राप्तम्? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद् ब्रह्मणो गतिः स्यात्। तथा हि—'अनियमः सर्वासाम्' (ब्र० सू० ३।३।३१) इत्यत्राऽविशेषेणैवैषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति। प्रतीकालम्बनान् वर्जयित्वा

भाष्यका अनुवाद

कार्यात्मक ब्रह्ममें गति है और परब्रह्ममें नहीं है, यह सिद्ध हो चुका, अब यह सन्देह होता है कि विकारका अवलम्बन करनेवाले सभीको सामान्य रीतिसे ब्रह्मलोकमें अमानव पुरुष ले जाता है, या किन्हींको ले जाता है? ऐसी परिस्थितिमें क्या प्राप्त हुआ?

पूर्वपक्षी—सभी उपासकोंकी परब्रह्मसे अन्यत्र अर्थात् कार्यब्रह्मलोकमें गति हो सकती है, क्योंकि 'अविशेषः सर्वासाम्' इस सूत्रमें सामान्य रीतिसे इस गतिका अन्य उपासनाओंमें भी अवतरण किया गया है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'अप्रतीकालम्बनान्' इत्यादि।

रत्नप्रभा

गमयति' इत्यविशेषश्रुतेः तत्क्रतुन्यायाच्च संशयमाह—इदमिति। अनियमाधिकरणे तत्त्वविदोऽन्यत्र सर्वोपासकानां मार्गोपसंहार उक्तः, इदानीमप्रतीकोपासकानामेव मार्गः, न सर्वेषां विकारोपासकानामित्युभयथा भावोक्तौ पूर्वोक्तविरोधः स्यात्, तस्मादुपासकमात्रस्योत्तरमार्गसिद्धिरिति पूर्वपक्षफलम्, सिद्धान्ते तूभयथाभावसिद्धिः। अदोषादिति सूत्रे पदच्छेदः, अविरोधादित्यर्थः "अनियमः सर्वासाम्" इति सूत्रे

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अप्रतीक" इत्यादिसे। 'स एवैनान् ब्रह्म गमयति' (वह अमानव पुरुष ही इन उपासकोंको ब्रह्मलोकमें ले जाता है) इस प्रकारकी अविशेष श्रुतिसे और तत्क्रतुन्यायसे संशय कहते हैं—"इदम्" इत्यादिसे। अनियमाधिकरणमें तत्त्ववेत्ताका अन्यत्र मार्गोपसंहार कहा गया है, इस समय अप्रतीकोपासकोंके लिए ही मार्ग है, सबके लिए नहीं है अर्थात् सब विकारोपासकोंके लिए नहीं है, इस प्रकार उभयथा सद्भाव कहनेसे पूर्वोक्तके साथ विरोध होगा, इसलिए उपासकमात्रके उत्तर मार्गकी सिद्धि है, यह पूर्वपक्षका फल है और सिद्धान्तमें दोनों प्रकारसे उपपत्ति सिद्ध होती है, यह फल है। "अदोषात्" इस प्रकार सूत्रमें पदच्छेद है, अर्थात् 'अविरोधसे', ऐसा अर्थ है। 'अनियमः सर्वासाम्' इस सूत्रमें सर्वशब्द प्रतीकोपासकोंका

भाष्य

सर्वानन्यान् विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। नह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति। अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः। तत्क्रतुश्चाऽस्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः। यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते, 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः। न तु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति, प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य। नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते, यथा

भाष्यका अनुवाद

प्रतीकका अवलम्बन करनेवालोंको छोड़कर अन्य विकारावलम्बी उपासकोंको ब्रह्मलोकमें अमानव पुरुष ले जाता है, यह आचार्य बादरायणका मत है? क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर अर्थात् प्रतीकालम्बन करनेवालोंको नहीं ले जाता और विकारालम्बन करनेवालोंको ले जाता है, इस प्रकार उभयथा स्वीकारमें कोई दोष नहीं है, कारण कि अनियमशास्त्र प्रतीकव्यतिरिक्त उपासनाओंमें उपपन्न हो सकता है 'तत्क्रतुश्च' (कार्य ब्रह्मकी उपासना करनेवाला) इसे उभयथाभावका समर्थक हेतु समझना चाहिए। जो ब्रह्मक्रतु है वह ब्रह्मका ऐश्वर्य प्राप्त करता है, यह घटता है, क्योंकि 'तं यथा यथोपासते०' (जो उसकी जिस जिस प्रकारसे उपासना करते हैं वे वे ही हो जाते हैं) इस प्रकार श्रुति है। प्रतीकोंमें ब्रह्मक्रतुत्व नहीं है, क्योंकि वह प्रतीकप्रधान उपासना है।

रत्नप्रभा

सर्वशब्दस्य प्रतीकोपासकान्यपरत्वादिति भावः। यद्यपि प्रतीकध्यायिनां पितृयाणतृतीयस्थानयोरप्रवेशादर्चिरादिमार्गो वाच्यः, तथापि तेषां विद्युत्पर्यन्तमेव गमनमस्तु, न ब्रह्मप्राप्तिः, ब्रह्मक्रतुत्वाभावात्। यो यद् ध्यायति, स तत्प्राप्नोति इति हि तत्क्रतुन्यायः श्रुतिमूलः। प्रतीकेषु च नामादिषु ध्येयेषु ब्रह्मणो गुणत्वात् न ब्रह्मध्यायित्वमस्ति। अस्य च न्यायस्य पञ्चाग्निविद्यायामाहत्यवादात् प्रत्यक्षवचनाद् बाध इष्ट इति सूत्रभाष्यार्थः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

से अन्यका प्रतिपादन करता है ऐसा भाव है। प्रतीकोपासकोंका पितृयाण और तृतीय स्थानमें प्रवेश न होनेसे अर्चिरादि मार्ग ही कहना चाहिए, तथापि उनका गमन विद्युत् तक होगा परन्तु ब्रह्मप्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि वे ब्रह्मोपासक नहीं हैं, जो जिसका ध्यान करता है, वही उसे प्राप्त होता है, इस प्रकार तत्क्रतुन्याय श्रुतिमूलक है, प्रतीक और नाम आदि ध्येयोंमें ब्रह्मके गौण होनेसे ब्रह्मध्यायित्व नहीं है, इस न्यायका पञ्चाग्निविद्यामें आहत्यवादसे—प्रत्यक्षवादसे बाध इष्ट है, इस प्रकार सूत्र और भाष्यका अर्थ है ॥१५॥

भाष्य

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'स एनान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति। भवतु यत्रैवमाहत्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु अब्रह्मक्रतु भी ब्रह्मलोकमें जाता है, ऐसा पञ्चाग्निविद्यामें 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यादिसे सुना जाता है ? ठीक है, जाते हैं, परन्तु जहाँ प्रत्यक्षवाद उपलब्ध होता है, वहाँ ऐसा मानेंगे, परन्तु उसके अभावमें तो औत्सर्गिक तत्क्रतुन्यायसे ब्रह्मक्रतुओंकी ही ब्रह्मलोकमें प्राप्ति है, औरोंकी नहीं, इस प्रकार समझा जाता है ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

पदच्छेद—विशेषम्, च, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, विशेषम्—'यावन्नाम्नो गतं तत्राऽस्य' इत्यादिना नामप्रतीकोपासनफलादुत्तरोत्तरवागाद्युपासनानामुत्कृष्टफलविशेषं दर्शयति—'वाग् वाव नाम्नो भूयसी' इत्याद्या श्रुतिः प्रतिपादयति, अयञ्च फलविशेषः प्रतीकानामुपास्यत्वे युज्यते, नैकरूपस्य ब्रह्मण उपास्यत्वे। तस्माद् ब्रह्मोपासकानामेव ब्रह्मप्राप्तिर्न प्रतीकोपासकानामिति भावः।

भाषार्थ—और 'यावन्नाम्नो गतं तत्राऽस्य' (जो नाम ब्रह्मकी उपासना करता है, वह जितना नामका विषय है उसमें यथेष्ट विहरण करता है। इत्यादि श्रुतिसे प्रतीकोपासनके फलसे उत्तरोत्तर वागादिकी उपासनाके उत्कृष्ट फल विशेषका 'वाग्वाव भूयसी' (वाक् इन्द्रिय नामसे बलवती है) इस प्रकार श्रुति प्रतिपादन करती है और यह विशेष प्रतीकोपासनाओंमें हो सकता है, न कि एकात्मक ब्रह्ममें, इससे ब्रह्मोपासक ही ब्रह्मलोकमें जाते हैं।

भाष्य

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात् पूर्वस्मात् फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति'

भाष्यका अनुवाद

नामादि प्रतीकोपासनाओंमें पूर्व पूर्व उपासनाओंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर उपासनाओंमें विशेष फलका बोधन होता है,—क्योंकि 'यावन्नाम्नो गतं०' (नाम

भाष्य

(छा० ७।१।५) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७।२।१), 'यावद्वाचो गतं तत्राऽस्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।२।२), 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७।३।१) इत्यादिना । स चाऽयं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते । ब्रह्मतन्त्रत्वे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात् कथं फलविशेषः स्यात् । तस्मात् न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

की ब्रह्म दृष्टिसे उपासना करनेवाला, जितना नामका विषय है उसमें, स्वतन्त्र होता है), 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (वाक् नामसे अधिक बड़ी है) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य०' (वाक्‌की ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनेवाला वाणीके विषयमें स्वतन्त्र होता है) 'मनो वाव०' (मन वाक्‌से ज्येष्ठ है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। और इस फलविशेषकी उपपत्ति उपासनाओंके प्रतीकके अधीन होनेसे ही सकती है। और उपासनाओंके ब्रह्माधीन माननेपर तो फलविशेषकी उपपत्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि ब्रह्म अविशिष्ट है। इसलिए प्रतीकालम्बन उपासनाओंका फल अन्य उपासनाओंके फलके समान नहीं है ॥ १६ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचित शाङ्करभाष्यके भाषानुवादमें चतुर्थाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ।

रत्नप्रभा

किञ्च, प्रतीकतारतम्येन फलतारतम्यश्रुतेर्न प्रतीकध्यायिनां ब्रह्मप्राप्तिरित्याह—विशेषं चेति । तस्मादसति वचने ब्रह्मध्यायिन एव ब्रह्मगन्तार इति सिद्धम् ॥ ४ ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्यव्याख्यायां (भाष्य) रत्नप्रभायां चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

किंच, प्रतीकके तारतम्यसे फलके तारतम्यकी श्रुति होनेसे प्रतीकोपासकोंको ब्रह्मलोकप्राप्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—"विशेषं च" इत्यादिसे । इससे वचनके न होनेपर ब्रह्मका ध्यान करनेवाले ही ब्रह्मलोकमें जाते हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबाविरचित रत्नप्रभाके भाषानुवादमें चतुर्थाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ।

चतुर्थेऽध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र पादे ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्]

[१ संपद्याविर्भावाधिकरण सू० १–३]

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् ।
अभिनिष्पत्तिवचनात् फलत्वादपि नूतनम् ॥ १ ॥
'स्वेन रूपेणे'ति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् ।
आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—मुक्तिका स्वरूप स्वर्गके समान नवीन है या प्राचीन है ?

पूर्वपक्ष—मुक्तिका स्वरूप नवीन है, क्योंकि अभिनिष्पत्ति वचन है और मुक्तिमें फलत्व भी है ।

सिद्धान्त—'स्वेन रूपेण' इस वाक्यमें 'स्व' शब्दके होनेसे ज्ञात होता है कि मुक्ति स्वरूप प्राचीन ही है—नवीन नहीं है। और अभिनिष्पत्तिका अर्थ आविर्भाव है और अज्ञानके नाशसे फलत्वव्यवहार भी मुक्तिमें होता है ।

---

* भाव यह है कि 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' ऐसी श्रुति है, इसका अर्थ है—उपाधिके शान्त होनेपर जो ठीक तरहसे प्रसन्न होता है, वह सम्प्रसाद—जीव है । यह जीव तीनों शरीरोंके अभिमानको छोड़कर परब्रह्मको प्राप्त करके मुक्तिरूपसे रहता है, इस अवस्थामें यह हम लोग नहीं कह सकते हैं कि जीवका यह स्वरूप पूर्वसिद्ध है, परन्तु स्वर्गके समान आगन्तुक है, ऐसा कह सकते हैं। यदि उस स्वरूपको पूर्वसिद्ध मान लिया जाय, तो संसारदशामें उसकी सत्ता रहनेसे उसमें फलत्वकी उपपत्ति नहीं होगी । इससे स्वर्गके समान मुक्तिस्वरूप नवीन है—इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर

सिद्धान्ती कहते हैं—'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिमें स्वशब्दसे मुक्तिका स्वरूप विशेषित है, इसलिए पूर्वमें भी मुक्तिका स्वरूप है ही। यदि शंका की जाय कि स्वशब्दसे स्वकीय वस्तुका अभिधान है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें विशेषणका वैयर्थ्य प्रसक्त होगा अर्थात् जिस स्वरूपका मुक्तिमें ग्रहण किया जाता है, वह स्वकीय ही है, तो किसकी व्यावृत्तिके लिए आपका विशेषण है ? स्वशब्द आत्मवाची माना जाय, तो स्वकीयत्वकी व्यावृत्ति प्रयोजन है। और अभिनिष्पत्तिसे उत्पत्ति विवक्षित नहीं है, क्योंकि जो पूर्वसिद्ध है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए अभिनिष्पत्तिका अर्थ तत्त्वज्ञानसे स्वस्वरूपका आविर्भाव है। परन्तु ऐसा होनेपर 'उपसम्पद्य' 'अभिनिष्पद्यते' इन शब्दोंकी पुनरुक्ति

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—सम्पद्य, आविर्भावः, स्वेनशब्दात् ।

पदार्थोक्ति—सम्पद्य—स्वप्रकाशस्वरूपमात्मानम् साक्षादनुभूय [तेनैवाऽऽत्मरूपेण] आविर्भावः—विद्वान् आविर्भवति, [कुतः ?] स्वेनशब्दात्—'स्वेन रूपेण' इत्यादौ स्वपदस्य प्रक्षेपात् ।

भाषार्थ—प्रकाशस्वरूप आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव करके अर्थात् साक्षात्कार करके उस आत्मरूपसे विद्वान् आविर्भूत होता, किससे ? इससे कि 'स्वेन रूपेण' इत्यादि श्रुतिमें स्वशब्दका पाठ है ।

भाष्य

'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन

भाष्यका अनुवाद

'एवमेवैष सम्प्रसादो०' (इसी प्रकार [ज्ञानादि साधनोंके अनुष्ठानसे सम्पन्न हुआ] यह जीव इस शरीरसे समुत्थान करके—देहात्मभावनाका

रत्नप्रभा

ॐ ब्रह्मणे नमः ।

पूर्वपादे ब्रह्मोपासकानां कार्यब्रह्मप्राप्तिरुक्ता, सम्प्रति तेषामैश्वर्यविशेषं ब्राह्मलौकिकं पादस्योत्तरार्द्धेन प्रपञ्चयिष्यन् आदौ अभ्यर्हितपरविद्याप्राप्तं निर्विशेषब्रह्मभावमाह—सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दादिति । निर्गुणविद्याफलवाक्यम् उदाहृत्य स्वशब्दस्य स्वीयागन्तुकरूपस्वात्मरूपवाचित्वाभ्यां संशयमाह—एवमिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

पहले पादमें ब्रह्मोपासकोंकी कार्यब्रह्मप्राप्ति कही जा चुकी है, अब उनके ब्रह्मलोकसम्बन्धी ऐश्वर्यविशेषका विचार इस पादके उत्तरार्द्धसे करनेवाले सूत्रकार पहले अभीष्ट परविद्यासे प्राप्य निर्विशेष ब्रह्मभाव कहते हैं—"सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्" इति । निर्गुणविद्याके फलबोधक वाक्यका उदाहरण देकर स्वशब्दके स्वसम्बन्धी आगन्तुकरूपवाची होनेसे और स्वात्मरूपवाची होनेसे संशय कहते हैं—"एवम्" इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें मोक्ष और स्वर्गकी समानता होगी

होगी ? नहीं, क्योंकि उपसंपत्तिशब्दसे तत्पदार्थका शोधनमात्र विवक्षित है, अभिनिष्पत्ति तो वाक्यार्थका अवबोध है। यदि मुक्ति पूर्वसिद्ध मानी जाय, तो उसमें फलत्वकी उपपत्ति कैसे होगी ? ठीक है इस प्रकार होगी—यद्यपि स्वरूपतः मुक्ति पूर्वसिद्ध ही है, परन्तु अज्ञानसे पूर्वसिद्ध नहीं है, इससे प्राचीन ही मुक्तिका स्वरूप है, यह निर्विवाद है ।

भाष्य

रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' इति श्रूयते। तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवाऽऽगन्तुकेन केनचित् विशेषेणाऽभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्ममात्रेणेति। किं तावत् प्राप्तम्? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचित् रूपेणाऽभिनिष्पत्तिः स्यात्, मोक्षस्याऽपि फलत्वप्रसिद्धेः, अभिनिष्पद्यते इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात्। स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद् विभाव्येत। तस्मात् विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवाऽऽत्मनाऽऽविर्भवति, न धर्मान्तरेणेति। कुतः

भाष्यका अनुवाद

त्याग करके परज्योतिका—परब्रह्मका साक्षात्कार करके उसी अपने रूपसे—आत्मरूपसे आविर्भूत होता है) ऐसी श्रुति है। उसमें संशय होता है कि देवलोकादि उपभोगके स्थानोंके समान किसी एक आगन्तुक स्वरूपविशेषसे अभिनिष्पन्न—उत्पन्न होता है या आत्ममात्रसे अभिनिष्पन्न होता है? तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—अन्य स्थानोंके समान किसी एक आगन्तुकरूपसे अभिनिष्पन्न होता है, क्योंकि मोक्ष भी फलरूपसे प्रसिद्ध है और 'अभिनिष्पद्यते' (अभिनिष्पन्न होता है) यह उत्पत्तिका पर्यायवाची शब्द है। यदि स्वरूपमात्रसे अभिनिष्पत्ति हो तो पूर्व अवस्थाओंमें भी स्वरूपका अनपाय होनेसे वह ज्ञात हो। इसलिए किसी एक विशेषसे अभिनिष्पन्न होता है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—केवल आत्मस्वरूपसे आवि-

रत्नप्रभा

पूर्वपक्षे मोक्षस्य स्वर्गात् अविशेषः, सिद्धान्ते विशेष इति फलम्। तत्र मोक्षः आगन्तुकः, फलत्वात्, स्वर्गवत्, इति न्यायोपेतया अभिनिष्पत्तिश्रुत्या पूर्वपक्षमाह—किमित्यादिना। स्वशब्दश्रुतिबाधितो न्यायः, अभिनिष्पत्तिश्च साक्षात्कारवृत्त्यभिप्राया बन्धध्वंसजन्मनि औपचारिकी एवेति मत्वा सिद्धान्तयति—एवमिति।

रत्नप्रभाका अनुवाद

और सिद्धान्तमें स्वर्गसे मोक्षमें विशेषता होगी, यह फल है। इस परिस्थितिमें मोक्ष आगन्तुक है, फल होनेसे, स्वर्गके समान, इस प्रकार न्यायसे—अनुमानसे अनुगृहीत अभिनिष्पत्तिश्रुतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—"किम्" इत्यादिसे। स्वशब्दकी श्रुतिसे उक्त न्याय बाधित है और अभिनिष्पत्ति तो साक्षात्कारात्मक वृत्तिके अभिप्रायसे बन्धकी ध्वंसोत्पत्तिमें औपचारिक ही है, ऐसा मानकर सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। फल-हेतुसे मोक्षमें जो आगन्तुकताकी

भाष्य

स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते इति स्वशब्दात्। अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात्। नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति। न, तस्याऽवचनीयत्वात्। येनैव हि केनचिद्रूपेणाऽभिनिष्पद्यते तस्यैवाऽऽत्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात्। आत्मवचनतायां त्वर्थवत्—केवलेनैवाऽऽत्मरूपेणाऽभिनिष्पद्यते नाऽऽगन्तुकेनाऽपररूपेणाऽपीति ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सतीत्यत आह—

भाष्यका अनुवाद

भूत होता है, अन्य धर्मसे नहीं। किससे? इससे कि 'स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते' (अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है) इसमें 'स्व' शब्द है। यदि इस प्रकार विशेषण न माना जाय, तो विशेषणीभूत स्वशब्दकी अनुपपत्ति होगी। परन्तु कुछ अभिप्रायको रखनेवाले स्वशब्दका 'आत्मीय' अर्थ होगा। नहीं, क्योंकि ऐसा नहीं कह सकते हैं, कारण कि जिस किसी रूपसे अभिनिष्पन्न होता है, उसमें आत्मीयत्वकी उपपत्ति होनेसे 'स्वेन' यह विशेषण अनर्थक हो जायगा और आत्मार्थकत्वमें तो यह इस प्रकार सार्थक है—केवल आत्मरूपसे अभिनिष्पन्न होता है, किसी अन्य आगन्तुकरूपसे नहीं ॥ १ ॥

परन्तु स्वरूपका अनपाय समान होनेसे पूर्व अवस्थाओंमें और इस अवस्थामें क्या विशेष है, इसपर कहते हैं—

रत्नप्रभा

मोक्षस्य फलत्वेन प्राप्तागन्तुकत्वनिरासार्थः स्वशब्द इति युक्तम्, स्वीयवाचित्वे तु अनर्थकानुवादः स्यात् इत्यर्थः ॥ १ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राप्ति थी, उसका निवारण करनेके लिए स्वशब्द है, यह युक्त है, यदि स्वशब्द स्वीयवाचक माना जाय तो निरर्थक अनुवाद होगा, यह भाव है ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

पदच्छेद—मुक्तः, प्रतिज्ञानात्।

पदार्थोक्ति—मुक्तः—मुक्तिं प्राप्तः [पुरुषः पूर्णानन्दात्मना अवतिष्ठते, कुतः?] प्रतिज्ञानात्—'एतं त्वेव ते' इत्यादिना सकलानर्थविनिर्मुक्तस्यैवानन्दात्मनो व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञानात् इत्यर्थः।

भावार्थ—मुक्तिको प्राप्त हुआ पुरुष पूर्ण आनन्दरूपसे अवस्थित रहता है, क्योंकि 'एतं त्वेव ते' इत्यादि श्रुतिसे सम्पूर्ण अनर्थसे मुक्त आनन्दस्वरूप आत्माकी व्याख्येयरूपसे प्रतिज्ञा की गई है।

भाष्य

योऽत्राऽभिनिष्पद्यते इत्युक्तः, स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवाऽऽत्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चाऽवस्थात्रयकलुषितेनाऽऽत्मनेत्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति? प्रतिज्ञानादित्याह। तथा हि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३,८।१०।४,८।११।३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा०

भाष्यका अनुवाद

यहां 'अभिनिष्पद्यते' शब्दसे जो कहा गया है, वह सब बन्धसे विनिर्मुक्त होकर शुद्ध आत्मरूपसे अवस्थित होता है। पहले तो 'अन्धो भवति०' (जाग्रदवस्थामें वह अन्धा होता है), 'अपि रोदितीव' ([स्वप्नावस्थामें दुःखशोकादिस्वरूप होनेसे] मानो रोता है), 'विनाशमेवापीतो भवति' (सुषुप्तिमें मानो विनाशको प्राप्त होता है) इस प्रकार तीनों अवस्थाओंसे कलुषित आत्मरूपसे अवस्थित होता है, यह विशेष है। परन्तु अब यह मुक्त होता है, ऐसा किससे समझा जाता है? प्रतिज्ञासे, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'एतं त्वेव भूयो०' (मैं अब तुमसे इसी आत्माके विषयमें फिर व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार तीनों अवस्थाके दोषसे रहित आत्माके व्याख्यान करनेकी प्रतीज्ञा करके 'अशरीरं वाव'० (शरीरका सम्बन्ध न होनेपर आत्माको प्रिय और

रत्नप्रभा

सूत्रान्तरं गृह्णाति—कः पुनरिति। जागरिते ह्यान्ध्यादिदेहधर्मवान् भवति, स्वप्ने तु हत इव केनचित् अपि च पुत्रादिनाशात् रोदितीव भवति, सुषुप्तौ तु विशेषाज्ञानात् विनष्ट इवेति, बन्धदशायां कलुषितात्मना तिष्ठति, मोक्षे तु विगलि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

अन्य सूत्रकी अवतरणिका कहते हैं—"कः पुनः" इत्यादिसे। जागरित अवस्थामें आन्ध्य आदि देहधर्मवान् होता है और स्वप्नावस्थामें किसीसे मानो आहत होकर, रोता है, और पुत्रादिके नाशसे मानो रोता है। सुषुप्तिमें तो विशेषका ज्ञान न होनेसे विनष्टके समान होता है। इस प्रकार बन्धावस्थामें—संसारावस्थामें कलुषितरूपसे रहता है और मोक्षमें सम्पूर्ण दुःखसे

भाष्य

८।१२।१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति चोपसंहरति। तथाऽऽख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा, नाऽपूर्वोपजननापेक्षा, यदप्यभिनिष्पद्यते इत्युत्पत्तिपर्यायत्वम्, तदपि पूर्वावस्थापेक्षम्, यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यते इति तद्वत्। तस्माददोषः ॥ २ ॥

भाष्यका अनुवाद

अप्रिय स्पर्श नहीं करते) इस प्रकार उपक्रम करके 'स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते०' (आत्मरूपसे अभिनिष्पन्न होता है—आविर्भाव पाता है, वह उत्तम पुरुष है) ऐसा उपसंहार करते हैं। इसी प्रकार आख्यायिकाके उपक्रममें भी 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (जो आत्मा पापरहित है) इत्यादि मुक्त आत्माके लिए ही प्रतिज्ञा है और मोक्षमें फलत्वकी प्रसिद्धि भी बन्धकी निवृत्तिमात्रकी अपेक्षासे है, अपूर्व उपजननकी—उत्पत्तिकी अपेक्षासे नहीं है। इसी प्रकार 'अभिनिष्पद्यते' यह उत्पत्तिका पर्यायवाची शब्द है, ऐसा जो कहा गया है वह भी पूर्व अवस्थाकी अपेक्षासे ही कहा गया है, जैसे रोगकी निवृत्ति होनेपर अरोग अभिनिष्पन्न होता है, इसलिए दोष नहीं है ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

तारिवलदुःखः परितः प्रद्योतमानपूर्णानन्दात्मना अवतिष्ठते इति महान् विशेष इत्यर्थः ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

रहित होता है और सर्वतः प्रकाशमान पूर्णानन्दरूपसे स्थित होता है, इसलिए बड़ा भेद है, यह अर्थ है ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

पदच्छेद—आत्मा, प्रकरणात्।

पदार्थोक्ति—आत्मा—चेतनः [एव प्रकृते ज्योतिःशब्देन ग्राह्यः; कुतः ?] प्रकरणात्—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यात्मनः प्रकरणात्।

भाषार्थ—ज्योतिःशब्दसे आत्माका ही ग्रहण है, क्योंकि 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतिसे आत्माका प्रकरण है।

भाष्य

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८। १२।३) इति कार्यगोचरमेवैनं श्रावयति । ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात्। न चाऽनतिवृत्तो विकारविषयात् कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति, विकारस्याऽऽर्तत्वप्रसिद्धेरिति । नैष दोषः । यत आत्मैवाऽत्र ज्योतिःशब्देनाऽऽवेद्यते, प्रकरणात् 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा०८।७।१) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाऽकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्, प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः (बृ० ४।४।१६) इति । प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्दर्शनात्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥ ३ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (पर ज्योतिको—पर ब्रह्मको प्राप्त करके) इत्यादि श्रुति इसे कार्यविषयक ही कहती है, तो मुक्त है, ऐसा क्यों कहते हैं, क्योंकि ज्योतिःशब्द भौतिक ज्योतिमें रूढ है । और विकार विषयका अतिक्रमण न करके कोई मुक्त नहीं होता है, क्योंकि विकार दुःखस्वरूप है, यह प्रसिद्ध है । नहीं, यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरणसे यहां ज्योतिःशब्दसे आत्माका ही कथन है । 'य आत्मा०' (जो आत्मा पापरहित, जरारहित और मृत्युरहित है) इस प्रकार पर आत्माके प्रकरणमें अकस्मात् भौतिक ज्योतिका ग्रहण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ऐसा करनेसे प्रकृतकी हानि और अप्रकृतका ग्रहण प्रसक्त होगा । ज्योतिशब्द आत्माके लिए भी देखा जाता है—'तद्देवाः ज्योतिषां ज्योतिः' (उसकी देवता लोग ज्योतिके भी ज्योतिरूपसे उपासना करते हैं) इसका 'ज्योतिर्दर्शनात्' इस सूत्रमें विचार किया गया है ॥ ३ ॥

रत्नप्रभा

आत्मा प्रकरणात् । कार्यगोचरमेवैनमिति । कार्यं ज्योतिः, तत् प्राप्तमित्यर्थः । कार्यं प्राप्तोऽपि मुक्तः किं न स्यादित्यत आह—न चानतिवृत्त इति ॥ ३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"आत्मा प्रकरणात्" "कार्यगोचरम्" इत्यादि । कार्य ज्योतिको प्राप्त हुआ, ऐसा अर्थ है । कार्यको प्राप्त होनेपर भी मुक्त क्यों नहीं होता है ? इसपर कहते हैं—"न चानतिवृत्त" इत्यादिसे ॥ ३ ॥

[२ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरण सू० ४]

मुक्तरूपाद् ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वाऽथ भिद्यते ।
'सम्पद्य ज्योति'रित्येवं कर्मकर्तृभिदोक्तितः ॥ १ ॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य 'स उत्तमपुमानिति' ।
*ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद् भेदोक्तिरुपचारतः * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्म मुक्तके स्वरूपसे भिन्न है अथवा अभिन्न है।

पूर्वपक्ष—ब्रह्म मुक्तके स्वरूपसे भिन्न है, क्योंकि 'सम्पद्य ज्योतिः' इस प्रकार कर्मकर्तृके भेदसे कथन है।

सिद्धान्त—जिसका रूप अभिनिष्पन्न है, उसका 'स उत्तमः पुरुषः' इस वाक्यसे ब्रह्मभाव कहा गया है, इसलिए मुक्तके स्वरूपसे ब्रह्म अभिन्न है, और जो भेदोक्ति है, वह उपचारसे है अर्थात् गौण है।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—अविभागेन, दृष्टत्वात्।

पदार्थोक्ति—अविभागेन—निरतिशयानन्दब्रह्मात्मना [मुक्तः अवतिष्ठते, कुतः ?] दृष्टत्वात्—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिषु अभेदस्यैव दृष्टत्वात्।

भावार्थ—मुक्त जीव निरतिशयानन्द ब्रह्मरूपसे अवस्थित रहता है, क्योंकि 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर ब्रह्म प्राप्त करता है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि श्रुतियोंमें अभेद ही देखा जाता है।

---

*सारांश यह है कि पूर्व अधिकरणमें जो मुक्त-स्वरूपका निर्णय किया गया है, उसमें अब विचार किया जाता है—वह मुक्तका स्वरूप परमब्रह्मरूपसे भिन्न है, किससे ? इससे कि 'एष सम्प्रसादः परं ज्योतिरुपसम्पद्य' (यह जीव पर ज्योतिको—परब्रह्मको प्राप्त कर) यहाँपर सम्प्रसादशब्दसे उक्त जीव ब्रह्मप्राप्तिरूपक्रियामें कर्तारूपसे कहा जाता है, ज्योतिःशब्दवाच्य ब्रह्मका कर्मरूपसे निर्देश किया गया है। इससे मुक्त जीवका स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—'ज्योतिरुपसम्पद्य' यह वाक्य तत्पदार्थकी शुद्धिके लिए है, इसलिए उस अवस्थामें भेद भले ही रहे, परन्तु उसके ऊपर 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' यह वाक्य वाक्यार्थदशापन्नमुक्तिके स्वरूपका प्रतिपादन करता है। और उसका ब्रह्मसे भेद नहीं है, क्योंकि 'स उत्तमः पुरुषः' इस वाक्यमें तत् शब्दसे अभिनिष्पन्न रूपका

भाष्य

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताऽविभागेनैवाऽवतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवाऽवस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणाऽऽत्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः ? दृष्टत्वात्। तथा हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति। यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्रतुन्यायात्।

भाष्यका अनुवाद

जो परज्योति प्राप्त करके स्वरूपसे अभिनिष्पन्न होता है, वह पर आत्मासे पृथक् ही रहता है या अविभागसे—परमात्माके स्वरूपसे ही रहता है, इस प्रकारके विचारके उपस्थित होनेपर 'स तत्र पर्येति' (वह स्वात्मामें परिगमन करता है) इसमें अधिकरण और अधिकर्त्तव्यके आधाराधेयभावका निर्देश होनेसे और 'ज्योतिरुपसंपद्य' (ज्योति प्राप्त करके) इसमें कर्त्ता और कर्मका निर्देश होनेसे पर आत्मासे पृथक् ही जीवका अवस्थान है, इस प्रकार जिसका विचार है, उसको समझाते हैं—मुक्त पर आत्मासे अविभक्त ही रहता है। किससे, इससे कि उसी प्रकार श्रुतियोंमें देखा जाता है—'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'यत्र नान्यत् पश्यति' (जिसमें अन्यको नहीं देखता), 'न तु तद् द्वितीयमस्ति' (परन्तु उससे द्वितीय नहीं—उस द्रष्टासे अन्यरूपसे विभक्त ऐसा द्वितीय नहीं है, जिससे कि अन्य विभक्तको देखे) इत्यादि वाक्य अविभागसे ही परमात्माको दिखलाते हैं। और दर्शनके अनुसार ही तत्क्रतुन्यायसे फल-

रत्नप्रभा

अविभागेन दृष्टत्वात्। स्वरूपस्थितं मुक्तमुपजीव्य वादिविवादाद् ब्रह्मभेदाभेदसंशये सति अत्यन्तभेदं पूर्वपक्षमुक्त्वा सिद्धान्तमाह—यस्येति ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"अविभागेन दृष्टत्वात्"। स्वरूपस्थित मुक्तके आधारपर वादीके विवादसे ब्रह्मके भेद और अभेदका संशय होनेपर अत्यन्तभेदरूप पूर्वपक्ष कहकर सिद्धान्त कहते हैं—"यस्य" इत्यादिसे ॥४॥

अनुसार करके समझी 'सं उत्तमः पुरुषः' इस वाक्यसे ब्रह्मरूपता कही गई है, इससे मुक्तका स्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न है।

भाष्य

'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च । भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति, आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

युक्त है 'यथोदकं शुद्धे०' (जैसे शुद्ध जल शुद्ध जलमें आक्षिप्त होनेसे वैसा ही—एकरस हो जाता है, इसी प्रकार हे गौतम, विज्ञानवान् मुनिका आत्मा भी एकरूप होता है) यह और ऐसे अन्य वाक्य भी, जिनका तात्पर्य मुक्तका स्वरूप निरूपण करना है, अविभाग ही दिखलाते हैं। इसी प्रकार नदी, समुद्र आदि दृष्टान्त भी (अविभाग ही दिखलाते हैं)। भेदका निर्देश तो अभेदके रहते भी उपचारसे किया जा सकता है, क्योंकि 'स भगवः कस्मिन्' (हे भगवन्, ऐसे लक्षणवाला भूमन्—ब्रह्म किसमें प्रतिष्ठित है ? अपनी महिमामें [ऐसा नारदसे सनत्कुमारने कहा]) इसमें, और 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (आत्मामें जिसका रमण है, आत्मामें ही जिसकी क्रीडा है) इत्यादिमें भेदोपचार देखा जाता है ॥ ४ ॥



[३ ब्रह्माधिकरण सू० ५–७]

क्रमेण युगपद्वाऽस्य सविशेषाविशेषते ।
विरुद्धत्वात् कालभेदाद् व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ॥१॥
मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद् व्यवस्थासम्भवे सति ।
अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मके सविशेष–सगुण और निर्विशेष–निर्गुण जो स्वरूप हैं; वे दोनों एक कालमें मुक्तको प्राप्त होते हैं ? या क्रमसे प्राप्त होते हैं ?

पूर्वपक्ष—सविशेषत्व और निर्विशेषत्वका विरोध होनेसे श्रुतिसम्मत उन सविशेषत्व और निर्विशेषत्वकी कालभेदसे व्यवस्था करनी चाहिए अर्थात् क्रमसे प्राप्त होते हैं ।

सिद्धान्त—एक कालमें ही ब्रह्ममें सगुण और निर्गुणरूप रहते हैं, क्योंकि मुक्त और अमुक्तकी दृष्टिके भेदसे उनकी व्यवस्था हो सकती है, इसलिए यौगपद्य अविरुद्ध है और क्रमकी कल्पना श्रुतिसम्मत नहीं है ।

---

* सारांश यह है कि मुक्तका स्वरूपभूत ब्रह्म श्रुतिमें दो प्रकारसे प्रतिपादित है—कहींपर सविशेषरूपसे और कहींपर निर्विशेषरूपसे, जैसे—'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (जो आत्मा पापसे रहित है, वृद्धावस्थासे रहित है, मरणधर्मा नहीं है, शोकरहित है, बुभुक्षाशून्य है, पिपासारहित है, सत्यकाम है और सत्यसंकल्प है) इस प्रकार सविशेष श्रुति है और *'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव'* (वह सैन्धवके समान चारों तरफसे—सर्वांशसे रसस्वरूप है) इस प्रकार निर्विशेषत्व प्रतिपादक श्रुति है। ये सविशेषत्व और निर्विशेषत्व मुक्तिदशामें एक कालमें नहीं हो सकते हैं, क्योंकि परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए कालभेदसे अर्थात् क्रमशः उन दोनोंकी व्यवस्था करनी चाहिए।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—प्रतिपत्ताके—प्रमाताके भेदसे दोनोंकी—सविशेषत्व और निर्विशेषत्वकी उपपत्ति हो सकती है। मुक्त पुरुषकी अपेक्षा निर्विशेषत्व और बद्ध पुरुषकी अपेक्षा सविशेषत्व अर्थात् सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त प्रतीत होता है। मुक्त पुरुष किसी भी अवस्थामें 'सर्वज्ञत्वादि गुणोंसे हम युक्त हैं' इस प्रकार ज्ञान नहीं करते, क्योंकि उस ज्ञानकी कारण अविद्या नहीं है। बद्धस्वरूप तो अविद्यासे युक्त हैं, इसलिए उनको निर्विशेष ब्रह्म सगुणत्व आदिसे युक्त प्रतीत होता है, इससे—प्रमाताके भेदसे उन धर्मोंकी व्यवस्था हो सकती है, तो इस निरर्थक क्रमभेदकी कल्पनासे प्रयोजन ही क्या है। इसमें एक कालमें सविशेषत्व और निर्विशेषत्वकी उपपत्ति होती है, यह सिद्ध है।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

पदच्छेद—ब्राह्मेण, जैमिनिः, उपन्यासादिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—ब्राह्मेण—सत्येन सर्वज्ञत्वादिना [युक्तः मुक्तः पुरुषः अवतिष्ठते, इति] जैमिनिः—आचार्यो जैमिनिः [मन्यते, कुतः ?] उपन्यासादिभ्यः—'सोऽन्वेष्टव्यः' इति विधानार्थमागतः 'य आत्मा' इत्यादिरुद्देशः—उपन्यासः, 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादिरज्ञातज्ञापको विधिः, 'य सर्वज्ञः' इत्यादिर्व्यपदेशः, अमीभ्यो हेतुभ्यः ।

भाषार्थ—मुक्त जीव सर्वज्ञत्व आदि सत्यधर्मोंसे संयुक्त ही रहता है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं, क्योंकि उपन्यास, विधि और व्यपदेश आदि हेतु हैं । 'सोऽन्वेष्टव्यः' इसके विधानके लिए आया हुआ 'य आत्मा' इत्यादि उद्देश—उपन्यास है 'तस्य सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि विधि है और 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि व्यपदेश है । इन हेतुओंसे जैमिनि आचार्य मानते हैं कि मुक्त पुरुष सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त होता है ।

भाष्य

स्थितमेतत्—'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्राऽऽत्ममात्ररूपेणाऽभिनिष्पद्यते नाऽऽगन्तुकेनाऽपररूपेणेति । अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते ।

भाष्यका अनुवाद

'स्वेन रूपेण' (आत्मरूपसे अवस्थित होता है) इत्यादि श्रुतिमें केवल आत्मरूपसे सम्पन्न होता है, आगन्तुक अन्यरूपसे सम्पन्न नहीं होता, ऐसा सिद्ध हुआ । अब उसमें विशेष जाननेकी इच्छा होनेपर कहते हैं कि इसका अपना रूप

रत्नप्रभा

ब्राह्मेण जैमिनिः० । उक्तं ब्रह्मस्वरूपमुपजीव्य स किं सत्येन सर्वज्ञत्वादिधर्मेण युक्तस्तिष्ठति उत धर्मस्य शशशृङ्गवदत्यन्तासत्त्वात् चिन्मात्रात्मना तिष्ठति, किं वा वस्तुतश्चिन्मात्रोऽपि जीवान्तरव्यवहारदृष्ट्या कल्पितसर्वज्ञत्वादिमानिति मुनिविप्रतिपत्तेः संशये सति आद्यं पूर्वपक्षमाह—अधुनेत्यादिना । तत्तत्पक्षसिद्धिरेव फलं द्रष्टव्यम् । 'सोऽन्वेष्टव्यः' इति विध्यर्थ उद्देशः । 'य

रत्नप्रभा

"ब्राह्मेण जैमिनिः" उक्त ब्रह्मस्वरूपके आधारपर वह क्या सत्य सर्वज्ञत्वादि धर्मसे युक्त रहता है अथवा धर्मके शशशृङ्गके समान अत्यन्त असत् होनेसे चिन्मात्ररूपसे रहता है, अथवा वस्तुतः चिन्मात्र होनेपर भी अन्य जीवके व्यवहारकी दृष्टिसे कल्पित सर्वज्ञत्व आदि धर्मवान् है, इस प्रकार मुनियोंकी विप्रतिपत्तिमें संशय होनेपर प्रथम पूर्वपक्ष कहते हैं—"अधुना" इत्यादिसे ।

भाष्य

स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाऽभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः ? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । तथा हि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति। तथा 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः' (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति। 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा०७।२५।२) इति च। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

ब्राह्म—ब्रह्मका रूप है, जिसमें अपहतपाप्मत्व—पापरहितत्व आदिसे लेकर सत्य संकल्पत्व पर्यन्त धर्म रहते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व धर्म भी हैं, उस अपने रूपसे सम्पन्न होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य कहते हैं। किससे ? इससे कि उपन्यास आदि हेतुओंसे उस प्रकार समझा जाता है, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (जो आत्मा पापरहित है) इत्यादिसे और 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (सत्यकाम, सत्यसंकल्प) इत्यन्त उपन्याससे आत्मा ऐसे स्वरूपसे युक्त है, ऐसा श्रुतिवाक्य बोध कराते हैं। इसी प्रकार 'स तत्र पर्येति०' (वह सम्प्रसाद—जीव उसमें—अपनी आत्मामें परिगमन करता है, कहींपर भक्षण करता है, कहींपर क्रीडा करता है और कहींपर रमता है) इत्यादिसे ऐश्वर्यरूपका आवेदन करते हैं। और 'तस्य सर्वेषु० (सब लोकोंमें उसका कामचार होता है) यह भी श्रुति है। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादि व्यपदेश भी उपपन्न होंगे ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा

आत्मा' इत्यादिः उपन्यासशब्दार्थः। आदिपदाद् विधिव्यपदेशग्रहः। तत्राऽज्ञातज्ञापको विधिः, तमाह—तथा स तत्रेति। 'सर्वज्ञः' इत्यादिस्तु व्यपदेशः, अयं हि नोद्देशः विध्यभावात्, नापि विधिः सिद्धवन्निर्देशादित्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

सतत्पक्षकी सिद्धि ही पूर्वपक्षका फल जानना चाहिए 'सोऽन्वेष्टव्यः' (उस आत्माकी अन्वेषणा करनी चाहिए) इत्यादि विधिके लिए 'य आत्मा' इत्यादि उद्देश ही उपन्यास शब्दका अर्थ है। आदिशब्दसे विधि और व्यपदेशका ग्रहण है, उसमें अज्ञातज्ञापक विधि है, उसे कहते हैं—"तथा स तत्र" इत्यादि। 'सर्वज्ञः' इत्यादि तो व्यपदेश है, यह उद्देश नहीं है, क्योंकि विधिका अभाव है और विधि भी नहीं है, क्योंकि सिद्धके समान निर्देश है, ऐसा अर्थ है ॥ ५ ॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—चितितन्मात्रेण, तदात्मकत्वात्, इति, औडुलोमिः ।

पदार्थोक्ति—तदात्मकत्वात्—जीवात्मनां चैतन्यात्मकत्वात्, चितितन्मात्रेण—चैतन्यात्मना, [अवस्थिते मुक्ते ब्रह्मणि सर्वज्ञत्वादिशब्दा व्यर्था एव प्रयुज्यन्ते] इति औडुलोमिः—आचार्य औडुलोमिः [मन्यते] ।

भाषार्थ—जीवोंके चैतन्यस्वरूप होनेसे चैतन्यरूपसे अवस्थित मुक्त ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व आदिशब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं, इस प्रकार आचार्य औडुलोमि मानते हैं ।

भाष्य

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथाऽपि शब्दविकल्पजा एवैते, पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते, चैतन्यमेव त्वस्याऽऽत्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्तिर्युक्ता । तथा च श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३)

भाष्यका अनुवाद

यद्यपि अपहतपाप्मत्व आदि धर्मोंका भेदसे ही निर्देश है, तो भी ये धर्म शब्दके विकल्पसे ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उनमें पापादिकी निवृत्ति ही समझी जाती है। परन्तु चैतन्य ही इस आत्माका स्वरूप है, इसलिए उसी स्वरूपसे आविर्भाव युक्त है। इसी प्रकार 'एवं वा०' (हे मैत्रेयि ! सैन्धवघनके समान सर्वांशसे यह ब्रह्म प्रज्ञानघन—ज्ञानैकरस एक ही है) इस प्रकारकी श्रुति अनुगृहीत होगी। परन्तु जिसका

रत्नप्रभा

सत्यत्वादिधर्माणां सत्यत्वं दूषयन्नत्यन्तासत्यपक्षमाह—चितितन्मात्रेणेति । चितिः—चैतन्यम् । शब्दज्ञानाद् यो विकल्पोऽसत्प्रत्ययः तज्जाः अत्यन्तमसन्त इति यावत् । अस्त्वभावरूपधर्माणामसत्त्वम्, भावधर्माणां तु

रत्नप्रभाका अनुवाद

सत्यत्व आदि धर्मोंके सत्यत्वको दूषित करते हुए अत्यन्त असत्य पक्ष कहते हैं—"चितितन्मात्रेण" इत्यादिसे । चिति—चैतन्य । शब्दके ज्ञानसे जो विकल्प—असत्प्रत्यय है, इससे उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त असत् हैं, यह भाव है । अभावरूप धर्म असत् भले ही हो, परन्तु भावरूप

भाष्य

इत्येवञ्जातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते—सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात् तेषां न चैतन्यवत् स्वरूपत्वसंभवः । अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र । अत एव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत् । नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुम्, द्वितीयविषयत्वात्तेषाम् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाऽव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यते इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

काम सत्य है वह सत्यकाम है, इस व्युत्पत्तिसे सत्यकामत्व आदि यद्यपि धर्मस्वरूपसे कहे जाते हैं, तो भी उपाधिसम्बन्धके अधीन होनेसे वे चैतन्यके समान स्वरूप हो सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मकी—आत्माकी अनेकाकारताका प्रतिषेध किया गया है। कारण, 'न स्थानतोऽपि०' इस सूत्रमें ब्रह्मकी अनेकाकारताका प्रतिषेध किया गया है। अनेकाकारत्वका निषेध होनेसे हँसना, खेलना आदि धर्मोंका संकीर्तन भी दुःखाभाव कहनेके अभिप्रायसे है और वह आत्मरति आदिके समान स्तुत्यर्थक है, क्योंकि आत्मामें रति, क्रीडा, मिथुन आदि मुख्य अर्थमें ही हैं, ऐसा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका विषय द्वितीय—अन्य है अर्थात् उनका विषय अपनेसे भिन्न—दूसरा है। इसलिए जिसमेंसे सम्पूर्ण प्रपञ्च जाता रहा है, प्रसन्न, अनिर्देश्य—जिसका व्यपदेश न किया जा सके ऐसे बोधस्वरूपसे आविर्भूत होता है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

सत्यत्वमित्याशङ्क्य तेषामप्यौपाधिकत्वात् असत्त्वमित्याह—सत्यकामेति । चिन्मात्रे मुक्ते जक्षणादिश्रुतिः कथम्, तत्राह—अत एव चेति । सर्वधर्मनिषेधादेवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्म तो सत्य है, इस प्रकार आशंका करके वे भी औपाधिक होनेसे असत् हैं, ऐसा कहते हैं—"सत्यकाम" इत्यादिसे । चिन्मात्रकी मुक्ति होनेपर 'जक्षण' आदि श्रुतिकी उपपत्ति कैसे होगी? इसपर कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे । सब धर्मोंके निषेधसे ही, ऐसा अर्थ है ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

पदच्छेद—एवम्, अपि, उपन्यासात्, पूर्वभावात्, अविरोधम्, बादरायणः।

पदार्थोक्ति—एवमपि—पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि, उपन्यासात्—पूर्वोक्तोपन्यासादिभ्यः, पूर्वभावात्—पूर्वस्य ब्रह्मस्वरूपस्य सर्वज्ञत्वादेर्व्यावहारिकस्य भावात्, [ब्रह्मणो मुक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिष्प्रपञ्चत्वयोः] अविरोधम्—विरोधाभावम्, बादरायणः—बादरायणाचार्यः [मन्यते]।

भाषार्थ—पारमार्थिक चैतन्यमात्र स्वरूपका स्वीकार होनेपर भी पूर्वोक्त उपन्यास आदि हेतुओंसे प्रथम ब्रह्मस्वरूपके सर्वज्ञत्व आदि व्यावहारिक होनेसे मुक्त आत्माके सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्वका विरोध नहीं है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं।

भाष्य

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया

भाष्यका अनुवाद

ऐसा होनेपर भी—परमार्थिक चैतन्यमात्र स्वरूपका स्वीकार करनेपर भी

रत्नप्रभा

धर्माणां सत्यत्वम्, अत्यन्तासत्यत्वं चेति पक्षद्वयम् अयुक्तम्; अद्वैतश्रुतीनां सर्वज्ञत्वादिश्रुतिव्यवहारयोश्च बाधापातात्, अतस्तृतीयपक्षः श्रेयान् इति सिद्धान्तयति—एवमपीति। अत्र केचित् मुह्यन्ति—अखण्डचिन्मात्रज्ञानात् मुक्तस्य अज्ञानाभावात् कुत आज्ञानिकधर्मयोग इति। ते इत्थं बोधनीयाः। ये ईश्वरधर्माः, त एव चिदात्मनि मुक्ते जीवान्तरैः व्यवह्रियन्ते इति। न च मूलाविद्यैक्यात् तन्नाशे कुतो जीवान्तरम् इति वाच्यम्। न वयं तन्नाशे जीवा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

धर्मोंके दोनों पक्ष अर्थात् सत्यत्वपक्ष और अत्यन्त असत्यत्वपक्ष अयुक्त हैं, क्योंकि अद्वैत श्रुतियोंका और सर्वज्ञत्वादि श्रुति और व्यवहारका बाध होगा, इससे तृतीय पक्ष ही श्रेष्ठ है, इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे। यहाँ कुछ लोगोंको यह भ्रम होता है कि अखण्ड चैतन्यमात्रके ज्ञानसे मुक्तमें अज्ञानका अभाव है, तो अज्ञानप्रयुक्त धर्मोंका सम्बन्ध किस प्रकार रहेगा? इसपर उन लोगोंको इस प्रकार समझाना चाहिए कि जो ईश्वरके धर्म हैं, वे ही चिदात्माके मुक्त होनेपर अन्य जीवों द्वारा व्यवहृत होते हैं। परन्तु मूलभूत

भाष्य

पूर्वस्याऽप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याऽप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण अचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्यवहारकी अपेक्षासे उपन्यासादि ज्ञात ब्रह्मके ऐश्वर्यरूपका प्रत्याख्यान नहीं होनेके कारण ही, बादरायण आचार्य इस प्रकार अविरोध मानते हैं ॥ ७ ॥

रत्नप्रभा

न्तरव्यवहारं ब्रूमः । किन्तु तदंशनाशेन अंशारब्धाध्यात्मिकशरीरद्वयाभिमानिनो मुक्तौ अंशान्तरोपाधिका जीवा व्यवहर्तार इति वदामः । तर्हि नानाविद्यापक्ष एव कुतो नाद्रियते, जीवभेदस्य आवश्यकत्वादिति चेत्, न; प्रकृतिनानात्वं प्रतिजीवं प्रपञ्चभेदः, इत्याद्यप्रामाणिकानेकार्थगौरवादिति सर्ववृद्धसम्मत एकविद्यापक्ष एव श्रेयान् । अंशभेदेन च बन्धमुक्तिव्यवस्था इति संक्षेपः ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अविद्याके ऐक्यसे उसका नाश होनेपर जीवान्तर ही कहाँसे बचेगा ? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि हम यह नहीं कहते हैं कि अविद्याका नाश होनेपर अन्य जीवोंका व्यवहार होता है, परन्तु उस अंशका नाश होनेपर अंशसे आरब्ध आध्यात्मिक दो शरीरोंके अभिमानीकी मुक्ति होनेपर अन्य अंशोपाधिक जीव व्यवहार करनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। तो अनेक अविद्यापक्ष ही क्यों नहीं मानते हो, क्योंकि जीवका भेद तो अभीष्ट है, नहीं यह युक्त नहीं है, प्रकृति नानात्व और प्रपञ्चभेद इत्यादि अप्रामाणिक अनेक अर्थकी कल्पना करनेमें गौरव है, अतः सब वृद्धोंसे संमत एक अविद्या पक्ष ही श्रेष्ठ है, और अंशके भेदसे बन्ध और मुक्तिकी व्यवस्था भी है, यह संक्षेप है ॥ ७ ॥



[४ संकल्पाधिकरण सू० ८-९]

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः संकल्प एव वा ।
आशामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥ १ ॥
'संकल्पादेव पितरः' इति श्रुत्यावधारणात् ।
*संकल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यञ्चानुचिन्तनात् * ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मलोककी भोग्य-सृष्टिमें बाह्य पदार्थ हेतु हैं अथवा संकल्पमात्र ही कारण है ?

पूर्वपक्ष—उस सृष्टिमें बाह्य पदार्थ अवश्य कारण हैं, क्योंकि लोकमें भोग्य पदार्थकी उत्पत्तिमें बाह्य पदार्थ हेतु देखे जाते हैं, यदि केवल संकल्प ही कारण माना जाय, तो आशामोदकका साम्य प्राप्त होगा ।

सिद्धान्त—'संकल्पादेव पितरः' इत्यादि श्रुतिसे अवधारण करनेसे ज्ञात होता है कि केवल संकल्प ही कारण है, और आशामोदककी विषमता, तो अनुचिन्तनसे हो सकती है।

---

* सारांश यह है कि 'पहलेके तीन अधिकरणोंसे विदेह मुक्तिका विचार किया गया, अब पादकी समाप्ति तक अवशिष्ट होनेसे ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप मुक्तिके विषयमें विचार किया जाता है—आर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोकमें प्राप्त जो उपासक है, उनकी भोग्यवस्तुओंके प्रति यथा बाह्य पदार्थ कारण हैं । अथवा उपासकका केवल संकल्प ही कारण है ? इस प्रकारका सन्देह होनेपर यही उत्तर ठीक है कि उसकी सृष्टिमें बाह्य पदार्थ भी हेतुरूपसे अपेक्षित हैं, क्योंकि यदि मानस संकल्प कारण माना जाय, तो आशामोदकके साम्यसे यथेष्ट भोगका अभाव प्राप्त होगा, इससे बाह्य पदार्थको हेतु अवश्य मानना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि 'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (यदि उस उपासकको पितृलोककी इच्छा होती है तो उसके संकल्पसे ही पितृलोक प्राप्त हो जाता) इत्यादि श्रुतिसे पितृ आदि भोग्य सृष्टिमें केवल-संकल्पको ही हेतु बतलाकर 'एव' शब्दसे अन्य बाह्य पदार्थके हेतुत्वका निराकरण किया गया है, परन्तु संकल्पसे जितने कार्य होते हैं, वे सब आशामोदकके समान ही होते हैं, यह शङ्का नहीं हो सकती है, क्योंकि जिस प्रकार आशामोदककी सामाननाका आपादन करते हो, वैसे ही सम्पादित मोदककी समानताकी भी कल्पना कर सकते हैं, इसमें कारण यह है कि संकल्पमें उपासनाके प्रभावसे वह सामर्थ्य पैदा होती है जो उसके कार्यमें आशामोदककी विषमताका भी उत्पादन कर सकती है, इससे यह माननेमें कोई हानि नहीं है कि संकल्पमात्र ब्रह्मलोककी भोग्यसृष्टिमें कारण है ।

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

पदच्छेद—संकल्पात्, एव, तु, तच्छ्रुतेः ।

पदार्थोक्ति—संकल्पादेव—केवलात् संकल्पादेव [अस्य विदुषः पित्रादिलोकप्राप्तिः, कुतः ?] तच्छ्रुतेः—'संकल्पादेवास्य पितरः' इत्यादि-यत्नान्तरनिरपेक्षसत्यसंकल्पश्रुतेः ।

भाषार्थ—इस विद्वान्‌को संकल्पसे ही पितृ आदि लोककी प्राप्ति होती है, क्योंकि 'संकल्पादेव' इत्यादि अन्य यत्नसे निरपेक्ष सत्य संकल्पकी श्रुति है ।

भाष्य

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति ।

भाष्यका अनुवाद

हार्द विद्यामें—'स यदि पितृलोककामो भवति०' (वह यदि पितृलोक-प्राप्तिकी इच्छावाला होता है, तो संकल्पसे ही उसके पितर उससे सम्बद्ध होते हैं) इत्यादि श्रुति है । यहांपर संशय होता है कि केवल संकल्प ही पितृ आदिके समुत्थानका हेतु है या अन्य निमित्तके साथ संकल्प हेतु है ?

रत्नप्रभा

एवं परविद्याफलम् उक्तम्, इदानीम् अपरविद्याफलं प्रपञ्चयति—संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेरिति । एवकारस्य अयोगान्ययोगव्यवच्छेदसाधारण्यात् संशयः, ब्रह्मलोकगतस्योपासकस्य सङ्कल्पः यत्नान्तरसापेक्षः, भोगसामग्रीसङ्कल्पत्वाद्, अस्मदादिसङ्कल्पवत् । न चैवकारविरोधः । सङ्कल्पेन सामग्र्या अयोगव्यवच्छेदेन सौलभ्यार्थत्वात्, यत्नानङ्गीकारे भोगपुष्क्यसिद्धिश्चेति पूर्वपक्षार्थः । अत्र लोकवृत्तानुसरणं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त प्रकारसे परविद्याका फल कहा गया, अब अपर विद्याके फलका विचार करते हैं—"सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः" इति । एवकारके अयोग और अन्ययोगके व्यवच्छेदमें साधारण होनेसे संशय होता है । ब्रह्मलोकमें गये हुए उपासकका संकल्प अत्यन्त सापेक्ष है, भोग-सामग्रीका संकल्प होनेसे, हम लोगोंके संकल्पके समान । और एवकारके साथ विरोध भी नहीं है, क्योंकि संकल्पसे अयोगव्यवच्छेद द्वारा सामग्री सुलभ है । और यत्नका स्वीकार न किया जाय, तो भोगसे पुष्टिकी असिद्धि होगी, यह पूर्वपक्षका अर्थ है । पूर्वपक्षमें लोकवृत्तका

भाष्य

तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता । यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पात् गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्याऽपि स्यात्, एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति । संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते । न च संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चञ्चलत्वात् पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—संकल्पादेव तु केवलात् पित्रादिसमुत्थानमिति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८ । २ । १) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्यते । निमित्तान्तरमपि तु

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—उक्त श्रुतिमें यद्यपि संकल्पादेव—संकल्पसे ही पितर उपस्थित होते हैं, ऐसा कहा गया है, तो भी लोकके समान उसे अन्य निमित्तकी अपेक्षा होना युक्त है । जैसे लोकमें हम लोगों के संकल्पसे और गमन आदि हेतुओंसे पितृ आदिकी सम्पत्ति—प्राप्ति होती है, वैसे ही मुक्तको भी होगी, ऐसा करनेसे दृष्टसे विपरीत—अनुभवसे विरुद्ध कल्पना नहीं होगी । संकल्पसे ही ऐसा जो कहा गया है वह तो राजाके संकल्पित अर्थकी सिद्धि करनेवाली अन्य साधनकी सामग्री जैसे सुलभ है वैसे ही उसकी सुलभ सामग्रीकी अपेक्षासे कहा जाता है । और संकल्पमात्रसे जिनका समुत्थान हुआ है, ऐसे पितृगण आदि, मनोरथसे कल्पितके समान चंचल होनेसे, पुष्कल भोगसमर्पण करनेमें समर्थ नहीं होंगे ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—केवल संकल्पसे ही पितृ आदिका समुत्थान होता है । किससे ? उसकी श्रुति होनेसे । 'संकल्पादेवास्य०' (संकल्पसे ही इसके पितर उठते हैं—आत्मसम्बन्धी होते हैं) यह श्रुति अन्य निमित्तकी अपेक्षा होनेपर बाधित हो जायगी और अन्य

रत्नप्रभा

फलम्, सिद्धान्ते तु विद्याबलेन सङ्कल्पस्यैव भोगपुष्टिकरत्वसिद्धिरिति भेदः । किञ्च, यदि भोगसङ्कल्पानन्तरमपि यत्नान्तरसाध्यनिमित्तापेक्षा स्यात्, तर्हि निमित्तप्राप्तेः

रत्नप्रभाका अनुवाद

अनुसरण फल है और सिद्धान्तमें तो विद्याके बलसे संकल्पही भोग और पुष्टिका कर्ता सिद्ध होगा, इस प्रकार भेद है । किञ्च, यदि भोगके संकल्पके बाद भी यत्नके अनन्तर

भाष्य

यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु, न तु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितीष्यते । प्राक् संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात् । न च श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते । संकल्पबलादेव चैषां यावत् प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः, प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वात् मुक्तसंकल्पस्य ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

निमित्त भी यदि सङ्कल्पके अधीन हो, तो वह भले ही रहे। परन्तु अन्य प्रयत्नसे साध्य अन्य निमित्त उसका मानना हमें इष्ट नहीं है, क्योंकि इस अन्य निमित्तकी सम्पत्तिसे पहले विद्वान्के सङ्कल्पके वन्ध्य होनेका प्रसंग आवेगा। और श्रुतिसे ही गम्य—ज्ञात होने योग्य अर्थमें 'लोकके समान' इस प्रकार समान रीतिसे देखा गया अनुमान प्रवृत्त नहीं होता। संकल्पके बलसे ही इनका यावत् प्रयोजन संकल्पकर्त्ताके कार्य निष्पन्न होने तक स्थैर्य उपपन्न होता है, क्योंकि प्राकृत पुरुषोंके संकल्पसे मुक्तका संकल्प विलक्षण है ॥ ८ ॥

रत्नप्रभा

प्राग् जातसङ्कल्पस्य वन्ध्यत्वं स्यात्, भोगे विलम्बात्। ततः सत्यसङ्कल्पश्रुतेर्न यत्नान्तरापेक्षेत्याह—**निमित्तान्तरमपि त्विति** ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

साध्यकी निमित्तापेक्षा हो, तो निमित्तप्राप्तिके पूर्वमें उत्पन्न संकल्प निरर्थक होगा, क्योंकि भोगमें विलम्ब है, इससे सत्यसंकल्पकी श्रुतिसे अन्य यत्नकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं—"निमित्तान्तरमपि तु" इत्यादिसे ॥ ८ ॥

अत एव चाऽनन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, अनन्याधिपतिः।

पदार्थोक्ति—अत एव च—सत्यसंकल्पादेव च अनन्याधिपतिः—विदुषोऽन्याधिपतिर्न भवति इत्यर्थः। यदि विदुषोऽन्याधिपतिः स्यात्, तर्हि तदधीनभोगस्य संकल्पमात्रसाध्यत्वाभावात् सत्यसंकल्पत्वं न स्यात्, अतः विदुषः संकल्पादेव सर्वैश्वर्यप्राप्तिः।

भाषार्थ—सत्यसंकल्पसे ही विद्वान्का अन्य अधिपति नहीं होता है, यदि विद्वान्का कोई अन्य अधिपति हो, तो भोग भी उसके अधीन ही होंगे, इसलिए सत्यसङ्कल्पत्व विद्वान्में नहीं होगा। इससे संकल्पसे ही विद्वान्को सब ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है।

भाष्य

अत एव चाऽवन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान् भवति, नाऽस्याऽन्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः। नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति। श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—'अथ य इहाऽऽत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८।१।६) इति ॥ ९ ॥

भाष्यका अनुवाद

इसीसे—अवन्ध्यसंकल्प होनेसे ही विद्वान् अनन्याधिपति होता है—उसका अन्य अधिपति नहीं होता, ऐसा अर्थ है। संकल्प करनेवाला प्राकृत पुरुष भी गति होनेपर मेरा अन्य स्वामी हो, ऐसी इच्छा नहीं करता। श्रुति भी यह दिखलाती है—'अथ य०' (इस लोकमें जो आत्माको उपदेशके अनुसार जानकर जाते हैं—इस देहसे प्रयाण करते हैं और जो इन सत्यकामोंको—सत्यसंकल्पकार्योंको जानकर जाते हैं, उनका सब लोकोंमें कामचार होता है [जैसे सार्वभौम राजाका इस लोकमें होता है वैसे ही]) ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा

नन्वीश्वराधीनस्य विदुषः कथं सङ्कल्पमात्रात् भोगसिद्धिः, तत्राह—अत एवेति। ईश्वरधर्म एव विदुषि आविर्भूत इति न सङ्कल्पभङ्ग इति भावः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

परन्तु विद्वान् भी ईश्वरके अधीन है, तो संकल्पमात्रसे भोगकी कैसे सिद्धि होगी, इसपर कहते हैं—"अत एव" इत्यादिसे। ईश्वरका धर्म ही विद्वान्में प्रकट हुआ है, अतः संकल्पका भङ्ग नहीं होता है, यह भाव है ॥ ९ ॥



[५ अभावाधिकरण सू० १०–१४]

व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भावाभावौ तनोर्यतः ।
विरुद्धौ तेन पुंभेदावुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ॥ १ ॥
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः ।
अविरोधात् स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा * ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मलोकमें शरीरका भाव और अभाव श्रुतिमें कहा गया है, उसकी पुरुषभेदसे कोई व्यवस्था है या ऐच्छिक है अर्थात् उस लोकके पुरुषकी इच्छासे शरीरका सत्त्व और असत्त्व हो सकता है ?

पूर्वपक्ष—एक पुरुषमें देहका सद्भाव और असद्भाव सर्वथा विरुद्ध है, अतः पुरुषके भेदसे उसकी व्यवस्था करनी चाहिए ।

सिद्धान्त—एक पुरुषमें भी समयके भेदसे देहके सद्भाव और असद्भावकी उपपत्ति हो सकती है, इसलिए शरीरके भाव और अभाव ऐच्छिक है । और स्वप्न तथा जाग्रत्के भोगके समान विरोध न होनेसे दो प्रकार की व्यवस्था हो सकती है ।

---

* सारांश यह है कि 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (मुक्त पुरुष मनसे ही उन कामोंको—भोग्यपदार्थोंको देखकर क्रीडा करता है) । 'य एते ब्रह्मलोके' (जो ये काम ब्रह्मलोकमें प्राप्त हो सकते हैं) इत्यादि श्रुति, जो मानस भोगका प्रतिपादन करती है, इन्द्रियसहित शरीरका अभाव दिखलाती है । 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (वह विद्वान् सृष्टिके पूर्वकालमें एक होता है और सृष्टिके बाद अनेक प्रकारका होता है) इत्यादि श्रुति शरीरका सद्भाव कहती है, इस परिस्थितिमें यह मानना नितान्त आवश्यक है कि एक पुरुषमें परस्पर विरुद्ध शरीरके भाव और अभाव नहीं रह सकते हैं, अतः पुरुषभेदसे उनकी व्यवस्था करनी चाहिए ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि एक पुरुषमें कालक्रमसे शरीरके सद्भाव और असद्भाव उपपन्न हो सकते हैं अर्थात् जब देहकी अभिलाषा करता है, तब संकल्पसे देहकी उत्पत्ति करके उसमें रहता हुआ जाग्रत् अवस्थाके समान भोगोंका उपयोग करता है, जब देहकी इच्छा नहीं करता है, तब संकल्पसे ही उस देहका उपसंहार करके स्वप्नदशाके समान मनसे ही भोगोंका उपयोग करता है, इससे एक पुरुषकी भी इच्छाके वशसे देहभाव और देहाभावकी व्यवस्था हो सकती है, यह निर्विवाद है ।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

पदच्छेद—अभावम्, बादरिः, आह, हि, एवम् ।

पदार्थोक्ति—अभावम्—विदुषः शरीरेन्द्रियाभावम्, बादरिः—बादरिाचार्यः [मन्यते], हि—यतः, एवम्—विदुषः शरीराद्यभावम्, आह—'मनसैतान् कामान् पश्यन्' इत्यादिश्रुतिः कथयति ।

भाषार्थ—बादरि आचार्य कहते हैं कि विद्वान्‌के शरीर, इन्द्रिय आदि नहीं रहते, क्योंकि 'मनसैतान्' इत्यादि श्रुति केवल मनको छोड़कर शरीर आदिका अभाव कहती है ।

भाष्य

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ७।२।१) इत्यतः श्रुतेर्मनस्तावत् संकल्पसाधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति, न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाऽभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् ? एवं ह्याहाम्नायः—'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (छा० ८।१२।५) 'य एते

भाष्यका अनुवाद

'संकल्पादेवास्य' (संकल्पसे ही इसके पितर उठते हैं) इस श्रुतिसे मन संकल्पका साधन है, यह सिद्ध हुआ । परन्तु जिसने ऐश्वर्य प्राप्त किया है, ऐसे विद्वान्‌के शरीर और इन्द्रियां हैं या नहीं, इस विषयमें विचार किया जाता है । इस परिस्थितिमें ऐश्वर्य प्राप्त किये विद्वान्‌के शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं । किससे ? इससे कि श्रुति इस प्रकारकी है—'मनसैतान्०' (मनसे इन मनोरथोंको देखता हुआ रमता है), 'य एते ब्रह्मलोके' (ब्रह्मलोकमें जो ये संकल्पमात्रलभ्य

रत्नप्रभा

एवकारवत् मनसेति विशेषणेन अन्ययोगव्यवच्छेदाद् देहाद्यभाव इति पूर्वपक्षयति—अभावं बादरिराह ह्येवमिति । अत्रापि वादिविवादात् संशयः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

एवकारके समान 'मनसा' इस विशेषणसे अन्ययोगके व्यवच्छेदसे देह आदिका अभाव है, इस प्रकार पूर्वपक्ष करते हैं—"अभावं बादरिराह ह्येवम्" इति । यहाँ भी वादीकी विप्रपत्तिसे संशय है । उसमें देह आदि हैं ही नहीं, अथवा सदा हैं ही, इस प्रकार दो

भाष्य

ब्रह्मलोके' (छा० ८।१३।१) इति। यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेत्, मनसेति विशेषणं न स्यात्। तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥१०॥

भाष्यका अनुवाद

हैं) यदि मन, शरीर और इन्द्रियोंसे विहार करे, तो 'मनसा' (मनसे) यह विशेषण असंगत होगा। इसलिए मोक्षमें शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

तत्र देहादयो न सन्त्येव, सदा सन्त्येवेति च पक्षद्वयं पूर्वपक्षः, कालभेदेन इच्छया सन्ति, न सन्ति चेति सिद्धान्तपक्षो द्रष्टव्यः। फलं तु तत्तच्छ्रुतेर्मुख्यत्वमिति विवेकः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

पक्ष पूर्वपक्ष हैं, और कालभेदसे इच्छा द्वारा हैं और नहीं भी हैं, इस प्रकार सिद्धान्तपक्ष है, यह जानना चाहिए। उन उन श्रुतियोंका मुख्यत्व फल है, यह विवेक है ॥ १० ॥ ११ ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

पदच्छेद—भावम्, जैमिनिः, विकल्पामननात्।

पदार्थोक्ति—भावम्—मनसः इव शरीरेन्द्रियाणां सत्त्वम्, जैमिनिः—आचार्यो जैमिनिः [मन्यते, कुतः ?] विकल्पामननात्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादिना विदुषोऽनेकधाभावविकल्पामननात्।

भाषार्थ—जैमिनि आचार्यका मत है कि मनके समान शरीर, इन्द्रियाँ आदि विद्वान्‌के होते हैं, क्योंकि 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (वह एक होता है तीन होता है) इत्यादि अनेक प्रकारसे भाव-विकल्प मौजूद हैं।

भाष्य

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्याऽपि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते, यतः 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति। नह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाऽऽञ्जसी

भाष्यका अनुवाद

जैमिनि आचार्य तो मनके समान शरीर और इन्द्रियोंका भाव मुक्तके प्रति मानते हैं, क्योंकि 'स एकधा भवति०' (वह एकधा होता है, त्रिधा होता है) इत्यादिमें अनेकधाभावका विकल्प श्रुति कहती है, क्योंकि शरीरके भेदके

भाष्य

स्यात्। यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभावविकल्पः पठ्यते, तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति ॥११॥

उच्यते—

भाष्यका अनुवाद

बिना अनेकविधता हो नहीं सकती। यद्यपि निर्गुण भूमविद्यामें इस अनेकधाभावका विकल्प पढ़ा जाता है, तो भी सगुणविद्यामें ही विद्यमान ऐश्वर्यका भूमविद्याकी स्तुतिके लिए संकीर्तन है, इसलिए सगुणविद्याके फलरूपसे उपस्थित होता है ॥ ११ ॥

कहते हैं—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

पदच्छेद—द्वादशाहवत्, उभयविधम्, बादरायणः, अतः।

पदार्थोक्ति—अतः—मनसेति विशेषणात् अनेकधाभावविकल्पाच्च लिङ्गद्वयात्, उभयविधम्—यदा शरीरादिसङ्कल्पस्तदा सशरीरत्वम्, यदा सत्यसङ्कल्पाभावस्तदा शरीरेन्द्रियवत्त्वाभावः, [इत्युभयप्रकारकं विदुष ऐश्वर्यम्] बादरायणः—आचार्यो बादरायणः [मन्यते, कथमिवेति दृष्टान्ताकाङ्क्षायां दृष्टान्तमाह—द्वादशाहवत्—यथा 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः' इत्युपायिचोदनागम्यत्वात् द्वादशाहस्य सत्रत्वं 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' इत्यहर्गणत्वे सति यजतिचोदनागम्यत्वात् अहीनत्वञ्चेत्युभयविधत्वं तद्वत् इति।

भावार्थ—'मनसा' इस प्रकारके विशेषणरूप लिङ्गसे और अनेकविध भावोंके विकल्परूप लिङ्गसे जब शरीर आदिका संकल्प होगा तब सशरीरता होगी और जब सत्यसंकल्पका अभाव होगा तब शरीर, इन्द्रिय आदिका अभाव होगा, इस प्रकार आचार्य बादरायण विद्वान्के दो ऐश्वर्य मानते हैं। उसमें दृष्टान्तकी आकांक्षा होनेपर दृष्टान्त कहते हैं—द्वादशाहके समान, जैसे 'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः' (समृद्धिके अभिलाषी द्वादशाह सत्र करें) उपायिचोदना (प्रेरणा)से गम्य होनेके कारण द्वादशाह सत्र माना गया है और 'द्वादशाहेन' इत्यादिमें अहर्गणत्वविशिष्ट यजतिरूप चोदनागम्य होनेसे द्वादशाह अहीन माना जाता है, वैसे दोनों अर्थात् सशरीरत्व और अशरीरत्व मुक्तमें माने जाते हैं।

भाष्य

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते—यदा सशरीरतां सङ्कल्पयति, तदा सशरीरो भवति, यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति। सत्यसङ्कल्पत्वात्, सङ्कल्पवैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति, उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥१२॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु बादरायण आचार्य इसीसे अर्थात् उभयलिंगकी श्रुति देखनेसे उभय प्रकारको साधु—उचित मानते हैं। जब सशरीरताका संकल्प करता है, तब सशरीर होता है और जब अशरीरताका संकल्प करता है तब अशरीर होता है, क्योंकि उसका संकल्प सत्य है और संकल्पका वैचित्र्य है, द्वादशाहके समान। जैसे द्वादशाह सत्र और अहीन होता है, क्योंकि उभयलिंगवाली श्रुति देखनेमें आती हैं, अतः यह भी इसी प्रकार है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

द्वादशाहवदिति। 'य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति' इत्युपायिचोदनागम्यत्वश्रुतेः द्वादशाहस्य सत्रत्वम्, 'त आसत' इति च 'उपयन्ति' इति वा चोदितत्वं सत्रलक्षणमिति स्थितेः, तथा 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' इति यजतिचोदनादर्शनात् नियतकर्तृकत्वावगमेन द्विरात्रादिवदहीनत्वं चेत्यर्थः ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

"द्वादशाहवत्" इत्यादि। 'य एवं विद्वांस०' इस प्रकार उपायि (उपयन्ति) चोदना गम्यत्वकी श्रुति होनेसे द्वादशाह सत्र है, क्योंकि 'त आसत' और उपयन्ति इस प्रकारकी चोदना-प्रेरणासे जो प्रेरित है, वह सत्र कहलाता है, ऐसी वस्तुस्थिति है। वैसे 'द्वादशाहेन०' इसमें 'यजति' इस प्रकारकी चोदना दिखाई देती है, अतः नियतकर्तृकत्वका अवगम होनेसे द्विरात्र आदिके समान अहीनता है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

पदच्छेद—तन्वभावे, सन्ध्यवत्, उपपत्तेः।

पदार्थोक्ति—तन्वभावे—तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्य अभावे विरहे, सन्ध्यवत्—यथा स्वप्ने मानसिकविषयभोगः जाग्रद्विलक्षणः तद्वत् [भोगो भवति, कुतः ?] उपपत्तेः—'मनसैतान्' इति श्रुतेरेवमेवोपपत्तेः।

भाषार्थ—इन्द्रियविशिष्ट शरीरका अभाव होनेपर जैसे स्वप्नमें मानसिक विषयभोग जाग्रदवस्थासे विलक्षण होता है, वैसे ही मोक्षमें भी होता है, क्योंकि 'मनसैतान्' इत्यादि श्रुतिकी इसी प्रकार उपपत्ति होती है।

भाष्य

यदा तनोः—सेन्द्रियस्य शरीरस्याऽभावः, तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥१३॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे जब कि तनुका—सेन्द्रिय शरीरका अभाव है, तब स्वप्नकी स्थितिमें शरीर, इन्द्रियां और विषयोंके अविद्यमान रहनेपर भी पितृ आदि काम उपलब्धिमात्र ही हैं, इसी प्रकार मोक्षमें भी उपलब्धिमात्र हैं, क्योंकि इस प्रकार यह उपपन्न होता है ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—भावे, जाग्रद्वत्।

पदार्थोक्ति—भावे—सेन्द्रियशरीरभावे, जाग्रद्वत्—यथा जाग्रद्भोगः स्वप्नविलक्षणो भवति, तद्वत् भवति।

भाषार्थ—इन्द्रियविशिष्ट शरीरके सद्भावमें जाग्रत्के समान स्वप्नसे विलक्षण भोग होता है।

भाष्य

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याऽप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

भाष्यका अनुवाद

परन्तु शरीर हो, तब जाग्रदवस्थामें विद्यमान ही पितृ आदिके काम होते हैं, ऐसे मुक्तको भी उपपन्न होते हैं ॥ १४ ॥

[६ प्रदीपाधिकरण सू० १५-१६]

निरात्मानोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः ।
अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ॥१॥
एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् ।
आत्माभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युस्त्रिधेत्यतः ॥२॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—क्या अनेक देह निरात्मक हैं या सात्मक हैं ?

पूर्वपक्ष—निरात्मक हैं, क्योंकि आत्मा और मन अनेक नहीं हैं, अतः वे एक शरीरमें ही रह सकते हैं, अनेकमें नहीं ।

सिद्धान्त—जैसे एक दीपकसे अनेक दीपक उत्पन्न हो सकते हैं, वैसे ही अनेक मन भी एक मनसे उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिए उन मनोंसे अवच्छिन्न आत्माओंके द्वारा अनेक शरीर भी सात्मक हो सकते हैं। अतः 'त्रेधा भवति' इस श्रुतिका भाव भी यही है ।

---

* भाव यह है कि 'स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा, नवधा,' इत्यादि श्रुतिके अनुसार एक कालमें अनेक शरीरका परिग्रह इच्छासे हो सकता है, यह ज्ञात होता है, इस अवस्थामें यह विचार प्रस्तुत होता है कि एक शरीरसात्मक इतर शरीर निरात्मक हो सकते हैं, क्योंकि किसी श्रुतिमें यह नहीं बतलाया गया है कि आत्मा और मन अनेक होते हैं, और कोई अनुमान भी कल्पक नहीं है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि कल्पक पदार्थ है, जिसके बलसे अनेक मन और आत्माकी कल्पना कर सकते हैं वह कौनसा कल्पक है ? यही कल्पक है कि एक कालमें अनेक देहमें भोगोंकी अनुपपत्ति, और एक आत्मा या अन्तःकरणसे एक कालमें अनेक देहोंमें उपभोग अनुभवमें कहींपर नहीं आया है, इसलिए बाध्य होकर यह कल्पना करनी चाहिए—आत्मा और मन बहुत हैं, यद्यपि अनेक आत्माओंकी उत्पत्ति सिद्धान्तके अनुसार मान नहीं सकते हैं, तथापि संकल्पद्वारा एक मनसे अनेक मनोंकी उत्पत्ति होनेपर उन मनोंसे अवच्छिन्न-युक्त आत्माएँ भी अनेक होंगी, इसी अभिप्रायसे 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (सृष्टिके पूर्वकालमें यह आत्मा एक और अनन्तर अनेक होता है) इत्यादि सुना जाता है। इससे सभी शरीर सात्मक हैं।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

पदच्छेद—प्रदीपवत्, आवेशः, तथा, हि, दर्शयति।

पदार्थोक्ति—आवेशः—विदुषा सृज्यमानेषु अनेकशरीरेषु विदुषः अभिव्यक्तिः [विद्यासामर्थ्यात् उपपद्यते। तत्र दृष्टान्तः] प्रदीपवत्—यथा एकः प्रदीपः अनेकवर्तिषु प्रविशति। हि—यतः, तथा—तेन प्रकारेण, दर्शयति—'स एकधा भवति' इत्यादि श्रुतिर्दर्शयति।

भावार्थ—विद्वान्‌के द्वारा बनाये गये अनेक शरीरोंमें विद्वान्‌की अभिव्यक्ति प्रदीपके समान होती है—जैसे एक ही दीप अनेक बत्तियोंमें प्रवेश करता है, वैसे विद्वान् अनेक अन्तःकरणों द्वारा अनेक देहोंमें प्रवेश करता है, क्योंकि उस प्रकार 'स एकधा भवति' इत्यादि श्रुति प्रतिपादन करती है।

भाष्य

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम्। तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्रवत् सृज्यन्ते, किं वा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति

भाष्यका अनुवाद

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (जैमिनि आचार्य मुक्तके शरीरका अस्तित्व मानते हैं, कारण श्रुतिमें उसके विकल्पका कथन किया है) इसमें मुक्त सशरीर है, ऐसा कहा गया है। वहाँ त्रिधाभाव आदि अनेक शरीरोंकी सृष्टिमें लकड़ीके यन्त्रके समान क्या आत्मरहित शरीर उत्पन्न किये जाते हैं या हम लोगोंके शरीरके समान आत्माके सहित शरीर उत्पन्न किये जाते हैं? इस प्रकार विचार उपस्थित होता है।

रत्नप्रभा

प्रदीपवदावेशः इत्यादि। संकल्पमात्रात् निर्मितदेहानुपजीव्य तेषूभयथा दर्शनात् संशयमाह—भावमिति। अनादिलिङ्गशरीरस्यैकस्मिन्नेव शरीरे भावात् निर्मिताने-

रत्नप्रभाका अनुवाद

"प्रदीपवदावेशः" इत्यादि। सङ्कल्पमात्रसे निर्मित देहोंमें दो प्रकार देखनेमें आते हैं, इसलिए उनको लेकर संशय कहते हैं—"भावम्" इत्यादिसे। अनादिलिङ्ग शरीर एक ही स्थूल शरीरमें रह सकता है, अतः संकल्पसे बने हुए शरीरोंमें भागासिद्धि है, यह पूर्वपक्षका फल है। सिद्धान्तमें

भाष्य

वीक्षा । तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति ।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—प्रदीपवदावेश इति । यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात्, एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति । कुतः ? तथा हि दर्शि-

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—ऐसी परिस्थितिमें आत्मा और मनके भेदके—विभागके युक्त नहीं होनेसे उनका एक शरीरके साथ योग है, इससे अन्य शरीर निरात्मक हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर प्रत्युत्तर देते हैं—'प्रदीपवदावेशः' । जैसे एक प्रदीप विकारशक्तिके योगसे अनेकप्रदीपस्वरूपोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार विद्वान् एक होनेपर भी ऐश्वर्यके योगसे अनेक रूप प्राप्त करके सब शरीरोंमें प्रवेश करता है । किससे ? इससे कि 'स एकधा०' (वह एकधा

रत्नप्रभा

कदेहेषु भागासिद्धिः पूर्वपक्षफलम्, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति मत्वा सूत्रं व्याचष्टे—यथेत्यादिना । "स एकधा त्रिधा पञ्चधा" इत्यादिश्रुत्या विदुष एवाऽनेकधाभाव उक्तः, विद्वांस्तु न देहः, नापि चिन्मात्रः, किन्तु लिङ्गोपहितात्मा, न च तस्य लिङ्गभेदं विनाऽनेकत्वं सम्भवति । अतः श्रुतिबलादेकस्यैवाऽनादिलिङ्गस्याऽनेकदेहेषु प्रवेशेन भेद एष्टव्यः । यद्यपि मूलप्रदीपस्य वर्त्यन्तरेषु उत्पन्नदीपानां चाऽत्यन्तभेदोऽस्ति, लिङ्गस्य तु देहभेदकृतो भेदो, न स्वतः, स्वतो लिङ्गभेदे तदुपहितजीवभेदाद् अनुसन्धानानुपपत्तेः, आगन्तुकानेकलिङ्गसृष्टौ असत्कार्यवादापाताच्च । तथापि

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसकी सिद्धि अर्थात् भागासिद्धिका अभाव फल है, ऐसा मानकर व्याख्यान करते हैं—"यथा" इत्यादिसे । 'स एकधा त्रिधा पञ्चधा' (वह सृष्टिके पूर्वमें एक प्रकार और सृष्टिके बाद अनेक प्रकारका होता है) इत्यादि श्रुतिसे विद्वान्‌का अनेकधाभाव कहा गया है, परन्तु विद्वान् तो न देह है, न चिन्मात्र है, परन्तु लिङ्गोपहित आत्मा है और लिङ्ग शरीरके भेदके बिना उसकी अनेकविधताका सम्भव नहीं हो सकता । इसलिए श्रुतिके बलसे अनादि एक लिङ्ग शरीरका अनेक देहोंमें प्रवेशसे भेद मानना चाहिए । यद्यपि मूलदीपकका और अन्य बत्तियोंमें उत्पन्न दीपोंका परस्पर अत्यन्त भेद है और लिङ्ग शरीरका तो देहभेदसे भेद है, स्वतः नहीं, क्योंकि स्वतः लिङ्गशरीरका भेद माना जाय, तो उससे उपहित जीवका भी भेद होनेसे स्मरणका अभाव प्रसक्त होगा । इसी तरह आगन्तुक अनेक लिङ्गकी उत्पत्तिमें असत्कार्यवाद

भाष्य

यति शास्त्रमेकस्याऽनेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० ७।२६।२) इत्यादि। नैतत् दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते, नाऽपि जीवान्तरावेशे। न च निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः सम्भवति। यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति; नैष दोषः, एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवाऽपराणि शरीराणि सत्यसङ्कल्पत्वात् स्रक्ष्यति। सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाऽधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते।

भाष्यका अनुवाद

होता है, त्रिधा होता है, पञ्चधा और सप्तधा होता है) इत्यादि शास्त्र एककी अनेकता दिखलाता है, यह अनेकत्वदर्शन दारुयन्त्रकी उपमा स्वीकार करनेसे या अन्य जीवोंके प्रवेशसे सम्भव नहीं है। उसी प्रकार निरात्मक शरीरोंकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। परन्तु आत्मा और मनका भेद—विभाग उपपन्न न होनेसे अनेक शरीरोंके साथ उनका योग होना युक्तियुक्त नहीं है; ऐसा जो कहा गया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि सत्यसंकल्प होनेसे वह एक मनका अनुसरण करनेवाले मनसे सम्बद्ध अन्य शरीरोंकी सृष्टि करेगा। और उनकी सृष्टि होनेपर उपाधिके भेदसे आत्माका भी भेद होनेसे अधिष्ठातृत्व युक्त होगा। और योग-

रत्नप्रभा

प्रदीपत्वजात्यैक्येन व्यक्तिष्वैक्यारोपाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं द्रष्टव्यम्। तथा च यथा प्रदीपोऽनेकवर्तिषु प्रविशति, एवं विद्यायोगबलाद् विद्वल्लिङ्गस्य व्यापित्वात् अनेकदेहेषु युगपदावेश इति सूत्रार्थः। विदुषोऽनेकधात्वं श्रुतमन्यथा न घटते इत्याह—नैतदिति। इतश्च सात्मकत्वमित्याह—न च निरात्मकानामिति। यदनादि मनः एकदेहस्थं तदनुसारीणि देहान्तरस्थानि मनांसि भवन्ति,

रत्नप्रभाका अनुवाद

भी प्रसक्त होगा, तो भी प्रदीपत्व जातिमें जो एकत्व है, उसका व्यक्तियोंमें आरोप करके दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें साम्य समझना चाहिए। इसलिए जैसे प्रदीप अनेक वत्तियोंमें प्रवेश करता है, वैसे ही विद्या और योगके बलसे विद्वान्के लिङ्ग शरीरके व्यापी होनेसे उसका एक क्षणमें ही अनेक देहोंमें प्रवेश होता है, यह सूत्रका अर्थ है। श्रुतिसे उक्त विद्वानोंका अनेकविधत्व दूसरे प्रकारसे उपपन्न नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—"नैतत्" इत्यादिसे। अन्य हेतुसे भी सात्मकता कहते हैं—"न च निरात्मकानाम्" इत्यादिसे। जो एक देहमें रहनेवाला अनादि मन है, उसीका अनुसरण करनेवाले अन्य देहोंमें मन उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उस अवस्थाके

भाष्य

एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

कथं पुनर्मुक्तस्याऽनेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युगम्यते, यावता 'तत् केन कं विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५) 'न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४।३।३०) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४।३।३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

शास्त्रमें योगियोंके अनेक शरीरोंके साथ सम्बन्धकी यही प्रक्रिया है ॥ १५ ॥

परन्तु मुक्तके अनेक शरीरमें आवेश आदिरूप ऐश्वर्यका किस प्रकार स्वीकार किया जाता है, क्योंकि 'तत् केन कं विजानीयात्' (मुक्तावस्थामें ज्ञानी किस करणसे किस विषयको जाने), 'न तु तद् द्वितीयमस्ति०' (परन्तु उससे द्वितीय नहीं—इस द्रष्टासे अन्यरूपसे विभक्त, ऐसा द्वितीय नहीं है, जिसको कि वह उपलब्ध करे) 'सलिल एको०' (सलिलसा स्वच्छ एक द्रष्टा अद्वैत है) इस प्रकारकी श्रुतियां विशेष विज्ञानका निवारण करती हैं, इसपर उत्तर कहते हैं—

रत्नप्रभा

तदवस्थानां तन्नियम्यत्वसम्भवात् इत्यत्र योगशास्त्रसम्मतिमाह—एषैवेति । 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (यो० सू० ४।४) 'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्' (यो० सू० ४।५) इति भगवत्पतञ्जलिना सूत्रितम् । योगिनोऽभिमानमात्रात् निर्माणचित्तानि निर्माणदेहेषु भवन्ति, तेषां नियामकम् अनादिचित्तम् इत्यर्थः ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

मनोंका आदि मन नियामक है, इसमें योगशास्त्रकी सम्मति देते हैं—"एषैव" इत्यादिसे। 'निर्माण०' (योगियोंके योगप्रभावसे उत्पादित शरीर अस्मितामात्र कारणसे निर्मित मनोंसे युक्त होते हैं) 'प्रवृत्तिभेदे०' (अनेक मनोंके प्रवृत्तिविशेषमें एक ही चित्त प्रयोजक है) इस प्रकार भगवान् पतञ्जलिने सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया है। योगियोंके योगप्रभावसे निर्मित देहोंमें अभिमानसे निर्मित चित्त होते हैं, अनादि चित्त उनका नियामक है, यह भाव है ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

पदच्छेद—स्वाप्ययसम्पत्त्योः, अन्यतरापेक्षम्, आविष्कृतम्, हि ।

पदार्थोक्ति—स्वाप्ययसम्पत्त्योः—सुषुप्तिमुक्त्योः, अन्यतरापेक्षम्—एकतरापेक्षम् [इदं विशेषज्ञानाभावश्रवणम्], हि—यतः, आविष्कृतम्—स्वीकृतम् सुषुप्तिप्रकरणापेक्षया 'ततोऽन्यत्' इत्यादि श्रुतम्, परममुक्तिप्रकरणापेक्षया 'तत् केन' इत्यादि, तस्मात् सगुणविदः शरीराङ्गीकारे न बाधकम् इति ।

भाषार्थ—चूंकि सुषुप्ति और मुक्तिमेंसे एककी अपेक्षासे विशेष ज्ञानके अभावका श्रवण—'ततोऽन्यत्' इत्यादि सुषुप्ति-प्रकरणकी अपेक्षासे और 'तत् केन' इत्यादि मुक्तिके प्रकरणकी अपेक्षासे—स्वीकृत है, इसलिए सगुणवेत्ताके शरीरके अङ्गीकारमें कोई बाधक नहीं है ।

भाष्य

स्वाप्ययः—सुषुप्तम्, 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः । संपत्तिः—कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः । तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम् । क्वचित् सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते, क्वचित् कैवल्यावस्थाम् । कथमव-

भाष्यका अनुवाद

'स्वाप्यय' अर्थात् सुषुप्ति, क्योंकि 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं०' (अपने स्वरूप—परमार्थ सत्यरूपमें लीन होता है, इसलिए लोग इसको 'स्वपिति'—[सोता है] ऐसा कहते हैं) ऐसी श्रुति है । सम्पत्तिका अर्थ है—कैवल्य, क्योंकि 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर ब्रह्ममें लीन होता है) इस प्रकारकी श्रुति है । उन दोनोंमेंसे एक अवस्थाकी अपेक्षासे इस विशेष ज्ञानके अभावका बोधक वचन है । श्रुति कहींपर सुषुप्ति-अवस्थाके आधारपर कहती है और कहीं-

---

रत्नप्रभा

उत्तरसूत्रव्यावर्त्यशङ्कामाह—कथं पुनरिति । सलिलवत् सलिलः, स्वच्छ इत्यर्थः । 'न तु तद् द्वितीयमस्ति' इति क्वचित् सुषुप्तिमधिकृत्योक्तम्, 'तत्

रत्नप्रभाका अनुवाद

उत्तर सूत्र द्वारा निरसनीय शंका कहते हैं—"कथं पुनः" इत्यादिसे । सलिलके समान सलिल अर्थात् स्वच्छ यह भाव है । 'न तु०'(परन्तु वह द्वितीय नहीं है) इस प्रकार सुषुप्तिका अधिकार

भाष्य

गम्यते ? यतस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम्—'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २।४।१४) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २।४।१४) 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१९, मा० ५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सगुणविद्याविपाकस्थानं त्वेतत् स्वर्गादिवदवस्थान्तरम्, यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते। तस्माददोषः ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

पर कैवल्य-अवस्थाके आधारपर। यह किस प्रकार ज्ञात होता है ? इस प्रकार ज्ञात होता है कि उसमें ही—श्रुतिमें ही सुषुप्ति आदिके अधिकारसे—प्रकरणसे यह स्पष्ट किया गया है, क्योंकि 'एतेभ्यो भूतेभ्यः०' (इन भूतोंसे उठकर उनके पीछे विनाश पाता है, विनाश पाकर विशेष संज्ञा नहीं रहती है), 'यत्र त्वस्य' (परन्तु जिस अवस्थामें इसका सब आत्मा ही है), 'यत्र सुप्तो०' (जिस समयमें सोया हुआ किसी मनोरथकी कामना नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं देखता) इत्यादि श्रुतियां हैं। और जिसमें इस ऐश्वर्यका वर्णन किया गया है, वह सगुण विद्याका परिणामस्थान स्वर्गादिके समान अन्य अवस्था है, अतः दोष नहीं है॥१६॥

रत्नप्रभा

केन कम्' इत्यादि क्वचित् मुक्तिं प्रकृत्योक्तम्, एवं विशेषज्ञानाभाववचनं सुषुप्तिमुक्त्यन्यतरापेक्षं सगुणोपासकस्य भोगोक्तौ न विरुध्यते, भिन्नविषयत्वात् इत्याऽऽह—स्वाप्ययेति। तत्रैव श्रुतौ तदधिकारवशात्—सुषुप्त्यादिप्रकरणबलाद् उक्तवचनानाम् अन्यतरापेक्षत्वमाविष्कृतम्, हि—यतः, ततोऽवगम्यते इत्यर्थः। अत्र समुत्थानादिवाक्यं मुक्तिविषयम्, 'यत्र सुप्तः' इति सुप्तिविषयमिति विभागः ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

करके कहींपर कहा गया है, और 'तत् केन०' (किस करणसे किस विषयको देखे) यह मुक्तिका उद्देश करके कहीं कहा गया है, इसलिए विशेष विज्ञानका अभाववचन सुषुप्ति और मुक्तिमेंसे किसी एकको लेकर कहा गया है, इसलिए सगुणोपासकके भोगके वचनमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उनका विषय भिन्न है, ऐसा कहते हैं—"स्वाप्यय" इत्यादिसे। चूंकि, उसी श्रुतिमें उसके अधिकारसे सुषुप्तिके प्रकरणके बलसे उक्त वचन अन्यतरकी मुक्ति और सुषुप्तिकी अपेक्षा करते हैं, इसलिए ज्ञात होता है, ऐसा अर्थ है। यहाँ 'समुत्थान' आदि वाक्य मुक्तिविषयक है और 'यत्र सुप्त.' इत्यादि वाक्य सुषुप्तिपरक है, इस प्रकार विभाग है ॥ १६ ॥

[७ जगद्व्यापाराधिकरण सू० १७—२२]

जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा ।
अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यानवग्रहात् ॥ १ ॥
सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम् ।
स्वाराज्यमीशो भोगाय ददे मुक्तिं च विद्यया ॥ २ ॥*

[अधिकरणसार]

सन्देह—ब्रह्मलोकमें गये हुए जो योगी हैं, वे जगत्के स्रष्टा हैं या नहीं ?

पूर्वपक्ष—वे जगत्के स्रष्टा हैं, क्योंकि 'स्वाराज्यमाप्नोति' इस श्रुतिसे योगियोंमें निरवधिक ऐश्वर्यकी प्रतीति होती है ।

सिद्धान्त—सृष्टिके प्रकरणमें योगियोंका उल्लेख नहीं होनेसे योगी लोग जगत्के स्रष्टा नहीं हैं, परमात्माने योगियोंको भोगके लिए स्वाराज्य और विद्यासे मुक्ति दी है, अतः योगी जगत्के स्रष्टा कदापि नहीं हो सकते हैं ।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—जगद्व्यापारवर्जम्, प्रकरणात्, असन्निहितत्वात्, च ।

पदार्थोक्ति—जगद्व्यापारवर्जम्—जगदुत्पत्त्यादिव्यापाररहितम्, [ऐश्वर्यम् विदुषः, कुतः ?] प्रकरणात्—सृष्टिप्रकरणे ईशस्यैव प्रकृतत्वात्, असन्निहितत्वात्—जीवस्य तत्र सन्निहितत्वाभावाच्च ।

भाषार्थ—जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारको छोड़कर विद्वान्का ऐश्वर्य है, क्योंकि सृष्टिप्रकरणमें ईश्वरका ही कथन है और सृष्टिप्रकरणके सन्निधानमें जीवका कथन भी नहीं है ।

---

* भाव यह है कि ब्रह्मलोकमें जो गये हैं, उनमें जैसे भोगके लिए योग्य देह और इन्द्रियोंकी स्रष्टृत्व है, वैसे वियत् आदि प्रपञ्चका स्रष्टृत्व भी है, क्योंकि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (निरवधिक ऐश्वर्य प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे उनके अप्रतिहत ऐश्वर्यका भान होता है ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं कि आकाश आदि सृष्टिके प्रतिपादक प्रकरणोंमें सर्वत्र परमात्माका ही जगत्के स्रष्टारूपसे उल्लेख किया गया है, कहींपर भी योगियोंका स्रष्टृत्व-रूपसे प्रतिपादन नहीं किया गया, इससे यह जाना जाता है कि योगी जगत्के स्रष्टा नहीं हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो अनेक ईश्वरोंकी प्रसक्ति होनेसे कोई सृष्टिकी रचनाकी इच्छा करेगा और कोई संहार करनेकी इच्छा करेगा, इस प्रकार जगत्की व्यवस्था ही नहीं होगी। तो स्वाराज्य

भाष्य

ये सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति, किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित् सावग्रहमिति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति, 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १।५।३) 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२, ८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति।

भाष्यका अनुवाद

जो सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मनके साथ ही ईश्वरसायुज्यको प्राप्त करते हैं, उनका ऐश्वर्य क्या निरंकुश है या सांकुश है? इस प्रकार संशय होता है। तब क्या प्राप्त होता है?

पूर्वपक्षी—इनका ऐश्वर्य निरंकुश ही हो सकता है, क्योंकि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (वह स्वाराज्य प्राप्त करता है), 'तेषां सर्वेषु' (उनका सब लोकोंमें कामचार होता है) इत्यादि श्रुतियां हैं।

रत्नप्रभा

जगद्व्यापारवर्जमिति। 'सङ्कल्पादेव' इत्यादिना उक्तैश्वर्यस्य जगत्सृष्ट्यादिव्यतिरिक्तविषयकत्वेनाऽत्र अपवादात् सङ्गतिः, उभयथा दर्शनात् संशयः। ईश्वरनानात्वं पूर्वपक्षफलम्, सिद्धान्ते तु विद्यायोगिनामीश्वरनियम्यत्वादेकस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्यैव जगत्कर्तृत्वसिद्धिरिति विवेकः। प्रलयात् सर्गसमये यस्येक्षणपूर्वकं कर्तृत्वं श्रुतौ प्रकृतम्, तस्यैव नियन्तृत्वादिः जगद्व्यापारः। न ह्युपासकानां देहं विना ईक्षणं

रत्नप्रभाका अनुवाद

"जगद्व्यापारवर्जम्" 'संकल्पादेव' इत्यादिसे कहे गये ऐश्वर्यके जगत्सृष्टि आदिसे भिन्न विषयक होनेसे यहाँ उसका अपवाद होनेसे संगति है। दोनों प्रकारके देखनेसे संशय होता है, ईश्वरका अनेक होना पूर्वपक्षमें फल है। और सिद्धान्तमें तो विद्यावान् योगियोंके ईश्वराधीन होनेसे नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही जगत्कर्तृत्वकी सिद्धि है। प्रलयके बाद जगत्के उत्पादनमें जिसका ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व श्रुतिमें प्रकृत है, उसीमें नियन्तृत्व आदि जगत् व्यापार है। और देहके बिना उपासकोंका ईक्षण हो ही नहीं सकता है। किंच, ईश्वर नित्यसिद्ध है और शब्द-

---

प्राप्तिकी श्रुतिकी क्या गति होगी? यह गति होगी कि ईश्वरके अधीन उसको स्वाराज्यकी प्राप्ति होती है, उपासनासे प्रसन्न हुए ईश्वरने भोगसिद्धिके लिए उनको स्वाराज्य दिया और विद्याके उत्पादनसे उन्हें मुक्ति दी, इस प्रकार व्यवस्था हो सकती है। इससे जगत्की सृष्टिमें योगियोंके स्वातन्त्र्यका अभाव होनेपर भी भोग और मोक्षमें उनका स्वातन्त्र्य है।

भाष्य

एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य । कुतः ? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम् । पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात्, नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च । तदन्वेषणाविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते, तेनाऽसंनिहितास्ते जगद्व्यापारे । समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित् संहाराभिप्राय इत्येवं

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'जगद्व्यापारवर्जम्' । जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारको छोड़कर मुक्तको दूसरा अणिमा आदिरूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है और जगत्के उत्पत्त्यादि व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वरके ही हैं । किससे ? इससे कि वही ईश्वर सृष्टिमें प्रकृत है और अन्य जीव असन्निहित हैं अर्थात् अप्रकृत हैं । कारण कि पर ईश्वर ही जगत्के व्यापारमें अधिकृत है, क्योंकि उसके ही प्रकरणमें उत्पत्ति आदिका उपदेश है और वह नित्य शब्दसे—श्रुतिसे ही ज्ञेय है । उसके अन्वेषण और जिज्ञासाका पूर्वमें निरूपण करके अन्य जीवोंका अणिमा आदि ऐश्वर्य श्रुतिमें कहा गया है, इससे वे जगत्के व्यापारमें संन्निहित नहीं हैं । और इनके मनस्वी होनेके कारण ऐकमत्यका सम्भव न होनेसे किसी एकका स्थितिमें और किसी एकका संहारमें अभिप्राय होगा,

रत्नप्रभा

सम्भवति । किञ्च, ईश्वरस्य नित्यसिद्धत्वात् शब्दैकसमधिगम्यत्वात् जगत्स्रष्टृत्वं युक्तम्, न तु तत्प्रसादलब्धसिद्धीनां जीवानामित्याह—नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्चेति । किञ्च, विदुषां समप्राधान्ये मिथो विरोधः, एकं प्रति अन्येषां गुणत्वे त्वेक एवेश्वरः इत्याह—समनस्कत्वादिति ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रमाणमात्रसे समधिगम्य है, इससे उसमें कर्तृत्व युक्त भी है, परन्तु उसकी कृपासे जिनको सिद्धि प्राप्त है, ऐसे जीवोंमें कर्तृत्व नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—"नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च" इत्यादिसे । और भी यदि विद्वानोंकी प्रधानता समानरूपसे मानी जाय, तो परस्पर विरोध होगा । और किसी एकको किसी एकके प्रति अप्रधान माना जाय, तो एक ही ईश्वर होगा, ऐसा कहते हैं—"समनस्कत्वाद्" इत्यादिसे ॥ १७ ॥

भाष्य

विरोधोऽपि कदाचित् स्यात् । अथ कस्यचित् संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

इस प्रकार कदाचित् विरोध भी प्रसक्त होगा। यदि किसी एकके संकल्पके अनुसार दूसरेका संकल्प मानकर अविरोधका समर्थन करो, तो भी परमेश्वरके अभिप्रायके अधीन ही अन्य जीव हैं, यह निश्चित होता है ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

पदच्छेद—प्रत्यक्षोपदेशात्, इति, चेत्, न, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।

पदार्थोक्ति—प्रत्यक्षोपदेशात—'आप्नोति स्वाराज्यम्' इति प्रत्यक्षश्रुत्या विदुषि निरङ्कुशैश्वर्यस्योपदेशात् विदुषि निरङ्कुशमेवैश्वर्यम् इति चेन्न—इत्येवं यदि कश्चनाशङ्केत, तदा तन्न युक्तियुक्तम्, कुतः ? आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः—आधिकारिकस्य सूर्यमण्डलस्थस्य परमात्मन उत्तरवाक्ये 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इत्यत्र प्राप्यत्वेनोक्तेः [विदुषः सातिशयमेवैश्वर्यमिति गम्यते] ।

भाषार्थ—यदि कोई शङ्का करे कि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (स्वाराज्य प्राप्त करता है) इस प्रकारकी प्रत्यक्ष श्रुतिसे विद्वान्‌के निरङ्कुश ऐश्वर्यका श्रवण है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि सूर्यमण्डलमें रहनेवाले आधिकारिक परमात्माकी उत्तरवाक्यमें उक्ति होनेसे 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इस वाक्यमें परमात्मा ही प्राप्य रूपसे उक्त है, इससे विद्वान्‌का सातिशय ऐश्वर्य है, यह जाना जाता है।

भाष्य

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्यक्षो-

भाष्यका अनुवाद

और 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (यह स्वाराज्य प्राप्त करता है) ऐसा प्रत्यक्ष

रत्नप्रभा

अधिकारे नियोजयति आदित्यादीन् इति, आधिकारिकः, स च असौ मण्डल-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो आदित्य आदिको अधिकारमें नियोग करता है वह आधिकारिक है। जो आधिकारिक

भाष्य

पदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति, तत् परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नाऽयं दोषः, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोति इति, एतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव चाऽनन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानप-

भाष्यका अनुवाद

उपदेश होनेसे ज्ञानी जीवोंके ऐश्वर्यका निरंकुश होना ही युक्त है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए । इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि आधिकारिक मण्डलमें रहनेवालोंके लिए यह उक्ति है । सवितृमण्डल आदि विशेष स्थानोंमें अवस्थित जो आधिकारिक पर ईश्वर है, उसके अधीन ही यह स्वाराज्य प्राप्ति कही जाती है, क्योंकि पीछे तुरन्त ही 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (यह मनके पतिको प्राप्त करता है) ऐसा श्रुति कहती है । जो सब मनोंका पति पूर्वसिद्ध ईश्वर है, उसको प्राप्त करता है, ऐसा कहा है । उसके अनुसार ही 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः' (वाणीका पति, चक्षुका पति, श्रोत्रका पति, विज्ञानका

रत्नप्रभा

स्थश्च तस्य प्राप्यत्वोक्तेः इत्यर्थः । मनसस्पतिः—सूर्यमण्डलान्तःस्थः परमात्मा, 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' इति श्रुतेः । तथा च यदि पूर्वं निरङ्कुशं स्वाराज्यम् उक्तं स्यात्, तर्हि ईश्वरस्य अग्रे प्राप्यतां न ब्रूयात्, अतो भोगे स्वाराज्यम्, न जगज्जन्मादिष्विति भावः । वाक्पतित्वादिकमपीश्वराधीनमित्याह—तदनुसारेणेति । उक्तन्यायं कामचारादिवाक्येष्वतिदिशति—एवमिति ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है यही मण्डलस्थ है, क्योंकि उसमें प्राप्यताकी उक्ति है, यह अर्थ है । मनसस्पति—सूर्यमण्डलान्तःस्थ परमात्मा, क्योंकि 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि श्रुति है । इसलिए यदि पहले निरंकुश स्वाराज्य कहा गया होता, तो आगे जाकर ईश्वरकी प्राप्यताका उल्लेख नहीं होता, अतः भोगमें स्वाराज्य है, जगत्के जन्म आदिमें नहीं है, यह भाव है । वाक्पतित्व आदि भी ईश्वरके अधिन ही हैं, ऐसा कहते हैं—"तदनुसारेण" इत्यादिसे । कामचार आदि वाक्योंमें भी उक्त न्यायका अतिदेश करते हैं—"एवम्" इत्यादिसे ॥ १८ ॥

भाष्य

तिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह । एवमन्यत्राऽपि यथासम्भवं नित्य-सिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

भाष्यका अनुवाद

पति होता है) ऐसा कहती है । इस प्रकार अन्यत्र भी—अन्योंका ऐश्वर्य नित्य-सिद्ध ईश्वरके अधीन है, ऐसी यथासम्भव योजना करनी चाहिए ॥१८॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

पदच्छेद—विकारावर्ति, च, तथा, हि, स्थितिम्, आह ।

पदार्थोक्ति—विकारावर्ति च—निर्गुणस्वरूपम् च [सगुणे ब्रह्मणि अस्ति], हि—यतः, तथा—तेन प्रकारेण, स्थितिम्—ब्रह्मणि सगुणत्वनिर्गुणत्वयोः वृत्तिम्, आह—'तावानस्य महिमा' इत्यादि श्रुतिः कथयति । [अयमत्र भावः—यथा सगुणे स्थितम् निर्गुणस्वरूपमुपासको न प्राप्नोति, तज्ज्ञानाभावात्, तथा तद्गतं जगदुत्पत्त्यादिकमैश्वर्यं न प्राप्नोति, तदुपास्त्यभावात्, उपास्त्यभावश्च श्रुत्यभावादिति ।

भावार्थ—सगुण ब्रह्ममें भी ब्रह्मका निर्गुण रूप है, क्योंकि ब्रह्ममें सगुणत्व और निर्गुणत्वकी स्थिति 'तावानस्य महिमा' इत्यादि श्रुति कहती है । रहस्य यह है कि जैसे सगुण उपासक सगुण ब्रह्ममें रहनेवाले निर्गुण रूपको प्राप्त नहीं करता है, क्योंकि उसका उसको ज्ञान नहीं है, वैसे ही उसमें रहनेवाले जगदुत्पत्त्यादि ऐश्वर्यको भी प्राप्त नहीं करता है, क्योंकि उपासना उसकी नहीं है और उपासनाका अभाव श्रुतिके अभावसे है ।

भाष्य

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं न केवलं विकारमात्र-

भाष्यका अनुवाद

विकारमें न रहनेवाला भी नित्य परमेश्वरका रूप कहा है, केवल विकार-

रत्नप्रभा

जगद्व्यापारः उपासकप्राप्यः, तदुपास्त्यनिष्ठत्वात्, सङ्कल्पसिद्ध्यादिवत्,

रत्नप्रभाका अनुवाद

जगत्का व्यापार उपासकसे प्राप्य है, उसके उपास्यमें स्थिति होनेसे, सङ्कल्पसिद्धि आदिके

भाष्य

गोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाऽऽम्नायः—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादिः । न च तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुम्, अतत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवाऽवतिष्ठन्ते, एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवाऽवतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

भाष्यका अनुवाद

मात्रमें रहनेवाला, सवितृमण्डल आदि जिसका अधिष्ठान है, ऐसा ही परमेश्वरका रूप है, ऐसा नहीं, क्योंकि श्रुति इसकी—परमेश्वरकी दो प्रकारकी स्थिति कहती है—'तावानस्य०' (इतनी इस गायत्रीसंज्ञक ब्रह्मकी विभूति—विस्तार है [कि जितना चतुष्पाद्, षड्विध ब्रह्मका विकारपाद गायत्री है । चार पाद और छः अक्षर जिसके प्रत्येक पादमें हैं, ऐसा छन्दरूप गायत्री वाक्, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राणरूप होकर छः प्रकारकी होती है] उस विकाररूप गायत्रीसंज्ञक ब्रह्मसे अविकाररूप परमार्थ सत्यरूप पुरुष महत्तर है, सब भूत इसके पाद हैं, तीन पादवाला इसका अमृत स्वरूप प्रकाशवान् स्वात्मामें स्थित है) इत्यादि । और अन्यका अवलंबन करनेवाले जीव परमेश्वरका निर्विकाररूप प्राप्त करते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वे उस निर्विकाररूपके उपासक नहीं हैं । इसलिए जैसे द्विरूप परमेश्वरमें निर्गुणरूप प्राप्त किये बिना विद्वान् जीव सगुणरूपमें ही अवस्थित होते हैं, वैसे ही सगुणमें भी निरंकुश ऐश्वर्य प्राप्त किये बिना साङ्कुश—सातिशय ऐश्वर्यमें ही अवस्थित रहते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ १९ ॥

रत्नप्रभा

इत्याशङ्क्य उपास्यस्थनिर्गुणस्वरूपे व्यभिचारम् आह—विकारावर्त्ति चेति ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

समान, [अर्थात् जैसे उपास्यमें रहनेवाले सत्यसङ्कल्पत्व आदि उपासकमें आते हैं, वैसे ही उपास्य ईश्वरमें रहनेवाले जगत्‌की उत्पत्ति आदि करनेकी सामर्थ्य भी उपासक योगीमें आनी चाहिए यह शङ्का करनेवालेका अभिप्राय है] इस प्रकार आशंका करके उपास्यमें रहनेवाले निर्गुण स्वरूपमें व्यभिचार कहते हैं—"विकारावर्ति च" इत्यादिसे ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

पदच्छेद—दर्शयतः, च, एवम्, प्रत्यक्षानुमाने ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, एवम्—ब्रह्मणो निर्गुणत्वं, प्रत्यक्षानुमाने—श्रुतिस्मृती, दर्शयतः—कथयतः 'न तत्र सूर्यो भाति' इति श्रुतिः 'न तद् भासयते' इति च स्मृतिः ।

भाषार्थ—और भी इसी प्रकार 'न तत्र सूर्यो भाति' इस प्रकारकी श्रुति और 'न तद्भासयते' इत्यादि स्मृति ब्रह्मका निर्गुण रूप बतलाती हैं ।

भाष्य

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती—' न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (क० ५।५, श्वे० ६।१४, मु० २।२।१०) इति । 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५।६) इति च । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

भाष्यका अनुवाद

परज्योति विकारस्थ नहीं है, ऐसा श्रुति और स्मृति दिखलाती हैं—'न तत्र सूर्यो भाति०' (उस परमात्मामें सर्वावभासक सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, यह विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होती, यह असमद्गोचर अग्नि तो कहांसे प्रकाश करेगी) इत्यादि । और 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (उस पर पदको—ब्रह्मको सूर्य, चन्द्र या अग्नि प्रकाशित नहीं करते, क्योंकि वे उस ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले हैं) इत्यादि। इसलिए पर ज्योति विकारमें नहीं है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा अभिप्राय है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

निर्गुणस्वरूपे प्रमाणमाह—दर्शयतश्चैवमिति । यथा ज्ञानाभावात् निर्गुणं न प्राप्तम्, तथा ध्यानाभावात् जगत्स्रष्टृत्वादि न प्राप्यते । ध्यानाभावश्च विध्यभावात् इति भावः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

निर्गुण स्वरूपमें प्रमाण कहते हैं—"दर्शयतश्चैवम्" इत्यादिसे । जैसे ज्ञानका अभाव होनेसे निर्गुण ब्रह्म प्राप्त नहीं है, वैसे ही ध्यानके अभावसे जगत्कर्तृत्व प्राप्त नहीं हो सकता । ध्यानका अभाव तो विधिके अभावसे है, यह भाव है ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्, च ।

पदार्थोक्ति—च—अपि च, भोगमात्रसाम्यलिङ्गात—भोगमात्रेण—सम्भोगमात्रेण साम्यम्—समानत्वम् श्रुतम् न जगत्व्यापारेण, 'आपो वै खलु मीयन्ते।' इत्यादौ, तस्मात् साम्यलिङ्गात् [विदुषः सातिशयमैश्वर्यं गम्यते]।

भाषार्थ—और भी सम्भोगमात्रसे साम्य सुना जाता है, जगत्‌के व्यापारसे नहीं, क्योंकि 'आपो वै खलु' इत्यादिमें वैसा साम्य स्पष्ट है, अतः साम्यलिङ्गसे विद्वान्‌का ऐश्वर्य सातिशय ही है, ऐसा प्रतीत होता है।

भाष्य

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यम्, यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति, 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति' 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ०

भाष्यका अनुवाद

इस कारण भी विकाररूपकी उपासना करनेवाले जीवोंका निरंकुश ऐश्वर्य नहीं है, क्योंकि इनका भोगमात्र ही अनादिसिद्ध ईश्वरके साथ समान है, ऐसा श्रुति कहती है—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते०' (उस उपासकसे हिरण्यगर्भ सान्त्वनापूर्वक कहते हैं, मुझसे ये अमृतरूप जल भोगे जाते हैं, तुम्हारा भी यह अमृतोदकरूप लोक भोग्य है, तुम इसका यथेच्छ भोग करो), 'स यथैतां देवतां सर्वाणि०' (जैसे इस हिरण्यगर्भ देवताकी सब भूत पूजा करते हैं, वैसे ही ऐसा जाननेवालेकी सब भूत पूजा करते हैं), 'तेनो एतस्यै देवतायै०' (उस प्राणात्मप्रतिरूप व्रतके योगसे उपासक इसी प्राणदेवताका सायुज्य—एकात्मता और समानलोकता—एकस्थानत्व प्राप्त

रत्नप्रभा

तमुपासकं ब्रह्मलोकगतमाह हिरण्यगर्भः—मया खल्विमा आपः अमृतरूपाः मीयन्ते—भुज्यन्ते, तवाऽपि असौ लोकः अमृतोदकलक्षण इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरमाह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मलोकमें गये हुए उस उपासकसे हिरण्यगर्भ कहता है—'मया खल्विमा०' (अमृतरूप इस जलका मैं भोग करता हूँ, तुम्हारा भी अमृत जलरूप यह लोक भोग्य है) ऐसा

भाष्य

१।५।२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्, ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान् बादरायण आचार्यः पठति—

भाष्यका अनुवाद

करता है) इत्यादि भेदका व्यपदेश करनेवाले लिंगोंसे उपासकका उपास्य देवतामें केवल भोगसाम्य है ॥ २१ ॥

परन्तु उपासकोंका ऐश्वर्य निरंकुश नहीं है, ऐसा कहनेपर सातिशय होनेसे उनका ऐश्वर्य विनाशी होगा, इससे उनकी आवृत्ति—आवागमन—प्राप्त होगी, इससे भगवान् बादरायण आचार्य उत्तर पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

स यथेति । भोगसाम्ये स दृष्टान्तो यथेत्यर्थः । 'तेनो' इति उशब्दोऽप्यर्थः । सलोकतामपीत्यन्वयः । सायुज्यम्—समानदेहत्वं क्रमेण मुक्तिर्वा ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ है । अन्य श्रुति कहते हैं—" स यथा" इत्यादिसे । 'यथा' से दिया गया वह दृष्टान्त, भोगके साम्यमें है, ऐसा अर्थ है । 'तेनो' इसमें उशब्दका 'अपि' अर्थ है । 'सलोकतामपि' ऐसा अन्वय है । सायुज्य—समानदेहता या क्रम-मुक्ति ॥ २१ ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अनावृत्तिः, शब्दात् , अनावृत्तिः, शब्दात् ।

पदार्थोक्ति—अनावृत्तिः—अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तानामनावर्तनम्, [भवति, कुतः ?] शब्दात्—'न च पुनरावर्तते' इत्यादिश्रुतेः । [सूत्रावर्तनम् शास्त्रपरिसमाप्तिद्योतनार्थम्] ।

भावार्थ—अर्चिरादि मार्गसे गये हुए लोगोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती है, क्योंकि 'न च पुनरावर्तते' (मुक्त हुआ पुरुष पुनः संसारमें नहीं आता) इस प्रकारकी श्रुति है, सूत्रकी आवृत्ति शास्त्रकी परिसमाप्तिके द्योतनके लिए है ।

भाष्य

नाडीरश्मिसमन्वितेनाऽर्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति—यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चाऽर्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि, यस्मिन्नैरं मदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपरा-

भाष्यका अनुवाद

जो उपासक नाडीरश्मियुक्त अर्चिरादि पर्ववाले देवयान मार्गसे शास्त्रमें उक्त विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मलोकमें जाता है। इस पृथिवी नामक लोकसे तृतीय दिवमें जो ब्रह्मलोक है उस ब्रह्मलोकमें अर और ण्य नामके ये दो समुद्र—समुद्र जैसे तालाब हैं, वहीं अन्नमय मंडसे पूर्ण मदकर—

रत्नप्रभा

शास्त्रसमाप्तिं सूचयन् सूत्रकारं पूजयति—भगवानिति। भगवत्त्वम्—सर्वज्ञत्वम्। सूत्रद्वारा शिष्याणामाचारे स्थापनाद्—आचार्यत्वम्। बादरायणपदेन बदरिकाश्रमवासोक्त्या नित्यसर्वज्ञस्य परमगुरोर्नारायणस्य प्रसादद्योतनात् तत्प्रणीतशास्त्रे निरवद्यताम् उद्द्योतयति। सगुणविद्यायाः सातिशयफलत्वेऽपि ततो निर्गुणविद्ययाऽनावृत्तिरित्याह—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादित्यादि। ये ब्रह्मलोकं गच्छन्ति, ते तं प्राप्य नावर्तन्ते इति सम्बधः। लोकं विशिनष्टि—यस्मिन्निति। इतः अस्मात् पृथिवीलोकात् तृतीयस्यां दिवि यो ब्रह्मलोकः, तस्मिन्नर इति, ण्य इति च, अर्णवतुल्यौ सुधाह्रदावित्यर्थः। ऐरम्—अन्नमयम् मदीयम्—मदकरं सरः, सोमसवनः—अमृतवर्षी। यद्यपि तेषामिह न पुनरावृत्तिरिमं मानवमिति च श्रुतिषु 'इहेमम्' इति विशेषणादस्मिन् कल्पे ब्रह्मलोकगतानां

रत्नप्रभाका अनुवाद

शास्त्रकी समाप्तिका सूचन करते हुए भाष्यकर्ता सूत्रकारकी पूजा करते हैं—"भगवान्" इत्यादिसे। भगवान्–सर्वज्ञ। सूत्रोंद्वारा शिष्योंके आचारमें प्रतिष्ठापक होनेसे आचार्य भी हैं। 'बादरायण' शब्दसे बदरिकाश्रममें वासका कथन होनेके कारण सदा सर्वज्ञ परमगुरु नारायणके प्रसादका द्योतन होनेसे उसके (बादरायणके) प्रणीत शास्त्रमें निर्दुष्टताका सूचन होता है। यद्यपि सगुण विद्या सातिशय है, तो भी निर्गुण विद्यासे अनावृत्ति है, ऐसा कहते हैं—"अनावृत्तिः शब्दात्" इत्यादिसे। जो ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वे उसको प्राप्त करके पुनः नहीं आते हैं, ऐसा सम्बन्ध है। लोकका स्पष्टीकरण करते हैं—"यस्मिन्" इत्यादिसे। इससे अर्थात् पृथ्वीलोकसे तृतीय द्युलोक—ब्रह्मलोक है, उसमें अर और ण्य नामके समुद्रके समान महान् सुधाके समुद्र है, ऐसा अर्थ है। ऐर—अन्नमय, मदीय—मादक सरोवर सोमसवन—अमृतको बरसानेवाला। यद्यपि उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं है, क्योंकि 'इमम्' और 'मानवम्' इत्यादि श्रुतियोंमें

भाष्य

जितापूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यथाऽनेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते—ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः? 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५), 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।१), 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८।१५।१), 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम्, 'कार्या-

भाष्यका अनुवाद

हर्षोत्पादक सर है, वहीं अमृतका स्रोत बहाने वाला अश्वत्थ वृक्ष है, वहीं ब्रह्मकी—हिरण्यगर्भकी अपराजिता—ब्रह्मचर्यसाधनरहित लोगोंसे नहीं जीती जानेवाली पुरी है, वहीं ब्रह्म—प्रभुसे निर्मित सुवर्णमय वेश्म है और जिसका अनेक प्रकारसे मन्त्र अर्थवाद आदि प्रदेशोंमें विस्तारसे वर्णन किया जाता है, उस लोकको प्राप्त करके जैसे वे कर्मठ लोग चन्द्रलोकमें भोग भोगकर पीछे लौटते हैं, वैसे भोग भोगकर पीछे नहीं लौटते। किससे? इससे कि 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (उससे मूर्धन्यनाडीसे जानेवाले अमृतत्व पाते हैं), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (उनकी फिर आवृत्ति नहीं होती), 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं०' (इस मार्गसे जानेवाले इस मानवलोकमें फिर नहीं लौटते), 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, (ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है), 'न च पुनरावर्तते'

रत्नप्रभा

कल्पान्तरे आवृत्तिर्भाति, तथापीश्वरोपास्तिं विना पञ्चाग्निविद्याश्वमेधदृढब्रह्मचर्यादिसाधनैः ये गताः तेषां तत्त्वज्ञाननियमाभावादावृत्तिः स्यात्। ये तु दहरादीश्वरोपास्त्या गताः, तेषां सगुणविद्याफलक्षयेऽपि निरवग्रहेश्वरानुग्रहाल्लब्धात्मज्ञानात् मुक्तिरिति नियम इत्यभिप्रेत्याह—अन्तवत्त्वेऽपि त्विति। नन्वत्र सूत्रकृता सगुण-

रत्नप्रभाका अनुवाद

'इदेमम्' ऐसा विशेषण है, इससे इस कल्पमें ब्रह्मलोकमें गये हुए की अन्य कल्पमें आवृत्ति भासती है, तो भी ईश्वरकी उपासनाके बिना पञ्चाग्निविद्या, अश्वमेध और दृढ ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे जो गये हैं, उनके तत्त्वज्ञानमें कोई नियम न होनेसे आवृत्ति होगी। और जो कि दहर आदि ईश्वरकी उपासनासे गये हैं, उनकी सगुणविद्याके फलके नाश होनेपर भी अचिन्त्य ईश्वरके प्रसादसे लब्ध आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है, ऐसा नियम है। इस प्रकारके अभिप्रायसे कहते हैं— "अन्तवत्त्वेऽपि तु" इत्यादिसे। परन्तु यहाँपर सगुण विद्वानोंका ही अनावृत्तिकम कहा

भाष्य

त्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' (ब्र० सू० ४ । ३ । १०) इत्यत्र । सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवाऽनावृत्तिः । तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अना-

भाष्यका अनुवाद

(वह फिर नहीं लौटता) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । ऐश्वर्यके विनाशी होनेपर भी जैसे आवृत्ति नहीं होती, वैसा हम 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण०' इत्यादि सूत्रमें वर्णन कर चुके हैं । सम्यग्दर्शनसे जिनका तम—अज्ञान विध्वस्त हो गया है और नित्यसिद्ध निर्वाणमें जो निमग्न हैं, उनकी अनावृत्ति सिद्ध ही है, और जो सगुण विद्याकी शरणमें हैं, उनकी भी उसके—सम्यग्दर्शनके आश्रयसे

रत्नप्रभा

विदामेवाऽनावृत्तिक्रम उक्तः, न निर्गुणविदाम्, तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य तेषामावृत्तिशङ्काभावादित्याह—सम्यगिति । तदाश्रयणेनैवेति । सगुणविदामावृत्तिप्राप्तौ सम्यग्दर्शनाश्रयणेनैवाऽनावृत्तिः साधिता, अतः स्वत एव सम्यग्दर्शिनामावृत्तिशङ्का नेति किमु वाच्यमित्यर्थः । यत्र अध्यायसमाप्तिः, तत्र पदमात्रस्य अभ्यासो दर्शितः, इह सूत्रस्यैवाऽभ्यासात् शास्त्रसमाप्तिर्द्योत्यते इत्याह—अनावृत्तिः शब्दादिति । एवं समन्वयोक्त्या ब्रह्मात्मैक्यस्य वेदान्तप्रमाणकत्वमवधारितम् । वाक्यार्थज्ञाने स्मृतितर्कादिसर्वप्रकारविरोधः परिहृतः, साधनसम्पत्तिश्च दर्शिता । तस्मात् विवेकादिसाधनसम्पन्नस्य श्रवणाद्यावृत्तिनिरस्तसमस्तप्रतिबन्धस्य अखण्डात्म-

रत्नप्रभाका अनुवाद

गया है, निर्गुण वेत्ताओंका नहीं, इसमें क्या हेतु है ? इस प्रकार आशङ्का करके उनकी आवृत्तिकी शङ्का ही नहीं है, ऐसा कहते हैं—"सम्यक्" इत्यादिसे । "तदाश्रयणेनैव", इत्यादि । सगुणवेत्ताओंकी आवृत्ति प्राप्त होनेपर सम्यक्दर्शनके आश्रयणसे ही अनावृत्तिकी सिद्धि की गई है, इसलिए स्वतः ही सम्यगात्मज्ञानियोंकी आवृत्तिकी शङ्का नहीं हो सकती है, इसमें कहना ही क्या यह अर्थ है । जहां अध्यायकी समाप्ति होती है, उसमें केवल पदकी आवृत्ति दिखलाई है, और यहाँ सूत्रकी आवृत्ति शास्त्रकी समाप्ति सूचित करती है, ऐसा कहते हैं—"अनावृत्ति शब्दात्" इत्यादिसे । इस प्रकार समन्वयके कथनसे ब्रह्मात्मैक्यमें वेदान्त प्रमाण हैं, ऐसा निश्चित किया गया । वाक्यार्थज्ञानमें स्मृति, तर्क आदि सर्वप्रकारके विरोधका परिहार किया गया और साधनसम्पत्ति भी दिखलाई गई है । इससे विवेक आदि साधनोंसे सम्पन्न और श्रवण

भाष्य

वृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही अनावृत्तिकी सिद्धि होती है। अनावृत्ति श्रुतिसे, अनावृत्ति श्रुतिसे—ऐसी सूत्रमें जो पुनरुक्ति है, वह शास्त्रकी परिसमाप्तिका सूचन करती है ॥ २२ ॥

यतिवर श्री भोलेबाबा विरचित शाङ्करभाष्य-भाषानुवादमें चतुर्थ अध्यायका चतुर्थपाद समाप्त।

रत्नप्रभा

सम्बोधात् समूलबन्धध्वंसे सति आविर्भूतनिष्कलङ्कानन्तस्वप्रकाशचिदानन्दात्मना अवस्थानमिति सिद्धम् ॥ ४ ॥

नानाविधग्रन्थजातं वीक्ष्य सम्यग् यथामति ।
शारीरकस्य भाष्यस्य कृता व्याख्या सतां मुदे ॥ १ ॥
अन्तर्यामी जगत्साक्षी सर्वकर्ता रघूद्वहः ।
अतोऽत्र दोषोऽशङ्क्यः स्यादेष ह्येवेति शासनात् ॥ २ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिकी आवृत्तियोंसे जिसके प्रतिबन्ध निरस्त हो गये हैं, ऐसे पुरुषके आत्मज्ञानसे समूलबन्धका ध्वंस होनेपर आविर्भूत निष्कलङ्क अनन्त स्वप्रकाश चिदानन्दरूपसे अवस्थान सिद्ध हुआ ॥२१॥

विविध ग्रन्थोंका भली भाँति अवलोकन करके विद्वानोंकी प्रसन्नताके लिए मैंने यथामति शारीरक भाष्यकी व्याख्या की है ॥ १ ॥

'एष ह्येव' (यही साधु कर्म कराता है) इत्यादि श्रुतिके अनुसार सबके अन्तर्यामी जगत्साक्षी श्रीरामचन्द्रजी ही सबके कर्ता हैं, इसलिए इस टीकाके विषयमें दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये ॥ २ ॥

रत्नप्रभा

वक्षस्यक्ष्णोश्च पार्श्वे करतलयुगले कौस्तुभाभां दयां च
सीतां कोदण्डदीक्षामभयवरयुतां वीक्ष्य रामाङ्गसङ्गः।
स्वस्याः क्व स्यादितीत्थं हृदि कृतमनना भाष्यरत्नप्रभेयं
स्वात्मानन्दैकलुब्धा रघुवरचरणाम्भोजयुग्मं प्रपन्ना ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोपालसरस्वतीपूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसादर्शनभाष्य-
व्याख्यायां (भाष्य) रत्नप्रभायां चतुर्थस्याध्यायस्य
चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

वक्षस्थलमें कौस्तुभमणिकी प्रभाको, दोनों नेत्रोंमें दया को, बाईं ओर सीताजी को और दोनों हाथोंमें अभयवरदानयुक्त धनुषकी दीक्षाको देखकर मैं श्रीरामचन्द्रजीके किस अंगकी शरण लूँ, इस प्रकार हृदयमें विचार करती हुई आत्मानन्दका आस्वाद लेनेमें अतिलोलुप यह भाष्यरत्नप्रभा श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंकी शरणमें गई ॥ ३ ॥

यतिवर श्रीभोलेबाबा विरचित रत्नप्रभाके भाषानुवादमें चतुर्थाध्यायका चतुर्थपाद समाप्त।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।



शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविण ँ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्युते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता । मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् । आविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेन । अहोरात्रान् संदधामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



भद्रं नोऽपि वातय मनः ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । त ६ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥



श्रीवादरायणकृतो ब्रह्मसूत्रपाठः

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ... १
जन्माद्यस्य यतः ... २
शास्त्रयोनित्वात् ... ३
तत्तु समन्वयात् ... ४
ईक्षतेर्नाशब्दम् ... ५
गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ... ६
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ... ७
हेयत्वावचनाच्च ... ८
स्वाप्ययात् ... ९
गतिसामान्यात् ... १०
श्रुतत्वाच्च ... ११
आनन्दमयोऽभ्यासात् ... १२
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ... १३
तद्धेतुव्यपदेशाच्च ... १४
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ... १५
नेतरोऽनुपपत्तेः ... १६
भेदव्यपदेशाच्च ... १७
कामाच्च नानुमानापेक्षा ... १८
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ... १९
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ... २०
भेदव्यपदेशाच्चान्यः ... २१
आकाशस्तल्लिङ्गात् ... २२
अत एव प्राणः ... २३
ज्योतिश्चरणाभिधानात् ... २४
छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ... २५
भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ... २६
उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ... २७
प्राणस्तथानुगमात् ... २८
न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ... २९
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ... ३०
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ... ३१

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ... १
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ... २
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ... ३
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ... ४
शब्दविशेषात् ... ५
स्मृतेश्च ... ६
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ... ७
सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ... ८
अत्ता चराचरग्रहणात् ... ९
प्रकरणाच्च ... १०
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ... ११
विशेषणाच्च ... १२
अन्तर उपपत्तेः ... १३
स्थानादिव्यपदेशाच्च ... १४
सुखविशिष्टाभिधानादेव च ... १५
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ... १६
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ... १७
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ... १८

न च स्मार्त्तमतद्धर्म्माभिलापात् ... १९
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते २०
अदृश्यत्वादिगुणको धर्म्मोक्तेः ... २१
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ २२
रूपोपन्यासाच्च ... २३
वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ... २४
स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यादिति ... २५
शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्चेति चेन्न
तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि
चैनमधीयते ... २६
अत एव न देवता भूतश्च ... २७
साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ... २८
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ... २९
अनुस्मृतेर्बादरिः ... ३०
सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ३१
आमनन्ति चैनमस्मिन् ... ३२

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ... १
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ... २
नानुमानमतच्छब्दात् ... ३
प्राणभृच्च ... ४
भेदव्यपदेशात् ... ५
प्रकरणात् ... ६
स्थित्यदनाभ्याञ्च ... ७
भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ... ८
धर्म्मोपपत्तेश्च ... ९
अक्षरमम्बरान्तधृतेः ... १०
सा च प्रशासनात् ... ११
अन्यभावव्यावृत्तेश्च ... १२
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ... १३
दहर उत्तरेभ्यः ... १४
गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च १५
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे- १६
प्रसिद्धेश्च ... १७
इतरपरामर्शात् ॥ इति चेन्नाऽसम्भवात् १८
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ... १९
अन्यार्थश्च परामर्शः ... २०
अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ... २१
अनुकृतेस्तस्य च ... २२
अपि च स्मर्य्यते ... २३
शब्दादेव प्रमितः ... २४
हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् २५
तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् २६
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्ते-
र्दर्शनात् ... २७
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानु-
मानाभ्याम् ... २८
अत एव च नित्यत्वम् ... २९
समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो
दर्शनात् स्मृतेश्च ... ३०
मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ३१
ज्योतिषि भावाच्च ... ३२
भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ३३
शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात्
सूच्यते हि ... ३४
क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन
लिङ्गात् ... ३५
संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ३६
तदभावनिर्द्धारणे च प्रवृत्तेः ... ३७
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ३८
कम्पनात् ... ३९
ज्योतिर्दर्शनात् ... ४०
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ४१
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ... ४२
पत्यादिशब्देभ्यः ... ४३

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।



अथ द्वितीयोऽध्यायः।

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ... ९
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः... १०
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ११
पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ... १२
अणुश्च ... १३
ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्... १४
प्राणवता शब्दात् ... १५
तस्य च नित्यत्वात् ... १६
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् १७
भेदश्रुतेः ... १८
वैलक्षण्याच्च ... १९
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् २०
मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च २१
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ... २२

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।



अथ तृतीयोऽध्यायः ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ... १
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ... २
प्राणगतेश्च ... ३
अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ४
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ५
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ६
भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ७
कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ... ८
चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ९
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्... १०
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ... ११
अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ... १२
संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ... १३
स्मरन्ति च ... १४
अपि च सप्त ... १५
तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ... १६
विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ... १७
न तृतीये तथोपलब्धेः ... १८
स्मर्य्यतेऽपि च लोके ... १९
दर्शनाच्च ... २०
तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ... २१
साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ... २२
नातिचिरेण विशेषात् ... २३
अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् २४
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ... २५
रेतःसिग्योगोऽथ ... २६
योनेः शरीरम् ... २७

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ... १
निर्मातारञ्चैके पुत्रादयश्च ... २
मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ३
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ४
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ... ५
देहयोगाद्वा सोऽपि ... ६
तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ७
अतः प्रबोधोऽस्मात् ... ८
स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ९
मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ... १०
न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ११
न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् १२
अपि चैवमेके ... १३

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

इति श्री वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् २३
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ... २४
अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ... २५
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ... २६
शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् २७
सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् २८
अबाधाच्च ... २९
अपि च स्मर्यते ... ३०
शब्दश्चातोऽकामकारे ... ३१
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ... ३२
सहकारित्वेन च ... ३३
सर्वथापि तु त एवोभयलिङ्गात् ... ३४
अनभिभवं च दर्शयति ... ३५
अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ... ३६
अपि च स्मर्यते ... ३७
विशेषानुग्रहश्च ... ३८
अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ... ३९
तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ... ४०
न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ... ४१
उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ४२
बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ... ४३
स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ... ४४
आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ... ४५
श्रुतेश्च ... ४६
सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ... ४७
कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ... ४८
मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ... ४९
अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ... ५०
ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ५१
एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ... ५२

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ... १
लिङ्गाच्च ... २
आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ३
न प्रतीके न हि सः ... ४
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ... ५
आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ... ६
आसीनः सम्भवात् ... ७
ध्यानाच्च ... ८
अचलत्वं चापेक्ष्य ... ९
स्मरन्ति च ... १०
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ... ११
आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ... १२
तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ... १३
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ... १४
अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ... १५
अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् १६
अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ... १७
यदेव विद्ययेति हि ... १८
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते १९

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ... १
अत एव च सर्वाण्यनु ... २
तन्मनः प्राण उत्तरात् ... ३
सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ... ४
भूतेष्वतः श्रुतेः ... ५
नैकस्मिन् दर्शयतो हि ... ६
समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ७
तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ... ८

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ... ९
नोपमर्देनातः ... १०
अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ... ११
प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ... १२
स्पष्टो ह्येकेषाम् ... १३
स्मर्यते च ... १४
तानि परे तथा ह्याह ... १५
अविभागो वचनात् ... १६
तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ... १७
रश्म्यनुसारी ... १८
निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ... १९
अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे ... २०
योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ... २१

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ... १
वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ... २
ततोऽधिवरुणसम्बन्धात् ... ३
आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ... ४
उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ... ५
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ... ६
कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ... ७
विशेषितत्वाच्च ... ८
सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ... ९
कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ... १०
स्मृतेश्च ... ११
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ... १२
दर्शनाच्च ... १३
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ... १४
अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ... १५
विशेषञ्च दर्शयति ... १६

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादः समाप्तः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ... १
मुक्तः प्रतिज्ञानात् ... २
आत्मा प्रकरणात् ... ३
अविभागेन दृष्टत्वात् ... ४
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ... ५
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ... ६
एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ... ७
सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ... ८
अत एव चानन्याधिपतिः ... ९
अभावं बादरिराह ह्येवम् ... १०
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ... ११
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ... १२
तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ... १३
भावे जाग्रद्वत् ... १४
प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ... १५
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ... १६
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ... १७
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ... १८
विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ... १९
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ... २०
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ... २१
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ... २२

इति वैयासिकब्रह्मसूत्रपाठे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

समाप्तोऽयं ब्रह्मसूत्रपाठः ।

श्रीमद्बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमणिका—



आ.

ऊ.

ए.

ऐ.

म.

य.

स.

ह.

